श्रीः

प्रकाशितग्रन्थसूची—

*–चिह्नाङ्कित ग्रन्थ प्रेस में हैं, जो सम्भवतः वर्षसमाप्ति–पर्य्यन्त प्रकाशित होजायँगे।

श्रीः

महामहिम राष्ट्रपति श्री डॉ॰ राजेन्द्रप्रसादजी महाभाग के सचिव-द्वारा प्राप्त 'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान' मानवाश्रम दुर्गापुरा (जयपुर) का 'प्रधानसंरक्षतानुगत-प्रमाणपत्र' अत्यन्त सम्मान से यहाँ उद्धृत होरहा है—



भारत के राष्ट्रपति

डा॰ राजेन्द्र प्रसाद

राजस्थान-वैदिक तत्त्वशोध संस्थान-जयपुर

का

प्रधान संरक्षक

बनने की स्वीकृति प्रदान करते हैं

मिलिट्री सेक्रेट्री ऑफिस	भारत के राष्ट्रपति के आदेशानुसार
राष्ट्रपति भवन	यदुनाथसिंह
नई दिल्ली	(यदुनाथ सिंह) मेजर जनरल
दिनांक 30 अप्रैल 1956	मिलिट्री सेक्रेट्री टू दि प्रेसिडेन्ट

प्राप्तिस्थान—

व्यवस्थापक-राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान

दुर्गापुरा (जयपुर-राजस्थान)

---

*-राष्ट्रपतिभवन के टेपरेकार्डों के आधार पर प्रकाशित, एवं महामहिम श्रीराष्ट्रपति महाभाग के प्रास्ताविक से समन्वित ।

श्रीः

अथ-गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गता-सर्वान्तरतमपरीक्षानुगता

'ख'-कारविभागात्मिका

"उत्तरखण्डात्मिका-भक्तियोगपरीक्षा"

(भक्तियोगपरीक्षा-उत्तरखण्ड)

की

संक्षिप्ता-विषयसूची (परिच्छेदात्मिका)

श्रीः

गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गता–सर्वान्तरतमपरीक्षानुगता 'ख'–कारविभागात्मिका–उत्तरखण्डात्मिका भक्तियोगपरीक्षा की संक्षिप्ता–विषयसूची "परिच्छेदात्मिका"

भक्तियोगपरीक्षा–उत्तरखण्डात्मिका–'ख'–कारविभागात्मिका
के
प्रधान--प्रकरणों का नाम--दिग्दर्शन

३

—*—

४

—*—



—*—



तत्र-"उपासनास्वरूपनिर्वचनात्मके"--प्रथमप्रकरणे एते--परिच्छेदा निरूपिताः--द्रष्टव्याः

(प्रथमप्रकरण की परिच्छेदसूची)

१

इति–'उपासनास्वरूपनिर्वचन' नामक ३०४ परिच्छेदात्मक प्रथम–प्रकरण को परिच्छेदात्मिका सूची-उपरता

१

अथ--उपासनालक्षणनिर्वचनात्मके--द्वितीय--प्रकरणे एते परिच्छेदा निरूपिताः-द्रष्टव्याः

(द्वितीयप्रकरण की परिच्छेदसूची)

२

इति–'उपासनालक्षणनिर्वचनम्' नामक १५३ परिच्छेदात्मक द्वितीय-प्रकरण की परिच्छेदात्मिका सूची–उपरत

२

अथ–"उपासनाभेदनिर्वचनात्मके-तृतीयप्रकरणे एते परिच्छेदा निरूपिताः-द्रष्टव्याः

(तृतीय-प्रकरण की परिच्छेदसूची)

३

इति–'उपासनाभेदनिर्वचन' नामक १६८ परिच्छेदात्मक तृतीय–प्रकरण की परिच्छेदात्मिका सूची–उपरता

३

अथ-उपासनापारीशिष्टनिर्वचनात्मके चतुर्थप्रकरणे एते परिच्छेदा निरूपिता:-द्रष्टव्या:

(चतुर्थप्रकरण की परिच्छेदसूची)

४

*—संशोधक की (हमारी) असावधानी से ग्रन्थ में २३१—२३२—२३३ संख्याओं के स्थान में ३३१—३३२— ३३ संख्याओं का समावेश होगया है। कृपालु पाठक संशोधन का अनुग्रह करेंगे।

महाविद्यानुगत-निदानरहस्य

(१) महाकालपुरुष, और उस की महाविद्या महाकाली

(आद्या-दक्षिणकालिका)

इति–'महाकाली'–स्वरूप–दिग्दर्शनम्

१

(२)–अक्षोभ्यपुरुष, और उस की महाविद्या तारा
(द्वितीया–तारा–ब्रह्ममयी)

इति-तारास्वरूप-दिग्दर्शनम्

२

———※———

(३)–पञ्चवक्त्रशिव, और उस की महाशक्ति षोडशी –(तृतीया-षोडशी-महाविद्या)

इति-'षोडशी'-स्वरूप-दिग्दर्शनम्

३

(४)—त्र्यम्बकशिव, और उस की महाविद्या भुवनेश्वरी [चतुर्थी-महाविद्या]

इति—भुवनेश्वरी-स्वरूपदिग्दर्शनम्

४

---

(५)—कबन्धशिव, और उस की महाविद्या छिन्नमस्ता (पञ्चमी—महाविद्या)

इति-छिन्नमस्ता-स्वरूप-दिग्दर्शनम्

५

——❋——

(६)–दक्षिणामूर्त्ति कालभैरव, और उस की महाविद्या भैरवी

(षष्ठी-भैरवी-महाविद्या)

——❋——

इति–भैरवी-स्वरूप-दिग्दर्शनम्

६

—*—

(७)-पुरुषवञ्चिता, अतएव 'विधवा' नाम्ना-प्रसिद्धा महाविद्या-धूमावती

[सप्तमी-धूमावती-महाविद्या]

—*—

इति–धूमावती-स्वरूप-दिग्दर्शनम्

७

—※—

[८]–एकवक्त्ररुद्र, और उस की महाविद्या वल्गामुखी [बगलामुखी]
[अष्टमी-वल्गामुखी-महाविद्या]

इति–वल्गामुखी-स्वरूप-दिग्दर्शनम्

८

[९] मतङ्गशिव, और उसकी महाविद्या मातङ्गी
[नवमी-मातङ्गी-महाविद्या]

इति-मातङ्गी-स्वरूप-दिग्दर्शनम्

९

(१०)-सदाशिवविष्णु, और उस की महाविद्या कमला
(दशमी-कमला-महाविद्या)

इति–कमला-स्वरूप-दिग्दर्शनम्

१०



—*—

रात्रितत्त्व, और दशमहाविद्या का प्रासङ्गिक-स्वरूप-विश्लेषण

इति–दशमहाविद्यानुगतानि-नैदानिकोदाहरणानि

समाप्तं चेदं महाविद्यानुगतं निदानरहस्यम्

* * *

श्री श्रीगणपति के नैदानिकस्वरूप का संक्षिप्त-इतिवृत्त

इति–भक्तियोगपरीक्षायां–उत्तरखण्डे
"उपासनापरिशिष्टनिर्वचनम्"
नामकं
चतुर्थ–प्रकरणं–उपरतम्
४



* * *

इति–गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गता–सर्वान्तरतमपरीक्षानुगता
'ख'–कारविभागात्मिका
"उत्तरखण्डात्मिका -भक्तियोगपरीक्षा"
[भक्तियोगपरीक्षा–उत्तरखण्ड]
की
संक्षिप्ता–विषयसूची–उपरता
[परिच्छेदात्मिका]



श्रीः

इति-गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गता-सर्वान्तरममपरीक्षानुगता

'ख'-कारविभागात्मिका

"उत्तरखण्डात्मिका-भक्तियोगपरीक्षा"

(भक्तियोगपरीक्षा-उत्तरखण्ड)

की

संक्षिप्त-विषयसूची-उपरता

(परिच्छेदात्मिका)



श्रीः

अथ–भक्तियोगपरीक्षायां–उत्तरखण्डे

'उपासनास्वरूपनिर्वचनम्'

नामकं

प्रथमं–प्रकरणम्

१



ओंतत्सद्ब्रह्मणे नमः

अथ

गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत-'सर्वान्तरतमपरीक्षात्मक'

'भक्तियोगपरीक्षा'-नामक-उत्तरखण्ड

(सर्वान्तरतमपरीक्षानुगत-'ख'-कार विभागात्मक-द्वितीयखण्ड)

तत्रादौ प्रथमं-'उपासनास्वरूपनिर्वचनम्'

नामकं-प्रथमं-प्रकरणम्

१

१—माङ्गलिकसंस्मरण—

१—नि षु सीद गणपते ! गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम् ।
न ऋते त्वत् क्रियते किञ्चनारे महामर्कं मघवञ्चित्रमर्च ॥

२—एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्य्यो विश्वमनुप्रभूतः ।
एकैवोषाः सर्वमिदं विभाति "एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्" ॥

३—वाचं देवा* उपजीवन्ति विश्वे वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः ।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी ॥

४—वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य वेदानां माताऽमृतस्य नाभिः ।
सा नो जुषाणोपयज्ञमागादवन्ती देवी सुहवा मेऽस्तु ॥

५—यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥

---

*देवताओं के स्वरूप के सम्बन्ध में विद्वत्समाज में आज अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ फैलीं हुईं हैं। इसके निराकरण के लिए 'शतपथहिन्दीविज्ञानभाष्य' का प्रथमकाण्डीय-प्रथमखण्ड ही देखना चाहिए।

६—ओष्ठापिधाना न कुलीदन्तैः परिवृता पविः ।
सर्वस्यै वाच ईशाना चारुमामिह वादयेत् ॥

७—यो यगो दिवि परमेष्ठि-गोसवात्मा विज्ञानं समुपदिदेश गीतया यः ।
आनन्दं जनयतु विश्वतो ममायं गोविन्दः स हि मयि सन्निधानमेतु ॥

८—य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ (गीता १८।६८ ।)

९—इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
नचाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति । (गीता १८।६७ ।)

प्राक्कर्म्मोदयतो हि यस्य मिथिलादेशे शरीरोदयः—
श्रीविश्वेशादयोदयाच्च समभूत्काश्यां सुविद्योदयः ।
राज्ञा प्रीत्युदयादभूज्जयपुरे सम्पत्ति-भाग्योदयः—
सिद्धस्तन्मधुसूदनाय गुरवे नित्यं प्रणामोदयः ॥

---- * ----

१—हे गणपते ! आप गणों में (मरुद्गणों में एवं स्तोतृगणों में) विराजिए ! क्योंकि (विद्वान्-लोग) आप ही को कवियों के मध्य में श्रेष्ठ मेधावी समझते हैं । अपिच आपके बिना दूर का अथवा समीप का कोई भी कार्य्य नहीं किया जासकता । (इसलिए सभी कार्य्यों के आरम्भ में आपका प्रथम स्मरण नितान्त अपेक्षित है) । हे महनीय गणपते ! त्रिवृत् (६), पञ्चदश (१५) सप्तदश (१७), एकविंश (२१), त्रिणव (२७), त्रयस्त्रिंश (३३) आदि विविध स्तोमों से युक्त महामहिमशाली, अतएव विद्वानों की दृष्टि में आदरणीय जो यह हमारा स्तोम (कार्य्यराशि) है, उसे आप निर्विघ्न पूर्ण करने का अनुग्रह करें ।

—ऋक्सं० १०।११२।९।

२—एक ही अग्नितत्त्व (गायत्री-त्रिष्टुप्-जगती आदि छन्दों के भेद से) गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिणाग्नि, आवसथ्याग्नि, सभ्याग्नि, धिष्ण्याग्नि, आहुताग्नि, प्रहुताग्नि, आमादग्नि क्रव्यादग्नि, कव्यादाग्नि, वैश्वानराग्नि, सन्तपनाग्नि, वेदाग्नि, सम्वत्सराग्नि आदि अनेक रूपों से यत्र तत्र प्रज्वलित होरहा है । एक ही सूर्य्य विश्वोपलक्षित चराचरजगत् में विभूति एवं योग सम्बन्ध से प्रविष्ट होकर उन सब स्थावर जङ्गम पदार्थों का आत्मा बनता हुआ नानाभावों में परिणत होरहा है । ३० योजन पर्य्यन्त अपनी व्याप्ति रखने वाली सूर्य्य से ३० योजन पश्चिम की ओर अपनी स्थिति रखने वाली उषाकाल की अधिष्ठात्री उषादेवी उदयबिन्दु के भेद से नानारूप धारण कर सर्वत्र प्रकाशित होरही है । नानाभेदभिन्न उक्त सम्पूर्ण प्रपञ्च एक ही ब्रह्म का वैभव है । एक ही ब्रह्मतत्त्व उपाधिभेद से अनेक रूप धारण कर विभूति-सम्बन्ध से सर्वत्र व्याप्त होरहा है ।

—"ऋक्सं० ६।४।२६।"

२- अधिदैवत-अभिभूत-समन्वयात्मिका 'भक्ति' लक्षणा उपासना से अनुप्राणित विविध प्रश्नों के समन्वय-समाधानात्मक-भक्तियोगपरीक्षा-पूर्वखण्ड का सिंहावलोकन-दृष्ट्या-दिग्दर्शन—

उपासना सगुणेश्वर से सम्बन्ध रखती है ?, अथवा निराकार व्यापक ब्रह्म से ?, उपासनाकाण्ड केवल माननीया बुद्धि की कल्पना है ?, अथवा इसका प्रकृति के साथ भी कोई नित्य सम्बन्ध है ?, प्राकृतिक उपासनायोग को सर्वप्रथम व्यावाहिरकरूप किसने दिया ?, नित्य उपासनातत्त्व के आधार पर (भारतीय महर्षियों के द्वारा) आविष्कृत, पुष्पित एवं पल्लवित ईश्वरभावनामयी उपासना के विविधरूप क्यों होगए ?, उपासना और भक्ति एक ही तत्त्व है, अथवा पृथक् पृथक् ?, भारतीय सभ्यता के आरम्भ में देवयुग में उपासना का क्या स्वरूप था ?, वेदकालोपलक्षित सत्ययुग में उपासना का क्या स्वरूप रहा ?, पुराणकालोपलक्षित त्रेतायुग में उपासनामार्ग ने क्या स्वरूप धारण कर लिया ?, दर्शनकालोपलक्षित कलियुग की भक्ति किस स्वरूप में परिणत होगई ?, प्रतिमापूजन वेदादिशास्त्र सम्मत है, अथवा निरी-पौराणिकी कल्पना ?, ये ही कुछ एक सामान्य प्रश्न हैं, जो कि उपासनातत्त्व के अन्वेषक के सामने सर्व-

---

३—वसु-रुद्र-आदित्य भेदभिन्न ३३ आग्नेय देवता, सम्पूर्ण सौम्यदेवता, कर्म्मदेवता, आत्मदेवता, अभिमानी देवता, पुरुषविध नित्य अष्टविध चेतन चान्द्र देवता, पुरुषविध चेतन अनित्य प्राणी देवता आदि सभी देवता एकमात्र वाक्तत्त्व को आधार बनाकर ही जीवित हैं। २७ गन्धर्व, सब प्रकार के पशु, मनुष्य आदि सब प्रजाएँ वाक् को प्रतिष्ठा बनाकर ही स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित हैं। भूः भुवः, स्व, महः, जनत्, तपः,-सत्यं ये सातों भुवन वाग्धरातल में हीं समर्पित हैं। (इसप्रकार जो वाक्तत्त्व चराचर में व्याप्त होरहा है) इन्द्रपत्नी नाम से प्रसिद्ध वह वाग्देवी (हमारे इस शब्दराशिरूप वाङ्मय यज्ञ में इसे सफल बनाने के लिए हमारी पुकार सुनें)।

—"तै० ब्रा० २.८.८।४"

४—"अक्षरमिति (अ[१]-क्ष[२]-रम्[३]-इति) त्र्यक्षरं, वागित्येकमक्षरम्" "एकाक्षरा वै वाक्" (ताण्ड्यब्रा० ४।४।३) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार वाग्रूप एकाक्षरब्रह्म, किंवा अक्षरस्वरूप वाग्ब्रह्म ही (विश्व में) सबसे पहले प्रकट हुआ है। अतएव यह वाग्देवी ऋततत्त्व की 'प्रथमजा' कहलाती है। यह वाक् (अनन्त) वेदों की माता है, अमृत की नाभि है। ऐसी यह वाग्देवी प्रसन्न होती हुई हमारे इस वाग्यज्ञ में पधारें। अपिच हमारी रक्षा करने वाली यह वाग्देवी (हमारे इस वाग्यज्ञ को निर्विघ्न पूर्ण करने के लिए) हमारी प्रार्थना सुनें।

—"तै० ब्रा० २।८।८"।

५.—जो औपनिषद पुरुष (सृष्टिनिर्म्माण के लिए) प्रतिष्ठालक्षण चतुर्म्मुख ब्रह्मा को सर्वप्रथम उत्पन्न करता है, जो वेदान्तपुरुष उस ब्रह्मा के लिए (सृष्टिसाधनरूप) वेदों को अर्पित करता है, प्रज्ञानात्मा नाम से प्रसिद्ध सर्वेन्द्रियलक्षण मन, एवं विज्ञानात्मा नाम से प्रसिद्ध बुद्धि के प्रकाश-स्वरूप उसी (चिद्घन ब्रह्म) देव की शरण में मैं मुमुक्षु जारहा हूँ।

—श्वेता० उ० ६।१८"।

प्रथम उपस्थित होते हैं। साथ ही यह भी निश्चत है कि, जबतक अन्वेषक उपासना से सम्बन्ध रखने वाले उक्त बहिरङ्ग प्रश्नों का सम्यक् समाधान प्राप्त नहीं कर लेता, तबतक उपासना के मौलिक स्वरूप की ओर उसका अन्तरात्मा आकर्षित भी नहीं होसकता। इसी आवश्यक-विप्रतिपत्तिपति के निराकरण के लिए उपासना के अन्तरङ्गस्वरूप-परिचय से पहिले उपासनाप्रेमी पाठकों के सम्मुख उपासना-सम्बन्धी उक्त बहिरङ्ग प्रश्नों का समाधान रखना आवश्तक समझा गया, एवं इसी आवश्यकता की पूर्त्ति के लिए उक्त प्रश्न-समाधानात्मक पूर्वखण्ड लिपिवद्ध किया गया।

३–पूर्वखण्ड–निरूपित भक्तियोग का स्वरूप-निष्कर्ष, एवं तन्निबन्धना कतिपय-प्रासङ्गिकी विशेषताओं का स्वरूप–समन्वय, एवं कर्म्म–ज्ञान–भक्ति–योगत्रयी में से भक्तियोग का ही श्रेष्ठत्त्व-प्रतिपादन—

पूर्वखण्ड में जिन विषयों का निरूपण हुआ है, यदि पाठक अथ से इति पर्य्यन्त उन्हें देखने का कष्ट करेंगे, तो निःसन्देह उन्हें यह स्वीकार कर ही लेना पड़ेगा कि, ज्ञान-कर्म्मयोग की भांति उपासनापरपर्य्यायक, ईश्वरप्रणिधानलक्षण भक्तियोग भी मानवजीवन को सफल बनाने में एक अन्यतम उपाय है। हमारा अपना तो इस सम्बन्ध में यह भी विश्वास है, कि ज्ञानयोग हो, अथवा कर्म्मयोग, जबतक उसमें ईश्वरी-यभावनारूप भक्तिभाव का समावेश नहीं कर लिया जाता, तबतक उन दोनों ही योगों का एक शुष्क-स्थाणु से अधिक कोई मूल्य नहीं होसकता। ज्ञानकर्म्म की उच्चभूमिकाएँ भले ही ज्ञानी, एवं कर्म्मठ को मुक्त करदें, परन्तु भक्तिभाव से विरहित ये उच्चनिष्ठाएँ हमें उस आनन्दचर्वणा से तो सर्वथा वञ्चित ही रखती हैं, जो कि आनन्दचर्वणा माननीय मन को सतत रसाप्लुत बनाए रखती है। लौकिक ज्ञान हो, अथवा शास्त्रीय-ज्ञान। लौकिक कर्म्म हो, अथवा शास्त्रीय कर्म्म। यदि इनमें श्रद्धायुक्त मत्परलक्षण भक्तियोग का समावेश कर दिया जाता है, तो इसी जीवन में हम उस शान्त आनन्द के अधिकारी बन जाते हैं, जिसकी कि भक्तिशून्य ज्ञान-कर्म्मवादी मृत्यु के पश्चात् कामना किया करते हैं।

४–भक्तिविरहिता शास्त्रनिष्ठा का नैरर्थक्य, एवं भक्तिवञ्चित कर्म्मयोग, तथा ज्ञानयोग की शुष्कभावनिबन्धना कुण्ठावृत्ति का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं तद्व्यर्थता—

सचमुच उन्हीं शास्त्रनिष्ठों की शास्त्रनिष्ठा सफल है, जो शास्त्र के अक्षर अक्षर में गोविन्दरस-प्रमोदमधुरा माधुरी का रसास्वादन कर रहे हैं। उन्हीं कर्म्मठों का जीवन धन्य माना जायगा, जो शास्त्र-विहित वर्णधर्म्मानुकूल अधिकृत कर्म्मों में अनन्यभाव से प्रतिष्ठित रहते हुए अपने प्रत्येक कर्म्म में उसे ओतप्रोत देखेंगे। उन्हीं ज्ञानियों की योगसाधना सफल कही जायगी, जो उद्धव की भांति अपनी योग-साधन की उच्चभूमिका में भी उसी परमात्मतत्त्व में आत्मसमर्पणभाव सुरक्षित रख सकेंगे। यदि एक शास्त्रनिष्ठ शास्त्राभिमान में, कर्म्मनिष्ठ कर्म्माभिमान में, एवं ज्ञाननिष्ठ योगाभिमान में पड़कर उस मध्यस्था भक्तिनिष्ठा की उपेक्षा कर देगा, भगवद्-भावना से वियुक्त रहेगा, तो उसकी शास्त्र-कर्म्म-ज्ञान-निष्ठाएँ सभी कुछ व्यर्थ ही सिद्ध होगीं।

५–अपठित–यथाजात–प्राकृत भी सहज मानवों की जन्मान्तरीय–संस्कारानुबन्धिनी लोकोत्तरा भक्तिनिष्ठा के समतुलन में शास्त्रनिष्ठ ज्ञानी–कर्म्मठ तथा योगी का भी अवरत्व–संस्थापन—

ठीक इस के विपरीत भगवदनुग्रहवश (जन्मान्तरीय–सुसंस्कारों के अनुग्रह से) यदि एक यथाजात अपठित भी पुरुषोत्तम पुरुषोत्तम की भावना में तन्मय रहेगा, तो वह उस शास्त्रभक्त की अपेक्षा, (जिसने अपने जीवन में बड़े बड़े पोथों का पारायण कर डाला है, जो पद पद पर शास्त्र की दुहाई देता रहता है), उस कर्म्मठ की अपेक्षा (जो अपने यज्ञादि कर्म्मानुष्ठों में सामने किसी को श्रेष्ठ नहीं समझता) उस ज्ञाननिष्ठ योगी की अपेक्षा (जिसने कि घोर घोरतम तपश्चर्य्या के द्वारा अपना शरीर काँटा बना–लिया है, जो कि सिद्धिगर्व में उन्मत्त है) कहीं श्रेष्ठ माना जायगा। शास्त्रमर्म्मज्ञों की दृष्टि में महामूर्ख, कर्म्मठों की दृष्टि में महा आलसी, योगियों की दृष्टि में सर्वथा हीनशक्ति भी प्रतीत होने वाला वह भक्त–वर लक्ष्मीभूत उस भगवत्तत्त्व के सान्निध्य से क्या से क्या बन जाता है ?, इस आलौकिक रहस्य को पोथी का पण्डित नहीं जान सकता, कदापि नहीं जान सकता।

६–अशिक्षित, किन्तु भक्तिभावना–पूरित परमभागवत भक्त के संस्पर्शमात्र से लोक–सामान्य का अभ्युदय, एवं शास्त्राभिमानी कर्म्मठ, तथा ज्ञानी के समतुलन में तद्भक्त का महान् वैशिष्ट्य प्रतिपादन—

वह उन शास्त्रज्ञों की भाँति गला फाड़ फाड़ कर उपदेश देना नहीं जानता, यह सच है। उन कर्म्मठों की भाँति ज्योतिष्टोम–अयन–राजसूयादि यज्ञों का आडम्बर करना नहीं जानता, यह भी सच है। उन योगियों की भाँति मन्त्रसिद्धि के प्रयोगद्वारा वह आर्त्त प्राणियों का प्रत्यक्ष में कोई लाभ करता नहीं दिख–लाई देता, यह भी ध्रुव सत्य है। परन्तु इससे हुआ क्या। इस परम भागवत का संसार में रहना ही अभ्युदय का अन्यतम कारण है। इसकी बालभाषा वेदान्तियों के उन गहन उपदेशों से भी गहन, किन्तु सर्वबोधगम्य है। इसका आचरण ही महान् उपदेश है। इसकी दृष्टि ही महान् वरप्रदान है। इसके शरीर से स्पर्श कर व्याप्त होने वाला वायु ही हमारे अनेक जन्मों के पातक भस्मसात् करने की शक्ति रखता है। पागल दुनिया इसे पागल समझकर इसका तिरस्कार करती रहती है। उधर यह पागल अपने पागलपन से ही मृत्यु की ओर अग्रेसर होने वाले शास्त्राभिमानी पागलों का त्राण किया करता है। विधिका कैसा मङ्गलमय विधान है !।

७–शास्त्रनिष्ठानिबन्धमात्र से शास्त्रीय पथों का अनुकरण–प्रयास, भक्तिनिष्ठा की सर्व–मूर्द्धन्यता, भक्तिशून्य यच्चयावत् वाग्विजृम्भणों की आत्यन्तिक–निरर्थकता, एवं शास्त्रजाल–समाकुलित मानव के परित्राण के सम्बन्ध में सहज जिज्ञासा, तथा गीता के द्वारा तत्समाधान–समन्वय—

सच जानिए, यदि भगवान् अपने गीताशास्त्र में "तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ" यह घोषणा न कर जाते, तो इन पङ्क्तियों का लेखक यह जन इन आडम्बरों को कभी का स्मृतिगर्भ

में विलीन कर चुका होता । अन्ततोगत्वा इन पोथों से होगा क्या !, पुनः पुनः यही सत्यविचार उदित होते रहते है । और वह क्षण सचमुच भगवान् की एक अपूर्व देन ही मानी जायगी, जिस दिन "नामैवैतत्" के रहस्यबोध के साथ साथ इस शास्त्रकाल से पीछा छूटेगा । वे शास्त्र किस काम के, जो हमें लक्ष्य से वञ्चित कर देते हों । वह पंडिताई किस काम की, जो हमें अभिमानी बनाकर हमारा सर्वनाश कर डालती हो । हमारा वह लम्बा चौड़ा उपदेश किस काम का, जिसके कुचक्र में पड़कर हमें अपने आत्मा के साथ साथ दूसरों को भी धोका देना पड़ता हो । हमारी वह लेखनशक्ति किस काम की, जो मानवसमाज में बुद्धि-भेद उत्पन्न कर उन्हें अभिनिविष्ट बना डालती हो । कबतक हम बीभत्स शास्त्रों से संसार का नाश करते रहेंगे !, धर्म्म-मत-ईश्वर-आस्तिक-नास्तिक-शैव-वैष्ण-शाक्त आदि के मस्तक कबतक कन्दुकक्रीड़ा के साधन बने रहेंगे ! ओह ! यह कैसा ढकोसला, यह कैसी भीषण भ्रान्ति, प्रलयकाल से समतुलित यह कैसा गर्ज्जन-तर्ज्जन !, मानसमाज की स्वार्थपूर्णा यह कैसी बर्बरता !, यह शास्त्र, यह वेद, यह पुराण, यह दर्शन, यह बाइबिल, यह कुरान, यह जन्दावस्ता, भगवन् ! रक्षा कीजिए, इन नाशकारी महायन्त्रों से । कबतक हम इन वारुणपाशों में फँसे रहेंगे !, कब हम हम, न रहेंगे, एवं आप आपन रहेंगे, कब तू तू-मैं-मैं का संघर्ष मिटेगा, कब विश्व उस शान्ति के शान्त-पावन-अचिन्त्य क्रोड में स्थान पावेगा ? भगवन् कहिए ! न—कद ! कदा !! कदा !!!

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥
सर्वधर्म्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच ! ॥

८—समाधान की स्वीकृति, 'नाभक्ताय कदाचन' का संस्मरण, शास्त्रनिष्ठा से वञ्चित, तथा शास्त्रीय पथों के निन्दक आज के ये भक्त, और उनके भक्तिपथों की आपातरमणीयता का स्वरूप-दिग्दर्शन—

समाधान ठीक है, परन्तु अधिकारी दुर्लभ हैं। इसीलिए तो उक्त समाधान पर भगवान् ने "नाभक्ताय कदाचन" यह नियन्त्रण लगा दिया है । नहीं, तो रूपान्तर से उक्त समाधान के ही अनुयायी वर्त्तमानयुग में अधिक मिलेंगे । भारतवर्ष को ही लीजिए न । आज ७५ प्रतिशत महापुरुषों के श्रीमुख से शास्त्रादि की निन्दा सुनने का ही सुअवसर मिलेगा । क्या ऐसे ही महापुरुष भक्त माने जायँगे !, कदापि नहीं । यह भ्रान्ति न कर बैठना । क्योंकि इस का नाम है-"उपासना" । उपासना साधन की अपेक्षा रखती है । और साधनदृष्टि से शास्त्रादि भी उच्चभूमिका में हीं प्रतिष्ठित हैं । हाँ, यदि शास्त्ररूप साधन पर ही जीवन-लीला समाप्त करदी, साध्य के साथ मनोयोग नहीं किया, तो अवश्य ही शास्त्रनिष्ठा व्यर्थ है ।

९–अनेकजन्मानुगता शास्त्रसिद्धा ज्ञान-कर्म्म-निष्ठासमन्विता कर्म्म-ज्ञानयोगनिष्ठाओं के अनुग्रह से ही उपलब्धा इहजन्मानुगता भक्तियोगनिष्ठा का पावन संस्मरण, एवं भक्तियोग के आधारभूत 'उपासना' तत्त्व के वास्तविक स्वरूप का समन्वय-प्रयास—

जिन महापुरूषों के भक्तिभावनामय अपूर्व चरित्र हमें सुनने का सौभाग्य मिलरहा है, विश्वास कीजिए, यह उन की अनेक जन्मों की शास्त्रनिष्ठा का ही फल है–"अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्"। आप उस के सन्निकट चले जायँ, यही तो उप-आसन है। परन्तु चले कैसे जायँ, जब कि मध्यमें अविद्या का आवरण आरहा है। पहिले उस आवरण को हटाना आवश्यक होगा। और उस के लिए एक दूसरे आवरण का आश्रय लेना पड़ेगा। वह आवरण होगा शास्त्रीय-मार्ग का अनुष्ठान, फिर वह ज्ञानात्मक हो, अथवा कर्म्मात्मक, यह अधिकारी की योग्यता पर निर्भर है। यह नवीन आवरण पुराने अविद्यावरण को तो हटाएगा ही, साथ ही काम होजाने पर अपने आपभी हट जायगा। "हटाना" इस का मुख्य व्यापार है। मुख्य धर्म्म है। हटा वही सकता है, जो स्वयं भी हटना जानता है। जो स्वयं हटना नहीं जानता, वह अन्य को क्या हटावेगा ?। गतितत्त्व ही स्थिति पर आघात कर सकता है। एक स्थितिभाव दूसरे स्थितिभाव को कभी गतिरूप में परिणत नहीं कर सकता। चलता हुआ एञ्जिन ही स्थिर डब्बों को एक स्थान से अन्य स्थान पर ढकेलने में समर्थ होता है। जिस समय एञ्जिन अपने चलभाव को छोड़ देता है, उस समय वह उन अचल डब्बों को भी स्थानचलित करने में असमर्थ होजाता है। तात्पर्य्य जो स्वयं हटेगा, वही दूसरे को हटा भी सकेगा। विज्ञान के इस सामान्य सिद्धान्त के अनुसार वह दूसरा गतिधर्म्मा आवरण जहाँ अपने गतिधर्म्म से उस स्थितिधर्म्मा प्रथमावरण को हटाता है, वहाँ उस के साथ साथ वह स्वयं भी अपने गतिधर्म्म से हट जाता है। निरावरण आकाश उदरभाव से शून्य होजाता है। यह, और वह मिल जाते हैं। यही उपासना का वास्तविक स्वरूप है, जो कि इस प्रकरण का मुख्य उद्देश्य है, एवं जिस उद्देश्य को कि आज उपासनावादी एकान्ततः भुला चुके हैं।

१०–उपासनाकाण्डानुगत उपासक, उपासनासाधन उपासनासाधक-त्रयी की स्वरूप-मीमांसा से अनुप्राणित चिन्तन–

अब हमें यह विचार करना चाहिए कि, इस उपासनाकाण्ड में कौन तो उपास्य है, कौन उपासक है, कौन उपासना का साधन है, कौन स्थिर आवरण है, एवं कौन चल आवरण है ?। इन्हीं प्रश्नों के समाधान पर उपासना का स्वरूप अवलम्बित है। लौकिक उपासनामार्ग को थोड़ी देर के लिए छोड़ दीजिए, पहिले शास्त्रीय उपासनामार्ग के सम्बन्ध में हीं उक्त प्रश्नों का विचार कीजिए।

११–शास्त्रीय–दृष्टि से उपासनातन्त्रत्रयी के चिन्तन का समन्वय–प्रयास, एवं 'तमेव-विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते-अयनाय' का रहस्यात्मक-संस्मरण—

शास्त्रीय दृष्टि से ईश्वर उपास्य है, जीवात्मा उपासक है, एवं जगत् उपासना का साधन है। उस ओर ईश्वर प्रतिष्ठित है, इस ओर जीव प्रतिष्ठित है, मध्यमें जगच्चक्र परिवर्त्तित होरहा है। ईश्वर निरावरण है, जीव भी स्वस्वरूप से निरावरण है, दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित जगत् भी स्वस्वरूप से निरावरण ही है।

विश्व यद्यपि अपने स्वरूप से तो निरावरण ही है, परन्तु जो इस से घनिष्ठ मैत्री कर लेता है, उस के लिए यह सावरण भी बन जाता है। जहाँतक जीव को अपने स्वरूप की रक्षा के लिए जगत् का संसर्ग अपेक्षित है, वहाँतक तो इस के लिए जगत् निरावरण रहने के साथ साथ उपकारक भी बना रहता है। परन्तु स्वरूप रक्षा की स्वाभाविक (प्राकृतिक) मर्य्यादा की उपेक्षा कर यदि जीव विशेषरूप से इस में संसक्त हो जाता है, तो वही निरावरण जगत् इस के लिए न केवल सावरण ही बन जाता, अपितु स्वरूपविघातक भी बन जाता है। और इसी संसक्तावस्था में आकर अंश जीव अपने उस अंशी निरावरण के ऐश्वर्य्य से वञ्चित होता हुआ दुःखार्णव में निमग्न होजाता है। इस दुःखार्णव से त्राण पाने का, साथ ही उस त्राता के अनुग्रह प्राप्त करने का एकमात्र उपाय यही है कि, जीव अपने उस (ईश्वरीय) त्राता के स्वरूप को समझे-"तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय", ।

> यदा चर्म्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।
> तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥
> तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ।
> नानुध्यायान् बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत् ॥

१२–प्रक्रान्त–'उपासना स्वरूपपरिचय' के सम्बन्ध में —

उसे जाना कैसे जाय ?, इस का एकमात्र उपाय है—"उपासना"। उपासना कैसे की जाय ?, इस प्रश्न का एकमात्र उत्तर है—"उपासनास्वरूपपरिचय"।

१३–आवरणस्वरूप-दिग्दर्शन, स्वस्वरूपानुगति से आवरण--भाव से असंसृष्ट ईश्वर-जीव-जगद्भाव, एवं आनन्दमय उपास्य का स्वरूप-संस्मरण—

ध्यान रहे, न तो ईश्वर आवरण का कारण है, न स्वयं जीव ही आवरण का कारण है, एवं न जगत् ही। यदि जगत् आवरण, एवं तन्मूलक दुःख का कारण होता, तो जगत् के पर्व पर्व में व्याप्त स्वयं जगदीश्वर सदा ही दुःखी रहते। परन्तु (शब्दशास्त्रप्रदत्ता शास्त्रीयदृष्टि के आधार पर) हम देखते, एवं सुनते आए हैं कि, जगन्नियन्ता नित्यविज्ञान-आनन्दघन है। यही क्यों, वैज्ञानिकाचार्य्योंनें तो जगत् को उसी आनन्दघन ब्रह्म का अंश मानते हुए इस की आन्दमयता ही सिद्ध की है। और यह सत्य भी है कि, कारणरूप ब्रह्म जब सच्चिदानन्दघन है, तो तत्कार्य्यरूप जगत् को कारणधर्म्मो से कैसे पृथक् किया जासकता है ?।

१४–आनन्दघन अंशी ईश्वर के अंशरूप जीवात्मा की आनन्दमयता का स्वरूप-समन्वय, तन्निबन्धन उपासनातत्त्व, एवं शाश्वतकामना का संस्मरण, तथा तदनुबन्धी अर्कों से अनुप्राणित आनन्दविस्तार—

यही अवस्था ईश्वरांशभूत जीववर्ग की है। आनन्दमय ब्रह्म का अंश जीव नित्यानन्दघन है, आनन्द ही उस का जीवन है, यह तो शास्त्रीय–दृष्टि के साथ साथ अनुभवदृष्टि से भी सिद्ध है। कोई भी प्राणी कभी

भूलकर भी दुःख की कामना नहीं करता। आनन्दकामना ही इस की शाश्वत-कामना है। यदि दुःखमात्रा भी इस के उक्थ (मूल) में समाविष्ट रहती, तो कभी कभी आनन्दार्कों की भाँति इस में से दुःखार्क भी निकलते। जब इसमें दुःखार्क नामकी काममयी रश्मियों का हम आत्यन्तिक अभाव पाते हैं, तो इसे कैसे दुःखमय माना जासकता है ?। इसप्रकार जीवत्रित्व का भी स्वस्वरूप से निरावरणत्त्व, एवं नित्यानन्दघनत्त्व ही सर्वात्मना सिद्ध होजाता है।

१५-ईश्वर-जीव-जगत्-भावानुबन्धी त्रित्त्व का संस्मरण, तीनों की नित्यानन्दरूपता, एवं आकस्मिक 'दुःख' पदार्थ के सम्बन्ध में महती विप्रतिपत्ति, तथा तत्-स्वरूपान्वेषण-प्रयास—

ईश्वर-जगत्-जीव तीनों की समष्टि के अतिरिक्त चौथी वस्तु का सर्वथा अभाव, एवं तीनों ही अपने अपने प्रातिस्विकरूपों से निरावरण, एवं आनन्दमूर्त्ति। फिर यह आवरण, एवं तज्जनित दुःख नामक पदार्थ कहाँ से, कैसे, क्यों, कब, आगए ?, सचमुच अध्यात्मशास्त्र की यह सब से बड़ी जटिल समस्या है। बुद्ध्यनुसार अन्वेषण करने के पश्चात् हमें तो इस सम्बन्ध में ये ही उद्गार प्रकट करते पड़ते हैं कि, सृष्टि से आरम्भ कर आजतक उत्पन्न होने वाले महा महा विद्वान् भी कोई संतोषप्रद उत्तर नहीं देसके, और नाहीं भविष्य में ही इस का कोई उचित उत्तर मिल सकेगा।

१६-आस्तिक आचार्य्यों के शास्त्रीय समाधान से अनुगत अविद्यात्मक आवरण, तन्मूलक दुःख का स्वरूप-समन्वय-प्रयास, एवं दुःखानुगत स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टिकोण, तथा सहजदृष्टिपथानुगमन-प्रयास—

आस्तिक आचार्य्यों का यह उत्तर कि—"अविद्या के आवरण से ही दुःखोत्पत्ति होती है" कोई महत्त्व नहीं रखता। पहिले तो यही प्रश्न है कि, ईश्वर जब नित्यविज्ञान (विद्या) घन है, तो अविद्या आई कहाँ से ?। जब जगत्-एवं जीव दोनों का मूलकारण विद्यात्मक ईश्वर है, तो जगत्-जीव में भी अविद्या का निर्गम कैसे सम्भव हुआ ?। यदि यह मान लिया जाय कि, ईश्वर में तो अविद्या नहीं थी, परन्तु जगत्-जीव में अविद्या उत्पन्न होगई। यदि यह बात है, तो ईश्वर को सबका कारण मानना कैसे संगत बना ?। यदि थोड़ी देर के लिए अविद्या को सर्वथा पृथक् मान लिया जायगा, तो ईश्वर की व्यापकता कैसे सुरक्षित रहेगी ?। यदि काल्पनिक आचार्य्यों की बात मानते हुए जगत् का अस्तित्त्व ही न मान कर पीछा छुड़ाने का प्रयास किया जायगा, तो फिर उस नास्तिक के तर्क का खण्डन किस आधार पर किया जायगा, जोकि जगत्-शून्यवाद के साथ साथ न तो विश्वनियन्ता ईश्वर की ही सत्ता मानता, एवं न शरीरातिरिक्त नित्य जीवात्मसत्ता ही स्वीकार करता। बचाव के लिए यदि जगत् को कल्पना की जाती है, तो फिर परमात्मा-जीवात्मा के मानने की भी क्या आवश्यकता रह जाती है ?। ये ही कुछ एक ऐसी अड़चने हैं, जिन्हें देखते हुए कहना पड़ता है कि, उक्त जटिल समस्या का निराकरण आजतक किसी से ठीक ठीक नहीं होसका है। यही नहीं, हमें तो कुछ ऐसा भी प्रतीत होता है कि, बुद्धिवाद, किंवा शास्त्रवाद को एक ओर रख कर यदि अपनी यथाजात ग्राम्यदृष्टि से उक्त समस्या पर विचार किया जाता है, तो कुछ विशेष सफलता मिल सकती है। आइए, एकबार उसी दृष्टि से मीमांसा करने की उचित एवं अनिवार्य्य-धृष्टता कर ही ली जाय।

१७–दुर्बोध्यतमा–शास्त्रीय–मान्यताओं के प्रति तटस्थता, एवं सहजभावनिबन्धना प्राकृतदृष्टि से अनुप्राणित सहज–समाधान का स्वरूपान्वेषण–प्रयास—

जो शास्त्र ईश्वर-जगत्-जीव, तीन तत्त्व मानता हो, तीनों को निरावरण मानता हो, तीनों को नित्यानन्दमूर्ति मानता हो, शास्त्र के दुर्गम दुर्ग को प्रणाम कर अपने साधारण, अशिक्षित, प्राकृतिक अनुभव से विचार कीजिए कि, हम क्या हैं ?, और यह पुरोऽवस्थित अग्नि–पवन–गगन–मेघ–सरित्-तड़ाग-महीधर–सूर्य्य–चन्द्र–ग्रह–नक्षत्र–ओषधि–वनस्पति–कृमि–कीट–पशु–पक्षी–मनुष्यादि उच्चावच विविध मात्रापन्न वस्तुओं से नित्य समाकुलित–दृश्य क्या है ?।

१८–कारणसापेक्षतामूला कार्य्योत्पत्ति, मानवोत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न क्रमधाराएँ, एवं क्रमसिद्धा पारस्परिकी कार्य्यकारणभावनिबन्धना सोपानपरम्परा का स्वरूप-दिग्दर्शन–प्रयास—

साधारण से अनुभव पर भी हमें यह तो मान हीं लेना पड़ेगा कि, कार्य्य की उत्पत्ति अवश्य ही कारण-सापेक्षा है। बिना कारण के कोई भी कार्य्य व्यक्तरूप में नहीं आसकता। सम्भव है, हम हमारी उत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ अनुमान लगाने में समर्थ होसकें। अनुमान शब्द का प्रयोग इस लिए करना पड़ रहा है कि, हमनें सामान्य दृष्टि से जिस पितृदम्पती को अपना कारण मान रक्खा है, वस्तुतः ये माता पिता हमारे कारण नहीं हैं। अपितु माता का शोणित, एवं पिता का शुक्र ही हमारी उत्पत्ति का कारण है, एवं अन्नभोजन हमारी स्थिति का कारण है। सचपूँछा जाय तो पिता का शुक्र ही हमारा कारण है। शुक्र अन्न का ही रूपान्तर है, अतः अन्न कारण है। अन्न ओषधियों का रूपान्तर है, इसलिए ओषधियां कारण हैं। ओषधियां पृथिवी के रूपान्तर हैं, अतः पृथिवी कारण है। पृथिवी जल का, जल अग्नि का, अग्नि वायु का, वायु आकाश का कारण है। आकाश का कारण कौन ?, यहां आकर हमारी दृष्टिमर्य्यादा समाप्त होजाती है। ऐसी परिस्थिति में हमें यह अनुमान लगाना पड़ता है कि, कोई एक ऐसा नित्य तत्त्व है, जो आकाशरूप से सब का कारण बना हुआ है। वही अनुमेय तत्त्व आत्मा, ईश्वर, परमात्मा आदि नामों से प्रसिद्ध है—'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः'।

१९–परम्परा से अनुप्राणित नित्यसिद्ध कारण का स्वरूप-संस्मरण, एवं दुःख स्वरूप-विचारोपक्रम—

इसप्रकार परम्परया हमें किसी नित्य कारण पर ही विश्राम करना पड़ता है। इसी नित्यकारणता का अन्वेषण करते करते सर्वप्रपञ्च के ईश्वर–जीव–जगत् ये तीन प्रपञ्च हमारे सामने उपस्थित होजाते हैं। हम, पुरोऽवस्थित दृश्य प्रपञ्च, हमारा और दृश्य प्रपञ्च का आदि कारण, ये ही तीन वर्ग क्रमशः जीव, जगत्, ईश्वर नाम से व्यवहृत हुए हैं। अब आवरण, एवं तत् सम्बन्धी दुःख का विचार कीजिए।

२०–हीनयोग, अतियोग, मिथ्यायोग, अयोग, नामक दुःखप्रवर्त्तक चार योगों का उदाहरणात्मक स्वरूप–समन्वय, तत्प्रवर्त्तक 'प्रज्ञापराध', तन्निबन्धन–समत्वयोग-स्खलन, एवं तदनुप्राणिता दुःखपरम्परा का स्वरूप–समन्वय—

तीनों विवर्त्त आनन्द मय हैं, जैसे यह सिद्धान्त अन्वर्थ युक्तिवाद पर प्रतिष्ठित है, एवमेव आवरण और दुःख का अनुभव भी प्रत्यक्षसिद्ध है। दुःख होता अवश्य है, दुःख नाम का पदार्थ काल्पनिक हो, अथवा

वस्तुतत्त्व। परन्तु दुःख के अस्तित्व में किसी को सन्देह नहीं होसकता। इसकी उत्पत्ति का कारण यही विदित होता है कि, हम अपने जीवन-साधक जगत् के पदार्थों की उपयोगिता में अपनी अज्ञता से कुछ असावधानी कर बैठते हैं। देखिए न, आनन्दलक्षणा तृप्ति का साधक अन्न भी कभी कभी सेवन की असावधानी से दुःख का कारण बन जाता है। हमें हित-मित भोजन करना चाहिए। परन्तु अपनी अज्ञता से हम हीनयोग, मिथ्यायोग, अतियोग, अयोग, में से किसी एक के अनुगामी बनते हुए सर्वथा काल्पनिक दुःख को सत्य का रूप दे डालते हैं। परिणाम इस का यही होता है कि, अन्नग्रहण करने वाला इन्द्रियाकाश (इन्द्रिय-धरातल) दूषित होजाता है, यही दुष्टभाव है। इन्द्रिय 'ख' का (इन्द्रिय विवरों का दुष्ट बन जाना ही 'दुःख' है। भोजन करना चाहिए आधा सेर, किया पाव भर, यही हीनयोग है। भोजन करना चाहिए आधा सेर प्रकृत्युनगत अन्न, खागए आधा सेर प्रकृतिविरुद्ध अन्न, यही मिथ्यायोग है। भोजन करना चाहिए आधासेर, कर गए अधिक, यही अतियोग है। सायं प्रातः भोजन करना चाहिए, कुछ भी भोजन नहीं किया, यही अयोग है। न केवल रसनेन्द्रिय-सम्बन्धी भोजन के सम्बन्ध में ही, अपितु सभी ऐन्द्रियक विषयों के सम्बन्ध में चारों दोषों का समन्वय समझिए। ये ही चारों भाव उक्त दुःख के कारण बनते हैं। इसी दोषसमष्टि को 'प्रज्ञापराध' कहा जाता है। यह हमारा दोष है। हमारा नहीं, हमारे मन का।

२१-संस्कार से संस्कृत-मानव के विद्यमान मन से अनुप्राणिता आसक्ति का उपोद्बलक बुद्धितन्त्र, तन्निबन्धना दुःखप्रवृत्ति, एवं 'बुद्धौ शरणमन्विच्छ' का संस्मरण—

हम तो जीवात्मा हैं। उसमें दोष का क्या सम्बन्ध ?। चान्द्रमन ही इन्द्रिय-वशवर्त्ती बन कर प्रज्ञापराध कर बैठता है। सच पूँछा जाय, तो इस में मन का भी क्या दोष। यह दोष तो उस बुद्धि का है, जो मन को अपने सञ्चालन में रखती हुई उसे सदसद् विवेक से वञ्चित कर देती है। समझ (बुद्धि) ही सदसद्विवेक के द्वारा सर्वोद्धार का कारण बनती है, एवं समझ ही अविवेक के द्वारा मन से प्रज्ञापराध करवाती हुई सर्वनाश का कारण बनती है। बुद्धि यदि स्वस्वरूप से विकसित है, तो हमारा मन हितकर-रुचिकर पदार्थों का विवेक करने में समर्थ होजाता है। ऐसा बुद्ध्यनुगत मन कभी तत् में अतत् की, अतत् में तत् की, एवं सत् में असत् की भ्रान्ति नहीं कर सकता। इस सदसद्विवेक से तत्त्वदर्शक यह मन जगत् के उन्हीं आवश्यकतम भोगों का अनुगामी बनता है, जो कि भोग जीवनस्थिति के लिए आवश्यक होते हैं। गीताशास्त्र का भी चरम लक्ष्य यही है कि, दुःख का कारण न संसार है, न तुम हो। अपितु तुम्हें तुम्हारी समझ ही दुःख देती है। तुम अपनी समझ को इन्द्रियानुगत मन की अनुचरी बना डालते हो। मन के अधिकार में सीमित बुद्धि मन के स्नेह गुण से अपने स्वाभाविक अनासक्तिभाव से वञ्चित होजाती है। सदसद्विवेक नष्ट होजाता है। जगत् भोगों को कृत्वर्थ न समझ पुरुषार्थ मान बैठती है। एवं यही दुःख का मूलकारण है। इस से छुटकारा पाने का एकमात्र उपाय है—

"बुद्धौ शरणमन्विच्छ"

२२-बुद्धि के दोष से समुत्पन्ना दुःखपरम्परा का लौकिक-उदाहरणों के माध्यम से स्वरूप-दिग्दर्शन—

बुद्धि ठीक है, तो सब कुछ व्यवस्थित है। यदि बुद्धि विकृत है, तो सबकुछ नष्ट है। यही विकृति-भाव आगे जाकर बुद्धिनाश का कारण बन जाता है, एवं बुद्धिनाश ही अन्ततोगत्वा सर्वनाश का कारण बन जाता

है-'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति'। बुद्धि क्यों बिगड़ती है, इस का उत्तर उसी से पूँछिए। बुद्धि बतलाएगी कि, आरम्भ में जब मेरा सेवक मन इन्द्रियों के द्वारा भौतिक विषयों में प्रविष्ट होता था, तो मुझे एकप्रकार से आनन्द मिलता था। इसी आनन्द के प्रलोभन में पड़कर मैं समय समय पर मन के भोगों में सहायक बनती रहती थी। मुझे यह विदित नहीं था कि, मेरी असावधानी से मुझ से ही शक्ति प्राप्त कर यह मन मेरे स्वरूप को ही आवृत कर देगा। आरम्भ की असावधानी का फल मुझे यही भोगना पड़ा कि, तुमने विषयसंस्कार लेपरूप जिन आवरणों से, अपने आपको आवृत किया, उनके आगमन से मेरा स्वाभाविक विकास भी दब गया। मुझे यह स्मरण है कि, आरम्भ में कुछ दिनों तक, जबतक कि मुझ में थोड़ा बहुत विकास था, विवेक था, तुम्हें अनिष्ट कर्म्मों से अनिष्ट भोगों से, अनिष्टसंगों से, दूषित विषयासक्ति से समय समय पर रोकती रहती थी। परन्तु तुम मिन्नतें माँग माँग कर, 'एकबार, हाँ बस एक बार, फिर कभी नहीं करूँगा' इस चापलूसी में मुझे फँसा कर उधर प्रवृत्त होजाते थे। दुःख है कि, मुझे क्या मालूम था कि, एक दिन मुझे इस का बहुत बुरा परिणाम देखना पड़ेगा। यदि आरम्भ में हीं मैं थोड़ी धमकी से काम लेती, तुह्मारी मिन्नतों की कोई पर्वाह न कर तुह्मारा नियन्त्रण करती रहती, तो आज यह दुर्दशा नहीं होती। तुम एकबार, एकदिन कहते कहते आगे बढ़ते गए। ज्यों ज्यों तुम पर अधिकाधिक संस्कार लेप होता गया, त्यों २ मेरा रहा सहा प्रकाश भी आवृत होता होगया। और आज तो मैं तुह्मारी सेविका ही बन गई हूँ। आरम्भ में जब तुम कोई पतन का काम कर डालते थे, तो मुझे दुःख भी होता था, सोचने की शक्ति थी कि, यह बुरा हुआ, बुरा किया। परन्तु तुह्मारे सञ्चित आवरणों की कृपा से आज तो मेरी वह शक्ति भी जाती रही है। जिन अनिष्टकर्म्मों का किसी समय मैं विरोध करती थी, उन की प्रवृत्ति में दुःख का अनुभव करती थी, आज एक उस मद्यपी की भांत बिना न च नुच के उन्हीं कर्म्मों में तुह्मारा सहयोग देने के लिए परवश बन गई हूँ, जो कि मद्यपी मद्यपान की चरमावस्थावस्था में पहुँच कर अपना सम्पूर्ण विवेक खोकर मद्यपान में ही आनन्द मानता रहता है। कभी वह समय था कि, शास्त्रविरुद्ध कर्म्म से मेरा कलेजा काँप उठता था। परन्तु आज, न पूछो, मैं स्वयं शास्त्र की निन्दा करने में अपना गौरव समझ रही हूँ। शास्त्र, धर्म्म, ईश्वर, आत्मा, स्वर्ग, नरक, पाप, पुण्य, सत्, असत्, आदि सभी आज मेरे लिए केवल ढकोसले ही रह गए हैं। मेरा एकमात्र यही कर्त्तव्य रह गया है कि, विषयवासना की तृप्ति के लिए, लौकिक-वैभवों की पूर्त्ति के लिए तुम जिस पतनमार्ग की ओर अग्रेसर होरहे हो, चुपचाप तुह्मारा अनुगमन करती रहूँ। और एकदिन तुह्मारे सर्वनाश के साथ साथ अपना अस्तित्व भी सदा के लिए मिटालूँ।

२३-दुर्दशाग्रस्त-दुःखार्त्त-अर्जुन-सदृश-मानवों का प्राचुर्य्य, दुःखपरित्राणोपायभूता भक्तियोग-निबन्धना शरणागति,-'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' मूला हृदयस्थात्मदेवतानुगता शरणागति का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं तदनुगत मानव का जन्मसाफल्य—

लोग समझते होगें, मेरी ही यह दुर्दशा हुई है। नहीं, संसार में अधिकांश प्राणी मेरे ही बन्धु मिलेंगे। अर्जुनों की क्या कमी है। कमी है उस कृष्णतत्त्व की, जो ऐसे विषम-अवसरों पर हम जैसे प्राणियों को बुद्धि-योग प्रदान कर हमारा उद्धार किया करता है। कृष्णतत्त्व को भी लाञ्छन लगाना प्रायश्चित्त का भागी बनना है। वह भी दूर नहीं है। यहीं, अन्तरात्मा में हीं तो वह बैठा हुआ है। परन्तु हमने कभी उसकी शरण में जाने का प्रयास ही नहीं किया। कभी हमारे मुख से-"शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां-प्रपन्नम्" यह आर्त्त-वाणी नहीं निकली।

अर्जुन की भी तो किसी समय यही दशा होगई थी। उस को भी तो बुद्धिव्यामोह ने आ घेरा था। परन्तु अर्जुन सँभल गया, उसने कृष्णतत्त्व के हाथों अपने रथ की बागडोर सौंपदीं। उस सारथि ने, उस विज्ञान बुद्धि) सारथिने परिस्थिति सँभाल ली। क्यों नहीं हम भी अर्जुन की भाँत ही उस तत्त्व को अपना सारथि बना कर अपनी बिगड़ी बनालें ? । जब उस तत्त्व का "मा शुच" यह आदेश, यह दिव्य सन्देश शाश्वत काल से अनाहतनाद की भाँति, अटलसत्य रूप से नभोमण्डल में गूँज रहा है, तो क्यों नहीं प्रणतभाव से उस का अनुगमन कर लिया जाय। क्यों नहीं-उप-आसन भाव-प्राप्तसाधिका उपासना का आश्रय ले लिया जाय। क्यों नहीं उन्मनावृत्ति को जलाञ्जलि समर्पित कर मन्मनाभाव को प्रतिष्ठा बना लिया जाय ?। और फिर इसके अतिरिक्त हमारे उद्धार का और उपाय बच भी क्या जाता है। उस अबुद्धिरूप अविधाबुद्धि के आवरण ने हीं तो इदं को अद: से पृथक् कर रक्खा है। क्यों नहीं बुद्धिरूपा विद्याबुद्धि के आवरण से इस अविद्यावरण को हटाकर इसे यह बना लिया जाय। केवल प्रणतभाव में विलम्ब है। वहाँ पहुँचने भर की देर है। "ददामि बुद्धियोगं तं" आशीर्वाद तो धरा ही रक्खा है। यही उपासना का वास्तविक स्वरूप है। यही स्वरूप हमारी अध्यात्मसंस्था का स्वरूपरक्षक है। यही रक्षा हमारा जीवन है। ऐसा ही जीवन जीवन है। यही परा शान्ति है। यही शाश्वत आनन्द है। यही पुरुष का परमपुरुषार्थ है। यही जन्मसाफल्य है। और यही उपासनातत्त्व का एक मात्र सर्वश्रेष्ठ चरम लक्ष्य है।

२४–आवरणमूलक दुःखों की परम्परा से मानव का परित्राण करने वाले सुप्रसिद्ध रहस्यपूर्ण 'अक्षरयोग' का स्वरूप-संस्मरण—

फिर वही आवरण हटाने की बात चल पड़ी। चलिए, इस समस्या का भी निराकरण कर लिया जाय। दुःखनिवृत्तिपूर्वक शाश्वत आनन्दघन कृष्णतत्त्व, किंवा ईश्वरतत्त्व की प्राप्ति करते हुए स्वयं भी तद्रूप से प्रस्फुटित होजाने के लिए समझ का सुधारना तो परम आवश्यक है। समझ बुद्धि है। विद्या (ज्ञान) इस का प्रातिस्विक रूप है। परन्तु इन्द्रियद्वारा मन की कृपा से आने वाले संस्कारलेपबन्धनरूप अविद्यावरण ने बुद्धि के स्वाभाविक (प्राकृतिक) विद्याभाव को आवृत कर उसे अविद्यारूप बना डाला है। इसे हटाने के लिए किसी ऐसे अन्य आवरण को माध्यमिक बनाना पड़ेगा कि, जो इस अविद्यावरण को हटाता हुआ स्वयं भी हट जाय। वह माध्यमिक बनेगा प्राकृतिक योग के आधार पर आविष्कृत शास्त्रीय विद्याबुद्धियोग। शास्त्रीय विद्याबुद्धियोग का अर्थ है—"अक्षरयोग"।

२५–'ईश्वर-जीव-जगत्' तथा 'ईश्वर-जगत्-जीव'–रूपा विभिन्न स्थितियों का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय, तदनुगत पुरुष-प्रकृति-विकृति-भावों का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं जीव का पराप्रकृतित्त्व-समन्वय—

अक्षरयोग को थोड़ी देर के लिए छोड़िए, और पहले यह विचार कीजिए, कि स्थिर आवरण कौन है, एवं चल आवरण कौन है। आरम्भ में हमने ईश्वर-जगत्-जीव, यह स्थिति बतलाई है, जोकि दृष्टिक्रम से, किंवा वैकारिक क्रम से सर्वथा ठीक है। परन्तु जब स्थिति की दृष्टि से इस विवर्तत्रयी का विचार किया जायगा, तो ईश्वर-जीव-जगत् यह क्रम मानना पड़ेगा। इस क्रम में जगत् मध्यस्थन रह कर जीव मध्यस्थ बन जायगा। यद्यपि सृष्टिक्रम की प्राकृतिक धारा के अनुसार पहिले ईश्वर का स्थान है, फिर जगत् का उद्भव है, सर्वान्त

में जीवसृष्टि का विकास है। परन्तु आत्मकला की दृष्टि से पहिला स्थान ईश्वर का, दूसरा जीव का, एवं तीसरा जगत् का है। एक ही आत्मा के पुरुष, प्रकृति, ये दो विवर्त्त माने गए हैं, जिन के कि स्पष्टीकरण की अब कोई आवश्यकता नहीं रह गई है। प्रकृति के अमृतप्रधान पर, मृत्यु, प्रधान अपर भेद से दो विवर्त्त हैं। इस प्रकार अमृतमृत्युसममूर्त्ति पुरुष, अमृतप्रधाना मृत्युगर्भितपराप्रकृति, मृत्युप्रधाना अमृतगर्भिता अपराप्रकृति भेद से एक ही आत्मा के तीन रूप होजाते हैं। ये ही तीनों आत्मरूप क्रमशः ईश्वर-जीव-जगत की प्रतिष्ठा बनते हैं। पर-अपर प्रकृति को अपने गर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाला, अपने अमृतमृत्युरूपों से सर्वत्र समरूप से प्रतिष्ठित रहने वाला प्रकृतिविशिष्ट पुरुष ही "ईश्वर" है। सम ईश्वर के चिदंश को (प्रत्यगात्मा को) अपने केन्द्र में प्रतिष्ठित रखने वाला, अपराप्रकृतिरूप जगत् को बहिर्जगत्, एवं अन्तर्जगत् (शरीर) रूप से बाहिर की ओर वेष्ठित रखने वाला पराप्रकृतितत्त्व ही जीव है।

२६-ईश्वर, जीव, तथा जगत्, तीनों तन्त्रों का दैवत-आत्म-भौतिक-भावनिबन्धन स्वरूप-समन्वय, एवं प्रकृतिसिद्धा क्रमव्यवस्था का रहस्य-पूर्ण दिग्दर्शन—

चिदंश को अपने गर्भ में रखने वाला, आधिभौतिकरूप से जीवशरीर बनने वाला, एवं आधिदैविक रूप से ईश्वरशरीर बनने वाला अपराप्रकृतितत्त्व ही "जगत्" है। इस से भी यह भी सिद्ध होगया कि, पुरुषप्रधान ईश्वरसंस्था, पराप्रकृतिप्रधान जीवसंस्था, एवं अपराप्रकृतिप्रधान जगत्संस्था, इन तीनों में (प्रत्येक में) हीं तीनों विद्यमान हैं। केवल प्रधानता अप्रधानता का तारतम्य है। ईश्वरसंस्था आधिदैविक है, जीवसंस्था आध्यात्मिक-संस्था है, एवं जगत्संस्था आधिभौतिक-संस्था है। एवं उक्त प्रधानता अप्रधानता से तीनों का तीनों में भोग सिद्ध होरहा है। पुरुष वही आपका सुप्रसिद्ध मनोमय, अतएव ज्ञानमय अव्ययतत्त्व है। पराप्रकृति वही आपका सुप्रसिद्ध प्राणमय, अतएव क्रियामय अक्षरतत्त्व है। एवं अपराप्रकृति वही आप का सुप्रसिद्ध वाङ्मय, अतएव अर्थमय क्षरतत्त्व है। इस दृष्टि से अब यों कहा जासकता है कि, अक्षर क्षरगर्भित अव्यय ईश्वर है, अव्ययक्षरगर्भित अक्षर जीव है, एवं अव्ययअक्षरगर्भित क्षर जगत् है। किंवा अध्यात्म (अक्षर) अधिभूत (क्षर) गर्भित अधिदैवत (अव्यय) ईश्वर है, अधिदैवत-अधिभूत-गर्भित अध्यात्म जीव है, एवं अधिदैवत अध्यात्मगर्भित अधिभूत जगत् है। इस निरावरण प्राकृतिक दृष्टि से ईश्वर-जीव-जगत् यह क्रम है।

२७-जगत्पाश से आबद्ध जीवात्मा का स्वरूप-दिग्दर्शन, तन्निवारक कर्म्मकाण्डार्थ, तथा ज्ञानकाण्डार्थ-समन्वय प्रयास, एवं तत्सहयोगी भक्तिकाण्डार्थ का संस्मरण-

यदि जीव जगत्पाश में आसक्तिपूर्वक बद्ध होजाता है, तो जगत् ईश्वर और जीव के मध्य में आवरणरूप से प्रतिष्ठित हो जाता है। और उस दशा में ईश्वर-जगत्-जीव यह क्रम होजाता है। इस क्रम को बदल कर पूर्वक्रम का आश्रय लेकर जीव का ईश्वर के समीप बैठ जाना हीं एकमात्र उपासना का मुख्य लक्ष्य है। अपने आध्यात्मिक अधिभूत को ईश्वर के अधिभूत के साथ मिला देना कर्म्मकाण्डार्थ है। अपने आध्यात्मिक अधिदैवत को ईश्वर के अधिदैवत के साथ मिला देना ज्ञानकाण्डार्थ है। एवं अपने आध्यात्मिक आध्यात्म को अधिभूत द्वारा ईश्वर के अध्यात्म के साथ मिला देना ही उपासनाकाण्डार्थ है। इसीलिए तो ज्ञान-कर्म्म-उपासना के वैज्ञानिक लक्षणों के सम्बन्ध में पूर्व प्रकरणों में क्रमशः अधिदैवत साधन, अधिभूत साध्य, अधिभूत साधन, अधिदैवत साध्य, अधिभूतसाधन इस वाक्यधारा का समावेश हुआ है।

२८—ईश्वर-जीव-जगत् की प्रत्येक की त्र्यात्मकता पर भी तीनों की दैवत-आत्म-भूत-प्रधानता का स्वरूप-दिग्दर्शन, तथा बुद्धियोगात्मक ज्ञानयोग के, भक्तियोगात्मक-उपासना-योग के, एवं कर्म्मयोगात्मक भूतयोग के चरम-फलों का स्वरूप-संस्मरण—

ईश्वर के अधिदैवत, अध्यात्म, अधिभूत अधिदैवत की प्रधानता से अधिदैवत ही कहलाएँगे। जीव के अधिदैवत, अध्यात्म, अधिभूत तीनों अध्यात्म की प्रधानता से आध्यात्मिक ही कहलाएँगे। एवं जगत् के अधिदैवत, अध्यात्म, अधिभूत तीनों अधिभूत की प्रधानता से आधिभौतिक ही कहलाएँगे। तीनों में अध्यात्म-लक्षण जीव ही उपासक है। इस की यह उपासना तीन प्रकार से सम्भव है। यह अधिभूत को साधन बनाता हुआ अधिदैवत ईश्वर के आधिभौतिक जगत् का वैभव प्राप्त करले, यह एक पुरुषार्थ है। यही कर्म्ममार्ग है। इस से जीवात्मा का ईश्वरीय क्षरविभूति पर आधिपत्य होजाता है। अधिदैवत को साधन बना कर यह अधिदैवत ईश्वर के आधिदैविक (अव्यय) के साथ समन्वयभाव को प्राप्त होजाय, यह एक पुरुषार्थ है। यही ज्ञानमार्ग (गीतासिद्ध बुद्धियोगात्मक ज्ञानमार्ग) है। एवं अधिभूत को साधन बना कर अधिदैवत ईश्वर के आध्यात्मिक तत्त्व (अक्षर) के साथ सायुज्यभाव को प्राप्त करले, यह एक पुरुषार्थ है। यही उपासनामार्ग है। बुद्धियोगात्मक ज्ञानयोग का चरमफल है अव्ययरूप में परिणति। भक्तियोगात्मक उपासना-योग का चरमफल है—अक्षररूप में परिणति। एवं कर्म्मयोगात्मक भूतयोग का चरमफल है—क्षरभाव पर आधिपत्य।

२९—अव्यय-अक्षर—क्षर—भावनिबन्धन स्थिति-गति-भावों का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय, एवं विद्या, और अविद्या भावों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

अव्यय ज्ञानप्रधान बनता हुआ सर्वथा स्थिर है, क्षर अर्थप्रधान बनता हुआ सर्वथा स्थिर है। मध्यस्थ क्रियाप्रधान अक्षर ही गतिमान् है। यही अक्षर जीवात्मा का स्वरूप समर्पक बना है, जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है। अक्षर ही उपासना का मुख्य लक्ष्य है—"लक्ष्यं तदेवाक्षरं विद्धि"। हमारा मन क्षरप्रधान है, बुद्धि अक्षरप्रधान है, स्वयं जीवात्मा अक्षररूप है। अक्षरभाव ही बुद्धि का गतिलक्षण विद्याभाव है। क्षरभाव ही बुद्धि का स्थितिलक्षण अविद्याभाव है। क्षरप्रधान मन क्षरसजातीयाकर्षण से इन्द्रियों के द्वारा क्षरप्रधान आधिभौतिक विषयों से युक्त होकर उनके आवरणरूप भावना—वासना—संस्कारों में लिप्त होता हुआ बुद्धि के द्वारा प्राप्त स्वाभाविक प्रकाश से वञ्चित होजाता है। अविद्याग्रस्त मन से नित्ययुक्त अक्षरप्रधाना बुद्धि भी अक्षरात्मक विद्याभाव से आवृत होकर क्षररूप-अविद्यामयी बन जाती है। इस अविद्या का प्रवर्त्तक एकमात्र क्षर ही है।

३०—अक्षरनिबन्धना महामाया, तथा क्षरनिबन्धना योगमाया से अनुप्राणित त्रिगुण-भावनिबन्धन द्वन्द्वभाव का संस्मरण, एवं तन्मूलक पाशबन्धन—

कारण स्पष्ट है। अक्षर महामाया है, क्षर योगमाया है। महामाया जहाँ अव्यय की अनुग्राहिका है, वहाँ योगमाया अक्षरात्मक जीव की स्वरूपसमर्पिका है। इसी योगमाया में त्रिगुणभाव का विकास होता है। यही त्रिगुणभाव द्वन्द्वभाव का प्रवर्त्तक बनता है। यही द्वन्द्वभाव सदसत् के बन्धन का कारण बनता है। यही सदसद्बन्धन तत्त्वविवेक का अवरोधक बनता हुआ समझ को बिगाड़ डालता है।

सम्पूर्ण वेदादिशास्त्र, अथवा इतरशास्त्र क्षरप्रधान बनते हुए जगद्रूप है, भौतिक हैं, नाशरूप हैं, नाश करने वाले है। यदि हम साधन के साथ-साथ इन्हीं को साध्य समझने की भ्रान्ति कर बैठते हैं, तो यही शास्त्र मुक्ति के स्थान में बन्धन का कारण बन जाते हैं। वेदादि विद्याओं का अपनाना तो आवश्यक है, परन्तु साधनरूप से। विद्या का अनुगमन अच्छा है, परन्तु विद्या की रति (आसक्ति, अभिनिवेश) अच्छी नहीं। यह अभिरति तो हमारी समझ को और भी अधिक बिगाड़ डालती है। कारण, अविद्या की तो चिकित्सा फिर भी सम्भव है, परन्तु विद्या की चिकित्सा कौन करे। मूर्ख को समझा बुझा कर जल्दी ठीक रास्ते पर लाया जासकता है। परन्तु एक ऐसा विद्वान्, जिसने विद्या में अभिनिवेश उत्पन्न कर लिया है, जिस ने साधन को साध्य समझने की भूल करली है, उस समझदार की चिकित्सा तो असम्भव ही होजाती है। इसीलिए उपनिषत् ने जहाँ अविद्याग्रस्त को केवल अन्धतम में प्रविष्ट माना है, वहाँ विद्याग्रस्थ को भूयोऽन्धकार में निमग्न माना है। देखिए !

अन्धंतमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥

३१-बन्धनप्रवर्त्तिका क्षरात्मिका अविद्या, एवं ततोऽपि भूयोरूपेण बन्धनप्रवर्त्तिका अक्षरात्मिका विद्या, तथा तन्निबन्धना उपनिषच्छ्रुति का संस्मरण—

इसीलिए उपनिषत् ने एक स्थान पर इन विद्यानुगामियों को यह आदेश दिया है कि, तुम पाण्डित्य का गर्व छोड़ कर बच्चे बने रहो, तभी लक्ष्यसिद्धि पर पहुँच सकोगे-"पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्"। आदेश के अक्षर साधारण से प्रतीत होते हैं, परन्तु जब इन के रहस्यार्थ पर दृष्टि जाती है, तो उन कारुणिक महर्षियों के प्रति कृतज्ञता के आँसू उमड़ आते हैं। ऋषि ने उस महापरमात्मतत्त्व की प्राप्ति का जो सरलतम मार्ग बतलाया है, सचमुच ऋषि की वह एक ऐसी अमूल्य देन, जिससे हम कभी उऋण नहीं होसकते।

३२-द्वन्द्वभावविनिर्मुक्त बालबन्धुओं की सहजभावान्विता द्वन्द्वविनिर्मुक्ता-वस्तुस्थिति का स्वरूप-चित्रण, तथा द्वन्द्वातीत भगवान्, एवं तत्समतुलित द्वन्द्वातीत बालबन्धुवर्ग—

बच्चे क्या करते हैं ?, पहिले यही देखिए। बालवृत्ति स्वभाव से ही संसार के द्वन्द्व-जाल से पृथक् रहती है। द्वन्द्व में रहता हुआ भी बालक द्वन्द्वातीत बना रहता है। भौतिक पदार्थों की क्रीड़ा में निमग्न रहता हुआ भी वह उन की आसक्ति से बचा रहता है। उसकी दृष्टि में (जबतक कि समझ वा अभिमानी उसे डरा धमका नदे) एक विषधर सर्प भी उसीप्रकार विनोद की सामग्री है, जैसे कि मिट्टी का एक खिलौना। जिन खिलौनों को, काच-ठीकरी-लोहखण्ड-टूटी लकड़ी-छोटी सी गेंद-सीटी-आदि क्रीड़ासाधनों को मनुष्य सर्वथा निरर्थक समझता है, वे निरर्थक पदार्थ भी इस बालक के परमानन्द के कारण बने रहते हैं। उस विरक्त परमहंस बाल की समदृष्टि में सर्वत्र समलक्षण ब्रह्मानन्द ही छलक रहा है। बच्चे की इस विनोदसामग्री के सामने साम्राज्य का सुसमृद्ध भोगानन्द भी अतितुच्छ है। चुपके से देखिए, उस अबोध बालक को, उसकी विनोदसामग्री को,

उसकी क्रीड़ातन्मयता को, मानो वह, उस की सामग्री, एवं उसका विनोद तीनों एक ही होरहे हों। अद्वैत स्थूल-प्रतिमा बन कर मन्दहास कर रहा है। कैसी चरमकोटि की विषयप्रवृत्ति है, कैसा अद्भुत भेदसहिष्णु अभेद है। आप चपत लगाइए, रो देगा। थोड़ा पुचकार लीजिए, हँसता हुआ आपके क्रोड़ में आजायगा। रागद्वेष को प्रवेश करने का कहाँ अवसर है?। भूख लगी, रोपड़ा। खिला दिया, चुप होगया। आवश्यकता की पूर्त्ति होजाने पर प्रकृतिविरुद्ध तृष्णाजाल को प्रवेश करने का कहाँ अवसर है?। बतलाइए तो सही, भगवान् और बालक में आप क्या भेद पाते हैं?।

३३-द्वन्द्वजालासक्त बुद्धिदम्भी मानव के द्वन्द्वात्मक हर्ष, और विषाद, एवं द्वन्द्वातीत बालबन्धु की ध्वंस, तथा निम्र्माणात्मिका उभयवृत्ति में आनन्दरस की प्रवणता क स्वरूप-समन्वय—

एक चमत्कार और देखिए। द्वन्द्वजाल में फँसा हुआ मनुष्य जहाँ वैभवप्राप्ति पर अट्टाट्टहास करता है, अपने नवीन निम्र्माण पर अभिमान करता है, वहाँ उस वैभव-निम्र्माण के नष्ट होजाने पर व्यथा से व्याकुल होपड़ता है। यह बुद्धिमान् मनुष्य संग्रह से जितना अधिक प्रसन्न होता है, नाश से कहीं अधिक दुःखी भी बन जाता है। सम्भूति में हर्ष मनाता है, नाश से कहीं अधिक दुःखी भी बन जाता है। सम्भूति में हर्ष मनाता है, विनाश में शोकाकुल होजाता है। और इस द्वन्द्ववृत्ति का एकमात्र कारण है-"आसक्ति"। उधर बच्चे का बुद्धिवैभव देखिए। वह एक खिलौना पाकर जितना प्रसन्न होता है, उसे नष्ट भ्रष्ट कर, तोड़ ताड़ उसके विनष्टरूप में भी उतना ही आनन्द मनाता रहता है। मरुभूमि के उन छोटे बच्चो की वह अपूर्वक्रीड़ा एक अपूर्व ही उपदेश देरही है, जो उन बड़े बड़े पोथों से जन्मपर्य्यन्त सिर खपाने पर भी उपलब्ध नहीं होसकता। मरुभूमि में रेतीली मिट्टी अधिक है। इसलिए बच्चे प्रायः इसी को अपनी क्रीड़ा का साधन बनाते हैं। जब चातुर्मास्य आता है, तो मिट्टी आर्द्र होजाती है। उस आर्द्र मिट्टी से गाँव के बालक समूह बना कर भांति भांति के आकार बनाकर उनसे खेल खेलते हैं। परकोटा, दर्वाजा, लड्डू, बरफी, राजा, प्रजा, सिपाही सभी कुछ बड़े समारोह से बनाए जाते हैं। बहते पानी के स्रोत के अंश से नहरें बनाईं जातीं हैं। गढ्ढेनुमा कुआ बनता है। कोई मित्र कहीं से फूटा कुल्लड़ ले आता है। कोई सखा टूटी-फूटी डोरी उड़ा लाता है। पानी भरा जाता है। तात्पर्य्य इस छोटी-सी बालमण्डली में विश्व का सारा खाका उतर आता है। यहाँ तक तो ठीक हुआ। और यहाँ तक तो सभी करते आए हैं। परन्तु आगे वह होता है, जिसे करने की बात तो दूर रही, आशंका से भी बुद्धिमानों का कलेजा काँप उठता है।

३४-बालबन्धुवर्ग से अनुप्राणिता बालक्रीडा के सहजसिद्ध दो परिणामों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

क्रीडा समाप्त होने पर घर वापस लौटने से पहिले सब बालक अपने हाथ पैरों से बल-प्रयोग के द्वारा सम्पूर्ण साधन नष्टभ्रष्ट करते जाते हैं, और साथ साथ "म्हे ही खेल्या म्हे ही भुजाख्या" (हमने हीं बनाया, हमने ही बिगाड़ा) यह गान करते हुए हास्य-सरोवर में स्नान करते जाते हैं। मानो यही इनके विश्वनिम्र्माण-यज्ञ की सफलताका सूचक अवभृथस्नान (यज्ञान्तस्नान) हो।

३५–'म्हे ही खेल्या, म्हे ही भुजाएया' नामकी राजस्थानीया लोकसूक्ति का रहस्यपूर्ण-समन्वय—

"म्हे ही खेल्या, म्हे ही भुजाएया" यह वाक्य भी कम रहस्य नहीं रखता। सृष्टिरचना के तात्त्विक स्वरूप के अन्वेषण में प्रवृत्त एक अन्वेषक तीसों वर्षों के श्रम के अनन्तर जिस तत्त्वस्वरूप पर (सम्भवतः) पहुँचने में समर्थ होता होगा, वह सम्पूर्ण तत्त्व, सम्पूर्ण सृष्टिविज्ञान, प्रकृति का सम्पूर्ण लीलाचरित्र उक्त बालसूक्ति में गुप्तरूप से निहित है। उसे क्या जाने बेचारा पोथी का एक वह कीडा, जो "जायस्व, म्रियस्व" को ही चरितार्थ करता रहता है।

३६-व्यक्तभावनिबन्धन सृष्टिभाव, तदनुबन्धी निर्म्माण, अव्यक्तभावनिबन्ध लयभाव, तदनुबन्धी ध्वंसभाव, एवं सृष्टि-निर्म्माण-भावानुगत-निर्म्माण, ध्वंस-परम्पराओं का बालक्रीड़ोदाहरणमाध्यम से रहस्यात्मक-समन्वय—

सत्कार्य्यवादसिद्धान्त के अनुसार न तो कोई अपूर्व वस्तु उत्पन्न होती, एवं न किसी का नाश ही होता। प्रकृति वेशभूषा से सुसज्जित होकर जब व्यक्तरूप से रङ्गमञ्च पर आजाती है, तो पण्डितम्मन्य "विश्व-उत्पन्न होगया" यह बोल पड़ते हैं। जब प्रकृति विराम करती हुई अपने उसी अव्यक्तरूप में लीन होजाती है, तो पण्डितवर्ग "विश्व नष्ट होगया" यह चीत्कार करने लगता है। इन्हीं पण्डितम्मन्यों को आज वह, सगुणब्रह्म (बालक) बतला रहा है कि–भूलते हो। न कोई उत्पन्न होता, न नष्ट होता। पर्दा खुला अभिनेता ने खेल आरम्भ कर दिया, यही उत्पत्ति है। जवनिकापात (ड्रापसीन) होगया, इसी को नाश कहते हैं। अव्यक्त की व्यक्तक्रीड़ा ही उसका संसार है, व्यक्त का अव्यक्त बन जाना ही उसका अभाव मान लिया गया है। वस्तुतः उस नित्य का न कभी नाश होता, न उत्पत्ति–"न जायते म्रियते वा कदाचित्"। पर्दे के खुलने, एवं गिरने से ही अभिनेता की उत्पत्ति–नाश कौन बुद्धिमान् स्वीकार करेगा। राधा उसका व्यक्तरूप है, कृष्ण उसका अव्यक्तरूप है। अव्यक्त कृष्ण (अव्ययपुरुष), एवं व्यक्त राधा (प्रकृति) का विपर्य्यय ही एक महारास है। और इस रास–रहस्य में प्रविष्ट होने का अवसर केवल तीन ही भाग्यवानों को प्राप्त है।

३७–निर्म्माण–ध्वंसात्मक रासरसेश्वर के महारास के द्रष्टा तीन वर्ग—

पहिला सौभाग्य तो उस प्रकृति को है, जो रासरसेश्वर की वामाङ्गा बनी हुई है। दूसरा सौभाग्य उन जीवों को है, जो-"द्वा सुपर्णा सयुजा सखायौ" का रहस्य समझते हुए उस रासरसेश्वर के साथ सख्यभाव प्राप्त कर चुके हैं। तीसरा सौभाग्य उस बुद्धितत्त्व को है, जो अपने प्रकृति (अक्षर) भाव में (विद्याभाव में) आकर उसके साथ सायुज्यभाव को प्राप्त होगई है।

३८–भगवान् कृष्णावतार के महारास के तीन द्रष्टा भाग्यशालियों का पावन-संस्मरण—

देखिए न, इसीलिए तो पूर्णावतार के महारास में तीन ही वर्ग प्रवेश कर सके। वे गोपियाँ, जो प्रकृति की ही प्रतिकृतियाँ थीं, रासरसेश्वर के अङ्गस्पर्श की अधिकारिणी बनीं, जो कि उनका प्रकृतिसिद्ध अधिकार था। दूसरा वर्ग उन श्रीदामा, आदि सखाओं का था, जो कृष्णतत्त्व के साथ सख्यभाव प्राप्त कर चुके थे। और तीसरे ज्ञानप्रदाता वे ही भोलेबाबा (भगवान् शङ्कर) थे, जिन्हें कि प्रकृतिरूप में परिणत होकर ही रासदर्शन की आज्ञा मिली थी।

३६-'अव्यक्तादीनि भूतानि' इत्यादि मूलक 'अव्यक्त-व्यक्त-अव्यक्त-परम्परानिबन्धन-सर्ग-प्रलय-सर्ग-चक्र का स्वरूप-समन्वय, एवं तत्र परिदेवना से असंस्पृष्ट द्वन्द्वातीत बालबन्धु—

हमारी बालमण्डली आज भी उसी रासक्रीड़ा में निमग्न रहती हुई हमें तत्त्ववाद की ही शिक्षा देती हुई आकाशवाणी कर रही है कि-"अहा ! म्हे ही खेल्या, म्हे ही भुजाएया"। यह हमारा-(प्रवृत्तिशिष्ट पुरुष का) ही खेल-(व्यक्तभाव) है। और आज हम हीं इसे अव्यक्तरूप में परिणत कर रहे हैं । बच्चों नें उन नारकीय शिक्षणालयों में शिक्षा प्राप्त नहीं की है, बहाँ कि आरम्भ में हीं प्राकृतिक ईश्वरीय सत्य पर आक्रमण होजाता है। परमतत्त्वानुगता बालकों की स्वाभाविक-वाणी ईश्वर-तत्त्व का ही दिव्य सन्देश है। बच्चे "म्हे ही बणाया-म्हे ही बिगाड्या" नहीं बोलते। बोलें कैसे, जबकि तत्त्वतः न कोई बनाता, एवं न कोई बिगाड़ता। खेल था, खेल बँद होगया, कबतक के लिए, विश्राम का समय निकालने तक। फिर वही खेल, वही व्यक्तभाव। इस अनादिनिधनचक्र में उत्पत्ति, और नाश का कैसा, कहाँ समावेश ?। अपने इसी परतत्त्वभाव से रहस्यवेत्ता बालक सब कुछ तहस-नहस कर वापस लौटते हैं, और मार्ग में अगले दिन के खेलों का कार्य्यक्रम (स्कीम) तय्यार होने लगता है। कैसा ब्रह्मचक्र है ?। और कैसे हैं उनके ये जादूगर अभिनेता, जो सङ्केत-सङ्केत में हीं ग्रन्थराशियों का, उनके मर्म्मज्ञ अभिमानी दिग्गज विद्वानों का अभिमान चूर्णित कर डालते हैं। बतलाइए, पाण्डित्य अच्छा, अथवा बालभाव ?। बच्चे आसक्त नहीं होते, इसीलिए वे द्वन्द्वातीत रहते हुए नित्यतृप्त हैं। हम आसक्तिवश वेदना के अनुगामी बने रहते हैं। अव्यक्त-व्यक्त-पुनः अव्यक्त, इस तत्त्व का हमें परिज्ञान नहीं होता, यही अतत्त्ववाद हमारी समझ बिगाड़ता है, यही हमारी परिदेवना (वेदना) का मूल कारण है—

> अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
> अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥

४०-दुःख की कारणतानिबन्धना स्वरूप-मीमांसा, दुःखानुभव, तथा सुखानुभव से अनुगता स्मृतियों का स्वरूप-दिग्दर्शन, दुःख-सुख-द्वन्द्वानुगत-'ख' तत्त्व का स्वरूप-निदर्शन, आत्मरूप 'ख' भाव की पूर्णता, तथा अपूर्णता का स्वरूप-समन्वय, एवं दुःखात्मक द्वन्द्वचक्र से परित्राण प्राप्त करने के सम्बन्ध में किञ्चि-दिव आवेदन—

दुःख का एक कारण तो है अव्यक्त से व्यक्तभाव की अपूर्व उत्पत्ति मान बैठना, एवं व्यक्त के अव्यक्तभाव को उस व्यक्तरूप का नाश समझ लेना। दूसरा कारण थोड़ा रहस्यपूर्ण है। संसार में हजारों पदार्थ अव्यक्त से व्यक्तावस्था में आते रहते हैं, एवं पुनः अव्यक्तरूप में परिणत होते रहते हैं। परन्तु हम देखते हैं कि, उन के व्यक्तभाव से न हमें हर्ष होता, न अव्यक्तभाव से शोक। हर्ष शोक का सम्बन्ध उन व्यक्ताव्यक्त पदार्थों से हैं, जो कि हमारे आत्मा की सीमा में प्रविष्ट रहते हैं। हमें जो वस्तु प्राप्त होती है, अथवा परिश्रम करके जिसे हम व्यक्तरूप देते हैं, वह हमारी वस्तु ही हमारे हर्ष का कारण बनती है। एवं हमारी बनी हुई वस्तु जब अव्यक्त बन जाती है, अथवा कोई बलात्कार से, धोके से, चोरी से हम से वह वस्तु हमारी आत्मसीमा से बाहिर निकल जाती है, तभी दुःख होता है। जबतक ममत्त्वभावापन्न पदार्थ आत्माकाश में

प्रतिष्ठित रहते हैं, तबतक आत्मा पूर्ण सा प्रतीत होता हुआ, पुष्टभाव का अनुगामी बना रहता है । यही हमारा (आत्मा का) सुखानुभव है । जब वस्तु आत्माकाश से निकल जाती है, तो आत्मा अपूर्ण सा बनता हुआ दुष्टभाव का अनुगामी बन जाता है । यही हमारा दुःखानुभव है । ख (आत्मा) का सुष्टुभाव, पूर्णभाव सुख है, एवं ख का दुष्टभाव, शून्य भाव ही दुःख है । इस सुख-दुःख-द्वन्द्व को दूर करने के लिए अव्यक्त-व्यक्त ज्ञान के साथ साथ हमे वेदान्त सम्मत आत्मा के अद्वयज्ञान की भी उपासना करनी पड़ेगी । सांख्यसम्मत प्रतिशरीर भिन्न चैतन्यवाद, एवं अव्यक्त का व्यक्तीभाव, व्यक्त की पुनः अव्यक्तरूप में परिणति, इन दोनों सिद्धान्तो में से केवल दूसरे सिद्धान्त का अनुगमन करना पड़ेगा, पहिले को छोड़ते हुए शारीरक सम्मत व्यापक आत्मवाद का अनुगमन करना पड़ेगा । हमें अपनी संकुचित सीमा को एकात्मवाद के द्वारा व्यापक बनाना पड़ेगा । तभी दुःखादि द्वन्द्वों की आत्यन्तिक निवृत्ति होसकेगी । हमें विश्वास करना पड़ेगा कि, हमी सब कुछ हैं । सर्वत्र एक तत्त्व ही आधार बना हुआ है । उस एक की सीमा के भीतर ही प्रकृति की उक्त अव्यक्त-व्यक्त-अव्यक्त-क्रीड़ा होरही है । इस भावना का परिणाम यह होगा कि, आत्माकाश में कभी अपूर्णता का अवसर नहीं आएगा । कभी वह अव्यक्त से पूर्ण रहेगा, कभी अव्यक्त के व्यक्तरूप से । हमें यह भावना करनी पड़ेगी कि, हम हीं इस विश्वक्रीड़ा के प्रवर्त्तक हैं, हम हीं इस के निवर्त्तक हैं । दूसरे शब्दों में-हम हीं विश्वरूप व्यक्त हैं, एवं हम हीं अव्यक्तरूप अभाव हैं । हमें आत्माराम बन कर इस महारास में प्रवृत्त होना पड़ेगा । "आत्मारामोऽप्यरीरमत्" ही महारास का वास्तविक स्वरूप माना गया है-(देखिए श्रीभागवत रासपञ्चाध्यायी) ।

४१-आत्मारामानुगता बालक्रीडाओं का स्वरूप-संस्मरण, 'क्रीडा', तथा 'लीला' शब्द के रहस्यार्थों का समन्वय-प्रयास, एवं भगवान् व्यास के-'लोकवत्त्वलीलाकैवल्यम्' सिद्धान्त का पावन-संस्मरण—

क्या आप यह स्वीकार नहीं करेंगे कि, बच्चे की सभी क्रीडाएँ केवल आत्मरामता को ही लक्ष्य बनाकर प्रवृत्त होतीं हैं ? । जिसप्रकार हम अपने कर्म्मकलापों से, अपने विविध निर्म्माणों से भविष्य के लिए विविध फलों की कामना किया करते हैं, क्या बालक भी ऐसे किसी भावी फल की कामना से क्रीड़ाकर्म्म में प्रवृत्त होता है ? । नहीं, सर्वथा नहीं । क्रीडात्मक कर्म्मलक्षण विनोद ही उस का क्रीडाफल है । कर्म्म और फल का यहाँ भेद है ही नहीं । क्रीडाधारा के साथ साथ ही आनन्दधारा भी प्रवाहित रहती है । इसी आत्मारामता को "लीला" कहा जाता है । बच्चे किसी फलाकांक्षा से, किसी आशामयी तृष्णा से अपने विश्वनिर्म्माण में प्रवृत्त नहीं रहते । अपितु इन की तो यह स्वाभाविक लीला है, आत्मकामना का उपबृंहणमात्र है । ईश्वर ने क्यों विश्व का निर्म्माण किया, क्यों विगाड़ा ?, इन प्रश्नों का समाधान भी इसी बालविश्वरचना, एवं ध्वंस से गतार्थ होजाता है । ईश्वर को किसी फल की आकांक्षा नहीं है । अपितु उस की स्वाभाविक लीलामात्र है । कितने एक मनुष्य बैठे बैठे पैर हिलाया करते हैं । क्या इस कर्म्म में कोई फलाशा कारण है ?, नहीं, यह तो उस की स्वाभाविक लीलामात्र है । यदि मनुष्य अपने सभी कर्म्मों को फलाशात्यागलक्षणा अनासक्ति से युक्त करने लगे, तो आज ही वह विमुक्त है । आशापाश ही उस की ईश्वरप्रदत्ता इस स्वाभाविकी लीला का स्वरूप विकृत कर देता है । इसीलिए सवथा निरावरण भी विश्व इसके लिए सावरण बनता हुआ दुःखत्रयी का कारण बन जाता है । उधर ईश्वर स्वाभाविकी लीला में सतत प्रवृत्त रहता हुआ भी नित्यबुद्ध, मुक्त है । "लोकव-

-त्वलीलाकैवल्यम्" (व्याससूत्र) से व्यासदेव ने इसी रहस्य का स्पष्टीकरण किया है, जिस की कि प्रतिकृति हमारे बालबन्धु, एवं उन की स्वाभाविकी क्रीड़ा है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर उपनिषत् को कहना पड़ा कि "तुम पाण्डित्य का अभिमान छोड़कर बच्चे बन जाओ"।

४२-उपासना का महान् माध्यम गोपशु, बाललीलोपासना के माध्यम का रहस्यात्मक स्वरूप-समन्वय, 'तज्जलानीत्युपासत' रूप माध्यम का संस्मरण, एवं सहजसिद्ध औपासनिक तत्त्वों के कतिपय रहस्यात्मक क्षेत्रों का पावन-संस्मरण—

जिसप्रकार आत्मदोष की निवृत्ति के लिए महर्षियोंनें गौसेवा आवश्यक मानी है (देखिए छान्दो० उपनिषत्-सत्यकामाख्यान , एममेव बाललीलोपासना भी इस सम्बन्ध में अन्यतम उपाय माना गया है। आप बच्चों में खेलिए, उन्हें भगवान् समझिए, उनकी सेवा कीजिए, उनकी प्रत्येक चेष्टा, प्रत्येक क्रीडा को गहनतम वेदान्तोपदेश समझते हुए उन पर पूर्ण लक्ष्य रखिए। वहाँ आप को वे अद्भुत तत्त्व उपलब्ध होगें, वे अपूर्व आदेश मिलेंगे, जिन की कि मानवसमाज के विकृत मस्तिष्क की उपज इन ग्रन्थों में गन्ध भी नहीं है। लीलावतार स्वयं पूर्णेश्वर कृष्ण ने अपनी गौसेवा, एवं बालक्रीड़ा से हमें यही आदेश दिया है। परमात्मतत्त्व औंधे लटकते हुए तपस्वी योगियों में नहीं मिलेगा। युधिष्ठिर के समकक्ष राजसूयादि यज्ञों के अनुयायी कर्म्मठों की मण्डली में भी आप शान्तिलाभ नहीं कर सकेंगे। महा महा शास्त्रज्ञों के घोर घोरतम उपदेशों से भी आप अपनी बची खुची स्वाभाविक शान्ति खो बैठेंगे। विशाल- वैभव भी आप को निराश ही लौटा देंगे। बड़े बड़े शिक्षणालयों से भी आप उपरत ही बन जाँयगे। ईश्वरतत्त्व मिलेगा आप को प्राकृतिक लीला में, शान्त सरोवरों में (तज्जलानीत्युपासत), निर्जन कन्दराओं में, चाकचिक्यशून्य ग्राम्य कुटियों में, शिक्षायन्त्र से बचे हुए ग्राम्यगीतों में, उन मुग्ध, भोले ग्रामीणों में, उन बालकों में, उन की स्वाभाविकी लीला में। वहाँ, जहाँ रागद्वेषने अबतक प्रवेश नहीं पाया है। वहाँ, जहाँ मनुष्य के विकृत मस्तिष्क की विकृत खोजने प्रवेश नहीं पाया है। क्या हम भ्रान्त पथिक कभी इस अमृतनिर्झरी के रसास्वदन का सौभाग्य प्राप्त कर सकेंगे ?।

४३-विद्यात्मक आवरण, तथा अविद्यात्मक आवरण की उपयोगिता अनुपयोगिता के सम्बन्ध में किञ्चिदिव आवेदन—

हाँ, तो उक्त बालक्रीड़ा-निदर्शन से प्रकृत में हमें बतलाना यही था कि-क्षररूप, अतएव स्थिरभावापन्न अविद्यात्मक आवरण के निराकरण के लिए हमें अक्षररूप, अतएव गतिभावापन्न विद्यात्मक आवरण को ही मध्यस्थ बनाना पड़ेगा। यह आवरण स्थिर बनता हुआ क्षररूप अविद्या का बाना पहिन कर कालान्तर में उस पूर्व अविद्यावरण से भी कहीं अधिक भयानक न बन जाय, इस के लिए पूर्णरूप से सतर्क रहना पड़ेगा। इस सतर्कता के लिए विद्याभिमान से बचना पड़ेगा। इस अभिमान से बचने के लिए फलासक्ति छोड़नी पड़ेगी। फलासक्ति छोड़ने के लिए अपने मन-बुद्धि-जीव को प्रत्यगात्मलक्षण आध्यात्मिक हृदयस्थ ईश्वर में ही अपने आपको समर्पित करना पड़ेगा। इस समर्पणभाव के लिए विद्या-कर्म्माभ्यास-काल में हीं तात्त्विक दृष्टि आगे करते हुए हमें अपने विद्या-कर्म्माभ्यास में भगवद्भावना का समावेश करना पड़ेगा।

४४ भगवद्भावनात्मिका भक्ति से वञ्चित ज्ञान-योग-कर्म्म-शास्त्र-आदि विजृम्भणों का प्रपञ्च-पूर्णत्व, तथा निःसारत्व,-एवं तत्सम्बन्ध में महर्षि का उद्घोष—

ठीक इसके विपरीत भगवद्भावनाशून्य विद्याग्रन्थों में यदि हम एक जन्म ही नहीं, असंख्य जन्म भी व्यतीत कर देंगे, तब भी लक्ष्य पर नहीं पहुँच सकेंगे। घोर तपश्चर्य्या भी हमें शान्ति नहीं देसकेगी। शास्त्रनिकश (कसौटी) पर घर्षण खा खा कर सुसूक्ष्म बनी हुई अपूर्वबुद्धि, अपूर्व मेधा भी हमें परमात्मतत्त्व पर नहीं ले जासकेगी। यदि हम यावज्जीवन कथाश्रवण करते रहेंगे, तब भी इस बहुश्रुतवृत्ति से भी आत्मनिःश्रेयस् नहीं होगा। आत्मनिःश्रेयस् होगा उस प्रत्यगात्मा की स्वाभाविक–ज्ञानज्योति का शारीरकात्मा पर अनुग्रह होने से ही। और उस के लिए प्रत्येक दशा में भगवद्भावना की चर्वणा, ईश्वरतत्त्व का संस्मरण ही आवश्यक होगा। देखिए! आपका शास्त्र ही इस सम्बध में क्या कहता है!—

नायमात्मा प्रवचेन लभ्यः, न मेधया, न बहुना श्रुतेन ।
यमैवेष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥
श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः, शृण्वन्तोऽपि बहवो यन्न विद्युः ।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥
आश्चर्य्यवत् पश्यति कश्चिदेनं,
आश्चर्य्यवत् वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्य्यवच्चैनमन्यः शृणोति,
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ।

—————*—————

४५–कलियुगानुगत-प्रचलित-भक्तिवाद के सम्बन्ध से नवीनरूपेण आविर्भूत एक काल्पनिक प्रवाद, और तन्नीरक्षीर-विवेक—

आजकल ऐसा प्रवाद चल पड़ा है कि, 'कलियुग में शास्त्रसिद्ध वर्णाश्रमधर्म्म का अनुगमन कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव है। न तो कलियुग में मनुष्य की आयु ही पूर्ण होती, न इसे ऐसी सुविधाएँ ही प्राप्त होतीं, जिन से कि यह अपनी आर्थिकचिन्ता से विमुक्त होता हुआ शास्त्रादिष्ट क्लेशसाध्य, बहुसमयसाध्य, एवं पूर्णसुविधासाध्य उस वर्णाधर्म्मानुगत कर्म्म में प्रवृत्त रह सके"। ऐसी दशा में कलियुग में मानवजाति के उद्धार का एकमात्र यही मार्ग बच रहता है कि, मनुष्य सुविधानुसार थोड़ा बहुत समय निकाल कर नामस्मरण, सामूहिक रूपसे नामसंकीर्त्तन, अवतारपुरुषों के लीला चरित्रों का अभिनय आदि करता रहे"।

४६—अतीतयुगों के परमभागवत भक्ति के आचार्य्यों का पावन संस्मरण, तन्निबन्धना वर्णाश्रमाचारसंसिद्धा महती निष्ठा का स्वरूप—दिग्दर्शन, एवं सुप्रसिद्ध शास्त्राचार से समन्वित भक्तिपथ का ही वास्तविक भक्तिपथत्त्व-समन्वय—

वैसे तो उक्त भक्तिवाद को प्रवाद कहना धृष्टता ही मानी जायगी । क्योंकि नारदपञ्चरात्र, श्रीमद्भागवत आदि प्रामाणिक ग्रन्थोंनें भी कलियुग में नामसंस्मारण को भी उद्धार का एक मुख्य साधन मानाहै । और फलांश का विचार करने से भी हमें इसी निश्चय पर पहुँचना पड़ता है कि, स्वनामधन्य प्रातःस्मरणीय तुलसी, सूर, मीरा, तुकोबा, ज्ञानेश्वर, समर्थरामदास, नाभा, कगण्प, करमाबाई, सहजोबाई, कबीर, सुन्दरदास, दादू, रैदास, कुब्जा, भिल्लनी, निषाद, आदि परम भागवत-विभूतियोंनें इस नामस्मरण के प्रभाव से ही वहां अपने आपको मुक्त किया है, वहां अपने दिव्य उपदेशों से उस मानवसमाज की भी अधिकांश में रक्षा ही की है, जो कि कलियुग के घोर अनाचारों से पतनोन्मुख होरहा है । उक्त विभूतियों में से तुलसी, सूर, ज्ञानेश्वर, रामदास आदि पर्य्यन्त कतिपय महात्माओं के सम्बन्ध में तो यह भी कहा जासकता है कि, सम्भवतः इन्होंनें शास्त्र का अथ से इति पर्य्यन्त अध्ययन किया होगा, जैसाकि उन की कृतियों से स्पष्ट है । ज्ञानेश्वर महाराज की ज्ञानेश्वरी (गीताव्याख्या) वेदान्त का जहां उच्च ग्रन्थ माना जासकता है, वहां तुलसी की रामायण भी अपनी सर्वज्ञता का आदर्शवत् परिचय दे रही है । सूरपदावली भी कम महत्त्व नहीं रखती । इसी आधार पर इन के सम्बन्ध में यह भी कल्पना की जासकती है कि, सम्भवतः ये महापुरुष वर्णाश्रमधर्म्म के कट्टर पक्षपाती रहे होंगे । इन का भक्तिरस वर्णाश्रमधर्म्म को मूल मानकर ही प्रवाहित हुआ होगा । स्वयं तुकोबाने तत्रश्री शिवाजी को कुलधर्म्म का महत्त्व समझाते हुए निम्न लिखितरूप से वर्णाश्रमधर्म्मानुकूल क्षात्रधर्म्म के अनुगमन का ही उपदेश देकर यह सिद्ध किया था कि, शास्त्रविहित कर्त्तव्यकर्म्म में प्रवृत्त रहते हुए जिस भक्तिमार्ग का अनुगमन किया जायगा, वही सर्वश्रेष्ठ भक्तिमार्ग माना जायगा । देखिए !

४७—सुप्रसिद्ध भक्तप्रवर महात्मा सन्ततुकाराम महाभाग की वर्णाश्रमधर्म्मनिष्ठात्मिका मान्यता का पावन-संस्मरण—

* 'तसं नाहीं राजे ! वर्णाश्रमधर्म्मप्रमाणं प्राप्त झालेलीं कर्त्तव्ये तुच्छा लेखून, ईश्वरप्राप्ती साठी संसाराचा त्याग करण्याची, किंवा दूसरा कोणता ही खटाटोप करण्याची आवश्यकता नाहीं । राजा असो, सिपाई असो, किंवा तुमचा एखादा सामान्य प्रपंची प्रजाजन असो, धर्म्मानं नेमून कर्त्तव्ये करीत करीत परमेश्वराला आपलासा करूँन घेण्याचा अगदीं साधा मार्ग म्हणजे"—

* राजन् ! ऐसा नहीं है, भूलते हो । वर्णाश्रमधर्म्मानुसार प्राप्त होने वाले कर्त्तव्यकर्म्मों को तुच्छ समझ कर ईश्वरप्राप्ति की लालसा से संसार छोड़ देने की, अथवा और किसी मार्ग के अवलम्बन की कोई आवश्यकता नहीं है । राजा हो, अथवा एक मामूली सिपाही हो, अथवा तुम्हारे राष्ट्र में रहने वाला कोई साधारण प्रजाजन हो, सब का उद्धार एकमात्र वर्णाश्रमधर्म्मानुकूल कर्त्तव्यकर्म्म करने से ही होसकता है । (इस सम्बन्ध का पूरा विवरण ईशभाष्य प्रथमखण्ड में देखना चाहिए) ।

४८–शास्त्रानुगत वर्णाश्रमाचार-पथों से असंस्पृष्टा सत्त्वभावनात्मिका भक्ति, एवं तथाविधा सत्त्वभक्ति के अनुवर्त्मा भक्त-आचार्य्यों का नामसंस्मरण—

परन्तु मीरा, नाभाजी, भक्तवर कणप्प, करमाबाई, रैदासजी, भिल्लनी आदि के सम्बन्ध में तो उक्त घटना भी घटित नहीं होती। स्त्री शूद्रादि वर्गों में प्रतिष्ठित रहने के कारण न इन्हें शास्त्राध्ययन का अधिकार ही था, एवं न इन का ज्ञानीय धरातल ही उच्च था। फिर भी हम देखते हैं कि, केवल नामस्मरण से हीं ये भक्तप्रवर उस परमपद के अधिकारी बन गए हैं, जिसे प्राप्त करने में बड़े बड़े शास्त्रनिष्ठ, कर्म्मठ, योगी, ज्ञानी भी कभी कभी लक्ष्यच्युत होते देखे गए हैं। ऐसी दशा में भक्ति के इस सरल पथ को शास्त्रावेश में पड़कर प्रवाद कह डालना धृष्टता नहीं, तो और क्या है ?।

४९–'कल्याण' नाम से प्रसिद्ध भक्तिमार्ग के सम्बन्ध में ऊहापोह, एव नामसंस्मरणात्मक भक्तिमार्ग के सम्बन्ध में युगधर्म्मनिबन्धन प्रवादों का समावेश—

मार्ग तो अवश्य ही अभ्युदयकर, एवं एकान्ततः प्रवादशून्य है। परन्तु मार्गानायुयायी कतिपय महानुभावों की कृपा से यह 'कल्याण' पथ आज भक्ति के पावन नाम पर जो उत्पात मचा रहा है, भक्तिमार्ग के जिस सर्वोच्च आसन पर विराजमान करने का मिथ्याभिमान कर रहा है, उसने अवश्य ही इस मार्ग को प्रवाद का अधिकारी बना डाला है, यही स्वीकार कर लेने में भी किसी भी विचारशील को तो कोई भी आपत्ति नहीं होगी। पहिले भी ऐसे ही छद्मवेशधारी कतिपय व्याघ्रचर्म्माच्छन्न रासभोंने शास्त्र की ओट में हमारी मौलिक वैदिक संस्कृति को कुचलने का प्रयास किया था। जनता, भोली जनता, कुछ काल के लिए धूर्तों की, स्वार्थियों की इस स्वार्थलीला में फँस भी गई थी। परन्तु स्वनामधन्य प्रातःस्मरणीय श्रीशङ्कराचार्य्य, कुमारिल, मण्डनमिश्र, उदयनाचार्य्य, आदि कतिपय कुशल मल्लाहोंने मझधार में डूबती नौका बचाली थी।

५०–कल्पनात्मक कुकाण्डों के समावेश से भक्तिमार्ग की स्वरूप-विच्युति, एवं भक्तिपथ के माध्यम से अर्थप्रधाना 'विश्वेदेववृत्ति' का घातक-प्रचार, और संस्कृति का स्वरूपाभिभव-प्रयास—

देखिते हैं कि, संस्कृति के दुर्भाग्य से आज पुनः उस धूर्त्तलीला की पुनरावृत्ति होने लगी है। भक्ति के पवित्र नाम के व्याज से, कल्याण घोषणा की ओट में पुनः आज कतिपय ऐसे प्रचारक खड़े होगए है, जिन्होंने आकार, वेशभूषा, बोलने का ढँग, अतिशय नम्रता, पदे पदे भगवान् के नाम का सम्पुट, कहने को शास्त्र की अनन्यनिष्ठा, आदि कुछ एक ऐसे ऐसे अव्यर्थ शस्त्रों का सहारा लेकर निःशङ्कभाव से हमारी संस्कृति को कुचलने के लिए कमर कसली है। सबसे बड़े खेद का विषय तो यह है कि, कतिपय विद्वान् हीं भावुकतावश इत्थंभूत अकाण्डताण्डवों को प्रोत्साहित करते जारहे हैं। जब विद्वानों की यह दशा है, तो सामान्य-जनता के भ्रम के सम्बन्ध में क्या कहा जाय ?। भगवान् न करे—इन भोले बाबा विद्वानों का वरप्रदान भस्मासुर की भाँति इन्हीं पर कभी आक्रमण न कर बैठे। चतुर विश्वेदेवोंने भक्ति को भी अर्थसाधन का द्वार बना डाला। ज्ञान-वैराग्य के साथ समतुलित होने वाली भक्ति आज चित्रों से समतुलित होरही है। धातुके टुकड़ों से उस का मूल्य आँका जारहा है। कल्पना के आधार पर भक्ति के अर्थार्थीभक्त, ज्ञानीभक्त, आर्त्तभक्त आदि विविध चित्रों का आविष्कार किया जारहा है। कहना न होगा कि, इस कुकाण्ड से

साहित्य के साथ साथ देश की मौलिक कला भी छिन्न भिन्न होती जारही है। मानो इन महापुरुषों का अवतार कलिदेव को साहाय्य प्रदान करने के लिए ही हुआ हो।

५१—संस्कृति-सभ्यता-कला-विज्ञान-आचारधर्म्म-आदि मौलिक-विभूतियों की उपेक्षा में सिद्धहस्ता झञ्झा-ताल-मृदङ्गादि-समन्विता आज की अनर्थकारिणी भक्ति का ताण्डवनृत्य, एवं तद्द्वारा सांस्कृतिक-अभ्युदय का गत्यवरोध—

देश को आज कैसे भक्तिमार्ग की आवश्यकता है ?, देश का मौलिक साहित्य आज किस विपत्ति में पड़ा हुआ है ?, परसाहित्य किस विभीषिका के साथ हमारा सर्वस्व हड़प करने के लिए सन्नद्ध खड़ा है ?, कला, विज्ञान दर्शन, आदि मौलिक विभूतियाँ किस वेग से रसातल की ओर जारही हैं ?, इन सब प्रश्नों को वहाँ, उस भक्ति की सीमा में प्रवेश करने का भी अधिकार नहीं है। भारतवर्ष अपनी इन विमल विभूतियों के करुणक्रन्दन से हा-हाकार कर रहा है, और हम ताल-मँजीरे ढोलक लेकर विनोद मना रहे हैं। क्या भक्ति का यही लक्ष्य है ?। क्या शास्त्र हमें ऐसी ही भक्ति का आदेश दे रहा है ?। कर्त्तव्यकर्म्मों को सर्वथा छोड़ दिया जाय, लोकसंग्राहक कर्म्मों की उपेक्षा कर दी जाय, मौलिक साहित्य को कुचलने दिया जाय। किया जाय केवल घुँघरु तरँग के आधार पर श्मशाननृत्य। कैसा उत्तम भक्तिमार्ग है ?, और कैसे हैं हम आँखों के अन्धे ?, जो अब भी उनकी हाँ में हाँ मिलाते हुए सर्वनाश की ओर ही अग्रेसर होरहे हैं।

५२—भक्तप्रवर महात्मा तुलसी की सूक्ष्मा दृष्टि से अनुप्राणित भक्तिसम्बन्धी, तथा शास्त्र-सम्बन्धी अनाचार, एवं भक्तिपथमाध्यम से तुलसी के द्वारा धर्म्मनिष्ठा का संरक्षण-प्रयास—

भक्तवर तुलसी को भय था कि, कुछ ही समय पीछे स्वार्थीलोग भक्ति के नाम पर वर्णाश्रमधर्म्म के घोर विरोधी बन जायँगे। भक्ति के प्रचार को वैषयिक तृप्ति का साधन बना डालेंगे। इसी भय से महात्मा तुलसी ने भविष्य की सन्तति को भक्ति का वास्तविक मर्म्म समझाने के लिए सामयिक भाषा में रामायण निर्म्माण करना आवश्यक समझा। स्वयं तुलसी के समय में भी शास्त्रों का मौलिक रहस्य लुप्त होचुका था। * शास्त्र केवल पाखण्ड-विवाद के ही साधन रह गए थे। इसी पाखण्ड के विशोधन के लिए, साथ ही भविष्य के उत्पातों को रोकने के लिए "स्वान्तः सुखाय" के द्वारा तुलसीसूक्तिसुधा प्रवाहित हुई। तुलसी की भक्तिनिष्ठा के सम्बन्ध में कुछ कहना अपना उपहास ही कराना है। तुलसीने भक्तिमार्ग के द्वारा ध्वस्तप्राय वर्णाश्रमधर्म्म को ही सदृढ दुर्ग से सुरक्षित कर दिया।

५३—एक रहस्यात्मिका स्थिति का स्वरूप-विश्लेषण-प्रयास, एवं आर्षसंस्कृति-सभ्यता के अन्यतम संरक्षक गीता, रामायणरूप महान् दो स्तंभ

आज एक रहस्य की बात पाठकों को बतलावें। श्रीमद्भगवद्गीता, और तुलसीकृत रामायण, आर्षसभ्यता को बचाने के सम्बन्ध में इन दोनों को विशेष स्थान दिया जासकता है। ज्ञान की उच्चभूमिका का अभिमान करने

---

* हरित भूमि तृण संकुल समुझि परे नहि पन्थ।
जिमि विवाद पाखण्डतें लुप्त भये सद्ग्रन्थ॥

वालों के लिए जहाँ गीता पर्य्याप्त है, वहाँ सामान्य अधिकारियों को सुव्यवस्थित रखने के लिए रामायण पर्य्याप्त है। और इन दोनों के सम्बन्ध में यह भी बड़े ही अभिमान के साथ कहा जा सकता है कि, जबतक आर्य-सन्तान के कोश में ये दोनों निधियाँ बचीं रहेंगी, तबतक यह येन केन-रूपेण अपना स्वरूप सुरक्षित रखने में अवश्य ही समर्थ रह सकेगी।

५४–पुराणयुगानुगता उपासना. तथा उपास्य का स्वरूप-संस्मरण, एवं 'वासुदेवः–सर्वमिति' मूलक अवतारों का वासुदेवात्मकत्व-संस्थापन, तथा विष्णुलक्षण वासुदेवतत्त्व का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

बात थोड़ी अवश्य अटपटी है, साथ ही कल्पनामयी-सी प्रतीयमाना भी। परन्तु है रहस्यमयी, एवं विज्ञानदृष्टि से सिद्धापि। भक्तिपरीक्षा के पूर्वखण्ड में जिन ५ उपासनामार्गों का निरूपण हुआ है, वहीं उपास्यभेद से चतुर्युगों का भी स्पष्टीकरण हुआ है। एवं उन्हीं प्रकरणों में सत्य–त्रेता–द्वापर–कलियुग–इन चार युगों के साथ क्रमशः षोडषी–यज्ञ–विराट्–विश्वप्रजापति का (उपास्यरूप से) भी सम्बन्ध बतलाया गया है। और वहीं यह भी स्पष्टीकरण किया गया है कि, यज्ञेश्वरप्रजापति षोडशीप्रजापति के पूर्णावतार हैं। एवं हमारे चरितनायक गीताचार्य्य श्रीकृष्ण विष्णुमूर्त्ति इसी पूर्णावतार की मानुषी प्रतिमा थे। तात्पर्य्य कहने का यही हुआ कि, आर्य्यावर्त्त के सभी अवतार वासुदेवतत्त्व के ही अंशावतार माने गए हैं, जैसा कि "वासुदेवः सर्वमिति" से भी स्पष्ट है। सब से पहिले देवयुग में इन का अवतार हुआ। उसी अवतारने विवस्वान् को सर्वप्रथम गीतोपदेश दिया। आगे जाकर मनु–शतरूपा की तपश्चर्य्या से प्रसन्न होकर इसी विष्णुलक्षण वासुदेवतत्त्व ने इस दम्पती को वरप्रदान किया कि-"मैं त्रेतायुग में दशरथ बने हुए तुम्हारे घर जन्म लूँगा।

५५–वासुदेवतत्त्व की रामावताररूप में परिणति, मनु, और प्रतापभानु, तन्निबन्धन रामावतार, श्रीरामका 'अयन', और महात्मा तुलसी—

इसप्रकार वासुदेवतत्त्वने हीं त्रेता में रामरूप से अंशावतार धारण किया। स्वयं रामायण ने-"मनु-एवं प्रतापभानु के आख्यानों के द्वारा पूर्णरूप से इसीं सिद्धान्त का समर्थन किया है। आगे जाकर वही रामरूप वासुदेव द्वापरान्त में कृष्णरूप से प्रकट हुए। इसी अपने अन्यरूप से उन्होंने देवयुगारम्भ में विवस्वान् के प्रति उपदिष्ट, परम्परया राजर्षिसम्प्रदाय में हीं प्रतिष्ठित, किन्तु कालदोष से विलुप्तप्राय वैराग्यलक्षण बुद्धियोग का अपने अनन्यभक्त अर्जुन को निमित्त बना कर पुनरुद्धार किया। आगे जाकर कलियुग में (विलुप्तप्राय) उस राम–अयन का तुलसी के द्वारा पुनः प्रचार हुआ।

५६–त्रेतायुगानुगता उपासना से अनुप्राणिता एक विशेष घटना का संस्मरण, देवयुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग, कलियुग-भेदानुगत भक्तिपथों का संस्मरण, एवं तत्र समत्वलक्षण बुद्धियोग का संस्थापन-प्रयास—

घटना यों घटित हुई। देवयुगानुगता सिद्धजाति में उत्पन्न कपिल की सांख्यनिष्ठा का, एवं हिरण्यगर्भ महर्षि की योगनिष्ठा का तदनुयायी ज्ञानी, एवं कर्म्मठों में जब दुरुपयोग होने लगा, तो भगवान् वासुदेव

को बुद्धियोगनिष्ठा के प्रचार के लिए अवतार धारण करना पड़ा। बुद्धियोग का प्रचार हुआ, और पर्य्याप्त रूप से हुआ। देवयुग से आरम्भ कर सत्ययुग पर्य्यन्त मानव समाज बिना किसी नियन्त्रण के वर्णधर्मानुगमन पूर्वक भगवदुपदिष्ट बुद्धियोग का यथाकथंचित् अनुगामी बना रहा। परन्तु कालातिक्रम से बुद्धियोग का वास्तविक मर्म्म लुप्त होने लगा। ज्ञान-कर्म्मसमत्वमूलक बुद्धियोग पुनः कर्म्मत्यागलक्षण अव्यक्त ज्ञानयोग समझा जाने लगा। दूसरे शब्दों में बुद्धियोग पुनः देवयुग के आदिकाल में प्रचलित ज्ञानमार्ग से युक्त होगया। इस विषमावस्था में विकृतिभावापन्न प्रकृति मण्डल को एक ऐसे अंशावतार की आवश्यकता प्रतीत होने लगी, जो कि पुनः मानवशरीर धारण कर कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग में चातुर्वर्ण्यधर्म-मूलक कर्म्ममार्ग का समावेश कर उसे ज्ञान-कर्म्म-समत्वलक्षण बुद्धियोग का स्वरूप प्रदान करे।

५७-देवयुगानुगता संस्मरणीया ज्ञान-कर्म्म-निष्ठाद्वयी, एवं तत्संस्थापक वासुदेव कृष्ण का देवयुग में पूर्णावतार—

स्मरण रखने की बात है कि, देवयुग में ज्ञान-कर्म्म, दोनों निष्ठाएँ विपरीत पथ पर ही जारही थीं। थी दोनों ही प्रचलित, परन्तु द्वन्द्वभाव से। एक वर्ग विशुद्ध ज्ञानयोग का पक्षपाती था, तो दूसरा केवल कर्म्मयोग का। ऐसी दशा में तत्कालीन विकृतिलक्षण प्रकृतिमण्डल को ऐसा अवतार अपेक्षित था, जो दोनों का मेल कराता हुआ, दोनों के युग्मरूप पूर्णब्रह्म की प्रतिकृतिरूप (सदसद्रूप) बुद्धियोग का उपदेश दे। यह काम तभी सम्भव था, जबकि यज्ञेश्वर वैष्णवतत्त्व की ज्ञान-कर्म्म दोनों विभूतियाँ अवतीर्ण हों। फलतः उस देवयुग में सर्वलक्षण वासुदेव का पूर्णावतार ही हुआ।

५८-देवयुगोत्तरभावी त्रेतायुग, और तत्र-अपेक्षित अंशावतार, तन्निबन्धन सौरमण्डल, एवं तदनुगत सूर्य्यानुगत सूर्य्यवंशी भगवान् राम के अवतार का पावन-संस्मरण-, तथा मनु और शतरूपा की तपश्चर्य्या—

परन्तु त्रेतायुग में पूर्णावतार की आवश्यकता नहीं थी। कारण-बुद्धियोग का एकांश, किंवा अर्द्धांशरूप ज्ञानयोग तो पूर्णरूप से विकसित ही था। कमी थी केवल वर्णधर्म्मानुगत शास्त्रीय कर्म्म की। इस समय के अवतार का काम केवल इतना ही था कि, वह प्रचलित ज्ञानयोग में वर्णाश्रममर्य्यादामूलक कर्म्मयोग-मात्र का समावेश और कर दे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वासुदेव यज्ञेश्वर की सूर्य्यकला ही पर्य्याप्त थी। त्रयीधर्म्म की प्रतिष्ठा एकमात्र सूर्य्य ही है, यह सर्वविदित है ही। वही तत्त्व आज रामरूप से अवतीर्ण हुआ, एवं इस का श्रेय मिला मनु-शतरूपा दम्पती की कर्म्ममयी तपश्चर्य्या को।

५९-पूर्णावतार, तथा तदंशावतार-विभूतियों का पावन संस्मरण,-तथा अवतार के मुख्य उद्देश्य का समन्वय—

वासुदेव के ही पूर्णावतार जहाँ कृष्ण-देवकीनन्दन आदि नामों से प्रसिद्ध हुए हैं, वहाँ इन्हीं के अंशावतार राम-परशुराम-बलराम-मीन-कूर्म्म-वराह-वामनादि नामों से व्यवहृत हुए है। सर्वथा यह सिद्ध विषय है कि, पूर्णात्मक मानुषावतार हों, अथवा अंशात्मक मानुषावतार, हैं दोनों विवर्त्त वासुदेवोपलक्षित पारमेष्ठ्य सोमत्रयीशाधिष्ठाता, पञ्चदशाहयज्ञप्रवर्त्तक, इन्द्रसखा, गोविन्द के ही अवतार। इनके अवतार धारण करने के यों तो अनेक उद्देश्य माने गए हैं, परन्तु प्रधानरूप से दो ही उद्देश्य हैं।

६०-दर्शन-ज्ञान-चरित्र-त्रयी, एवं आचरणभाव का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

वैकारिक विश्व जब अपने मूलभूत प्रकृतितत्त्व की उपेक्षा कर देता है, तो प्रकृतिमण्डल (विश्व प्रजा के अनाचार से, एवं प्रकृतिविरुद्ध आचरण से) क्षुब्ध-अशान्त-भयावह, एवं संघातक बन जाता है। इस प्रकृति को समरूप में परिणत कर देना अवतार का पहिला, एवं मुख्य उद्देश्य है। इस उद्देश्य को लेकर अवतीर्ण वासुदेव प्रधानरूप से समदर्शन की शिक्षा देते हैं। इस शिक्षा की सिद्धि के लिए, प्रकृति के उस बुद्धियोगात्मक महागीत का, औपनिषद तत्त्व का किसी एक योग्य पात्र को निमित्त बना कर उपदेश देते हैं, जो कि बुद्धियोग समदर्शन की मूलप्रतिष्ठा बना हुआ है। समदर्शनमूलक, महागीतरूप वासुदेव का वही उपदेश "गीता" नाम से प्रसिद्ध है। दूसरा उद्देश्य है—"सम्यक्चारित्र्य" की शिक्षा देना।

६१-जैनदर्शनानुगत महत्त्वपूर्ण तत्त्वार्थसूत्र का संस्मरण, एवं तदर्थसमन्वय-प्रयास—

यह बतलाने की कोई आवश्यकता नहीं कि, जो काम देख भाल कर, सोच समझ कर, किया जाता है, वही सफलता का कारण बनता है। इसी आधार पर सामान्य लोकभाषा में भी—"देख कर चलो"—"समझ कर करो"—देख भाल कर आगे बढ़ो, अन्यथा ठोकर खाओगे" इत्यादि किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। इन्हीं किंवदन्तियों के आधार पर हम मानवसमाज के पुरुषार्थ को सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य, इन तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। सामान्यज्ञान (ऐन्द्रियक ज्ञान) सम्यग्दर्शन है, विशेषज्ञान (मनोयुक्त बौद्धिकज्ञान) सम्यक् ज्ञान है। उभय ज्ञानों का आधार तदनुकूल कृत आचरण सम्यक् चारित्र्य है। देखो, समझो, करो में "देखो" सम्यक् दर्शन है, "समझो" सम्यक् ज्ञान है, एवं "करो" सम्यक् चारित्र्य है। तीनों का समन्वितरूप ही मोक्षमार्ग का अन्यतम कारण है, जैसाकि—"सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः" इत्यादि तत्त्वार्थसूत्रव्याख्यानावसरपर विस्तार से बतलाया जाचुका है—(देखिए दार्शनिक आत्मपरीक्षा, भू० द्वि० खण्ड० पृष्ठ सं० २००)।

६२-देवयुगानुगत पूर्णावतारके द्वारा विवस्वान् के प्रति बुद्धियोगनिष्ठोपदेश का संस्मरण—

जैसाकि पूर्व में बतलाया जाचुका है, देवयुग, किंवा सत्ययुग में न ज्ञान की कमी थी, न चरित्र की। कमी थी केवल सम्यग्दर्शन की। आचरणरूप कर्म्ममार्ग भी पूर्णरूप से विकसित था, ज्ञानरूप सांख्यमार्ग भी पूर्णरूप से प्रचलित था। परन्तु सांख्यों का ज्ञान, योगियों का कर्म्म, दोनों ही समदर्शनरूप सम्यक् दर्शन से वञ्चित थे। परिणाम यह था कि, दोनों एक न रहकर दो स्वतन्त्र वर्ग बन गए थे। न इस युग में ज्ञान-तत्त्वोपदेश की आवश्यकता थी, न चरित्र का ही उपदेश आवश्यक था। आवश्यकता थी केवल सम्यग्-दर्शनोपदेश की। फलतः तत्कालीन वासुदेवावतारने विवस्वान् को निमित्त बनाकर वही कमी पूरी की।

६३-गीताशास्त्र की समदर्शनात्मिका महती शिक्षा का रहस्यात्मक समन्वय, एवं आचारणात्मिका शास्त्रनिष्ठा से तटस्थ गीताशास्त्र—

पाठकों को यह मान लेना चाहिए कि, गीता का प्रधान उद्देश्य समदर्शन की ही शिक्षा देना है। गीता ने तत्त्ववाद का विश्लेषण करते हुए केवल कर्म्म-ज्ञान का मौलिक रहस्य ही [illegible] या है। कौन कर्म्म

करने चाहिए, कौन नहीं करने चाहिए ?, इस विधि-निषेध-मूलक आचरण की शिक्षा का भार गीता ने "तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ" इत्यादि रूप से शास्त्र पर ही डाल दिया है। गीता में विशेष रूप से "कैसे करना चाहिए ?" इस कर्म्मोपपत्ति का ही विश्लेषण हुआ है। क्या करना चाहिए ?, यह सम्यग्दर्शन पर अवलम्बित है। प्रथमोदेश की उस आदि युग में अनावश्यकता थी, अतएव वह अप्रतिपादित रहा ! आवश्यकता थी दूसरे उपदेश की, वही आवश्यक समझा गया। स्वयं गीता का "यथेच्छसि तथा कुरु" यह उपसंहारवाक्य भी इसी समदर्शन-सिद्धान्त को पुष्ट कर रहा है।

६४-त्रेतायुगानुगत अवतार की महत्त्वपूर्णा-आचरणधर्म्ममूला चरित्रशिक्षा का स्वरूप-संस्मरण—

जैसाकि कहा गया है, त्रेतायुग में आचरणलक्षण कर्म्मभाग ज्ञानमार्ग से निकल गया। सम्यग्दर्शन भी रहा, सम्यक्ज्ञान भी। परन्तु सम्यक्-चारित्र्य लुप्त होगया। पुनः अव्यक्त, कर्म्मत्याग-लक्षण ज्ञानयोग बल पकड़ गया। फलतः इस युग में ऐसे अवतार की आवश्यकता हुई, जो प्रधानरूप से सम्यक्-चारित्र्य की शिक्षा प्रदान करे। और इस युग के अवतार ने यही किया भी।

६५-मनोविज्ञानसिद्धान्तमूलक एक रहस्य का विश्लेषण, 'आचरण' का महत्त्व संस्थापन, एवं आचारधर्म्म की व्यावहारिकता का स्वरूप-समन्वय, तथा भगवान् राम के चरित्र का संस्मरण—

मनोविज्ञान का यह एक माना हुआ सिद्धान्त है कि, यदि हम किसी को कर्म्ममार्ग पर आरुढ़ करना चाहते हैं, अथवा किसी की बुरी आदतें छुड़ाकर उसे सन्मार्ग पर लाना चाहते हैं, तो वाचिक उपदेश की अपेक्षा आचरण इस सम्बन्ध में विशेषरूप से सफल होगा। जो उत्तम कर्म्म आप अपने परिवार से, समाज से, किंवा राष्ट्र से करना चाहते हैं, उपदेश की अपेक्षा आप स्वयं यदि उनका आचरण करने लग पड़ेंगे, तो विशेष सफलता मिलेगी। यदि आप स्वयं आचरण शून्य हैं, तो उस दशा में आपका वाचिक उपदेश व्यर्थ ही सिद्ध होगा। त्रेतायुग के समाज को आचरण की शिक्षा अपेक्षित थी, एवं आचरण व्यवहारमार्ग से अधिक सफल होता है। अतएव अंशावतार भगवान् रामने इस युग में वाचिक, सम्यग्दर्शन-ज्ञानरूप उपदेश की उपेक्षा कर केवल सम्यक् चारित्र्य की ही शिक्षा प्रदान की। राम स्वयं एक आदर्श गृहस्थी बनें। राम का परिवार स्वयं एक आदर्श परिवार बना। रामचन्द्र तत्कालीन आचरण-शून्य, दुराचारी समाज को सचरित्र की शिक्षा देना चाहते थे, उसे वाचिक न बनाकर व्यावहारिकरूप प्रदान किया। स्वयं उन शास्त्रीय मर्य्यादाओं का अनुगमन किया। राम के इस चरित्रानुगमन का तत्कालीन मानवसमाज पर कैसा प्रभाव पड़ा ?, यह बतलाने की कोई आवश्यकता नहीं है।

६६-भगवान् राम, तथा भगवान् कृष्ण, नामक महान् अवतारों के चरित्र, तथा उपदेश के माध्यम से एक रहस्यपूर्ण तथ्य का स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

यदि तुलनात्मिका दृष्टि से विचार किया जायगा, तो राम-कृष्ण की तुलना में आचरण की दृष्टि से राम का आचरण ही विशेष महत्त्व का अधिकारी माना जायगा। कृष्ण का व्यक्तित्त्व जहाँ सर्व्वोच्च शिखर

पर प्रतिष्ठित था, वहाँ कृष्ण के परिवार में अनेक दूषित प्रथाएँ भी प्रचलित थीं। मद्यपान जैसा दुष्कर्म यादववंश में पूर्णरूप से प्रचलित था। और आगे जाकर तो इसी मद्य के अनुग्रह से यादववंश का नाश भी हुआ। कृष्ण का वैयक्तिक जीवन आदर्श (आदेशरूप से, न कि व्यावहारिक रूप से) भले ही मान लिया जाय, परन्तु परिवार आदर्शशून्य ही माना जायगा। स्वयं श्रीमद्भागवत ने कृष्णलीला के सम्बन्ध में—"ईश्वराणां वचः सत्यं,..........." यह कहते हुए कृष्णलीलाचरण का अनुगमन निषिद्ध ही माना है। स्वयं परीक्षित के-"आप्तकाम यदुपति ने लोकसंग्रह के विरुद्ध परदाराभिमर्शन क्यों किया?," प्रश्न करने पर उक्त समाधान ही किया है।

६७-श्रीकृष्णावतार की परिपूर्णता, किन्तु आचारशैथिल्य, तथा श्रीरामावतार की अंशावतारलक्षणा-अपरिपूर्णता, किन्तु आचार का पूर्णत्व, तथा एक रहस्य का समन्वय-प्रयास—

यद्यपि इसमें कोई सन्देह नहीं कि, कृष्णावतार का स्थान अवतार-परिगणना में सर्वोच्च है। अवतार-विज्ञान के अनुसार कृष्ण की अपेक्षा राम का आसन बहुत नीचा है। फिर भी सामान्य लौकिक मर्य्यादा के अनुयायी सामान्य मनुष्यों के लिए आदर्शदृष्टि से कृष्ण की अपेक्षा राम का ही आसन ऊँचा माना जायगा, और माना गया है। न्यायतः यह मान्यता उचित भी है। कृष्णावतार का उद्देश्य मर्य्यादा-शिक्षण नहीं था, उद्देश्य था एकमात्र समदर्शन का पुनः प्रचार। और यह भी सिद्ध विषय है कि, बिना समदर्शन--समज्ञान के सम्यक् आचरण कभी प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। इसप्रकार समदर्शन का मौलिक रहस्य बतलाते हुए भगवान् ने सम्यक्चारित्र्य की (परम्परया) ओर भी संकेतरूपेण मानवसमाज का ध्यान आकर्षित किया। "किं कर्म, किमकर्मेति" से आचरणभाव ही समन्वित हुआ है। रामभद्र का उद्देश्य एकमात्र था-आचरण की शिक्षा। यह उद्देश्य सर्वात्मना तभी सफल होसकता था, जबकि वे स्वयं एक आदर्श गृहस्थी बनते, स्वयं उन पारिवारिक मर्य्यादाओं का अनुगमन करते, जिनका कि वे तत्-कालीन मर्त्यलोगों को (मनुष्यों को) अनुगमन कराना चाहते थे। वही हुआ भी। और इसी उद्देश्य की सफलता के कारण भगवान् राम "मर्य्यादापुरुषोत्तम" नाम से प्रसिद्ध भी हुए। पुरुषोत्तम का एकपत्नीव्रत, पितुराज्ञापालन, बन्धुस्नेह, प्रजापालन, अपूर्व मातृभक्ति, आश्रितरक्षा, न्यायपरायणता, आदि आचरण ही इनका मर्य्यादाभाव प्रकट कर रहा है। रामपरिवार का आदर्श एक ओर, सृष्ट्यारम्भ से आज पर्य्यन्त का आदर्श एक ओर, दोनों की तुलना में रामपरिवार का आदर्श ही भारी मिलेगा।

६८-श्रीरामचरितमानस के आचारणात्मक धर्म्म, तथा श्रीकृष्णगीता के समदर्शनात्मक उपदेश—

रामभद्र उसी वासुदेव के अंश थे। अतएव इनके समदर्शन-ज्ञानात्मक उपदेश में भी देवयुग--कालोप दृष्ट गीतासिद्धान्त ज्यों के त्यों उद्धृत हुए हैं, जैसाकि मानसान्तर्गत श्रीरामोपदेशस्थलों से यत्र तत्र स्पष्ट है। यही क्यों, गीता और रामायण को सामने रख लीजिए। अनेक स्थान तो आपको ऐसे मिलेंगे, जिनसे ऐसा प्रतीत होगा कि, मानो रामचरित ने गीताश्लोकों का ही अनुवाद किया हो।

६९–मनःस्वरूप-संस्थापक आचार-प्रधान श्रीरामावतार, और रामचरितमानस, तथा बुद्धिस्वरूप-संस्थापक-उपदेशप्रधान श्रीकृष्णावतार, और बुद्धियोगशास्त्र—

एक बात और । गीता प्रधानरूप से बुद्धियोग का ही उपदेश देती है, तो रामायण प्रधानरूप से मानवीय मन को मर्य्यादा की ओर ही आकर्षित करती है । गीता बुद्धितत्त्व का विश्लेषण करती है, तो रामायण मनस्तत्त्व का उपबृंहण । गीता बुद्धियोगशास्त्र है, तो रामायण मनोयोगशास्त्र । दर्शन दृष्टि है, दृष्टि का बुद्धि से सम्बन्ध है । अतएव बुद्धि को चक्षु, किंवा चाक्षुष पुरुष कहा गया है । आचरण ऐन्द्रियक व्यापार है, इसका प्रवर्त्तक मन है । "एतत्सर्वं मन एव" के अनुसार मन ही इन्द्रियों के द्वारा सदसदाचरणों में प्रवृत्त रहता है । रामायण ने, किंवा रामभद्र के आचरण ने हमें यही शिक्षा दी है कि, तुह्मारा मन मेरा जैसा बने । मैं अपने मानस जगत् के आधार पर जिस पद्धति से सांसारिक कर्म्म में प्रवृत्त हुआ हूँ, उसी प्रकार तुम भी अपने मानस को राममानसचरित्र का अनुगामी बनाओ । अपने इसी प्रतिपाद्य विषय को स्पष्ट करने के लिए रामायणग्रन्थ—"रामचरितमानस" नाम से प्रसिद्ध हुआ है ।

७०–त्रेतायुगानुगत श्रीरामका आचारणात्मक-'अयन'-धर्म्म, एवं तन्निबन्धन-रामायण-ग्रन्थ, तथा द्वापरयुगानुगत श्रीकृष्ण का उपदेशात्मक-'गान' धर्म्म, एवं तन्निबन्धन-गीताग्रन्थ का संस्मरण—

हाँ, तो तात्पर्य्य यह निकला कि, त्रेतायुगकालीन रामावतार ने अपने अयन (गमन–आचरण–कर्म्म–व्यवहार) द्वारा तत्समय में प्रचलित ज्ञानयोग में वर्णाश्रमधर्म्ममूलक शास्त्रीय कर्म्म का प्रवेश कर पुनः बुद्धियोग का उद्धार किया । रामभद्र का उद्देश्य जहाँ चरित्रशिक्षण था, वहाँ अपने चरित्र की मूल-प्रतिष्ठा वर्णाश्रमधर्म्म के शिक्षण के साथ साथ भगवान् ने शबरी, निषाद, विभीषण, हनुमान आदि को आश्रय–प्रदान करते हुए भक्तितत्त्व का भी विश्लेषण किया । अवतारभक्ति, किंवा मानुषावतारभक्ति का उदय सर्वप्रथम त्रेतायुग में ही हुआ, जैसाकि पूर्वखण्डान्तर्गत 'पुराणयुगकालीन-उपासनामार्ग' नामक प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाचुका है । रामभद्र के लीलासमय में ही आदिकवि महर्षि वाल्मीकि के द्वारा राम–चरित्र का संकलन भी होचुका था । और इसके सबसे पहिले, एवं प्रधान शिष्य बने कुश, एवं लव ।

७१–त्रेतायुगनिबन्धना ज्ञान-कर्म्म-समन्वयात्मिका निष्ठा का तद्युग में पूर्ण समन्वय, किन्तु तदुत्तरभावी द्वापरयुग में पुनः तत्शैथिल्य, एवं तन्निबन्धन गीताशास्त्र के समन्वयात्मक बुद्धियोग का अर्जुन के माध्यम से पुनः प्रतिसंस्करण-प्रयास, और गीता के द्वारा भक्तिपथका भी लोकसंग्रहदृष्ट्या संस्थापन, एवं तत्परिणाम—

रामावतार से जनता ने ज्ञान के साथ साथ कर्म्म को भी अपनाया । पुनः एकबार बुद्धियोग अपने स्वरूप से विकसित हुआ । परन्तु मानवीय मन की उद्दाम–वासनाओंनें पुनः इसे भुलाने का उपक्रम कर दिया, द्वापरान्त पर पहुँचते तो बुद्धियोग पुनः उन्हीं दो खण्डों में परिणित होगया । जो परिस्थिति देवयुग के आरम्भ में होने वाले स्पर्द्धायुग में थी, वही यहां उपस्थित होगई । जनता चरित्र (कर्म्म) पर भी आरूढ थी, सम्यग्दर्शनज्ञानलक्षण ज्ञान पर भी । परन्तु कालातिक्रम से दोनों विच्छिन्न होचुके थे । फिर वही-"ज्ञानयोगेन

सांख्यानां, कर्म्मयोगेन योगिनाम्" का पुराना राग प्रचलित होगया था। ऐसी दशा में पुनः वासुदेव को पूर्णावतार-धारण कर ज्ञान-कर्म्म समदर्शनमूलक बुद्धियोग के उपदेश की आवश्यकता प्रतीत हुई। और उसी की पूर्त्ति के लिए विवस्वत्-कालीन गीतोपदेश को (अर्जुन को निमित्त बनाकर) पुनः दोहराया गया। परिणाम क्या हुआ ?, सर्वविदित है। पुनः मानवसमाज बुद्धियोग का अनुगामी बना। उस युग के गीतोपदेश की अपेक्षा इस युग के गीतोपदेश में भक्तिमार्ग पर विशेष प्रकाश डाला गया। क्योंकि अन्तर्यामी जानते थे कि, अनुपद में ही मानवसमाज पर कलिदेव का अनुग्रह होने वाला है। कलि के आक्रमण से मानवसमाज तबतक अपनी ज्ञान-कर्म्मोभयात्मिका बुद्धियोगनिष्ठाको आसक्ति से नहीं बचा सकेगा, जब तक कि वह अपनी इस निष्ठा में भगवदर्पणभाव का समावेश नहीं करलेगा। इसप्रकार युगधर्म्मरहस्यवेत्ता परमकारुणिक भगवान् ने इस प्रतिसंस्कृत बुद्धियोग को भक्ति का बाना पहिनाकर जनता के सामने रक्खा। परिणाम अच्छा ही हुआ।

७२-उदासीनभावात्मक दृष्टिकोण का समन्वय, द्वापरान्त, तथा कलियुगारम्भानुगत भक्तियोग के उच्चावच-तारतम्य, तन्निबन्धन द्वन्द्वभाव, अंशतः बुद्धियोगसम्पत्ति का संरक्षण, किन्तु कलिकृपा से कालान्तर में तद्विलुप्ति, तथा सत्य-त्रेता-द्वापर-कलि-युग-निबन्धन भक्तिपथों के विविध विन्यासों का स्वरूप-समन्वय-प्रयास, एवं साधनभावों की साध्यरूप में परिणति, और ईश्वरभाव के स्थान में अनेक-देवतावाद का संस्थापन —

अच्छा ही हुआ, इस उदासीनभाव से युक्त वाक्यप्रयोग का कारण यही है कि, द्वापरान्त, एवं कलि के आरम्भ में होने वाले भक्तिरसालुप्त बुद्धियोग का प्रचार कुछ समय पर्य्यन्त तो ठीक ठीक चलता रहा। परन्तु काल के उसी शाश्वतचक्र से आगे जाकर पुनः वही द्वन्द्वभाव उपस्थित होगया। भगवत्-तत्व के लीला-संवरण करने के अनन्तर परीक्षित से आरम्भ कर दूसरे परीक्षित पर्य्यन्त (लगभग २ सहस्र वर्ष-पर्य्यन्त) तो यज्ञकर्म्मानुगत ज्ञानयोगलक्षण बुद्धियोगमार्ग येन केन रूपेण सुरक्षित बना रहा। परन्तु कलिकृपा से बढने वाली भोगैश्वर्य्यवासनाओं के आकर्षण से मानवसमाज क्रमशः अपने कर्म्ममार्ग से ज्ञान का निष्काशन करने लगा। कैसा सुसङ्गत परिवर्त्तन हुआ। आरम्भ में (देवयुग में) दोनों थे, परन्तु स्वतन्त्ररूपेण। अतः बुद्धियोगनिष्ठा का आविष्कार हुआ। त्रेता में कर्म्म शिथिल पड़ गया था, ज्ञान प्रधान बन गया था। रामावतार ने सम्यक्चारित्र्य की व्यावहारिकी शिक्षा देकर ज्ञान में कर्म्म का समावेश कर पुनः बुद्धियोग का उद्धार किया। आगे जाकर द्वापरान्त में पुनः उसी देवयुग की पुनरावृत्ति हुई। अर्थात् रहे ज्ञान-कर्म्म दोनों। परन्तु देवयुग की भाँति-"एकं साङ्ख्यं च योगंच यः पश्यति स पश्यति" रूपसमदर्शनमूलक बुद्धियोग पुनः लुप्त होगया। दोनों के समन्वय कराने के लिए पुनः उसी वासुदेवतत्त्व को पूर्णावतार धारण कर पूर्ण, एवं समत्व-लक्षण उसी विलुप्त योग का दर्शन कराना पड़ा। परीक्षितान्त तो यह योग चलता रहा, परन्तु आगे जाकर ज्ञान गौण बन गया, कर्म्म प्रधान बन गया। ज्ञानगर्भिता यज्ञकर्म्मनिष्ठा प्रधान बन गई। लोग भोगैश्वर्य्यों की कामना में फँस कर यज्ञ को आत्मपचन का कारण बनाने लगे। "कर्म्मण्येवाधिकारस्ते" का स्थान "फले-एवाधिकारस्ते" ने छीन कर लोकसंग्रहमूलक सर्वहुतयज्ञ का स्वरूप विकृत कर दिया। २ के साथ ही अनेक देवतावाद ने भी बल पकड़ा। साधनरूपा देवोपासना साध्यकोटि में प्रविष्ट होगई।

तान्त्रिकमार्ग ने वैध पद्धतियों को छोड़कर इन्द्रियलोलुप्ता का आसन ग्रहण कर लिया। शास्त्रीय यज्ञ-कर्म्म में विहित आवश्यक पशुपुरोडाशनें दैनिक भोजन का स्थान ग्रहण कर लिया। शास्त्रीया अहिंसारूपा हिंसा ने अज्ञानवश घोर हिंसा का रूप धारण कर लिया। ब्राह्मणों का धर्म्माचरण एकबारगी ही पापाचरण बन गया। ईश्वरवाद, देवतावाद की ओट में मानवता कुचली जाने लगी।

७३- वस्तुस्थिति के स्वरूपोपशम के लिए अपेक्षित अंशावतार, तद्रूप बुद्धमत-प्रवर्त्तक-गौतमबुद्ध, एवं तदनुप्राणित अहिंसादि पथ—

फलतः अब एक ऐसे अंशावतार की आवश्यकता हुई, जो कर्म्म के इस बीभत्स अशास्त्रीय आक्रमण से विश्व की बढ़ती हुई अशान्ति का विरोध करे। ईश्वरता-देवत्व आदि की ओर से दृष्टि हटाकर मानव-सुलभ सत्य-अहिंसा-वैराग्य-अस्तेय आदि सामान्यधर्मों का प्रचार कर इनके द्वारा समाज का दृष्टिकोण दूसरी ओर मोड़दे। ऐसा ही हुआ। सर्वश्री गौतमबुद्धने यही किया, जैसाकि उनके कर्त्तव्यों, एवं उपदेशों से स्पष्ट है।

७४-बुद्धमत की परम्परानुगति, तथा नूतनता के सम्बन्ध में नीरक्षीरविवेक, एवं ब्राह्मणधर्म्म की प्रतिच्छाया से ही अनुप्राणित बुद्धमत का स्वरूप-दिग्दर्शन—

लोग समझते होंगे, बुद्ध कोई नवीन धर्म्म है। परन्तु इस समझ में बड़ी ही भ्रान्ति है। हमें तो यह स्वीकार कर लेने में अणुमात्र भी आपत्ति नहीं है कि, बुद्धमत शाश्वत सनातनधर्म्म का ही (सामयिक सुधारयुक्त) एक रूपान्तर है। बुद्धने प्रधानरूप से जो तीन उद्देश्य समाज के सामने रक्खे थे, वे ही इस सिद्धान्त के पूर्ण समर्थक हैं।

७५-संघभावना से विच्छिन्न कलहमूलक कलियुग, शक्तिसञ्चयानुगत 'संघ' वाद, तच्छरणागति, तत्प्रतिष्ठारूप धर्म्म की शरणागति, एवं बुद्धघोषणाएँ—

स्वार्थवश समाज, एवं राष्ट्र की संघशक्ति छिन्न भिन्न होगई थी। पहिला उद्देश्य बुद्ध का यही था कि, बिखरा हुआ राष्ट्रव्रज पुनः सुसंगठित बन जाय। इसी उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए उन्होंनें सर्वप्रथम —"संघं शरणं गच्छामि" का तुमुलनाद करना आवश्यक समझा। संघठन के प्रचार के लिए ही वीतराग भिक्षुओं के बड़े बड़े संघ स्थापित हुए। साथ ही बुद्ध यह भी समझते थे कि, जबतक संघ का आधार धर्म्म नहीं बनेगा, तबतक संघ स्थिर नहीं रह सकेगा। फलतः संघघोषणा के साथ साथ ही इन्होंनें दूसरी घोषणा की—"धर्म्मं शरणं गच्छामि"।

७६-बुद्धावतार से पूर्व धर्म्मस्वरूप-विमर्श, तद्युगानुगता धर्म्मभावनाओं का कलिमूलक स्वरूपाविर्भाव, बुद्धिशरणात्मक बुद्धियोग के द्वारा ही तन्निस्तारोपाय-प्रदर्शन, एवं तद्रूपान्तर की ही शरणागति से अनुप्राणित बुद्धमत—

क्या बुद्धावतार से पहिले धर्म्म न था ? । था, और अवश्य था। परन्तु जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है, ब्राह्मणधर्म्म एकेश्वरसिद्धान्त को भुला कर नानापर्वों में विभक्त होगया था। दूसरे

शब्दों में-व्यापक धर्म्मने नानामतवादों का बाना पहिन लिया था। और इस विभिन्न मतवाद का मूल-कारण था-मानवसमाज की मानसजगत् की विषयभोगों की ओर स्वाभाविकी प्रवृत्ति। मनुष्य का बुद्धि-तत्त्व लुप्त होगया था, केवल मानस-जगत् का साम्राज्य रह गया था। मनमाने ढँग से धर्म्म को मनमाना रूप दे दिया गया था। बौद्धजगत् मानसजगत् का दास वन गया था। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि पूर्णावतार का समदर्शनमूलक बुद्धियोग विलुप्त होचुका था। इसी का रूपान्तर से पुनरुद्धार करने के लिए, मानसमत को बौद्धधर्म्म का स्वरूप प्रदान करने के लिए ही सर्वश्री बुद्ध का—"बुद्धं शरणं गच्छामि" यह आदेश संसार के सामने आया, जो कि आदेश-"बुद्धौ शरणमन्विच्छ" इस गीतादेश का ही रूपान्तर है।

७७-अवग्रहात्मक सामान्यज्ञान, तथा अवगमात्मक विशेषज्ञान का तारतम्य-समन्वय, सनातन-ब्राह्मणधर्म्म, एवं तत्प्रत्यंशरूप ही बुद्धमत का दिग्दर्शन—

अवग्रहज्ञान का जहाँ मानस के सामान्य-ज्ञान से सम्बन्ध है, अवगम का वहां बौद्धक विशेष ज्ञान से सम्बन्ध है। अवग्रहज्ञान की सफलता अवगमज्ञान ही माना गया है (देखिए दा० दृष्टि से आत्मपरीक्षा प्रथम खण्ड)। बुद्धियोग की प्रतिष्ठा यही अवगमज्ञान (बौद्धिक विशेषज्ञान) है। अवगम ही विषयावगति (सम्यक् ज्ञान) का कारण है। सुगतबुद्ध ने अवगमात्मक इसी अवगमभाव की शरणागति का आदेश दिया है। निदर्शनमात्र है। बुद्धमत-सम्बन्धी ऐसे अनेक उदाहरण उपस्थित किए जासकते हैं, जो गीता में अपना मूल ज्यों का त्यों सुरक्षित रख रहे हैं। इन्हीं सब परिस्थितियों के आधार पर हमें मानना पड़ेगा कि, बुद्धमत सनातनधर्म्म, किंवा ब्राह्मणधर्म्म का ही समसामयिक एक नवीनरूप था।

७८-बुद्धमतानुबन्धी आर्य्यसत्यचतुष्टय, दुःखवाद, अनात्मवाद, आदि विभिन्न वादों की मूलप्रतिष्ठात्मक-सर्वधर्म्मस्रोतमूर्त्ति ब्राह्मणधर्म्म का पावन-संस्मरण, एवं तदाधारेणैव राष्ट्र का महाराष्ट्रत्व—

इसके अतिरिक्त बुद्धदेव के- आर्यसत्यचतुष्टय, दुःखवाद, अनात्मवाद, अनित्यवाद, जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधिवाद, मध्यमपथवाद, (मज्झिमनिकाय), अशुचिवाद, अविद्यावाद, निर्वाण-तृष्णाक्षयवाद, ज्ञानयज्ञवाद, अनीश्वरवाद, कर्म्मवाद, मैत्र्यादि भावनावाद आदि आदि और और सिद्धान्त भी कोई अपूर्व आविष्कार नहीं हैं। सबका मूल ब्राह्मणधर्म्म में यत्र तत्र ज्यों का त्यों उपलब्ध होता है। ऐसी दशा में इस महासम्प्रदाय को, जिसका विस्तार अतुलित है, हिन्दुत्व से पृथक् मान लेना सचमुच ब्राह्मणधर्म्मवादियों की महाभ्रान्ति है। कौन कहता कि-बुद्धमत ब्राह्मणधर्म्म का विरोधी है ?। कौन कहता है कि, वे और हम पृथक् हैं ?। इसमें कोई सन्देह नहीं कि, जिस दिन हम अपने सीमित दृष्टिकोण को उदार बनालेंगे, उस दिन हमारा आज का स्वल्पकाय राष्ट्र एक महाराष्ट्र के रूप में परिणत होजायगा।

७९–बुद्ध के द्वारा ब्राह्मणधर्म्मात्मक कर्म्ममार्ग में 'बुद्धि' का समावेश-प्रयास, तत्पथानुधर्म्मा अभिनिविष्ट भिक्षुओं के द्वारा 'बुद्धि' की 'बुद्धिवाद' रूप में परिणति, तन्मूला अनर्थपरम्पराएँ, एवं तच्छमनाय भगवत्पाद श्रीशङ्कराचार्य्य का आविर्भाव, एवं पुनः ब्राह्मणधर्म्मात्मिका सनातननिष्ठा का संस्थापन —

तात्पर्य्य, बुद्धावतार ने कर्म्ममार्ग में बुद्धिवाद का समावेश कर एक नवीन रूप से ही बुद्धियोग का आदर्श तत्कालीन मान समाज के सामने रक्खा। परन्तु अन्ततः तो ठहरा यह मानवसमाज ही। मन की स्वाभाविकी उच्छृंखलता ने पुनः अविद्यापथ का अनुगमन करना आरम्भ कर दिया। बुद्धदेव के वास्तविक मर्म्म को न समझ कर तदनुयायी अभिनिविष्ट भिक्षुओं के प्रचार से, तदनुगामी राजवर्ग के सहाय्य से ब्राह्मणधर्म्म पर प्रत्यक्षरूप से आक्रमण होने लगे। अहिंसाने, वैराग्यने, अनीश्वरवादने मूलसंस्कृति की जड़ों पर आघात करना आरम्भ कर दिया। अनेकेश्वरवाद के उपशम के लिए बुद्धदेव की ओर से जिस कल्पित अनीश्वरवाद का थोड़े समय के लिए विकास हुआ था, उसने अनुयायीवर्ग की अविद्या से अभिनिवेश का रूप धारण कर पुनः संसार में एक भीषण परिस्थिति उत्पन्न करदी। इसी परिस्थिति को सँभालने के लिए भगवान् शङ्कराचार्य्य का अवतार हुआ। अनेकेश्वरवाद से जनता पहिले ही कटु अनुभव कर चुकी थी। अतएव श्रीशङ्कर ने एकेश्वरवाद को आगे करते हुए, अद्वैतब्रह्म की स्थापना से ही पुनः ब्राह्मणधर्म्म को प्रतिष्ठित किया। साथ ही शङ्कर यह भी अनुभव कर रहे थे कि, यदि ब्राह्मणधर्म्म के विधि भाग के द्वारा सम्मत यज्ञकर्म्म को सहसा जनता के सामने पुनः रख दिया जायगा, तो जनता भड़क उठेगी। क्योंकि अनेकेश्वरवाद की ही भाँति यह यज्ञकर्म्म भी समाज को त्रस्त कर चुका था। इन्हीं सम्पूर्ण परिस्थियों को लक्ष्य में रखते हुए आचार्य्यने अनीश्वरवाद का आमूलचूड़ उन्मूलन करने ही में लोकसंग्रहरक्षा की दृष्टि से बुद्धसम्मत जगन्मिथ्यात्ववाद को सुरक्षित रखते हुए, अनेकेश्वरवाद की उपेक्षा सी करते हुए ब्राह्मणधर्म्म के उपनिषत् भाग के द्वारा सम्मत ज्ञानयोग का ही आदर्श समाज के सामने रखना आवश्यक समझा। कहना न होगा कि, ब्राह्मणधर्म्म के इस संशोधितरूपने एकबार पुनः भारतवर्ष में इसी का प्राधान्य उपस्थित कर दिया था।

८०–श्रीशङ्कर के सायिक अद्वैतमार्ग का कालान्तर में शैथिल्य, तत्संशोधन के लिए सन्नीभूत वैष्णवधर्म्म–परायणा भागवत–सम्प्रदाएँ, तन्मूला साम्प्रदायिकी भक्ति, एवं विधि के दुर्विपाक से कालान्तर में उसका भी स्वरूपाभिभव —

आचार्य्य श्रीशङ्कर का अद्वैतमार्ग भी अधिक समय पर्य्यन्त सुरक्षित नही रह सका। वह विश्वतीत अद्वैतवाद, वह कर्म्मवैराग्य, वह सगुणोपासनाका तिरस्कार जनता अधिक समय पर्य्यन्त सहन न कर सकी। योग के प्रबल समर्थक सर्वश्री कुमारिल, मण्डनादि तो शंकरकाल में ही पनप चुके थे। कुछ ही समय पीछे भगवत्पाद रामानुज–वल्लभ–निम्बार्क–माध्व–आदि परम भागवत अवतारोंनें भक्तियोग को जाग्रति प्रदान की। शंकर का अद्वैतवाद लुप्तप्राय होगया। भागवत-सम्प्रदायोंनें भक्ति का पूर्णरूप से प्रसार कर दिया। कर्म्म-ज्ञान-मार्गों में भक्तिसुधा प्रवाहित कर दोनों नीरस पथों को सरस बना दिया गया। परन्तु शतशः प्रणाम है उस कालपुरुष को, और विधि के उस विचित्र विधान को, जिसने इस भागवत–सम्प्रदाय को भी चिरकाल पर्य्यन्त स्वस्वरूप से सुरक्षित नहीं न रहने दिया।

८१–भागवत--सम्प्रदायाचार्य्यों के मूलसिद्धान्तों के अभिभवकर्त्ता सम्प्रदाय के व्याख्याता, तत्र परम--भागवत--शुद्धाद्वैत--सम्प्रदाय--प्रवर्त्तक आचार्य्यप्रवर की मान्यताओं का पावन--संस्मरण—

भागवत--सम्प्रदायों के आविर्भावक मूल आचार्य्यों के मूल सिद्धान्तों का अन्वेषण करने पर विज्ञ पाठकों को बिना किसी नच नुच के यह मान ही लेना पड़ेगा कि, प्रत्येक आचार्य्य ने अपनी सम्प्रदाय के मूल में प्रस्थान-त्रयी (गीता-व्याससूत्र-उपनिषत्) को ही प्रतिष्ठित किया है। इन भागवत वैष्णवाचार्यों का भक्तिमार्ग शास्त्रनिष्ठा को, शास्त्रसिद्ध वर्णाश्रमधर्म्म को मूल मान कर ही आगे बढ़ा है। उदाहरण के लिए वल्लभसम्प्रदाय को ही लीलिए, जिसने "वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि। समाधिभाषाव्यासस्य" कहते हुए अपनी अपूर्व शास्त्रनिष्ठा ही सिद्ध की है, जिस का कि पूर्वखण्डान्तर्गत 'प्रतिमापूजन, और उपासना' नामक प्रकरण के आरम्भ में भी दिग्दर्शन कराया जाचुका है।

८२–विभिन्न--साम्प्रदायिक-संघर्षों के दुस्परिणामस्वरूप--आततायी- विदेशियों का भारतराष्ट्र में प्रवेश, तद्द्वारा देश--दुर्दशा, एवं अन्ततोगत्त्वा अनन्यशरण--भगवान् 'राम' के महान् संस्मर्त्ता महात्मा तुलसी का प्रादुर्भाव, एवं तद्द्वारा रामभक्ति के माध्यम से धर्म्मनिष्ठा का अंशतः संरक्षण--प्रयास—

हुआ क्या ?, सुनिए। स्वार्थी मनुष्यों की स्वार्थलीलाने आगे जाकर वैष्णव--सम्प्रदायों के मौलिक सिद्धान्तों को सर्वथा कुचल कर केवल कल्पना के आधार पर इन्हें नवीन ही स्वरूप देडाला। भक्तिप्रसारक भागवत धर्म्म मुक्तिप्रसारक बन गया। ईश्वरपूजा का स्थान व्यक्तिपूजाने छीन लिया। उपासना की साधनरूपा भगवत्-प्रतिमाएँ विलासलीला की साधिका बना डालीं गईं। शान्तिसंवाहक आचार्य्यों का सन्देश गृहकलह का कारण बना दिया गया। शैव--वैष्णवों में परस्पर वह सिरफुटौवल चली, वह द्वन्द्व चला, जिसे देख सुनकर हृतकम्प होजाता है। शास्त्रों को अपने मतवाद-पोषण का साधक बना कर उन का वास्तविक तात्पर्य्य सर्वथा तिरोहित कर दिया गया। भक्तिमार्ग ने ज्ञान--वैराग्य का परित्याग कर वर्णाश्रमधर्म्म की सर्वथा उपेक्षा ही कर दी।

८३–महात्मा--तुलसी के युग से अनुप्राणिता भयावहा विषमा स्थिति, एवं पण्डितम्मन्यों के उच्छृंखलवाद—

उधर इसी युग में देश के दुर्भाग्य से देश विधर्म्मियों के हाथ चला गया। उनके संसर्ग से यहां की संस्कृति पर अत्यन्त ही दूषित प्रभाव पड़ा। संस्कृतभाषा का प्रचार प्रसार अवरुद्ध होगया। संस्कृतज्ञ विद्वान् सम्प्रदायभक्ति के आवेश में पड़कर केवल साम्प्रदायिक ग्रन्थों के, नाममात्र के लिए दर्शनादि-ग्रन्थों के जाल में फँस गए। वैदिक-संस्कृति लुप्त होगई। सच्छास्त्र पाखण्ड--विवाद से लुप्त होगए। जनता के मुख से एक स्वर से त्राहि माम् ! त्राहि माम् !! की पुकार निकल पड़ी। दुःखी अन्तःकरणों से पुनः उसी अन्तिम आश्रयभूत "राम" नाम का विनिर्गम हुआ। और आर्य्यजाति के सौभाग्य से इस नाम को पुनः--प्रोत्साहित किया स्वनामधन्य गोस्वामिप्रवर सर्वशास्त्रमर्म्मज्ञ महात्मा तुलसीने।

८४–युगधर्म्मानुगता स्थिति के परपारदर्शी महात्मा तुलसी के द्वारा 'लोकभाषा' के माध्यम से ही 'रामचरित-मानस' का प्रणयन, एवं गीता, तथा रामायण के द्वारा ही आर्षसंस्कृति का आंशिक-संरक्षण—

तुलसी के सामने परिस्थिति अवश्य ही भयानक थी। तुलसी ने देखा कि, सम्प्रदायों ने भक्ति की ओट में वर्णाश्रमधर्म्म का गला घोंट डाला है! विदेशियों के संसर्ग से संस्कृतभाषा लुप्त होगई है। परिणाम इस का यही हो रहा है कि, अधिकांश में मानवसमाज स्वयं शास्त्रमर्म्म समझने में असमर्थ रहता हुआ उन अभिनिविष्ट पण्डितों के हाथ की ही कठपुतली बन रहा है, जोकि पण्डितम्मन्य स्वार्थसाधन को आगे करते हुए शास्त्रों के वास्तविक मर्म्म को उलटा सीधा समझा ने का पापकर्म्म कर रहे है।

८५–नामस्मरणात्मिका भक्ति का वर्त्तमानयुगनिबन्धन सर्वथा आलोच्य-दृष्टिकोण –

इन्हीं सब परिस्थितियों का अथ से इतिपर्य्यन्त अध्ययन कर महात्मा तुलसी इस निश्चय पर पहुँचे कि, इस समय समाज को ऐसे साहित्य की आवश्यकता है, जो सामयिकभाषा में हो, जिस में सामयिक भाषा के द्वारा शास्त्रों का वास्तविक मर्म्म रक्खा जाय, वर्णाश्रमधर्म्म का मौलिक रहस्य प्रतिपादित रहे, और इस सब शास्त्रीय मार्गों का आधार बने "भक्तिवाद"। इसी उद्देश्य की सिद्धिके लिए तुलसी के द्वारा रामायण का आविर्भाव हुआ। कहना न होगा कि, तुलसी अपने उद्देश्य में सर्वात्मना सफल हुए। और आज इस भीषण युग के भीषण आक्रमणों को सहती हुई भी आर्य्यजाति यथाकथञ्चित् जो जीवित है, इस का प्रधान श्रेय तुलसी की रामायण को ही मिल सकता है। स्मरण रखने की बात है कि, उपदेश हमें चाहिए कृष्ण का, तो आदर्श चाहिए राम का। कृष्ण के गीत सुनें, राम अयन (गमन) का अनुसरण करें, इन्हीं दो सिद्धान्तों के आधार पर आर्य्यजाति जीवित रह सकती है। वह भक्तिमार्ग किस काम का, जिस में न कृष्ण का गीत हो, न राम का अयन हो। कृष्ण के बुद्धियोग से, एवं रामप्रदर्शित वर्णाश्रमधर्म्ममर्य्यादा से वञ्चित भक्तिमार्ग कभी त्रिकाल में भी रामकृष्ण के भक्तों का तो उद्धार नही कर सकता।

८६–भक्तों की घोषणा के माध्यम से प्रचलिता नामभक्ति के द्वारा विविध अनाचारों का आविर्भाव—

नामस्मरण अच्छा है, सर्वोत्तम है, परन्तु वर्णाश्रमानुगमन को मूल बना कर ही। संकीर्त्तन अच्छा है, परन्तु लोकसंग्राहक लौकिक-वैदिक कर्म्मों को मूल बना कर ही। कहना न होगा कि, प्रचलित मार्ग ने इस सब विभूतियों से वञ्चित करते हुए हमें सर्वथा अकर्मण्य ही बना डाला है। मानो भक्ति एक बाजारू सौदा हो। और सभी बड़ी सुगमता से उसे खरीद सकते हो!। आज जिसे देखो, वही भक्तराज बना हुआ है। गली गली में कीर्त्तन होरहे हैं। मानो शास्त्रनिष्ठाओं का कीर्त्तन होरहा हो। जिस भक्तिमार्ग में ज्ञान का समावेश नहीं, वैराग्य का गन्ध नहीं, कर्म्म का संग्रह नहीं, वह कैसी भक्ति ?, और कैसे उस के ये अनुयायी स्वार्थसाधक वञ्चक ?।

८७–नामभक्तिव्याज से वित्तैषणा के समर्थक-पूरक-नामभक्तों के प्रचलित, सर्वविनाशक अकाण्ड-ताण्डवों का नग्नचित्रण, एवं तन्निरोधार्थ प्रज्ञाशीलों से किञ्चिदिव आवेदन—

जिन भक्तवरों की दुहाई देकर आज के ये भक्त्यभिमानी जन्तु शास्त्रनिष्ठा की अनावश्यकता उद्घोषित कर रहे हैं, हम उन्हीं से यह पूँछते हैं कि, बतलाइए, वैसे भक्त संसार में कितने हुए हैं?। यदि जन्मान्तर-

निष्ठाओं के प्रभाव से दस–बीस–(सौ–पचास–अथवा -दस–बीस हजार–असम्भव) ऐसे महात्मा प्रकट होगए, जिन में प्रत्यक्ष में शास्त्रनिष्ठा का सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता, तो एतावता ही यच्चयावत् मनुष्य उसी अनधि- कृत मार्ग पर चलने लगें, क्या यह सम्भव होगा ?। अभ्युपगमपक्षवादका आश्रय लेते हुए थोड़ी देर के लिए यह मान लिया जाय कि, संसार के सभी मनुष्य इस पथ के अनुगामी बन सकते हैं, ऐसी दशा में संसार संसार रहेगा, अथवा पीड़ितों का करुण–क्रन्दस्थल, यह भी विचारणीय बात है।

८८–वर्त्तमान भक्तिवाद के अकाण्ड- ताण्डवों का नग्न चित्रण –

जो भक्तिमार्ग वर्णाश्रमसम्मत आचार-व्यवहारों की न केवल उपेक्षा ही करता हो, अपितु निन्दा करता हो, जहाँ का भक्तिमार्ग, भगवत्–प्रतिमाओं की प्राणप्रतिष्ठा पर बलवत् रूपसे से आक्रमण कर रहा हो जो भक्तिमार्ग मानवसमाज को स्वाभाविक वर्णसिद्ध कर्म्म से वञ्चित रखता हो, जो भक्तिमार्ग वेदादिशास्त्रों को एक ओर रख कर विशुद्ध कल्पना का अनुगमन करता हो, जिस भक्तिमार्ग में शास्त्रमर्म्मशून्य, वर्ण से भी अनधिकारी दम्भी व्यक्ति ब्राह्मणमण्डली को उपदेश दे रहे हों, जिस भक्तिमार्ग में भक्ति के व्यांज से भोली जनता को धोका देकर अर्थसञ्चय किया जारहा हो, जिस भक्तिमार्ग के अनुसरण से हम अपने स्वाभाविक कर्म्म से वञ्चित हो- जायँ, जिस भक्तिमार्ग के आक्रमण से देश का मौलिक साहित्य, विज्ञान, दर्शन, शिल्प, कला सब कुछ आपत्ति में पड़जायँ, कर्म्मज्ञानशून्य भक्ति का वह अशास्त्रीय पथ ओर देशों की बात तो जाने दीजिए, कम से कम आर्य्यावर्त्त के लिए, इस कर्म्मभूमि के लिए तो कभी अभ्युदयकर सिद्ध नहीं हो सकता। अभी भी कुछ नहीं बिगड़ा है। क्या हम आर्य्यावर्त्त के विद्वानो से यह आशा रक्खें कि, वे संघठितरूप से इस भयावह कल्पित भक्तिमार्ग का अवरोध कर आर्य्यावर्त्त की मौलिकता बचाने के लिए कोई प्रयास करेंगे ?।

८९–भक्ति के प्रासङ्गिक प्रक्रान्त इतिवृत्त का विराम, भक्तिस्वरूप की ओर आकर्षण प्रयास, भक्तिरूपा उपासना, तथा तन्निबन्धन उपास्य, एवं तद्विशेषभावों का संस्मरण–

प्रासङ्गिक–भक्ति–वक्तव्य समाप्त हुआ। अब भक्ति के स्वरूप की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है, जो कि इस प्रकरण का मुख्य विषय है। उक्त प्रासङ्गिक वक्तव्य से ही भक्ति का स्वरूप भी अधिकांश में गतार्थ होजाता है। केवल स्पष्टीकरण–अपेक्षित है। ईश्वरप्रजापति-ध्यानलक्षणा उपासना, यज्ञप्रजापति-कर्म्म-लक्षणा उपासना, विराट्प्रजापति-कर्म्मलक्षणा-उपासना, विश्वप्रजापति-कर्म्म-लक्षणा–उपासना, प्रतिमोपासना, अवतारलीलोपासना, नामस्मरणोपासना, संकीर्त्तनोपासना, आदि आदि उपासनामार्ग के जितने भी अवान्तर भेद अधिकारी की योग्यता के आधार पर व्यवस्थित हैं, वे सभी उपासनामार्ग शास्त्रसम्मत हैं, अतएव सर्वथा मान्य, एवं सर्वथा उपादेय हैं।

९०–भक्तिनिबन्धन साध्य–साधन--भावों का स्वरूप-संस्मरण, भक्ति के मध्यस्थ आधार का तात्त्विक स्वरूप--समन्वय, अधिदैवत, तथा अधिभूत–मूलक भक्तिकाण्ड, 'यस्य नाम महद्यशः' का प्रासङ्गिक-संस्मरण, श्रुति के--'नामैवैतत्', एवं 'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते' इत्यादि सन्दर्भोंका दिग्दर्शन, और भक्तिपथानुगत महतोमहीयान् राजमार्ग का स्वरूप--समन्वय—

"जीवात्मा उक्त किन्हीं भी साधनों में से किसी एक भी साधन को उपासना का माध्यमिक साधन बनाता हुआ उस उपास्य तत्त्व की घनशक्ति से युक्त होकर भूमाभाव में परिणत होजाय" उपासनाकाण्ड का

एकमात्र यही चरम लक्ष्य है। उपासना के सभी साधन साधन हैं, भौतिक हैं, अतएव अविद्यारूप हैं, आवरण रूप हैं, असत्य हैं। परन्तु यह भी निश्चित है कि, असत्य साधन हीं सत्यतत्त्वकी प्राप्ति के कारण बन सकते हैं। क्षरात्मक असत्य आवरण को हटाने के लिए अक्षर की प्रतिच्छाया से युक्त उस क्षरावरण का, दूसरे शब्दों में भौतिक आवरण का ही आश्रय लेना आवश्यक है। "भौतिक आवरण को माध्यमिक बनाने से जीवात्मा में जड़ता का उदय होगा" इस तर्क का उपासनाकाण्ड में कुछ भी महत्त्व नहीं है। क्योंकि उपासनासिद्धान्त के अनुसार भौतिक साधन पर केवल दृष्टि रहती है। मनोयोग रहता है, उसी व्यापक उपास्य पर ही। "अन्य पर दृष्टि, अन्य पर मन" यही उपासनासिद्धि का मूल मार्ग है। "अधिभूत पर दृष्टि, अधिदैवत पर मन", यही उपासना का वास्तविक स्वरूप है। हाँ, उस दशा में उपासनाकाण्ड अवश्य ही आवरक बन जाता है, जबकि उपासक साधनों को ही साध्य मान बैठता है। भगवत् प्रतिमा पर दृष्टि, जिस व्यापक ब्रह्म की यह कल्पित प्रतिमा है, उस ब्रह्म के साथ मनोयोग, यही उपासना उपासना है। नाम दृष्टि स्थिरता मात्र का कारण है। आत्मयोग, किंवा मनोयोग तो उसके साथ होना चाहिए, जिस का यह नाम है-'यस्य नाम महद्यशः'। यदि आप केवल नाम पर ही रह जाएँगे, तो श्रुति-"नामैवैतत्" कह कर आपका तिरस्कार कर देगी। "अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते" के अनुसार नाम-प्रतिमात्मिका शास्त्रसिद्धा-ज्ञानकर्म्मात्मिका, अपरा-प्रकृतिलक्षणा अपराविद्या क्षरात्मिका बनती हुई अविद्या है। साधनावस्था में हीं इसका महत्त्व है। साध्यदशा में तो उस पराविद्यात्मक अक्षरतत्त्व को ही लक्ष्य बनाना पड़ेगा। यही उक्त श्रुतिस्वारस्य है। एवं इस स्वारस्य की सिद्धि के लिए प्रत्येक दशा में शास्त्रीय पथ का ही अनुसरण आवश्यक है। क्योंकि यही मार्ग हमारे लिए राजमार्ग बनता है।

६१-शास्त्रीया कर्म्म--धर्म्म-निष्ठा से वञ्चिता नामभक्ति से सम्भावित भीषण--परिणाम, एवं तन्निबन्धन अधात्मक--आत्मपचन का दिग्दर्शन—

यदि शास्त्रीय ज्ञानकर्म की अवहेलना कर शास्त्ररूप लोकातीत महात्मा भक्तों की देखे देखी हम सामान्य लौकिक मनुष्य भी केवल नामपरायण बन जाएँगे, तो पद पद पर पतन का भय रहेगा। हमारा निर्बल आत्मा नाम के उस अतुलित भार को उठाने में समर्थ ही नहीं होसकेगा। इसप्रकार भागवत पुरुषों के आदेशों की उपेक्षा कर केवल उन के आचरण की नकल करने से ही हम कर्त्तव्य से विमुख होजाएँगे। हमारी गृहस्थमर्य्यादा छिन्न भिन्न होजायगी। हम लोकसंग्रह के विरोधी बन जायँगे। लोकसमुन्नतिमूलक कार्य्यों के सहयोग से वञ्चित होते हुए हम केवल आत्मवञ्चन के ही कारण बने रह जाएँगे।

६२ शास्त्ररूपा अर्गला से नियन्त्रित भक्तिमार्ग का ही वास्तविक भक्तिपथत्त्व, शास्त्र-निष्ठा से अनुप्राणिता गीता के द्वारा संशोधित ऐश्वर्य्यबुद्धियोगात्मक-बुद्धियोगरूप-भक्तियोग का तात्त्विक-स्वरूप--समन्वय—

शास्त्र ही हमारे लिए एक ऐसी अर्गला है जो कि, समय समय पर हमें उत्पथ मार्ग की ओर जाने से रोकती रहती है। पाप का भय ही हमें कर्त्तव्य की ओर आकर्षित करता है। इन सब परिस्थितियों को सामने रखते हुए हम सामान्य अधिकारियों का यही आवश्यक कर्त्तव्य होजाता है कि, विधिनिषेधात्मक शास्त्र को ही स्वकर्त्तव्य-कर्म्म के सम्बन्ध में प्रधान निर्णायक मानते हुए तदनुसार ही राजमार्गात्मिक भक्तिपथ

का अनुसरण करैं, जो राजमार्गात्मक भक्तियोग गीताशास्त्र में (राजविद्यासिद्ध)-"ऐश्वर्य्यबुद्धि" योग नाम से प्रसिद्ध हुआ है। गीता की दृष्टि से ऐश्वर्य्य-बुद्धियोग ही उपासना का वास्तविक स्वरूप है, जिस का कि संक्षिप्त निरूपण इसी उत्तर खण्ड की समाप्ति पर होने वाला है।

९३-लोकप्रचलिता योगत्रयी, शास्त्रीया योगत्रयी, एवं संशोधिता योगत्रयी के पारस्परिक-रहस्यात्मक तारतम्य का स्वरूप-समन्वय--प्रयास—

सम्भवतः अब पाठकों को यह बतलाने की आवश्यकता नहीं होगी कि, लोकप्रचलित ज्ञान, कर्म्म, भक्ति-योगत्रयी, शास्त्रीय-ज्ञान, कर्म्म, भक्ति-योगत्रयी, एवं गीतासम्मत ज्ञान, कर्म्म, भक्तियोगत्रयी, इन तीनों में अहोरात्र का अन्तर है। पूर्व की कर्म्मयोगपरीक्षा, एवं ज्ञानयोगपरीक्षा के उपसंहार में, और भक्तिपरीक्षा के पूर्वखण्ड में यत्र तत्र प्रसङ्गानुसार इन तीनों त्रिकों का स्पष्टीकरण किया जाचुका है। तीनों में से लौकिक त्रयी को तो छोड़ दीजिए। प्रकरणसङ्गति के लिए शास्त्रीय, एवं गीतासम्बन्धी दो योगत्रयी-भावों पर पुनः एक बार दृष्टि डाल लीजिए।

९४-शास्त्रीया योगत्रयी का सम्भावित तात्पर्य्य, एवं तत्संशोधित--शास्त्रीय--स्वरूप का सोदाहरण--स्पष्टीकरण--प्रयास—

शास्त्रीया योगत्रयी का तात्पर्य्य यही है कि, यद्यपि शास्त्र ने तीनों योगों का स्वरूप वही बतलाया था, जो कि गीता में प्रतिपादित हुआ है। परन्तु आगे जाकर मानव समाज के तत्तद्विशेष-व्यक्तियोंनें अभिनिवेश-वश उन तीनों का स्वरूप विकृत कर डाला। क्योंकि इन तीनों विकृत स्वरूपों का मूल शास्त्रीय योगत्रयी ही बनी थी। केवल इसी मूल सादृश्य को लेकर इस अशास्त्रीय, किंवा कल्पित, किंवा दूषित योगत्रयी को भी शास्त्रीय योगत्रयी नाम से व्यवहृत कर दिया गया है। इस शास्त्रीय दूषित योगत्रयी के निम्नलिखित लक्षण किए गए हैं, किंवा किए जासकते हैं, किंवा किए जायँगे।

९५-ज्ञानयोगः शास्त्रीयः, कल्पितः, दोषयुक्तः, अतएव त्याज्यः--(१)

सांसारिक दुःखी से बचने के लिए प्रत्येक मनुष्य का यह आवश्यक कर्त्तव्य होना चाहिए कि, सबसे पहिले वह यह विश्वास करे कि, नाम-रूप-कर्म्मात्मक यह दृश्य जगत् सर्वथा मिथ्या है, निःस्सार है, मृगमरीचिका है। इस जगन्मिथ्यात्त्ववाद की भावना को दृढ़मूल बनाकर निःश्रेयसभाव (मुक्ति) का आकांक्षी मनुष्य पुत्र-लोक-वित्त आदि सब कुछ छोड़ता हुआ संन्यास धारण करले। लौकिक वैदिक समस्त कर्म्मों का-एकान्ततः परित्याग करदे। निराहार, इन्द्रियसंन्यम आदि उपायों के द्वारा शरीर की काम-वासनाओं का बलात्कार से नियन्त्रण करता हुआ सर्वत्र सदा "अहं ब्रह्मास्मि" मूलक अद्वैतभाव की ओर झुकता हुआ केवल आत्मचिन्तन में हीं निमग्न रहै। भूल कर भी कर्म्मपथ की ओर दृष्टि नहीं डाले। क्योंकि कर्म्म प्रत्येक दशा में विशुद्ध ज्ञानमूर्त्ति आत्मा

का स्वरूप आवृत करने वाला है। जबतक यह विशुद्ध ज्ञानयोग का अनुगामी नहीं बन जायगा, तबतक इस सांसारिक दुःखपाश से कभी इस का छुटकारा नहीं होसकेगा, नहीं होसकेगा"।

—१—

६६–कर्म्मयोगः शास्त्रीयः, दोषयुक्तः, अतएव त्याज्यः—(२)

"कोई भी विचारशील इस सिद्धान्त का विरोध नहीं कर सकता कि, मानवसमाज के दुःख का संसार कारण नहीं है, अपितु आवश्यकताओं की अपूर्त्ति है। मनुष्य के लिए स्वास्थ्यप्रद भोजन, विनोद–सामग्री, समृद्ध वैभव, आदि जो सुख सामग्री अपेक्षित है, वह यदि यथेच्छ यथावसर मिलती रहती है, तो यह कभी दुःखी नहीं होता। दुःखी तभी होता है, जब कि आवश्यकता, एवं इच्छानुसार भोगैश्वर्य्य–सम्पत्ति नहीं मिलती। क्यों नहीं मिलती ?, इस प्रश्न का उत्तर भी स्पष्ट है। प्रकृति-विरुद्ध जाने से कर्म्म का स्वरूप बिगड़ जाता है। दूसरे शब्दों में–मनुष्य के दूषित अशास्त्रीय कर्म्मों से प्रकृति का स्वरूप बिगड़ जाता है। प्रकृतिकोप में यह इच्छापूर्त्ति में विफल–मनोरथ रहता है। ऐसी दशा में इस का यह आवश्यक कर्त्तव्य होजाता है कि, यह प्रकृतिसिद्ध कर्म्मों का ही अनुगामी बना रहे। उन प्रकृतिसिद्ध कर्म्मों के यज्ञ, तप, दान, इष्ट, आपूर्त्त, दत्त आदि अनेक अवान्तर भेद हैं। ये सब वेदविहित वैज्ञानिक कर्म्म हैं। इन के अनुष्ठान से यह समृद्ध रहेगा, एवं परलोक में भी स्वर्गादि उत्तम सुखों का अधिकार प्राप्त कर लेगा। इसप्रकार यावज्जीवन तत्तत् फलकामनाओं की सिद्धि के लिए तत्तत् विशेष यज्ञादि कर्म्मों में प्रवृत्त रहना हीं कर्म्मयोग कहलाएगा, एवं यही कर्म्मयोग मनुष्य के वैय्यैक्तिक अभ्युदय का मूलकारण बनेगा"।

—२—

६७–भक्तियोगः शास्त्रीयः, दोषयुक्तः, अतएव त्याज्यः—(३)

"सांसारिक भोगवैभव सुख के कारण हैं, इस सिद्धान्त में लेश भी तथ्य नहीं हैं। हम देखते हैं कि, जिन व्यक्तियों का स्वास्थ्य उत्तम है, साथ ही जिन के समीप पुत्रकलत्रादि प्रजासम्पत्ति, गृह-प्रासाद-वनोपवन-द्रव्यादि भौतिक सम्पत्ति, शासनबल आदि भी पर्य्याप्त मात्रा में विद्यमान हैं, वे भी अन्तर्जगत् में अशान्ति का ही अनुभव करते देखे गए हैं। और प्रत्यक्ष में भी देखा जाता है—(अनुभव किया जाता है) कि, सबकुछ साधन–सामग्री के रहते हुए भी, सबकुछ कर्म्म करते हुए भी यदि किसी अज्ञात कारणवश हमारा चित्त अशान्त रहता है, तो हमारा वे कर्म्म,एवं कर्म्म से

प्राप्त भोगवैभव-सुख के स्थान में दुःख के ही कारण बने रहते हैं। इस के अतिरिक्त क्षणिक कर्म्म से प्राप्त सुख साधक भौतिक वैभव भी क्षणिक ही माने जायँगे। जिस सुख की लालसा से हम कर्म्म करते हैं, कर्म्म सफल होता है, कर्म्म से सुखसाधक भोगवैभव प्राप्त होते हैं, वे भोगवैभव क्षणिक कर्म्म के आधार पर प्रतिष्ठित रहने के कारण हमारे देखते ही देखते ही विलीन होजाते हैं। और आगतवैभव की यह विनिवृत्ति हमें उस पूर्वावस्था से भी अधिक दुःखी बना डालती है, जिस अवस्था में कि हमारे समीप वे वैभव नहीं थे। ऐसी दशा में भोगवैभवप्राप्ति-साधक कर्म्म को सुख का कारण मान लेना कथमपि सुसङ्गत नहीं कहा जासकता। अवश्य ही अपने दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए अज्ञानवश कृत कुकर्म्म-जनित पापसंस्कारों को दूर करने के लिए हमें किसी तीसरे ही मार्ग का अनुगमन करना पड़ेगा, और वही मार्ग होगा सुप्रसिद्ध भक्तियोग। संसार का वैभव क्षण क्षण में परिवर्त्तित होता रहता है। महा महा वैभव क्षणमात्र में स्मृतिगर्भ में विलीन होजाते हैं। परन्तु इस नाशलीला के अणु अणु में व्याप्त उस जगदीश्वर पर इस उत्पत्ति-नाश का कुछ भी तो प्रभाव नहीं होता। बस हमें इसी के साथ सम्बन्ध जोड़ लेना चाहिए, जिस से कि इस के अनुग्रह से, इस की कृपा से मृत्युसंसारसागर, में हम त्राण पासकें। इसप्रकार आत्मज्ञान, यज्ञादिकर्म्म, आदि सब का परित्याग कर हमें खाते पीते, उठते, बैठते, सोते, जागते, सदा, नाम, प्रतिमा आदि को आधार बनाकर प्रणतभाव से उसी का स्मरण, अर्चन, गायन करते रहना चाहिए। इस प्रणतभाव से वह हम पर प्रसन्न होकर अनुग्रह करेगा, हमारे अनेक जन्म-सञ्चित पाप धो देगा, हम चिरन्तन-शान्ति के अनुगामी बन जायँगे। और यही सर्वोत्तम मार्ग भक्तियोग कहलाएगा।

—३—

९८-महाभारतयुग से पूर्वस्थिति, तदनुप्राणिता शास्त्रीया योगत्रयी का संस्मरण, तद्भेदनिबन्धना मानववर्गत्रयी, तत्सम्बद्धा निष्ठात्रयी, एवं 'लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा' का स्वरूप-समन्वय प्रयास, तथा गीता की तृतीया भक्तियोगनिष्ठा के सम्बन्ध में किञ्चिदिव आवेदन—

महाभारतकालानुगत गीतोपदेश से पहिले मानवसमाजने दुःख से त्राण पाने के लिए इन्हीं उक्त तीनों-शास्त्रीय-योगों को अपना रक्खा था। योगत्रयी के भेद से तत्कालीन मानवसमाज तीन श्रेणियों में विभक्त होरहा था। तीनों में परस्पर अहमहमिका चलती रहती थी। हिरण्यगर्भानुयायी कर्म्मठ मीमांसक यज्ञादिकर्म्म-प्रवृत्ति की ही सर्वश्रेष्ठता सिद्ध कर रहे थे। कपिलानुयायी सांख्य कर्म्मनिवृत्ति को ही निःश्रेयस का अन्यतम कारण मान रहे थे। एवं पुराणमतानुयायी भगवान् के अनुग्रह को ही सर्वेसर्वा मान रहे थे। यह स्मरण रखने की बात है कि देवयुग, एवं सत्ययुग में उक्त पौराणिक भक्तिमार्ग का विकास नहीं हुआ था। उस समय

भक्तिनिष्ठा योग (कर्म्म), सांख्य (ज्ञान) इन दोनों में ही अन्तर्भूता थी। इसलिए देवयुगकालीन योगों का सिंहावलोकन करते हुए भगवान्-ने "लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ !" यही कहा है। त्रेतायुग से ही भक्ति का उक्त पौराणिकरूप आविष्कृत हुआ, एवं द्वापर पर आते आते तो ज्ञान-कर्म्म-भक्ति, तीनों में से यह भक्तिमार्ग ही प्रधान बन गया। इसी लोकरूढि को संशोधनपूर्वक आदर देने के लिए द्वापरान्त में होने वाली अपने गीतोपदेश की पुनरावृत्ति में भगवान् को दो लोकनिष्ठाओं से अतिरिक्त इस तीसरी भक्तिनिष्ठा का भी समावेश करना पड़ा। इसके लिए भगवान् को स्वतन्त्ररूप से राजविद्या-रहस्यपूर्वक ऐश्वर्य्य-बुद्धियोग का निरूपण करना पड़ा, जो कि ऐश्वर्य्यबुद्धियोग गीता का भक्तियोग कहलाया।

९९-लोकप्रचलिता निष्ठात्रयी से अनुप्राणिता दोषों का स्वरूप दिग्दर्शन, एवं तत्संशोधक गीताशास्त्र के योगत्रयी से अनुप्राणित एक महान् लोकसंग्राहक-दृष्टिकोण का स्वरूप--समन्वय—

लोकप्रचलित तीनों निष्ठाओं में क्या दोष थे, जबकि उनका आधार निर्दोष शास्त्र था ?। इसके समाधान की कोई आवश्यकता नहीं है। एक सबसे बड़ा दोष यही था-कि, तीनों योग अपेक्षया लोकसंग्रह से वञ्चित होकर केवल स्वार्थलिप्सा की सिद्धि के ही कारण बन रहे थे। पाठक यदि अथ से इति पर्य्यन्त गीता के अक्षरों पर दृष्टि डालेंगे, तो सर्वत्र उन्हें उन अक्षरों से यही प्रतिध्वनि सुनाई पड़ेगी कि, "तुम्हारा ज्ञान, तुम्हारा कर्म्म, तुम्हारी भक्ति ऐसी होनी चाहिये, जिससे तुम्हारे साथ साथ संसार का भी बहुत, किंवा थोड़ा उपकार हो"। स्वार्थयुक्त परमार्थमार्ग ही विश्वशान्ति की, लोकाभ्युदय की, लोकसंग्रह की मूल प्रतिष्ठा है, इस सार्वजनीन-सिद्धान्त में किसी को कुछ भी तो विप्रतिपत्ति नहीं होसकती।

१००-सीमाभावात्मक 'स्वार्थ' की स्वरूप--मीमांसा, भूमाप्रतिबन्धक, तथा शान्तितुष्ट्यादि प्रवर्त्तक भूमाभाव, एवं 'परस्परं भावयन्तः' मूलक सहयोग से अनुप्राणित योग का स्वरूप--समन्वय —

स्वार्थ एक सीमाभाव है। सीमाभाव प्रत्येक दशा में भूमा का विरोधी है। शान्ति, तुष्टि, तृप्ति, आनन्द का वास्तविक स्वरूप भूमा ही है। अनुभव की बात है कि, ज्यों ज्यों हम अपनी दृष्टि, मन, बुद्धि आदि को सीमित बनाते जायँगे, संकुचित करते जायँगे, त्यों त्यों इन्द्रिय, मन, बुद्धि-सहकृत शारीराभिमानी शारीरक-आत्मा (जीवात्मा) की शक्तियां (स्वाभाविक विकास) भी सीमित, एवं संकुचित होतीं जायँगीं। परिणाम इस शक्तिसंकोच का यह होगा कि, हम अपने अभिलषित पदार्थों की केवल आशा ही आशा तो करते रहेंगे, परन्तु तदनुकूल कर्म्म हमसे नहीं होसकेगा। सदा हम अपने आपको असमर्थ ही पाएँगे। क्योंकि हमने हमारी अध्यात्मसंस्था को केवल अपने लिए नियत रक्खा, दूसरों को लाभ पहुँचाने की ही चेष्टा नहीं की, अपितु दूसरों को स्वार्थप्रतिबन्धक समझकर उन्हें हानि पहुँचाने का ही जघन्य प्रयत्न किया। अतएव हमारे उस कार्य्य में (जिसे कि हमारी अल्पशक्ति पूरा नहीं कर सकती) उन दूसरों का कोई सहयोग मिलेगा, और उस सहयोग से हम अपना कर्म्म सफल बनालेंगे, इसकी भी कोई आशा नहीं रही। यही क्यों, जब दूसरों के कर्म्म में हमारा सहयोग नहीं, अपितु हम उनके विरोधी हैं, तो वे भी हमारे कर्म्म में बाधा उपस्थित करें, इसमें कौनसा आश्चर्य है। और उस दशा में हम अपनी रही सही शक्ति को भी न पनपा सकें, तो इसमें भी क्या आश्चर्य है !।

१०१–सुख–शान्ति–विघातिका स्वार्थपरायणता, तज्जनित–शोक–परिताप, तन्मूला आसक्ति, तदनुगत पाशबन्धन, एवं आत्मविभूति का आत्यन्तिक अभिभव—

इसप्रकार हमारी स्वार्थपरायणता ही आगे जाकर सुख शान्ति के स्थान में शोक-परिताप का ही कारण बन जाती है। इस समान्य लौकिक दृष्टि से भी स्वार्थपरायणता एक हानिकरवृत्ति ही सिद्ध होती है। शास्त्रीय आत्मदृष्टि के सम्बन्ध में तो कुछ वक्तव्य ही नहीं है। स्वार्थभाव आत्मा की व्यापकता पर आघात करता है। स्वार्थमयी वृत्ति आसक्ति को प्रधानरूप से अपना प्राघुणिक बनाती है। आसक्तिभाव किस प्रकार हमारी आत्मविभूति का सर्वनाश कर डालता है ?, यह स्पष्ट किया ही जाचुका है।

१०२–शास्त्रीया लोकप्रचलिता योगत्रयी से अनुगता दोषभावना का स्वरूप-दिग्दर्शन, कर्म्मत्यागमूला महती भ्रान्ति, आसक्तिभाव निबन्धन महादोष, तथा दैवत–भौतिक–आत्मिक–भावत्रयी के तारतम्य से अनुप्राणिता योगत्रयी—

तीनों योगों के उक्त लक्षणों से पाठकों को विदित होगा कि, तीनों हीं मार्गों के मूल में स्वार्थमूला आसक्ति बैठी हुई है। तीनों में ज्ञानमार्ग तो आसक्ति के साथ साथ एक कल्पना का भी साम्राज्य बना हुआ है। देहधारी मनुष्य सब कर्म्मों का एकान्ततः परित्याग करदे, यह सर्वथा असम्भव है। फिर जब ज्ञानवत् कर्म्म भी आत्मा का प्रातिस्विक स्वरूप है, तो उसे छोड़ा भी कैसे जासकता है ? । इस दृष्टि से ज्ञानयोग की निःसारता सर्वात्मना सिद्ध होजाती है। कर्म्मयोग में स्वार्थमूला आसक्ति हैं, भक्तियोग में भी भगवदनुग्रह-फलकामनारूपा आसक्ति है। फलतः इन दोनों का भी त्याजभाव स्पष्ट होजाता है। इहीं सब दोषों को देखते हुए इन शास्त्रीय निष्ठाओं में संशोधन करना आवश्यक समझा गया है, एवं गीता के द्वारा संशोधित वे ही तीनों शास्त्रीय-योग गीतायोग बनते हुए (गीता में) ज्ञानबुद्धियोग (ज्ञानयोग का संशोधितरूप किन्तु गीता का ज्ञानयोग), धर्म्मबुद्धियोग (कर्म्मयोग का संशोधितरूप, किंवा गीता का कर्म्मयोग) एवं ऐश्वर्य्य-बुद्धियोग (भक्तियोग का संशोधितरूप, किंवा गीता का भक्तियोग) इन नामों से प्रसिद्ध हुए हैं, और इन तीनों की मूलप्रतिष्ठा बने हैं–क्रमशः अधिदैवत, अधिभूत-अधिदैवत एवं अधिभूत प्रपञ्च, जैसाकि अनुपद में हीं स्पष्ट होने वाला है।

१०३–दैवत, तथा भौतिक शब्दों के पारिभाषिक-अर्थों का स्वरूप-समन्वय, एवं तन्निबन्धन ज्ञान, और कर्म्मशब्दों की स्वरूप–व्याप्ति का दिग्दर्शन, तथा तन्निबन्धना ज्ञान–कर्म्म–भक्ति–योगत्रयी का स्वरूप–संस्मरण—

ज्ञानयोग का अधिदैवत के साथ, कर्म्मयोग का अधिभूत के साथ, एवं भक्तियोग का अधिदैवत–अधिभूत के साथ सम्बन्ध माना गया है। अधिदैवत, अधिभूत शब्दों का अनुगमभाव से सम्बन्ध है। अतएव तत्तद्विशेष प्रकरणों के अनुरोध से अधिदैवताधिभूत-शब्दों से तत्तद्विशेषभावों का, किंवा विशेष पदार्थों का ही ग्रहण किया जाता हैं। प्रकृत योगत्रयी से सम्बन्ध रखने वाले अधिदैवत शब्द का अर्थ है "ज्ञान"। एवं अधिभूत शब्द का अर्थ है-"कर्म्म"। लौकिक योगत्रयी हो, शास्त्रीय योगत्रयी हो, अथवा गीता की योगत्रयी ही है, सर्वत्र ज्ञान–कर्म्मरूप अधिदैवत, अधिभूत–भावों की ही प्रधानता मिलेगी। इन तीनों से

अतिरिक्त ज्ञान, कर्म दो विवर्त्त और हैं। एक सर्वोच्च धरातल पर प्रतिष्ठित है, एक सबसे अवरकोटि में प्रतिष्ठित है। इस ज्ञानकर्म द्वन्द्व के पञ्चक से योगत्रयी के भी पाँच विवर्त्त होजाते हैं। एवं पाँच विवर्त्तों के कारण अधिकारीवर्ग भी ५ भागों में ही विभक्त होजाते हैं। एक एक विभाग में तीन तीन योग हैं, अतः एक एक विभाग में तीन तीन अधिकारीवर्ग होजाते हैं। फलतः पञ्चधा-विभक्त ज्ञानकर्म-प्रपञ्च के पञ्चदशधा-विभक्त योगों के अनुयायी अधिकारी पञ्चदशधा हीं विभक्त होजाते हैं। जिसने पञ्चधा-विभक्त इस त्रिक रहस्य को जान लिया, उसने सब कुछ जान लिया। क्योंकि इस तीन पाँच से बाहिर और ज्ञातव्य कुछ भी नहीं बच रहता।

१०४-अप्रासङ्गिक, किन्तु योगस्वरूपानुबन्धेन प्रासङ्गिक विस्तारभाव के अनुगमन के सम्बन्ध में किञ्चिदिव आवेदन, एवं अध्यात्मसंस्था से अनुप्राणित पञ्चविध द्वन्द्वात्मक विवर्त्तों का स्वरूपान्वेषण-प्रयास—

थोड़ा अप्रासङ्गिक विस्तार तो होगा, परन्तु उपासना के वास्तविक स्वरूप को जानने के लिए उपादेय भी। अतः संक्षेप से इन १५ हीं विवर्त्तों का दिग्दर्शन कराना प्रासङ्गिक ही समझा जायगा। कोई अपूर्व, अश्रुत बात नहीं कहनी है। सभी तथ्य रूपान्तर से पूर्वप्रकरणों में यत्र तत्र कहे सुने हैं। अत्र तु समन्वय-मात्र कर लेना है। हाँ, इतना पहिले से ही अवधानपूर्वक लक्ष्य में रखना पड़ेगा कि, इन पांचों, किंवा १५ हीं विवर्त्तों की मूलप्रतिष्ठा केवल हमारी अध्यात्मसंस्था ही है। इसे लक्ष्य में रखते हुए पहिले यही विचार कीजिए कि, अध्यात्मसंस्था में ज्ञानकर्म के वे पांच द्वन्द्व कौन कौन हैं ?, जिन के आधार पर कि पञ्चधा-विभक्ता योग-त्रयी, किंवा १५ योग प्रतिष्ठित हैं।

१०५-'अहम्' भावानुगत-'हम' पदार्थ की स्वरूप-मीमांसा का उपक्रम, तद्गर्भित 'आत्मा', और-'शरीर' नामक दो महिमा-विवर्त्तों का पारिभाषिक स्वरूपान्वेषण प्रयास, एवं तदनुप्राणिता ज्ञान-कर्म्म विभूतियों का समन्वयात्मक दिग्दर्शन—

"हम" क्या हैं ?, इस प्रश्न के उत्तर में "आत्मा-शरीर" यह द्वन्द्वभाव तो सर्वसम्मत है। प्रत्येक आस्तिक बिना किसी नच नुच के यह तो स्वीकार कर ही लेगा कि, जिसे हम "हम" कहते हैं, उस "हम" की सीमा में (अहम् की सीमामें) एक तत्त्व तो ऐसा है, जो कभी नहीं बदलता, एवं एक तत्त्व ऐसा है, जो बदलता ही रहता है। न बदलने वाला भाग "आत्मा" कहलाता है, एवं बदलने वाला भाग "शरीर" कहलाता है। बदलने वाला शरीर प्रत्यक्ष में दीखता है, न बदलने वाला आत्मा अनुमानगम्य है। क्योंकि बदलने वाली वस्तु कर्म्म कहलाती है, न बदलने वाली वस्तु ज्ञान नाम से प्रसिद्ध है। इसी आधार पर हम न बदलने वाले आत्मा को "ज्ञान" कह सकते हैं, एवं बदलने वाले शरीर को "कर्म्म" कह सकते हैं। इसी विश्लेषण से अब हमें "हम" के सम्बन्ध में इस निर्णय पर पहुँचना पड़ा कि, जिसे हम "हम" कहते एवं समझते हैं, उस 'हम' में आत्मा नामक ज्ञानतत्त्व, एवं शरीर नामक कर्मतत्त्व दोनों का समन्वय है। ज्ञान-कर्म के समन्वितरूप का ही नाम "हम", "किंवा अहम्" (मैं) है।

१०६–केवल ज्ञानानुगत आत्मा, तथा केवल कर्म्मगर्भित-शरीर-रूपा-महती भ्रान्ति का निराकरण-प्रयास, एवं कर्म्मगर्भित ज्ञान का आत्मस्वरूपत्त्व, तथा ज्ञानगर्भित कर्म्म का शरीररूपत्त्व-समन्वय, और ज्ञान-कर्म्म का सुप्रसिद्ध 'ओतप्रोतभाव-सम्बन्ध', एवं-'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगण इव' का संस्मरण—

उक्त विवेचन से थोड़ी देर के लिए हमें कुछ ऐसी भ्रान्ति हो जाती है कि, मानो आत्मा केवल ज्ञानमूर्त्ति है, एवं शरीर विशुद्ध कर्म्ममूर्त्ति है। परन्तु थोड़ी तात्त्विकदृष्टि के आश्रय से इस भ्रान्ति का तत्काल ही निराकरण कर होजाता है। जिसे (आत्मा को) हम ज्ञानमूर्त्ति कहते हैं, वहां भी कर्म्म है। एवं जिसे हम कर्म्ममूर्त्ति कहते हैं, वहां भी ज्ञान विद्यमान है। अन्तर दोनों के ज्ञान कर्म्मों में केवल यही है कि, आत्म-सम्बन्धी ज्ञानकर्म्म निरावरण हैं, शरीरसम्बन्धी ज्ञान कर्म्म सावरण हैं। दूसरे शब्दों में आत्मरूप ज्ञानकर्म्म निवृत्तज्ञानकर्म्म हैं, एवं शरीररूप ज्ञानकर्म्म प्रवृत्तज्ञानकर्म्म हैं। विकास ज्ञान का स्वाभाविक धर्म्म है, आवरण कर्म्म का स्वाभाविक धर्म्म है। आत्मीय कर्म्म क्योंकि निवृत्तिभाव से विकासरूप बनता हुआ निरावरण है, अतएव आत्मीय कर्म्म को भी "ज्ञान" शब्द से ही व्यवहृत कर दिया जाता है। इधर शारीरिक ज्ञान क्योंकि प्रवृत्तिभाव से सावरण बना रहता है, अतएव शारीरिक ज्ञान को भी कर्म्म शब्द से ही व्यवहृत कर दिया जाता है। इसी दृष्टि से यद्यपि आत्मीय कर्म्म को कर्म्म शब्द से, शारीरिक ज्ञान को ज्ञान शब्द से व्यवहृत करने का अवसर नहीं आया है। परन्तु विवेक करते समय पाठकों को यह व्यवच्छेद कर लेना चाहिए कि, आत्मा भी ज्ञानकर्म्ममय है, एवं शरीर भी कर्म्मज्ञानमय है। कर्म्मज्ञानमय शरीर में ज्ञानकर्म्ममय आत्मा ओत (बुना हुआ) है, एवं ज्ञानकर्म्ममय आत्मा में कर्म्मज्ञानमय शरीर भी प्रोत है। शरीर में आत्मा ओत, आत्मा में शरीर प्रोत, यही आत्मा, और शरीर का ओतप्रोतसम्बन्ध है-"मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव"।

१०७–ओतप्रोतसम्बन्धानुगता 'सामान्यसत्ता', भातिभेद, और सत्ताभेद के आधार भेदाभेदव्यवस्था, तन्निबन्धना-'अनेजदेजद्विभूति', एवं आश्चर्य्य-भावनिबन्धन 'अहम्' पदार्थ के तात्त्विक स्वरूप-का समन्वय-प्रयास—

इस ओतप्रोतभाव की प्रतिष्ठा है-"सामान्यसत्ता"। दोनों कहने के लिए, समझने के लिए दो हैं। वस्तुतः सत्तादृष्ट्या दोनों एक हैं। भातिभेद प्रत्ययभेद का कारण बनता हुआ भी वस्तुभेद का कारण नहीं बनता। वस्तुभेद का कारण है "अस्तिभेद"। यदि आत्मा और शरीर, दोनों का भातिभेद के साथ साथ अस्तित्त्व भी भिन्न भिन्न होता, तो अवश्य ही अद्वयभाव में विरोध आसकता था। परन्तु ऐसी नहीं है। वही आत्मा शरीर है, वही आत्मा है। शरीर ही आत्मा है, आत्मा ही शरीर है। अनेजत् अवस्था में वही आत्मा है, एजत् अवस्था में वही शरीर है। सब से बड़ा आश्चर्य तो यह देखा कि, वस्तु एक, एक ही की अनेजत्–एजत् को अवस्थाएँ, दोनों अवस्थाओं में अश्वमहिषवत् महान् विरोध, फिर भी दोनों का एक साथ, एक ही बिन्दु में, एक ही प्रदेश में समन्वय। यदि– "अनेजदेकं मनसोजवीयः" लक्षण ऐसे इस अनिर्वचनीय के लिए स्वयं गीताचार्य्य के मुख से भी–"आश्चर्य्यवत् पश्यति कश्चिदेनम्" यह अक्षर-निकले, तो हमें कोई आश्चर्य्य नहीं हैं। क्योंकि आश्चर्य्यरूप तत्व का विश्लेषण आश्चर्य्य शब्द के अतिरिक्त और किस शब्द से होसकता है ! ।

१०८--ज्ञानकर्म्मविभूतिशाली आत्मभाव से अनुप्राणिता आश्चर्य्यपरम्पराओं का आश्चर्य्य-परानुबन्धी तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय, एवं हमारी कुण्ठिता प्रज्ञा—

पूर्व में जिस आश्चर्य्यरूप आत्मा, एवं आश्चर्य्यरूप शरीर का दिग्दर्शन कराया गया है, सम्भवतः पाठक उस आत्मा और शरीर से यह समझे होंगे कि, पाञ्चभौतिक नश्वर स्थूल शरीर ही शरीर है, एवं पाञ्चभौतिक शरीर को यावदायुर्भोग पर्य्यन्त सुरक्षित रखने वाला मन बुद्धयादि के योग से ज्ञानकर्म्म का सञ्चालन करने वाला जीवात्मा ही आत्मा है। यदि हमारी यह सम्भावना ठीक है, तो हमें कहना पड़ेगा कि अभी हम पाठकों को आत्मा और शरीर का स्वरूप नहीं बतला सके। बतलाया भी कैसे जाय, जबकि वह बतलाने की वस्तु ही नहीं। बतलाने वाली इन्द्रियां, समझाने वाला मन, समझने वाली बुद्धि, सभी कुछ तो वहाँ जाकर परास्त होजाते हैं। यदि उसका स्वरूप बतला दिया जाता, बतलाया जासकता, सुनाया जा सकता, समझाया जासकता, देखा जासकता, तो उसे आश्चर्य्य शब्द से क्यों सम्बोधित किया जाता ?।

१०९-लोकप्रसिद्ध, शास्त्र के द्वारा विस्तार से उपवर्णित आत्मा, तथा शरीर के सम्बन्ध में आश्चर्य्य का अभाव, एवं आश्चर्य्यभावानुबन्धी शास्त्रातीत पारिभाषिक आत्मभाव, तथा शरीरभाव का आश्चर्य्यमय संस्मरण-प्रयास—

जिसे अस्मदादि सामान्य मनुष्य "शरीर" कहते हैं, उस में आश्चर्य्य का कोई विषय नहीं है। आयुर्वेद ने स्थूलशरीर के सूक्ष्म से सूक्ष्म पर्वों का विश्लेषण कर दिया है। शरीर का कोई भी पर्व ऐसा नहीं है, जिस का आयुर्वेद की सहायता से, पर्वों के द्वारा प्रत्यक्ष न किया जासके। इसीप्रकार इस शरीरयष्टि की रक्षा करने वाले, वैदिक विज्ञानानुसार १०० वर्ष पर्य्यन्त स्थूलशरीर में रहने वाले, सुख दुःख, पापपुण्य, स्वर्ग-नरक, जन्ममृत्यु, बालादि षडवस्था, जाग्रतादि षडवस्था, जराव्याधि आदि षडूर्मि, आदि ३६ पाप्माओं से अनुगिभत जीवात्मा नामक आत्मा के सम्बन्ध में भी कोई आश्चर्य्य प्रतीत नहीं होता। जबकि आस्तिक दर्शनों ने जीवात्मा के पर्वों का स्पष्टीकरण कर आदर्शवत् उसका स्वरूप हमारे सामने रख दिया है। और साथ ही आश्चर्य्यरूप आत्मा-शरीर के सम्बन्ध में यह भी कहा गया है कि, आत्मा ही शरीर है, शरीर ही आत्मा है। दोनों अविनाभूत हैं। इधर हम शरीर और आत्मा के पार्थक्य का हम उस समय प्रत्यक्षवत् अनुमान लगा लेते हैं, जबकि यह शरीर छोड़ कर लोकान्तर में चला जाता है। शरीर यहीं पड़ा रहता है, आत्मा निकल कर चला जाता है, लोकान्तर में। इन्हीं सब अनाश्चर्य्यों के आधार पर हमें कहना पड़ता है कि, पूर्व में जिस आत्मा, एवं शरीर को आश्चर्य्य की वस्तु बतलाया है, वह इस जीवात्मा, तथा स्थूलशरीर से कोई भिन्न ही तत्त्व है।

११०-अनाश्चर्य्य से विभिन्न आश्चर्य्य, तत एव 'हम' पदार्थ का विलयन, एवं तद-नुप्राणिता वैतालवृत्ति, एवं विजिज्ञास्य-'अहम्' रूप-आश्चर्य्यमय 'हम' पदार्थ से अनुप्राणिता एक महती विप्रतिपत्ति, और तत्समाधनान्वेषण-प्रयास—

अच्छा मान लिया, वह आश्चर्य्य इस अनाश्चर्य्य से भिन्न है। परन्तु इस के साथ वह 'हम' पदार्थ भी विलीन होजायगा, जिस के कि सम्बन्ध में हमने वहीं अभिनिवेश के साथ यह कहा था कि, 'हम क्या

हैं ?, इस का उत्तर है—'आत्मा और शरीर'। यदि आत्मा जीवात्मा के, शरीर स्थूलशरीर के अभिप्राय से कहा जाता, तो जैसे तैसे फिर भी 'हम' का स्वरूप गतार्थ होजाता। परन्तु उक्त अभिनिविष्ट-वाक्य का विश्लेषण करते हुए आगे जाकर उपसंहार में यह कह दिया गया कि, 'हम' पदार्थ का आत्मा और शरीर दोनों आश्चर्य्य हैं। "पुनस्तत्रै वावलम्बितो वेतालः" । पुनः 'हम' पदार्थ गुहा में विलीन होगया। उस आश्चर्य्य के साथ जो कुछ समझे थे, वह और भूल गए, यह सबसे बड़ा आश्चर्य्य होगया। और इस से भी अधिक आश्चर्य्य वह माना जायगा कि, जो इस समस्या को सुलझा कर आश्चर्य्य को सुरक्षित रखता हुआ हमारा आश्चर्य्य दूर कर देगा—"आश्चर्य्यः कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्य्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः" (कठ० १।२।७) ।

१११-'एकं वा वा इदं वि बभूव सर्वम्' के आधार पर विप्रतिपत्ति का समन्वय-प्रयास—

आश्चर्य्यरूप आत्मा, एवं शरीर की समष्टि ही "हम" पदार्थ है, इस कथन में तो अणुमात्र भी असत्य नहीं है। हम हीं का, विश्व, एवं विश्व में रहने वाले यच्चयावत् स्थावरजङ्गम प्रपञ्च वही है, वही है, यह एकबार नहीं अनन्तर बार, और अभिनिवेश-पूर्वक कहा जायगा। 'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्' इस श्रौत सिद्धान्त का कौन विरोध कर सकता है ?।

११२-'हम' पदार्थानुबन्धी 'आश्चर्य्य' भाव की आश्चर्य्यता का निराकरण-प्रयास—

साथ ही—'हम क्या हैं ?, इस का उत्तर है, आत्मा और शरीर, और हम पदार्थ के भातिसिद्ध आत्मा, एवं शरीर, दोनों आश्चर्य्यरूप हैं' इस सिद्धान्त में भी चोदक्षेम का प्रवेश निषिद्ध है। अवश्य ही 'हम' से सम्बन्ध रखने वाले आत्मा-शरीर दोनों-साश्चर्य्य हैं, और ध्रुवसत्यरूप से साश्चर्य्य हैं। अब इस सम्बन्ध में विप्रतिपत्ति केवल यही रह जाती है कि, जब दर्शन, एवं आयुर्वेद आत्मा-शरीर दोनों का सर्वात्मना विश्लेषण कर उन का स्वरूप प्रत्यक्षरूप से हमारे सामने रख देता है, तो फिर इन्हें आश्चर्य्यरूप कैसे मान लिया जाय ?।

११३-आश्चर्य्य, तथा अनाश्चर्य्य-भावानुबन्धी-'हम' पदार्थ से अनुप्राणित निरूपाधिक, तथा सोपाधिक-भावों का स्वरूप-संस्मरण, एवं तदाधारेणैव प्रश्ननिराकरण-प्रयास—

प्रश्न यथार्थ है, और इस यथार्थ प्रश्न के यथार्थ समाधान के लिए यथार्थरूप से अध्यात्मसंस्था का ही स्वरूप सामने रखना पड़ेगा, जिस का कि विशद निरूपण भूमिका-द्वितीयखण्ड के 'आत्मपरीक्षा' प्रकरण में होचुका है। यहाँ केवल यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि, आत्मा-शरीर, इन दो भातियों को अपने गर्भ में रखने वाला "हम" पदार्थ (जिसे कि शास्त्रीय भाषा में 'अहम्' कहा जाता है) सोपाधिक, निरुपाधिक भेद से दो भागों में विभक्त है। सर्वोपाधिविनिर्मुक्त, प्रत्यस्ताशेषभेदरूप, अगोचर, अनिर्वचनीय 'हम' पदार्थ उसी का निरुपाधिकरूप है, एवं सर्वपरिग्रहयुक्त, सर्वोपाधिविनियुक्त [विशेषेण नितरां युक्तः], विकसिताशेषभेदरूप, गोचर, निर्वचनीय 'हम' पदार्थ उसी का सोपाधिकरूप है। निरुपाधिक 'हम' पदार्थ

व्यापक स्वरूप की कृपा से जहाँ शब्दशास्त्रातीत बनता हुआ आश्चर्य्य ही नहीं, अपितु महान् आश्चर्य्य है, वहां सोपाधिक वही 'हम' पदार्थ मायादि परिग्रहों की कृपा से शब्दशास्त्र का विषय बनता हुआ आश्चर्य्य की मर्य्यादा से बहिर्भूत है। उसे आश्चर्य्य भी कहा जासकता है-[निरुपाधिकदृष्टि से], उसे ही आश्चर्य्य-शून्य भी कहा जाता है-[सोपाधिकदृष्टि से]। फिर चाहे आश्चर्य्य अनाश्चर्य्य इन प्रतिद्वन्द्वी भावों का असम्भावित एक स्थान पर समन्वय भले ही पाठकों को आश्चर्य्य में डालता रहे, जिस आश्चर्य्य का कि कोई समाधान नहीं होसकता।

११४-'नेति-नेतीत्युपनिषत्' मूलक अत्यन्त रहस्य-पूर्ण-अहंभावानुबन्धी आश्चर्य्यमय-निरुपाधिक-महिमा-विवर्त्त, एवं तदाधारेण अभिव्यक्त अनाश्चर्य्यात्मक सोपाधिक-'हम' पदार्थ का स्वरूप-समन्वय-प्रयास —

इसप्रकार निरुपाधिक-सोपाधिक, इस दूसरे द्वन्द्व के समाश्रय से 'हम' पदार्थ-सम्बन्धी आश्चर्य्यानाश्चर्य्य-द्वन्द्वजनित मोह हट जाता है, और निरुपाधिक 'हम' पदार्थ की दृष्टि से 'आत्मा-शरीर की समष्टि 'हम' पदार्थ है, और दोनों ही आश्चर्य्यरूप हैं' यह सिद्धान्त अक्षुण्ण बचा रहता है। भ्रान्ति के कारण बने हैं-आत्मा-शरीर शब्द। सर्वसाधारणने आत्मा का अर्थ जीवात्मा समझ रक्खा है, एवं शरीर का अर्थ पाञ्चभौतिक स्थूलशरीर। अतः अब यह उचित होगा कि, भविष्य में होने वाली ऐसी ऐसी भ्रान्तियों को निःशेष बनाने के लिए उन निरुपाधिक के-आत्मा-शरीर भावों का कोई दूसरा ही नामकरण कर लिया जाय। पाठकों से अनुरोध है कि, वे भविष्य में निरुपाधिक 'हम' पदार्थ के आत्मा को तो 'रस' कहा करें, एवं शरीर को 'बल' कहा करें। साथ ही सर्वबलविशिष्टरसरूप इस 'हम' को भी 'हम' न कहकर भविष्य में-'नेतिनेति' कहा करें। क्योंकि जब उस व्यापक पर हमारी पहुँच नही, उस से कोई हानि लाभ नहीं, उस का परिज्ञान असम्भव, तो ऐसी दशा में उसे 'अहम्-हम-त्वं-तू आदि के झगड़ों में डाला ही क्यों जाय। फलतः 'नेति-नेति' के अतिरिक्त उस का और कोई नामकरण करना अपनी योग्यता का उपहास ही कराना है। कहिए उसे नेति नेति, मानिए उसे निरालम्बन। बस उसके सम्बन्ध में यदि पाठकोंनें इतना भी जान-लिया तो, उन्होंनें सबकुछ जान लिया, सबकुछ मान लिया-'नेतिनेतीत्युपनिषत्'।

११५-मीमांस्य-'हम' पदार्थ की मीमांसा का स्वरूप-समन्वय, एवं तन्निबन्धना उपाधि-परम्पराओं से अनुप्राणिता मीमांसा-परम्पराएँ —

हाँ, तो अब हमें हमारे उस 'हम' पदार्थ की मीमांसा करनी चाहिए, जो कि सोपाधिक बनता हुआ यथार्थ में हमारे 'हम भाव' को सुरक्षित बनाए हुए है, एवं जो कि यथार्थरूप से अध्यात्मसंस्था की प्रतिष्ठा है। निरुपाधिक से तो नेति-नेति कह कर ही बड़ी सुगमता से पीछा छुडा लिया जाता है। परन्तु यह सोपाधिकरूप तो सर्वात्मना से हमारे प्राणशोषण कर लेता है। भला यह भी कभी कैसे रक्खें, जब कि, यह उसी महद्‌मय का दूसरा अवतार है। शिव! शिव!! सोपाधिक तत्त्व पर आक्षेप करना सर्वथा अनुचित है। यदि आपको झगड़ना ही है, तो उन उपाधियों से झगड़िए, जिनने कि आपने अपना आपा (आत्मस्वरूप) खो रक्खा है।

११६–अहंतत्त्व से अनुप्राणित षड्विधपरिग्रह, तन्निबन्धन पञ्चविध अहंभावात्मक विभिन्न आत्मविवर्त्तों का स्वरूप संस्मरण—

जैसा कि भक्तिपरीक्षा-प्रकरण के आरम्भ में हीं बतलाया जाचुका है, निरुपाधिक एक तत्त्व को अनेक रूपों में परिणत करने वाली यह उपाधि माया, कला, गुण, विकार, अञ्जन, आवरण, भेद से ६ भागों में विभक्त है। इन उपाधियों से उस एक के ही पांच रूप बन जाते हैं, जिन्हें कि वहां षोडशीप्रजापति, सगुणप्रजापति, यज्ञप्रजापति, विराट्प्रजापति, विश्वप्रजापति, इन नामों से व्यवहृत किया गया है। वहीं यह भी स्पष्ट किया जाचुका है कि, माया–कला, इन दो उपाधियों से विराट् का, एवं आवरणोपाधि से विश्व का उदय हुआ है। छोडिए इस आधिदैविक सोपाधिक–प्रपञ्च को। विचार यही कीजिए कि, आपके आध्यात्मिक जगत् में वे पाँचों सोपाधिकरूप कौन कौन हैं ?।

११७–निरूपाधिक आत्मभाव का स्वरूप-संस्मरण, एवं तदाधारेण प्रतिष्ठित पञ्चविध सोपाधिक-आत्मविवर्त्तों का स्वरूप-दिग्दर्शनोपक्रम—

निरुपाधिक आत्मा [रस], एवं शरीर [बल], इन्हीं दोनों को उक्त उपाधिरूप परिग्रहों के सम्बन्ध से ५ सोपाधिक रूपों में विभक्त देखना है। साथ ही प्रत्येक विभाग में आत्मा–शरीर, इन दोनों का अन्वेषण करना है। इस दृष्टि, एवं अन्वेषण से ही काम बन जायगा। बन तो क्या जायगा, बना हुआ मानकर अपने मन में सन्तोष मान लिया जायगा। सन्तोष भी मान क्या लिया जायगा, कर लिया जायगा—'नान्यः पन्था विद्यते अयनाय'।

११८–उपाधि–परम्परानुगत–प्रत्यंशतम भी मानवीय–'अहम्' भाव का आश्चर्यमय–'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्' लक्षण अभिमान—

एक बात और। अध्यात्मसंस्था में हम जिन सोपाधिक आत्मविवर्त्तों का दिग्दर्शन कराने वाले हैं, उन्हें निरुपाधिक के विवर्त्त न समझ कर सोपाधिक के ही विवर्त्त मानना चाहिए। कारण स्पष्ट है। हम क्या, और हमारे सोपाधिकरूप क्या, जबकि हम सोपाधिक विश्वेश्वर के एक अंशमात्र हैं। उस निरुपाधिक का सोपाधिकरूप तो वह विश्वेश्वर है। हम (जीवसृष्टि) तो उस सोपाधिक की उपाधियों की उपाधियों के भी एक प्रत्यंशमात्र हैं। विदित नहीं, उस महान् सोपाधिक से कितनीं उपाधियों के विकसित होने पर उन के द्वारा उस महासोपाधिक का अंश हमारी अध्यात्मसंस्था का स्वरूप–समर्पक बनता है, फिर भी हमें अभिमान है—"पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्" इत्याकारक।

११९–निरुपाधिक तत् के आधार पर महिमावितानसम्बन्धने वितत ततसुत, ततसुता, एवं ततसुता–परम्पराओं से अनुप्राणित त्रयोदशविध–सोपान–परम्पराओं का तात्त्विक–क्रमिक–स्वरूप–समन्वय–प्रयास—

तत् से तत् सुता[1] का विनिर्गम, ततसुता से ततसुताओं[2] का विनिर्गम, तत् सुता, और तत् सुताओं से तत् सुत[3] का विनिर्गम, ततसुत से एक सहस्र तत् सुतों[4] का विनिर्गम, सहस्र ततसुतों में से एक तत् सुत से

तत् सुत का आविर्भाव, ततसुत से तत् सुत का जन्म, ततसुत से तत् सुत का व्यक्तीभाव, ततसुत् के प्रवर्ग्य भाग से तनसुता की स्वरूपनिष्पत्ति, ततसुता के प्रवर्ग्यभाग से तत् सुत की कान्ति का विकास, ततसुत् से ततसुताओं का प्रपात, तत् सुताओं से तत् सुताओं का उद्गम, तत् सुताओं की आहुति से सप्तधाराक्रम में ततसुन् का आविर्भाव, ततसुत् की आहुति से, इन अनेक परम्पराओं के पीछे "मद्भाव" का विकास, अब अनुमान लगाए, हमारा सोपाधिकरूप उस निरुपाधिक के कितने सोपाधिक-रूपों को आलम्बन बनाकर अपने आप को "हम" कहने में समर्थ हुआ है। यदि उक्त ततसुत-ततसुता की परम्परा का अनुमान लगाने में आप को कष्ट प्रतीत होता है, तो लीजिए! हम स्वयं ही आपके लिए इसका स्पष्टीकरण कर देते हैं।

१२०–तत् की महा ततसुता महामाया का माङ्गलिक-स्वरूप-संस्मरण, एवं तद्देश-विज्ञान—

आरम्भ का तत् सर्वबलविशिष्टरसमूर्ति साश्चर्य्य वही परात्पर है, जिसे कि पूर्व में निरुपाधिक नेतिनेति कहागया है। इस के एक प्रदेश में सर्वप्रथम 'महामाया नाम का तत्त्व प्रादुर्भूत होता है। क्योंकि माया का उद्गम तत्-रूप निरुपाधिक ब्रह्म के गर्भ में होता है, अतएव हम अवश्य ही इसे "ततसुता" (निरुपाधिक की सुता) कह सकते हैं।

१२१–ततसुता महामाया की ततसुता, तथा ततसुतों की वंशपरम्परा के क्रमसिद्ध-तात्त्विक-स्वरूपों का आत्ममहिमाविवर्त्तों के अनुबन्ध से समन्वय—

मायाबल के गर्भ में आगे जाकर १६ कलाओं का विकास होता है। अतएव इन्हें ततसुता (माया) की ततसुताएँ कहा जासकता है। ततसुतारूप माया, एवं ततसुताओंरूप कला, इन दोनों के समन्वय से मायी-महान् अश्वत्थमूर्ति षोडशीप्रजापति का विकास होता है। अतएव इसे हम ततसुता (माया) और ततसुताओं (कलाओं) का ततसुत कह सकते हैं। वेदमूर्ति, अतएव सहस्रमूर्ति इस षोडशीप्रजापति के गर्भ में एकसहस्र वल्शाप्रजापतियों का विकास होता है। अतएव इन्हें हम ततसुत के (षोड़शी-प्रजापति के) एकसहस्र ततसुत कह सकते हैं। सहस्रों में से एक ततसुत से सर्वप्रथम अव्यक्तस्वयम्भू का आविर्भाव होता है (अव्यक्तो व्यक्तयन्निदम्)। अतएव इसे (अव्यक्तस्वयम्भू को) हम ततसुत (षोडशी का) का अव्यक्तरूप ततसुत कह सकते हैं। इस अव्यक्तरूप ततसुत से (स्वयम्भू से) महल्लक्षण परमेष्ठी-प्रजापति का जन्म होता है, जो कि ब्राह्मणग्रन्थों में प्रतिमाप्रजापति नाम से भी व्यवहृत हुआ है। अतएव (परमेष्ठी को) इसे हम ततसुत (अव्यक्त स्वयम्भू) का ततसुत् कह सकते हैं। इस ततसुत (आपोमय परमेष्ठी) के गर्भ में सहस्ररश्मिमूर्त्ति हिरण्यगर्भप्रजापति (सूर्य्य) का व्यक्तीभाव होता है। अतएव इसे (सूर्य्य को) हम ततसुत (परमेष्ठी) का ततसुत कह सकते हैं। इस ततसुत (सूर्य्य) के प्रवर्ग्यभाग से इरामयी पृथिवी की स्वरूपनिष्पत्ति होती है। अतएव इसे (पृथवी को) हम ततसुत (सूर्य्य) की ततसुता कह सकते हैं। इस ततसुता (पृथिवी) के प्रवर्ग्यभाग से भास्वरसोम लक्षणा चन्द्रकान्ति (चन्द्रमा) का विकास होता है। अतएव इसे (चन्द्रमा को) हम ततसुता (पृथिवी) का ततसुत कह सकते हैं। इस ततसुत (चन्द्रमा) से पर्जन्य के सहयोग से वर्षाओं का प्रपात होता है।

अतएव इसे (वर्षाओं को) हम ततसुत (चन्द्रमा) की [१०]ततसुताएँ कह सकते हैं । । इन ततसुताओं के (वर्षाजलों के भूगर्भ में प्रवेश करने से) [११]ओपधिवनस्पतियों का उद्गम होता है । अतएव इन्हें (ओषधि-वनस्पति को) हम ततसुताओं (वर्षाओं) की [११]ततसुताए कह सकते हैं । इन ततसुताओं (ओषधि-वनस्पतिरूर अन्नों) की (शारीराग्नि में आहुति होने से रसासृङ्मांसादि सप्तधातु-परम्परा से सातवें क्रम में [१२]शुक्र का आविर्भाव होता है । अतएव इसे (शुक्र को) हम ततसुताओं (ओषधि-वनस्पतियों) का [१२]ततसुत कह सकते हैं । इस तत् सुत की (शुक्र की) आहुति से (स्त्रीगर्भाशयगत शोणिताग्नि के समन्वय से) [१३]मद्भात्र (पुरुषसृष्टि) का विकास होता है । यही उक्त तदनुमान, एवं ततसुत-सुतानुमान-परम्परा का संक्षिप्त स्पष्टीकरण है ।

१२२- 'तत्'-रूप-निरुपाधिक-'अहम्' पदार्थ की त्रयोदशविधा-वंशपरम्परा का तालिकारूपेण-समन्वय—

तत्—	निरुपाधिकः
१-ततसुता—मया	सोपाधिकमहमात्मा:
२-ततसुताः—१६ कलाः	
३-ततसुतः—षोडशीप्रजापतिः	
४-ततसुताः—सहस्रवल्शेश्वराः	
५-ततसुतः—स्वयम्भूः	
६-ततसुतः—परमेष्ठी	
७-ततसुतः—सूर्य्यः	
८-ततसुता—पृथिवी	
९-ततसुतः—चन्द्रमाः	
१०-ततसुताः—वर्षाः	
११-ततसुताः—ओषधिवनस्पतयः	
१२-ततसुतः—शुक्रम्	
१३-मद्भावः—पुरुषः	

१२३–आत्मविभूतिभावापन्ना सप्तविध–आत्मसंस्थाओं का स्वरूप–समन्वय—

आधिदैविक षोडशी–प्रजापति का अंश अध्यात्म में "प्रत्यगात्मा[1]" नाम से प्रसिद्ध है । यही आध्यात्मिक निर्गुण परमात्मा है—आधिदैविक स्वयम्भू का अंश अव्यक्तात्मा[2], परमेष्ठी का अंश महानात्मा[3], सूर्य्य का अंश विज्ञानात्मा[4], चन्द्रमा का अंश प्रज्ञानात्मा[5], पार्थिव इरारस शारीरिक आत्मा[6], एवं भूपिण्डांश अग्न्यात्मा[7] नाम से व्यवहृत होता है । इसप्रकार कुल सात संस्थाएँ होजाती है ।

१२४–सप्तविध–आध्यात्मिक–आत्मसंस्थाओं का अन्तन्तोगत्वा पञ्चविध आत्म–संस्थाओं में पर्य्यवसान—

सातों में प्रत्यगात्मसंस्था एक स्वतन्त्र संस्था है, यही पहिली संस्था है, एवं इसे ही हम आध्यात्मिक षोडशी सकलप्रजापति[1], कहेंगे । अव्यक्तात्मा, महानात्मा, इन दोनों की समष्टि एक स्वतन्त्र संस्था है, यही दूसरी संस्था है, एवं इसे ही हम आध्यात्मिक सगुण प्रजापति[2]* कहेंगे । विज्ञानात्मा, महानात्मा दोनों की समष्टि एक स्वतन्त्र संस्था है, यही तीसरी संस्था है, एवं इसे ही हम आध्यात्मिक यज्ञप्रजापति[3], कहेंगे । पार्थिव इरारस के वैश्वानर–हिरण्यगर्भ–सर्वज्ञ नामक तीन विवर्त्तों से कृतरूप वैश्वानर–तैजस–प्राज्ञ की समष्टिरूप शारीरक आत्मा की एक स्वतन्त्र संस्था है, यही चौथी संस्था है, एवं इसे ही हम आध्यात्मिक विराट्प्रजापति कहेंगे । भौम अग्नि का प्रत्यंशरूप अग्न्यात्मा एक स्वतन्त्र संस्था है, यही पाँचवीं संस्था है, एवं इसे ही आध्यात्मिक विश्वप्रजापति कहा जायगा । इसप्रकार सात संस्थाओं की (अव्यक्त महान् के एकीकरण से, एवं विज्ञान–प्रज्ञान के एकीकरण से) आगे तक पाँच हीं संस्थाएँ रह जातीं है ।

१२५–ब्रह्मसत्य, तदा देवसत्यानुबन्धी आत्मविवर्त्तों का स्वरूप–समन्वय–प्रयास—

अग्न्यात्मा[7] (ब्रह्मसत्यलक्षण) भूतात्मा[1] है, शारीरिक आत्मा[6] (देवसत्यलक्षण) जीवात्मा[2] है, प्रज्ञानात्मा[5] (ब्रह्मसत्यलक्षण) सर्वेन्द्रिय मन[3] है, विज्ञानात्मा[4] (ब्रह्मसत्यलक्षण) बुद्धि[4] है, महानात्मा[3] (ब्रह्मसत्यलक्षण) सत्त्व[5] है, अव्यक्तात्मा[2] (ब्रह्मसत्यलक्षण) अन्तर्य्यामी[6] है, एवं प्रत्यगात्मा[1] (अमृतसत्यलक्षण) अहंभाव[7] है ।

१२६–षड्विध परिग्रह–निबन्धनानुबन्ध से आत्मस्वरूप–समन्वय–प्रयास—

अहंभावरूप, अमृतसत्यलक्षण प्रत्यगात्मा माया कला इन परिग्रहों से युक्त है । अन्तर्य्यामीरूप ब्रह्मसत्यलक्षण अव्यक्तात्मा, एवं सत्वरूप, ब्रह्मसत्यलक्षण महानात्मा इन दोनों की समष्टि 'गुण' नाम के तीसरे परिग्रह से युक्त है । बुद्धिरूप, ब्रह्मसत्यलक्षण विज्ञानात्मा, एवं मनोरूप, ब्रह्मसत्यलक्षण प्रज्ञानात्मा, दोनों की समष्टि विकार नाम के चौथे परिग्रह से युक्त है । जीवात्मारूप, देवसत्यलक्षण शारीरक आत्मा अञ्जन नाम के पांचवें परिग्रह से युक्त है । एवं भूतात्मरूप, ब्रह्मसत्यलक्षण अग्न्यात्मा आवरण नामक ६ ठे परिग्रह से युक्त है ।

१२७–आत्मसंस्थानुबन्धी अव्यय–अक्षरादि–पञ्चमहिमाभावों का संस्मरणात्मक समन्वय—

मायामय कलात्मा अव्यय–प्रधान है, गुणात्मा अक्षर–प्रधान है, विकारात्मा आत्मक्षर–प्रधान है, अञ्जनात्मा विकारक्षर–प्रधान है, एवं आवरणात्मा वैकारिकक्षर–प्रधान है । इस दृष्टि से पाँचों आत्मसंस्थाओं में क्रमशः अव्यय–अक्षर–आत्मक्षर–विकृतिक्षर–विकारक्षर–वैकारिकक्षर इन पाँच भावों का क्रमिक योग सिद्ध होरहा है, जैसाकि आगे के परिलेखों से स्पष्ट है ।

---

*–त्रैगुण्य का विकास महान् में ही होता है।

१२८-सप्तविध-आत्मसंस्थानानुगत अधिदैवत-अध्यात्म-समन्वय-परिलेख—

अधिदैवतम्—		अध्यात्मम्		
१-षोडशीप्रजापतिः	(षोडशी)	(अहम्)	प्रत्यगात्मा	(१)
२-स्वयम्भूप्रजापतिः	(स्वयम्भूः)	(अन्तर्य्यामी)	अव्यक्तात्मा	(२)
३-परमेष्ठीप्रजापतिः	(परमेष्ठी)	(सत्वम्)	महानात्मा	(३)
४-हिरण्यगर्भप्रजापतिः	(सूर्य्यः)	(बुद्धिः)	विज्ञानात्मा	(४)
५-सुब्रह्मप्रजापतिः	(चन्द्रः)	(मनः)	प्रज्ञानात्मा	(५)
६-विराट्प्रजापतिः	(पृथिवी)	(जीवात्मा)	शारीरकात्मा	(६)
७-विश्वप्रजापतिः	(भूमिः)	(भूतात्मा)	अन्यात्मा	(७)

१२९-समन्वयभावानुबन्धी सप्तसंस्थाप्रदर्शनात्मक-अध्यात्मविवर्त्त-परिलेख—

अधिदैवतम् (यदमुत्र)			अध्यात्मम् (तदन्विह)	
(१) १-षोडशीप्रजापतिः	] षोडशीप्रजापतिः	(१)	(१) १-प्रत्यगात्मा	] षोडशीप्रजापतिः
(२) १-स्वयम्भूप्रजापतिः	} सगुणप्रजापतिः	(२)	(२) १-अव्यक्तात्मा	} सगुणप्रजापतिः
(३) २-परमेष्ठीप्रजापतिः			(३) २-महानात्मा	
(४) १-हिरण्यगर्भप्रजापतिः	} यज्ञप्रजापतिः	(३)	(४) १-विज्ञानात्मा	} यज्ञप्रजापतिः
(५) २-सुब्रह्मप्रजापतिः			(५) २-प्रज्ञानात्मा	
(६) १-विराट्प्रजापतिः	] विराट्प्रजापतिः	(४)	(६) २-शारीरकात्मा	] विराट्प्रजापतिः
(७) १-विश्वप्रजापतिः	] विश्वप्रजापतिः	(५)	(७) १-अन्यात्मा	] विश्वप्रजापतिः

१३०-षड्विध-परिग्रहभावनिबन्धन-आत्मविवर्त्त-भावानुबन्धी-परिलेख—

१-षोडशी प्र० प्रत्यक्षरूपः प्रत्यगात्मा] अत्र माया-कलापरिग्रहोपभोगः (सकलः)

१-स्व० प्रत्यंशोऽव्यक्तात्मा }
२-पर० प्रत्यंशो महानात्मा } अत्र गुणपरिग्रहोपभोगः (सगुणः)

१-हिर० प्र० विज्ञानात्मा }
२-सुत्र० प्र० प्रज्ञानात्मा } अत्र विकारपरिग्रहोपभोगः (सविकारः)

१-विराट्-प्रत्यं० शरीरकात्मा] अत्र अञ्जनपरिग्रहोपभोगः (साञ्जनः)

१-वि० प्र० अन्यात्मा] अत्र आवरणपरिग्रहोपभोगः (सावरणः)

१३१-पञ्चविध आत्मविवर्त्त-स्वरूप-समन्वयात्मक-परिलेख—

१-मायाकलोपेतः-प्रत्यगात्मा—अव्ययप्रधानः (साव्ययः)

२-गुणोपेतौ अ०म० आत्मानौ—अक्षरप्रधानः (साक्षरः)

३-विकारोपेतौ वि०प्र० आत्मानौ—आत्मक्षरप्रधानः (सात्मक्षरः)

४-अञ्जनोपेतः—शारीरकात्मा—विकारक्षरप्रधानः (सविकृति-क्षरः)

५-आवरणोपेतः-अन्यात्मा—वैकारिकक्षरप्रधानः (सविकारकक्षरः)

१३२ आत्मा, प्राण, एवं पशु-समन्वयात्मक 'प्रजापति' का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय, एवं तन्निबन्धन पशुपति-पाश-पशु-भावत्रयी का स्वरूप-दिग्दर्शन—

इसप्रकार पूर्व परिलेखों से यह भलीभाँति सिद्ध होजाता है कि, अध्यात्मसंस्था में स्थूलदृष्टि से पाँच प्रजापतिसंस्था हैं, एवं सूक्ष्मदृष्टि से सात। उधर प्रजापति का यह सामान्यलक्षण करते हुए अभियुक्त कहते हैं कि, "जिस में आत्मा प्राण पशु"-ये तीन विभाग हों, वही प्रजापति है"। पशुभाग आत्मा की प्रजा है, स्वयं आत्मा पशुरूप इस प्रजा का पति बनता हुआ पशुपति है; एवं मध्यस्थ प्राण पशुरूप को पशुपति में भोग्यरूप से बद्ध रखने वाला पाश है। पशुपति (आत्मा) भोक्ता पाश-(प्राण) रूप भोगसाधन से पशुरूप भोग्य का भोग करता हुआ भोक्तात्मा बन रहा है। जबकि प्रत्येक प्रजापति में तीनों

हैं, एवं इधर सातों, किंवा पाँचों प्रजापति भी प्रजापति हैं, तो अवश्य ही प्रजापति के तीनों पर्वों का प्रत्येक प्रजापति में सम्बन्ध होना हीं चाहिए।

१३३–अव्ययात्मप्रधाना प्रत्यगात्मसंस्था से अनुप्राणिता प्रथमा 'प्रजापतिसंस्था' का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय, एवं तन्निबन्धन आत्मा-सत्त्व-शरीर-रूप त्रिदण्डात्मक भाव का स्वरूपदिग्दर्शन—

(१) पहिले षोडशी-प्रजापति की अंशरूपा प्रत्यगात्मसंस्था[1] को ही लीजिए। निष्कल-परात्परगर्भित अव्ययपुरुष[2] 'आत्मा है, यही उक्थ है, यही पशुपति है। पञ्चकल अक्षरपुरुष[2] (पराप्रकृति) प्राण है, यही अर्क है, यही पाश है। पञ्चकल क्षरपुरुष (अपराप्रकृति) पशु है, यही अशीति है। अशीतिरूप क्षर-प्रपञ्च मायापुर से युक्त होता हुआ शरीर है। अर्करूप अक्षरप्रपञ्च, एवं उक्थरूप आत्मप्रपञ्च, दोनों की समष्टि आत्मा है। अर्करूप प्राण मध्य में है, अतः इसका यद्यपि शरीर, और आत्मा, दोनों के साथ सम्बन्ध माना जासकता है, तथापि असङ्गभाव के कारण इस का आत्मा में ही अन्तर्भाव मान लिया जाता है। आयुर्वेद की परिभाषानुसार प्रजापति के आत्मा-प्राण-पशु-तीनों पर्व क्रमशः आत्मा-सत्त्व-शरीर इन नामों से प्रसिद्ध हैं, एवं वहाँ भी इन तीनों को नित्य सम्बद्ध माना है-"आत्मा सत्त्वं शरीरञ्च त्रयमेतत् त्रिदण्डवत्"।

१३४–स्वायम्भुवी अव्यक्तात्मसंस्था से अनुप्राणिता द्वितीया प्रजापतिसंस्था का स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

(२) दूसरी स्वयम्भू-प्रजापति की प्रत्यंशरूपा अव्यक्तात्मसंस्था[2] है। हृदयस्थ अन्तर्य्यामीसत्य स्वयं आत्मा है, यही उक्थ है, यही पशुपति है। सर्वाङ्गशरीर में व्याप्त ऋषिमूर्त्ति सत्यऋत-भेदभिन्न प्राणतत्त्व प्राण है, यही अर्क है, यही पाश है। शरीराकाश नाम से प्रसिद्ध, शिरोगुहा-उरोगुहा-उदरगुहा-वस्ति-गुहा, इन चार गुहाओं को अपने गर्भ में रखने वाली महाशरीरगुहा पशु है, यही अशीति है। तीनों की समष्टि ही अव्यक्तप्रजापति है।

१३५–पारमेष्ठ्या महदात्मसंस्था से अनुगता तृतीया प्रजापतिसंस्था का स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

(३)–तीसरी परमेष्ठी-प्रजापति की प्रत्यंशरूपा महदात्मसंस्था[3] है। हृदयस्थान में प्रतिष्ठित सत्त्व-रज-स्तमोमूर्त्ति, आकृति-प्रकृति-अहंकृति-भावत्रयी का अधिष्ठाता सत्त्वभाव आत्मा है, यही उक्थ है, यही पशुपति है। सर्वाङ्गशरीर में व्याप्त पितृप्राणमूर्त्ति, ऊक्-भोग-भेदभिन्न सौम्यप्राण प्राण है, यही अर्क है, यही पाश है। एवं सर्वाङ्गशरीर में व्याप्त पारमेष्ठ्य-अपोभाग (पानी) ही पशु है, यही अशीति है। अशीतिरूप अब्भाग शरीर है, सौम्यप्राणयुक्त हृदयस्थ सत्त्व आत्मा है।

१३६–सौरी विज्ञानात्मसंस्था से अनुगता चतुर्थी प्रजापति संस्था का स्वरूप-संस्मरण—

(४)-चौथी हिरण्यगर्भ-प्रजापति (सूर्य्य) की प्रत्यंशरूपा विज्ञानात्मसंस्था[4] है। हृदयस्थान में प्रतिष्ठित स्वर्ज्योतिर्म्मय हिरण्यतेजोमूर्त्ति विज्ञानभाव आत्मा है, यही उक्थ है, यही पशुपति है।

सर्वाङ्गशरीर में व्याप्त, मर्म्म मर्म्म में ओतप्रोत बृहतीसहस्रकृतमूर्ति (३६०००) देवप्राणात्मक आयुःप्राण प्राण है, यही अर्क है, यही पाश है। एवं सर्वाङ्गशरीर में व्याप्त ज्योतिर्गो-भाग पशु है, यही अशीति है। अशीतिरूप ज्योतिर्गोभाग शरीर है, आयुःप्राणयुक्त हृदयस्थ विज्ञान आत्मा है।

१३७-चान्द्री प्रज्ञानात्मसंस्था से समन्विता पञ्चमी प्रजापतिसंस्था का स्वरूप-दिग्दर्शन—

[५]-पाँचवीं सुब्रह्मप्रजापति [चन्द्रमा] की प्रत्यंशरूपा प्रज्ञानात्मसंस्था [५] है। हृदयस्थान में प्रतिष्ठित, परज्योतिर्म्मय, सर्वेन्द्रियाधिष्ठाता प्रज्ञानभाव आत्मा है, यही उक्थ है, यही पशुपति है। सर्वाङ्गशरीर में व्याप्त श्रद्धायुक्त गन्धर्वप्राणात्मक यशःप्राण ही प्राण है, यही अर्क है, यही पाश है। एवं सर्वाङ्गशरीर में व्याप्त रेत ही पशु है, यही अशीति है अशीतिरूप रेतोभाग शरीर है, श्रद्धायुक्त यशः-प्राण से संयुक्त प्रज्ञान आत्मा है।

१३८-पार्थिवी-विराड्भाव-निबन्धना षष्ठी प्रजापतिसंस्था स्वरूप-समन्वय—

(६)-छठी विराट्प्रजापति (पृथिवीचितोनिधेय) की प्रत्यंशरूपा शारीरकात्मसंस्था [६] है। कण्ठरन्ध्रस्थ उदान, हृदय, जाठराग्नि को अपनी प्रतिष्ठा बनाने वाला, ज्ञान-क्रिया-अर्थ-शक्तियों का प्रवर्त्तक, प्राज्ञ,तैजस-वैश्वानरमूर्त्ति जीवात्मभाव आत्मा है, यही उक्थ है, यही पशुपति है। सर्वाङ्गशरीर में व्याप्त (प्राणोदान-अपान समान, इन चारों प्राणवायुओं को अपने गर्भ में रखने वाला) पशुप्राणात्मक व्यानरूप प्राणवायु प्राण है, यही अर्क है, यही पाश है। एवं शारीरप्राणत्रिलोकी पशु है, यही अशीति है। अशीतिरूपा शारीरत्रिलोकी शरीर है, व्यानप्राणयुक्त जीवात्मा आत्मा है।

१३९-भूपिण्डानुगता-अग्न्यात्मसंस्था से समन्विता सप्तमी प्रजापतिसंस्था का तात्त्विक स्वरूप निदर्शन-एवं तदनुप्राणित प्रभव, योनि, प्रतिष्ठा, आशय-भावचतुष्टयी का नामस्मरण—

[७]-सातवीं विश्वप्रजापति [भूपिण्ड-नित्यपिण्ड] की प्रत्यंशरूपा अग्न्यात्मसंस्था [७] है। हृदयस्थान में प्रतिष्ठित, गर्भीभूत ब्रह्माग्नि आत्मा है, यही उक्थ है, यही पशुपति है। लोम-केश-नखाग्रों को छोड़कर सर्वाङ्गशरीर में ताप, एवं अनाहतनाद का प्रवर्त्तक बनता हुआ भूतरूप शारीरिक अग्नि प्राण है, यही अर्क है। पाञ्चभौतिक शरीरपिण्ड पशु है, यही अशीति है। अशीतिरूप शरीरपिण्ड शरीर है, शारीरिक-अग्नियुक्त ब्रह्माग्नि आत्मा है। आत्मा-प्राण-पशु इन त्रिभावों के अतिरिक्त प्रत्येक आत्मसंस्थाओं में प्रभव, योनि, प्रतिष्ठा, आशय इन चार चार भावों का समावेश और है, जिनका कि विशद-निरूपण ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य में किया जाचुका है—[देखिए ई० उ० वि० द्वितीय खण्ड पृष्ठ सं० [२४६ से २६० पर्य्यन्त]।

१४०—प्रत्यगात्मा—(अमृतसत्यमूर्त्तिः)। (अहम्)।

१—आत्मा (उक्थम्)—पशुपतिः	अव्ययः	आत्मा	प्रत्यगात्मप्रजापतिः (१)
२—प्राणाः (अर्कः)—पाशः	अक्षरः		
३—पशवः (अशीतिः)—पशुः	क्षरः	शरीरम्	



१४१—अव्यक्तात्मा—(ब्रह्मसत्यमूर्त्तिः)। (अन्तर्य्यामी)।

१—आत्मा (उक्थम्)—पशुपतिः	अन्तर्य्यामी	आत्मा	अव्यक्तात्मप्रजापतिः (१)
२—प्राणाः (अर्कः)—पाशः	अमृतसत्यसूत्रे		
३—पशवः (अशीतिः)—पशुः	शरीरगुहा	शरीरम्	



१४२—महानात्मा—(ब्रह्मसत्यमूर्त्तिः)। (सत्त्वम्)।

१—आत्मा (उक्थम्)—पशुपतिः	सत्यभावः	आत्मा	महदात्मप्रजापतिः (२)
२—प्राणाः (अर्कः)—पाशः	सौम्यप्राणः		
३—पशवः (अशीतिः)—पशुः	अन्नभागः	शरीरम्	



१४३—विज्ञानात्मा—(ब्रह्मसत्यमूर्त्तिः)। (बुद्धिः)।

१—आत्मा (उक्थम्)—पशुपतिः	विज्ञानम्	आत्मा	विज्ञानात्मप्रजापतिः (३)
२—प्राणाः (अर्कः)—पाशः	आयुः प्राणः		
३—पशवः (अशीतिः)—पशुः	ज्योतिर्गौः	शरीरम्	



१४४–प्रज्ञानात्मा—(ब्रह्मसत्यमूर्त्तिः)। (मनः सर्वेन्द्रियम्)।

१–आत्मा (उक्थम्)–पशुपतिः प्रज्ञानम्
२–प्राणाः (अर्कः)–पाशः यशः प्राणः } आत्मा
३–पशवः (अशीतिः)–पशुः श्रद्धामयं शुक्रम् } शरीरम्

}–प्रज्ञानात्मप्रजापतिः (४)

१४५–शारीरकात्मा—(देवसत्यमूर्त्तिः)। (जीवात्मा)।

१–एकविंशप्रवर्ग्यः—ज्ञानयुतः—प्राज्ञः
२–पञ्चविंशप्रवर्ग्यः—क्रियायुतः—तैजसः
३–त्रिवृत्प्रवर्ग्यः—अर्थयुतः—वैश्वानरः

}–१–आत्मा–जीवात्मा

१–प्राणः, उदानः (दिव्यौ)
२–व्यानः, (आन्तरीक्ष्यः)
३–अपानः, समानः (पार्थिवौ)

}–२–प्राणाः–व्यानः

(१–आत्मा–जीवात्मा, २–प्राणाः–व्यानः) } आत्मा

१–हृत्कण्ठान्तरतः–द्यौः (शिरः)
२–मध्ये –अन्तरिक्षम् (उरः)
३–गुदनाभ्यन्तरतः–पृथिवी (उदरम्)

}–३–पशवः–शारीरत्रिलोकी } शरीरम्

}–शारीरकात्मप्रजापतिः (१)

१४६–अग्न्यात्मा—(ब्रह्मसत्यमूर्त्तिः)। (भूतात्मा)।

१–आत्मा (उक्थम्)–पशुपतिः–ब्रह्माग्निः	आत्मा	अग्न्यात्माप्रजापतिः (५)
२–प्राणाः (अर्कः)—पाशः —शरीराग्निः	आत्मा	
३–पशवः (अशीतिः)–पशुः—शरीरपिण्डः	शरीरम्	

—*—

१४७–सप्तात्मसंस्थात्मक सप्त प्रजापति–विवर्त्तों का संकलनात्मक रहस्य–पूर्ण–समन्वय—

उक्त सात संस्थाओं में प्रथमसंस्था का अमृतसत्य से सम्बन्ध है, यही उस तत् निरुपाधिक, किंवा नेति नेति) का [1]"अमृतम्" रूप है। २–३–४–५–६–इन पांच संस्थाओं का ब्रह्मसत्य से सम्बन्ध है, यही उस तत् का [2]"ब्रह्म" है। एवं ६ ठी संस्था का देवसत्य से सम्बन्ध है, यही उस तत् का [3]"शुक्रम्" है। इस प्रकार षट्परिग्रह–तारतम्य से वही तत् अमृतं बना हुआ है, वही तत् ब्रह्म बना हुआ, एवं वही तत् शुक्रं बना हुआ है—"तदेव शुक्रं, तद् ब्रह्म, तदेवामृतमुतमुच्यते, तदु नात्येति किञ्चन"–"एतद्वै तत्" (कठोपनिषत्)।

१–प्रत्यगात्मा (१)–(अहम्)	तदेवामृतमुच्यते (अमृतसत्यात्मा)–अन्यदेव	तद्विवर्त्तम्
२–अव्यक्तात्मा (१)–(अन्तर्य्यामी)	तद् ब्रह्म (ब्रह्मसत्यात्मा)–यदस्य त्वम्	
३–महानात्मा (२)–(सत्वम्)		
४–विज्ञानात्मा (३–(बुद्धिः)		
५–प्रज्ञानात्मा (४)–(मनः)		
६–अग्न्यात्मा (५)–(भूतात्मा)		
७–शारीरकात्मा (१)–(जीवात्मा)	तदेव शुक्रम् (देवसत्यात्मा)–यदस्य च देवेषु	

—*—

१४८–'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्म्मनीषिणः' इत्यादि कठश्रुतिमूलक आत्मप्रजापति स्वरूप का तात्त्विक स्वरूप–समन्वय, एवं तदनुबन्धी–'भोक्तात्मा' का संस्मरण—

जैसाकि प्रकरणारम्भ में बतलाया गया है, ज्ञान–कर्म्म–भक्तिप्रकरण के सम्बन्ध में उक्त सात आत्मसंस्थाओं के स्थान से प्रकृत में पांच संस्थाएँ हीं मुख्य मानीं जायँगी। यद्यपि प्रकृतिसिद्ध क्रमानुसार तो इन

पाँचों का संस्थान.क्रम रहना चाहिए-प्रत्यगात्मा, अव्यक्तगर्भित महानात्मा, विज्ञानगर्भित प्रज्ञानात्मा, जीवात्मा, भूतात्मा, यही। परन्तु अध्यात्मसंस्था में प्रतिष्ठित जीवात्मा की कर्म्मप्रवृत्ति के तारतम्य से उक्त क्रम बदलकर १-प्रत्यगात्मा, २-अव्यक्तगर्भित महानात्मा, ३-जीवात्मा, ४-विज्ञानगर्भित प्रज्ञानात्मा, ५-भूतात्मा-यह क्रम होजाता है। तात्पर्य्य इस का यह हुआ कि, जीवात्मा के उस ओर रहने वाले विज्ञान प्रज्ञान (बुद्धि-मान) जीवात्मा के इस और (आगे) आजाते हैं। कारण इस का यही है कि, मन बुद्धि को अग्रणी बनाकर ही जीवात्मा ज्ञान-कर्म्म-भक्ति, इन तीनों में से किसी एक योग में प्रवृत्त होता है। इन्द्रिय-मन-बुद्धि ही कर्म्म-ज्ञान-भक्ति-फलभोक्ता, अतएव भोक्तात्मा नाम से प्रसिद्ध जीवात्मा के भोगसाधन बनते हैं-"आत्मे-न्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः" (कठोपनिषदि)।

१४६-पञ्चविध आत्मप्रजापति-विवर्त्तों के पञ्चदश (१५) महिमाभावों का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय, एवं तन्निबन्धना पञ्चदशधैव विभक्ता ज्ञान-कर्म्म-भक्ति-योगत्रयी—

उक्त पांचों संस्थाओं में प्रत्येक में आत्मा-प्राण-पशु, ये तीन तीन विभाग बतलाए हैं, एवं साथ ही आत्मा-प्राण की समष्टि को आत्मा, एवं पशु को सर्वत्र शरीर कहा गया है। आत्मा सर्वत्र ज्ञानमूर्त्ति है, शरीर सर्वत्र कर्म्ममूर्त्ति है, मध्यस्थ प्राण सर्वत्र उभयमूर्त्ति (ज्ञानकर्म्ममूर्त्ति) है। प्रत्येक प्रजापति की ज्ञानमयी आत्म-संस्था, उभयमयी प्राणसंस्था, कर्म्ममयी पशुसंस्था ही क्रमशः अपनी संस्था के ज्ञान-भक्ति-कर्म्मयोगों की प्रतिष्ठा बनती है। तात्पर्य्य-ज्ञानयोग का ज्ञानमय आत्मा से, भक्तियोग का उभयमय प्राण से, एवं कर्म्मयोग का कर्म्ममय पशु से सम्बन्ध है। इसप्रकार इसी त्रिसंस्था के आधार पर प्रत्येक आत्मसंस्था में योगत्रयी का उप-भोग सिद्ध हो जाता है। परिणामतः ५ आत्मसंस्था के १५ ही योग होजाते हैं, एवं १५ ही तद्योगाधिकारी बन जाते हैं, जैसाकि पूर्व में कहा जाचुका है।

१५०-प्रतिसंस्थानुगता प्रधानभावनिबन्धना एक-योगनिष्ठा का समन्वयात्मक-दिग्दर्शन—

प्रत्येक मनुष्य में, दूसरे शब्दों में प्रत्येक आध्यात्मिक-संस्था में, पाँचों आत्मविवर्त्त नित्य प्रतिष्ठित हैं, इस में तो कोई सन्देह नहीं। जब पाँचों प्रतिष्ठित है, तो पाँचों में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध होगा, यह मान लेने में भी कोई आपत्ति नहीं की जासकती। यदि अन्तर है, तो प्रधानता अप्रधानता का। कर्म्म-संग-उपदेश-देश-काल-द्रव्य-अन्न आदि के तारतम्य से अध्यात्मसंस्थामें पाँचों में से जिस आत्मसंस्था की प्रधानता हो जाती है, शेष चारों को उसी का अनुगामी बन जाना पड़ता है। चारों अपना स्वातन्त्र्य खोकर एक के आधीन बन जाते हैं। फलतः उस एक प्रधान की योगत्रयी ही शेष बच रहती है।

१५१-प्रधानयोग से अनुरञ्जिता योगद्वयी का प्रधान योग में हीं अन्तर्भावात्मक-समन्वय—

कर्म्म-ज्ञान-भक्ति, तीनों हीं का कर्त्ता-ज्ञाता-भक्त, प्रत्येक दशा में शारीरक आत्मा (जीवात्मा) ही बनता है। यही शुक्रात्मा है। बन्धनविमोक इसे ही अपेक्षित है। अब यह कर्म्मवश जिस संस्था का अनुगामी बन जाता है।' इसे उसी के रँग में रँग जाना पड़ता है, तद्रूप में हीं परिणत होजाना पड़ता है। एवं तद्रूपानुगता योगत्रयी का ही अनुगामी बन जाना पड़ता है, जैसाकि आगे के निदर्शनों से स्पष्ट हो-जायगा।

१५२-स्थूलारुन्धतिन्याय-माध्यम से योगत्रयी का स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

सबसे पहिले वैकारिकवररूपा भूतात्म संस्था पर ही हमारी दृष्टि पड़ती है। साथ ही पांचों आत्म-संस्थाओं में स्थूलतम भी यही है। अतः स्थूलारुन्धतिन्याय की मर्य्यादा को लक्ष्य में रखते हुए यहीं से योगत्रयी के विचार का उपक्रम करना विशेष सुविधाजनक होगा। उसी की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित-किया जारहा है।

१५३-अधिदैवत-अधिभूताधिदैवत-एवं अधिभूत-भेदनिबन्धना योगत्रयी के तात्त्विक-स्वरूपों का समन्वय-प्रयास—

भूतात्मसंस्था की ओर ध्यान आकर्षित करें, इस से पहिले हम पाठकों का इस ओर विशेष लक्ष्य कराना चाहते है कि, प्रत्येक संस्था में विद्यमान ज्ञान-कर्म्म रूप आत्मा-शरीर, ये दो प्रधान विभाग हैं। इन में ज्ञान अधिदैवत हैं, कर्म्म अधिभूत है। मध्यस्था प्राणसंस्था में क्योंकि अधिदैवतलक्षण ज्ञान, अधिभूतलक्षण कर्म्म, दोनों का समन्वय है। इसी आधार पर प्रत्येक संस्था की योगत्रयी के १-अधिदैवत साध्य, अधिदैवतसाधनरूप योग ज्ञानयोग, २-अधिभूतसाध्य, अधिभूत साधनरूप योग कर्म्मयोग, ३-अधिदैवतसाध्य, अधिभूतसाधनरूप योग भक्तियोग, ये सामान्य लक्षण होंगे। इन लक्षणों को पूर्ण रूप से लक्ष्य में रखते ही हुए मीमांसा अपेक्षिता है।

१५४-आधिभौतिक भावप्रधानवर्ग से अनुप्राणित भौतिक-स्थूल-कर्म्मयोग का स्वरूप-प्रदर्शन, एवं तदनुबन्धी पशुजगत्—

शरीर के केन्द्र में (हृदय में) प्रतिष्ठितः ब्रह्माग्नि उक्थरूप आत्मा है, एवं पूर्व परिभाषानुसार इसे हम ज्ञानमय कह सकते हैं। एवं यही इस संस्था का आधिदैविक पदार्थ माना जायगा। सर्वाङ्गशरीर में अर्क (रश्मि) रूप से व्याप्त वह शारीराग्नि, जिस का कि स्पर्श के द्वारा प्रत्यक्ष होता है, एवं कर्ण-नासिकावरोध से जिस का धक्-धक् करता हुआ शब्द सुनाई पड़ता है, जोकि वैश्वानर नाम से प्रसिद्ध है, अर्करूप प्राण है। मध्यस्थ होने से यह ज्ञानमय आत्मा, कर्म्ममय शरीर दोनों के धर्म्मों से युक्त है। अतएव इसे उभययुक्त कहा जागया। यही इस संस्था का आधिदैविक-आधिभौतिक पदार्थ माना जायगा। पाञ्चभौतिक स्थूलशरीरपिण्ड अशीतिरूप पशु है। इसे हम कर्म्ममय कहेंगे। एवं यही इस संस्था का आधिभौतिक पदार्थ माना जायगा।

१५५-शारीरिक-तुष्टि-पुष्टि-मात्रनिबन्धन-पशुसमतुलित-कर्म्मयोग के अधिकारीवर्गका स्वरूप-समन्वय—

अपने जन्मसमय से अन्तसमय पर्य्यन्त जिन मनुष्योंनें दुर्भाग्यवश लौकिक शास्त्रीय आदि किसी प्रकार की शिक्षा ग्रहण नहीं की है, शिक्षण के आत्यन्तिक अभाव के साथ साथ जिनके जन्मान्तरीय संस्कार भी अत्यन्त मलिन हैं, ऐसे मनुष्यों की अध्यात्मसंस्था अविद्यारूप आवरण नाम के ६ ठे परिग्रह से सर्वथा आवृत होती हुई तमोमयी बनी रहती है। आवरणपरिग्रह से नित्ययुक्त पशु की जैसी स्थिति है, ठीक वही स्थिति इस की है। पशु खाते हैं, सोते है, भय करते हैं, प्रजोत्पत्ति करते है। इन चार कर्म्मों से पशु जीवित रहते हैं, साथ ही स्व-

तन्त्र भी। पशुसमकक्ष यह अज्ञ मनुष्य भी इन चार कर्म्मों के अतिरिक्त अपने जीवन में और कुछ नहीं करता। भूतात्मलक्षणा शरीरसंस्था का अनुगामी मनुष्य शरीर की पुष्टि, तुष्टि को ही अपने जीवन का मुख्य पुरुषार्थ समझता है।

१५६–आवरणपरिग्रह से समन्वित भूतात्मा के भूतावरणात्मक भौतिक कर्म्मयोग की स्वरूपविश्रान्ति का दिग्दर्शन—

आवरणपरिग्रहयुक्त इस भूतात्मा की प्रधानता से इस की शेष चारों आत्मसंस्थाएँ भी तद्रूपा बनती हुईं तदनुगता ही बनी रहती हैं। मन–बुद्धि–इन्द्रियां सबकुछ इसी भूतात्मा के उपकार–साधन में लगे रहते हैं। इस की मानसेच्छा, बौद्धिक विचार, इन्द्रियव्यापार सब का पर्य्यवसान भूतात्मा पर ही विश्रान्त है।

१५७–अज्ञान, और आवरण नामक परिग्रह–मूलक शुद्धतम, तथा मलिनतम का तात्त्विक स्वरूप–समन्वय, उदाहरणविधि का अनुगमन, एवं तन्निबन्धन योगों का स्वरूप-तारतम्य—

अज्ञान नाम के पांचवें परिग्रह से युक्त, अतएव साज्ञान विज्ञानगर्भित प्रज्ञानात्मा ही उक्त अधिकार की मूल प्रतिष्ठा बनेगा। आवरणपरिग्रहयुक्त भूतात्मसंस्था जहाँ मलिन तम से युक्त मानी जाती है, वहाँ अज्ञानपरिग्रहयुक्त यह प्रज्ञानात्मसंस्था शुद्ध तम से युक्त मानी जायगी। ऐसा काला दर्पण, जो स्याही से काला बनाया गया हो, जिसमें से उस ओर की कोई वस्तु न दिखलाई देती हो, मलिनतमोयुक्त माना जायगा। ऐसा काला दर्पण (धूपका चश्मा) जो काला होता हुआ भी दृष्टि का अवरोधक नहीं बनेगा, शुद्ध तमोयुक्त कहा-जायगा। सावरण भूतात्मा जहां मलिन कृष्णदर्पण है, वहां साज्ञान प्रज्ञानात्मा शुद्ध कृष्ण दर्पण है। तमोरूप से दोनों सजातीय हैं, जाति से दोनों विजातीय हैं।

१५८–अज्ञान और आवरण के तारतम्य का समन्वय, स्वार्थ, परमार्थ की स्वरूप-परिभाषा, तन्निबन्धन योगों का तारतम्य, एवं तदनुगत लौकिक अधिकारियों का इतिवृत्त–दिग्दर्शन—

अज्ञान आवरण की प्रथम भूमिका है, तो आवरण उसी की दूसरी भूमिका। छायारूप तम अज्ञान है, तो रात्रिरूप अन्धकार आवरण है। परमार्थतः दोनों ही हैं आवरण तमोरूप। उसके अनुयायी जहाँ पशुसमकक्ष हैं, वहां इनके अनुयायी एक प्रकार के उत्तम पशु माने जासकते हैं। आहार-निद्रा-भय-मैथुन नामक जो चार उद्देश्य उनके थे, वे ही इनके भी हैं। दोनों उद्देश्यों के स्वार्थों में ही थोड़ा-सा अन्तर है। उनका स्वार्थ वैय्यक्तिकभाव से सीमित होता हुआ विशुद्ध स्वार्थ है। इन का स्वार्थ वैय्यक्तिकभाव के साथ साथ सामाजिक, राष्ट्रीय स्वार्थ का अनुगामी बनता हुआ परमार्थयुक्त स्वार्थ है। वे लोकवृत्ति से अपरिचित रहते हुए जहाँ असभ्य ग्रामीण माने जायँगे, वहां ये लोकचातुर्य्य के अनुग्रह से सभ्य नागरिक कहे जायँगे। वे लोकवैभव-शून्य रहेंगे, ये लोकवैभव से युक्त रहेंगे। वे मूर्ख कहलाएँगे, ये चतुर कहलाएँगे। वे शासित रहेंगे, ये शासक रहेंगे। उनकी मूर्खता ही इन बुद्धिमानों की स्वार्थलिप्सा पूर्ण करेगी। काम वे करेंगे, परिश्रम वे

उठावेंगे, लाभ मिलेगा इनको। ये ही कुछ एक ऐसे भेद हैं, जिनके आधार पर दोनों वर्गों की तुलना में सुगमता से विचार किया जासकता है। अब हमें देखना यही है कि, प्रज्ञानात्मानुयायी ये लौकिक अधिकारी किसप्रकार योगानुष्ठानों में प्रवृत्त रहते हैं।

१५६–वर्त्तमान–योगत्रयी का वर्त्तमाना शिक्षानुबन्धिनी वृत्ति के आधार पर रहस्य–पूर्ण–समन्वय—

लौकिक योगत्रयी से पहिले यह विशेषरूप से लक्ष्य में रखना चाहिए कि, जिस लौकिकी शिक्षा के बल पर इन की योगत्रयी प्रतिष्ठित है, उस शिक्षा का एकमात्र विकारस्वरूप भौतिकजगत् से ही सम्बन्ध है। विविध प्रकार के नाशक, भयावह भौतिक आविष्कारों की शिक्षा देने वाले विज्ञान, शिल्प, कला, वाणिज्य, राजनीति, समाजनीति, अर्थनीति, आदि आदि ही शिक्षा के स्रोत हैं, उन सबका एकमात्र लौकोन्नति से ही सम्बन्ध है। भारतीय–शास्त्रातिरिक्त इतर जितने भी शिक्षाशास्त्र हैं (कुछ एक आत्मग्रन्थों को छोड़कर), वे सब आधिभौतिक (लौकिक) उन्नति के ही उत्तेजक हैं। इन ग्रन्थों की शिक्षा से शिक्षित मानव समाज ही लौकिक–योगत्रयी में सफल होसकेगा, एवं ऐसा ही समाज इस योगत्रयी का अधिकारी भी माना जायगा।

१६०–लौकिक–भौतिक–कर्म्मयोग, एवं तत्–कर्म्मयोगी का स्वरूप–समन्वय—

कुछ एक महानुभाव तो ऐसे हैं, जो नियत अवधिपर्य्यन्त शिक्षणालयों में शिक्षा प्राप्त कर शिक्षानुगत विषयों के आधार पर अन्वेषण करते हैं। अन्वेषणों से आविष्कार करते हैं। आविष्कारों से समाज की आवश्यकताएँ पूरी करते हैं। तात्पर्य्य, शिक्षा के पीछे का सम्पूर्ण जीवन तत्सम्बन्धी अन्वेषणादि कर्म्मों में हीं व्यतीत होता है। भौतिक अन्वेषणकर्म्म साधन बनता है, भौतिक आविष्कार साध्य बनते हैं। आविष्कारों का फल भी प्रचुर धनरूप आधिभौतिक ही है। अतएव पूर्वलक्षणानुसार इस योग को अवश्यही 'कर्म्मयोग' कहा जासकता है। कर्म्मयोगी मनुष्य का एकमात्र लक्ष्य है—'कर्म्म'। साध्य–साधन–सबकुछ कर्म्म पर ही विश्रान्त है।

१६१–लौकिक–प्राकृत मानव के लौकिक–भक्तियोग का स्वरूप–दिग्दर्शन—

कुछ एक महानुभाव ऐसे हैं, जो कर्म्म को उद्देश्य बनाते हुए, कर्म्म से समाज, किंवा राष्ट्र, किंवा विश्व की सेवा करते हुए अपने बौद्धिक जगत् को अधिकाधिक विकसित करते रहते हैं। ऐसे सेवकों का 'आशय' उत्तरोत्तर महान् बनता जाता है, समाज, किंवा राष्ट्र विशेषरूप से ऋणी बन जाता है। साधन इन का कर्म्म बनता है, साध्य रहता है समाज-राष्ट्र-विकासपूर्वक अपना विकास। विकास ज्ञान का ही अन्यतम धर्म्म है। अतएव इस साध्य को हम 'ज्ञान' कह सकते हैं। इसप्रकार आधिदैविक साध्य, आधिभौतिक साधनरूप इस योग को पूर्व परिभाषानुसार अवश्य ही 'भक्तियोग' कहा जासकता है।

१६२–लोकानुबन्धी पारिभाषिक–प्रचलित–कर्म्मयोग, और कर्म्मयोगी—

कुछ एक मनुष्य ऐसे हैं, जो शिक्षाप्राप्त्यनन्तर न तो तदनुसार आधिभौतिक कर्म्म करते, एवं न कर्म्म के द्वारा समाजसेवा का ही अनुगमन करते। किन्तु किसी उच्चपद पर प्रतिष्ठित होकर केवल उपदेशक बन जाते हैं। विशुद्ध आदर्शवादी बन कर ये लोग समाज, किंवा राष्ट्र के मुखिया बनजाते हैं। इतर दोनों वर्गों

को अपने पशुधान्यवत् इन यथाजात मनुष्यों को हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। कुछएक मनुष्य तो ऐसे हैं, जो अपनी और अपने परिवार की जीवनयात्रा के निर्वाह के लिए दिन में आठ-दस घन्टे श्रम (मजदूरी) करते हैं। जो पैसे मिलते हैं, उन से अपने परिवार का भरण-पोषण करते हैं। यही इनके जीवनकृत्य का शाश्वत प्रवाह है। यहाँ साध्य-साधन दोनों आधिभौतिक हैं। आधिभौतिक (स्थूल) शरीर को मजदूरी का साधन बनाते हैं, फलस्थान में जो कुछ पैसे मिलते हैं, वे भी आधिभौतिक ही हैं, एवं इन का उपयोग भी आधिभौतिक शरीर के रक्षण में ही होता है। मजदूरी करके पेट पालने वाले जितने भी यथाजात मनुष्य हैं, उन सब के साध्य-साधन दोनों आधिभौतिक ही रहेंगे। अतएव इनके इस योग को पूर्व परिभाषानुसार हम 'कर्म्मयोग' ही कहेंगे।

१६३-सेवाधर्म्मात्मक लौकिक-भक्तियोग की लोकानुबन्धिनी उभयधर्म्मात्मकता का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

कुछ एक यथाजात मनुष्य ऐसे हैं, जो शारीरिकबल की कमी से अथवा अन्य किसी कारण से गुरुपरिश्रमसाध्य कायिकश्रम-वृत्ति करने में असमर्थ बनते हुए सेवावृत्ति का अनुगमन करते हैं और समाज के धनिक-सम्पन्न मनुष्यों का आश्रय ग्रहण करते हैं। इनका आसन कायिकश्रमवृत्तिधर लोगों से कुछ ऊँचा है। कारण यही है कि सत्पुरुषों के सहवास से इन में थोड़ी बहुत सभ्यता का विकास रहता है। गोप-नापितादि मनुष्य इसीके निदर्शन हैं। यहाँ साधन तो शरीरलक्षण आधिभौतिक ही रहता है, परन्तु साध्य होता है ज्ञानलक्षण आधिदैविकभाव। सेवा के प्रतिफल में वेतन तो मिलता ही है, परन्तु वेतन के साथ साथ सत्पुरुषों के सहवास से आंशिकरूप से सभ्यतालक्षण ज्ञानमात्रा का भी पुरस्कार मिलता है। साथ ही यह भी ध्यान रखने की बात है कि मजदूरपेशा कर्मयोगियों की अपेक्षा ये सेवावृत्ति के अनुयायी कुछ विशेषरूप से सुखी रहते हैं। इनकी दैनिक आवश्यकताएँ कुछ सुविधा से पूरी होजाती हैं। क्योंकि यहाँ साधन आधिभौतिक है साध्य (आधिभौतिक के साथ साथ) आधिदैविक भी है। अतएव पूर्वपरिभाषानुसार इनके इस योग को हम अवश्य ही 'भक्तियोग' कहेंगे। इन उपासकों के उपास्य इनके स्वामी हैं। ये अपने कर्म्म-(आधिभौतिक)-साधन से उनके ज्ञान (आधिदैविक) को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं।

१६४-कायिक-श्रमानुगत-यथाजात प्राकृत-मानववर्ग से अनुप्राणित प्राकृतयोग का स्वरूप दिग्दर्शन, तदनुगत आयुःसूत्र-संरक्षण, एवं तत्स्वरूप-संरक्षक जघन्यतम सदुपायों का दिग्दर्शन—

अब एक ऐसा समुदाय भी हमारे सामने आता है जो न कायिक श्रम कर सकता है, न सेवावृत्ति का ही अनुगमन कर सकता है, जब कि मजदूरी एवं सेवावृत्ति करने की योग्यता इसमें है। ऐसे मनुष्यों को ही अकर्मण्य, मन्दभागी, कमबख्त (भाग्यहीन), आलसी इत्यादि उच्च (?) उपाधियों से विभूषित किया जाता है। प्रश्न होता है कि, जब ये भगवत्पुरुष (?) न मजदूरी करते, और न सेवावृत्ति को ही अपने पोजीशन के योग्य समझते हैं, एवं साथ ही दरिद्रताने भी जिनका पूर्णरूप से आतिथ्य स्वीकार कर रक्खा है तो इनका एवं इनके परिवार का भरण पोषण कैसे होता होगा? उत्तर की कोई आवश्यकता नहीं है। सनातनधर्म्म

ने निर्ज्जला एकादशी का व्रत किसके लिए नियत किया है ? और फिर "आयुर्मर्म्माणि रक्षति, आयुरन्नं प्रयच्छति" इस सिद्धान्त का विरोध भी कौन कर सकता है ? यदि आयुःसूत्र को इन्हें सुरक्षित रखना होगा, तो वह अपने आप भरण पोषण की भी कोई न कोई व्यवस्था ढूँढ ही निकालेगा । और फिर उधार, चोरी, डाका, वञ्चना, धूर्त्तता आदि सदुपाय (!) भी तो विद्यमान हैं ।

१६५-'अज्ञानं तस्य शरणम्' सूत्र के अनुवर्त्ती प्राकृत मानव की मनोनिबन्धना काल्पनिक-स्थिति-परिस्थितियों का स्वरूप-चित्रण, एवं प्राकृतमानव की विमूढता-लक्षणा शान्ति (!) का स्वरूप-चित्रण—

परिवार भले ही अन्न-वस्त्र के लिए त्राहि त्राहि करता रहे । स्वयं को भी भले ही एकादशी के पवित्रव्रत का अनुष्ठान करना पड़े । परन्तु वाह रे शेर ! क्या मजाल जो अपनी भीष्मप्रतिज्ञा तोड़ कर किसी उद्योग पर दृष्टि पात करे । घर बैठे बैठे बड़े बड़े संशय विकल्प करते रहना, कल्पना के सुन्दर साम्राज्य में विचरते रहना, परिश्रम शब्द के श्रवणमात्र से पुलकित होकर अश्रुपात करने लग पड़ना, व्यक्त विश्व के व्यक्त कर्म्मों से मुख मोड़कर अव्यक्तचिन्ता में अहोरात्र निमग्न रहना, क्या ये सब कम पुरुषार्थ हैं ? कल्पनारूप ज्ञान ही साधन, कल्पनारूप प्रज्ञान ही साध्य, ऐसा यह ज्ञानयोग किस अकर्मण्य ज्ञानी को प्रिय न होगा ? आधिभौतिक स्थूलशरीर भी जर्ज्जरित सही, उभयरूप शारीराग्नि भी मन्द-मन्दतर-मन्दतम सही, आधिदैविक ब्रह्माग्नि [हृदय] शान्त चाहिए और यह काम उक्तलक्षण ज्ञानयोग से पूरा होजाता है—"अज्ञानं तस्य शरणम्" ।

१६६-'सर्वज्ञानविमूढाँस्तान् विद्धिनष्टानचेतसः' सूत्रपथानुगामी प्राकृत मानव की विभिन्न स्वरूप-स्थितियाँ, तदनुबन्धिनी लोक-वित्त-पुत्रैषणात्रयी तथा प्राकृत-मानव का काल्पनिक-अद्वैत-वाद—

लोग कहते हैं, मनुष्य अपने दोष से पशुसम बन जाता है । हम कहते हैं, अभी उन्होंने मानव-जीवन के उस अन्तिम धरातल का अध्ययन ही नहीं किया, जहां पशुसीमा का भी अतिक्रमण कर ये नरपुंगव धन्य (!) बन गए हैं । पशु तो मजदूरी करता है, दुग्धादि से मानवसमाज की सेवा करता है, परन्तु हमारे चरितनायक ये ज्ञानयोगी (!) तो संसार को स्वप्नवत् मिथ्या समझते हुए सर्वथा ही वीतराग बने हुए हैं । हाँ, इन वीतरागियों के यह रहस्य अवश्य ही समझ में नहीं आरहा कि, जब हम अपने परिवार को [सांसारिक मोह से हटाने के लिए] पर्य्याप्त दुःख दे रहे हैं, उनके नेत्रपटलों को [ताड़न-गर्ज्जन-भर्त्सन आदि विविध दण्ड प्रयोगों से] अहोरात्र अश्रुपूर्ण रखते हैं, संसारी मनुष्यों के संसर्ग से बचने के लिए भंग धतूरा सुलफा गाँझा-आदि उन्मत्तकरणों में सतत निमग्न रहते हैं, तो फिर भी यह परिवार, यह बन्धु-बान्धव, यह समाज क्यों हमें बुरा बतलाता है !, क्यों हम से घृणा करता है और इन सब आक्रमणों को सहते हुए भी क्यों हम पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा के पीछे अनुधावन कर रहे हैं ? सचमुच ऐसा होना तो नहीं चाहिए था, परन्तु होरहा है । क्यों होरहा है, इसका उत्तर भला जब आप जैसे ज्ञानयोगियों को नहीं विदित, तो हमारी क्या गति है ? और फिर आपके इस अद्वैतवाद में-"हम और हमारी समझ" यह

द्वैत रह ही कहाँ जाता है। न आज हम हम हैं, न हमारी समझ समझ है। दोनों के रहते हुए भी विदेह-मुक्ति-लाभ कर चुके हैं। सुनते हैं, भगवान्‌ने उत्तर देने का प्रयास किया है। सुनकर क्या कीजिएगा, जबकि आपने उस उत्तर को पहिले से ही व्यावहारिक रूप दे डाला है—"सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः"।

१६७-मनसा-वाचा-कर्म्मणा दैवाश्रित प्राकृत मानवों का काल्पनिक-ज्ञानयोग—

क्योंकि उक्त निष्ठा में कल्पनारूप आधिदैविक ज्ञान ही साधन है, आधिदैविक ज्ञान ही कल्पना-रूप से साध्य बनता है, अतएव पूर्वपरिभाषानुसार इस योग को हम अवश्य ही "ज्ञानयोग" कह सकते हैं। इस योग के अनुयायी मनसा-वाचा-कर्म्मणा सर्वथा दैव के ही आश्रित रहते हैं।

१६८-व्यक्तितुष्टि, परिवार-समाज-राष्ट्र-तुष्टि से असंस्पृष्टा प्राकृता-काल्पनिका-योगत्रयी का स्वरूप-दिग्दर्शन—

उक्त तीनों योगों में ज्ञानयोग सर्वथा निकृष्ट, कर्म्मयोग इस से अच्छा और भक्तियोग इससे उत्तम है। तीनों ही योगों की मूलप्रतिष्ठा आत्म-प्राण-पशु-लक्षण ब्रह्माग्नि-शरीराग्नि-शरीररूप भूतात्मा है। अतएव इस योगत्रयी को हम भूतात्मानुगत कह सकते हैं। कर्म्मयोगी विशेषरूप से भूतात्मा के शरीरभाग के अनु-यायी, भक्तियोगी शरीराग्नि के अनुयायी, एवं ज्ञानयोगी ब्रह्माग्नि के अनुगामी है। अशिक्षित, मूर्ख, यथा-जात, अकर्म्मण्य, अनुचर, पिटमर, मजदूर आदि सब श्रेणियों का इन्हीं तीनों योगों में से किसी एक योग में अन्तर्भाव किया जासकता है। यह योग न व्यक्तितुष्टि का कारण है, न समाजतुष्टि का। फिर राष्ट्र और विश्व के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है।

१६९-आवरणपरिग्रहमूलक वैकारिक-त्तर से अनुप्राणिता प्राकृतयोगत्रयी की मूलप्रतिष्ठा का स्वरूप-समन्वय, एवं योगत्रयी का प्रथम-सोपान—

आवरण-परिग्रह का भूतात्मा से सम्बन्ध है, एवं यही वैकारिक त्तर है। प्रकृति के विकार का वैकारिकरूप ही वैकारिक त्तर है और यही इस योगत्रयी की मूलप्रतिष्ठा है। प्रकृति, शक्ति, योग्यता, समय, देश, काल, द्रव्य, पात्रादि के विरुद्ध गमन करना ही इस योगत्रयी की मूलभित्ति है। एवं यही योगत्रयी का प्रथम सोपान है, जो प्रत्येक प्राणी का जन्मसिद्ध अधिकार है।

१७०-(१)-उभयदेशानुगता सामान्यायोगत्रयी—

(५) १—
- १—श्रमजीविनः-कर्म्मठाः (कर्म्मयोगः-शारीरानुगतः)
- २—सेवापरायणा-भक्ताः (भक्तियोगः-शरीराग्न्यनुगतः)
- ३—अकर्म्मण्याः-ज्ञानिनः (ज्ञानयोगः-ब्रह्माग्न्यनुगतः)

— (सामान्याः)-शूद्राः
(अशिक्षिताः) सेवावृत्तिपरायणाः
—भूतात्मानुगता-योगत्रयी

—१-(५)—

१७१-(२)-विज्ञानगर्भित प्रज्ञानात्मानुगता योगत्रयी-(विकारक्षर-प्रधाना योगत्रयी)—

शरीर के केन्द्र में प्रतिष्ठित विज्ञानगर्भित प्रज्ञान उक्थरूप आत्मा है। पूर्वपरिभाषानुसार इसे हम ज्ञानमय कह सकते हैं। एवं यही इस संस्था का आधिदैविक पदार्थ माना जाएगा। सर्वाङ्गशरीर में रश्मिरूप से व्याप्त वह विज्ञानप्राणगर्भित प्रज्ञानप्राण ही, जो कि ज्ञानकर्मेन्द्रियों के संचालन से अनुभवगम्य है, अर्करूप प्राण है। मध्यस्थ होने से यह उभयमय है। एवं यही इस संस्था का आधिदैविक-आधिभौतिक पदार्थ है। हिरण्यतेजोगर्भित सोमतत्त्व ही अशीतिरूप पशु है। यही इस संस्था का आधिभौतिक पदार्थ माना जाएगा।

१७२ लोकशिक्षादीक्षित-चतुर-मानववर्ग से अनुप्राणिता लोकशिक्षा, एवं तदनुप्राणिता अध्यात्मसंस्था—

अपने जन्म-समय से आरम्भ कर जन्मावसानपर्य्यन्त जिन लौकिक मनुष्यों को प्राकृतिक-शिक्षारूप शास्त्रीय--शिक्षा के अनुगमन का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ है, अपितु ठीक इसके विपरीत जिन महानुभावों को (समाज-राष्ट्र किंवा विश्व के सामयिक नेताओं ने, विद्वानों ने, वैज्ञानिकों ने जिन लौकिक शिक्षाओं का आविर्भाव, प्रसार, प्रचार किया है, उन की इस) लौकिक शिक्षा के अनुगमन का ही सौभाग्य प्राप्त हुआ है, लोकशिक्षादीक्षित वे चतुर मनुष्य ही इस दूसरी अध्यात्मसंस्था के अधिकारी माने जाएँगे।

१७३-प्रतीच्यदृष्टिकोणानुबन्धी कर्त्तव्य--योगों से अनुप्राणिता ज्ञान भक्ति-कर्म्म--योग-त्रयी का स्वरूप--समन्वय--प्रयास—

यदि पश्चिमी दृष्टिकोण से उक्त तीनों वर्गों का विचार किया जाएगा, तो हम कह सकेंगे कि, पश्चिमी देशों का सिविलविभाग ज्ञानयोग का अनुयायी है। मिलिट्रीविभाग कर्म्मयोग का अनुयायी है, एवं मर्चेन्ट विभाग भक्तियोग का अनुगामी है। शेष बचा हुआ लिबररविभाग भूतात्मसंस्था से सम्बन्ध रखनेवाला शूद्र का मानवसमाज है। इसप्रकार प्रथम-द्वितीय-संस्थाओं को मिला कर भारतेतर देशों के साथ वर्णव्यवस्था से सम्बन्ध रखने वाली भारतीय प्रजा का भी समन्वय होजाता है।

१७४-शासकधर्म्मानुगत शासित मानववर्ग के अनुकरणात्मक धर्म्म, एवं प्रतीच्या योग-त्रयी का प्राच्य--मानव के द्वारा अन्धानुकरण—

क्योंकि विगत शताब्दियों से भारतवर्ष का संसर्ग पश्चिमी देशों के साथ (शासित-शासक रूप से) रहा है और शासितजाति शासकजाति की संस्कृति, सभ्यता को अपनाने के लिए विवश कर दी जाती है, अतएव कुछ समय से भारतीय प्रजा में भी उक्त लौकिक योगत्रयी का प्रवेश होगया है। दूसरे शब्दों में यों कहना चाहिए कि, अनुकरण करने में दक्ष भारतीय प्रजा ने अपनी शास्त्रीय योगत्रयी को भुला कर उसके

स्थान में शासकों के संसर्ग से लौकिक योगत्रयी को ही अपना लिया है । फलस्वरूप वर्त्तमानयुग की भारतीय प्रजा में भी प्रत्यक्षरूप से तीनों लौकिक योग ही प्रचलित होगए हैं ।

१७५-शिक्षित भारतीय मानवों के प्रतीच्यानुकरणनिबन्धन विविध वर्ग, तदनुगत व्यवस्थातारतम्य, एवं अन्धानुकरणात्मक लौकिक-कर्म्मयोग का स्वरूप-समन्वय-

कुछ भारतीय मनुष्य तो ऐसे हैं, जो पश्चिमी शिक्षायन्त्रों से नियन्त्रित शिक्षणालयों में शिक्षा प्राप्त कर, सर्वथा नवीन सांचे में ढल कर उस कर्म्मक्षेत्र में कूद पड़ते हैं, जिस का कि एकमात्र उद्देश्य भौतिक समुन्नति, समाजोन्नति, किंवा राष्ट्रोन्नति ही है । जिन कर्म्मों से समाज, एवं राष्ट्र की आर्थिक चिन्ता दूर हो, रोटी, कपड़े का प्रश्न हल हो, वही कर्म्म इन कर्म्मवादियों का मुख्य उद्देश्य बन जाता है । इस भौतिक कर्म्मवाद के अनुयायी भारतीय ही अधिकारसिद्ध शास्त्रीय कर्म्मवाद का उपहास करते रहते हैं । अनीश्वरमूलक प्रजातन्त्र को मूल बना कर, वर्णाश्रमधर्म्मों की एकान्ततः उपेक्षा कर कल्पित साम्यवाद के आधार पर ही यह कर्म्मयोग प्रतिष्ठित है । "सोचने समझने का कोई काम नहीं, बस आँख मींच कर किए जाओ" यही इनका मूलसूत्र है । ज्ञानवञ्चित यह कर्म्म, क्योंकि साध्य-साधन रूप से उभयथा आधिभौतिक है, अतएव पूर्व-परिभाषानुसार इस लौकिक योग को अवश्य ही "कर्म्मयोग" कहा जासकता है ।

१७६-प्रतीच्य-भक्तियोग के अन्धानुकरण से अनुप्राणित प्राच्य-भारतीय-मानवों का अनुकरणात्मक-भक्तियोग-स्वरूप-समन्वय—

कुछ भारतीय मनुष्य ऐसे भी हैं, जो पक्षपाती तो उसी आदर्श के हैं । परन्तु शीघ्रता से काम न लेकर धैर्य्यपूर्वक आगे बढ़ते हैं । कर्म्म को ज्ञान पर प्रतिष्ठित कर, सामयिक परिस्थिति को लक्ष्य में रख, कहने मात्र के लिए हां में हां करते हुए कर्म्ममार्ग में प्रवृत्त होते हैं । और यही कारण है कि, ये उन विशुद्ध कर्म्मवादियों की अपेक्षा अपनी नीति में विशेषरूप से सफल होते हैं । कर्म्मसाधन से ये समाज के बौद्धिक जगत् पर विजय प्राप्त करते हुए ज्ञान को ही साध्य बनाते हैं । अतएव आधिभौतिक साधन, आधिदैविक-साध्यरूप इस योग को पूर्वपरिभाषानुसार "भक्तियोग" कहा जा सकता है ।

१७७-प्रतीच्य-ज्ञानयोग के पथानुवर्त्मा भारतीयों के काल्पनिक-ज्ञानयोग का स्वरूप-दिग्दर्शन—

एक तीसरा भारतीय समाज ऐसा भी है, जो न कर्म्म करता है, न ज्ञान को मूल बना कर कर्म्म का स्वांग ही भरता है । अपितु करता है वह केवल उपदेश मन्त्रणा ,देना ही इसका मुख्य पुरुषार्थ है । शेष दोनों वर्गों का नेता बना हुआ यह समाज समाज के सर्वोच्च आसन पर विराजमान रहता है । ज्ञान ही इसका साधन है, ज्ञान ही साध्य है । अतएव आधिदैविक साधन एवं आधिदैविक साध्यरूप इस योग को पूर्वपरिभाषानुसार 'ज्ञान-योग' कहा जासकता है ।

१७८-शास्त्रीया योगत्रयी को कल्पितस्वरूप-प्रदान, तन्निबन्धना विविध भ्रान्तियाँ, 'यथाकथञ्चित्' का स्वारस्य, एवं शास्त्रभक्त भारतीयों की काल्पनिक शास्त्र-भक्ति का व्यामोहनात्मक स्वरूप-दिग्दर्शन—

इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रबलवेग से आक्रमण करने वाले इस पश्चिमी संसर्ग ने अधिकांश में यद्यपि भारतीय समाज की शास्त्रीय-योगत्रयी को उक्त कल्पितरूप दे डाला है। फिर भी यह मान लेने में भी कोई अड़चन न होगी कि, कुछ समूह ऐसा भी बच गया, जिस पर साक्षाद्रूप से वह योगत्रयी आक्रमण न कर सकी। यही कारण है कि, इस हीनयुग में भी भारतवर्ष का कुछ समुदाय अपनी शास्त्रीय-योगत्रयी पर यथा-कथंचित् प्रतिष्ठित है। यथाकथंचित् इसलिए कहना पड़ता है कि, साक्षात् न सही, परम्परा से ही सही, ये भी उस छाप से अपनी मौलिकता स्वस्वरूप से सुरक्षित नहीं रख सके। उनके संसर्ग से जिन भारतीयोंने मूल-निष्ठाओं की अवहेलना, एवं परनिष्ठाओं का अनुगमन किया, उन उच्छिष्टभोगी भारतीयों के संसर्ग से कुछ ही समय में ये भी उच्छिष्टभोगी ही बन गए। आज तो इन शास्त्रभक्तों के सम्बन्ध में भी यह निःसंकोच कहा जासकता है कि, नाममात्र के लिए शास्त्रीया बनी हुई इनकी योगत्रयी भी सर्वथा अशास्त्रीया ही बनी हुई है। शास्त्र ने विशुद्ध व्यवहार का ही रूप धारण कर लिया है।

१७९-भारतीयों के अवैध-यज्ञात्मक-काल्पनिक-कर्मयोग का स्वरूप-दिग्दर्शन—

शास्त्रीय-पद्धति से युक्त यज्ञकर्म को कल्पित पद्धतियों का रूप देकर अवैधविधि से यज्ञकर्म के अनुष्ठान करनेवालों की संख्या दिन दिन बढ़ती जाती है। इन के इस यज्ञकर्म के साधन भी कर्पूर-केशर-चन्दनादि आधिभौतिक पदार्थ ही हैं। एवं "वायुशुद्धि आदि फल भी आधिभौतिक ही हैं। अतएव साधन-साध्यरूपेण उभयथा आधिभौतिक बने हुए इस कल्पितयोग को पूर्वपरिभाषानुसार "कर्म्मयोग" कहा जा-सकता है।

१८०-भारतीयों के शास्त्राभासरूप काल्पनिक भक्तियोग का नग्नस्वरूप—

शास्त्रीय पद्धतियुक्त भक्तिमार्ग को कल्पित रूप देकर लोकसंग्रहविरोधी, ज्ञान वैराग्य शून्य, नामस्मरण नामसंकीर्तन आदि रूप भक्तिमार्ग के अनुष्ठान करने वाले भक्तशिरोमणियों की संख्या उन कर्मठों की अपेक्षा भी समृद्ध होती जारही है। साधन आधिभौतिक हैं, साध्य कल्पित आधिदैविक हैं। अतएव साधन-रूप से आधिभौतिक, साध्यरूप से आधिभौतिक इस कल्पित योग को पूर्वपरिभाषानुसार "भक्तियोग" कहा जासकता है।

१८१-भारतीयों के काल्पनिक ज्ञानयोग का स्वरूपोपबृंहण—

शास्त्रीय अव्यक्तप्रधान ज्ञानयोग को वस्त्र रँगने का स्थान प्रदान कर कल्पित संन्यास धारण करने वाले ढोंगी साधु-संन्यासियों की भी आज देश में कमी नहीं है। यदि इनके कल्पित संन्यास का कौतुक देखना हो, तो कुम्भपर्व में पहुँच जाइए। कोई औंधा लटक रहा है, कोई कांटों पर सोरहा है। कैसी अद्भुत

मानचर्चा है ? साधन सब कल्पित आधिदैविक (वस्तुतः आधिभौतिक), साध्य भी सब आधिदैविक (वस्तुतः आधिभौतिक)। इसलिए अवरुद्धकण्ठ से इसयोग को भी पूर्व परिभाषानुसार "ज्ञानयोग" कहा जासकता है।

१८२-योगत्रयी के प्रति उपेक्षा रखने वाले एक चतुर्थ-'व्यावहारिक-समाज' का स्वरूप संस्मरण—

अब भारतवर्ष का एक समूह बच गया। उसे हम "सामाजिक-समूह" कह सकते हैं। राष्ट्रीय और धार्मिक, दोनों समूहों के अनन्तर सामाजिक समूह का भी विचार कर लीजिए। एक समाज ऐसा भी है, जिसे न राजनीतिमूलक राष्ट्र से प्रेम है, एवं न जिसकी धर्म्मनीतिमूलक शास्त्रों पर ही निष्ठा है। न वह इनकी निन्दा करता है, न स्तुति। अपितु अपना एक स्वतन्त्र पथ बना कर वह अपनी जीवननौका का सञ्चालन कर रहा है। इसे हम "व्यावहारिक-समाज" भी कह सकते हैं।

१८३-व्यवहारकुशल मानव-वर्ग का स्वरूपेतिवृत्त—

माता पिताने अपनी आर्थिकपरिस्थिति के अनुसार इसे जैसी जितनी शिक्षा का पात्र बना दिया, उसी से सन्तोष कर यह जीवनसंग्राम में जुट पड़ा। कोई वकालत करने लगा, कोई इञ्जिनीयर बन गया, कोई डाक्टर मैन बन गया, कोई खेती करने लगा, कोई चित्रकारी तो कोई सिलाई का काम। इस व्यवहारकुशल मानव समाज में भी तीनों योगों का समावेश माना जासकता है।

१८४-व्यावहारिक-मानव-वर्ग के व्यावहारिक-कर्म्मयोग का स्वरूप-दिग्दर्शन—

शिक्षाप्राप्त्यनन्तर शिक्षानुसार किसी एक कर्म्म में यावज्जीवन प्रवृत्त रहने वाला, कर्म्म के द्वारा प्राप्त (कर्म्मानुरूप) सम्पत्ति से अपना और अपने परिवार का भरण पोषण करने वाला वर्ग कर्म्मानुयायी कहलाएगा। साध्यरूप से उभयथा आधिभौतिक बना हुआ यह योग पूर्वपरिभाषानुसार "कर्म्मयोग" कहलाएगा।

१८५-व्यवहारकुशल-व्यावहारिक मानव के व्यावहारिक भक्तियोग का स्वरूप-चित्रण—

कर्म्मयोगी समाज का प्रधान लक्ष्य जहाँ अपना परिवार रहेगा, वहाँ इस दूसरे वर्ग की दृष्टि परिवार के साथ साथ आंशिक रूप में समाजसेवा भी रहेगी। अवश्य ही कुछ एक शिक्षित (चाहे वह प्रतीच्य शिक्षा हो, अथवा साधारण प्राच्य शिक्षा) अपने धन्धों के साथ साथ सुविधानुसार समय निकाल कर सामाजिक कार्य्यों में भी सहयोग दिया करते हैं। अपने कर्म्मों से ये समाजविकास के कारण बनते हैं। उधर पूर्व कथनानुसार विकास ज्ञानकर्म है। अतएव आधिभौतिक साधनरूप, आधिदैविक साध्यरूप इस योग को पूर्वपरिभाषानुसार 'भक्तियोग' कहा जासकता है।

१८६-व्यवहारनिष्ठ-व्यावहारिक-मानव के ज्ञानयोग का नीरक्षीर-विवेक—

कुछ एक ऐसे भी सामाजिक मनुष्य मिलेंगे, जो न तो अपना ही कोई विशेष कर्म्म करेंगे, एवं न सामाजिक कर्म्मों में ही कोई क्रियात्मक सहयोग देंगे। अपितु शिक्षा के कुछ अधिक विकास से समाज के मुखिया

(पंच-नेता) बनकर समाज के (वाचिक प्रयोगों के द्वारा) उपदेशक बन जाएँगे । खरे खोटे की समालोचना करना, पञ्चायती संघटन के द्वारा उत्पथ जाने वाले के लिए दण्ड विधान करना, समयानुसार सामाजिक, किंवा जातीय रीतिविधानों में हानि लाभ प्रदर्शन-पूर्वक सुधारों की घोषणा करते रहना, इत्यादि वाचिक ज्ञानोपदेशमय ज्ञानीय कर्म्म ही इन के मुख्य कर्म्म रहेंगे । क्योंकि इन के साधन साध्य दोनों ज्ञानप्रधान रहेंगे, अतएव आधिदैविक साधन साध्यरूप इस योग को पूर्व परिभाषानुसार अवश्य ही 'ज्ञानयोग' कहा जासकेगा ।

१८७–राष्ट्रीय, धार्म्मिक, सामाजिक, तथा साधारण–भेदनिबन्धन मानव के चतुर्विध विभिन्नवर्ग, एवं उनका स्वरूप–दिग्दर्शन —

पूर्व सन्दर्भ का निष्कर्ष यही निकला कि समस्त भूमण्डल से देशों को प्राच्यदेश, प्रतीच्यदेश इन दो भागों में विभक्त माना जासकता है । देश-काल-पात्र की योग्यता के भेद से दोनों ही प्रदेशों के मानवसमाज यद्यपि आदर्श, संस्कृति, आचार, व्यवहार में भिन्न भिन्न माने जाएँगे, परन्तु योगत्रयी के सम्बन्ध में दोनों का उद्देश्य समतुलित ही माना जाएगा । प्राच्यदेश का मानवसमाज जिसप्रकार स्थूलदृष्टि से राष्ट्रीय, धार्म्मिक, सामाजिक, साधारण इन चार भागों में विभक्त माना गया है, एवमेव प्रतीच्य-मानव समाज को भी इन्हीं चार भागों में विभक्त किया जासकता है । पूर्व में यद्यपि हमने पश्चिमी मानव समाज के सम्बन्ध में केवल राष्ट्रीय वर्ग का ही दिग्दर्शन कराया है, परन्तु प्रदर्शित पूर्वीय धार्म्मिकादि इतर तीनों समाजों का भी वहाँ वैसे ही श्रेणि विभाग समझना चाहिए, जो कि श्रेणि-विभाग पूर्वी देशों के सम्बन्ध में बतलाया गया है ।

१८८–श्रेणिविभागानुबन्धी वर्गविभागों का स्वरूपसमन्वय, समाजनीति–राष्ट्रनीति–राजनीति–धर्म्मनीति आदि का संस्मरण, तथा नीति और धर्म्म का सम्बन्ध–असम्बन्धानुगत–विपर्य्यय—

दोनों समाजों का श्रेणि–विभाग करते हुए विज्ञ पाठक इस बात का तो पूरा ध्यान रक्खेंगे ही कि, वर्त्तमान काल को लक्ष्य में रखकर पूर्वीयदेशों के, विशेषतः भारतवर्ष के मानवसमाज को जिन राष्ट्रीय–धार्म्मिक–सामाजिक–सामान्य, इन चार भागों में विभक्त बतलाया है, ये चारों ही विभाग अपनी मौलिकता से वञ्चित हैं । पश्चिमी देशों के ये चार विभाग सदा से ही पृथक् पृथक् चले आरहे हैं । परन्तु भारतवर्ष में चार के स्थान में केवल एक ही विभाग था और वह था, धार्म्मिक विभाग । यहां की राष्ट्र सम्बन्धिनी राजनीति, समाजनीति, सामान्यनीति तीनों धर्म्मनीति के गर्भ में ही प्रविष्ट थी। धर्म्मनीति से विरोध रखनेवाली राजनीति हो, सामान्यनीति हो, समाजनीति हो, अथवा राष्ट्रनीति हो, कभी भारतवर्ष में शिर नहीं उठा सकती थी । यहाँ इस एक धर्म्मनीति के आधार पर ही इतर तीनों की मान्यता प्रतिष्ठित थी, जब कि पश्चिमी देशों में राजनीति और धर्म्मनीति का कभी समन्वय नहीं होसका । दूसरी दृष्टि से यह भी कहा जासकता है कि—भारतवर्ष में राजनीति, समाजनीति आदि को, जहाँ धर्म्मनीति के अनुसार चलना पड़ता था, इस के सर्वथा विपरीत पश्चिमी देशों में धर्म्मनीति, समाजनीति सदा राजनीति के अनुसार प्रवाहित हुई हैं । वहाँ जो धर्म्मव्यवहार, जो सामाजिक नियन्त्रण राजनैतिक (राष्ट्रीय) स्वार्थों के विरोधी सिद्ध

हुए हैं, उन का सर्वथा निष्कासन होता रहा है। वहाँ राजनीति धर्म्म के लिए नहीं है, अपितु धर्म्मनीति राजनीति की साधिका है। धर्म्मरक्षा के लिए राजनीति का उपयोग नहीं होता, अपितु राजनीति के ऐकान्तिक स्वार्थपूर्ण दुर्ग को दृढ बनाने के लिए धर्म्मप्रचार को उत्तेजना दी जाती है। परिणाम इस वृत्ति का यह हुआ कि, वहाँ चारों वर्ग स्वतन्त्र बन गए हैं। धर्म्म ही एक ऐसा दिव्य आलम्बन है, जो सारे भेदवादों का अपने एक अभिन्न धरातल पर समीकरण कर सकता है। कारण, धर्म्म प्रकृति का शासनसूत्र है। राजनीति, समाज-नीति आदि अस्थिर मानवीय मन की अस्थिर एवं सामयिक कल्पना है। इस सामयिक कल्पना को यदि धर्म्म का आधार बना दिया जाता है, तो वह धर्म्म, वह समाजनीति आदि आदि सबकुछ कल्पनामय ही बन जाते हैं।

१८९-धर्म्म का मूलप्रतिष्ठात्व, तद्व्यवस्थापक आचार्य्य और वर्त्तमानयुग में तदुपेक्षा, एवं उसके भीषण दुष्परिणामों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

भारतीय आचार्य्यों ने धर्म्म के आधार पर राजनीति, समाजनीति आदि को प्रतिष्ठित कर इन का अभूतपूर्व विलक्षण समन्वय किया है। अभिन्न धर्म्म के धरातल पर प्रतिष्ठित ये सम्पूर्ण भेदवाद अपने अपने भेदवादों को सुरक्षित रखते हुए किसी अभिन्न उद्देश्य को लक्ष्य बना कर ही आगे बढते थे। परन्तु जैसाकि पूर्व में कहा गया है, पश्चिमी देशों की राष्ट्रीयनीति के संसर्ग में पड़कर भारतीय प्रजा ने मौलिक धर्म्म-धरातल के स्थान में राजनीति को मुख्य धरातल बनाने की एक भयङ्कर भूल कर डाली। परिणाम जो कुछ हुआ, देश उसका कटु अनुभव कर रहा है। पश्चिमी देशों की भांति यहाँ के राष्ट्रीय-नेता भी धर्म्मनीति, समाज-नीति को राजनीति से सर्वथा पृथक् समझने लगे हैं। धर्म्मनीति को राष्ट्रीय एकीकरण में अन्यतमप्रतिबन्धक समझा जाने लगा है। उधर इनकी इस मनोवृत्ति से भारतीय धार्म्मिक समाज राष्ट्रीय-नीति को धर्म्म का शत्रु समझने लगा है। पत्यय विरोध की इसी अहमहमिका में पड़कर देश की संगठन शक्ति शीर्ण होती जारही है। संगठन के नाम पर दोनों ओर से ही संगठन को निर्म्मूल बनाया जारहा है। और इसी दृष्टि से लौकिक योगत्रयी एक के स्थान में चार भागों में विभक्त होरही है। सामान्य (अशिक्षित) जनानुगता योगत्रयी का जहाँ भूतात्मसंस्था से सम्बन्ध है, वहाँ राष्ट्रीय-धार्म्मिक-सामाजिक योगत्रयी का विज्ञानगर्भित प्रज्ञानात्मा से सम्बन्ध है, यह पूर्व में कहा ही जाचुका है।

१९०-त्रिविधा योगत्रयी के फलाफल का संस्मरण, एवं नीति और धर्म्म के समन्वय-असमन्वय के सम्बन्ध में आपातरमणीया विभिन्न-धारणाएँ—

एक बात और। राष्ट्रीय, धार्म्मिक, सामाजिक तीनों की योगत्रयी के फलाफल का विचार करते हुए हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि तीनों में धार्म्मिक समाज का तीसरा स्थान है, सामाजिक दल का दूसरा एवं राष्ट्रीय दल का तीसरा। धार्म्मिक समाज अत्यन्त हीनदशा में है। कारण स्पष्ट है। धर्म्म को न मानने से उतना अनिष्ट नहीं होता, जितना कि धर्म्म को धोका देने से। नाममात्र के लिए धार्म्मिक समाज आज ब्याज से धर्म्माचरण कर रहा है। दूसरे शब्दों में अज्ञानता से, अथवा जान बूझ कर धर्म्म के नाम पर अधर्म्म कर रहा है। इसी पाप से राष्ट्रीय सामाजिक वर्गों की अपेक्षा इसी की आर्थिक, सामाजिक आदि सब दशाएँ निकृष्ट होती जारही हैं। उधर एक समाज सामाजिक एवं राष्ट्रीय मनुष्य धर्म्म को न मानकर विशुद्ध भूतवाद

के आधार पर आगे बढ़ रहा है। धर्म्म को धोका नहीं देरहा। प्रत्यक्षरूप से धर्म्म की अवहेलना कर अपने भूतवाद का अनुयायी बना हुआ है। परिणामतः धार्मिकजगत् की अपेक्षा ये दोनों समाज आर्थिक, सामाजिक दशाओं में निष्कण्टक से बने हुए हैं और यही इनका सब से बड़ा तर्क है, जिसके आधार पर ये धर्म्मनीति के उपहास करने की धृष्टता किया करते हैं।

१६१-विज्ञानात्मगर्भिता आत्मसंस्था का संस्मरण, एवं आत्मपरमात्मभावनाशून्या लौकिकी योगत्रयी—

अस्तु, वक्तव्य यही है कि बुद्धि को मन का सेवक बनाकर ऐन्द्रियक विषय-वासना की तुष्टि के लिए, भूतोन्नति के लिए प्रवृत्त, लोकशिक्षादीक्षित लौकिक मनुष्यों से सम्बन्ध रखने वाली, आत्म-परमात्म-भावशून्या दूसरी योगत्रयी अध्यात्मसंस्था की (विकारक्षरप्रधाना) विज्ञानगर्भिता संस्था पर ही प्रतिष्ठित है।

१६२-(१) (क)-प्रतीच्यदेशानुगता लौकिक-यौगिकत्रयी-प्रथमा दृष्टि

(४) २ {
- १-आविष्कारकाः———कर्म्मठाः (कर्म्मयोगः-सोमतत्त्वानुगतः)
- २-राष्ट्रसमाजसेवापरायणाः-भक्ताः (भक्तियोगः-वि० प्रा० गर्भित—प्रज्ञानप्राणानुगतः)
- ३-उपदेशकाः-सन्तः-ज्ञानिनः (ज्ञानयोगः-वि० ग० प्रज्ञानुगतः)

} [विशेषः] [शिक्षिताः] प्रज्ञानात्मानुगता योगत्रयी

१६३-(ख)-पश्चिमदेशानुगता लौकिकयोगत्रयी-(द्वितीया दृष्टिः)।

(४)-२ {
- १-मिलिट्रीवर्गः (क्षत्रियस्थानीयः)-कर्म्मठः (कर्म्मयोगः-सोमानुगतः)
- २-मर्चेन्टवर्गः (वैश्यस्थानीयः)-भक्तः (भक्तियोगः-प्रज्ञानप्राणानुगतः)
- ३-सिविलवर्गः (ब्राह्मणस्थानीयः)-ज्ञानी (ज्ञानयोगः-प्रज्ञानानुगतः)

} (विशेषाः-शिक्षिताः) प्रज्ञानात्मानुगता-योगत्रयी

—*—

१६४-पश्चिमदेशानुगता-लौकिकयोगत्रयी-राष्ट्रीया—

(रूसप्रदेशानुगताविशेष रूपेण)

१-प्रजातन्त्रानुयायिनः—कर्म्मण्येवासक्ताः—अविवेकिनः—कर्म्मठाः (कर्म्मयोगः)
२-प्रजातन्त्रानुयायिनः—कर्म्मण्येवासक्ताः—किन्तुविवेकिनः-भक्ताः (भक्तियोगः)
३-प्रजातन्त्रानुयायिनः—मार्गप्रदर्शकास्तन्त्राध्यक्षाः———ज्ञानिनः (ज्ञानयोगः)

—*—

१६५-पश्चिमदेशानुगता लौकिकयोगत्रयी-धर्म्मानुगता—

१-धर्म्ममार्गेऽभ्यस्ताः—राजतन्त्रानुगताः—कर्म्मठाः (कर्म्मयोगः)

२-धर्म्ममार्गेऽभ्यस्ताः—समाजसेवकाः—भक्ताः (भक्तियोगः)

३-धर्म्ममार्गोपदेशकाः—सन्तपालादयः—ज्ञानिनः (ज्ञानयोगः)

—*—

१६६-पश्चिमदेशानुगता लौकिकयोगत्रयी-समाजनिबन्धना—

१-वैयक्तिक-पारिवारिक-पालनकर्म्मणि निरताः—कर्म्मठाः (कर्म्मयोगः)

२-पारिवारिक-चिन्तानिवृत्तिपूर्वकं समाज से०नि०-भक्ताः (भक्तियोगः)

३-अवैतनिकाः, सामाजिकाः, निर्णायकाः——ज्ञानिनः (ज्ञानयोगः)

—*—

१६७-भारतवर्षानुगता लौकिक-योगत्रयी, आधुनिकी-राष्ट्रीया—

१-अन्धरूपेण भौतिककर्म्मणि निरता धर्म्मविरोधिनो भारतीयाः-प्रजातन्त्रानुगामिनः।

२-विवेकमाश्रित्य भौ० क० नि० ध० वि० भा० प्रजातन्त्रानुगताः।

३-विवेकमाश्रित्य राष्ट्रनीतिसञ्चालकाः, उपदेशनिरता नेतारः, ध० वि० प्र०।

—*—

१६८-भारतवर्षानुगता लौकिकयोगत्रयी, आधुनिकी-धर्म्मानुगता-

१-अशास्त्रीयपद्धत्या यज्ञकर्म्मणि प्रवृत्ता धार्म्मिका भारतीयाः, राजतन्त्रानुगामिनः।

२-अशास्त्रीयपद्धत्या नामसंकीर्तनादिलक्षणे भक्तिमार्गे प्र० भा० राज०।

३-शास्त्रमर्म्मानभिज्ञाः, मिथ्याधर्म्मप्रचारकाः।

—*—

१९९--भारतवर्षानुगता लौकिकयोगत्रयी आधुनिकी-समाजनिबन्धना-

१-प्राप्तशिक्षाबलेन परिवारपालनार्थमेव कर्म्मणि प्रवृत्ताः, तटस्थाः ।

२-प्रा० शि० परिवारेण सह समाजमप्युपकृतवन्तः-तटस्थाः ।

३-समाजव्यवस्थापकाः, उपदेशकाः ।

—२—

२००-(३)-शारीरकात्मानुगता योगत्रयी (आत्मक्षरप्रधाना योगत्रयी) (केवल-भारतवर्षीया)—

शरीर के केन्द्र में प्रतिष्ठित वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञमूर्त्ति जीवभाव उक्थरूप आत्मा है, एवं पूर्व-परिभाषानुसार इसे हम ज्ञानमय कह सकते हैं । यही इस संस्था का आधिदैविक पदार्थ माना जाएगा । पार्थिव अपान, समान, प्राणोदान-गर्भित आन्तरिन्द्रय व्यानप्राण ही अर्करूप प्राण है । मध्यस्थ होने से आधिदैविक आधिभौतिक दोनों पदार्थों का समष्टिरूप बनता हुआ उभय माना जाएगा । शारीरत्रिलोकी ही अशीतिरूप पशु है । यही इस संस्था का आधिभौतिक पदार्थ माना जाएगा ।

२०१-भारतीय तत्त्वज्ञों के द्वारा सोपानभावनिबन्धन-पारम्परिक-आत्मसंस्थाओं का स्वरूप-साक्षात्कार, तन्निबन्धना तत्त्वस्वरूप-व्यवस्थिति, एवं तदनुप्राणिता-'शास्त्रीया-योगत्रयी' का माङ्गलिक-स्वरूप-संस्मरण—

जिन विचारशील भारतीय विद्वानों ने भौतिक जगत् के साथ अपने मन को विज्ञान का अनुगामी बनाते हुए (आवृत्तचक्षुः) अमृतत्व की इच्छा से शरीरातिरिक्त नित्य आत्मतत्त्व का अन्वेषण किया, उन्हों ने कालान्तर में उक्त त्रिपर्वा आत्मक्षररूप महत् के दर्शन कर लिए । आगे जाकर इन्हें अव्यक्तगर्भित अक्षरमूर्त्ति महत् के दर्शन हुए । इस परम्परा से एक दिन इन आप्तपुरुषों ने अपनी सुसूक्ष्मा आर्षदृष्टि से उस सर्वान्तरतम 'अहंब्रह्म' रूप अव्ययमूर्त्ति प्रत्यगात्मा के साथ समन्वयभाव प्राप्त कर लिया । तदित्थं भारतीय ऋषियों का आत्मवाद व्यक्त आत्मक्षर शारीरक आत्मा से चलकर अक्षरमूर्त्ति अव्यक्तगर्भित महानात्मा का संग्रह करता हुआ व्यक्ताव्यक्तातीत सनातन अव्ययमूर्त्ति प्रत्यगात्मा (आध्यात्मिक ईश्वर) पर ही विश्रान्त है । पुरुषात्मक एक ही आत्मा के व्यक्ताव्यक्तगर्भित (क्षराक्षरगर्भित) व्यक्ताव्यक्तातीत सनातन अव्ययप्रधान प्रत्यगात्मा, व्यक्त सनातन (क्षराव्यय) गर्भित अव्यक्तप्रधान (अक्षरप्रधान) महानात्मा, सनातन अव्यक्त (अव्ययाक्षर) गर्भित व्यक्तप्रधान (आत्मक्षरप्रधान) शारीरक आत्मा, ये तीन विवर्त्त होजाते हैं । प्रत्यगात्मा परमात्मा है, महानात्मा क्षेत्रज्ञात्मा है, एवं शारीरकात्मा जीव संज्ञक अन्त-रात्मा है । इन्हीं तीनों आत्मविवर्त्तों के स्वरूप-निरूपण के लिए, तीनों से सम्बन्ध रखने वाले ज्ञान-कर्म-

भक्तियोगों के विश्लेषण के लिए वेदादिशास्त्र प्रवृत्त हुए हैं। अतएव इन तीनों से सम्बन्ध रखने वाले योगत्रयी के विवर्त्तों को "शास्त्रीय योगत्रयी" नाम से ही व्यवहृत करेंगे। और साथ ही यह भी कहेंगे कि, इन तीनों के परिज्ञान का, तीनों से सम्बन्ध रखने वाले योगों का, योगों के प्रसार प्रचार का प्राप्त एवं अनुगमन का अधिकार एकमात्र भारतीय वर्णाश्रम धर्म्मानुयायिनी द्विजाति प्रजा को ही है। यह भारतवर्ष की ही प्रातिस्विक सम्पत्ति है, जिस की भारतेतर देशों में अद्यावधि सर्वथा अनुपलब्धि है। तीनों में से सर्वप्रथम तीसरे शारीरक आत्मा से सम्बन्ध रखने वाले योगत्रयीविवर्त्त का ही विचार प्रस्तुत है।

२०२-शारीरकात्मा में अभिनिविष्ट प्राकृत-मानवों के द्वारा प्रत्यगात्मा की उपेक्षा, तद्दुष्परिणाम, एवं तन्निबन्धना आसक्ति के विभिन्न विवर्त्तों का स्वरूप-संस्मरण-

शारीरकात्मा को ही मुख्य लक्ष्य समझने वाले विद्वानों ने तदनुगता योगत्रयी पर ही विश्राम कर लिया, जोकि *प्रत्यगात्मा की दृष्टि से सर्वथा अनुचित था। यदि शारीरकात्मानुगता योगत्रयी का आधार* प्रत्यगात्मा को बना लिया जाता, तो कभी इस शास्त्रीय-योगत्रयी का गीता को, संशोधन न करना पड़ता। परन्तु जैसा कि इन तीनों के विशद लक्षण बतलाते हुए स्पष्ट किया जाचुका है, शारीरकात्मा के उक्थरूप जीवभाव से सम्बन्ध रखने वाला ज्ञानयोग, शारीरकात्मा के अर्करूप व्यानप्राण से सम्बन्ध रखने वला भक्तियोग एवं शारीरकात्मा के अशितिरूप शरीरत्रैलोक्य से सम्बन्ध रखने वाला कर्म्मयोग, तीनों ही क्रमशः ज्ञानासक्ति, भगवदनुग्रहप्राप्तिकामासक्ति, स्वर्गादिफलप्राप्तिकामासक्ति दोषों से दूषित बना दिए गए, जैसाकि वहाँ के लक्षणों मे उक्तप्राय है।

२०३-'ज्ञानयोगेन सांख्यानाम्' मूलक-ज्ञानयोग, एवं भगवान् के द्वारा तन्निन्दा—

सांख्य मतानुयायियों ने कर्म्मपरित्यागलक्षण शारीरकात्मयोगात्मक ज्ञानयोग को प्रधानता दी— "ज्ञानयोगेन सांख्यानाम्"। इनके साधन-साध्य दोनों ज्ञानरूप आधिदैविक ही बने और इसी दृष्टि से पूर्व परिभाषानुसार इस योग को "ज्ञानयोग" कहा गया। भगवान् ने न केवल इसकी निन्दा ही की, अपितु इसका अनुष्ठान भी असम्भव बतलाया गया।

२०४-कर्म्मासक्त-अभिनिविष्टों के 'कर्म्मयोग' का स्वरूप-संस्मरण—

हिरण्यगर्भमतानुयायियों ने कर्म्म का परिग्रह तो किया, परन्तु फलाशा पूर्वक। साधन भी आधिभौतिक बने। स्वर्गादिमूलरूप साध्य भी आधिभौतिक। फलतः फलकामासक्तिमय, अतएव त्रिगुणभावमय यह यज्ञ-कर्मात्मक योग पूर्वपरिभाषानुसार "कर्म्मयोग" कहलाया। इसे भी भगवान् ने दोषयुक्त बतलाया। भक्तिमार्गानुयायी भक्तों ने स्वार्थ का तो अनुगमन किया, परन्तु ईश्वरानुग्रह की कामना कर डाली। फलतः इनका आधिभौतिक साधन, आधिदैविक साध्यरूप यह भक्तियोग भी दोष से न बच सका। और इन सब दोषों का मूलकारण बना केवल शारीरकात्मा का अनुगमन।

२०५-'लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा' सूत्रानुगत-'लोके' शब्द का रहस्यपूर्ण समन्वय, एवं काल्पनिकी निष्ठाओं की लोकभावुकता का स्वरूप-दिग्दर्शन—

शारीरकात्मा देहाभिमानी बनता हुआ स्वभावतः त्रिगुणभाव की ओर आकर्षित रहता है। जहाँ त्रिगुणभाव है, वहाँ अवश्य ही आसक्ति विद्यमान है। फिर चाहे वह आसक्ति ईश्वरासक्ति हो, अथवा ज्ञाना-सक्ति। आसक्ति आसक्ति है, बन्धन है। जबतक तक बन्धन है, तबतक आत्मा क्षुब्ध है। क्षोभ में अशान्ति है-"अशान्तस्य कुतः सुखम्"। ऐसी दशा में शास्त्रीय योगत्रयी को अपने बुद्धिदोष से उक्त दोषों से युक्त बनाकर क्रमशः ज्ञान-भक्ति-कर्म्मयोगों में प्रवृत्त रहने वाले अभिनिविष्ट विद्वान् एक प्रकार से मूलोद्देश्य सिद्ध करने में असफल ही रहे। अतएव यह योगत्रयी शास्त्र को अपना मूल बनाती हुई भी शास्त्रीय उद्देश्य से वञ्चित होने के कारण भगवान् की दृष्टि में शास्त्रीय-निष्ठा न कहलाकर लोकनिष्ठा ही कहलाई, जैसाकि—"लोकेऽ-स्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽऽनघ" इत्यादि से स्पष्ट है।

(३)	१-सर्वकर्म्मत्यागपूर्वकं ज्ञाने एव निरताः सांख्याः-(ज्ञानयोगो जीवानुगतः) २-ईश्वरानुग्रहकामुका भक्ताः (भक्तियोगः-ध्यानानुगतः) ३-कर्म्मफलानुगामिनः-योगिनः (कर्म्मयोगः शा० श्लोकधानुगतः)	शारीरकात्मानुगता	योगत्रयी (लौकिकी)

—३—

२०६(४)-अव्यक्तगर्भित महानात्मानुगता योगत्रयी (अक्षरप्रधाना योगत्रयी)

शारीरकेन्द्र में प्रतिष्ठित अव्यक्तात्म-(शान्तात्म)-गर्भित सत्वमूर्त्ति अक्षरप्रधान महत्तत्त्व उक्थ-रूप आत्मा है। पूर्वपरिभाषानुसार इसे ज्ञानमय कहा जाएगा, एवं यही इस संस्था का आधिदैविक पदार्थ माना जाएगा। सर्वाङ्गशरीर में रश्मिरूप से व्याप्त ऋत-सत्य-रूप अव्यक्त प्राणगर्भित सौम्यप्राण अर्करूप प्राण माना जाएगा, एवं इसे ही इस संस्था का अभयरूप आधिदैविकाधिभौतिक पदार्थ कहा जाएगा। अव्यक्त पशुमूर्त्ति शिरोगुहा गर्भित अन्नभाग अशीतिरूप पशु कहा जाएगा, एवं इसे ही इस संस्था का आधिभौतिक पदार्थ माना जाएगा।

२०७-गीताद्वारा संशोधित योगत्रयी का लोकसंग्राहीरूप—

ज्ञान--भक्ति--कर्म नाम की जिन शास्त्रीय निष्ठाओं को सांख्य-योगी--भक्तों ने (स्वतन्त्ररूप देते हुए) शारीरकात्मा पर विश्रान्त माना था, अतएव जो योग दोषयुक्त, अतएव च त्याज्य बने हुए थे, लोकसंग्राही भगवान् ने महानात्मा के समावेश से इन्हीं तीनों का संशोधन कर गीता में स्थान दिया। गीता के द्वारा संशोधित, महदात्मयुक्त बने हुए वे ही योग क्रमशः ज्ञानबुद्धियोग, ऐश्वर्य्यबुद्धियोग, धर्म्मबुद्धियोग नाम से व्यवहृत हुए हैं। इन तीनों संशोधित योगों के क्या लक्षण हैं, तीनों में कौन

अपेक्षाकृत श्रेष्ठ है, यह भी देख लीजिए, जिससे कि पूर्व में बतलाए गए कल्पित शास्त्रीय योगों की तुलना में विशेष सुविधा हो—

२०८ (१)-ज्ञानयोगः संशोधितः, निर्दोषः, अतएव ग्राह्यः—

(गीतासम्मतो ज्ञानबुद्धियोगः)

"सांसारिक दुःखों से बचने के लिए प्रत्येक मनुष्य का यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि, वह यथाशास्त्र, ब्रह्मचर्य्य-गृहस्थधर्म्मों का पालन करता हुआ तीसरे वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश कर लोक, वित्त, पुत्रैषणा का परित्याग करदे। इस आश्रम में आत्मोपयिक निवृत्तकर्म्मों का अनुगमन करता हुआ, यथासाध्य लोकोपकार करता हुआ, अव्यक्त-अक्षरमूर्त्ति महानात्मा को लक्ष्य बनाता हुआ, आहारविहारादि को सीमित करता हुआ, आत्मकर्म्मों का अनुगामी बना रहे। इन निवृत्तकर्म्मों के प्रभाव से क्रमशः इसका आत्मा वासनाकषाय से मुक्त होता जाएगा। एक दिन यह क्षीणोदर्क की चरम सीमा पर पहुंचता हुआ कैवल्यभाव को प्राप्त होजाएगा"।

१

२०९ २—भक्तियोगः, संशोधितः, निर्दोषः, अतएव ग्राह्यः (गीता-सम्मत-ऐश्वर्य्यबुद्धियोगः)—

"संसारकष्ट से त्राण पाने के लिए मनुष्य का कर्त्तव्य होना चाहिए कि, वह यावज्जीवन शास्त्रविहित यथाधिकारसिद्ध कर्म्मों में प्रवृत्त रहता हुआ, अपने एवं अपने कर्म्मों को बिना किसी फलाकांक्षा के ईश्वरार्पण करता रहे। सतत ईश्वरानुध्यानपूर्वक क्रियमाण इस साधक का यह कर्म्म भक्तिरूप में परिणत होजाएगा। इसी भक्तिनिष्ठा के प्रभाव से कालान्तर में इसे प्रत्यगात्मलक्षणा बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त होजाएगी।

— २ —

२१० ३—कर्म्मयोगः, संशोधितः, निर्दोषः अतएव ग्राह्यः (गीता-सम्मत-धर्म्मबुद्धियोगः)—

"सांसारिक कर्म्मों में अहोरात्र व्यस्त रहते हुए भी इन में किसी प्रकार के कष्ट का अनुभव न हो, इस के लिए द्विजाति को चाहिए कि वह अपने यज्ञादि वैदिक लौकिक कर्म्मों को उस विश्वयज्ञ में अर्पण करता हुआ निष्कामभाव से यावज्जीवन इन में प्रवृत्त रहे। इस निष्कामकर्म्म से कालान्तर में पहिले इसे भक्तिनिष्ठा मिलेगी, अनन्तर बुद्धि-योग का उदय होजाएगा।

— ३ —

२११–ज्ञानयोगापेक्षया कर्म्मयोग-पथ का सारल्य एवं लोकसंग्रह में उस का पूर्ण समावेश—

उक्त तीनों में ज्ञानयोग में क्लेश भी अधिक है, साथ ही लोकसंग्रह का भी प्रायः अभाव ही है। उधर कर्म्मयोग एक सरल पथ है, साथ ही लोकसंग्रह का भी पूर्ण समावेश है। इस दृष्टि से लौकिक-संन्यासमूलक इस ज्ञानयोग की अपेक्षा वैदिक-लौकिक-सामाजिक-व्यावहारिक-राष्ट्रीय आदि आदि सर्व-कर्म्मपरिग्रहलक्षण, अतएव पूर्णरूप से लोकसंग्राहक कर्म्मयोग कहीं अधिक श्रेष्ठ माना जाएगा–"तयोस्तु कर्म्मसंन्यासात् कर्म्मयोगो विशिष्यते।"

२१२–"यो मे भक्तः स मे प्रियः" सूत्रानुगता ईश्वरानुग्रहलक्षणा भक्ति का श्रेष्ठत्व—

ज्ञानमार्ग में प्रसादगुण का अभाव है। ज्ञानी का धरातल सर्वथा उदासीन है। उधर कर्म्मठ का जीवन भी प्रसादभाव से वञ्चित सा ही है। जबतक ज्ञान-कर्म्ममार्ग में ईश्वरीय भाव का समावेश कर उसे मधुर नहीं बना दिया जाता, तबतक लक्ष्यसिद्धि होजाने पर भी आत्मप्रसाद नहीं होता। साथ ही में ज्ञान-योगी को भी ईश्वरानुग्रहलक्षणा भक्ति के द्वारा ही बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त होती है, एवं पूर्वकथनानुसार कर्म्म-योगी भी उसी के द्वारा बुद्धियोगानुगमन में समर्थ होता है। इधर भक्तियोग का बुद्धियोग केसाथ साक्षात् सम्बन्ध है। इसदृष्टि से भक्तियोग कर्म्मयोग की अपेक्षा भी श्रेष्ठ माना जाएगा–"यो मे भक्तः, स मे प्रियः"।

— ४ —

२१३–५–प्रत्यगात्मानुगता योगत्रयी–(अव्यय प्रधाना योगत्रयी)।

हृदयस्थ अव्ययतत्त्व उक्थरूप आत्मा, यह ज्ञानमय, अतएव पूर्वपरिभाषानुसार आधिदैविक पदार्थ। सर्वाङ्गशरीर में रश्मिरूप से व्याप्त विधर्त्तात्मक अक्षरतत्त्व अर्करूप प्राण, यह मध्यस्थ होने से आधिदैविका-धिभौतिक पदार्थ सर्वाङ्गशरीर में भूत प्रतिष्ठारूप से व्याप्त धर्त्तात्मक क्षरतत्त्व अशीतिरूप पशु, यह कर्म्ममय, अतएव पूर्वपरिभाषानुसार इस संस्था का आधिभौतिक पदार्थ।

२१४–गीता का विशुद्ध बुद्धियोगशास्त्रत्व एवं "अल्प में भूम" का चारितार्थ्य—

अनेक युक्तियों, प्रमाणों, तर्कों, एवं अनुभवों से सर्वात्मना अब यह सिद्ध होचुका है कि, लोक-संग्रहदृष्टि से महदात्मसम्बन्धी ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-योगों का निरूपण करता हुआ भी गीताशास्त्र अपने रूप से प्रत्यगात्मसम्बन्धी बुद्धियोग का, किंवा बुद्धियोगत्रयी का ही निरूपण करता है। पाँचों आत्मसंस्थाओं का निरूपक गीताशास्त्र जहाँ प्रातिस्विकरूप से अव्ययलक्षण प्रत्यगात्मा का विश्लेषण करता है, वहाँ पाँचों से सम्बन्ध रखने वाली योगत्रयी का निरूपण करता हुआ प्रधानरूप से बुद्धियोगत्रयी का ही निरूपण करता है। इस दृष्टि से गीता ज्ञानयोग, कर्म्मयोग, भक्तियोग तीनों में से एक भी शास्त्र न होकर विशुद्ध बुद्धियोग शास्त्र है। "गागर में सागर" किंवदन्ती को चरितार्थ करने वाले गीताशास्त्र का चमत्कार तो देखिए, उसने

पांचों आत्मसंस्थाओं का, एवं पांचों से सम्बन्ध रखने वाली योगत्रयी का भी दिग्दर्शन करा दिया है। विस्तार अधिक हुआ जाता है और फिर ये सब विषय स्वयं मूलभाष्य में विस्तार से प्रतिपादित होने ही वाले हैं। अतः इस प्रमाणनिर्द्देशन को छोड़ते हुए प्रकरणसङ्गति के लिए प्रत्यगात्मसंस्था से सम्बन्ध रखने वाले तीनों योगों के संक्षिप्त लक्षण बतला कर इस प्रकरण को उपरत किया जारहा है।

२१५ १–उक्थलक्षणः प्रत्यगात्मानुगतः-बुद्धियोगरूपः, ज्ञानयोगः (गीताराद्धान्तः)।

"सम्पूर्ण संसार, संसार में रहने वाला चतुर्दशविध सर्ग, जड़, चेतन, हम, तुम, तू, मैं आदि भेदों की विशुद्ध अव्ययदृष्टि से (अभिन्न रूप से) भावना करता हुआ मनुष्य, सब को मद्रूप समझता हुआ, यथाधिकारसिद्ध कर्म्मों में **उदासीनवृत्ति** से (लोकसंग्रह दृष्टि को मूल बना कर) यावज्जीवन प्रवृत्त रहता हुआ भूमोदर्क का अनुगामी मनुष्य ही उक्थरूप, प्रत्यगात्मानुगत बुद्धियोगरूप ज्ञानयोग का अधिकारी कहलाएगा। "**उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्म्मसु**" यह वाक्य ही ज्ञानयोगलक्षण बुद्धियोग की प्रतिष्ठा माना जाएगा।

— १ —

२१६ २–अर्कलक्षणः-प्रत्यगात्मानुगतः बुद्धियोगरूपः भक्तियोगः (उपासना)–(गीताराद्धान्तः)

"संसार के तत्तत्कर्म्मों में प्रवृत रहने वाले तत्तत् मनुष्यों के कर्म्मों में पूर्णरूप से सहयोग प्रदान करने वाला, बड़े उत्साह से सब को यथाधिकारसिद्ध कर्म्मों में श्रद्धापूर्वक प्रवृत करानेवाला, स्वयमपि इस लोकसंग्रह दृष्टि से यथाधिकारिकसिद्ध कर्म्मों में एक संसारी की भाँति प्रवृत्त रहने वाला, संसारी की दृष्टि में अपने आपको पूर्ण संसारी प्रकट करने वाला, अपने कर्त्तव्यकर्म्म में पूर्ण प्रसादभाव का अनुगमन करने वाला भक्तवर ही अर्करूप प्रत्यगात्मानुगत बुद्धियोगरूप भक्तियोग का अधिकारी माना जाएगा।

— २ —

२१७ ३–अशीतिलक्षणः, प्रत्यगात्मानुगतः, बुद्धियोगरूपः, कर्म्मयोगः (गीताराद्धान्तः)

"समाज नियन्त्रण की दृष्टि से कहीं उदासीन, कहीं तल्लीन वृत्ति का अनुगमन करने वाला, कर्त्तव्यकर्म्म में आत्मभावनापूर्वक सतत प्रवृत्त रहनेवाला आवश्यकतानुसार

समाज का निग्रह–अनुग्रह करने वाला, धर्म्मशास्त्रसिद्ध कर्म्मों में श्रद्धा प्रकट करने वाला, अधर्म्म कर्म्मों में विरक्ति दिखाने वाला योगी ही अशीतिरूप प्रत्यगात्मानुगत बुद्धियोगरूप कर्म्मयोग का अधिकारी माना जाएगा।

— ३ —

२१८-पञ्चविध-तात्त्विक-आत्मस्वरूपसंस्थाओं का स्वरूप-समन्वय, पञ्चविध आत्म-विवर्त्तों का समन्वयप्रयास एवं तन्निबन्धना त्रिकात्मिका पञ्चदशविधा-योग-संस्थाओं का संस्मरण—

इसप्रकार अध्यात्मसंस्था की मायाकलापरिग्रहयुक्त, अव्ययप्रधान [१] प्रत्यगात्मसंस्था, गुण-परिग्रहयुक्त, अक्षरप्रधान अव्यक्तगर्भित [२] महानात्मसंस्था, विकारपरिग्रहयुक्त, आत्मक्षरप्रधान [३] शारीरकात्मसंस्था, अञ्जनपरिग्रहयुक्त विकारक्षरप्रधान विज्ञानगर्भित [४] प्रज्ञानात्मसंस्था, एवं आवरणपरिग्रहयुक्त, वैकारिकक्षरप्रधान [५] भूतात्मसंस्था, इन पांच संस्थाओं के कारण प्रत्येक संस्था के आत्मप्राणपशु इन तीन पर्वों पर प्रतिष्ठित ज्ञान–भक्ति–कर्म्मयोगों के पांच त्रिक होजाते हैं, सम्भूय १५ योग होजाते हैं। पञ्चदशधा विभक्त इन पांच योगत्रयी में आरम्भ और अन्त की दो योगत्रयी स्वतन्त्र हैं। आरम्भ की सर्वोच्च है, अन्त की सबसे नीचे के धरातल पर प्रतिष्ठित है। आरम्भ में विशुद्ध ईश्वरीय-भाव का साम्राज्य है, अन्त में विशुद्ध विश्वभाव का साम्राज्य है। आरम्भ की योगत्रयी भी बुद्धि से परे की वस्तु है, अन्त की योगत्रयी भी बुद्धि से परे की वस्तु है। आरम्भ की निष्ठा का अनुयायी बुद्धियोगी बुद्धि से परे पहुँचता हुआ नित्यानन्दमूर्त्ति है। अन्त की निष्ठा का अनुयायी विश्वयोगी बुद्धि से परे पहुँचता हुआ मूढ़तम बनता हुआ सुखी है। मध्य के तीनों वर्ग उभयभाव से युक्त हैं, जैसाकि निम्न लिखित सूक्ति से स्पष्ट है—

> यश्च मूढतमो लोके यश्च बुद्धेः परं गतः।
> द्वावेव सुखमेधेते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः॥

२१९-योगत्रयी के रहस्य-पूर्ण-पञ्च-त्रिकों का नाम-संस्मरण—

जिस मनुष्य की अध्यात्मसंस्था में, पाँचों में से जिस अध्यात्मसंस्था का विकास रहता है, उसकी इतर आत्मसंस्थाएँ उस विकसित अध्यात्मसंस्था में आत्मसमर्पण करती हुई तद्रूप ही बन जाती हैं। फलतः ज्ञान, भक्ति, कर्म्म तीनों में से किसी भी एक योग का अनुगमन करने वाला मनुष्य उस प्रधान आत्मा के धर्म्मों से युक्त होकर ही योगानुष्ठान में प्रवृत्त होता है। इन पाँचों योगत्रयी–विवर्त्तों को हम गीतायोगत्रयी, गीतासम्मतायोगत्रयी, शास्त्रीययोगत्रयी लौकिकयोगत्रयी, और सामान्ययोगत्रयी इन नामों से व्यवहृत कर सकते हैं।

२२०-सर्वसंग्रहानुगत-पञ्चदशविध-योगों का तालिकारूपेण-समन्वय प्रयास—

१- अव्ययः (उक्थम्)-ज्ञानम्-अधिदैवतम् (ज्ञानम्)
२-अक्षरः (अर्कः)-ज्ञानकर्मणी-अधिदैवताधिभूते (भक्तिः)
३-आत्मक्षरः (अशीतिः)-कर्म-अधिभूतम् (कर्म)

१ -प्रत्यगात्मप्रजापतिः * (परमात्मा)

—*—

१ अक्षरः (उक्थम्) ज्ञानम्-अधिदैवतम्-ज्ञानम्)
२-अव्ययः (अर्कः)- ज्ञानकर्मणी-अधिदैवताधिभूते (भक्तिः)
३-आत्मक्षरः (अशीतिः) कर्म-(अधिभूतम्) (कर्म)

-अव्यक्तगर्भितमहानात्मप्रजापतिः १ (क्षेत्र आत्मा)

—*—

१ आत्मक्षरः (उक्थम्) ज्ञानम्-अधिदैवतम् (ज्ञानम्)
२-अक्षरः (अर्कः) ज्ञानकर्मणी-अधिदैवताधिभूते (भक्तिः)
३-अव्ययः (अशीतिः) कर्म-अधिभूतम् (कर्म)

३ -शारीरकात्मप्रजापति २ (अन्तरात्मा)

—*—

१ आत्मक्षरगर्भितविकारक्षरः (ज्ञानम्)-ज्ञानम्
२-अक्षरः (ज्ञा०क०)—भक्तिः
३-अव्ययः (क०)—कर्म

४ -विज्ञानगर्भितप्रज्ञानात्मप्रजापतिः ३ (योगसाधनम्)

—*—

१ विकारक्षरगर्भितवैकारिकक्षरः (ज्ञानम्)-ज्ञानम्
२-आत्मक्षरगर्भितअक्षरः (ज्ञा०क०)-भक्तिः
३-योगमायानुगतः अव्ययः (क०)-कर्म

५ -भूतात्मप्रजापतिः * (आत्मायतनम्)

—*—

२२१-प्रकान्तरेण पञ्चदशविध-योगविवर्त्तों का-तालिका-माध्यम से स्वरूप-समन्वय—

१ — प्रत्यगात्मप्रजापतिः * (प्रबुद्धात्मा)

- *-अव्ययः (ज्ञानम्-मनः-अव्ययमहिमा)—अधिदैवतम्-आत्मा
- २-अक्षरः (क्रिया-प्राणः-अक्षरमहिमा)—अधिदै० भू०-प्राणाः
- ३-आत्मक्षरः (अर्थः-वाक्-क्षरमहिमा)—अधिभूतम्-शरीरम्

२ — अव्य० महानात्मप्रजापतिः १ (भक्त्यात्मा)

- *-अन्तर्यामी (ज्ञानं—मनः—अव्ययविभूतिः
- २-ऋतसत्यसूत्रे (क्रिया-प्राणः-अक्षरविभूतिः —अधिदैवतम्-आत्मा
- ३-शरीरगुहा (अर्थः-वाक्-क्षरविभूतिः— —अधिदै०भू०-प्राणाः
- *-सत्त्वभावः (ज्ञानम्-मनः-अव्ययविभूतिः
- २-सौम्यप्राणः (क्रिया-प्राणः-अक्षरविभूतिः—अधिभूतम्-शरीरम्
- ३-आपः (अर्थः-वाक्-क्षरविभूतिः—

३ — शारीरकात्मप्रजापतिः२ (भोक्तात्मा)

- *-जीवात्मा (ज्ञानम्-मनः—अव्ययवि०)—अधिदैवतम्-आत्मा
- २-व्यानप्राणः (क्रिया-प्राणः—अक्षरवि०)—अधिदै०भू०-प्राणाः
- ३-शरीरत्रिलोकी (अर्थः-वाक्—क्षरवि०)—अधिभूतम्—शरीरम्

४ — विज्ञा० प्रज्ञानात्म-प्रजापतिः ३ (भोगसाधनम्)

- *-विज्ञानम् (ज्ञानम्-मनः-अव्ययवि०)
- २-आयुः प्राणः (क्रिया-प्राणः-अक्षरवि०) —अधिदैवतम्-आत्मा
- ३-ज्योतिर्गौः (अर्थः-वाक्-क्षरवि०)
- —अधिदै०भू०-प्राणः
- *-प्रज्ञानम् (ज्ञानम्-मनः—अक्षरवि०)
- २-यशःप्राणः (क्रिया-प्राणः-अव्ययवि०) —अधिभूतम्—शरीरम्
- ३-शुक्रम् (अर्थः-वाक्-क्षरवि०)

५ — भूतात्मप्रजापतिः * (भोगायतनम्)

- *-ब्रह्माग्निः (ज्ञानम्-मनः—अव्ययविभूतिः)—अधिदैवतम्-आत्मा
- २-शारीराग्निः (क्रिया-प्राणः—अक्षरविभूतिः)—अधिदै०भू०-प्राणाः
- ३-शरीरपिण्डः (अर्थः-वाक्—क्षरविभूतिः)—अधिभूतम्—शरीरम्

२२२–आत्मयोगविभूतिमाध्यम से पञ्चदशविध-योगविवर्त्तों का तालिकारूपेण–समन्वय–प्रयास—

१	(१) १–उदासीनभावयुक्तोऽव्ययोगः कर्म्मज्ञानमयः—बुद्धियोगो ज्ञानयोगः		प्रत्यगात्म–योगत्रयी
	(२) २–श्रद्धाभावयुक्तोऽव्यययोगः——कर्म्मज्ञानमयः—बुद्धियोगो भक्तियोगः		
	(३) ३–निग्रहानुग्रहभावयुक्तोऽव्यययोगः-ज्ञानकर्म्ममयः–बुद्धियोगः कर्म्मयोगः		
२	(४) १–निवृत्तकर्म्ममयोऽक्षरयोगः——ज्ञानमयः – ज्ञानबुद्धियोगो ज्ञानयोगः		अव्यक्तगर्भित–महानात्मयोगत्रयी
	(५) २–निष्काममक्तिमयोऽक्षरयोगः–ज्ञानकर्म्ममयः-ऐश्वर्य्यबुद्धियोगोभक्तियोगः		
	(६) ३–निष्कामकर्म्ममयोऽक्षरयोगः-कर्म्ममयः——धर्म्मबुद्धियोगः कर्म्मयोगः		
३	(७) १–कर्म्मन्यासलक्षणः,	आत्मक्षरयोगः–ज्ञानमयः——ज्ञानयोगः	शारीरकात्मयोगत्रयी
	(८) २–भगवदनुग्रहप्राप्तिकामनालक्षणः–	आत्मक्षरयोगः–ज्ञानकर्म्ममय–भक्तियोगः	
	(९) ३–स्वर्गादिकामलक्षणः—	आत्मक्षरयोगः–कर्म्ममयः——कर्म्मयोगः	
४	(१०) १–लौकिकज्ञानलक्षणः,	विकारक्षरयोगो ज्ञानमयः———ज्ञानयोगः	विज्ञानगर्भित प्रज्ञानात्मा योगत्रयी
	(११) २–लौकिकज्ञानकर्म्मलक्षणः,	विकारक्षरयोगो ज्ञानकर्म्ममयः–भक्तियोगः	
	(१२) ३–लौकिक कर्म्मलक्षणः,	विकारक्षरयोगो कर्म्ममयः———कर्म्मयोगः	
५	(१३) १–अज्ञानरूपज्ञानलक्षणः–	वैकारिकक्षरयोगोः–ज्ञानयोगः	भूतात्मानुगता योगत्रयी
	(१४) २–सेवाकर्म्मलक्षणः,	वैकारिकक्षरयोगः–भक्तियोगः	
	(१५) ३–परिश्रमकर्म्मलक्षणः,	वैकारिकक्षरयोगः–कर्म्मयोगः	

२२३–[१]–प्रत्यगात्मानुगता योगत्रयी–(अव्ययप्रधाना–आराध्या)।

(१) १–उदासीनयोगः (वैराग्यबुद्धियोगः–ज्ञानयोगः)—उक्थरूपेऽव्ययात्मनि योगः		गीतायोगत्रयी १
(२) २–श्रद्धामययोगः (वैराग्यबुद्धियोगः–भक्तियोगः)—अर्करूपेऽक्षरात्मनि योगः		
(३) ३–उभययोगः (वैराग्यबुद्धियोगः- कर्म्मयोगः)—अशितिरूपे क्षरात्मनि योगः		

२२४-[२]-अव्यक्तात्म- [शान्तात्म]-- गर्भिता महानात्मानुगता योगत्रयी [अक्षरप्रधाना--उपादेया]

१ (४) १-व्यक्तगर्भित-अव्यक्तयोगः (ज्ञानबुद्धियोगः-ज्ञानयोगः)-उक्थरूपेऽन्तर्यामिगर्भिते सत्त्वात्मनि योगः
(५) २-सनातनगर्भित-व्यक्तयोगः (ऐश्वर्यबुद्धियोगः-भक्तियोगः)-अर्करूपे ऋतसत्यगर्भितसौम्यप्राणे योगः
(६) ३-अव्यक्तगर्भित-व्यक्तयोगः (धर्म्मबुद्धियोगः-कर्म्मयोगः)-अशीतिरूपासु शरीरगुहागर्भितास्वप्सु योगः

गीतासम्मतयोगत्रयी २

---★---

२२४-[३]--शारीरकात्मानुगता योगत्रयी [आत्मक्षरप्रधाना-हेया]।

२ (७) १-व्यक्तवञ्चित-अव्यक्तयोगः-(ज्ञानयोगः-सांख्यानाम्)-उक्थरूपे जीवात्मनि योगः
(८) २-सनातनवञ्चित-व्यक्तयोगः-(भक्तियोगः-भागवतानाम्)-अर्करूपे व्यानप्राणे योगः
(९) ३-अव्यक्तवञ्चित-व्यक्तयोगः--(कर्म्मयोगः-योगिनाम्)-अशितिरूपे शा० त्रै० योगः

शास्त्रीययोगत्रयी ३

---*---

२२६-[४]-विज्ञानात्म (बुद्धि) गर्भित प्रज्ञानात्मानुगता (मनोऽनुगता) योगत्रयी (विकारक्षरप्रधाना त्याज्या)।

३ (१०) १-लौकिकज्ञानैकसारः-अव्यक्तयोगः (ज्ञानयोगः-साम्यवादिनाम्)-उक्थ० विज्ञानग० प्रज्ञा० योगः
(११) २-लौ०ज्ञानकर्मैकसारः-व्यक्तयोगः (भक्तियोगः-राष्ट्रसेवकानाम्)-अर्क०आयुः प्रा०ग०यशः योगः
(१२) ३-लौकिककर्म्मैकसारः-व्यक्तयोगः (कर्म्मयोगः-राष्ट्रकर्म्मिणाम्)-अशी० ज्योतिर्गौ-शुक्रे योगः

लौकिकयोगत्रयी ४

---*---

२२७-[५]-भूतात्मानुगता योगत्रयी (इन्द्रियानुगता)-वैकारिकक्षरप्रधाना उपेक्षणीया।

(१३) १-अज्ञानावृतज्ञानैकसारः-अकर्म्मयोगः (ज्ञानयोगः-अकर्मण्यानाम्) उक्थरूपे ब्रह्माग्नौ योगः
(१४) २-अज्ञानयुक्तकर्म्मैकसारः-दास्ययोगः (भक्तियोगः-अनुचराणाम्) अर्करूपे शारीराग्नौ योगः
(१५) ३-विमूढकर्म्मैकसारः---निर्वाहयोगः (कर्म्मयोगः-श्रमजीविनाम्) अशितिरूपे शरीर योगः

सामान्ययोगत्रयी ५

---*---

२२८-योगविभूति के अधिकारियों का तालिका माध्यम से नाम-स्वरूप-समन्वय—

❀

१-उदासीनयोगानुगामिनः-युक्ताः—योगविदो वा } युक्तयोगी
२-श्रद्धामययोगानुगामिनः-युक्ततमाः-योगवित्तमा वा } युक्ततमयोगी
३-उभययोगानुगामिनः—युञ्जानाः—योगिनो वा } युञ्जानयोगी

—❀—

१

१-व्यक्तगर्भित-अव्यक्तयोगानुयायिनः-ज्ञानयोगिनः-सिद्धाः— } -[ज्ञानी]
२-सनातनगर्भित-व्यक्तयोगानुयायिनः— भक्तियोगिनः-राजानः— } -[तपस्वी]
३-अव्यक्तगर्भित-व्यक्तयोगानुयायिनः—कर्म्मयोगिनः-ब्राह्मणाः— } -[कर्म्मी]

—❀—

२

१-व्यक्तवञ्चित-अव्यक्तयोगानुयायिनः-सांख्ययोगिनः-सांख्याः— } -ज्ञानाभिनिविष्टः
२-सनातनवञ्चित-व्यक्तयोगानुयायिनः—भक्तियोगिनः—राजानः— } -भक्त्यभिनिविष्टः
३-अव्यक्तवञ्चित-व्यक्तयोगानुयायिनः-कर्म्मयोगिनः—कर्मठाः— } -कर्म्माभिनिविष्टः

—❀—

३

१-लौकिकज्ञानैकसारा अव्यक्तयोगानुयायिनो-बुद्धिमन्तः पथप्रदर्शकाः ।
२-लौकिकज्ञानकर्म्मैकसारा व्यक्तयोगानुयायिनो विवेकिन उभयनिष्ठाः ।
३-लौकिककर्म्मैकसारा व्यक्तयोगानुयायिनः कर्म्मदक्षा भौतिकम्मरताः ।

—❀—

❀

१-अकर्म्मयोगानुयायिनः—अज्ञानिनः अलसाः } सर्वज्ञानविमूढाः
२-दास्ययोगानुयायिनः—अज्ञानिनो दासाः } सर्वज्ञानविमूढाः
३-निर्वाहयोगानुयायिनः—अज्ञानिनः श्रमजीविनः } सर्वज्ञानविमूढाः

—❀—

२२६–अध्यात्मसंस्था से अनुप्राणिता आत्म–प्राण-पशु-त्रयी, तन्निबन्धना योगत्रयी, तदनुबन्धी दैवत-भौतिक-भाव, एवं तत्सम्बद्ध पञ्चदशविध योगों का संस्मरण

"हमारी अध्यात्मसंस्था में पाँच आत्मसंस्थाएं, प्रत्येक आत्मसंस्था में आत्मा, प्राण, पशु ये तीन तीन पर्व, तीनों क्रमशः ज्ञानमय, ज्ञानकर्म्ममय, कर्म्ममय बनते हुए परिमाणानुसार अधिदैवत, अधिदैवत–अधिभूत, अधिभूत, तीनों क्रमशः ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्म्मयोग की प्रतिष्ठा, इसप्रकार अध्यात्मसंस्था की पाँच संस्थाओं से सम्बन्ध रखने वाली योगत्रयी पाँच भागों में विभक्त, सम्भूय १५ योग, इनके १५ अधिकारी" पूर्वनिरूपण इसी तथ्य का स्पष्टीकरण होरहा है।

२३०–आदिभूता आराध्य योगत्रयी, तथा अन्तभूता त्याज्या योगत्रयी, एवं सापेक्ष–भावनिबन्धना मध्यस्था योगत्रयी के तीन विवर्त्त, तथा विधि-निषेधभावों से अतीता आद्यन्त की योगत्रयी—

विषय स्पष्टीकरण के साथ साथ ही यह भी स्पष्ट होजाता है कि, भूतात्मानुगता पांचवीं संस्था से सम्बन्ध रखने वाली योगत्रयी विधि–निषेध से परे है। न इसका शास्त्र निषेध करता है, न आज्ञादेता है। कारण इसका यही है कि, विधिनिषेधात्मक शास्त्रोपदेश वहीं सफल होता है, जहाँ ज्ञान का थोड़ा बहुत विकास रहता है। जैसाकि–अधिकारी वर्ग की नामतालिका की अन्तिम तालिका से स्पष्ट है। पाँचवीं योगत्रयी के अनुयायी सर्वज्ञानविमूढ़ हैं। यही कारण है कि, गीता में विस्पष्टरूप से न इन तीनों योगों का विश्लेषण हुआ है, न कि इस योगत्रयी की प्रतिष्ठारूप भूतात्मा का। अपितु विधिनिषेधातीत इस संस्था के अनुयायियों के लिए भगवान्ने केवल यही कहना पर्याप्त समझा हैकि—"सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः"

२३१–अज्ञानात्मसंस्था का संस्मरण, लोक-भूत-विश्व-निबन्धना उन्नति, आत्मदृष्टि का अत्यन्ताभाव, एवं अज्ञानात्मानुगता योगत्रयी की गीता के द्वारा उपेक्षा—

भूतात्मसंस्था के अनन्तर अज्ञानात्मसंस्था का स्थान आता है। जिनकी बुद्धि मन के वश होजाती है, वे अतीन्द्रिय रहस्यों को समझने में असमर्थ रहते हैं। उनका विवेक, उनकी विचारशक्ति केवल उसी ओर काम करती है, जिस ओर इन्द्रिय–सहगामी प्रज्ञानमन अनुधावन करता रहता है। शारीरकात्मा का हानि लाभ यहाँ सर्वथा तिरोहित ही रहता है। आत्मदृष्टि का अत्यन्ताभाव है। लोकोन्नति, भूतोन्नति, विश्वोन्नति, राष्ट्रोन्नति, समाजोन्नति आदि उन्नति ही प्रधान लक्ष्य बनी रहती हैं। शास्त्रादेश का यहाँ अणुमात्र भी आदर नहीं है। शास्त्रने जिन कर्म्मों का विधान किया है, उनकी उपेक्षा करना, शास्त्रने जिन कर्म्मों का निषेध किया है, उनका अनुगमन करना ही इस पथ का जीवनव्रत है। अतएव इस पथ के पथिकों को हम शास्त्रविरोधी कह सकते हैं। शास्त्रविरुद्ध, प्रज्ञानात्मानुगत इस दूसरी योगत्रयी के स्पष्टीकरण की भी गीताने कोई आवश्यकता नहीं समझी।

२३२-प्रज्ञानात्मानुगता योगत्रयी के सम्बन्ध में गीताशास्त्र के उद्गार, तदनुप्राणिता चेतावनी, शास्त्रनिर्णयानुगति के प्रति प्रचण्डादेश, प्रत्यक्षानुभव-मानसज्ञान-ऐन्द्रियकज्ञान-त्रयी से अतीत अतीन्द्रियज्ञान का संस्मरण, महर्षियों के द्वारा तद्दर्शन, तदनुप्राणित शास्त्र और "न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्" का संस्मरण—

इनके सम्बन्ध में गीताने केवल यही कहना पर्याप्त समझा कि, जो मनुष्य (अपने बुद्धिवाद के गर्व में आकर) शास्त्रविधि का निरादर कर कामभोगों में रत रहता है, न उसे सिद्धि मिल सकती है, न वह सुखी होसकता है, न मृत्यु के अनन्तर उसके शारीरक आत्मा की सद्गति ही होती है। इसलिए (उन शास्त्रविरोधियों को, शास्त्रविरुद्ध ज्ञान-कर्म्म-भक्ति के अनुयायियों को हम चेतावनी देते हैं कि, यदि वे इस लोक में अपना कोई लौकिक उद्देश्य सिद्ध करना चाहते हैं, उस सिद्ध पदार्थ से सुख प्राप्त करना चाहते हैं, इस लोक में उद्देश्यसिद्धिपूर्वक सुख प्राप्त करते हुए शरीरत्यागानन्तर सद्गति प्राप्त करना चाहते हैं, तो उन्हें चाहिए कि वे) अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्य के सम्बन्ध में शास्त्रनिर्णय को ही प्रमाण मानें। शास्त्रविधान के अनुसार ही इस लोक में ज्ञान कर्म्मादि का अनुगमन करें" (तस्माच्छास्त्रं प्रमाणंते)। आदेश का अभिप्राय यही है कि जिस ज्ञान में, जिस भक्ति में किंवा जिस कर्म्म में केवल मानसज्ञानानुगत ऐन्द्रियक ज्ञान की प्रधानता रहती है, जिस योगत्रयी में बुद्धि का निर्म्मल ज्ञान मन का अनुचर बनकर अपना व्यवसायधर्म्म खो बैठता है, ऐसे ज्ञान को आधार बनाकर कर्म्मादि योगों में प्रवृत्त होने वाला योगी कभी अपने उद्देश्य में सफल नहीं होसकता। कारण, योग का मूल इस प्रत्यक्षानुभव-मानसज्ञान-ऐन्द्रियकज्ञान से परे रहने वाला अतीन्द्रिय प्राकृतिक ज्ञान है। वह बुद्धि, मन, इन्द्रियादि से अतीत बनता हुआ हम साधारणों के लिए अगम्य है। जबतक उसको मूल नहीं बना लिया जाता, तबतक कभी कर्म्मादि शाश्वतसिद्धि के कारण नहीं बन सकते। उस इन्द्रियातीतमूल ज्ञान का जिन महर्षियों ने अपनी योगजदृष्टि से साक्षात्कार किया है, उनका तदनुरूप वचन ही हमारे लिए अनन्य प्रमाण है। यदि उसकी उपेक्षा करदी जाएगी, तो पहिले तो उद्देश्य ही सिद्ध न होगा। विशेष शक्ति-व्यय से यदि हमने उद्देश्यसिद्धि में सफलता प्राप्त करली तो, वह निर्मूल सिद्ध पदार्थ हमारे स्थायी सुख का कारण नहीं बनेगा। यदि पशुवृत्ति को समाप्त करते हुए यथाकथंचित् इसे सुख का कारण मान भी लिया जाएगा तो आत्मनिःश्रेयस तो इस विश्वसुख, विश्वसमृद्धि, भूतोन्नति से कभी न होगा इसप्रकार उद्देश्यसिद्धि, तत्-फलस्वरूप सुख, आत्मनिःश्रेयस तीनों दृष्टियों से शास्त्रविधिविरुद्धा योगत्रयी निष्फल रहेगी। इसी रहस्य को व्यक्त करते हुए भगवान् ने कहा है—"न स सिद्धिमवाप्नोति, न सुखं न परां गतिम्"।

२३३-क्रमप्राप्ता तृतीया शास्त्रनिष्ठा का संस्मरण, एवं तन्निबन्धना 'कामसिद्धि' के दो विभिन्न दृष्टिकोण—

अब क्रमप्राप्त तीसरी शास्त्रनिष्ठा हमारे सामने आती है। शास्त्रनिष्ठा का अनुगमन करना प्रत्येक दशा में अभ्युदयकर है, इसमें कोई सन्देह नहीं। शास्त्रानुसार चलने से हमारी सभी कामनाएँ सिद्ध होसकती है। और कामसिद्धि के लिए शास्त्रादेश हमारे सामने उपस्थित भी हुआ है। परन्तु, इस कामसिद्धि के दो विभिन्न दृष्टिकोण हैं।

२३४–व्यक्तितुष्टि, एवं समष्टितुष्टि-मूल स्वार्थ-परमार्थ-भाव, तन्निबन्धन यज्ञादिलक्षण कर्म्मयोग, एवं गीता के द्वारा मान्या शास्त्रीया योगनिष्ठा—

व्यक्तितुष्टि प्रथम दृष्टिकोण है, समष्टितुष्टि दूसरा दृष्टिकोण है। यह तो निर्विवाद है कि शास्त्र ने जिन ज्ञान-भक्ति-कर्म्मयोगों का आदेश दिया है, उनका मूल लक्ष्य व्यक्तितुष्टिपूर्वक समष्टितुष्टि है। वे उसी ज्ञानमार्ग को, भक्तिमार्ग को, एवं कर्म्ममार्ग को श्रेष्ठ समझते हैं, जिसमें स्वार्थसिद्धि के साथ साथ परमार्थभावना का सम्मिश्रण रहे। ब्राह्मणों का यज्ञादिलक्षण कर्म्मयोग विश्वाभ्युदय के लिए है, राजाओं का भक्तियोग विश्व-बन्धुत्त्व-स्थापन के लिए है एवं सिद्धों का ज्ञानयोग मानवसमाज को भूतासक्ति से निवृत्त करने के लिए है। एवं व्यक्तितुष्टिगर्भित समष्टितुष्टिरूपा यह शास्त्रीया योगत्रयी सर्वथा मान्य है।

२३५–शास्त्रनिष्ठोद्देश्य की सफलता का दृष्टिविन्दु, शारीरकात्मानुगत-ब्रहुब्रह्मैकमक्षरा-त्मक-महानात्मा का मूलप्रतिष्ठात्त्व, तन्निबन्धना समष्टितुष्टि, एवं व्यक्तितुष्टिमूलक आत्मक्षरप्रधान–'जीव' संज्ञक शारीरकात्मा का संस्मरण—

परन्तु, शास्त्रनिष्ठा का यह उद्देश्य तभी सफल होसकता है, जबकि इसके मूल में शारीरकात्मा के साथ साथ अव्यक्तात्मगर्भित, "ब्रहुब्रह्मैकमक्षरंम्" महानात्मा को मूल बना लिया जाय। शास्त्रनिष्ठा स्व-स्वरूप से सर्वथा दोष विमुक्त रहती हुई भी, त्रिगुणातीत रहती हुई भी, समष्टितुष्टि का कारण बनती हुई भी क्यों दोषयुक्त बन गई, क्यों उस त्रिगुणातीत वेदशास्त्र के लिए भगवान् ने "त्रैगुण्यविषया वेदाः" यह कह डाला, क्यों उसका उद्देश्य व्यक्तितुष्टि का कारण बन गया, इन सब दोषों का शास्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह है शास्त्रवेत्ताओं के मस्तिष्क का परिणाम और इस परिणाम का मूल है जीवात्मसंज्ञक आत्मक्षर प्रधान शारीरक आत्मा।

२३६–प्रतिशरीर में विभिन्न शरीरकात्मा, तन्निबन्धना त्रिगुणरूपा द्वन्द्वरूपता, महाना-त्मस्वरूप से पराङ्मुख विद्वानों की शारीरकात्मभक्ति, तन्निबन्धन भेदभाव, तद-नुप्राणिता भूतासक्ति, एवं काम-निष्काम-भावों का प्रासङ्गिक स्वरूप-समतुलन—

शारीरक आत्मा प्रतिशरीर में भिन्न भिन्न है। अतएव त्रिगुण–द्वन्द्वयुक्त है। शास्त्रनिष्ठ विद्वान महानात्मपरिचय से वञ्चित रहते हुए केवल शारीरक आत्मा के भक्त बने रहे। शारीरक आत्मा वास्तव में प्रतिशरीर में भिन्न भिन्न है। साथ ही अपने स्वाभाविक क्षरभाव के कारण विकारक्षररूप (भौतिक विषयानुगत) मानसवृत्तियों का अनुगमन करना भी एक स्वाभाविक धर्म्म बना रहता है। शरीराभिमानी, काममय मन से नित्ययुक्त, सेन्द्रिय मन के द्वारा आने वाले ज्ञानीय, कर्म्ममय भावना–वासना-संस्काररूपों से आवृत शारीरकआत्मा व्यापक भावना करता हुआ व्यक्तितुष्टि को छोड़दे, स्वार्थकामना का परित्याग करदे, यह सर्वथा असम्भव है, तो यह भी निश्चित है कि यह कामभावको, व्यक्तितुष्टि को, आत्मपचन को, वैय्यक्तिक स्वार्थ को मूल बनाकर चाहे शास्त्रीय ज्ञान–कर्म्म भक्ति-योग किसी में भी प्रवृत्त रहे, कभी इसका शाश्वतअभ्युदय नहीं होसकता। नहीं होसकता।

२३७-देहाभिमानी शारीरकात्मा से अनुप्राणिता कल्पिता योगत्रयी, वैदिक-लौकिक-कर्म्मजाल में आसक्त शास्त्राभिनिविष्ट मानव, कर्म्म की बन्धरूपता का व्यामोहन, तन्निबन्धन सांख्यनिष्ठात्मक काल्पनिक ज्ञानयोग, एवं ज्ञान की साध्य-साधन-रूपता का दिग्दर्शन—

जिन विद्वानों की दृष्टि प्रधानरूप से परिच्छिन्न, देहाभिमानी, प्रतिशारीरभिन्न इस शारीरक आत्मा की ओर गई, उन्होंने ही शास्त्र को आधार बना कर शास्त्रीय योगनिष्ठाओं में अपनी मानसिक कल्पना का समावेश कर कल्पित योगत्रयी की कल्पना कर डाली। एक वर्ग ने तो इस विश्वासक्ति का मूलकारण समझा कर्म्म को। उसने देखा कि मनुष्य जबतक वैदिक-लौकिक कर्म्मजाल में आबद्ध रहेगा, तबतक संस्कारलेप से परित्राण नहीं होगा। जबतक लेप नहीं हटेगा, तबतक आत्मा (शारीरक आत्मा) सुखदुःखादि द्वन्द्वमूलक सदसद्द्वन्द्व से विमुक्त न होगा, एवं तबतक इसे शाश्वत आत्मानन्द-सम्पत्ति प्राप्त न होगी। इसप्रकार केवल कर्म्म को बन्धन मानते हुए इस समुदाय ने शास्त्रीय ज्ञानयोग को कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग का रूप दे डाला, जोकि ज्ञानयोग गीताकाल में 'सांख्य' नाम से, एवं अर्वाचीन काल में अद्वैतनिष्ठा (शङ्करनिष्ठा) नाम से प्रसिद्ध हुआ। सर्वकर्म्मपरित्यागलक्षण इस योग में साधन साध्य दोनों ज्ञान ही बने।

२३८-शारीरकात्माभिनिविष्ट कर्म्मासक्त मानववर्ग के द्वारा वाक्छलमाध्यम से 'योग' व्याजेन 'कर्म्मनिष्ठा' की प्रवृत्ति, एवं तन्निबन्धना साध्य-साधनोभयविधा आधिभौतिकता का स्वरूप-दिग्दर्शन—

एक दूसरे वर्ग ने उसी शारीरकात्मा पर विश्राम करते हुए कर्म्ममार्ग को अपनाया। उसने यह निर्णय किया कि, जगदीश्वर ने जब कर्म्म करने से ही यह विश्ववैभव प्राप्त किया है तो, हम भी कर्म्म के द्वारा क्यों नहीं विश्ववैभव प्राप्त करते हुए सुखी बन जाएँ। यह ठीक है कि लौकिक कर्म्मों में इस जन्म में हमें कभी सुख नहीं मिल सकता। परन्तु, उन वैदिक यज्ञादि कर्म्मों से हम परलोक में अवश्य ही सुखी रह सकते हैं। बस, इस पारलौकिक सुखभावना से आकर्षित होकर ही इस दूसरे वर्ग ने शास्त्रीय कर्म्मयोग को कामनामय कर्म्मयोग का रूप दे डाला। इस योग के साधन-साध्य दोनों कर्म्म ही बने।

२३९-शारीरकात्मभिनिविष्ट उभयासक्त मानववर्ग के द्वारा तृतीय-काल्पनिक भक्तिपथ का आविर्भाव, तदनुप्राणित दैविक-भौतिक-निबन्धन साध्य-साधन-दिगदर्शन, एवं भक्तियोगानुबन्धी राज-मन्त्र-हठ-लय-योगचतुष्टयी का संस्मरण—

एक तीसरे वर्ग ने यह निर्णय किया कि, जब ईश्वर कर्म्म करता हुआ सदा सुखी है, तब हम अपने कर्म्म को ईश्वर के निमित्त ही क्यों न करें। यदि उसे मध्यस्थ बनाकर हम कर्म्म करेंगे तो, उसके अनुग्रह से यह कर्म्म इस लोक में भी हमारी शान्ति का कारण बनेगा, एवं परलोक में भी सद्गति प्राप्त होगी। इसी भावना के आधार पर इस तीसरे वर्ग की ओर से शास्त्रीय भक्तियोग के स्थान में 'ईश्वरानुग्रह प्राप्ति कामनालक्षण इस तीसरे भक्तियोग का जन्म हुआ। जोकि भक्तियोग आगे जाकर पातञ्जलयोग की प्रतिच्छाया से युक्त होता हुआ राज-मन्त्र-हठ-लय इन चार भागों में विभक्त होगया।

२४०-शारीरकात्मानुबन्धेन कल्पिता कर्म्म-ज्ञान-भक्ति-योगत्रयी की व्यवस्थानुगति, किन्तु कामभावनिबन्धनत्वेन सर्वथैव यातयामा योगत्रयी—

कहना न होगा कि, शारीरकात्मा की दृष्टि से ये तीनों ही कल्पितयोग सुव्यवस्थित, एवं प्रामाणिक हैं। इसी प्रमाण-प्रतिच्छाया के कारण इन तीनों निष्ठाओं का भारतवर्ष में आवश्यकता से अधिक प्रचार भी हुआ। परन्तु कामभाव के कारण ये तीनों ही योग केवल व्यक्तितुष्टि के (सो भी अल्प समय के लिए ही) कारण बनते हुए एकप्रकार से शास्त्रीय ही बन गए।

२४१-शारीरकात्मानुबन्धिनी कल्पिता शास्त्रीया योगत्रयी का गीताशास्त्र के द्वारा संशोधन, संशोधन का मूलबीज महानात्मानुबन्धी प्रत्यगात्मा, तथा अव्यक्त-गर्भित-महानात्मा का संस्मरण—

इन तीनों शास्त्रीय-निष्ठाओं का संशोधन करना भगवान्ने आवश्यक समझा। और इस आव-श्यकता की पूर्त्ति के लिए भगवान्ने मूलाधार बनाया अव्यक्तगर्भित महानात्मा को। भगवान्ने स्पष्ट किया कि, जिस शारीरक आत्मा को तुमने सर्वेसर्वा मान रक्खा है, वह उस महानात्मा का एक प्रत्यंश है। उस एक ही महानात्मा के ये अनन्त भिन्न भिन्न रूप हैं। 'महद्ब्रह्मैकमक्षरम्' उस महानात्मा की दृष्टि से सब शारीरक आत्मा अभिन्न हैं। यदि तुम उसे उपास्य बना लोगे तो, तुम्हारी भेददृष्टि हट जाएगी। उस समय तुम्हारा ज्ञान-भक्ति-कर्म्म सब कुछ व्यक्तिभाव से हट कर समष्टिभाव में परिणत होजाएगा। अल्प शारीरक-आत्मा उसके योग से महान् बन जाएगा। इस महाशय भाव से तुम्हारी संकुचित दृष्टि विलीन हो जाएगी, स्वार्थ वृत्ति का उच्छेद होजाएगा और उस समय तुम्हारे तीनों योग निष्काम भाव में परिणत होते हुए अबन्धन बन कर शाश्वत अभ्युदय के कारण बन जाएँगे। इसी उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए लोकप्रचलित, शारी-रकात्ममूलक उक्त तीनों निष्ठाओं के स्थान में भगवान्ने अव्यक्तगर्भित महानात्मा को मूल बनाते हुए संशोधित-योगत्रयी का आविर्भाव किया।

२४२-गीताशास्त्र के संशोधन से अनुप्राणित, अध्याय-क्रम-विभागानुबन्धी एक 'रहस्य' का स्वरूप-समन्वय, एवं प्रचलिता दार्शनिकाभिमता ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-योगत्रयी का लोकसंग्राहक-भगवान् के द्वारा अंशतःसंग्रह, तथा तन्निबन्धन नीर-क्षीर-विवेक—

एक रहस्य की बात—जैसाकि भूमिकाप्रथमखण्ड के "विषयविभागप्रदर्शन" नामक प्रकरण में स्पष्ट किया जा चुका है, विज्ञानदृष्टि से गीता के १८ अध्यायों का ६-२ ४-६-यह क्रम है। इस क्रम के अनुसार इन चारों में क्रमशः बुद्धियोग, ज्ञानयोग भक्तियोग, कर्म्मयोग, इन चार योगों का निरूपण हुआ है। इन चारों में बुद्धियोग प्रत्यगात्मनिष्ठा है। शेष तीनों योग लोकनिष्ठाओं के संशोधित रूप हैं। बुद्धियोग मार्ग यद्यपि स्वतन्त्र है, परन्तु जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है, ज्ञान-कर्म्म-भक्ति से अति-रिक्त इसमें भी और कुछ नहीं है। इस दृष्टि से अन्ततोगत्वा गीताशास्त्र का पर्य्यवसान काण्डत्रयी पर ही होजाता है। और इस दार्शनिकदृष्टि से गीता के १८ अध्यायों को ६-६-६-इस क्रम से तीन काण्डों में विभक्त मानना भी यथाकथंचित् न्यायसङ्गत ही बन जाता है। अन्त के ६ अध्याय तो विज्ञान-दर्शनदृष्टि

से उभयथा कर्म्ममार्ग के ही निरूपक माने गए हैं। अतः इनके सम्बन्ध में तो कोई विवाद ही नहीं है। विवाद है, भक्तिमार्ग और ज्ञानमार्ग में। दर्शनभक्त विद्वान् आरम्भ के ६ अध्यायों को ज्ञानयोग निरूपक एवं मध्य के ६ अध्यायों को भक्तियोगनिरूपक मानते हैं। यदि बुद्धियोग को ज्ञानयोग मान लिया जाता है, (जो कि मान्यता सर्वथा निर्मूल नहीं कही जासकती) तब तो आरम्भ के ६ अध्यायों को ज्ञानयोग निरूपक मानने में भी कोई हानि नहीं है। उधर सिद्धों की योगनिष्ठा (सांख्यनिष्ठा) ने ही आगे जाकर ईश्वरप्रणिधानलक्षण योगात्मक भक्तिमार्ग का आसन ग्रहण किया है। इस दृष्टिसे विज्ञानदृष्टि से संशोधित ज्ञानयोग के प्रतिपादक ७-८ वें दो अध्यायों को भी भक्तियोगपरक कहा जासकता है। फलतः मध्य के अध्यायषट्क को भक्तियोगनिरूपक मानना भी दार्शनिकदृष्टि से यथाकथंचित् समन्वित होजाता है।

२४३-शास्त्रनिष्ठा के अनन्यपक्षपाती गीताचार्य्य भगवान् वासुदेवकृष्ण, विज्ञानगर्भित-प्रज्ञानात्मानुगत, लोकचतुर मानवों की काल्पनिकी योगनिष्ठा, तदनुगत त्याज्यभाव, एवं संशोधिता शास्त्रीया योगनिष्ठा का स्वरूप-संस्मरण—

अस्तु, प्रकृत में इस सम्बन्ध में केवल यही वक्तव्य है कि, शास्त्रनिष्ठा के अनन्य पक्षपाती भगवान् ने भूतात्मानुगत सामान्य मनुष्यों से सम्बन्ध रखने वाली सर्वज्ञानविमूढलक्षणा विधिनिषेधातीता सामान्या योगत्रयी को उपेक्षणीय बतलाया। विज्ञानगर्भित-प्रज्ञानात्मानुगता लौकिक चतुर मनुष्यों से सम्बन्ध रखने वाली लौकिकज्ञानकर्मैकसारा शास्त्रदेशविरुद्धा लौकिकयोगत्रयी को त्याज्या बतलाया। एवं शारीर-कात्मानुगता, व्यक्तितुष्टिमूला, शास्त्रविधिसिद्धा, शास्त्राभिनिविष्ट मनुष्यों से सम्बन्ध रखने वाली सकाम ज्ञानभक्तिकर्म्मलक्षणा शास्त्रीया योगत्रयी को हेया बतलाते हुए, इसे अव्यक्तगर्भित महानात्मानुगामी बनाते हुए, समष्टि तुष्टिमूला बनाकर इस संशोधित चतुर्थ शास्त्रीय योगत्रयी को उपादेया बतलाया।

२४४-प्रत्यगात्मदृष्टि और गीताचार्य्य, एवं विधि-निषेध से अतीत गीताचार्य्य, तथा उनकी प्रत्यगात्मानुबन्धिनी योगनिष्ठा—

अब वह प्रत्यगात्मसंस्था भगवान् के सामने आई, जिस का कि भगवान् में पूर्ण विकास था, जोकि संस्था अव्ययप्रधाना बनती हुई द्वन्द्वभाव से सर्वथा अतीत रहती हुई शास्त्रीय विधि-निषेध से परे है। अन्त की संस्था जहाँ सर्वज्ञानविमूढभाव के कारण विधि-निषेध से परे है वहाँ यह आरम्भ की संस्था सर्वज्ञान-विकासभाव के कारण विधि-निषेध से परे है, जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है।

२४५-अज्ञानान्धकारावस्था की विधि-निषेधातीता, एवं सर्वोच्च ज्ञानभूमिका की विधि-निषेधातीता का स्वरूप-दिग्दर्शन, महापुरुषों के अचिन्त्य चरित्र, तन्निबन्धना प्रतीपविधि, तदनुकरण का निषेध, एवं यथाशास्त्रमेव कर्त्तव्यकर्म्मानुष्ठान का प्रचण्ड समर्थन—

जहाँ घोर अन्धकार है, अज्ञान चरम सीमा पर पहुँच गया है, वहाँ जैसे शास्त्र के विधि-निषेध व्यर्थ हैं, तथैव जहाँ आत्यन्तिक प्रकाश है, ज्ञान विकास चरम सीमा पर पहुँच गया है, वहाँ भी विधि-निषेध का कोई प्रयोजन नहीं रहता। ज्ञानमार्ग की उस सर्वोच्चभूमिका पर पहुँचा हुआ महापुरुष साक्षात्

ईश्वर है, ईश्वर का पूर्णावतार है। उसके आदेशों के आधार पर ही शास्त्र निर्म्माण होता है। उसका प्रत्येक कर्म्म ही विधि--निपेध की शिक्षा देने वाला है। यदि हमारी सामान्यदृष्टि से ऐसे महापुरुष का कोई कर्म्म शास्त्रीय आदेश के विरुद्ध प्रतीत होता है, तो यह हमारा ही दृष्टिदोष माना जाएगा। क्योंकि शास्त्रसीमा महानात्मा पर समाप्त है। प्रत्यगात्मा के रहस्यों का, उसके ज्ञान कर्म्मों का शास्त्र विश्लेषण नहीं कर सकता। शास्त्रीय परिच्छिन्न दृष्टि से विरुद्ध प्रतीत होने वाला भी उसका वह कर्म्म अवश्य ही किसी गुप्त नीति से सम्बन्ध रखता है और अवश्य ही इस प्रतीपाचरण में उस अवतारपुरुष का कोई विशेष लक्ष्य रहता है। हमारा अभ्युदय केवल इसी में है कि, हम उसके अपूर्व लीलाचरित्रों को देखते जाएँ, भूल कर भी उनका अनुकरण न करें और उसके आदेशानुसार कर्त्तव्यकर्म्म पर यथाशास्त्र प्रतिष्ठित रहें।

२४६–विधि–निपेध से अतीत अवतार पुरुषों की शास्त्रनिष्ठैकशरण्यता, तन्निबन्धन लोकसंग्रह, शास्त्रविरुद्ध प्रतीयमान प्रतीपाचरणों के प्रति लोकमानवों की तटस्थता का सोदाहरण स्वरूप-समन्वय-प्रयास, एवं सर्वज्ञानविमूढ-शास्त्रविरोधी-अज्ञ-जनों के द्वारा अवतार पुरुषों के प्रतीपात्मक-आचरणोदाहरणों के माध्यम से काल्पनिक-शास्त्रविरुद्ध-पथों का प्रचार-प्रयास और तन्निराकरण—

यद्यपि अवतारपुरुष विधि--निपेध से परे हैं, फिर भी लोकशिक्षण के लिए वे यावज्जीवन विधि-निषेध के अनुसार ही योग का अनुगमन करते रहते हैं। कहीं--कहीं और कभी कभी किसी विशेष उद्देश्य की सिद्धि के लिए यदि वे कोई लोकोत्तर (विधि--निपेधातीत) आचरण कर बैठते हैं, तो वह आचरण केवल उन्हीं तक सीमित माना जाएगा (देखिए श्रीमद्भागवत १० स्कं० राम० पं०)। सर्वसमर्थ अवतार पुरुष प्रथम तो शास्त्रविरुद्ध कोई आचरण करते ही नहीं। यदि हमें उनका कोई आचरण ऐसा प्रतीत होता है तो, उसका उन लोक-वेदातीत पुरुषों पर कोई प्रभाव नहीं। ऐसी दशा में अवतारपुरुषों के समस्त शास्त्रीय कर्म्माचरणों को एक ओर रखकर, विशेष लक्ष्य के लिए होने वाले उनके अशास्त्रीयवत् प्रतीयमान प्रतीपाचरणों को यदि कोई भूतात्मानुगामी, प्रज्ञानात्मानुगामी, शारीरकात्मानुगामी, किंवा महदात्मानुगामी मनुष्य आदर्श मान बैठता है तो सचमुच वह बड़ा अनर्थ करता है। जबतक हम 'वह' न बन जाएँ, जबतक हम उसके लोकोत्तर असम्भव इतर चरित्रों का आचरण करने की शक्ति प्राप्त न करलें, तबतक उस के क्वाचित्क आचरणों को आदर्श बना कर स्वयं भी उन पर चलना, समाज को भी धोके में डालना सचमुच हमारी महतीधृष्टता है। और बड़े ही दुःख का विषय है कि, आज भारतवर्ष में ऐसे कतिपय महानुभावों ने भगवान् राम–कृष्णादि अवतारपुरुषों के क्वाचित्क चरित्रों को आदर्श मानकर उन्हें व्यावहारिक रूप दे डालने का अनर्थ कर डाला है। खाद्याखाद्यविवेक, स्पृश्यास्पृश्यविवेक, विवाह-नियन्त्रण आदि शास्त्रीय आदेश ही हम भूतात्मवादियों, प्रज्ञानात्मवादियों, शारीरकात्मवादियों, किंवा महानात्मवादियों का अभ्युदय कर सकते हैं और प्रत्यगात्मसाक्षात्कार होजाने पर भी लोकसंग्रहदृष्टि से वे ही आदेश समाज के लिए हितकर बन सकते हैं। इन सब आत्मरहस्यों से एकान्ततः वञ्चित, पश्चिमी भौतिक शिक्षा में रंगे हुए, कुछ एक अहम्मन्य भारतीय योग्यता की दृष्टि से भूतात्मानुगामी, अधिक से अधिक प्रज्ञानात्मानुगामी बनते हुए यदि रामकृष्ण भिल्लनी, निषाद, कुब्जा, आदि क्वाचित्क प्रतीपाचरणों के अनुकरणों की धृष्टता करते हुए शास्त्रीय विधि-

निषेधों की उपेक्षा, तिरस्कार करते हैं तो, इनके सम्बन्ध में भी भगवान् का–"सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः" यही प्रसाद पुरस्कार में उपस्थित होता है।

२४७–आत्मकामभाव, निष्कामभाव, सकामभाव, कुत्सितकामभाव, शारीरकामभाव-भेद-निबन्धन विवर्त्तों का स्वरूप-संस्मरण—

हाँ तो, अब यह स्पष्ट होचुका है कि, अध्यात्मसंस्था में पाँच आत्मविवर्त्त हैं। पाँचों में (प्रत्येक) में तीन तीन योग हैं। और इन पाँच योगत्रयी-विवर्त्तों में से ५ वीं को गीता ने उपेक्षणीय, चौथी को त्याज्य, तीसरी को हेय, दूसरी को उपादेय, एवं पहिली को आराध्य माना है। आराध्या योगत्रयी का मूल न निष्काम भाव है, न सकामभाव। अपितु अकामभावरूप आत्मकाम ही इस का मूल है। उपादेया योगत्रयी का मूल निष्कामभाव है। हेया योगत्रयी का मूल सकामभाव है। त्याज्या योगत्रयी का मूल कुत्सितकामभाव है, एवं उपेक्षणीया योगत्रयी का मूल अकामभावरूप शरीरकाम है। कामकामी चारों वर्ग अशान्त हैं, निष्काम-योगी शान्तिलाभ करते हैं और आत्मकामयोगी शान्तिस्वरूप बने रहते हैं।

२४८ लोकप्रचलित ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-योगों का निष्कामभाव-माध्यम से भगवान् के द्वारा संशोधन, संशोधिता किन्तु परमतानुबन्धिनी योगत्रयी, तथा संशोधन कर्त्ता भगवान् का अपना मत और गीताशास्त्र का उद्घोषित 'बुद्धियोगशास्त्रत्व'—

जैसाकि पूर्व में कहा जाचुका है, पांचों में ४-५ वें इन दो वर्गों की न तो भगवान्ने विशेष समालोचना की है, न इन योगों, एवं योगानुयायिओं के स्वरूप का विशेष रूप से स्पष्टीकरण किया है। गीता ने प्रधानरूप से तीन आत्मसंस्थाओं को लक्ष्य बनाते हुए सकाम–निष्काम–आत्मकाम भावों की पूर्ण मीमांसा की है। साथ ही प्रत्यगात्मा–महानात्मा–शारीरकआत्मा (परमात्मा–क्षेत्रज्ञात्मा–अन्तरात्मा) तीनों का पूर्णरूप से स्पष्टीकरण करते हुए तीनों से सम्बन्ध रखने वाले योगों का, योगानुयायियों का, योगफलों का भी विस्तार से निरूपण किया है। एवं इन तीनों विवर्त्तों का निरूपण करते हुए अन्ततोगत्वा प्रत्यगात्मानुगत बुद्धियोग को ही सर्वश्रेष्ठ बतलाते हुए यह सिद्ध किया है कि, मेरा प्रातिस्विक 'मत' न ज्ञानयोग है, न भक्तियोग है, न कर्म्मयोग, अपितु बुद्धियोग ही मेरा अपना [अव्यय का] 'मत' है। लोकप्रचलित निष्ठाओं का [लोकसंग्रहदृष्टि से] मैंने गीता में निरूपण अवश्य किया है। परन्तु, यह गीता का प्रासङ्गिक विषय है, गौण विषय है। मेरी गीता उपनिषत् है। उपनिषत् एकमात्र प्रत्यगात्मा से सम्बन्ध रखता है। प्रत्यगात्मयोग ही बुद्धियोग है। और यही एकमात्र गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। अतएव गीता विशुद्ध बुद्धियोगशास्त्र है।

२४९–गीता के द्वारा मान्या योगत्रयी के विविध भावों का स्वरूप-दर्शन-प्रयास, एवं तत्समर्थक-प्रतिपादक-गीतावचनों का स्वरूप-संस्मरण—

देखना यही है, कि गीता ने कहां कहां किस किस रूप से उक्त योगों का निरूपण किया है। सबसे पहिले सकाम योगत्रयी पर ही दृष्टि डालिए। सकाम कर्म्मयोग, सकाम भक्तियोग, सकाम ज्ञानयोग, तीनों के निन्दावचन ही इस विषय का स्पष्टीकरण करने के लिए पर्य्याप्त होंगे। हां, वचनों से पहिले यह और लक्ष्य

में रख लीजिए कि, तीनों में ज्ञानयोग प्रथमश्रेणि में, कर्म्मयोग मध्यमश्रेणि में, एवं भक्तियोग उत्तमश्रेणि में माना जाएगा। कारण स्पष्ट है। कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग लोकसंग्रह से सर्वथा वञ्चित है। साथ ही में लोक-परलोक-वैभवों से भी वञ्चित। कर्म्मशून्य ज्ञानी के लिए यहाँ भी कुछ नहीं, वहाँ भी कुछ नहीं। काम्य कर्म्मयोग में आंशिकरूप से लोकसंग्रह भी है, एवं पारलौकिक स्वर्गादि सुख भी है। अतः यह ज्ञानयोग की अपेक्षा श्रेष्ठ माना जाएगा। भक्तियोग में लोकसंग्रह है, इस जीवन में भी ईश्वरस्मरणजन्या शान्ति है, परलोक में भी सद्गति है। इस दृष्टि से भक्तियोग कर्म्मयोग को अपेक्षा भी श्रेष्ठ माना जाएगा।

२५०-१-प्रज्ञानात्मगर्भित-शारीरकात्मानुगता योगत्रयी हेया—

१-सकामभक्तियोगः-उत्तमः (प्रज्ञानात्मानुगतलोकनिष्ठापेक्षया उपादेयः, किन्तु गीतादृष्ट्या सर्वथा हेयः)

भागवतानां भक्तियोगनिष्ठा—

(क) १-अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ॥
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ (१३।२५।)।

२-यान्ति देवव्रता देवान्, पितॄन् यान्ति पितृव्रताः ॥
भूतानि यान्ति भूतेज्या(९।२५)देवान् देवयजो यान्ति॥(७।२३)।

३-स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ॥
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान् ॥ (७।२२।)।

४-अन्तवत्तु फलं तेषां तद् भवत्यल्पमेधसाम् ॥ (७।२३।)

(ख) ५-अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ॥
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ (१७।५।) ॥

६-कर्षयन्तः[1] शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः[2] ॥
मां[3] चैवान्तः शरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥(१७।६।)।

—१—(१)।

—※—

१-शारीरकात्मानुगता भक्ताः, काम्यभक्तिमार्गेण कर्षयन्तः।
२-भूतग्रामाधिष्ठातारं शारीरकमात्मानम्।
३-प्रत्यगात्मलक्षणं माञ्च।

२५१-२-सकामकर्म्मयोगः-मध्यमः (अज्ञानात्मानुगत-लोकनिष्ठापेक्षया-- उपादेयः, किन्तु गीतादृष्ट्या सर्वथा हेयः)

कर्म्मयोगिनां-कर्म्मयोगनिष्ठा—

१-त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ॥
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान् ॥ (९।२०)॥

२-ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं—
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्म्ममनुप्रपन्ना—
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ (९।२१) ॥

३-यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ॥
वेदवादरताः पार्थ ! नान्यदस्तीति वादिनः ॥ (२।४२) ॥

४-कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्म्मफलप्रदाम् ॥
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्य्यगतिं प्रति ॥ (२।४३) ॥

५-भोगैश्वर्य्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ॥
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ (२।४४)॥

६-यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ॥
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ (२।४६) ॥

—२—(२)

——॥——

२५१-३-कर्म्मत्यागलक्षणो ज्ञानयोगः-प्रथमः (अज्ञानात्मानुगत-लोक-निष्ठापेक्षया उपादेयः, किन्तु गीता-दृष्ट्यासर्वथैव हेयः)

ज्ञानयोगिनां-सांख्यनिष्ठा—

१-त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म्म प्राहुर्मनीषिणः ॥ (१८।३) ॥

२-न कर्म्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ॥
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥

३-काम्यानां कर्म्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ॥
सर्वकर्म्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ (१८।२।)
४-नियतस्य तु संन्यासः कर्म्मणो नोपपद्यते ॥
५-मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ (१८।७।)
कार्य्यमित्येव यत्कर्म्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ॥
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ (१८।६।)
६-नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्म्मकृत् ॥
कार्य्यते ह्यवशः कर्म्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥

—३—(३)

२५३-कामनामय भक्तिमार्ग, फलानुगत कर्म्ममार्ग, एवं कामत्यागलक्षण ज्ञानमार्ग का स्वरूप-संस्मरण, तदनुप्राणिता शारीरकात्मानुबन्धिनी शास्त्रीयाऽपि योगत्रयी की अपेक्षिता संशोधनकामना, एवं निष्कामभाव माध्यमेनैव योगत्रयी की समादरणीयता—

उक्त गीतावचनों से यह सिद्ध होरहा है कि कामनामय भक्तिमार्ग, फलानुगत कर्म्ममार्ग, एवं कामत्यागलक्षण, ज्ञानमार्ग तीनों यद्यपि कामनापूरक अवश्य हैं, अवश्य ही इनके अनुगमन से 'यं यं कामयते-तं त माप्नोति' सिद्धान्त सफल होता है और इसी कामसाफल्यदृष्टि से. शारीरकात्मानुगता यह सकामयोगत्रयी नष्टकाम, किंवा दूषितकाममूला प्रज्ञानात्मानुगता लौकिक योगत्रयी की अपेक्षा श्रेष्ठ भी है। अतएव उपादेय भी। परन्तु, गीता की दृष्टि से तीनों योग 'अन्तवत्तु फलं' के अनुसार अशाश्वत फल के कारण बनते हुए सर्वथा हेय ही माने जाएँगे। गीता तीनों का तभी समादर करेगी, जबकि भक्तियोग निष्काम हो, कर्म्मयोग फलानधिकृत हो, एवं ज्ञानयोग कर्म्मयुक्त हो। उस दृष्टि से जहाँ वेदमूला यज्ञादि कर्म्म निष्ठाएँ भगवान् की दृष्टि में हेय हैं, वहाँ इस निष्कामदृष्टि से तीनों परमादरणीय बन रही हैं।

२५४-संशोधिता योगत्रयी की ही उपयोगिता का समन्वय, प्रचलिता ज्ञान-कर्म्म-भक्ति-योगत्रयी के विभिन्न दोषों का स्वरूपोद्घाटन, एवं संशोधितापि योगत्रयी के तीनों योगों के अवान्तर उत्तम-माध्यम-अधम-श्रेणि-विभागों का स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

यद्यपि संशोधित तीनों ही योग अपने अपने स्थान पर रहते हुए शाश्वत-शान्ति-प्राप्ति के कारण बने हुए हैं, परन्तु तीनों की तुलना में ज्ञानयोग की अपेक्षा कर्म्मयोग की एवं कर्म्मयोग की अपेक्षा भक्तियोग की

ही श्रेष्ठता स्वीकार की जाएगी। कारण स्पष्ट है। ज्ञानयोग में कर्म्मसंग्रह अवश्य है, परन्तु निवृत्ति भाव के कारण अव्यक्तानुगत बनता हुआ ज्ञानमार्ग क्लेशसाध्य बन रहा है। दूसरे लोकसंग्रह भी इस मार्ग में पूर्णरूप से सुरक्षित नहीं है। तीसरे ऐहलौकिक सम्पत्ति की भी प्रायः अनभिव्यक्ति ही रहती है। उधर कर्म्मयोग के अनुष्ठान में भी सरलता है, लोकसंग्रह का भी पूर्णरूप से समावेश है और आंशिक रूपसे लौकिक पारलौकिक अभ्युदय भी है। अतएव निवृत्तिकर्ममय अतएव कर्म्मसंन्यास नाम से व्यवहृत ज्ञानयोग की अपेक्षा प्रवृत्ति कर्म्ममय कर्म्मयोग को हम अवश्य ही श्रेष्ठ कह सकते हैं। "तयोस्तु कर्म्मसंन्यासात् कर्म्मयोगो विशिष्यते" शेष रहा भक्तियोग। कर्म्मयोग से जो कुछ होता है, वह तो सब कुछ भक्तियोग में है ही। किन्तु इस के अतिरिक्त भगवत् संस्मरण रूप प्रसादभाव के कारण यह उस की अपेक्षा भी उत्तम माना जाएगा। अपिच ज्ञानयोगी पहिले भक्तिनिष्ठा प्राप्त करेगा पुनःभक्तिद्वारा ही बुद्धियोग निष्ठा प्राप्त कर सकेगा। एवमेव कर्म्मयोगी भी पहिले भक्तिनिष्ठा प्राप्त करेगा, अनन्तर भक्ति के द्वारा ही इसे प्रत्यगात्मानुगता बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त होगी। इसलिए भी भक्तियोग को हम इस योगत्रयी में उत्तम स्थान में प्रतिष्ठित मान रहे हैं जैसाकि निम्न लिखित योगवचनों से प्रतिध्वनित है।

२५५ २–अव्यक्तगर्भित-महात्मानुगता योगत्रयी–उपादेया—

१–निष्कामभक्तियोगः—उत्तमः (शारीरकात्मानुगतशास्त्रनिष्ठापेक्षया उपादेयः, किन्तु बुद्धियोगदृष्ट्या निम्नमार्गः)

ऐश्वर्य्यबुद्धियोगिनां–भक्तिनिष्ठा—(ऐश्वर्य्यबुद्धियोगो वा)

१–मद्भक्ता यान्ति मामपि .... ॥ (७।२३)

२–येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्म्मणाम् ॥
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥ (७।२८) ॥

३–राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ॥
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्त्तुमव्ययम् ॥ (९।२) ॥

४ महात्मानस्तु मां पार्थ ! दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ॥
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ (९।१३) ॥

५–सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ॥
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ (९।१४) ॥

६–अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ॥
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ (९।२२) ॥

७–मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ॥
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ (९।३४) ॥

८–अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते ॥
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ (१०।८) ॥

९–मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ॥
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ (१०।९) ॥

१०–तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ॥
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ (१०।१०) ॥

११–तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ॥
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ (१०।११) ।

१२–मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ॥
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ (१३।१०)
मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ॥
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ (१४।२६)

---१---(४)

— ❀ —

२५६ २–निष्कामकर्म्मयोगः–मध्यमः (शारीरकात्मानुगतशास्त्रनिष्ठापेक्षया उपादेयः, किन्तु बुद्धियोगदृष्ट्या निम्नतरः)

धर्म्मबुद्धियोगिनां कर्म्मनिष्ठा–(धर्म्मबुद्धियोगो वा)

१–कर्म्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्म्मफलहेतुर्भूः, मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि ॥

२–तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥ (१७।२५।)

३–यज्ञदानतपःकर्म्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ (१) ॥

४–एतान्यपि तु कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ ! निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ (१८।६।) ।

५-स्वभावजेन कौन्तेय ! निबद्धः स्वेन कर्म्मणा ।
कर्त्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ (१८।६०)॥

६-यज्ञार्थात् कर्म्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म्म कौन्तेय ! मुक्तसङ्गः समाचर ॥ (३।९) ॥

७-एवं प्रवर्त्तितं चक्रं नानुवर्त्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ ! स जीवति ॥ (३।१६) ॥

८-कर्म्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्त्तुमर्हसि ॥ (३।२०) ॥

९-संन्यासः कर्म्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तुकर्म्मसंन्यासात् कर्म्मयोगो विशिष्यते (५।२) ॥

१०-योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥ (५।६) ॥

---२---(५)

---

२५७ ३-कर्म्मपरिगृहलक्षण ज्ञानयोगः-प्रथमः (शारीरकात्मानुगतशास्त्र-निष्ठापेक्षयां उपादेयः किन्तु, बुद्धियोगदृष्टया निम्नतमः)

ज्ञानबुद्धियोगिनां-ज्ञाननिष्ठा (ज्ञानबुद्धियोगो वा)

१-संन्यासस्तु महाबाहो ! दुःखमाप्तुमयोगतः । (५।६) ।

२-प्रकृत्यैव च कर्म्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्त्तारं स पश्यति ॥ (१३।२९) ।

३-यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनु पश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ (१३।३०) ।

४-क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ (१३।३४) ।

५-य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ (१३।२३) ।

६–जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म्मचाखिलम् (७।२९) ।

७ नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ (१४।१९) ।

८- गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ (१४।२०।)

९–प्रकाशंच प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥ (१४।२२) ।

१०–उदासीनवदासीनो गुणै र्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्त्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥ (१४।२३।)॥

११–मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्योमित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ (१४।२५।) ।

१२- यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनंपश्यन्त्यचेतमः ॥ (१५।११।) ॥

१३–निर्म्मानमोहा जितसङ्गदोषा—
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वै र्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै—
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ (१५।५।) ।

१४ -ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ (१८।५४।) ॥

१५–भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ (१८।५५) ।

१६–क्लेशोऽधिकतर स्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ १२।५

---३---[९]

—२—

२५८-उद्धृत-गीता-वचन-सन्दर्भों के माध्यम से उपादेया शास्त्रीया योगत्रयी का 'स्वारस्य' स्वरूप दिग्दर्शन, एवं परम्परया प्राप्तव्या बुद्धियोगनिष्ठा का संस्मरण—

उक्त गीता वचन स्पष्ट-रूप से हमें यह आदेश कर रहे हैं कि शास्त्रीय योगत्रयी वही उपादेया है, जिसमें निष्कामभाव की प्रधानता हो। "हम कुछ नहीं कर रहे, अपितु उसके प्राकृत-चक्र से सब कुछ सञ्चालित है, वह जैसी प्रेरणा करता है, हमें वैसा ही करना पड़ता है। न हम स्वतन्त्र हैं, न हमारे ज्ञान-कर्म्म स्वतन्त्र हैं, न फलाफल का ही हम पर भार है" इस भावना को आगे रखते हुए उक्त तीनों योगों में से योग्यतानुसार किसी एक योग में प्रवृत्त होता हुआ ज्ञानी, तपस्वी, कर्म्मी कर्म्म-ज्ञानजनित वासना भावनासंस्कार लेप के आवरणलक्षण बन्धन से क्रमशः विमुक्त होता हुआ उस बुद्धियोग निष्ठा को प्राप्त कर लेगा, जिसका कि प्रत्यगात्मा से सम्बन्ध है।

२५९-प्रत्यगात्मानुबन्धी अपूर्व बुद्धियोग का संस्मरण, तदाविष्कारक अनन्यतम गीताशास्त्र, एवं बुद्धियोगनिष्ठानुबन्धी रहस्यपूर्ण भावों का स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

प्रत्यगात्मसम्बन्धी बुद्धियोग एक अपूर्वयोग है, जिस के आविष्कार का श्रेय एकमात्र गीता-शास्त्र को ही मिल सकता है। "हम नहीं कर रहे, हम कुछ नहीं है, वही करवा रहा है, वही कर रहा है" इस भावना में द्वैतमूला प्रकृति बैठी हुई है। अतएव तन्मूला पूर्वयोगत्रयी को आत्यन्तिकरूप से निर्द्वन्द्व नही माना जा सकता। फिर "हम नही कर रहे, वही कर रहा है, किंवा प्रकृति ही कर रही है" यह भावना तो एकप्रकार का अभिनिवेश ही है। माना कि योगत्रयी में सांसारिक किसी कामना का समावेश नहीं है। परन्तु—"क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः" के अनुसार मुक्तिकामना तो यहाँ भी बनी ही हुई है। यह तभी हट सकती है, जब हम आरम्भ से ही अपने आपको मुक्त समझते हुए, ज्ञानयोगादि का अनुसरण करें। यह तभी सम्भव है, जबकि "मैं-तू-" का भेद हटे। और यह तभी सम्भव है, जबकि हमारी बुद्धि शारीरकात्मा-महानात्मा का अतिक्रमण करती हुई, रागद्वेष विमुक्त बनती हुई अपने विद्या विकास के प्रभाव से "मैं-तू" शून्य सर्वातीत, सर्वरूप, सर्वकामविरहित, सर्वकामरूप उस अव्ययलक्षण प्रत्यगात्मा के साथ योग करले। बिना इस बुद्धियोगनिष्ठा के कभी चरमलक्ष्य सिद्धि नहीं होसकती। "तू तू न रहे, मैं मैं न रहूँ, यह तू तू मैं मैं मिट जाए" इस मूलमन्त्र को लक्ष्य बनाने से ही प्रत्यगात्मानुगता बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त होसकती है।

२६०-काम और निष्काम-भावों का रहस्यात्मक-स्वरूप-विश्लेषण, 'यथा नियुक्तोऽस्मि, तथा करोमि' मूला बुद्धियोगनिष्ठा, 'शरवत्तन्मयो भवेत्' मूला अन्यता, एवं लोकप्रचलिता योगत्रयी के विभिन्न विसंवादों का समन्वय-प्रयास—

"हम कामना रखते हैं, नहीं नहीं हम निष्कामभाव से योगों में प्रवृत्त रहते हैं। हम ही करते हैं, नहीं नहीं प्रकृति कर रही है" इन सब उच्चावचभावों को यहाँ (बुद्धियोगनिष्ठा में) प्रवेश करने का अणुमात्र भी अवसर नहीं है। निष्कामभाव, प्रकृति, वह, जब तक ये विवर्त्त मध्य में विराजमान हैं, तब तक द्वन्द्व की आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं मानी जासकती। "यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि" में द्वन्द्व की प्रतिच्छाया विद्यमान है। कर्म्म-ज्ञान-भक्त्यनन्यता में निष्कामभाव प्रतिबन्धकरूप

से मध्य में बैठा हुआ है। सच्ची अनन्यता, पूर्ण अव्यभिचारी योग तो वही योग कहलाएगा, जहाँ ज्ञान–कर्म्म–भक्ति के अतिरिक्त निष्कामादि अन्यभावों का समावेश ही नहीं है। अनन्ययोगानुगामी की दृष्टि के सामने न ईश्वर है, न जीव है, न जगत् है, न प्रकृति है, है केवल ज्ञान–कर्म्म–भक्ति की अनन्यता। यह–वह–जगत्–प्रकृति सब योगमय बन रहे हैं–अर्जुन के अनन्यलक्ष्य की भांति—"शरवत्तन्मयो भवेत्' निष्काम–सकाम भावों का विचार वह करेगा जो द्वन्द्व का अनुगामी होगा। यहाँ तो यह–वह–योग–सब कुछ निर्द्वन्द्व बन कर व्यवहार मर्य्यादा से बाहर निकले हुए हैं। यही गीता की बुद्धियोगत्रयी है।

यद्यपि, अपने अपने स्थान में वैराग्यबुद्धियोगरूप ज्ञान–भक्ति–कर्म्म तीनों ही योग उत्तमोत्तम हैं। परन्तु तीनों की पारस्परिक तुलना में ज्ञानयोग की अपेक्षा कर्म्मयोग को श्रेष्ठ माना जाएगा, एवं दोनों की अपेक्षा भक्तियोग को। कारण स्पष्ट है। बुद्धियोगात्मक ज्ञानयोग में लोकसंग्रह भी पूरा पूरा है, क्लेश भी नहीं है, इस लोक में भी पूर्ण शान्ति है। सब कुछ ठीक है। परन्तु ज्ञानयोग लक्षण बुद्धियोग का विशुद्ध अव्यय से सम्बन्ध है। विशुद्ध अव्यय उदासीन है। अतएव तद्रूप ज्ञानलक्षण बुद्धियोग का अनुयायी योगी सबकुछ करता हुआ भी लोकदृष्टि में विविक्त, उदासीन प्रतीत होता रहता है। इसमें स्वयं की तो कोई हानि नहीं है, अपितु लोकसंग्रह पर आघात होने का सन्देह है।

२६१–कर्म्मयोगात्मक बुद्धियोग से अनुप्राणित उदासीनभाव तथा प्रसादभाव, बुद्धियोगी के तन्निबन्धन विभिन्न तीन विवर्त्त, एवं 'बुद्धियोगत्रयी' के तात्विक-स्वरूप का समन्वय—

इधर कर्म्मयोगात्मक बुद्धियोग में आवश्यकतानुसार उदासीनभाव एवं प्रसादभाव दोनों हैं। यह बुद्धियोगी कभी उदासीन वृत्ति से लोकसंग्रह में प्रवृत्त होता है, कभी उन्मना बन कर। इसी विशेषता से हम इस दूसरे कर्म्मात्मक बुद्धियोग को ज्ञानात्मक बुद्धियोग की अपेक्षा श्रेष्ठ कहेंगे। भक्तियोग इससे भी आगे बढ़ा हुआ है। इस में इसकी मूलप्रतिष्ठा मध्यस्थ अक्षर बनता है। अक्षर हृदयस्थ होने से समतुलित है। अव्यय-क्षर दोनों का पूर्ण संग्रह है। अन्तर्जगत् में पूर्ण उदासीन भाव, बहिर्जगत् में पूर्ण आसक्ति भाव। पूर्ण संसारी, साथ ही सर्वथानिर्लिप्त। सदा प्रसन्न, प्रसन्नतापूर्वक सब में पूर्ण सहयोग, फिर विरक्त का विरक्त। यही श्रद्धायुक्त तीसरा भक्तिलक्षण बुद्धियोग है, जिसे कि भगवान् ने श्रेष्ठतम माना है। (देखिए पृ०)। इसी दृष्टि से भक्त्यात्मक बुद्धियोग कर्म्मात्मक बुद्धियोग की अपेक्षा भी उच्च धरातल में प्रतिष्ठित होजाता है। वही गीताशास्त्र का अन्तिम निष्कर्ष है। यही सारोद्धार है। यही अन्तिमनिष्ठा है और इस दृष्टि से यदि कोई गीता को भक्तियोगशास्त्र कहे तो, उसका कथन अक्षरशः सत्य है। भक्तसखा अर्जुन भी तो भक्ति के इस उत्तम रहस्य का पात्र समझा गया था। आगे के वचन इसी बुद्धियोगत्रयी का विश्लेषण कर रहे हैं।

२६२-३-प्रत्यगात्मानुगता योगत्रयी-आराध्या—

१-भक्तिलक्षणवैराग्यबुद्धियोगः-उत्तमतमः—

१-मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ (१२।२) ।

२-ये तु सर्वाणि कर्म्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ (२।६।)
तेषा महं समुद्धर्त्ता मृत्युमंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात् पार्थ ! मय्यावेशितचेतसाम् ॥ (२।७)

३-यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तम् ।
स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ (१५।१६)

४-सर्वधर्म्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ (१८।६६)

५-भक्त्यात्वनन्यया शक्यः अहमेवं विधोऽर्जुन !
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ! (११।५४)

६-योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ (६।४७)

— १-(७) —

———*———

२६३-२-कर्म्मलक्षणवैराग्यबुद्धियोगः उत्तमतरः—

१-योगस्थः कुरु कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय !
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ (२।४८)।

२-दूरेण ह्यवरं कर्म्म बुद्धियोगाद् धनञ्जय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ (२।४६)।

३-बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्म्मसु कौशलम् ॥ (२।५०) ।

४–कर्म्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ।। (२।५१) ।

५–विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्म्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ।। (२।७१) ।

६–आपूर्य्यमाणमचलप्रतिष्ठं—
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे—
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ।। (२।७०) ।

७–न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्म्मणि ।। (३।२२) ।

८–सक्ताः कर्म्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्य्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ।। (३।२५) ।

९–जोषयेत् सर्वकर्म्माणि विद्वान् युक्तः समाचरेत् ।। (३।२६) ।

१०–त्यक्त्वा कर्म्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्म्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैवकिञ्चित् करोति सः ।। (४।२०) ।

११–कर्म्मण्यकर्म्म यः पश्येदकर्म्माणि च कर्म्म यः ।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्म्मकृत् ।। (४.१८) ।

१२–न कर्तृत्वं न कर्म्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्म्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्त्तते । (५।१४) ।

१३–श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदायोगमवाप्स्यसि ।। (२।५३) ।

१४–न च मां तानि कर्म्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ।
उदासीनवदासीन मसक्तं तेषु कर्म्मसु ।। (९।९) ।

१५-सर्वकर्म्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत् प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ (१८।५६)।

१६-चेतसा सर्वकर्म्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोग मुपाश्रित्य मच्चितः सततं भव ॥ (१८।५६)।

-- २-(८) --

—x—

२६४-३-ज्ञानलक्षण वैराग्य बुद्धियोगः-सर्वोत्तमः—

१-त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥ (२।४५)।

२-यस्त्वात्मरतिरेवस्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते । (३।१७)।

३-नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ (३।१८)।

४-मयि सर्वाणि कर्म्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशी निर्म्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥ (३।३०)।

५-न मां कर्म्माणि लिम्पन्ति न मे कर्म्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्म्मभि र्न स बध्यते ॥ (४।१४)।

६-यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्म्माणं तमाहुः पंडितं बुधाः ॥ (४।१९)।

७-योगसंन्यस्तकर्म्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्म्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥ (४।४१)।

÷ पूर्व के ज्ञानयोगपरीक्षा प्रकरण में भी इन योगों के हेयोपादेय आराध्य-विवर्तों का (प्रकारान्तर से) निरूपण हुआ है। वहां उन विवर्तों के स्पष्टीकरण की जो प्रतिज्ञा हुई थी, वह वहां पूरी हुई है। दोनों के समन्वय से पाठकों को निष्कर्ष पर पहुँचना चाहिए।

८–तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ (४।४२)

९–योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ (५।७) ।

१०–नैवकिञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यन्-शृण्वन्-स्पृशन्-जिघ्रन्-अश्नन्-गच्छन्-स्वपन्-श्वसन् ॥
(५।८) ।
प्रलपन्-विसृजन्-गृह्णन्-उन्मिषन्-निमिषन्नपि ॥
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्त्तन्ते इति धारयन् ॥ (५।९) ।
ब्रह्मण्याधाय कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्र मिवाम्भसा ॥ (५।१०) ।

११–कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥ (५।११) ।

१२–साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्त चेतसः । (७।३०)

१३–न रूपमस्येह तथोपलभ्यते—
नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरुढमूल—
मसङ्गशस्त्रेण दृढेनछित्त्वा ॥ (१५।३) ।
ततः पदं तत् परिमार्गितव्यं—
यस्मिन् गत्वा न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये —
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ (१५।४) ।

-- ३--९ --

— ३ —

२६५–पञ्चदशविध–योगविवर्त्तों के सम्बन्ध में एक सामयिक-प्रश्न, एवं, तन्निराकरण-प्रयास—

अध्यात्मसंस्था के पांच विवर्त्तों के आधार पर जिन १५ योगों का दिग्दर्शन कराया गया है, उनमें से प्रकृत भक्तिपरीक्षा प्रकरण का भक्तियोग कौनसा है ? यह प्रश्न शेष रह जाता है। इसी का समाधान कर इस उपासनास्वरूपनिर्वचनप्रकरण को समाप्त किया जाता है।

२६६–अव्यक्तगर्भित-महानात्मा के माध्यम से प्रश्न का निराकरण, एवं तदनुबन्धी आधिदैविक-आधिदैविकाधिभौतिक, तथा आधिभौतिक-विवर्त्तत्रयी का संस्मरण—

यद्यपि आध्यात्मसंस्था की पांचों ही संस्थाओं में (प्रत्येक में) आत्मा-प्राण-पशु-भेद से हमने आधिदैविक-आधिदैविकाधिभौतिक-आधिभौतिक तीनों विवर्त्तों की सत्ता बतलाते हुए, तीनों से सम्बन्ध रखने वाले ज्ञान-भक्ति-कर्म योगों का समन्वय सिद्ध किया है। और इस दृष्टि से सभी आत्मविवर्त्त तीनों योगों से युक्त माने जासकते हैं। फिर भी गीताप्रतिपादित भक्तियोग का स्वरूपनिर्वचन करते हुए हमें पाँचों में से केवल एक अध्यात्मिक संस्था का ही अनुगमन करना पड़ेगा, एवं वह संस्था होगी एकमात्र अव्यक्तगर्भित महानात्मसंस्था।

२६७–निर्गुणात्मा सगुण षोडशीप्रजापति, सविकार यज्ञप्रजापति, सांजनविराट् प्रजापति, एवं सावरण विश्वप्रजापति का स्वरूप-संस्मरण एवं प्रश्न-समन्वय-प्रयास—

(१) पाठकों को स्मरण होगा कि पूर्वखण्ड में ६ परिग्रहों का आत्मसंस्थाओं के साथ समन्वय करते हुए यह सिद्ध किया है कि आध्यात्मिक प्रत्यगात्मा निर्गुण अव्यय संस्था है, अक्षरात्मा सगुण संस्था है, आत्मक्षरात्मा सविकारसंस्था है, विकारक्षरात्मा साञ्जनसंस्था है, एवं वैकारिक क्षरात्मा सावरण संस्था है। एक ही अव्ययात्मा परिग्रह भेद से अव्यय, अक्षर, क्षर, विकार, वैकारिक इन पाँच विवर्त्तभावों में परिणत होता हुआ आधिदैविक संस्था में निर्गुणआत्मा, सगुणषोडशी प्रजापति, सविकार यज्ञप्रजापति, साञ्जनविराट्प्रजापति, सावरण विश्वप्रजापति इन नामों से, एवं आध्यात्मिकसंस्था में प्रत्यगात्मा, अव्यक्तगर्भित महानात्मा, शारीरकआत्मा, विज्ञानगर्भित प्रज्ञानात्मा, भूतात्मा इन नामों से व्यवहृत होता है।

२६८–ज्ञानकर्म्ममय आत्मपर्वों का संस्मरण, तन्निबन्धन दैविक-भौतिक-भावों का समन्वय, तदनुबन्धी ज्ञानकर्म्मात्मा का संस्मरण, एवं जीवसंस्था में अन्तर्भुक्ता ईश्वरीयात्मसंस्था का स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

(२) जिस मूल अव्ययात्मा के पाँच विवर्त्त हैं, वह ज्ञानकर्म्ममय है। ज्ञान भाग उसका आधिदैविकरूप है, कर्म्मभाग उसका आधिभौतिकरूप है। क्योंकि स्वयं मूल में दोनों हैं अतः इसके शेष चारों तूलरूपों में भी दोनों का रहना न्यायप्राप्त था। मूलात्मा के इन दोनों रूपों के तारतम्य से ही दो के तीन रूप होजाते

हैं। और यही तीन रूप इसके मुख्यरूप माने जाते हैं। एक रूप में ज्ञान-कर्म्म दोनों आत्यन्तिक रूप से विकसित रहते हुए ज्ञानात्मक बने हुए हैं। एक में ज्ञान-कर्म्म दोनों अपने अपने विकास-अविकास रूपों में से प्रतिष्ठित हैं। एक में ज्ञान-कर्म्म दोनों आत्यन्तिक आवरण से कर्म्मात्मक बने हुए हैं। इसप्रकार तीनों ही रूपज्ञान-कर्म्म सम्बन्ध से उभयात्मक बनते हुए भी विकास-आवरण के तारतम्य से ज्ञानात्मा-ज्ञानकर्म्मात्मा कर्म्मात्मा नामों से प्रसिद्ध होरहे हैं। ज्ञानात्मा निर्गुण है, ज्ञानकर्म्मात्मा सगुण है, कर्म्मात्मा सविकार है। निर्गुण ज्ञानात्मा आत्मा है, सगुण आत्मा प्रजापति है, सविकार आत्मा विश्व है। इसी दृष्टि से आत्मा उक्थरूप आत्मा है, प्रजापति अर्करूप प्राण है, विश्व अशितिरूप पशु है। एवं इसी दृष्टि से ईश्वरीय संस्था की अव्ययात्मसंस्था आत्मसंस्था है, अक्षरात्मसंस्था (प्रो० प्रजापति) प्राण संस्था है, एवं आत्मक्षरात्मसंस्था (यज्ञप्र०) पशु संस्था है। शेष बची हुई विकारक्षरात्मसंस्था, वैकारिकक्षरात्मसंस्था दोनों पशु लक्षण आत्मक्षरात्मसंस्था में ही अन्तर्भूत होती हुई तद्रूप ही हैं। यही अवस्था जीवसंस्था में समझिए। प्रत्यगात्मसंस्था आत्मसंस्था है, अव्यक्तगर्भित महानात्मसंस्था प्राणसंस्था है, एवं शारीरकात्मसंस्था पशुसंस्था है। शेष बची हुई विज्ञानात्मगर्भित प्रज्ञानात्मसंस्था, भूतात्मसंस्था दोनों पशुलक्षण शारीरकात्मसंस्था में अन्तर्भूत होती हुई तद्रूप ही हैं।

२६९–जीवेश्वराभिन्न भावनिबन्धना अध्यात्मसंस्था से अनुप्राणित त्रिभिन्ना तात्त्विक-दृष्टियों का प्रासङ्गिक-स्वरूप-समन्वय-प्रयास, एवं तन्निबन्धन दैविक-भौतिक-महिममय विवर्त्त—

(३) उक्त तारतम्य का तात्पर्य्य यह निकला कि पाँचों में तीन आत्मसंस्थाएं तो परिग्रह दृष्टि से निर्गुण-सगुण-सविकार बनी हुई हैं, मूलात्मदृष्टि से अव्यय, अक्षर, आत्मक्षर प्रधान बनी हुई हैं, ज्ञानकर्म्म दृष्टि से ज्ञान-ज्ञानकर्म्म–कर्म्म प्रधान हुई हैं, देवभूतदृष्टि से अधिदैवत–अधिदैवाधिभूत-अधिभूत प्रधान बनी हुई हैं। एवं दो अन्त की आत्मसंस्थाएं परिग्रहदृष्टि से साञ्जन–सावरण, मूलात्मदृष्टि से विकार क्षर, वैकारिक क्षर प्रधान, ज्ञानकर्म्म दृष्टि से कर्म्म प्रधान, देवभूत दृष्टि से अधिभूत प्रधान बनी हुई हैं।

२७०–अमृतम्-ब्रह्म-शुक्रम्-त्रयीरूप 'ब्रह्माश्वत्थ' का माङ्गलिक-संस्मरण, एवं तदंशभूत-'कर्म्माश्वत्थ' का संस्मरण—

(४) ज्ञानलक्षण अधिदेवतत्त्व "अमृतम्" है, ज्ञानकर्म्मलक्षण अधिदेवाधि भूततत्व "ब्रह्म" है। एवं कर्म्मलक्षण अधिभूततत्त्व "शुक्रम्" है। इस दृष्टि से ज्ञानलक्षण निर्गुण आत्मा अमृतम् है, ज्ञानकर्म्मलक्षण सगुण आत्मा ब्रह्म है, एवं कर्म्मलक्षण सविकार, साञ्जन, सावरण तीनों आत्मा "शुक्रम्" हैं। अमृत–ब्रह्म–शुक्रमूर्त्ति–ईश्वरीय विवर्त्त "ब्रह्माश्वत्थ" है, एवं अमृतब्रह्म शुक्रमूर्त्ति जीवविवर्त्त "कर्म्माश्वत्थ" है।

२७१–अश्वत्थनिबन्धना ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-योगत्रयी का क्रमसिद्ध तात्त्विक स्वरूप-समन्वय—

(५) इसी तारतम्य से यह भी स्पष्ट होजाता है कि निर्गुणात्मा में साध्य–साधन दोनों आधिदैविक हैं, अतएव तत्सम्बन्धी योग "ज्ञानयोग" है। सगुण आत्मा में साधन आधिभौतिक हैं, साध्य आधिदैविक

हैं, अतएव तत्सम्बन्धीयोग "भक्तियोग" है। एवं सविकार-साञ्जन-सावरण तीनों में साधन-साध्य दोनों आधिभौतिक हैं, अतएव तत्सम्बन्धी तीनों योग "कर्म्मयोग" हैं।

२७२-गीताप्रतिपादिपादित बुद्धियोग से अभिन्न ज्ञानयोग का स्वरूप-संस्मरण—

(६) इसी व्यवच्छेद से अब यह भी भलीभाँति स्पष्ट होजाता है कि भूतात्मसंस्थानुगता योगत्रयी अवैधकर्म्मयोग है, विज्ञानगर्भित प्रज्ञानात्मसंस्थानुगता योगत्रयी लौकिक कर्म्मयोग है, शारीरकात्मसंस्थानुगता योगत्रयी शास्त्रीय कर्म्मयोग है, अव्यक्तगर्भित महानात्मसंस्थानुगता योगत्रयी गीतासम्मत "भक्तियोग" है, एवं प्रत्यगात्मसंस्थानुगता योगत्रयी गीता प्रतिपादित बुद्धियोग, किंवा ज्ञानयोग है।

२७३-गीताप्रतिपादित बुद्धियोगात्मक ज्ञानयोग के आत्म-प्राण-पशु निबन्धन विभिन्न तीन योगों का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

(७) गीता का बुद्धियोगात्मक ज्ञानयोग ही प्रत्यगात्मा के आत्म-प्राण-पशुपर्व-भेद से ज्ञानयोग-भक्तियोग-कर्म्मयोग इन तीन विवर्त्तों में, गीतासम्मत भक्तियोग ही महानात्मा के आत्म-प्राण-पशु पर्व भेद से ज्ञानयोग-भक्तियोग-कर्म्मयोग इन तीन विवर्त्तों में, शास्त्रसम्मत कर्म्मयोग ही शारीरकात्मा के आत्म-प्राण-पशु पर्व भेद से ज्ञानयोग-भक्तियोग-कर्म्मयोग-इन तीन विवर्त्तों में, लोकसम्मत कर्म्मयोग ही प्रज्ञानात्मा के आत्म-प्राण-पशु-पर्व भेद से ज्ञानयोग-भक्तियोग-कर्म्मयोग इन तीन विवर्त्तों में, एवं सामान्यजनसम्मत कर्म्मयोग ही भूतात्मा के आत्म-प्राण-पशु पर्व भेद से ज्ञानयोग-भक्तियोग-कर्म्मयोग इन तीन विवर्त्तों में परिणत होरहा है।

२७४-पञ्चविध-योगत्रयी-विवर्त्तों का रहस्यात्मक-स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

(८) इन पांचों योगत्रयी विवर्त्तों को हम बुद्धियोगात्मक ज्ञानयोग, बुद्धियोगयुक्त भक्तियोग, बुद्धियोग वञ्चित कर्म्मयोग, बुद्धिव्यामोहयुक्त कर्म्मयोग बुद्धिशून्य कर्म्मयोग इन नामों से व्यवहृत करेंगे। इन पांचों में बुद्धिव्यामोहयुक्त कर्म्मयोग, बुद्धिशून्य कर्म्मयोग का गीता में प्रतिपादन नहीं है। बुद्धियोग वञ्चित कर्म्मयोग का निन्दापूर्वक खण्डन है। बुद्धियोग युक्त भक्तियोग का समादर है। एवं बुद्धियोगात्मक ज्ञानयोग का प्रतिपादन है।

२७५-गीता का 'ज्ञानयोगशास्त्रत्त्व', एवं तन्निबन्धन 'बुद्धियोगशास्त्रत्त्व'-रूप-रहस्यात्मक-समन्वय-प्रयास—

(९) उक्त दृष्टि से यदि कोई व्यक्ति गीता को ज्ञानयोगशास्त्र कहे तो, उसका यह कथन सर्वथा प्रामाणिक माना जाएगा। गीता का बुद्धियोगात्मक ज्ञानयोग पूर्वकथनानुसार बुद्धियोगात्मक ज्ञान-कर्म्म भक्ति इन तीन विवर्त्तों में परिणत होजाता है। इस व्यष्टिदृष्टि से जहाँ गीताशास्त्र ज्ञानयोगशास्त्र, भक्तियोगशास्त्र, कर्म्मयोगशास्त्र, इन स्वतन्त्र एक एक नामों से भी व्यवहृत होसकेगा, वहाँ समष्टि दृष्टि से इसे "बुद्धियोगशास्त्र" ही कहा जाएगा। आगे के परिलेखों से उक्त विषय का स्पष्टीकरण होजाता है—

अधिदैवतम्		ज्ञानकर्म्ममूर्त्तिरव्ययो मूलात्मा	अध्यात्मम्
कर्म्मज्ञानमयः, ज्ञानकर्म्मकर्म्ममयः ज्ञानकर्म्ममयः, इत्येवंपञ्च मूलात्मत्वात्	१–	अव्ययः (कर्म्मज्ञानमयः)–निर्गुणः–आत्मा—	प्रत्यगात्मा
	२–	अक्षरः (ज्ञानमयः, कर्म्ममयः)–सगुणः–षोडशीप्रजापतिः—	अव्यक्तगर्भितमहानात्मा
	३–	आत्मक्षरः (ज्ञानकर्म्ममयः)–सविकारः–यज्ञप्रजापतिः—	शारीरकात्मा
	४–	विकारक्षरः (ज्ञानकर्म्ममयः) साञ्जनः–विराट्प्रजापतिः—	विज्ञानगर्भितप्रज्ञात्मा
	५–	वैकारिकक्षरः (ज्ञानकर्म्ममयः) सावरणः–विश्वप्रजापतिः—	भूतात्मा

अधिदैवतम्		ज्ञानकर्म्ममूर्त्तिरव्ययोमूलात्मा	अध्यात्मम्
१	(१) १	कर्म्मज्ञानयोरात्यन्तिकविकासः–ज्ञानात्मा निर्गुण आत्मा (आत्मा) (अव्ययात्मसंस्था)	प्रत्यगात्मा
२	(१) २	ज्ञानकर्म्मणोः साम्यावस्था–ज्ञानकर्म्मात्मा–सगुणः–प्रजापतिः (प्राणः) (अक्षरात्मसंस्था)	महानात्मा
३	(१) ३	ज्ञानयुक्तकर्म्मणोविकासः—कर्म्मात्मा—सविकारः—विश्वम् (पशुः) (आत्मक्षरात्मसंस्था)	शारीरकात्मा
	(२) ४	ज्ञानयुक्तकर्म्मणोविकासः—कर्म्मात्मा—साञ्जनः—अन्तर्वित्तम् (पशुः) (विकारक्षरात्मसंस्था)	प्रज्ञानात्मा
	(३) ५	ज्ञानयुक्तकर्म्मणोविकासः–कर्म्मात्मा–सावरणः—बहिर्वित्तम् (पशुः) (वैकारिकक्षरात्मसंस्था)	भूतात्मा

अधिदैवतम्		ज्ञानकर्म्ममूर्त्तिरव्ययो मूलात्मा	अध्यात्मम्
१–	निर्गुणः–अव्ययः–ज्ञानम्—दैवतम्—आत्मा—		प्रत्यागात्मा
२–	सगुणः–अक्षरः–ज्ञानकर्म्मणी–दैवतानि भूतानि च—षोडशी		महानात्मा
३–	सविकारः–आत्मक्षरः–कर्म्म–भूतम्—यज्ञः		शारीरकात्मा
४–	साञ्जनः–विकाक्षरः–कर्म्म–भूतम्-विराट्		प्रज्ञानात्मा
५–	सावरणः–आत्मक्षरः–कर्म्म–भूतम्–विश्वम्		भूतात्मा

अधिदैवतम्			तत्-लक्षणोनिरुपाधिकआत्मा	अध्यात्मम्	
—**—	तदेवशुक्रं, तद् ब्रह्म, तदेवामृतमुच्यते	१–	ज्ञानलक्षणो निर्गुण आत्मा (आत्मा)	प्रत्यगात्मा]	—अमृतम्
		२–	ज्ञानकर्मलक्षणः-सगुणआत्मा (प्राणः) षोडशीप्रजापतिः	महानात्मा]	—ब्रह्म
		३–	कर्मलक्षणः सविकारआत्मा (पशुः) यज्ञप्रजापतिः	शारीरकात्मा	—शुक्रम्
		४–	कर्मलक्षणः साञ्जनआत्मा (पशुः) विराट्प्रजापतिः	प्रज्ञानात्मा	
		५–	कर्मलक्षणः सावरणआत्मा (पशुः) विश्वप्रजापतिः	भूतात्मा	
			ब्रह्माश्वत्थः	कर्म्माश्वत्थः	

१—निर्गुणात्मसाक्षात्करणे— साध्यं ज्ञानम्, (अधिदैवतम्) साधनं, ज्ञानम् (अधिदैवतम्)	तद्योगो-"ज्ञानयोगः"	१ ज्ञानम्
२—सगुणात्मसाक्षात्करणे— साध्यं-ज्ञानम् (अधिदैवतम्) साधनं कर्म्म (अधिभूतम्)	तद्योगो-"भक्तियोगः"	२ भक्तिः
३—सविकारात्मसाक्षात्करणे— साध्यं कर्म्म (अधिभूतम्) साधनं कर्म्म (अधिभूतम्)	तद्योगो-"कर्म्मयोगः" (शास्त्रीयः)	३ कर्म्म
४—साञ्जनात्मानुगमने— साध्यं कर्म्म (भौतिकम्) साधनं-कर्म्म (भौतिकम्)	तद्योगो-"कर्म्मयोगः" (लौकिकः)	
५—सावरणात्मानुगमने— साध्यं कर्म्म (भूतभौतिकम्) साधनं कर्म्म (भूतभौतिकम्)	तद्योगो-"कर्म्मयोगः" (सामान्यः)	



१—निर्गुणात्मयोगः—गीताप्रतिपादितः—"बुद्धियोगो ज्ञानयोगो वा"
२—सगुणात्मयोगः—गीतासम्मतो—"भक्तियोग उपासना वा"
३—सविकारात्मयोगः—शास्त्रीयः—"कर्म्मयोगः कर्म्म वा"
४—साञ्जनात्मयोगः—लौकिकः—"कर्म्मयोगः कर्म्माभिनिवेशो वा"
५—सावरणात्मयोगः—अवैधः—"कर्म्मयोगो निष्ठाविच्युतिर्वा"

३	१—आत्मा (अव्ययः) ज्ञानम	—ज्ञानयोगः	—अव्ययः—प्रत्यगात्मा (बुद्धियोगत्रयी) (ज्ञानयोगः)
	२—प्राणः (अक्षरः) ज्ञानकर्म्मणी	—भक्तियोगः	
	३—पशुः (क्षरः) कर्म्म	—कर्म्मयोगः	
३	१—आत्मा (अन्तर्यामिगर्भितसत्त्वम्) ज्ञानम्	—ज्ञानयोगः	—अक्षरः—महानात्मा (भक्तियोगत्रयी) (भक्तियोगः)
	२—प्राणः (ऋतसत्यग० सौम्यप्राणः) ज्ञानकर्म्मणी	—भक्तियोगः	
	३—पशुः (शरीरगुहाग० आपः) कर्म्म	—कर्म्मयोगः	
३	१—आत्मा (जीवात्मा) ज्ञानम्	—ज्ञानयोगः	—आत्मक्षरः—शारीरकात्मा (कर्म्मयोगत्रयी) (कर्म्मयोगः)
	२—प्राणः (व्यानप्राणः) ज्ञानकर्म्मणी	—भक्तियोगः	
	३—पशुः (शरीरत्रिलोकी) कर्म्म	—कर्म्मयोगः	
३	१—आत्मा (विज्ञानग० प्रज्ञानम्) ज्ञानम्	—ज्ञानयोगः	—वि० क्षरः—प्रज्ञानात्मा (कर्म्मयोगत्रयी) (कर्म्मयोगः)
	२—प्राणः (आयुःप्राणग० यशःप्राणः) ज्ञानकर्म्मणी	—भक्तियोगः	
	३—पशुः (ज्योतिर्गौग० शुक्रम्) कर्म्म	—कर्म्मयोगः	
३	१—आत्मा (ब्रह्माग्निः) ज्ञानम्	—ज्ञानयोगः	—वै० क्षरः—भूतात्मा (कर्म्मयोगत्रयी) (कर्म्मयोगः)
	२—प्राणः (शारीराग्निः) ज्ञानकर्म्मणी	—भक्तियोगः	
	३—पशुः (शरीरपिण्डः) कर्म्म	—कर्म्मयोगः	

१—बुद्धियोगत्रयी—बुद्धियोगात्मकयोगत्रयी—ज्ञानयोगो—बुद्धियोगः
२—भक्तियोगत्रयी—बुद्धियोगयुक्तयोगत्रयी—भक्तियोगो—बुद्धियुक्तः
३—कर्म्मयोगत्रयी—बुद्धियोगवञ्चितयोगत्रयी-कर्म्मयोगो—बुद्धिवञ्चितः
४—कर्म्मयोगत्रयी—बुद्धिव्यामोहयुक्तयोगत्रयी-कर्म्मयोगो—बुद्धिव्यामुग्धः
५—कर्म्मयोगत्रयी—बुद्धिशून्ययोगत्रयी——कर्म्मयोगो—बुद्धिशून्यः

—**—

१—गीताबुद्धियोगशास्त्रम् (समष्टया)।

१—बुद्धियोगरूपो—ज्ञानयोगः—गीता—ज्ञानयोगशास्त्रम्—व्यष्टया
२—बुद्धियोगरूपो—भक्तियोगः—गीता—भक्तियोगशास्त्रम्—व्यष्टया
३—बुद्धियोगरूपः—कर्म्मयोगः—गीता—कर्म्मयोगशास्त्रम्—व्यष्टया

—*—

२७६—अव्यक्तात्मगर्भित-गुणात्मक-महानात्मा से अनुप्राणित उपासनातत्त्व, तन्निबन्धन उपासनाकाण्ड, एवं भक्तियोगानुबन्धी ज्ञान-कर्म्म-निबन्धन-अधिदैवत-भौतिक विवर्त्तों का स्वरूप समतुलन—

जैसा कि प्रकरणारम्भ में कहा गया है, प्रकृत उपासनास्वरूप का निर्वचन करते समय हमें एकमात्र अव्यक्तगर्भिता महानात्मसंस्था का ही आश्रय लेना पड़ता है। महानात्मा पूर्व प्रदर्शित तालिकाओं के अनुसार अक्षरप्रधान है। उधर आत्मा के पाँचों विवर्त्तों से अव्ययप्रधान प्रत्यगात्मविवर्त्त साध्य-साधनरूप से उभयथा ज्ञानमय बनता हुआ ज्ञानयोग का ही अधिष्ठाता माना जाएगा। आत्मक्षर—विकारक्षर—वैकारिकक्षर—प्रधान शारीरकात्मा प्रज्ञानात्मा भूतात्मा तीनों साध्य—साधनरूप से उभयथा कर्म्ममय बनते हुए कर्म्मयोग के ही अधिष्ठाता माने जाएँगे। अक्षरप्रधान महानात्मा ही मध्यस्थ होने से ज्ञान—कर्म्मोभयात्मक बनता हुआ, अतएव दैवतभावापन्न साध्यदृष्टि से आधिदैविक, एवं साधनदृष्टि से आधिभौतिक बनता हुआ भक्तियोग का अधिष्ठाता माना जाएगा।

२७७—महदात्मानुबन्धी भक्तियोग के अवान्तर विवर्त्तरूप ज्ञान—भक्ति—कर्म्म—योगों का व्यावहारिक—समन्वय, योगत्रयी की भक्तियोगरूपता, एवं तत्प्रतिष्ठारूप त्रिविवर्त्तात्मक महानात्मा (महात्मा)—

महदात्मसम्बन्धी इस भक्तियोग के ही ज्ञानात्मक भक्तियोग, कर्म्मात्मक भक्तियोग एवं उभयात्मक भक्तियोग, ये तीन विवर्त्त होजाते हैं। ये ही तीनों भक्तियोग क्रमशः ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्म्मयोग, इन नामों से व्यवहृत हुए हैं। यद्यपि इन-तीनों योगों का उभयरूप महानात्मा (अक्षरात्मा—सगुणप्रजापति) के साथ सम्बन्ध है। और इसी दृष्टि से इन तीनों ही योगों को भक्तियोग ही कहा भी जाना चाहिए।

परन्तु यह अक्षरात्मा क्योंकि मध्य में प्रतिष्ठित है, अतएव इस की उस ओर प्रतिष्ठित ज्ञानमय अव्यय की ज्ञानविभूति से भी सम्बन्ध रहता है, एवं इस ओर प्रतिष्ठित क्षर की कर्म्मविभूति से भी सम्बन्ध रहता है। इस उभयसम्बन्ध से एक ही अक्षरात्मा, किंवा महानात्मा के तीन स्वरूप होजाते हैं।

२७८-महानात्मा के निर्गुण-सगुण-व्यक्त-भेदभावनिबन्धन त्रिविध महिममय स्वरूपों का तात्त्विक-स्वरूपेतिवृत्त, तन्निबन्धना उपासना के त्रिविध महिमविवर्त्त, एवं तद्रूपा भक्तियोगात्मिका योगत्रयी का रहस्यपूर्ण-स्वरूप-विश्लेषण—

वह महानात्मा, जो पर निर्गुण अव्यय के आधिदैविक ज्ञान की प्रतिच्छाया से युक्त है, निर्गुण-अव्यक्त अक्षरात्मा कहलाएगा। वह महानात्मा, जो सविकार अवर क्षर के आधिभौतिक कर्म्म भाग की प्रतिच्छाया से युक्त है, सविकार व्यक्त अक्षरात्मा कहलाएगा। एवं वह महानात्मा, जो मध्य में प्रतिष्ठित रहता हुआ ही पर निर्गुण अव्यय के आधिदैविक ज्ञानांश से, अवर क्षर के आधिभौतिक कर्म्मांश से युक्त होकर व्यक्ताव्यक्त बना हुआ है, सगुण अक्षरात्मा कहलाएगा। इन तीन रूपों से एक ही अक्षरात्मा त्रिविध भक्तियोगों का अधिष्टाता बन जाएगा। अव्ययगर्भ में प्रतिष्ठित अक्षर निर्गुण अक्षर, क्षरगर्भ में प्रतिष्ठित अक्षर सविकार अक्षर, एवं दोनों के गर्भ में प्रतिष्ठित अक्षर सगुण अक्षर कहलाएगा। अक्षर के इन्हीं तीनों रूपों को हम क्रमशः आधिदैविक अक्षर, तथा आधिदैविकाधिभौतिक अक्षर, आधिभौतिक अक्षर इन नामों से व्यवहृत करेंगे। बुद्धियोगत्रयी के अतिरिक्त गीता में जिस संशोधित निष्काम ज्ञान, कर्म्म-भक्ति-योगत्रयी का निरूपण हुआ है, उस का यथावत् समन्वय करने के लिए अक्षरात्मा के उक्त तीनों विवर्त्तों को अवधान पूर्वक लक्ष्य में रखना चाहिए। ज्ञानप्रधान अव्यक्त वही अक्षर अव्यक्त निर्गुण रूप से ज्ञानयोग की प्रतिष्ठा बनता है, कर्म्मप्रधान व्यक्त वही अक्षर व्यक्त सविकार रूपसे कर्म्मयोग का आलम्बन बनता है, एवं उभय-रूप व्यक्ताव्यक्त वही अक्षर व्यक्ताव्यक्त सगुणरूप से भक्तियोग का आश्रय बनता है। ज्ञानयोग में साधन साध्य दोनों ज्ञानप्रधान हैं, कर्म्मयोग से साधन-साध्य दोनों कर्म्मप्रधान हैं, एवं भक्तियोग में साधन कर्म्मप्रधान है, तथा साध्य ज्ञानप्रधान है।

२७९-परमार्थ, तथा व्यावहारिक अनुबन्धों के माध्यम से भक्तियोगानुबन्धिनी योगत्रयी का स्वरूप-समन्वय-प्रयास, एवं तन्निबन्धना अनुष्ठानशैली तथा अधिकारि-भेद—

पारमार्थिक कर्म्मों के द्वारा परमार्थकोटि की ओर अग्रेसर होते रहना ज्ञानमार्ग है। व्यावहारिक कर्म्मों के द्वारा व्यावहारिक कर्म्मों में अग्रेसर होते हुए आगे बढ़ना कर्म्ममार्ग है। एवं व्यावहारिक साधनों द्वारा पारमार्थिक साध्य की ओर अग्रेसर होना भक्तिमार्ग है। स्मरण रहे, तीनों में मूललक्ष्य परमार्थ का ही है। केवल अनुष्ठानशैली में भेद है। साधन-साध्यरूप से उभयथा परमार्थ लाभ करना ज्ञानपक्ष है। साधन-साध्यरूप से उभयथा व्यवहार का अनुगमन करते हुए परमार्थ लाभ करना कर्म्मपक्ष है। एवं व्यावहारिक साधन से पारमार्थिक साध्य का अनुगमन करना भक्तिपक्ष है। प्रतीति, अनुष्ठानशैली, अधि-कारि-भेद से मार्ग तीनों पृथक् पृथक् हैं, लक्ष्य तीनों का एक है।

२८०—अव्यक्तक्षरानुगामिनी योगत्रयी से अनुप्राणिता लोक-व्यावहारिकी, परमार्थ-भावानुबन्धिनी भावनाओं का स्वरूप-समन्वय—

अपने जीवन को सर्वात्मना पारमार्थिक बनाते हुए भी लक्ष्य पर पहुँचा जासकता है। सर्वथा-लौकिक बनाते हुए भी परमार्थ लाभ किया जासकता है। एवं लोक-परमार्थ-के सहानुष्टान से भी लक्ष्य-सिद्धि होसकती है। संशोधित गीतासम्मता योगत्रयी का यही स्वरूप-निर्वचन है। हाँ, शास्त्रीय योगत्रयी अवश्य ही इस उद्देश्यसिद्धि से वञ्चित है। वहाँ का कर्म्मयोग केवल व्यवहार पर समाप्त है, ज्ञानयोग परमार्थ व्यवहार, दोनों से वञ्चित है, एवं भक्तियोग नाममात्र के लिए परमार्थ से युक्त है। दोनों योगत्रयी विवर्त्तों की इस महती विशेषता के आधार पर ही अव्यक्तक्षरानुगामिनी योगत्रयी की मीमांसा करना चाहिए।

२८१—कर्म्म-ज्ञान-भक्ति-परीक्षाओं से अनुप्राणित अक्षरप्रधान महानात्मा, एवं महानात्मा के उभयात्मक स्वरूप के आधार पर सुप्रतिष्ठित 'ऐश्वर्य्य बुद्धियोग' रूप भक्तियोग का स्वरूप-संस्मरण—

प्रस्तुत भाष्यभूमिका में जिन प्रकरणों को हमने कर्म्मयोगपरीक्षा, ज्ञानयोगपरीक्षा, भक्तियोग-परीक्षा ये नाम दिए हैं, उन ज्ञान-कर्म्म-भक्तियोगों से अक्षरप्रधान महदात्मसम्बन्धी ज्ञान-कर्म्म-भक्ति ही अभिप्रेत है। अव्यक्त अक्षर निर्गुण बनता हुआ विशुद्ध आधिदैविक है, व्यक्ताव्यक्त अक्षर सगुण बनता हुआ आधिदैविकाधिभौतिक है, एवं व्यक्त अक्षर सविकार बनता हुआ विशुद्ध आधिभौतिक है। इस विश्लेषण के अनुसार यह कहा जासकेगा कि, ज्ञान अव्यक्त निर्गुण अक्षर का ही होगा, कर्म्मका योग व्यक्त सविकार अक्षर पर ही होगा, एवं उपासना व्यक्ताव्यक्त सगुण अक्षर की ही होगी। सगुण में जब व्यक्त अव्यक्तलक्षण आधिभौतिक-आधिदैविक दोनों विद्यमान हैं तो अवश्य ही उपासनाकाण्ड में हमें दोनों का आश्रय लेना पड़ेगा। और यही उपासना, किंवा भक्ति का वास्तविक स्वरूप परिचय, किंवा स्वरूप निर्वचन होगा। एवं यही उपासना गीता के शब्दों में "ऐश्वर्य्यबुद्धियोग" कहलाएगा।

२८२—(२)—अव्यक्तगर्भित—महदात्मानुगता भक्तियोगत्रयी—

× १—ज्ञानात्मकभक्तियोगः—ज्ञानयोगः (ज्ञानबुद्धियोगो वा)।

÷ २—उभयात्मकभक्तियोगः—भक्तियोगः (ऐश्वर्य्यबुद्धियोगो वा)।

= ३—कर्म्मात्मकभक्तियोगः—कर्म्मयोगः (धर्म्मबुद्धियोगो वा)।

× ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ॥
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥ (९।१५।)।

÷ महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ॥
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ [९।१३।]।

= स्वकर्म्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः [१८।४६]।

२-(२)-अव्ययगर्भितः—अक्षरमूर्तिर्महानात्मा—अव्यक्तात्मा निर्गुणः
उभयगर्भितः—अक्षरमूर्तिर्महानात्मा—व्यक्तात्मा सगुणः
क्षरगर्भितः—अक्षरमूर्तिर्महानात्मा—व्यक्तात्मा-सविकारः

—*—

३-(२)-अव्यक्तः-महानात्मा—ज्ञानप्रधानः-(आधिदैवतम्)—ज्ञानयोगाधिष्ठाता
व्यक्ताव्यक्तः महानात्मा-उभयमूर्त्तिः (अधिदैवताधिभौतिकम्)—भक्तियोगाधिष्ठाता
व्यक्तःमहानात्मा-कर्म्मप्रधानः (अधिभूतम्)—कर्म्मयोगाधिष्ठाता

—*—

२८३-अव्यक्तभावात्मक पारिभाषिक-'शान्तात्मा' से अनुप्राणित भक्तियोगनिबन्धन-'ज्ञानयोग' का स्वरूप-दिग्दर्शन—

अव्यक्त महानात्मा अव्यक्तात्मा का विशेषरूप से उपकारक बनता है। व्यक्ताव्यक्त महानात्मा त्रिगुणमूर्त्ति महानात्मा का, एवं व्यक्त महानात्मा सविकार शरीरकात्मा का उपकारक बनता है। व्यक्त-महानात्मा की दृष्टि शारीरकात्मा की ओर है, अतएव तत्सम्बन्धी कर्म्मयोग इसी का उपकारक बनेगा। व्यक्ताव्यक्त महानात्मा त्रिगुणभाव की प्रतिष्ठा है, अतएव तत्सम्बन्धी भक्तियोग महानात्मा का ही उपकारक माना जाएगा। एवं अव्यक्त महानात्मा की दृष्टि निर्गुणअव्यक्तात्मा (शान्तात्मा) की ओर है, अतएव तत्सम्बन्धी ज्ञानयोग इन अव्यक्तात्मा का ही उपकारक माना जाएगा।

२८४-गुणातीत-अव्यक्तभावप्रधान-ज्ञानयोगाधिष्ठाता शान्तात्मा, एवं तन्निबन्धन योग का स्वरूप-समन्वय, एवं तन्मूला गुणत्रयी और गुणभावों की समता-विषमता का दिग्दर्शन—

क्योंकि उपासना का एकमात्र सम्बन्ध सगुण महानात्मा से है, अतएव तत्सम्बन्धी गुणभाव की अपेक्षा से साधनों में तारतम्य होना स्वाभाविक होजाता है। तात्पर्य्य कहने का यही है कि, उपासक का महानात्मा यद्यपि तीनों ही गुणों से युक्त रहता है, फलतः तद्युक्त उपासनासाधक मन भी त्रिगुणभाव से ही युक्त-रहता है। परन्तु ये तीनों गुण नित्यरूप से विषम ही बने रहते हैं। गुणत्रयी की विषमावस्था ही अध्यात्म-संस्था की प्रतिष्ठा है। जिसदिन गुणत्रयी साम्यभाव में परिणत होजाती है, उस दिन तो सब कुछ विलीन ही होजाता है। उस समय तो गुणातीत शान्तात्मा का ही साम्राज्य रहजाता है।

२८५-गुणवैषम्य के तात्त्विक-स्वरूप का समन्वय, एवं उपासना संसिद्धि के लिए अनिवार्य्यरूपेण अपेक्षित मध्यस्थभावों की मौलिकता का संस्मरण—

गुणवैषम्य का तात्पर्य्य है-सत्त्व-रजः-तम, तीनों में से किसी एक गुण की प्रधानता, शेष दोनों गुणों की गौणता। जिस अध्यात्मसंस्था में जिस गुण की प्रधानता रहेगी, तद्वादन्याय के अनुसार वह

संस्था तद्गुण नाम से ही व्यवहृत होगी। स्थितिमूलक इस प्रकृतिसिद्ध, दूसरे शब्दों में स्वाभाविक गुण-वैषम्य से उपासकवर्ग के सात्त्विक, राजस, तामस, ये तीन स्थूल विवर्त्त मानने पड़ेंगे। स्थूल शब्द का प्रयोग इसलिए करना पड़ता है कि, इन तीन गुणों के समन्वय-वैचित्र्य से आगे जाकर, सात्त्विक, सात्त्विकराजस, राजस तामस, तामस राजस आदि अनेक विवर्त्त होजाते हैं। स्वभावरूप इस गुणभाव की विशेषता से प्रत्येक उपासक की अध्यात्मसंस्था विशेषभावों में परिणत होकर परस्पर भिन्न बन रही है। उधर गुणत्रय की कृपा से उपासना के साधनरूप मध्यस्थ बनने वाले भौतिक पदार्थ भी इस विशेषता से वञ्चित नहीं हैं। ऐसी दशा में उक्त उपासनाकाण्ड के सम्बन्ध में हमें इस सिद्धान्त पर पहुँचना पड़ेगा कि—उपासना सिद्धि के लिए तदनुरूप भौतिक पदार्थ को ही मध्यस्थ बनाना पड़ेगा।

२८६–आर्षमहर्षियों के विज्ञानसिद्ध उपासनाकाण्ड की मूलभित्ति से अनुप्राणित–'मनोविज्ञान', एवं उपासक के मानसिक–स्वरूपानुपात से ही मध्यस्थ–प्रतिमादि भावों का समन्वय—

इसी प्राकृतिक रहस्य के आधार पर आर्ष्यमहर्षियों का यह वैज्ञानिक उपासनाकाण्ड विविध देवतावाद का अनुगामी बनता हुआ, विविधाकाराकारिता मध्यस्था प्रतिमाओं का समर्थक बना हुआ है। भारतीय उपासनाकाण्ड की मूलभित्ति है—'मनोविज्ञान'। उपास्य की दृष्टि से उपासना मार्ग का आविष्कार नहीं हुआ है। यदि ऐसा होता तो, सभ्यतारम्भकाल से आरम्भ कर आजपर्यन्त एक ही उपास्य का नाम सुना जाता, एवं उस एक ही उपास्य की एकरूपा ही प्रतिमा का व्यवहार प्रचलित रहता। और उस दशा में उपासक की गुणविशेषताओं का निरादर करने वाला ऐसा उपासनामार्ग सर्वथा निष्फल ही बना रहता।

२८७–उपासक की मनोवृत्ति के आधार पर 'उपासना' का आविष्कार, एवं उपास्य से अनुप्राणित अद्वैतमूलक भी एकेश्वर तत्त्व की उपासक–मनोवृत्ति भेद से अनेक देवतावाद में परिणति और तन्नामसंस्मरण—

विचार करने पर यह स्पष्ट होजाता है कि यहाँ उपासक की वृत्तियों के आधार पर ही उपासना का आविष्कार हुआ है। उपासक के मन की जैसे स्वाभाविकी वृत्ति है, उसका मन जिस ओर स्वभावतः आकर्षित रहता है, वैज्ञानिक ऋषियोंने उन वृत्तियों के अनुरूप साधनों को ही मध्यस्थ बनाया है, तदनुरूप उपास्यों की उपासना का ही विधान किया है। यही कारण है कि, एकेश्वरवाद को मूलप्रतिष्ठा बनाता हुआ भी हमारा उपासनामार्ग केवल उपासनासिद्धि के लिए अनेकेश्वरवाद का साधन बनता हुआ, तत्सिद्धि के लिए तदनुरूप प्रतिमादि का ही अनुगामी बना हुआ है। दुर्गा, भैरव, हनूमान्, राम, कृष्ण विष्णु, शिव, गणपति, रुद्र आदि असंख्य उपास्य, इनके भी अवान्तर असंख्य भेद, तदनुरूप ही असंख्य प्रतिमाएँ ये सब नाना साधन हमारे उपासनातत्त्व की वैज्ञानिकता ही सिद्ध कर रहे हैं, जैसाकि पाठक आगे के प्रकरणों में सोदाहरण देखेंगे।

२८८-प्रत्ययालम्बनता से अनुप्राणित आधिभौतिक-माध्यम और उपासनाकाण्ड—

अभी कहना यही है कि, उपासना का सम्बन्ध क्योंकि व्यक्ताव्यक्त महानात्मा से है, महानात्मा त्रिगुणभावापन्न है, त्रिगुणभाव नित्यविषम है। तद्युक्त मन भी तद्गुणक बना रहता है। मन की स्थिरता के लिए ही आधिभौतिक पदार्थ को मध्यस्थ बनाना पड़ता है। इस प्रत्ययालम्बनता के लिए उसी आधिभौतिक पदार्थ को उसी आकार में परिणत कर मध्यस्थ बनाना पड़ेगा, जो कि आकार उपासक के मन के लिए आकर्षक प्रमाणित होगा।

२८९-सहजभाषा में उपासनातत्त्व स्पष्टीकरणोपक्रम—

दार्शनिक भाषा में उपासना का स्वरूप पाठकों के सम्मुख रक्खा गया। अब दो शब्दों में सहज भाषा में भी उपासनातत्त्व का स्पष्टीकरण कर लीजिए।

२९०-उपासना का एकमात्र आलम्बन सगुणब्रह्म, उपास्य आध्यात्मिक महद्ब्रह्म, महच्छक्ति का उपासना के माध्यम से शारीरकात्मा में समावेश, तन्निबन्धना उपासना-सिद्धि, एवं उपासक शारीरकात्मा की अश्मखण्डावृत्ति का स्वरूप-समन्वय—

उपासना होती है सगुणब्रह्म की। किस सगुण ब्रह्म की ?, आधिदैविक की नहीं, अपितु आध्यात्मिक सगुण महद्ब्रह्म की। उद्देश्य यह है कि, इस महद्ब्रह्म की प्रभूतशक्ति के साथ नित्ययुक्त भी शारीरकात्मा आवरण के कारण उस शक्त्युपयोग से वञ्चित है। संसार की साधारण से साधारण घटना इसे क्षुब्ध बना देती है। पद पद पर यह अपने आपको असमर्थ अनुभव करता है, जबकि शक्ति का कोश इसके अन्तर्जगत् में निहित है। मन की (इन्द्रियानुगामिनी) स्वाभाविक वृत्तियाँ इसे विषयासक्त बना कर इस की शेषभूता शक्ति का भी ह्रास करती रहती हैं। ऐसी दशा में इसके लिए क्षोभशान्ति का यह सुगममार्ग (सुसुखं) है कि, यह अपने मन को किसी ऐसे सूत्र के आधीन कर दे, जो इसे मध्यमवृत्ति का अनुगामी बनाता हुआ बाह्यस्पर्श के साथ साथ अन्तःस्पर्श का भी अनुगामी बनाता रहे। इस मध्यमवृत्ति से मन इन्द्रियों के रूप से तो बाह्यजगत् में विचरण करता रहेगा और स्वस्वरूप से अन्तर्जगत् में प्रवेश करता हुआ केवल बाह्यभक्त बने हुए उस शारीरक को महच्छक्ति के अधिकाधिक समीप (उप) बैठाता हुआ (आसन+आसना= उपासना) इसे उसकी घनशक्ति से युक्त करता रहेगा। परिणामतः शारीरक आत्मा मनोयोग के द्वारा प्राप्त इस भक्तिबल से बलवान् बनता हुआ एक ऐसा अश्मखण्ड बन जाएगा, जोकि हथोड़े की भयङ्कर चोटों को भी नगण्य ही अनुभूत करता रहता है।

२९१ बुद्धिलक्षण मध्यस्थ सूत्र का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं उपासनातत्त्व का प्रतिबन्धक मानस-संस्कार और तत्र समर्पिता बुद्धि की सूत्ररूपता का अभिभव—

वह सूत्र होगा "बुद्धि"। यद्यपि बुद्धिसूत्र आज भी विद्यमान है। बिना बुद्धि के क्या कभी मन ऐन्द्रियक जगत् में अनुधावन कर सकता है !, असम्भव। परन्तु बुद्धि का यह योग आज मन का उपासक

बना हुआ है । आत्मसमर्पणभाव ही उपासना है । अपने आप को उपास्य में विलीन कर देना ही उपासना है । और अधिकांश में मानवसमाज इस दृष्टि से उपासनापथ से वञ्चित ही प्रमाणित हो रहा है । प्रायः हमने हमारी बुद्धि को तो उपासक बना रक्खा है, एवं मन को उपास्यदेवता । बुद्धि ने उपास्य मन में आत्मसमर्पण कर रक्खा है ।

२६२-विजित, और विजेता-वर्गों के उदाहरण-माध्यम से उपास्य-उपासक के धर्म्मों का उच्चावचभावानुबन्धी स्वरूप-समतुलन—

यह एक नियम है कि, जो जिस का आश्रय लेता है, जिस में आत्मसमर्पण करता है, उसके धर्म्म अवश्य ही उस आश्रित में आजाते हैं । यही तो उपासना का फल है । आश्रित विजित है, आश्रय विजेता है । विजेता वर्ग के गुण धर्म्म विजित में न आवें, अथवा विजित को विजेतृवर्ग अपने गुण धर्म्मों का अनुगमन करने के लिए विवश न करे, यह असम्भव है । इस प्राकृतिक नियम के अनुसार यदि विजिता बुद्धि में विजेता मन के गुणधर्म्म संक्रान्त होजाएँ तो, इस में कौन सा आश्चर्य्य है ! ।

२६३-'बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्' सूत्रमूलक अव्यवसाय का, तत् सापेक्ष-व्यवसायधर्म्म का स्वरूप-संस्मरण, एवं तन्निबन्धन उपासनाकाण्ड—

विजेता मन के कोश में क्या है !, यह स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं है । इस के कोश में है वे अनन्त संस्कार, जिन्हें लेकर यह चाञ्चल्य की पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ है । अनेक विषयानुगामित्व, अनेक संस्काराश्रितत्व, संशयानुयोगित्व, चाञ्चल्य, विषयासक्तित्व आदि कुछ एक गुण धर्म्म ही मन की स्वार्जित सम्पत्ति है । जब बुद्धि दास्यभाव से इसमें आत्मसमर्पण कर देती है तो, पुरस्कार में मन की वह सम्पूर्ण सम्पत्ति इसमें प्रतिबिम्बित होजाती है । बुद्धि का स्वाभाविक आत्मयोग पलायित होजाता है, स्वाभाविक स्थिरता जाती रहती है, निश्चित, निर्भ्रान्त, निर्म्मल, अभ्युदय निश्श्रेयसमूलक दिव्य एकत्वानुयोगी व्यवसायधर्म्म उच्छिन्न होजाता है । प्रधानता होजाती है—अनिश्चित, भ्रान्त, मलिन, प्रत्यवाय अवनतिमूलक आसुर अनेकानुयोगी अव्यवसाय धर्म्म की—"बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्" ।

२६४-मानससंस्कार, तन्मूला आसक्ति, मानवीय मन से अनुप्राणिता शान्ति के सम्बन्ध में सर्वसाधारण का सहज प्रश्न । प्रश्नस्वरूपोपबृंहण, एवं शान्ति, तथा अशान्ति-भावों के विभिन्न स्वरूपों से अनुप्राणित महान् प्रश्न का समाधान-प्रयास—

उक्त अव्यसायधर्म्म के समावेश से मनोऽनुगत चाञ्चल्य बुद्धि की स्वाभाविक-स्थिरता का अपहरण कर लेता है । उच्चावच तरङ्गों से तरङ्गायित महासमुद्र में यात्रा करने वाले यात्री की नौका जिसप्रकार झञ्झावात से डगमगाने लगती है, एवमेव वायुस्थानीय गतिधर्म्मा मानस-संस्कारों की आसक्ति बुद्धिलक्षण स्थित नाविक के प्रज्ञारूप नौका-सञ्चालनदण्डों की स्थिरता भङ्ग कर देती है । और इसप्रकार "तदस्य

हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि" के अनुसार नाविक (अव्यवसायात्मिका बुद्धि) की असावधानी से, जिस का एकमात्र कारण झञ्झावात (संस्कारासक्ति) है, नौका (शरीरस्वास्थ्य) और यात्री (भोक्तात्मा) दोनों विपत्ति में पड़ जाते हैं। संसार-सागर के यात्री भोक्तात्मा के स्वस्वरूप से सच्चिदानन्दलक्षण, नित्य शान्तैकरस ब्रह्म के अंश होने पर भी क्यों इसे शान्ति नहीं मिलती ?, इस प्रश्न की यही संक्षिप्त मीमांसा है। एकमात्र नाविक की असावधानी ही इस अशान्ति का मूलकारण है। नाविक भी बेचारा क्या करे, जब कि, संसार-समुद्र में अहोरात्र इतस्ततः दोलायमान झञ्झावातों के झोंके इसके उन हाथों को अशक्त बनाते रहते हैं, जिस में नौका खेने के दण्ड रहते हैं। अशक्त नाविक कबतक झञ्झावात से अपने आप को बचाता रहे। इस की सब से बड़ी भूल तो यही होगई कि, इसने उस महासमुद्र के क्रोड़ में अपनी स्वल्पशक्ति का समतुलन किए बिना ही नौका छोड़दी। महासमुद्र में प्रवाहित झञ्झावातों से त्राण वही नाविक पा सकता है, जिस के हाथों में झञ्झावात से अधिक बल है। समुद्र को देखिए न। जिस आपूर्य्यमाण समुद्र के क्रोड़ में असंख्य जलचर इतस्ततः अनुधावन करते रहते हैं, झञ्झावात जिस से क्षणभर के लिए भी पृथक् नहीं होता, उस आपूर्य्यमाण समुद्र की महासमुद्र-स्थिरता में कभी बाधा उपस्थित नहीं होती, नहीं हो-सकती। क्यों ?, इसलिए कि वह आपूर्यमाण है, अतएव अचलप्रतिष्ठ है। इधर हमारा यह यात्री (जीवात्मा) अपने नाविक (बुद्धि) की उदासीनता से अपूर्णता--प्रवर्त्तक ऐन्द्रियक मानससंस्कारों की आसक्ति के पाश में बद्ध होकर उस समुद्र (महत्तत्त्व) के आपूर्य्यमाणधर्म्म से वञ्चित होरहा है। ऐसी दशा में यह अचल--प्रतिष्ठ रहे, तो कैसे रहे।

२६५-सफलतानुबन्धी सुख, असफलतानुबन्धी दुःख, तदनुप्राणित द्वन्द्वभाव, द्वन्द्वातीत उपास्य, द्वन्द्वभावाक्रान्त उपासक और उपासनाकाण्ड में महती विप्रतिपत्ति, तथा तन्निराकरणोपाय प्रदर्शनात्मक एक लौकिक-उदाहरण का इतिवृत्तात्मक पावन संस्मरण—

हमें अपनी सफलता पर सुख मिलता है, एवं असफलता पर दुःख होता है। सुख-दुःखात्मक यह द्वन्द्व हमें सदा अशान्त बनाए रहता है। इस द्वन्द्व से त्राण प्राप्त करने के लिए विद्वत्ता, धनिकता, यौवनत्त्व, प्रभुत्त्व, आदि आदि सम्पूर्ण कृत्रिम साधन अन्ततोगत्त्वा व्यर्थ ही सिद्ध होते हैं। द्वन्द्वातीत ही द्वन्द्व से त्राण पाने का एकमात्र साधन है, जिस की प्राप्ति एकमात्र 'उपासना' तत्त्व के समाश्रय पर ही निर्भर है। 'अपनापन' खोदेना, अपने आप को भुलाकर उस द्वन्द्वातीत में मिला देना ही वास्तविक उपासना है। कहते है— "स्वयम् को मिटा देने से ही ईश्वर प्राप्ति हो सकती है।" लौकिकसुख-साधनों के विद्यमान रहने पर भी सर्वसाधारण प्रश्न किया करते हैं कि—'शान्ति का क्या उपाय ?, हमें शान्ति कैसे मिले ?'। अनुभव उत्तर देता है कि—'जबतक तुम तुम हो, तबतक तुम्हें शान्ति नहीं मिल सकती, नहीं मिल सकती। जन्मान्तरीण अशान्त संस्कारों से तुम्हारा गर्भाशय में आगमन हुआ, नित्य अशान्त गर्भाशय में चान्द्रसम्वत्सर पर्य्यन्त तुम्हारे (औपपातिक आत्मा के) ब्रह्मवेष्टन (भौतिक शरीर) का स्वरूप निर्म्माण हुआ, सम्वत्सरानन्तर एव-यायरुत् नामक गतिधर्म्मा-अशान्त प्रसव वायु के आघात से तुम भूमिष्ठ हुए, राग-द्वेष-काम-क्रोध-लोभ-मोह की सजीवप्रतिमा (परिवार) ने तुम्हारा लालन पालन किया, युगधर्म्मानुसारिणी-कामभोगविषयैक-

परायण शिक्षा ने तुम्हें शिक्षित मानने का अभिमान प्रदान किया, इसप्रकार अथ से इति पर्य्यन्त उपासना तो तुमने की अशान्ति की ओर प्रश्न करते हो कि-हमें शान्ति कैसे मिले ?। क्या यह तुम्हारी अनधिकारचेष्टा नहीं है ? विश्वास करो, जबतक तुम तुम बने रहोगे, तबतक कथमपि शान्ति नहीं मिल सकेगी। शान्ति तुम्हारा प्रातिस्विक धन नहीं है, अपितु उसकी मौलिक सम्पत्ति है। क्या वह माँगने से शान्ति प्रदान कर देगा ?, व्यवहारकुशल जहाँ उत्तर में 'हाँ' कहेगा, वहाँ सहजजीवन का मर्म्मज्ञ अपने ये उद्‌गार प्रकट करेगा कि, जबतक 'माँगने वाला' है, तबतक उस की प्राप्ति असम्भव है। माँगने वाला जबतक यह समझ रहा है कि, "मैं माँग रहा हूँ" तबतक उसने द्वन्द्वातीत का स्वरूप ही नहीं समझा। जिस से माँगना है, उस का स्वरूप ही जब माँगने वाला नहीं समझ रहा, तो वह माँगेगा किस से और क्या माँगेगा ?। बड़ी जटिल समस्या है-उनके लिए, जो बहुत बुद्धिमान् हैं, विद्वान् हैं, धनिक हैं, आडम्बर प्रिय हैं। धन्य है, वह मूर्ख ठाकुर, जिस ने भगवदनुग्रह से इस तत्त्व का अनुगमन किया, एवं अपने दोनों लोक सफल बनालिए। घटना ऐतिहासिक है, एवं करौलीराज्य में घटित होने वाली। साथ ही उपासनातत्त्व का सहजभाषा में स्पष्टीकरण करने वाली। अतएव उसे उद्धृत कर देना अप्रासङ्गिक, तथा अरुचिकर नहीं माना जाएगा।

२९६-सहज श्रद्धा-परायण-'जो हुकुम' भक्त पुण्यश्लोक ठाकुर और उसका भक्त-प्रवर महात्मविशेष के साथ अनुग्राह्यानुग्राहक-सम्बन्ध—

कर्णाकर्णि परम्परया घटना इस प्रकार सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ—

करौली राज्य के किसी छोटे से ग्राम में एक चौहान-वंशज ठाकुर रहते थे। लोग कहते हैं—ठाकुर जब १२-१५ वर्ष के थे, तो उनके ग्राम में कहीं से एक महात्मा पधारे। किसी ने पुत्र माँगा, तो किसी ने धन-भूमि-ऐश्वर्य्य। बालबन्धु भाग्यशाली ठाकुर भी जन्मान्तरीय किसी बलवान् शुभ संस्कार की प्रेरणा से महात्मा के सन्निकट जा पहुँचे। 'जो हुकुम' राजस्थानी प्रजा की स्वाभाविक भाषा है। विशेषतः क्षत्रिय समाज में इस का अधिक व्यवहार प्रचलित है। सहज जीवन के मर्म्मज्ञ ठाकुर महात्मा की प्रत्येक आज्ञा के उत्तर में 'जो हुकुम' का सम्पुट लगाते हुए अविलम्ब उसे कार्य्यरूप में परिणत कर देते। जबतक महात्मा ग्राम में रहे, तबतक ठाकुर की यह 'जो हुकुम' उपासना धारावाहिकरूप से चलती रही। जाते समय महात्मा ने ठाकुर को आशीर्वाद दिया कि, ठाकुर ! यह 'जो हुकुम' ही तुम्हें किसी दिन सिद्धि के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचा देगा। तुम्हें यह स्मरण रखना चाहिए कि, तुम्हारा प्रत्येक काम तुम्हारे हृदय में बैठे हुए ईश्वर के हुकुम से ही होता है। तुम्हारा यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि, तुम अपनी इस आध्यात्मिक ध्वनि को ही आज से 'जो हुकुम' मानते हुए तदनुसार ही चलते रहोगे'।

२९७-महात्मानुग्रह से कृतकृत्य भक्तप्रवर ठाकुर की अनन्योपासनानिष्ठा का स्वरूपेतिवृत्त, एवं तन्निबन्धन उपासनानुबन्धी एक विशेष तथ्य का रहस्यात्मक विश्लेषण—

महात्मा चले गए, ठाकुर के जीवन में अपूर्व परिवर्त्तन होगया। लोगों ने देखा कि-ठाकुर अपने आप से ही 'जो हुकुम' का सम्पुट लगाते हुए कुछ कहा करते हैं, एवं तदनुसार ही कुछ किया करते हैं। किसी

तो कहा-ठाकुर ब्याह करोगे ! ठाकुर समझे-जो हुकुम की मर्जी है । विवाह होगया । ठाकुर गृहस्थी बन गए । बाल बच्चे हुए, परिवारवृद्धि हुई । ठकुराइन चिन्तित होने लगी, आखिर यों कबतक काम चलेगा । अनुकूल अवसर देखकर ठाकुर से एक दिन कहने लगी-आप तो दिन रात 'जो हुकुम' की रट लगाए रहते हैं, कन्या बड़ी होती जारही है । यदि कोई नौकरी न करेंगे, तो कैसे काम चलेगा ! जो हुकुम के उपासक ठाकुर नौकरी की खोज में निकल पड़े । उसी जो हुकुम की मस्ती में मीलों निकल गए । अँधेरा होगया । शून्य जँगल । सामने एक ऊँचा सा ताड़-वृक्ष था । ठाकुर को ऐसा भान हुआ, मानो ये ही इस जङ्गल के राजा है । विनीतभाव से उसके समीप पहुँचे, 'जै श्रीजी की' कहते हुए अभिवादन कर डाला । ठाकुर ही प्रश्न कर्त्ता, ठाकुर ही उत्तर देने वाले । यों बातचीत का सिलसिला जारी हुआ । कहो ठाकुर ! अच्छे तो हो ? 'जो हुकुम' की मर्जी से सब आनन्द है ! कैसे आना हुआ ? । हुकुम ! नौकरी के लिए ! अच्छा, हमने तुम्हें रख लिया । जो हुकुम ! क्या काम करना पड़ेगा ? । ठाकुर ! जङ्गली जानवर हमें सतावें नहीं, यही तुम्हारी नौकरी है । प्रातः से सायं पर्य्यन्त तुम्हें पहरा देना पड़ेगा, बदले में ३०) मासिक वेतन मिलेगा । दूसरे दिन का निश्चय कर जो हुकुम कहते हुए ठाकुर लौट आए । ठकुराइन प्रसन्न होगई । भोर होते होते ठाकुर नियत स्थान पर जा पहुँचे । कूड़ा साफ किया, पानी छिड़का, चारों ओर एक घेरा बना डाला । तलवार लेकर पहिरा लगाना आरम्भ कर दिया । सायंकाल हुआ । जैश्रीजी की कर घर लौट आए । यों एक महीना पूरा होगया । महीने की अन्तिम तिथि पर ठाकुर वृक्ष के समीप हाथ जोड़ कर वेतन पाने की आशा से खड़े होगए । ठाकुर ! खड़े क्या हो, उठालो अपना वेतन । जो हुकुम कहते हुए ठाकुर ने वृक्षतल पर रक्खे हुए ३० रु० उठा लिए । ठाकुर का यह उपासना-क्रम वर्षों चलता रहा । दरिद्री ठाकुर "जो हुकुम" के अनुग्रह से सम्पन्न बन गए । नियत वेतन के अतिरिक्त कन्याविवाहादि अन्य आवश्यक कार्य्यों के लिए भी वहीं से यथेच्छ साधन मिलते रहे ।

२६८-ठाकुर के श्रद्धात्मक वैभव से ईर्ष्या करने वालों का तत्कालीन करौली नरेश की मध्यस्थता से समाधान—

मूर्ख ठाकुर की इस विपुल-सम्पत्ति से ग्रामवासियों को द्रोह होने लगा । यह किंवदन्ती प्रचलित की गई कि, अवश्य ठाकुर का किसी डाकूमण्डली से गुप्त सम्पर्क है । करौली महाराज तक खबर पहुँच गई । ठाकुर बुलाए गए । ठाकुर ने सहज भाषा में सम्पूर्ण इतिहास कह सुनाया । राजा स्वयं वहाँ उपस्थित हुए । राजा ने परीक्षा की इच्छा प्रकट की । लोगों ने देखा कि, वृक्ष से आवाज निकल रही है × 'मैं प्रेत हूँ । ठाकुर अपने दृढ आत्मविश्वास के आधार पर वृक्ष को ही अपना उपास्य मान बैठे । मुझे विवश होकर ठाकुर की इच्छाएँ पूरी करनी पड़ी" ।

२६९-प्रासङ्गिक-इतिहास के व्याज से अनुप्राणित प्रक्रान्त-उपासनाकाण्डानुबन्धी एक विशेष तथ्य का स्वरूपोपबृंहण, एवं 'मत्'-'तत्' मूलक उपासनानुबन्धी सर्वार्पणरूप शरणागतिभाव का पावन-संस्मरण—

इतिहास पर सम्भव है, वर्त्तमानयुग विश्वास न करे । हमें तो इससे बतलाना केवल यही है कि, जो व्यक्ति अपने आपको भगवत्तत्त्व के अर्पण कर देता है, जिसे यह दृढ़ आत्मविश्वास होजाता है कि-

मैं जो कुछ करता-सुनता-देखता-खाता-पीता हूँ, सब हृदयस्थ अन्तर्य्यामी की ही प्रेरणा का फल है, तो वह कभी दुःखी नहीं रह सकता। ऐसे दृढ़ आत्मविश्वासी पर सांसारिक द्वन्द्व आक्रमण ही नहीं करेंगे, यह बात तो नहीं है। अवश्य ही प्रारब्ध कर्म्मानुसार इसे भी द्वन्द्वों से नित्य आक्रान्त रहना ही पड़ेगा। साधारण व्यक्ति, एवं इसकी स्थिति में अन्तर यही होगा कि, वह जहाँ इन द्वन्द्वाक्रमणों से अशान्त हो-पड़ेगा, वहाँ यह उस आपूर्यमाण ईश्वरतत्त्वसमाश्रय से अचलप्रतिष्ठित बना रहेगा। दुःख भी इसके लिए 'जोहुकुम' की मर्जी होगी, तो सुख भी उसी की मर्जी। न वह सुख में 'अहाहा' करेगा, न दुःख में 'हाहा' करेगा। नित्यविज्ञानघन हृद्य ईशतत्त्व के प्रति ज्यों ज्यों जीवतत्त्व सान्निध्य प्राप्त करता जायगा, त्यों त्यों उसके बल का इसमें समावेश होता जाएगा। एवं ज्यों ज्यों इसमें उसका बल समाविष्ट होता जाएगा, त्यों त्यों इसकी इच्छा में सत्यभाव उदित होते जाएँगे। परिणाम में इस चिरकालिक, साथ ही धारावाहिक उपासना के बल से 'यह' 'वह' बन जाएगा। उपासनातत्त्व की इसी सहज-परिभाषा का निम्नलिखित गीतावचनों से भी स्पष्टीकरण हुआ है।

१-ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ गी०१८+६१।

२-यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय! तत् कुरुष्व मदर्पणम्॥ गी०९।२७।

३-अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ गी०९.२२।

३००-'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्' लक्षण-प्रसिद्ध सूत्र के-'नित्याभियुक्तानाम्' का रहस्यात्मक समन्वय-प्रयास—

'नित्याभियुक्तानाम्' वाक्य के सम्बन्ध में किञ्चिदिव विशेष वक्तव्य है। सनातनधर्मावलम्बियों की संख्या करते हुए बड़े अभिमान से करोड़ों की गणना करली जाती है। कहने भर के लिए सभी ईश्वरवादी हैं। यह भी कहते सुना गया है कि, सब कुछ भगवान् के ही द्वारा सञ्चालित है। क्या आस्तिक प्रजा के इस कथन में वास्तव में कुछ तथ्य है? यदि हाँ, तो फिर अशान्ति कैसी? योगक्षेम के लिए अहोरात्र यह त्राहि त्राहि क्यों? कहना और मानना पड़ेगा कि, हम अभ्यस्त व्यावहारिक जगत् की भाँति परमात्मतत्त्व के साथ भी सट्टा खेलने के आदी बन गए हैं, अथवा बनते जारहे हैं। ईश्वर आज हमारी कुत्सित प्रवृत्तियों का रक्षासाधक बनाया जारहा है। भारतीय आस्तिक प्रजा का यह दुर्भाग्य है कि, जहाँ एक ओर वह दिन दिन व्यवहारकुशल बनती जारही है, वहाँ दूसरी ओर दिन दिन आत्मविश्वास भी खोती जारही है। निःसीम बुद्धिमानी ने प्राकृतिक जीवन के विकास का द्वार अवरुद्ध कर दिया है। कहने को हम कट्टर सनातनधर्म्मी हैं, अपनी इस कट्टरता के प्रदर्शन के लिए व्रतोपवास भी करते हैं, तिलक लगाते हैं, हरिनाम-संकीर्त्तन में व्यस्त रहते हैं। परन्तु यथार्थ में हम वास्तविक ईश्वराश्रय से कोसों दूर निकल चुके हैं। तभी तो संसार का एक सामान्य सा भी आक्रमण हमें विचलित कर देता है।

३०१–उदाहरणविध्यात्मक महायुद्ध और ईश्वरास्था के प्रति डिण्डिमघोष करने वाले हम भारतीयों की पुरुषता का नग्नचित्रण, एवं तन्निबन्धन–व्याज–धर्म्माचरण–

उदाहरण के लिए वर्त्तमान * महायुद्ध को ही लीजिए। जिन्हें हम नास्तिक कहते हैं, वे आज प्राणों की बाजी लगा रहे हैं। और आत्मनियन्त्रण का प्रथम आविष्कारक भारत आज संत्रस्त है। क्या होगा, क्या करेंगे, सभी आस्तिक इस द्वन्द्व से भयत्रस्त हैं। क्यों? इसलिए कि, उनकी ईश्वराभियुक्ति नित्य नहीं है। स्वार्थसाधनमात्र में ईश्वर का गुणानुवाद करनेवाले भी क्या कभी भय से त्राण पाया करते हैं? असम्भव। सच्चे आस्तिक के लिए, नित्य अभियुक्त के लिए ही संसार-अभयस्थान है। कोई आपत्ति आई, तो लगे भगवान् को याद करने। सम्पत्ति के विकास का अवसर आया, तो समझने लगे अपने आपको बुद्धिमान्। भगवान् कहते हैं, जो नित्य अभियुक्त हैं, अनन्योपासक हैं, सदा सर्वदा उक्त 'जो हुकुम' पर अनन्यनिष्ठा रखते हैं, वैसे नित्याभियुक्तों के ही योगक्षेम का उत्तरदायित्व मुझ पर है। यथार्थ है। जनसाधारण को धोका दिया जासकता है, परन्तु अन्तर्यामी से व्याजक्रीड़ा करना सर्वनाश को ही निमन्त्रण देना है। व्याजधर्म्मानुगत एक आस्तिक की तुलना में तो वह नास्तिक ही कहीं श्रेष्ठ माना जाएगा, जो ईश्वर के नाम से दूसरों को धोका तो नहीं देता।

३०२–स्वार्थसंसाधन के लिए अपेक्षित हमारा भगवान् और हमारी उपासना का नग्न-चित्रण, एवं 'शरणागति' के वास्तविक मर्म्म का पावन-संस्मरण—

अपने स्वार्थ के लिए भगवान् का आश्रय लेना और व्यवहारजगत् में अपनी कुशलता का अभिमान करना ही तो उपासना का सबसे बड़ा प्रतिबन्धक है। ऐसी उपासना नाममात्र की उपासना है, एकतोभावानुगति है। जबतक सर्वतोभावेन आत्मार्पण नहीं होजाता, तबतक शान्ति नहीं मिल सकती। सद्सन्मनोभावों के सर्वतोभावेन आत्मार्पण से ही ममत्व का निराकरण सम्भव है, एवं तभी हमें शान्ति मिल सकती है। उपासना के इसी शरणागतिलक्षण सर्वतोभाव का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् ने कहा है—

> तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत!
>
> तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥गी०१८।६२।

३०३–कर्म्म–ज्ञान–भक्ति–उपासना–योग–आदि से अनुप्राणित तत्त्व–ज्ञान की उच्च-भूमिकाओं के स्पष्टीकरणानन्तर अस्मदादि सामान्य–मानववर्ग की परिभाषा के लिए परमकारुणिक भगवान् के द्वारा शरणागतिरूप महान् भक्तिपथ का आविर्भावानुग्रह, एवं तदन्निबन्धन–उपासनास्वरूप–समन्वय—

कर्म्म-ज्ञान-भक्ति-उपासना-योग-आदि के सम्बन्ध में तत्त्वज्ञान की उच्चभूमिकाओं का स्पष्टीकरण करने के अनन्तर परमकारुणिक भगवान् ने अस्मदादि अयोग्य मानवों के अभ्युदय के लिए यही पन्था

---

* प्रस्तुत भक्तियोगपरीक्षाखण्ड महायुद्धसमय में ही ग्रन्थरूप से समन्वित हुआ था।

श्रेयः पन्था माना है, साथ ही इसे अपना गुप्ततम-मत कहा है। मान लीजिए, हम अयोग्यता के कारण अथवा तो परिस्थिति के कारण शास्त्रों में बतलाए गए कर्म्म-ज्ञानादि का यथावत् आचरण करने में असमर्थ हैं। क्या ऐसे व्यक्तियों का अभ्युदय सम्भव नहीं है ? भगवान् कहते हैं निराश लौटने की कोई आवश्यकता नहीं है। तुम अपने जीवन के अच्छे, बुरे, पाप पुण्य, सब द्वन्द्वों से अपना ममत्त्व हटाने का अभ्यास करते जाओ, साथ ही यह भावना करते जाओ कि, किसी अचिन्त्यशक्ति की प्रेरणा से विवश होकर हमें यह सब कुछ अच्छा बुरा करना पड़ रहा है। तुम्हारे प्रत्येक कार्य्य में-'वह कर रहा है, वही कर रहा है' इस तद्भावना का ही समावेश रहना चाहिए। तुम 'उन्मना' मत बनो, 'मन्मना' मनो। तुम संसारभक्त मत बनो, मद्भक्त बनो। तुम यह सत्य समझो कि, 'जो हुकुम' के इस अभ्यास से अवश्य ही कालान्तर में तत् को प्राप्त कर लोगे। सचमुच शान्ति के लिए इससे अन्य ऋजु-उपाय का मिलना कठिन है। यह स्मरण रखना चाहिए कि, ज्यों ज्यों मन्मनोभाव दृढमूल बनता जाएगा, त्यों त्यों असत्-कर्म्मप्रवृत्ति का स्वत एव निराकरण होता जाएगा। अभ्यासवश जिस दिन आवरण (राग-द्वेषादि पञ्चक्लेश) की आत्यन्तिक निवृत्ति होजाएगी, द्वन्द्व का एकान्ततः उच्छेद होजाएगा और इसप्रकार 'जो हुकुम' का अनुगामी एक मूर्ख भी उस अव्ययधाम को सहज ही में प्राप्त कर लेगा, जिसे योगी गण अतिशय-काय-क्लेश से प्राप्त किया करते हैं। मार्ग सहज, लक्ष्य समान, यही तो इस मन्मनोभाव का सर्वगुह्यतमत्त्व, अतएव सर्वश्रेष्ठत्त्व है।

३०४—सहज—भक्तिनिबन्धन—लोकोपकारक—उपासना के रहस्यात्मक—स्वरूप का समन्वयात्मक निष्कर्ष, एवं प्रक्रान्त—'उपासनास्वरूप—निर्वचन' नामक प्रथम—प्रकरण का उपराम—

निष्कर्ष निवेदन करने का यही हुआ कि, अध्यात्मसंस्था में परमात्मा, जीवात्मा, नाम दो विवर्त्त हैं। अविद्यावरणवश जीवात्मा सच्चिदानन्दैकरस-परमात्मानुग्रह से वञ्चित होरहा है। परमात्मानुगति-वञ्चित, साथ ही मनोऽनुगत ऐन्द्रियक प्रपञ्चरत जीवात्मा स्व—कर्म्मप्रवृत्ति में अहन्ता को मुख्य मानता हुआ नित्य अशान्त बना रहता है। मध्यस्थ आवरण से जीवात्मा का ईश्वर—उप आसन खण्डित होरहा है। बतलाए गए, तथा अगले परिच्छेदों में बतलाए जाने वाले जिन प्रकार—विशेषों से आवरणभङ्ग द्वारा जीव परमात्मतत्त्व के उप (समीप) आसीन होजाता है तात्छब्द्य न्याय से वे उपाय ही उपासना—साधक बनते हुए 'उपासना' नाम से व्यवहृत हुए हैं। शास्त्रप्रतिपादित उपायों में से 'जो हुकुम' रूप जिस आत्मप्रतिपत्ति, किंवा शरणागतिरूप उपाय का सहज भाषा में दिग्दर्शन कराया गया है, वही सामान्य—अधिकारियों के लिए सुगम पथ है, जिसका निम्न लिखित शब्दों में अभिनय हुआ है, एवं जो अभिनय प्रक्रान्त 'उपासनास्वरूप' निर्वचन प्रकरण की आधारशिला है—

१-सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥१८।६४।

२-मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥१८।६५।

३-सर्वधर्म्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच ॥१८।६।६६।

४-य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥१८।७८।

इति-भक्तियोगपरीक्षायामुत्तरखण्डे
'उपासनास्वरूपनिर्वचनम्'--नामकं
प्रथमं प्रकरणमुपरतम्

१

इति-भक्तियोगपरीक्षायामुत्तरखण्डे

'उपासनास्वरूपनिर्वचनम्'

नामकं

प्रथमं-प्रकरणमुपरतम्

१



श्रीः

अथ-भक्तियोगपरीक्षायामुत्तरखण्डे

"उपासना-लक्षण-निर्वचनम्"

नामकं

द्वितीय-प्रकरणम्

२



श्रीः

अथ-भक्तियोगपरीक्षायामुत्तरकाण्डे "उपासना--लक्षणानिर्वचनम्"

नामक

द्वितीयम् प्रकरणम्

२

१-संस्कृत-शब्दों की निरूढता और 'उपासनाशब्द' के सम्बन्ध में योगरूढता, तथा निरूढता के अनुबन्धन से महती विप्रत्ति, तन्निराकरण प्रयास एवं उपासनात्त्वानुबन्धी महद्गर्भित चिदंश का आध्यात्मिक-ईश्वरत्त्व और तदनुप्राणित जीवका 'अप्यय' भाव—

यद्यपि पङ्कज शब्द की भाँति 'उपासना' शब्द भी वर्त्तमान-व्यवहारभाषा में केवल ईश्वरशक्ति में ही निरूढ देखा सुना जाता है, तथापि वैज्ञानिक-निर्वचन के अनुसार यथायावत् शास्त्रीय, एवं लौकिक, सभी ज्ञान—कर्म्म-भक्ति--भावों के साथ 'उपासना' शब्द की व्याप्ति माननी पड़ती है, जैसाकि अनुपद में ही उद्धृत होने वाले कुछ एक उदाहरणों से स्पष्ट होजाएगा। प्रत्यगात्मा (जीवात्मा) का परमात्मा (हृदयस्थ अन्तर्यामी) के साथ योग होजाना ही जीवात्मा का परमपुरुषार्थ है। वह योग ज्ञान—उपासना—कर्म्म--भेद से तीन प्रकार का है, जैसा कि पूर्वप्रकरण में योगत्रयी—परिच्छेद में विस्तार में स्पष्टीकरण किया जाचुका है। उपासना—तत्त्व की मीमांसा करते हुए उसी प्रकरण के 'महदात्मानुगत-उपासनास्वरूपमीमांसा' नामक सन्दर्भ में यह भी स्पष्ट किया जाचुका है कि, महानात्मा में ही ईश्वरीय चिदंश प्रतिबिम्बित होता है। यही महद्गर्भित चिदंश आध्यात्मिक ईश्वरतत्त्व है। इस आध्यात्मिक ईश्वरतत्त्व से सर्वव्यापक आधिदैविक ईश्वर तत्त्व अभिन्न है। फलतः जीवात्मा का आवरणभङ्ग के द्वारा जिस दिन आध्यात्मिक महदवच्छिन्न ईश्वर-तत्त्व से सम्बन्ध होजाता है, तत्क्षण ही इसका उस व्यापक में भी अप्यय होजाता।

२–ज्ञान–उपासना-कर्म्म-त्रयी के विभिन्न मूलाधारों का तात्विक-स्वरूप-समन्वय, एवम् उपासनातत्त्वमूलाधारभूत—प्रत्यगात्मसंस्मरणपूर्वक 'उपासनालक्षणनिर्वचन' नामक द्वितीय प्रकरण की उपक्रान्ति —

विषय–समन्वय की दृष्टि से यों कहा जासकता है कि, सच्चिदानन्दघन एक ही आत्मतत्त्व अपने अव्यय, अक्षर, क्षर रूप से ज्ञान-उपासना-कर्म्म-योगों की मूलप्रतिष्ठा बना हुआ है। विज्ञानानुगत प्रज्ञान मन क्षर-प्रधान बनता हुआ कर्म्मयोग का प्रवर्त्तक है, अव्यक्तगर्भित महानात्मा उपासना की प्रतिष्ठा है, एवं अव्यक्तात्मा ज्ञानयोग का उपक्रम है। आगे जाकर आध्यात्मिक आत्मपञ्चक की अपेक्षा से इस योगत्रयी के पाँच विवर्त्त होजाते हैं, जिनका पूर्वप्रकरण में विस्तार से निरूपण किया जाचुका है। वहाँ उपासनातत्त्व के सम्बन्ध में यही सिद्धान्त स्थापित किया गया है कि, प्रत्यगात्मा का महदात्मानुगत चिदंश से योग होजाना ही उपासना–योग है, यही उपासना कर्म्म का चरम फल है। और इस स्पष्टीकरण के साथ साथ ही यह भी सिद्ध होजाता है कि, उपासना शब्द अपने यौगिकार्थ से सर्वत्र व्याप्ति रखता हुआ भी प्रकरणानुगत भक्तिमार्गापेक्षया केवल ईश्वरानुरक्ति में ही पङ्कजवत् निरूढ है। अब इस सम्बन्ध में विजिज्ञास्य यही है कि, प्राचीन आचार्य्यों ने उपासना के क्या लक्षण किए हैं, एवं उन का परस्पर कैसे समन्वय सम्भव है ? इस प्रश्न–समाधि के लिए उपासनातत्त्व–स्वरूप–निर्वचनानन्तर प्रस्तुत **'उपासनालक्षणनिर्वचनप्रकरण'** उपक्रान्त होरहा है।

३–कर्म्मकाण्डप्रतिपादक वेद का 'विधिभाग' और तत्र पठित 'उपासना' शब्दों का कर्म्मयोगानुबन्धत्त्व, तथा तदनुप्राणिता उपासनापथानुमता भक्ति के सम्बन्ध में महती विप्रतिपत्ति—

कर्म्मकाण्डप्रतिपादक वेद के विधिभाग में, उपासनाकाण्डप्रतिपादक आरण्यभाग में, एवं ज्ञान-काण्डप्रतिपादक–उपनिषद् भाग में–तीनों में–'उपासना' शब्द का व्यवहार देखा जाता है। उदाहरण के लिए–'तस्मादुपर्य्यासीनं क्षत्रियमधस्तादिमाः प्रजा उपासते' (शत० १।३।१।१५) 'अग्निं पश्चात् प्राङ्मुद्धृत्योपासते' (शत० ३।२।३।१६)–"तं (ग्रहपात्रं) धारयन्त एवोपासते" (शत० ४।५।६।३) 'न श्वः श्वउपासीत' (शत० २।८।२।३)–"आवसथेनोपक्लप्तेनोपासीत" (शत० ३।६।२।७)–"जाग्रद्धयेवाध्वर्युरुपासीत" (शत० ३।६।३।११)–'दिशोऽस्मात् पूर्वा-इत्युपासीत' (शत० १०।३।५।११)—इत्यादि ब्राह्मणवचनों में पठित उपासना शब्द कर्म्मयोग से ही सम्बन्ध रख रहा है। ईश्वरपरानुरक्तिलक्षणा उपासना के अभिप्राय से उक्त ब्राह्मणवचनों में पठित–'उपासते'–'उपासीत' इत्यादि उपासनाशब्दों का कोई सम्बन्ध नहीं है। ब्राह्मणोक्त उपासना शब्द 'प्रतीक्षा' 'आशा' आदि भावों के ही समर्थक बन रहे हैं, जिन भावों का भक्तिलक्षणा उपासना से कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होरहा।

४–आरण्यकभाग और तत्र पठित उपासनाशब्दों का सोदाहरण-संस्मरण—

एवमेव आरण्यक में पठित उपासना शब्द भी उपासना के निरूढभाव का समर्थन नहीं कर रहे। उदाहरण के लिए—'उदरं ब्रह्मेति शार्कराक्ष्या उपासते, हृदयं ब्रह्मेत्यारुणयः' (ऐ० आ० २।१।४)-'सोम एकेभ्यः पवते, घृतमेक उपासते' (तै० आ० ६।३।२)-'विज्ञानं देवाः सर्वे ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते' [तै० आ० ८।५।१] 'यदक्षरं भूतकृतं विश्वे देवा उपासते' [तै० आ० १।६।६] इत्यादि आरण्यक वचन ही पर्य्याप्त होंगे। इन वचनों में पठित 'उपासना' शब्द भी ईश्वरानुरक्ति के समर्थक न बनकर उदर, हृदय, घृत, अक्षर, आदि की उपासना के ही समर्थक बन रहे हैं। फलतः आरण्यकीय वचनों के आधार पर भी उपासना शब्द की निरूढता का समर्थन नहीं किया जासकता।

५ उपनिषद्भाग, तदनुबन्धी ज्ञानयोग, एवं तत्र पठित्र 'उपासना' शब्दों का संस्मरण—

यही स्थिति उपनिषत् में पठित उपासना शब्दों के सम्बन्ध में घटित होरही है, जैसाकि उद्धृत निम्नलिखित कतिपय वचनों में स्पष्ट होरहा है।

१–"तं ह नासिक्यं प्राणमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे" (छां० उप० १।२।२।)
२–"य एवासौ तपति, तमुद्गीथमुपासीत" (छां० उ० १।३।१।)
३–"व्यानमेवोद्गीथमुपासीत" (छां० उ० १।३।३।)
४–"पञ्चविधं सामोपासीत" (छां० उ० २।२।१।)
५–"श्रीश्च यशश्चेत्युपासीत" (छां० उप० ३।१८।२।)
६–"अरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते" (छां० उप० ५।१०।१।)
७–"येऽन्नं ब्रह्मोपासते" (तै० उ० २।२।१।)
८–"उपासते पुरुषं ये ह्यकामाः" (मुण्ड० उप० ३।२।१)

६–विधि-आरण्यक-उपनिषत्–भागानुबन्धी उपासना शब्दों के द्वारा सर्वसाधारणानुगत-तात्पर्य्य-ग्रहण के प्रति विषमसमस्योपस्थान—

उक्त वचनों में से आरम्भ के ७ वचन क्रमशः प्राण, सूर्य्य, व्यान, साम, श्री, यश, श्रद्धा, तप, अन्न, इन लौकिक भावों की उपासना का समर्थन कर रहे हैं। अन्तिम वचन 'अकामाः' रूप से 'ज्ञानयोग' का समर्थक बन रहा है। फलतः उपनिषदों में पठित उपासना शब्द भी उपासना के निरूढभाव का समर्थक नहीं माना जासकता। इसप्रकार विधि-आरण्यक-उपनिषत्-भेद से भागत्रय में विभक्त कर्म्म-उपासना-ज्ञानकाण्ड-प्रतिपादक वेद के ब्राह्मणभाग में यत्र तत्र पठित उपासना शब्द कर्म्म-उपासना-ज्ञान, तीनों के समर्थक बनते हुए अपनी व्यापक मर्य्यादा का ही समर्थन कर रहे हैं। वेद के इस भागत्रयात्मक ब्राह्मणभाग

से सम्बन्ध रखने वाले उपासना शब्द से कथमपि उपासना का इष्टदेवता-ध्यानलक्षण यह यौगिकार्थ संगृहीत नहीं होरहा, जैसाकि, आज सर्वसाधारण ने उपासना का तात्पर्य्य मान रक्खा है ।

७-मूलसंहिता में पठित उपासनाशब्दों का प्रासङ्गिक-संस्मरण—

अब चलिए वेद के मन्त्रभाग की ओर । जिसप्रकार ब्राह्मणभाग में विधि-आरण्यक-उपनिषत्-भेद से कर्म-उपासना-ज्ञान, इन तीन तत्त्वों का विश्लेषण हुआ है, एवं तीनों के साथ उपासना-शब्द समानरूप से सम्बद्ध है, एवमेव वेद के ऋक्-यजुः-साम-अथर्वसंहितात्मक मन्त्रभाग में प्रधानरूप से विज्ञान-स्तुति-इतिहास, इन तीन काण्डों का विश्लेषण हुआ है एवं तीनों काण्डों में पठित-उपलब्ध-उपासना शब्द भी ब्राह्मणभागवत् अपनी व्यापकता का परिचय देते हुए उपासनाशब्द के निरूढभाव का ही समर्थन कर रहे हैं, जैसा कि निम्नलिखित कुछ एक उदाहरणों से स्पष्ट होरहा है—

१-पुनर्दाय ब्रह्मजायां कृत्वी देवैर्निकिल्बिषम् ।
ऊर्जं पृथिव्या भक्त्वायोरुगायमुपासते ॥

—ऋक् सं० १०।१०९।७।

२-य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
यस्य च्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

—यजुःसं० २५।१३।

३-ये वाजिनं परिपश्यन्ति पक्वं य ईमाहुः सुरभिर्निर्हरेति ।
ये चार्वतो मांसभिक्षामुपासत उतो तेषामभिगूर्त्तिर्न इन्वतु ॥

—यजुःसं० २५।३५।

४-ईङ्खयन्तीरपस्युव इन्द्रं जातमुपासते ।
वन्वानासः सुवीर्य्यम् ॥

—सामसं० पू० २।२।६।१।

५-दोषो आगाद् बृहद्गाय द्युमद्गामन्नाथर्वण ।
स्तुहि देवं सवितारम् ॥

—सामसं० पू० २।२।६।३।

८–उपासनाशब्द के सम्बन्ध में-'य आत्मदा बलदा' का संस्मरण, एवम् अर्वाचीन साहित्यानुबन्ध से उपासना शब्द के दृष्टिकोण का सोदाहरण संस्मरण—

उक्त मन्त्रों में पठित उपासना शब्द भी हमारी उस धारणा का समर्थन नहीं कर रहे, जिस धारणा को हम अपने उपासनाकाण्ड की मूलप्रतिष्ठा मानते आरहे हैं। केवल 'य आत्मदा बलदा०' मन्त्र में पठित उपासना शब्द ही यथाकथञ्चित् उपासनाकाण्डानुगता धारणा का समर्थक बन रहा है। शेष उपासना शब्द विज्ञान-स्तुति-इतिहास-मर्य्यादाओं के ही उपोद्बलक बन रहे हैं। इसप्रकार भारतीय प्राच्यसाहित्य के मूलाधारभूत मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र के आधार पर उपासना का कोई वैसा लक्षण बना डालना, जिसका कि उपासना के यौगिक अर्थ के साथ समन्वय होजाय, कठिन ही प्रतीत होरहा है। अर्वाचीन साहित्य में भी उपासना शब्द के सम्बन्ध में कुछ एक ऐसी ही विप्रतिपत्तियाँ उपलब्ध होरही हैं। क्षत्रियवीरों का बाणशिक्षाभ्यास ही उनकी उपासना है। इसप्रकार निम्नलिखित रूप से शराभ्यास के लिए भी उपासना शब्द प्रयुक्त हुआ है—

> नाराजके जनपदे शरान् संततमस्यताम्।
> श्रूयते तलनिर्घोष इष्वस्त्राणामुपासने ॥
>
> —वा० रा० २।६७।२१।

९–उपासनाशब्द की यौगिकता तन्निबन्धन विभिन्न वचन, एवं समस्या-समन्वयात्मक तथ्य का उपक्रम—

"मङ्गल्योपासनं शस्तं वृद्धिदं व्यसनापहम्" (चक्रपाणि) इत्यादि रूप से माङ्गलिक कार्य्यों का अनुगमन भी उपासनामर्य्यादा में अन्तर्भूत होरहा है। 'उपासनानि शाण्डिल्यविद्यादीनि' (वेदान्तसार) इत्यादिरूप से ज्ञानयोगात्मिका शाण्डिल्यविद्या भी उपासना मानी जारही है। 'शराभ्यास उपासनम्' (अमरः) "शुश्रूषायां शराभ्यासेऽपि' (हेमः) "वरिवस्या तु शुश्रूषा परिचर्य्याप्युपासना" इत्यादिरूप से शराभ्यास, सेवा, इत्यादि लौकिक-भावों से सम्बन्ध रखने वाले उपासना-शब्द को केवल ईश्वरानुरक्ति में ही सीमित नहीं किया जासकता। निवेदन का निष्कर्ष यही निकला कि, उपासना शब्द सर्वथा यौगिक है, जिसका लौकिक-वैदिक कर्म्म-ज्ञान-भक्ति-विज्ञान-स्तुति-इतिहास, आदि सभी भावों के साथ सम्बन्ध माना जासकता है। ऐसी दशा में निरूपणीया भक्तिलक्षणा उपासना के किसी ऐसे लक्षण की जिज्ञासा का उदित होना स्वाभाविक होजाता है कि, उपासना का वह कौनसा लक्षण है, जिस लक्षण के आधार पर हम लक्ष्यीभूत भक्तिमार्ग का समर्थन प्राप्त कर सकें ! इसी लक्षणजिज्ञासा के उपशम के लिए भारतीय आचार्य्यों के द्वारा सम्मत कुछ एक लक्षण उपासना-प्रेमियों के सम्मुख उपस्थित किये जारहे हैं।

१०–उपासनात्मक प्रक्रान्त भक्तियोग की मूलप्रतिष्ठा सर्वाराध्य गीताशास्त्र, तद्द्वारा निर्णीत-एकमात्र उपास्य 'श्रीकृष्णतत्त्व', अनुपाख्य-अनिर्वचनीय कृष्णतत्त्व की वेदादिपुरुषता, एवं तत्समर्थक कतिपय गीतावचन—

हमें यह नहीं भुला देना चाहिए कि, प्रतिपाद्य उपासनायोग, किंवा भक्तियोग की मूलप्रतिष्ठा गीताशास्त्र है। दूसरे शब्दों में हमें प्रधानरूप से गीता-प्रतिपादित भक्तियोग का ही विश्लेषण करना है। गीता-

शास्त्र के भक्तिमार्ग से सम्बन्ध रखने वाले उपास्यदेव एकमात्र 'श्रीकृष्ण' हैं। फलतः कृष्णतत्त्व के वैज्ञानिक स्वरूप को लक्ष्य बना कर ही हमें प्रतिपाद्य विषय की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है। जैसाकि गीताविज्ञानभाष्यान्तर्गत 'आचार्य्यपरीक्षा' नामक द्वितीय खण्ड में विस्तार से बतलाया जाने वाला है, गीता-पठित अहम्-मम-मयि-मत्तः-मत्-आदि अस्मच्छब्दवाच्य कृष्णतत्त्व लक्षणगतीत अनुपाख्य-अनिर्वचनीय-लक्षण अव्ययतत्त्व ही है, वही वैज्ञानिक श्रीकृष्ण है, जो अद्वैतशास्त्र (वेदान्तशास्त्र) में 'वेदान्तपुरुष' नाम से, पुराणशास्त्र में 'पुराणपुरुष' नाम से प्रसिद्ध है, जिसका धर्म्मग्लानि-उपशम के लिए समय समय पर प्रकृति के द्वारा मानवादि शरीरों में अंशावतार हुआ करता है, वही तत्त्व गीताशास्त्र का उपास्यतत्त्व है, एवं यही गीताप्रतिपादित उपासनायोग की मूलप्रतिष्ठा है। एवंविध (तत्त्वात्मक) वैज्ञानिक श्रीकृष्ण की उपासना के तात्विक स्वरूप का निम्नलिखित गीताशब्दों में ही स्वरूप-विश्लेषण हुआ है--

१-सर्वधर्म्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ १८।६६।

२-मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥ १८।६५

३-तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥ १८।६२

४-मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि॥ १३।१०।

५-मयि सर्वाणि कर्म्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्म्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥ ३।३०।

६-मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेता ते मे युक्ततमा मताः॥ १२।२।

७-मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥ १२।८।

८-मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ १४।२६।

९-अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ ९।२२

१०-अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ ! नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ ८।१४।
११-ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्य्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥१२।२०।

११-साम्प्रदायिक-दृष्टिकोण के सम्बन्ध में जिज्ञासा, एवं तत्समाधानप्रयास, एवं तत्-सम्बन्धे-'सर्वधर्म्मान् परित्यज्य' का संस्मरण—

साम्प्रदायिक दृष्टिकोण के अनुसार उपासनातत्त्व-प्रतिपादक उक्त गीतावचनों का क्या तात्पर्य्य है ? इस प्रश्न के उत्तर में इसलिए विशेष वक्तव्य नहीं है कि, लोकसंग्रह-न्याय से उन सभी साम्प्रदायिक भावों का समादर करना उचित प्रतीत होता है। साम्प्रदायिक-भावानुगता आस्तिक प्रजा की दृष्टि में 'श्रीकृष्ण' शब्द से मानवशरीरधारी नन्दनन्दन कृष्ण का ही ग्रहण हुआ है। इन की प्रतिमा बना कर षोडशोपचारादि यथाशास्त्र अर्च्चन-पूजन-नामसस्मरण करते रहना ही इस दृष्टिकोण का उपासनातत्त्व है। और अवश्य ही वैज्ञानिक श्रीकृष्ण के अव्ययात्मक स्वरूप तक न पहुंचने वाले सामान्य अधिकारियों के अभ्युदय के दृष्टिकोण से साम्प्रदायिक व्याख्याताओं का गीता के उपासनातत्त्व का एवंविध विश्लेषण भी आदरणीय माना जासकता है। यद्यपि मूलभाष्य में उक्त सभी श्लोकों का यथापूर्व समन्वय होने वाला है, तथापि प्रकरणसङ्गति के लिए दो शब्दों में यहां भी इस सम्बन्ध में किञ्चिदिव निवेदन कर देना अनावश्यक नहीं माना जाएगा। सर्व प्रथम 'सर्वधर्म्मान् परित्यज्य' को ही लक्ष्य बनाइए !

१२-गीता-व्याख्यातृ-मूर्द्धन्य सर्वश्री शङ्कराचार्य्य का दृष्टिकोण, तदनुप्राणिता सर्वकर्म्मपरित्यागलक्षणा अद्वैतनिष्ठा, एवं तद्रूपा कर्म्मत्यागात्मिका सांख्यनिष्ठा, तथा श्रीशङ्करभक्त विभिन्न व्याख्याताओं का नाम-संस्मरण—

व्याख्यातृमूर्द्धन्य सर्वश्री शङ्कराचार्य्य ने धर्म्म शब्द से विद्यासमुचित यज्ञ-तपो-दान-कर्म्म, विद्यानिरपेक्ष इष्ट तापूर्त-दत्तकर्म्म, लौकिक अन्य सत्कर्म्म, दुष्कर्म्म, आदि यच्चयावत् कर्म्मों का संग्रह करते हुए अपना यह अभिप्राय प्रकट किया है कि—"यहां धर्म्म शब्द अधर्म्म का भी संग्राहक है। 'सर्वधर्म्मान् परित्यज्य' का अर्थ है—धर्म्म-अधर्म्मात्मक यच्चयावत् कर्म्मों का सर्वथा परित्याग। सब कर्म्मों का परित्याग कर-मुझ से अतिरिक्त और कुछ नहीं है, यह भावना रक्खो, यही इस शरणागति का तात्पर्य्य है। इस स्वात्मप्रकाशलक्षणा अद्वैतभावना से तुम सब बन्धनों से विमुक्त हो जाओगे"। इस प्रकार धर्म्म शब्द से लौकिक-वैदिक कर्म्मों का संग्रह करते हुए आचार्य्य ने लक्ष्यीभूता कर्म्मत्यागलक्षणा ज्ञानयोगनिष्ठा का ही समर्थन किया है। शाङ्करव्याख्यानुगत आनन्दगिरि, नीलकण्ठ, मधुसूदनसरस्वती, भाष्योत्कर्षदीपिकाकार, आदि व्याख्याताओं ने भी धर्म्मत्याग से कर्म्मत्याग को ही लक्ष्य बनाया है।

१३–'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य' का संस्मरण, कर्म्मत्यागात्मात्मिका सांख्यनिष्ठा के अधिकार से वञ्चित अर्जुन, एवं तत्सम्बन्ध में श्रीशङ्करभक्त आनन्दगिरिमहाभाग—

प्रश्न हमारे सामने यह है, कि गीतोपदेष्टा जिन भगवान् की दृष्टि में शास्त्रविहित कर्म्म आवश्यक बन रहे हैं, जो-'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य'' (गीता १६।२३।) इत्यादिरूप से शास्त्रीय कर्म्मानुष्ठान को ही सुख–और परागति का अन्यतम कारण मान रहे हैं, जिनके उपदेश का प्रधान पात्र वह अर्जुन है, जो शास्त्र-विहित क्षात्रधर्म्म [युद्धकर्म्म] से विमुख होने जारहा है, उन भगवान् का ऐसे पात्र के प्रति कर्म्मत्याग का उपदेश करडालना कैसे सम्भव होसकता है । व्याख्याताओं के सामने भी यह विप्रतिपत्ति उपस्थित हुई है । परन्तु उन्होंने यह कह कर कि—''यद्यपि क्षत्रिय अर्जुन का इस कर्म्मत्यागलक्षणा सांख्यनिष्ठा में मुख्याधिकार नहीं है, तथापि अर्जुन के व्याज से भगवान् ने ब्राह्मणादि मुख्याधिकारियों के निःश्रेयस के लिए ही इस सांख्य-निष्ठा का उपदेश दिया है । (आनन्दगिरिव्याख्या)

१४-गीता का सुप्रसिद्ध–'अस्मच्छब्द', कृष्णतत्त्वानुबन्धिनी शरणागति, नवधाभक्ति का उल्लेख, प्रतिमोपासना का प्रतिरूपोपासनात्त्व, एवं आत्मनिष्ठ उपासक की प्रतिमाभक्ति का माङ्गलिक संस्मरण—

उक्त व्याख्याओं के सम्बन्ध में यहाँ समालोचना–प्रसङ्ग उठाना व्यर्थ है । स्वयं मूलभाष्य पर ही ऐसी समालोचनाओं का उत्तरदायित्व है । यहाँ तो इन व्याख्या–दिग्दर्शनों से हमें यही स्पष्ट करना है कि, प्राचीनव्याख्याताओं के मतानुसार भी 'मामेकं शरणं व्रज'–'अहं त्वा' इत्यादि अस्मच्छब्द केवल आत्मतत्त्व का ही वाचक है । आत्मा की शरणागति, उस आत्मा की शरणागति, जो अखण्ड है–अद्वय है–सर्वोपाधिविनिर्मुक्त है–ही व्याख्याताओं के द्वारा अभिमत है । वासुदेव श्रीकृष्ण योगमायाश्रित होने से सोपाधिक हैं । फलतः इनकी शरणागति का, इनके नामसंकीर्त्तन का, इनकी प्रतिमाओं से सम्बन्ध रखने वाली नवधा-विभक्त साम्प्रदायिक वैष्णवभक्ति का प्रस्तुत गीतावचन से समर्थन नहीं किया जासकता । वैज्ञानिक व्याख्याताओं की दृष्टि में प्रस्तुत वचन उस कृष्णतत्त्व की शरणागति का ही विश्लेषण कर रहा है, जो–'ईश्वरः सर्वभूतानाम् हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' के अनुसार प्रत्येक प्राणी के हृदय में–'साक्षीचेता केवलोनिर्गुणश्च' रूप से प्रतिष्ठित है, जिसे अक्षर के अविनाभाव सम्बन्ध से 'अन्तर्य्यामी' भी कहा गया है । हाँ, जो मन्दाधिकारी हृदयस्थ इस आत्मतत्त्व को, अनुपाख्य कृष्णतत्त्व को समझने में असमर्थ हैं, उन्हें प्रारम्भिक अभ्यास के लिए मानुषभावोपेत अवतार–गुरु–प्रतिमा आदि माध्यमों का ही आश्रय लेना पड़ेगा । एवं इसी प्रारम्भिक दृष्टिकोण के आधार पर साम्प्रदायिक नवधाभक्ति का भी समर्थन किया जासकेगा । साथ ही उक्त मन्दाधिकारी अभ्यासवश जिस दिन उच्चभूमिका में पहुँच जाएगा, उस दिन–'यत्रत्त्वस्य सर्वमात्मेवाभूत्' न्याय से लोकसंग्रहदृष्टि से सभी उपासना–मार्गों का समर्थन करेगा, स्वयं भी आत्मचर्वणावत् प्रतिमाओं में भी उसी आत्मभाव का साक्षात्कार करेगा । यह स्पष्टीकरण इसलिए करना पड़ा कि, आज कितने एक बुद्धिमान् 'प्रतिमोपासना' के सम्बन्ध में अपने ये विचार प्रकट किया

करते हैं कि, प्रतिमा साधनमात्र है, सिद्धावस्था में पहुंचे बाद उसका कोई महत्त्व नहीं रहता]। उनके ऐसे विचार भ्रान्तिपूर्ण हैं। सिद्धावस्था में तो यह भावना और भी दृढ़ होजाती है। देवासुरसम्पत्ति के तत्त्वज्ञ सिद्धों की दृष्टि में देवप्राणात्मिका प्रतिमाओं के प्रति अनन्यनिष्ठा देखी सुनी गई है। उस दशा में तो उनकी आत्मनिष्ठा के लिए प्रतिमा प्रतिरूपोपासना बन जाया करती है, जिसका कि अनुपद में ही सोदाहरण स्पष्टीकरण होने वाला है।

१५–'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया'–मूलक उपास्य ईश्वरात्मक साक्षी सुपर्ण, एवं उपासक जीवात्मक भोक्तासुपर्ण, तथा शरीरभाव और ईश्वर-जीव-जगत्-त्रयी, तथा तदनुबन्ध से–'सर्वधर्म्मान्' इत्यादि का समन्वय-प्रयास—

हाँ, तो प्रस्तुत विषय पर दृष्टि डालिए। अध्यात्मसंस्था में—'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' इत्यादि मन्त्रवर्णानुसार ईश्वर–जीव–ये दो विवर्त्त प्रतिष्ठित हैं। दोनों के अतिरिक्त अव्यक्त, महान्, विज्ञान (बुद्धि) प्रज्ञान (मन), इन्द्रियवर्ग, पाञ्चभौतिक शरीर इत्यादि की समष्टिरूप तीसरा विवर्त्त और है। ईश्वरतत्त्व आध्यात्मिक संस्था का आधिदैविक विवर्त्त है, जीवतत्त्व आध्यात्मिक विवर्त्त है एवं तीसरा विवर्त्त आधिभौतिक विवर्त्त है। इसप्रकार केवल आध्यत्मिक संस्था में ही ईश्वर–जीव–शरीर–भेद से तीनों विवर्तों का उपभोग होरहा है। तीनों में उस ओर ईश्वर है, इस ओर शरीर है एवं दोनों के मध्य में जीव है। ईश्वर साक्षी है, जीव भोक्ता है, मन–बुद्धि-इन्द्रियादि भोगसाधन हैं, शरीर भोगायतन है, एवं लौकिक विषय भोग्यपदार्थ हैं। इस स्थिति को सामने रखते हुए ही हमें 'सर्वधर्म्मान्॰' का समन्वय करना है—

१–हृदयस्थोऽनिरुक्तः प्रजापतिः–अन्तर्य्यामी—अधिदैवतम् (ईश्वरः)
२–तत्रस्थः–उद्गीथः प्रजापतिः-भोक्ता—अध्यात्मम्(जीवः) } — सैषा अध्यात्मसंस्था
३–सर्वत्रस्थः–सर्वप्रजापतिः–भोगायतनम्—अधिभूतम् (शरीरम्)

१६–अखण्डात्म प्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित भिन्न खण्डात्मविवर्त्तों के तात्त्विक स्वरूपों का दिग्दर्शन, तन्निबन्धन योगपथ, तदनुप्राणिता 'बुद्धियोगनिष्ठा', एवं तदनुबन्धी मानसिक ऐन्द्रियक, तथा वैषयिक–अनुबन्धों का स्वरूप–समन्वय–प्रयास—

अव्यक्त, महान्, विज्ञान, प्रज्ञान, इन्द्रियवर्ग, शरीर जिन इन ६ भौतिक विवर्त्तों का पूर्व में उल्लेख हुआ है, इनमें से अव्यक्त, महान्, ये दो खण्डात्मविवर्त्त आधिदैविक ईश्वरात्म-विवर्त्त में अन्तर्भूत माने गए हैं। प्रज्ञान-इन्द्रियवर्ग, ये दो विवर्त्त आध्यत्मिक जीवात्मविवर्त्त में अन्तर्भूत माने गए हैं। शेष रहजाते हैं- विज्ञान और शरीर। इनमें शरीर भोगायतनरूप से पृथक् सुरक्षित है। खण्डात्मपञ्चक मध्यस्थ विज्ञानात्मा (बुद्धि), मध्यस्थ जीवात्मसम्बन्ध से देहली दीपक न्यायेन ईश्वरतन्त्र में भी भुक्त है, एवं भोगायतनतन्त्र में भी भुक्त है। यदि जीवात्मा इस विज्ञानसारथि के सहयोग से भोग में प्रवृत्त होता है, तब तो स्वस्वरूप

से निर्म्मल बना हुआ विज्ञान ईश्वरतन्त्र का विकासक बनता है, इस दशा में विज्ञान का ईश्वर से योग रहता है, यही गीताशास्त्र की सुप्रसिद्ध 'बुद्धियोगनिष्ठा' है। यदि जीवात्मा विज्ञानसारथि की उपेक्षा, साथ ही मनोराज्य की प्रधानता कर बैठता है, तो तेजोलक्षण, अतएव स्वस्वरूप में सर्वथा असङ्ग विज्ञान स्नेहलक्षण, अतएव स्वस्वरूप से सर्वथा ससङ्ग प्रज्ञान (मन) की प्रधानता होजाती है। फलतः जीवात्मा बुद्धियोगनिष्ठा से च्युत होता हुआ मन के द्वारा इन्द्रियासक्त बन जाता है, एवं यही इसके पतन-भय-शोक-मोह-द्वेष-आदि क्लेशों का मूलकारण है। इसी को लोकभाषा में-'मनमानी करना' कहा जाता है। वृद्धपुरुष कहा करते हैं-'जो मनमाना करता है, वह पीछे पछताता है'। इस वृद्धसूक्ति का तात्पर्य्य यही है कि, मन को इन्द्रियों का वशवर्त्ती न बनाओ, अपितु बुद्धि का वशवर्त्ती बनाओ। स्मरण रक्खो, जबतक मन इन्द्रियों का वशवर्ती बना रहेगा, तबतक उसे अनेक धर्म्मों का आश्रित रहना पड़ेगा।

१७-पञ्चविध वैदिकइन्द्रियवर्ग, तथा एकादशविध दार्शनिक इन्द्रियवर्ग, एवं तदनुप्राणित व्यवसाय-धर्म्म, तथा अव्यवसायधर्म्म का स्वरूप-दिग्दर्शन—

इन्द्रिय एक नहीं, वैदिकदृष्टिकोण से पाँच हैं, दार्शनिक दृष्टिकोण से ११ हैं। फिर अनन्त असंख्य ऐन्द्रियक भागों के अनुपात से तो इन्द्रियवृत्तियाँ भी असंख्यभाव में परिणत होजाती हैं। इन अनेक इन्द्रियवृत्तियों के प्रभाव से प्रभावित इन्द्रियसञ्चालक मन का भी अनेक वृत्तियों में परिणत होना स्वाभाविक बन जाता है। यदि विज्ञान (बुद्धि) का मन पर प्रभाव है, तब तो मन इन्द्रियवृत्तियों का सञ्चालक बनता हुआ भी उनके अनेक धर्म्मों के आक्रमण से बचा रहता है। क्योंकि मनः-सञ्चालक विज्ञान स्वव्यवसाय-धर्म्म से स्वस्वरूप में एक है, स्थिर है, असङ्ग है, जिसका—'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन !' इत्यादिरूप से विश्लेषण हुआ है। यदि मनका विज्ञान पर प्रभाव है, तो मन स्वयं भी इन्द्रियानेकधर्म्मों का दास बन जाता है, साथ ही मनोवशवर्त्ती बुद्धि भी अनेक धर्म्मों में परिणत होजाती है, जिसका-'बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्' इत्यादिरूप में विश्लेषण हुआ है।

१८-एक प्रासङ्गिक-स्पष्टीकरण, कर्म्मत्याग के सम्बन्ध में रहस्यपूर्ण दृष्टिकोण का समन्वय, सर्वधर्म्मपरित्याग का वास्तविक स्वरूप समन्वय, एवं तत्सम्बन्ध में गीता की सर्वधर्म्मपरित्यागात्मिका शरणागति के व्यामुग्ध-व्याख्याताओं का महान् व्यामोहन—

इसी सम्बन्ध में एक स्पष्टीकरण और कर लेना चाहिए। इन्द्रियधर्म्म कभी बन्धन के कारण नहीं बन सकते। ऐन्द्रियक भोग भी कभी बन्धन-दुःख-शोकादि के कारण नहीं बना करते। और ऐसी दशा में सर्वधर्म्मों-(इन्द्रियधर्म्मों) के अनुगमन में भी कोई आपत्ति नहीं उठाई जासकती। इसके साथ साथ ही -'न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्म्माण्यशेषतः'-'कार्य्यते ह्यवशः कर्म्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः' इत्यादि गीता सिद्धान्तो के अनुसार शरीरधारी प्राणी के लिए यच्चयावत् कर्म्मों का परित्याग सर्वथा असम्भव भी है। सम्भव है-आप श्रौत-स्मार्त्त कर्म्म करना छोड़ दें, लोकसंग्राहक अन्य लौकिक कर्म्म छोड़ दें।

परन्तु जीवनरक्षक भोजन-पान-शयन-गमन-आदि आवश्यकतम-शारीरिक कर्म्म आप चाहते हुए भी नहीं छोड़ सकते। सर्वकर्म्मपरित्यागनिष्ठ जो आचार्य्य श्रौत-स्मार्त्त कर्म्मों के आत्यन्तिक परित्याग का उद्घोष करते हुए अहोरात्र आत्मभावना-जप को ही सर्वधर्म्मपरित्यागलक्षणा शरणागति मान रहे है, एवं मनवाने का प्रयास कर रहे हैं, क्या वे आत्मनिष्ठ व्याख्याता भोजनादि जीवनसाधक ऐन्द्रियकधर्म्मों को भी छोड़ देते हैं? यदि हां, तो असम्भव। नहीं तो, फिर सर्वधर्म्मपरित्याग का उद्घोष क्यों? त एव प्रष्टव्या:। मन-बुद्धि-इन्द्रियवर्ग-शरीर-आदि आत्मपरिग्रह स्वस्थदशा में विद्यमान रहें, और ये अपना धर्म्म छोड़ दें, सर्वथा असम्भव है। इनके परित्याग का तो अर्थ होगा-निधन-मृत्यु। क्या भगवच्छरणागति से उन त्यागाभिमानियों की दृष्टि में यही (मृत्यु) फल अभिप्रेत है? उत्तर होगा-त एव प्रष्टव्याः। निश्चत समझिए-यह असम्भव भी है, साथ ही भगवान् का भी यह अभिप्राय नहीं है कि-धर्म्मों का-श्रौतस्मार्तकर्म्मों का, लौकिक कर्म्मों का, ऐन्द्रियक कर्म्मों का-परित्याग कर दिया जाए। 'यज्ञ-दान-तपः-कर्म्म न त्याज्यं कार्य्यमेव तत्' भगवान् तो इनकी अत्याज्यता ही बता रहे हैं। ऐसी दशा में व्याख्याताओं की सर्वकर्म्मत्यागनिष्ठा का क्या महत्त्व रह जाता है? इस प्रश्न के उत्तर में पुनः हमें यही कहना पड़ेगा कि-'त एव प्रष्टव्याः'।

१६-'एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति' का रहस्यात्मक समन्वय, एवं सर्वधर्म्मपरित्याग के वास्तविक तथ्य से अनुप्राणिता वास्तविकी सांख्यनिष्ठा—

मानते हैं, भगवान् की दृष्टि में कर्म्मत्याग, किंवा इन्द्रियधर्म्म परित्याग असम्भव है। परन्तु इस मान्यता का भी तो अपलाप नहीं किया जासकता कि, उन्हीं भगवान् ने 'सर्व्वधर्म्मान् परित्यज्य०' इत्यादि स्पष्ट शब्दों में धर्म्मपरित्याग का भी तो आदेश दिया है। वे ही भगवान्, एक ही भगवान्। उन्हीं के दो विरुद्ध आदेश! कैसे इस विरोध का परिहार किया जाय? उत्तर भगवान् से ही पूछिए। भगवान् कहेंगे-मैं कर्म्म का संग्रह भी आवश्यक मानता हूँ, साथ ही त्याग भी आवश्यक समझ रहा हूँ। ग्रहण और त्याग, दोनों का समन्वय ही मेरा गुह्यतम सिद्धान्त है। ग्रहण योगनिष्ठा (कर्म्मनिष्ठा) है, त्याग सांख्य-निष्ठा (ज्ञाननिष्ठा) है। दोनों को दो पृथक् निष्ठा मानना ही भूल है। कर्म्मनिष्ठा में कर्म्म और कामना, ये दो पर्व हैं। इन दोनों पर्वों में से कर्म्म का संग्रह करो, इससे यही निष्ठा कर्म्मनिष्ठा बन जाएगी। एवं कामना का परित्याग करो, इससे यही निष्ठा ज्ञाननिष्ठा (संन्यासनिष्ठा) बन जाएगी। इसप्रकार कर्म्मग्रहण-कामनात्याग, दोनों के समन्वय से एक ही कर्म्मनिष्ठा से दोनों निष्ठाएँ गतार्थ बन जाएँगी। यही संशोधन ज्ञाननिष्ठा में करो। ज्ञान स्वयं त्याग की प्रतिमा तो पहिले से ही है। इसमें कर्म्म का सम्मिश्रण और करदो। यह भी उभयनिष्ठा बन जाएगी। और इसप्रकार दोनों के द्वैतरूप का उच्छेद होजाएगा-रहजाएगी अद्वैतनिष्ठा, जो व्याख्याताओं के लिए अतिशयरूप से प्रिय है। एवं जिसका भगवान् ने—'एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति' शब्दों में विवेचन किया है।

२०–उभयनिष्ठा के फलाफल तारतम्य का नीर–क्षीर–विवेक, एवं 'तयोस्तु कर्म्म-संन्यासात्–कर्म्मयोगो विशिष्यते' का समन्वय-प्रयास—

प्रश्न होगा कि दोनों निष्ठाओं के सामन्वित रूपों से सम्बन्ध रखनेवाले इन दोनों मार्गों के स्वरूप में तो क्या भेद है, एवं दोनों में कौन मार्ग अपेक्षाकृत प्रशस्त, तथा उपादेय है? उभयात्मक कार्मयोग, तथा तथात्मक ही ज्ञानयोग, दोनों में वैसे तो कोई विभेद नहीं है। साथ ही–"यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं, तद्योगैरपि गम्यते" के अनुसार फलदृष्टि से भी दोनों में विशेष अन्तर नहीं है। दोनों ही मार्गों में इसप्रकार तत्त्वदृष्टि से भी, एवं फलदृष्टि से भी विशेष अन्तर नहीं है–जैसाकि–'संन्यासः कर्म्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ, एकमप्यास्थितः सम्यक्–उभयोर्विन्दते फलम्' से प्रमाणित है। तथापि–'तयोस्तु कर्म्मसंन्यासात् कर्म्मयोगो विशिष्यते' भगवद्वचनानुसार ही दोनों संशोधित निष्ठाओं में कर्म्मपरिग्रह–कामत्यागलक्षणा कर्म्मयोगनिष्ठा ही अपेक्षाकृत प्रशस्त तथा उपादेय मानी जाएगी।

२१–वर्णाश्रमाचारसम्मत–श्रौत–स्मार्त्त–कर्म्मसंग्रहरूपा–कर्म्मयोगनिष्ठा का पावनसंस्मरण, एवं 'काम्यानां कर्म्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः' का समन्वय प्रयास, तथा उभयसमन्वयात्मिका कर्म्मयोगनिष्ठा का श्रेयोभावत्त्व—

कर्म्मयोगनिष्ठा में वर्णाश्रमाचार–सम्मत श्रौतस्मार्तकर्म्मों का संग्रह है, जिन्हें भगवान् मनु ने 'प्रवृत्त–वैदिककर्म्म' नाम से व्यवहृत किया है। व्यक्तिगत स्वार्थ–कामना–परित्याग-पूर्वक लोकाभ्युदयार्थ ये ही वैदिक प्रवृत्तकर्म्म कामनाराहित्य से निष्कामभावात्मक बनते हुए अबन्धन बन जाते हैं, एवं ऐसा ही कर्म्मयोग 'काम्यानां कर्म्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः' के अनुसार संन्यासनिष्ठा है। इस निष्ठा में व्यक्त–भौतिक लौकिक, वैदिक कर्म्मों का समावेश रहता है। कर्म्मठ प्राणी (मनुष्य) की कर्म्मसाधिका इन्द्रियां अव्यक्त अन्तर्जगत् की अपेक्षा व्यक्त बहिर्जगत् की ओर सुगमता से प्रवृत्त रहती हैं। यही क्यों, 'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्' इस औपनिषद सिद्धान्त के अनुसार तो इन्द्रियानुगति का मुख्य धरातल व्यक्त बहिर्जगत् ही है। अतएव इस कर्म्मनिष्ठा में अपेक्षाकृत सरलता रहती है। इस के अतिरिक्त ऐसे कर्म्मठ के निष्काम कर्म्मों से समाज का अभ्युदय होता है, राष्ट्रीय अभ्युत्थान होता है, ऐसे कर्म्मठ के सम्पर्क से जनसाधारण का महान् उपकार होता रहता है। पारलौकिक निःश्रेयसफल में साम्य होने पर भी ऐहलौकिक अभ्युदय के अनुबन्ध से कर्म्मप्रवृत्तिरूपा उभयात्मिका कर्म्मयोगनिष्ठा ही भगवान् की दृष्टि में श्रेयःपन्था है।

२२–वन्यधर्म्म संग्रहात्मिका ज्ञानयोगान्विता सांख्यनिष्ठा, और 'अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते' का स्मरण, और धर्म्मबुद्धियोग, तथा ज्ञानबुद्धियोग रूप संशोधित योगों का स्वरूप–समन्वय–प्रयास—

ज्ञानयोगनिष्ठा में वन्यधर्म्मों का ही संग्रह है। दूसरे शब्दों में-व्रतोपवासतपश्चर्य्यादिलक्षण कायक्लेशात्मक वैदिक कर्म्मों का ही संग्रह है, अतएव इन्हें मानवपरिभाषा में 'निवृत्तवैदिककर्म्म' कहा गया है।

अन्तर्वृत्ति के प्राधान्य से इन में अव्यक्तभाव का प्राधान्य है, अतएव ये व्यक्त-कर्म्मापेक्षया कष्टसाध्य हैं, जैसाकि-'अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं क्लेशवद्भिरवाप्यते' इत्यादि वचन से प्रमाणित है। इस के अतिरिक्त इस में केवल वैय्यक्तिक निःश्रेयसभाव की ही प्रधानता है। न तो इस में वैय्यक्तिक ऐहलौकिक सुख ही है, एवं न लोकाभ्युदय की उदात्तभावना का ही संग्रह है। अतएव निवृत्तकर्म्मात्मिका यह संन्यासनिष्ठा पारलौकिक निःश्रेयसभाव की दृष्टि से कर्मनिष्ठा से समतुलित होती हुई भी-लौकिक अभ्युदय की तुलना में कर्म्मनिष्ठा की तुलना में अवरश्रेणि में ही प्रतिष्ठित होरही है। इसप्रकार गीतासिद्धान्त के अनुसार कर्म्मसंग्रहात्मक कर्मयोग-जिसे आर्षविद्यानुगत 'धर्म्मबुद्धियोग' भी कहा जाता है-ही संग्राह्य है। ज्ञानयोग-जिसे सिद्धविद्यानुगत-'ज्ञानबुद्धियोग' भी कहा गया गया है-ही संग्राह्य है-न कि कर्म्मात्यन्तविमोकलक्षणा कल्पिता ज्ञाननिष्ठा। जैसाकि-भूमिका द्वितीय-खण्डान्तर्गत-'ग'-'घ' विभागों में विस्तार से स्पष्ट किया जाचुका है।

२३-राजर्षिविद्या--सिद्धविद्या-आर्षविद्या--राजविद्या--से अनुप्राणित चतुर्विध--योगों के व्यवच्छेदात्मक--तात्त्विक--स्वरूपों का समन्वयात्मक-दिग्दर्शन—

उक्त लक्षण कर्मयोग ही 'धर्म्मयोग' है। यह धर्मबुद्धियोग तबतक कर्मयोग है, जबतक कि, इस में क्षरानुगत व्यक्तजगत् भावना का ही प्राधान्य है। भक्तियोग-परीक्षा-पूर्वखण्ड में यह विस्तार से बतलाया जाचुका है कि, गीताप्रतिपादिता योगचतुष्टयी ज्ञानकर्म्मोभयात्मिका है। ज्ञान-कर्मत्त्वेन बुद्धियोगात्मक चारों योग जहाँ समान हैं, विशेषज्ञान-विशेषकर्म्मानुगतत्वेन चारों योग परस्पर विभिन्न हैं। अवश्य ही चारों के तात्त्विक-स्वरूप विश्लेषण करते समय विशेष ज्ञान-कर्म्मभावों का विवेक कर लेना चाहिए। अन्यथा चारों के विविक्त-स्वरूपबोध में भ्रान्ति होजाने की सम्भावना है। राजर्षिविद्यानुगत वैराग्यबुद्धियोग (गीतासिद्धान्तयोग) के ज्ञान, कर्म दोनों पर्व अव्ययात्मानुगत हैं। सिद्धविद्यानुगत ज्ञानबुद्धियोग (संशोधित सांख्यनिष्ठा) का ज्ञान अव्यक्त अक्षरात्मानुगत है, कर्म भी अव्यक्त अक्षरानुगत है। आर्षविद्यानुगत धर्म्मबुद्धियोग (संशोधित योगनिष्ठा) का ज्ञान भोक्तात्मानुगत है, कर्म व्यक्त क्षरानुगत है। राजविद्यानुगत ऐश्वर्य्यबुद्धियोग (भक्ति-निष्ठा) का ज्ञान अव्ययात्मानुगत है, कर्म व्यक्त क्षरानुगत है, जैसाकि तालिका से स्पष्ट होरहा है—

१	१-अव्ययात्मानुगतं ज्ञानम् २-अव्ययात्मानुगतं कर्म्म	राजर्षिविद्यानुगतः-वैराग्यबुद्धियोगः (बुद्धियोगः)
२	१-अव्यक्ताक्षरानुगतं ज्ञानम् २-अव्यक्ताक्षरानुगतं कर्म्म	सिद्धविद्यानुगतः-ज्ञानबुद्धियोगः (ज्ञानयोगः)

३	१–भोक्तात्मानुगतं ज्ञानम् २–क्षरानुगतं कर्म्म	आर्षविद्यानुगतः–धर्म्मबुद्धियोगः	(कर्म्मयोगः)
४	१–अव्ययानुगतं ज्ञानम् २–क्षरानुगतं कर्म्म	राजविद्यानुगतः–ऐश्वर्य्यबुद्धियोगः	(भक्तियोगः)

२४–'सर्वधर्म्मान्' में पठित 'धर्म्मान्' और 'अहम्' का तात्त्विक–स्वरूप–समन्वयप्रयास, एवं उभयात्मक, अतएव अबन्धन कर्म्मयोग का संक्षिप्त स्वरूप–परिचय—

उक्त चारों गीतायोगों में से 'सर्वधर्म्मान्' में पठित धर्म्म–शब्द की अपेक्षा से कर्म्मयोग, भक्तियोग, इन दो योगों की ओर ही पाठकों का विशेषरूप से ध्यान आकर्षित करना है। शास्त्रसिद्ध श्रौत–स्मार्त्त कर्मों का निष्कामभाव से अनुष्ठान करना ही कर्म्मयोग है। इसमें कर्त्ता भोक्तात्मा है। 'अहं' लक्षण जीवात्मा ही भोक्तात्मा है। इस जीवात्मा का अव्ययभाग ही अहं पदार्थ है। यह अहं प्रकृति को अपना ज्ञानांश प्रदान कर उसे कर्त्री बनाए रखता है, स्वयं सबकुछ बनता हुआ भी निर्लेप बना रहता है। यही इसका निष्कामभाव है। इसीलिए इसका यह कर्म्ममार्ग अबन्धन बना रहजाता है। धर्म्मात्मक कर्मों में पूर्ण प्रवृत्ति है, कामना से आत्यन्तिक निवृत्ति है। यही उभयात्मक कर्म्मयोग का संक्षिप्त स्वरूप परिचय है।

२५–कर्म्मयोग, और भक्तियोग का समतुलन, एवं उभयसमतुलन में भक्तियोग का श्रेष्ठत्व संस्थापन–प्रयास—

प्रवृत्ति सकाम हो, अथवा निष्काम, ऐच्छिक हो, अथवा स्वाभाविक, इस की सफलता में बड़े से बड़े निष्कामयोगी को भी क्षणभर के लिए आह्लाद होपड़ता है, विफलता में क्षणिक क्षोभ। अतएव इस मार्ग को आत्यन्तिकरूप से अशोक नहीं माना जासकता है। जीवात्मा को विफलता में क्षोभात्मक यह शोक होने लगता है कि,–देखो, अमुक काम में मेरा कोई स्वार्थ नहीं था, फिरभी न जाने क्यों विघ्न आगए, क्यों काम बिगड़गया। इस शोक की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए ही कर्म्मयोगनिष्ठा की तुलना में तदुपरि भक्तियोग–निष्ठा का आविर्भाव हुआ है। इस योग में प्रवृत्ति का क्योंकि आत्यन्तिक अभाव है, अतएव कभी क्षोभ को अवसर ही नहीं मिलता। और यही इस भक्तियोग का कर्म्मयोगापेक्षया वैशिष्ट्य है।

२६-धर्म्म, अधर्म्म, कृत, अकृत, भूत, भव्य आदि से अतीत रहस्यपूर्ण तत्त्व का संस्मरण, एवं 'सर्वधर्म्मान्--परित्यज्य' के मर्म्मस्थल का स्वरूपान्वेषण--प्रयास, तथा-'त्यज धर्म्म--मधर्म्मञ्च' का रहस्यात्मक समन्वय—

कर्म्मयोग में निष्कामभाव अवश्य है। परन्तु इस में कर्म्माधार भोक्तात्मा का ज्ञान है। अतएव उस पर ऐन्द्रियक धर्म्मों का कभी कभी प्रभाव हो पड़ता है, फलतः इन धर्म्माक्रमण से भोक्तात्मा दुःखी होपड़ता है। भक्तियोग में यह आशङ्का इसलिए नहीं है कि, इसका आधार ईश्वराव्ययानुगत ज्ञान है, जो धर्म्म, अधर्म्म, कृत, अकृत, भूत, भव्य, सबसे अतीत है, एवं जिसका-'अन्यत्रधर्म्मात्, अन्यत्राधर्म्मात्, अन्यत्रास्मात् कृताकृतात्, अन्यत्र भूताद्भव्याच्च' इत्यादि उपनिषच्छ्रुति से स्पष्टीकरण हुआ है। जीवाव्यय जहाँ ऐन्द्रिय कधर्म्मों का अनुगामी बनता हुआ भोक्ता है, वहाँ ईश्वराव्यय ऐन्द्रियक धर्म्माधर्म्मों से एकान्ततः असंस्पृष्ट रहता हुआ साक्षिमात्र है। यदि जीवात्मा इस ईश्वराव्यय में अपने आप को अर्पण कर कर्म्ममार्ग में प्रवृत्त रहता है, तो यावद्यावत् ऐन्द्रियक धर्म्मों का सम्बन्ध स्वतः एव इस से टूट जाता है। इसी ईश्वरार्पणभावना के लिए-'नाविरतो दुश्चरितात्, त्यज धर्म्ममधर्म्मञ्च' यह कहा गया है।

२७-'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' मूलक अमृत--मृत्यु--भाव का दिग्दर्शन, तदनुबन्धी सर्वधर्म्मग्रहण, तथा सर्वधर्म्मपरिग्रह का स्वारस्य—

जिसप्रकार ज्ञाननिष्ठा में कर्म्मत्याग से केवल कामनात्याग अभिप्रेत है, क्योंकि कर्म्मत्याग असम्भव है, एवमेव इस भक्तिनिष्ठा में भी सर्वधर्म्मपरित्याग से केवल धर्म्म-प्रवृत्तिसम्बन्धत्याग ही अभिप्रेत है। क्योंकि ऐन्द्रियक धर्म्मों का आत्यन्तिक परित्याग सर्वथा असम्भव सिद्ध किया जाचुका है। ईश्वराव्यय में आत्मसमर्पण कर देने से जीवात्मा ऐन्द्रियकधर्म्मों में अहोरात्र प्रवृत्त रहता हुआ भी इन के बन्धन से विमुक्त रहता है। और यही सर्वधर्म्मग्रहणलक्षण सर्वधर्म्मपरित्याग है। ऐन्द्रियकधर्म्म असंख्य हैं, यह कहा जाचुका है। वहीं यह भी स्पष्ट किया जाचुका है कि, पार्थिव भूताक्रान्त जीवात्मा का प्रवृत्तिप्राधान्य सौर विज्ञानतत्त्व को अभिभूत करलेता है। परवशानुगत विज्ञान ऐन्द्रियकभावानुगत बनता हुआ अव्यवसायात्मक बहुभाव में परिणत हो जाता है। 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार नानाभाव ही मृत्यु है, यही भय की मूलप्रतिष्ठा है। इसप्रकार इन्द्रियधर्म्मानुगत जीवात्मा का विज्ञान कभी एकात्मक व्यवसायभाव का अनुगामी नहीं बन सकता।

२८-कर्म्मयोग के सम्बन्ध में एक प्रासङ्गिक--समस्यात्मक प्रश्न, एवं तन्निराकरण--प्रयास—

प्रश्न होसकता है कि, तब तो निष्काम कर्म्मयोग में भी व्यवसाय नहीं रहना चाहिए। क्योंकि, यहाँ ईश्वराव्ययानुगति का अभाव है। अवश्य ही ईश्वराव्ययानुगति कर्म्मयोग में नहीं है। परन्तु जीवाव्ययानुगति अवश्य है। यदि कामना है, तब तो अक्षरात्मक जीवभाव का ही प्राधान्य रहता है। एवं जैसा सकामकर्म्म-योग तो अवश्य ही व्यवसाय से वञ्चित है। परन्तु अक्षराविनाभूत जीवाव्यय क्योंकि ईश्वराव्ययाभिन्न है, अतएव जीवाव्ययनिष्ठा से तदभिन्न ईश्वराव्ययानुग्रह-परम्परया कर्म्मयोगनिष्ठा में भी प्राप्त हो जाता है। फलतः कर्म्मयोग में अव्यवसाय की आशङ्का नहीं रहजाती।

२९–'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन !' का संस्मरण, 'अंशो नानात्वात्' मूलक जीवभाव, तत्प्रतिष्ठारूप ईश्वरभाव, एवं प्रसादगुणान्वित भक्तियोग का प्रसाद-गुणवञ्चित कर्म्मयोग के समतुलन में श्रेष्ठत्व संस्थापन—

यदि भक्तियोगवत् कर्म्मयोग में भी व्यवसायधर्म्म अक्षुण्ण है, तो दोनों के स्वरूप में भेद क्या रहा ?, यह प्रश्न शेष रहजाता है। कर्म्मयोग में जीवाव्ययानुगति है, एवं-'अंशो नानात्वात्' न्याय से योगमायावच्छिन्न जीव नाना हैं, असंख्य हैं। अतः वैय्यक्तिक एकत्व के अक्षुण्ण रहने पर भी जीवसर्गत्वेन यहाँ एकत्वका अभाव है। उधर भक्तियोग में ईश्वराव्ययानुगति है, एवं महामायावच्छिन्न ईश्वराव्यय महाविश्व का एक तन्त्रायी है। इस एकभावापन्न ईश्वराव्यय की शरणागति से आत्यन्तिकरूप से व्यवसायनिष्ठा प्राप्त हो जाती है। यदि वैय्यक्तिक जीवाव्यय के एकत्व का आग्रह कर कर्म्मयोग को भक्तियोग के समकक्ष मानने का संकल्प दृढ़ है, तो दूसरा दृष्टिकोण सामने रखना पड़ेगा। मान लेते हैं—व्यवसायदृष्ट्या दोनों योग समान हैं। परन्तु कर्म्मयोग जहाँ ईश्वराव्यय से बहिर्भूत रहता हुआ गुणभावापन्न है, वहाँ भक्तियोग गुणातीत ईश्वराव्ययानुगामी बनता हुआ द्वन्द्वातीत है। कर्म्मयोग में ईश्वरानुरक्तिलक्षण प्रसादगुण का अभाव है, एवं इसी आधार पर-'त्रैगुण्यविषयावेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' कहा भी गया है। भक्तियोग में ईश्वरानु-रक्तिलक्षण प्रसादगुण है, अतएव यह योग अवश्य ही कर्म्मयोगापेक्षया श्रेष्ठ माना जाएगा।

३०–'ईश्वरःसर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति' मूलक आध्यात्मिक ईश्वराव्यय का संस्मरण, संशोधित ज्ञान-कर्म्म-भक्ति-योगों के सम्बन्धों में उत्तरोत्तर श्रेष्ठत्व, एवं तीनों की आंशिक अपूर्णता, तथा सर्वश्रेष्ठ, एवं सर्वात्मना परिपूर्ण गीता-राद्धान्तभूत 'बुद्धियोग' का स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

जिसप्रकार जीवाव्यय योगमायानन्त्यधिया अनेक भावापन्न है, एवमेव ईश्वराव्यय भी तो हृदयान-न्त्यधिया अनेकभावापन्न ही है। 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति' के अनुसार आध्यात्मिक ईश्वराव्यय प्रत्येक प्राणी के हृदय में प्रतिष्ठित रहता है। योगमायोपाधिभेद से जैसे जीव अनन्त हैं, एवमेव हृदयोपाधिभेद से आध्यात्मिक ईश्वराव्यय भी तो अनन्त ही है। एकभावापन्न तो केवल वह आधिदैविक ईश्वराव्यय ही है, जो सम्पूर्ण विश्व का समष्टिरूप से एक तन्त्रायी है। ऐसी दशा में उक्त श्रेष्ठता-प्रदर्शक हेतु में यह प्रश्न किया जासकता है कि, जीवाव्ययानुगत कर्म्मयोग यदि जीवाव्ययानन्त्य से जीवसर्गत्वेन एक-भावात्मक है, तो आध्यात्मिक ईश्वराव्ययानुगत भक्तियोग भी हृदयोपाध्यवच्छिन्न ईश्वराव्ययानन्त्य से एकभावात्मक ही माना जाएगा ! ऐसी अवस्था में इस हेतु से भक्तियोग को कर्म्मयोगापेक्षया कैसे श्रेष्ठ माना जासकेगा ? विप्रतिपत्ति यथार्थ है। वास्तव में इस मीमांसा के अनुसार तो भक्तियोग भी आत्यन्तिक रूप से सर्वोपाधिविनिर्मुक्त नहीं ही माना जासकता। अतएव च केवल इसी हेतु के आधार पर कर्म्मयोगा-पेक्षया भक्तियोग की श्रेष्ठता भी सिद्ध नहीं की जासकती। इसप्रकार कामनापरिग्रहलक्षण कर्म्मयोग, कर्म्म-त्यागलक्षण कल्पित ज्ञानयोग, दोनों अयोगात्मक योगों के स्थान में गीताशास्त्र ने जिन ज्ञान-कर्म्म-भक्ति नामक लोकप्रचलित तीन योगों का संग्रह किया है, उनमें अवश्य ही कुछ न कुछ छिद्र बचा रहजाता है।

इसीलिए तो इस योगत्रयी को भगवत्सम्मत नहीं माना गया। भगवत् सम्मत योग तो वही माना जाएगा, जिसमें सर्वथा अनेकत्त्व की निवृत्ति रहेगी। वह योग वही होगा, जिसके आधारभूत ज्ञान--कर्म्म, दोनो ही आधिदैविक व्यापक एकेश्वराव्ययानुगत होंगे। एवं वही योग 'बुद्धियोग' कहलाएगा, जिसका अगले खण्डों में विस्तार से विश्लेषण होने वाला है।

३१-लोकसंग्रहच्युता ज्ञानयोगनिष्ठा, लोकसंग्रहात्मिका कर्म्मयोगनिष्ठा एवं प्रसादगुणान्विता भक्तियोगनिष्ठा का व्यवच्छेदात्मक स्वरूप-समन्वय--प्रयास—

कामनायुक्त कर्म्मयोग में मानस-ऐन्द्रियक ज्ञान, तथा क्षरानुगत व्यक्त कर्म का समावेश है, अतएव ऐसा सकाम कर्मयोग आत्यन्तिकरूप से त्याज्य है। कर्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग कल्पित है, अतएव इसके लिए कुछ भी कहना व्यर्थ है। सकामलक्षण भक्तियोग में भी मानसज्ञान का ही प्राधान्य है, अतएव सकाम-कर्म्मयोगवत् यह भी त्याज्य है। इसप्रकार ये तीनों निष्ठाएँ उपादेयमर्य्यादा से सर्वथा बहिष्कृत ही हैं। अब क्रमशः-'ज्ञान-कर्म्म-भक्ति-बुद्धि' नामक चार निष्ठाएँ हमारे सम्मुख आती है, जिन का गीता में प्रतिपादन हुआ है। अव्यक्ताक्षरानुगत ज्ञान, अव्यक्ताक्षरानुगत कर्म्म से कायक्लेशात्मिका एवं लोकसंग्रहविच्युता यह ज्ञानयोगनिष्ठा पहिला योग है। जीवाव्ययानुगत ज्ञान (जिसमें अक्षरज्ञान भी जीव सम्बन्ध से अनुस्यूत है), व्यक्त क्षरानुगत कर्म्म से ऋजुभावापन्ना, एवं लोकसंग्रहात्मिका बनी हुई यह कर्म्मयोगनिष्ठा ज्ञानयोगनिष्ठा-पेक्षया श्रेष्ठ है। हृद्य ईश्वराव्ययानुगत ज्ञान (जिसमें हृदयोपाधिसम्बन्ध से आंशिकरूप से अनेकत्त्व भी भी विद्यमान है) व्यक्ताक्षरानुगत कर्म्म से प्रसादगुणभावापन्न बनी हुई यह भक्तियोगनिष्ठा कर्म्मयोगनिष्ठा-पेक्षया श्रेष्ठ है। व्यापक ईश्वराव्ययानुगत ज्ञान-कर्म्म से प्रवृत्ति-निवृत्ति-सदसत् आदि यच्चयावत् द्वन्द्वो से एकान्ततः निर्मुक्ता, अतएव आत्यन्तिक रूप से व्यवसाय-भावानुगता चौथी बुद्धियोगनिष्ठा भक्तियोग-निष्ठा से भी श्रेष्ठ है, एवं यही अव्ययेश्वर भगवान् का अपना मत है। इसमें भी आगे जाकर दो विवर्त हो जाते हैं, जिनका 'बुद्धियोगपरीक्षा' खण्ड में विवेचन किया जाएगा।

लोकसंग्रहविच्युता-व्यक्तिस्वार्थमूला-ज्ञानयोगनिष्ठा—ज्ञानिनाम्

लोकसंग्रहात्मिका—समष्टिस्वार्थमूला-कर्म्मयोगनिष्ठा—कर्म्मठानाम्

लोकसंग्रहात्मिका-प्रसादगुणमूला—भक्तियोगनिष्ठा—भक्तानाम्

सर्वसंग्रहात्मिका—सर्वगुणमूला——बुद्धियोगनिष्ठा—योगिनाम्

तस्माद्योगी भवार्जुन !

३२-सर्वधर्म्मपरित्याग लक्षणा सर्वधर्म्मासक्ति का तथ्यपूर्ण समन्वय--

हां, तो उक्त सन्दर्भ से यह सिद्ध होचुका है कि, भक्तियोगनिष्ठात्मिका अनन्यशरणागति के सम्बन्ध में भगवान् ने जिस सर्वधर्म्मपरित्याग का आदेश दिया है, वह केवल धर्म्मासक्तिपरक है। वह अनेकत्त्वासक्ति

तभी हट सकती है, जबकि जीवात्मा प्रत्येक ऐन्द्रियकर्म्म (धर्म्म) से ममत्व हटा कर उसके उत्तरदायित्व का भार हृदयस्थ अन्तर्य्यामी पर डाल दे। अपना उत्तरदायित्व हटा लेना, पहिला मर्म्म है। साथ ही अपने आप को भी अन्तर्य्यामी की ही इच्छा पर ही छोड़ देना दूसरा मर्म्म है। जबतक 'एकम्' की शरणागति नहीं होजाती, तबतक बुद्धि में स्वाभाविक व्यवसायधर्म्म का उदय नहीं होता। जबतक बुद्धि व्यवसायात्मिका नहीं बन जाती, तब तक सर्वधर्म्मपरित्यागलक्षणा सर्वधर्म्मासक्ति से त्राण नहीं होसकता।

३३–'सर्वधर्म्मान् परित्यज्य' से अनुप्राणित सर्वधर्म्मत्याग के विज्ञानसम्मत तथ्य का समन्वयप्रयास, एवं तत्सम्बन्ध में गीताव्याख्याता सर्वश्री अभिनवगुप्ताचार्य्य महाभाग का पुण्य-संस्मरण—

सर्वधर्म्मपरित्याग से सर्वकर्मसंन्यास मानना, साथ ही अर्जुनव्याज से इस आदेश को मुमक्षु अधिकारी परक लगाना सम्भवतः ठीक हो। परन्तु अपनी सामान्य बुद्धि के अनुसार हमें तो ऐसा ही भान होरहा रहा है कि, यह आदेश मुख्यतः अर्जुन को लक्ष्य बना कर ही प्रस्तुत हुआ है। अर्जुन ही आज युद्धप्रसङ्ग सामने देख कर धर्म्मसंकट में पड़ रहा है। वही आज अपने भोक्तात्मा को लक्ष्य बनाता हुआ–पाप पुण्य के व्यामोह में आसक्त होरहा है। वही आज शोकनिमग्न है। भगवान् 'सर्वधर्म्मान्०' आदेश से उसे ही धर्म्माधर्म्म के द्वन्द्व से बचाते हुए शोकसमुद्र से उबार रहे हैं। जो भगवान् उसी अर्जुन को पदे पदे युद्धकर्म्म में प्रवृत्त होने का आदेश दे रहे हैं, वे ही उसे सर्वकर्मपरित्याग का आदेश देने लगेंगे, यह सर्वथा लक्ष्यविरोध होगा। भगवान् अर्जुन से कहना यह चाहते हैं कि, तू अपने आपको [जीवात्मा को] इस युद्ध का कर्त्ता मान रहा है, और यही तेरे अनुशोक का कारण है। भूलता है। तू कुछ नहीं करता, कर सकता। हृदयस्थ अन्तर्य्यामी की प्रेरणा से ही सब कुछ होता है, होगा। तू अपना उत्तरदायित्व हटा कर-यच्चयावत् कर्मों से अपना कर्तृत्वहटाकर हृदयस्थ अन्तर्य्यामी पर सम्पूर्ण उत्तरदायित्व डाल दे। कभी शोक का प्रसङ्ग ही न आवेगा। सर्वश्री अभिनवगुप्ताचार्य्य नामक प्राचीन व्याख्याता ने सौभाग्य से इसी अर्थ का स्पष्टीकरण किया है। वे कहते हैं कि–"**यदिदं युद्धकरणे आसङ्गिकं बन्धुवधादि, तस्य सर्वस्याहं कर्त्ते त्यात्मधर्म्मतां परित्यज्य, तथाचार्य्यादिहननक्रियानिषेधे ममाधर्म्मो भविष्यतीति मनसा विहाय मामेवैकं सर्वकर्त्तारं परमेश्वरं स्वतन्त्रं शरणं सर्वस्वभावाधिष्ठायकतया व्रज। मा शुचः-किंकर्त्तव्यतामोहं मा गाः**" (अभिनवगुप्ताचार्य्याः)।

३४–ईश्वरार्पितानन्य भावनापूर्वक शास्त्रसिद्धकर्म्मानुगत्य का अनन्यशरणागतिलक्षण भक्तियोगत्व एवं यच्चयावत् कर्म्मकलापों में "सर्वधर्म्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" इति भगवद्वचन व्याकृत, अभ्यास साधित, दुःखादि द्वन्द्वाक्रमणनिवर्तक आत्मसमर्पणभाव —

आदेश वास्तव में अनुभवप्रसिद्ध, तथा प्राकृतिक है। हम प्रत्येक कर्म्म में यह मान बैठते हैं कि, इसकी सफलता–विफलता हमारी ही शक्ति पर निभर है। हम इस मोह में पड़कर यह भूल जाते हैं कि वास्तव में हम तो उस महातन्त्रायी ईश्वर की अव्यर्थ प्रेरणा के निमित्त मात्र हैं। वह जैसी जो प्रेरणा करता है,

हमें उसी का विवश बनकर अनुगमन करना पड़ता है। महायन्त्र में लगे हुए छोटे छोटे यन्त्रों का परिभ्रमण महायन्त्र-परिभ्रमण पर अवलम्बित है। ठीक यही स्थिति यहाँ है। जब अच्छे-बुरे-सभी भावों का सञ्चालक वह है, तो हमें उसका निमित्त बनने का क्या अधिकार है। उस तन्त्रायी की उस प्राकृतिक इच्छा का विश्लेषण जिन महर्षियों के आप्त वचनों द्वारा हुआ है, वह आप्तवचन संग्रह ही शास्त्र है। क्षत्रियवर्ग के लिए ईश्वर की यही इच्छा है कि, वह धर्म्मयुद्ध से कभी विमुख न हो। फलतः अर्जुन का युद्ध से विमुख होना ईश्वरेच्छा से विमुख होना है। और ऐसा करना अपने आपको पतनोन्मुख करना है। शास्त्रसिद्ध श्रौत-स्मार्त्त-कर्म्म ईश्वरेच्छानुगत हैं। इनका अनुष्ठान ही निःश्रेयसकर है। ईश्वरार्पितानन्यभावनापूर्वक शास्त्रसिद्ध कर्मों में प्रवृत्त रहना ही सर्वधर्म्मपरित्यागात्मक अनन्यशरणागति लक्षण भक्तियोग है, जिसका पूर्वपरिच्छेद में-'जो हुकुम' रूप से विश्लेषण हुआ है। कहने सुनने की बात नहीं है, अनुभव का विषय है। आप अपना उत्तरदायित्व अन्तर्य्यामी पर डाल कर देखिए तो सही, कैसी शान्ति मिलती है। खाते-पीते-उठते-सोते-जगते-अपने यच्चयावत् कर्म्मकलापों में यह अनुभव करते जाइए कि, अच्छा-बुरा जो कुछ होरहा है, सब उसी की इच्छा से उसी की प्रेरणा से। निश्चयेन इस अभ्यासवृद्धि के साथ साथ ही आपकी अन्तःशान्ति में भी वृद्धि होती जाएगी। एवं जिस दिन यह अभ्यास दृढमूल बन जाएगा, उस दिन आप पराशान्ति में ओत-प्रोत होजाएँगे। जो होना होगा, होकर रहेगा, होने दीजिए। आपत्तियाँ सामने आती हैं, आने दीजिए। सुख-दुःखादि द्वन्द्वों का आक्रमण होता है, होने दीजिए। बस होने दीजिए। आपतो निमित्तमात्र बने रहिए। लीलाधार की लीला के दर्शक बनिए, समालोचक मत बनिए। यही गीता शास्त्र की अनन्यशरणागति है, यही गीता का 'ऐश्वर्य्यबुद्धियोग' लक्षण ज्ञानकर्मोभयात्मक भक्तियोग है, जिसे प्रसादगुणाधिक्य से निष्काम-कर्मयोग की तुलना में उच्चासन प्रदान किया जासकता है। एवं जिस भक्तियोग का विश्लेषण-'सर्वधर्म्मान् परित्यज्य०' से हुआ है ॥ १ ॥

३५ इन्द्रियानुगति समुद्भूत "उन्मनस्त्व" एवं तज्जन्य शोकक्षोभ अथ च अव्ययानुगतिसमुपलब्ध "मन्मनस्त्व" भाव समधिगत पराशान्ति और भक्तियोगानुबन्धी इसी मनोभाव का "मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु"-पदेन समाधान—

जबतक आप का मन इन्द्रियों के वश में है, तबतक आप उक्त आदेश को कार्य्यरूप में परिणत नहीं कर सकते। बुद्धियुक्त मन इन्द्रियाराम बना रहे, यह एक पक्ष है, आत्माराम बना रहे, यह दूसरा पक्ष है। आप अपने मन में यह भावना ही क्यों करते हैं कि, हम इन्द्रियधर्म्मों के सञ्चालक हैं। इसी भावना का उपयोग आपको ईश्वरानुगति में करना चाहिए। यह भावना करनी चाहिए कि, मल्लक्षण ईश्वराव्ययात्मक श्वोवसीयस मन जैसी कामना करता है, उसी का मैं द्वार बनता हूं। यही मन का मन्मनस्त्व है। इन्द्रियानुगति जहाँ उन्मनस्त्व की प्रवर्त्तिका बनती हुई शोक-क्षोभ की जननी है, वहाँ अव्ययानुगति मन्मनस्त्व की प्रवर्त्तिका बनती हुई आत्मसाक्षात्कार द्वारा पराशान्ति की जननी है। भक्तियोगानुबन्धी इसी मन्मनोभाव का 'मन्मना भव०' इत्यादि द्वितीय श्लोक से स्पष्टीकरण हुआ है ॥ २ ॥

३६–इहलोक-परलोक-धर्म्म-आत्मा-ईश्वरादिपरक जातिसंस्कारबाधित धार्मिक व्यक्ति-सामान्य द्वारा व्यवहृत "सब गोविन्द करते हैं" इत्यात्मक आस्तिक्यभाव, इत्थंभूत आस्तिक्य-भाव का असार्वत्रिक-सम्पृक्तिसमुत्थ-त्रुटिमत्त्व, भक्तराजों का भगवन्नाम संकीर्तनात्मक उद्घोष एवम् सदसद्द्वन्द्वसमत्वात्मिका शरणागतिलभ्य अव्ययात्मप्रसादविकास तथा "तमेव शरणं गच्छ" श्लोकेन सर्वतोभाव का स्पष्टीकरण—

परलोक-धर्म्म-आत्मा-ईश्वर आदि भावों की सत्ता पर जातीयसंस्कारवश यथाकथंचित् विश्वास रखने वाले धार्मिक व्यक्ति अपने कर्त्तव्य-कर्म्मों के सम्बन्ध में यह सम्पुट लगाया करते हैं कि–'सब भगवान् की इच्छा से ही होरहा है। सब गोविन्द करते हैं'। सम्पुट अच्छा है, लाभकर भी। परन्तु, कब ? जब सर्वतो-भावेन यह संकल्प होता है। यदि हम किसी असत्कर्म्म में प्रवृत्त होते हैं, हमारे हाथों किसी का अपकार हो-जाता है, तो हम इश्वरेच्छा को मध्यस्थ बना डालते हैं। सत्कर्म्मप्रवृत्तियों में अहंकृतत्वाभिमान सुरक्षित रखते हैं। कहते अवश्य हैं कि–अजी हम क्या कर सकते हैं। सब भगवान् ही की कृपा का फल है। परन्तु इस कथन में भाषा दूसरी होती है, भावना और रहती है। हमारा अपना तो इस सम्बन्ध में ऐसा मन्तव्य है कि, जो वास्तव में ईश्वरभक्ति परायण हैं, वे कभी सत्कर्म्मों का अपनी वाणी से अभिनय नहीं करते। असत् कर्म्म में दोष अवश्य स्वीकार कर लेते हैं, परन्तु पुण्यकर्म्मों में मौन धारण कर लेते हैं। जो भक्तराज रात-दिन अपने कामों में भगवन्नाम का उद्घोष किया करते हैं, माला फेरा करते हैं, क्षमा करेंगे हमारे पाठक, ९९ प्रतिशत ऐसे भक्तराज भक्तियोग के वास्तविक स्वरूप से पराःपरावृत ही हैं। कर्त्तव्य कर्म्मनिष्ठभक्त को निरर्थक समय ही कहाँ मिलता है, जिसमें वह अपनी आध्यात्मिक भावना का उद्घोष करता फिरे। भगवान् कहते हैं–पराशान्ति भक्तियोग से, अनन्यशरणागति से मिलती अवश्य है। परन्तु–व्याज से, छल से, दम्भ से नहीं। अपितु–सर्वतोभावेन शरणागति से। यदि अच्छा होगया तो उसकी इच्छा। बुरा हो गया तो उसकी इच्छा। यही सर्वतोभाव है। सदसत् द्वन्द्व में समता प्राप्त करना ही सर्वतोभावात्मिका शरणागति है। ऐसी शरणागति से ही समत्वलक्षण बुद्धियोग का कालान्तर में उदय होता है, जो बुद्धियोग मत्प्रसाद (अव्ययात्म-प्रसाद-विकास) का मूलकारण माना गया है, एवं जिस प्रसादलक्षण अव्यय-विकास से पराशान्ति मिला करती है। 'तमेव शरणं गच्छ' इत्यादि तृतीय श्लोक ने इसी सर्वतो-भाव का स्पष्टीकरण किया है ॥३॥

३७–अवसरप्राप्त विपन्निवारणार्थ हनूमद्-भैरव-दुर्गा-पितृदेवताप्रभृति ईश्वरभक्तियों का कामानुबन्धिसमर्चन, इस अनन्यनिष्ठावञ्चित अन्यताधर्मावच्छिन्न बहुदेवताकसमर्चन का व्यभिचारित्व अथ च "एकत्व ममृतम्" सूत्रानुवर्तिनी अनन्ययोगान्विता अव्ययात्मानुगता भक्ति का अव्यभिचारित्व एवम् अनन्यनिष्ठया लक्ष्यभूत शास्त्रीय-कर्म्मानुष्ठान के प्रति एकान्त प्रेम—

देवतानुगामिनी आस्तिक प्रजा समय प्राप्त संकटों से त्राण पाने के लिए समय समय पर हनुमान्, भैरव, दुर्गा, पितृदेवता, आदि विविध ईश्वर भक्तियों की भक्ति किया करती है। ऐसी देवताभक्ति

ही सकामभक्ति कहलाई है। इन्द्रियधर्म्मवत् यह विविधदेवतानुगत भक्तिमार्ग भी तत्त्वतः अनन्यनिष्ठा से वञ्चित ही है। इसी अन्यता-धर्म्म से यह सकामभक्ति (बहुदेवताभक्ति) व्यभिचारिणी कहलाई है। अनेक देवतानुगमनत्व ही इस भक्ति का व्यभिचारधर्म्म है। अवश्य ही इस भक्ति से भी हमारे क्षणिक कार्य्य सिद्ध होते हैं। * परन्तु इस से पराशान्ति नहीं मिल सकती। पराशान्ति प्रवर्तिका तो वही भक्ति है, जिसमें एक धर्म्मानुगत अव्ययात्मा का ही समाश्रय है। ऐसी अनन्ययोगात्मिका एकयोगात्मिका-अव्ययात्मानुगता भक्ति ही अव्यभिचारिणी भक्ति कहलाई है। एकात्मानुगतत्व ही इस भक्ति का अव्यभिचार धर्म्म है। नानाभाव अशान्ति प्रवर्त्तक है, फलतः नानादेवतानुगतव्यभिचारभावापन्न भक्तिमार्ग में उसका आत्यन्तिक अभाव है। एकत्व ही अमृत है, यही पराशान्ति है। एकदेवतानुगत भक्तिमार्ग में ही वह प्राप्त होसकती है। हमारा भक्त समाज समझना होगा कि, यह भक्तियोग झञ्झा-ताल-मृदङ्ग-वादनपुरःसर महा समारम्भ में पुष्पित पल्लवित होता है। परन्तु, भगवान् कहते हैं-अनन्यभक्तियोग प्राप्ति के लिए तुम्हें पहिले स्वयं भी अनन्य बनना पड़ेगा। जनसम्पर्क से बचना पड़ेगा, एकान्त में रहना पड़ेगा। क्या जनसमाज में आना जाना छोड़ दिया जाय? नहीं, जासकते हो, जाना चाहिए। तभी तो लोकसंग्रह रक्षा होगी। परन्तु जनसमाज में फंसो मत। सबसे सहयोग रक्खो, परन्तु आसक्ति मत रक्खो-'अरतिर्जनसंसदि'। साथ ही अपने लक्ष्य-भूत शास्त्रीयकर्म्मानुष्ठान के लिए एकान्त प्रेमी भी बनो। तुम्हारा कोई काम प्रदर्शन की वस्तु नहीं बनना चाहिए। जनता तुम्हारे कर्म्मफल से ही लाभ उठावे, कर्म्म का उसे पता भी न लगे। विविक्तदेशों में अनन्यनिष्ठा से काम करते जाओ, ईश्वरभाव में निष्ठा सुरक्षित रक्खो, यही प्रस्तुत भक्तिमार्ग की सफलता की कुञ्जी है, जिसका—'मयि चानन्ययोगेन०' इत्यादि चतुर्थश्लोक में स्पष्टीकरण हुआ है ॥४॥

३८-इन्द्रियधर्म्मप्रवृत्त जीवात्मा द्वारा ईश्वराव्यय को उत्तरदायित्व निर्वहणार्थ अनन्याश्रयभाव से स्वसमर्पण एवं न्यस्तकर्म्म किन्तु, कर्म्मासक्तिमूढ मिथ्याचार के लक्षण का "कर्म्मेन्द्रियाणि संयम्य" द्वारा विवेचन—

'सर्वधर्म्मानपरित्यज्य' का समन्वय करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि, जीवात्मा इन्द्रियधर्म्मों (कर्म्मों) में प्रवृत्त अवश्य रहे, परन्तु इनका उत्तरदायित्व हृदयस्थ ईश्वराव्यय पर डालदे। यही सर्वधर्म्म-परित्याग है। सम्भव है-इस समन्वय पर अभी पाठकों की पूरी निष्ठा न हुई हो, एवं वे अब भी सर्वकर्म्म-त्यागलक्षणा कल्पित ज्ञाननिष्ठा को ही श्रेयःपन्था मान रहे हो। अवश्य ही-'मयि सर्वाणि कर्म्माणि संन्यस्य' श्लोक से इस मान्यता का एकान्ततः मूलोच्छेद होजाएगा। कर्म्म का परित्याग दो प्रकार से सम्भव है, पहिले यह लक्ष्य बना लीजिए। जीवनसाधक-आवश्यकतम-शारीरिक कर्म्मों के अतिरिक्त हमने दुराग्रह-वश अन्य श्रौतस्मार्त्त-लोकसंग्रहादि कर्म्मों का तो परित्याग कर दिया। परन्तु, मानसिक आसक्ति अभी बनी हुई है। रह रह कर ये भाव उठते हैं कि, अमुक-कर्म्म करते तो अमुक लाभ होगा। अमुक काम छोड़ देने से वञ्चित रहगए। यही कर्म्मत्याग का एक दृष्टिकोण है, जो भगवान् के ही शब्दों में केवल मिथ्याचार (ढोंग) है। यदि कर्म्म छोड़ दिया, परन्तु कर्म्मासक्ति बनी रही, तो यह कैसा त्याग! भगवान् कहते हैं—

---

*-कांक्षन्तः कर्म्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्म्मजा ॥ गी० ४।१२।

कर्म्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ गी० ३।६।

३९–कामनाविरहित कर्म्मसंस्कारों का निर्बन्धनत्व एवं निष्कामकर्म्म का कर्म्मत्याग संवेदिलक्षण—

ठीक इसके विपरीत यदि कामत्यागपूर्वक–इन्द्रियसंयम द्वारा लोकसंग्रहभाव से यदि आप कर्मभार्ग में प्रवृत्त हैं, तो निश्चयेन आपने संन्यासनिष्ठा प्राप्त करली। कर्मपरिग्रह और कामनात्याग, यही वास्तविक त्याग है। एवं यही कर्म्मत्याग का दूसरा दृष्टिकोण है। कामना से ही तो कर्म्मसंस्कार बन्धन के प्रवर्त्तक बनते है। जब कामना नहीं तो रहता हुआ भी कर्म्म बन्धन का प्रवर्त्तक नहीं बन सकता। अतएव ऐसा निष्काम कर्म्म एकप्रकार का कर्मत्याग ही माना जाएगा, जिसका निम्नलिखित शब्दों में समर्थन हुआ है–

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्म्मेन्द्रियैः कर्म्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ गी० ३।७।

तस्मात्—

असक्तः सततं कार्य्यं कर्म्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन् कर्म्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ गीता ३।१९।

४०–लोकसंग्रहात्मक विश्वस्थिति प्रतिष्ठापक सर्वहुतयज्ञ के संरक्षणनिमित्तकृत निष्काम-कर्म्म में प्रवृत्त कर्म्मठ व्यक्ति का कर्म्मबन्धनविमोक एवं भगवद्वचनों द्वारा तादृश कामनात्याग की परिभाषाएँ—

सिद्धान्त है कि, कर्म्म कभी बन्धन के कारण नहीं बनते। अपितु कर्म्मकामना–कर्मफलवासना ही बन्धन–प्रवर्त्तक हैं। आसक्ति रहने पर कर्म्म छोड़ दिया, तो सब कुछ व्यर्थ है। आसक्ति छोड़कर कर्म्म किया, तो सब कुछ सिद्ध है। जो व्यक्ति यह समझता है कि, कर्म्म का प्रेरक कोई और ही है, फल भी अन्याधीन है, ऐसा निःस्पृह व्यक्ति उस अध्ययात्मतत्त्व को जानता हुआ सतत कर्म्म करता हुआ भी कर्म्म लेप से पृथक् रहता है। जिस व्यक्ति के कर्म्म कामसंकल्प वर्जित हैं, उस के इन निष्काम कर्म्मों से ज्ञान का उदय होजाता है, एवं यह ज्ञानाग्नि उसके सञ्चित कर्म्मों को भस्मसात् कर उसे मुक्त कर देता है। कर्म्म-फलासक्ति परित्यागपूर्वक कर्म्म करता हुआ व्यक्ति सब कुछ करता हुआ भी कुछ नहीं कर रहा। लोक-संग्रहात्मक विश्वस्थिति प्रतिष्ठापक सर्वहुतयज्ञ की स्वरूप रक्षा के लिए निष्कामभाव से कर्म्म में प्रवृत्त रहने वाला कर्म्मठ कर्म्मबन्धन से एकान्ततः विमुक्त है। इसप्रकार अनेकधा बलपूर्वक कहा जासकता है कि, कामत्यागपूर्वक कर्मानुष्ठान में प्रवृत्त रहना ही श्रेयःपन्था है। एवं यही वास्तविक त्याग है। निम्नलिखित भगवद्वचन त्याग की उक्त परिभाषाएं ही हमारे सम्मुख रख रहे हैं।

न मां कर्म्माणि लिम्पन्ति न मे कर्म्म फले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्म्मभि र्न स बध्यते ॥ ४।१४।

यस्य सर्व्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्म्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ ४।१९।

त्यक्त्वा कर्म्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्म्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित् करोति सः ॥ ४।२०।

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म्म समग्रं प्रविलीयते ॥ ४।२३।

योगसंन्यस्तकर्म्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्म्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥ ४।४१।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्व्वभूतात्मभूतात्मा कुर्व्वन्नपि न लिप्यते ॥ ५।७।

नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यन्-शृण्वन्-स्पृशन्-जिघ्रन्-अश्नन्-गच्छन्-स्वपन्-श्वसन् ॥
प्रलपन् विसृजन्-गृह्णन्-उन्मिषन्-निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्त्तन्त इति धारयन् ॥
ब्रह्मण्याधाय कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ गी० ५।८,९,१०।

युक्तः कर्म्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ ५।१२।

सर्व्वकर्म्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्व्वन्न कारयन् ॥ ५।१३।

अनाश्रितः कर्म्मफलं कार्य्यं कर्म्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्नचाक्रियः ॥ ६।१।

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥ ६।२।

काम्यानां कर्म्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्व्वकर्म्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ १८।२।

४१-कर्म्मत्यागलक्षणसंन्यास, कामना (फलासक्ति) परित्यागलक्षणत्याग अथ च ईश्वराव्यय का एकमात्र कर्म्मतन्त्र-प्रवर्तकत्व और "मयि सर्वाणि कर्म्माणि" का "सर्वधर्म्मान् परित्यज्य" इस पूर्वोच्चरित मीमांसा से समन्वय-समतुलन—

अर्जुन को ही, हाँ वास्तव में केवल अर्जुन को ही लक्ष्य बना कर कर्म्मत्याग की कामत्यागभावना को लक्ष्य बनाते हुए भगवान् कह रहे हैं-(अर्जुन ! -तू मुझ में समस्तकर्मों का आध्यात्मिक चित्त से परित्याग करदे । आशापाश का एकान्ततः परित्याग करनेवाला, एवं ममत्व (आसक्ति) विरहित होकर शोकसन्ताप का परित्याग करता हुआ युद्ध कर । भगवान् एक ओर कर्म्मसंन्यास का आदेश देरहे हैं, साथ ही युद्धकर्म्म में अर्जुन को प्रवृत्त भी कर रहे हैं । दोनों आदेश एक साथ, और उसी अर्जुन के प्रति, जो व्याख्याताओं की दृष्टि में कर्म्मत्यागलक्षण संन्यास का अधिकार ही नहीं रख रहा । कैसी समस्या है ! क्या व्याख्याता, वे व्याख्याता-जो 'सर्वधर्म्मान् परित्यज्य' को अन्याधिकारिपरक लगाते हुए कर्मत्याग का उद्घोष कर रहे हैं,-इस समस्या का गीता शब्दों के आधार पर प्रयत्नसहस्रों से भी निराकरण कर सकेंगे ? यदि नहीं, तो यह दुराग्रह क्यों ? भगवान् का अभिप्राय स्पष्ट है कि, कर्म्मत्याग असम्भव है । केवल कामना-फलासक्तिपरित्याग ही त्याग से अभिप्रेत है । अर्जुन आज दुःखी इसलिए होरहा है, इसलिए शोकसन्ताप ज्वर से पीड़ित है कि, उसने अपने आप को (जीवात्मा को) युद्धकर्त्ता मान रक्खा है, जैसे सभी कर्मठ अपने कर्म्मों के कर्त्ता स्वयं को मान कर सुख-दुःखादिद्वन्द्वों में निमग्न रहते हैं । भगवान् कहते हैं-भूल कर रहा है अर्जुन ! ईश्वराव्यय ही कर्म्मतन्त्र का प्रवर्त्तक है । जिसदिन तू उस पर सब कर्मों का भार छोड़ देगा, शोक का लेश भी न रहेगा । कर्म्मत्याग की इसी वास्तविक परिभाषा का-'मयि सर्वाणि कर्म्माणि०' इत्यादि पञ्चम श्लोक से स्पष्टीकरण हुआ है, जो स्पष्टीकरण 'सर्वधर्म्मान् परित्यज्य०' की पूर्वोक्त मीमांसा से सर्वथा समतुलित है ॥ ५ ॥

४२-दृढमूल ईश्वराव्ययार्पणभाव का क्षणकाल के लिए भी अविस्मरण एवं नित्ययुक्त का स्वरूप—

मदाश्रयभाव, ईश्वराव्ययार्पणभाव वैसा दृढमूल होना चाहिए, जैसे हम अपने व्यावहारिक कार्य्यों में दृढमूल बने रहते हैं । 'भोजन से पेट अवश्य भरजाता है, इस निष्ठा से हमें कोई च्युत नहीं कर सकता । तथैव ईश्वरार्पण में भी यही दृढ प्रत्यय होना चाहिए कि, जो कुछ हम करते हैं, वह उसी की प्रेरणा है । कहना और बात है, समझना और बात है । समझना ही तत्त्व है । समझना भी यदा-कदा के लिए नहीं, अपितु सदा के लिए । स्वप्न में भी यह भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए कि, अमुक काम तो हमारे पुरुषार्थ से सिद्ध हो गया । आवेशपूर्वक अपने आप को ईश्वराव्यय के आश्रित करदेना चाहिए, एवं इस ईश्वरार्पणभाव को सदा अवधानपूर्वक सुरक्षित रखना चाहिए । यदि प्रज्ञापराधवश कभी इस नित्ययुक्तता में विच्छेद भी होजाय, तो तत्काल उसे -'यह भी उसी की प्रेरणा थी' भावनाद्वारा संभलजाना चाहिए ।

४३-बलान्नियोजित आत्मार्पणाङ्गीकार का भक्तियोगबाह्यत्व एवं श्रद्धा-वात्सल्य-स्नेह-काम-रति-पञ्चात्मक प्रेमाभक्तियों में श्रद्धानिस्यूत शरणागतिलक्षणा भक्ति का ऐश्वर्य्यबुद्धियोगोपोद्बलनत्व तथा "मय्यावेश्य मनो ये माम्"-गीतावचन की सङ्गति—

हम जानते हैं-राजदण्ड के भय से विवश होकर राजाज्ञा के प्रति हाँ में हाँ मिलानी पड़ती है। ऐसी स्वीकृति का इस भक्तियोग में कोई मूल्य नहीं है। इच्छापूर्वक होने वाला आत्मसमर्पण ही वास्तव में आत्मसमर्पण है, जिसे श्रद्धात्मिका शरणागति कहा जाता है। इसी परम श्रद्धा से युक्त ईश्वराव्ययशरणापन्न भक्तयोगी आत्मदृष्टि से युक्ततम माने गए हैं। तात्पर्य्य-अनन्यात्मशरणागति में, श्रद्धा-वात्सल्यस्नेह-काम-रति, इन पाँचों प्रेमा भक्तियों में से श्रद्धात्मिका भक्ति ही ऐश्वर्य्यबुद्धियोग की उपोद्बलिका मानी गई है, जिसका 'मय्यावेश्य मनो ये माम्०' इत्यादि षष्ठ श्लोक से स्पष्टीकरण हुआ है ॥ ६ ॥

४४-भौतिक पदार्थासक्त मनबुद्धि का स्वयंकर्तृत्वाभिमान, तज्जन्य विषयानुगत बौद्धिक विचार-विषयानुगत मानस संकल्प-प्रभावाच्छन्न जीवात्मा द्वारा ईश्वराव्यय के प्रति समर्पणलक्षणा भक्ति का अभाव एवं अभ्यासपूर्वक आत्मसमर्पण और "मय्येव मन आधत्स्व" की फलश्रुति—

उक्त ईश्वराव्ययात्मसमर्पणलक्षणा भक्ति प्राप्त कैसे हो? इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है। ऐन्द्रियक कर्मों का सञ्चालन प्रज्ञान मन के द्वारा होता है, मन का सञ्चालन बुद्धि के द्वारा होता है। भौतिक जगत् में आसक्त बुद्धि, और मन, दोनों के द्वारा भूतात्मा में स्वयंकर्तृत्व का अभिमान उत्पन्न हो जाता है। यही अभिमान बुद्धि और मन को मत्पर (ईश्वराव्यय पर) नहीं बनने देता। 'हम विचार पूर्वक करते हैं' इस प्रकार की बुद्धिमानी, और मनस्विता ही एक ऐसी दीवार है, जो मनोयुक्ता बुद्धि का ईश्वराव्यय के साथ योग नहीं होने देती। फलस्वरूप बुद्धि के विषयानुगत विचारों, एवं मन के विषयानुगत संकल्पों के प्रभाव में पड़े हुए जीवात्मा की ईश्वराव्यय के प्रति न तो समर्पण बुद्धि ही हो पाती है, न तदनुरूप संकल्प ही होपाता है। इस विप्रतिपत्ति के निराकरण का यही उपाय है कि, हमें अपने प्रत्येक कार्य्य में बार बार अवधान पूर्वक यह अभ्यास करना चाहिए कि-मेरे विचार वास्तव में उसके विचार हैं, मेरा संकल्प उसका संकल्प है। मन-बुद्धि तो उसके संकल्प-विचारों के केवल निर्गमन द्वार हैं। अवश्य ही इस सतत अभ्यास से कालान्तर में मनो-बुद्धि के द्वारा जीवात्मा का ईश्वराव्यय में समर्पण हो जाएगा। अभ्यास करने की देर है। साथ ही अभ्यास को दृढमूल बनाने की भी। निःसन्देह आत्मसमर्पण निश्चित है। भक्तियोगसाफल्य के इसी उपाय का-'मय्येव मन आधत्स्व' इत्यादि सप्तमश्लोक से स्पष्टीकरण हुआ है ॥ ७ ॥

४५-योगमायावच्छिन्न भी जीवात्मा का मनोबुद्धि-चिराभ्यस्त-अनन्यनिष्ठा द्वारा अव्ययात्मानुबन्धी ब्रह्मसम्पत्ति अधिकारित्व, गुणत्रयोर्जस्वित द्वन्द्वाघातों से निष्कृति एवं "मां च योऽव्यभिचारेण" द्वारा अनन्यशरणागतिलक्षण भक्तियोग के स्वरूप का निदर्शन—

इसप्रकार चिरकालिक अभ्यास से जिस का मनोबुद्धियुक्त जीवात्मा अनन्यनिष्ठा से, पूर्वप्रतिपादिता अव्यभिचारिणी भक्ति के बल से ईश्वराव्यय में अपने आपको अर्पित करदेता है, वह जीवात्मा स्व-

योगमायावच्छिन्न रहता हुआ भी योगमायानुबन्धी त्रिगुणभाव से अतीत होकर निर्गुण अनादि अव्ययात्मा (ईश्वराव्यय *) नुबन्धी नित्य ब्रह्मसम्पत्ति का अधिकारी बनजाता है, शाश्वतब्रह्म (अव्ययब्रह्म) की पराशान्ति का सत्पात्र बनजाता है। उस दशा में पहुँचे बाद गुणत्रय से सम्बन्ध रखने वाले किसी द्वन्द्व का इस द्वन्द्वातीत भक्त पर आक्रमण नहीं होने पाता। अपितु यह गुणातीत ईश्वराव्ययवत् सुख-दुःख, भाव-अभावादि यच्चयावत् द्वन्द्वों में एकरस बना रहता है। अनन्यशरणागतिलक्षण भक्तियोग के इसी प्राकृतिक फल का-'मां च योऽव्यभिचारेण०' इत्यादि अष्टम श्लोक से स्पष्टीकरण हुआ है॥ ८॥

४६- धर्म्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य्य-सम्पत्ति-मूलस्रोत ईश्वराव्यय द्वारा भक्तप्रवर नरसी-प्रह्लाद आदि के योगक्षेम का निर्वहण एवं बुद्धियोगनिष्ठाविच्युत स्वपुरुषार्थाश्रयपरायण, अहर्निश हरिनाम संकीर्तन व्यसनयुक्त भी अशन-वसन-चिन्ता चक्रारूढ़, लोकायतिक आडम्बर-ग्राहियों की विचलित आस्तिक्यनिष्ठा और 'अनन्या श्चिन्तयन्तो माम्' के स्वरूप का उपबृंहण—

श्रद्धा-विश्वासात्मिका एकलक्षणा अनन्यात्मशरणागति, किंवा प्रपत्ति के अनुगामी भक्त की दृष्टि में यद्यपि योग-क्षेम की चिन्ता का कोई महत्त्व नहीं है, तथापि इस मार्ग में प्रवेश करनेवाले प्रपत्ति-मार्गानुयायियों के सम्बन्ध में आरम्भ दशा में यह अवश्य ही कहा जासकता है कि, उन्हें यदाकदा योग-क्षेम की भी चिन्ता हो पड़ती है। जब तक अभ्यास दृढ़मूल नहीं होजाता, तब तक मनबुद्धि में अव्ययात्मानन्यता उत्पन्न नही होती। एवं तब तक यदाकदा सांसारिक द्वन्द्वों को प्रवेश करने का अवसर मिल जाता है। फलस्वरूप जीवात्मा की दृष्टि यदाकदा अपने पुरुषार्थ पर चली जाती है और इसप्रकार यदाकदा वह योग-क्षेम की चिन्ता में निमग्न होजाता है। आरुरुक्षु ऐसे भक्तों की इस चिन्ता की आत्यन्तिक निवृत्ति करते हुए भगवान् कहते हैं कि-अवश्य ही जब तक शरणागतिमार्गारूढ व्यक्ति में अनन्यता नहीं आजाती, तब तक उसे योग-क्षेम की चिन्ता होगी। परन्तु जिस दिन उस की यह प्रपत्ति अनन्य होजाएगी, सदा सर्वदा के लिए उसका यह विश्वास दृढ होजाएगा कि-'ईश्वराव्ययेच्छा ही सर्वकर्मसञ्चालिका है, तो उस अवस्था में स्वयं ईश्वरीयबल से ही भक्तवर नरसी, प्रह्लाद आदि की भांति उसकी सब आवश्यकताएँ पूरी होती रहेंगी एवं उसे स्वयं को योगक्षेम की चिन्ता न करनी पड़ेगी। सिद्धान्त केवल अन्धश्रद्धानुगामी नहीं है, अपितु तात्त्विक है, सत्य है। ईश्वराव्यय सर्वज्ञ है, पूर्ण है, धर्म्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य्य सम्पत्तियों का मूलस्रोत है। जीवात्मा अल्पज्ञ है, अपूर्ण है, बुद्धियोगनिष्ठाविच्युति से धर्मादि चारों सम्पत्तियों से वञ्चित है। जब तक इसे अपने पुरुषार्थ पर भरोसा है, तबतक योगक्षेम की चिन्ता दुर्निवार है। जिस दिन यह अनन्य भाव से अपने आप को उस पूर्णेश्वर में समर्पित कर देता है, उसी क्षण उसकी पूर्ण विभूतियों का इस अपूर्ण में समावेश होजाता है। उस दशा में योग-क्षेम की तो क्या कथा, विश्व की कोई भी विभूति ऐसी नहीं बच रहती, जिसे यह प्राप्त न कर सकता हो। जो लोग अहोरात्र ईश्वर का उद्घोष करते हुए भी, हरिनामसंकीर्त्तन में

---

* अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥ (गीता १३।३१)

मस्त रहते हुए भी खाने-पीने की चिन्ता से संत्रस्त रहते हैं, विश्वास कीजिए-उनका यह उद्घोष केवल बाह्याडम्बर है। भक्तिमार्ग उनके स्वार्थ साधन के लिए एक बहाना है। भोले समाज की दृष्टि में भले बन कर वे उस से अनुचित लाभ उठाने के लिए ही यह आडम्बर कर रहे हैं। ऐसे आडम्बरियों से, ईश्वरभक्तों से तो वे कहीं श्रेष्ठ माने जाएंगे, जो ईश्वर को न मान कर अपने पुरुषार्थ पर भरोसा करते हैं। कम से कम वे लोकायतिक अपने आप को और अपने समाज को तो धोका नहीं देते। आस्तिक भारतवर्ष की आस्तिक प्रजा आज ९९ प्रतिशत इसी योग-क्षेम की चिन्ता में निमग्न है। बड़े से बड़े नेता, सामान्य से सामान्य व्यक्ति, सभी के सामने आज अन्न-वस्त्र का महद्भय समुपस्थित है। प्रतिक्षण उसके सम्मुख-क्या होगा, क्या करेंगे, क्या खाएँगे की चिन्ताएँ नृत्य कर रही हैं। क्या यही ईश्वरनिष्ठा है, क्या इसी को आस्तिकता कहते हैं, क्या यही सनातन धर्म है, क्या ऐसे सनातन धर्मियों से ही २० करोड़ संख्या की पूर्ति समझी जारही है? हम समझते हैं-यह ईश्वर सत्ता का विशुद्ध दुरुपयोग है। ऐसे आस्तिकों की तुलना में तो नास्तिकवर्ग कहीं श्रेष्ठ है, जो अपने समय का आडम्बर में दुरुपयोग न कर लौकिक-पुरुषार्थ तो कर रहा है। जो वास्तव में प्रपन्न है, शरणागत है, ईश्वरनिष्ठ है, उसके सामने कभी योग-क्षेम का प्रश्न उपस्थित ही नहीं होसकता। मानवस्वभावसुलभ इसी स्वाभाविक चिन्ता का मूलोत्पाटन करते हुए भगवान् ने शरणागति-मार्ग की निष्कण्टकता का विश्लेषण किया है, जिसका-'अनन्याश्चिन्तयन्तोमाम्०' इत्यादि नवमश्लोक से स्पष्टीकरण हुआ है। ९।

४७-'तत्राखिलामरमयो हरि राविरासीत्' गजेन्द्रमोक्ष के इस प्रत्ययसूत्र से अपरिचितों के आरम्भिक आस्तिक्य की उत्तरकाल में नास्तिक भावोपपन्नता एवं तन्निरसन प्रयास—

यह कहते सुनते देखा गया है कि-"क्या करें, हम तो उसे कभी नहीं भूलते, परन्तु, देखते हैं-आपत्तियों से पीछा ही नहीं छूटता। उसे कभी नहीं भूलते, फिर भी समय पर वह हमारी रक्षा करने नहीं 'आता'। कभी कभी तो यह अविश्वास इस सीमा पर पहुँच जाता है कि, अपनी पूर्वदशा में ईश्वरपरायण आस्तिक भी उत्तर दशा में घोर नास्तिक बन जाता है और श्रेणिविभागापेक्षया ऐसे अविश्वस्त समुदाय में यह प्रवाद चल पड़ता है कि-"ईश्वर नाम का कोई तत्व प्रथम तो है ही नहीं और यदि है भी तो उसे सरलता से प्राप्त कर लेना असम्भव है। यहां रात दिन परिश्रम करते करते भी पेट नहीं भरता, तुम कहते हो, उसका स्मरण करो। समय कहां से आवे। फिर-"भूखे भजन न होइ गुंसाई" भी तो कुछ तथ्य रखता है। जाने भी दो, ऐसे दुःसाध्य साध्य को सिद्ध-प्रसन्न करने के लिए प्रयास करना व्यर्थ है"। भक्तिमार्ग की इसी विप्रतिपत्ति का, जो कभी कभी हमें ईश्वरनिष्ठा से च्युत कर दिया करती है-निराकरण करते हुए भगवान् कहते हैं कि, भूलते हो।

४८-नित्य आत्मयुक्त के लिए सर्वथा सुलभ अव्ययेश्वर एवं कर्तव्यकर्म्मों के साथ ईश्वरीय भावना का अनन्ययोग सम्पादन—

कौन कहता है-तुम्हें समय नहीं मिलता। कौन कहता है-तुम परिश्रम करना छोड़ दो। कौन कहता है-अपने जीवनौपयिक कर्त्तव्यकर्म्मों को छोड़ कर ईश्वरस्मरण के लिए पृथक् समय निकालो। जो कुछ

तुम कर रहे हो, करते जाओ। केवल उस कर्त्तव्य कर्म्म के साथ ईश्वरीय भावना का अनन्ययोग करते जाओ। करो सब कुछ, भावना यह रक्खो कि, उसी की प्रेरणा से होरहा है, वही कर रहा है। विश्वास करो- नित्य आत्मयुक्त ऐसे योगी के लिए वह अव्ययेश्वर सर्वथा सुलभ है। मार्ग में पैर तो रक्खो, तुम देखोगे- जिसे तुमने दुष्प्राप्य मान रक्खा है, वह कैसा सुलभ है। सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति के लिए-जिन्हें तुम सुलभ मान रहे हो-फिर भी इतस्ततः तुम्हें दौड़ना पड़ता है। परन्तु वह तो केवल भावनामात्र से प्राप्त किया जासकता है। प्राप्त क्या किया जासकता है, वह तो सदा सर्वदा प्राप्त ही है। केवल दृष्टिकोण का अन्तर है। जिस दिन तुम अपने कर्त्तव्य-कर्म्मों के साथ तद्भावना का अनन्य भाव से योग करदोगे, उसी दिन तुम उस हृदयस्थ ब्रह्म के दर्शन करलोगे और इसप्रकार बड़ी सुगमता से, किन्तु थोड़े मनोयोग से वह सर्वथा सुलभ बन जायगा। 'अनन्यचेताः-सततं०' इत्यादि दशम श्लोक से इसी भाव का विश्लेषण हुआ है। १०।

४६-'न मे भक्तः प्रणश्यति' इति भगवत्प्रतिज्ञात अनन्यशरण्यत्व, एवं अव्यक्तज्ञान-कर्म्मात्मक ज्ञानबुद्धियोगानुगत ज्ञानयुक्त और जीवात्मज्ञानक्षरकर्म्मात्मक धर्म्मबुद्धियोगानुगत कर्म्मयुक्त, उभयापेक्षया द्वन्द्वमुक्त, अव्ययपरक भक्त्यनुगामी भक्त पर अव्ययेश्वर का प्रियभाव—

'न मे भक्तः प्रणश्यति, यो मे भक्तः स मे प्रियः' इत्यादि भगवत्-प्रतिज्ञाओं के अनुसार अनन्य शरणागत ऐसा प्रपन्न भक्त कभी म्लान नहीं हो सकता। पूर्व में बतलाए गए सतत अव्ययात्म-भावना जनसम्पर्कारति विविक्तदेश-सेवित्व आदि उपायों को अग्रणी बना कर जो अव्ययेश्वर की उपासना करते हैं, परमश्रद्धा से युक्त वैसे भक्त निश्चयेन अपने सगुण-जीवात्मभाव से विमुक्त होकर निर्गुण अव्ययात्मभाव में परिणत होते हुए द्वन्द्वविमुक्त बन जाते हैं, एवं यही उन भक्तों की मत्परता (अव्ययपरता) है ! ऐसे भक्त, ऐसी भक्ति के अनुगामी अव्यक्तज्ञानकर्म्मात्मक ज्ञानबुद्धियोगानुगत ज्ञानयोगियों की अपेक्षा, तथा जीवात्म-ज्ञान-क्षरकर्म्मात्मक धर्म्मबुद्धियोगानुगत कर्म्मयोगियों की अपेक्षा अव्ययात्मा के निकटतम हैं, एवं यही इनका उसके लिए प्रियभाव है, जिसका—'ये तु धर्म्यामृतमिदम्०' इत्यादि एकादशश्लोक से स्पष्टी-करण हुआ है ॥११॥

५०-वैज्ञानिक श्रीकृष्ण का हृदयस्थ ईश्वराव्ययत्व, तदुपास्यतापरक विनियोग, धर्म्मग्लान्यधर्माभ्युत्थानोपशमनार्थ तदंशावतार एवम् अव्ययात्महृदयावच्छिन्न निर्गुणोपासनानिःशक्त-सामान्याधिकारियों के निःश्रेयसार्थ आचार्य्यों द्वारा लोकसंग्रहधिया शास्त्रविहित श्रौतस्मार्तकर्म्म प्रति निष्ठापूर्वक गुरु-अवतार-प्रतिमादि की उपासना का स्वरूप निरूपण—

उक्त वचनों की मीमांसा से हमें निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, गीता में जिस उपासनातत्त्व का विश्लेषण हुआ है, उसकी मूलप्रतिष्ठा हृदयस्थ ईश्वराव्यय ही है, जिसे वैज्ञानिक श्रीकृष्ण कहा जाता है। तत्त्वात्मक निर्गुण यही अव्ययकृष्ण वास्तव में उपास्य है। यह ही उपास्य है, जिसका समय २ पर धर्म्मग्लानि-

उपशम के लिए अंशावतार हुआ करता है। जो सामान्याधिकारी अव्ययात्मा के इस हृदयावच्छिन्न निर्गुण अव्ययात्मा की उपासना करने में असमर्थ हैं, उनके कल्याण के लिए साम्प्रदायिक आचार्य्यों ने अवतार, गुरु अवतारप्रतिमा आदि को मध्यस्थ बनाते हुए आरम्भ में इन माध्यमों की उपासना का आदेश दिया है, जो आदेश लोकसंग्रहदृष्टि से संग्राह्य कहा जासकता है। तत्त्वतः गीता की उपासना का यही चरम लक्ष्य है कि, शास्त्रविहित-श्रौत-स्मार्त्त कर्म्मों में आरूढ रहते हुए प्रत्येक कर्म्म में अनन्यनिष्ठा से अव्ययात्मभावना का अनुगमन करते रहना चाहिए।

५१- सामान्यजनों के लिए निरूपित सगुणोपासना, तद्द्वारा निर्गुणाव्ययभक्त्यधिकारित्वप्राप्ति, शास्त्रोक्त वर्णाश्रमाचारादि का एकान्तपक्षपातित्व, एवं अद्यतन भक्तिमार्ग का तत्प्रातीप्य अथापि लोकैषणा वित्तैषणा निमग्न सम्प्रदायवाद का झञ्झा-ताल-मृदङ्गाश्रयीभूत भूतोपासन एवं आवरणवेष्टित पङ्क प्रक्षालनव्यर्थ प्रयासानुबन्धि-गाङ्गवारि-उदाहरणोपक्रम—

जो अव्ययात्मभावनानुगमन में असमर्थ हैं, उन्हें सुविधानुसार समय निकाल कर सगुणोपासना का अनुगमन करना चाहिए, जिस की इतिकर्त्तव्यता में अवतारादि प्रतिमापूजन, भगवन्नाम-संस्मरण, भगवत्भक्तसेवा, आदि कर्त्तव्य समाविष्ट हैं। ये सब बाह्यउपाय उस मध्यावरण को हटाने मात्र में उपयोगी हैं, जिन से अव्ययात्मनिष्ठा प्राप्त नहीं होरही। इन उपायों से आत्मविशोधन होता है, सत्त्वगुणातिरेक होता है। कालान्तर में शनैः शनैः ऐसा सगुणोपासक उस गीतालक्ष्यभूत निर्गुणाव्ययभक्ति का अधिकारी बन जाता है, जो भक्ति भक्त का परम पुरुषार्थ माना गया है। इस प्रकार लोकप्रचलित प्रतिमापूजन-नामसंकीर्त्तनादिलक्षण भक्तिमार्ग गीतादृष्टि से साधन कोटि में ही प्रतिष्ठित है। इस साधन दशा में भी यह ध्यान रखना पड़ेगा कि, कहीं हम श्रौत-स्मार्त्त शास्त्रीय कर्म्मों में तो उपेक्षा नहीं कर रहे। शास्त्रोक्त-वर्णाश्रमाचार-धर्म्मानुगत कर्म्ममार्ग पर आरूढ रहने वाले के लिए ही उक्त साधन लक्ष्य पर पहुँचाने में समर्थ होते हैं। इस विषय पर बल इस लिए दिया जारहा है कि, आज भक्तिमार्ग का अतिशयरूप से दुरुपयोग किया जारहा है। यदि इस सम्बन्ध में यह भी कह दिया जाय, तो अत्युक्ति न मानी जाएगी कि-वर्त्तमान भक्तिमार्ग वर्णाश्रम धर्म्म का विरोधी बन रहा है। यह देखा गया है कि, श्राद्धकर्म्म में जिन योग्य ब्राह्मणों को भोजन कराने का विधान हुआ है, साम्प्रदायिक जगत् में उस शास्त्रविधि की उपेक्षा कर उसे निमन्त्रित किया जाता है, जो उस सम्प्रदाय में दीक्षित है। एक श्रौत-स्मार्त्त धर्म्मपरायण ब्राह्मण की उपेक्षा की जाती है, एवं नाममात्र के शूद्र-वैष्णव को श्राद्धभोजी मान लिया जाता है। एक शूद्र उनके लिए व्यवहार्य्य है जिसने गले में कण्ठी पहनली हो। परन्तु, वह सदाचारी-विद्वान् ब्राह्मण भी उन के लिए अव्यवहार्य्य है, जिस ने सम्प्रदायाचार्य्य से कान में न मन्त्र सुना, न कण्ठी धारण की। समय विशेषों में प्रादुर्भूत भारतीय सम्प्रदायों का जन्म जिस वेदशास्त्र को मूलाधार बनाकर सामयिक परिस्थिति को संभालने के लिए हुआ था, वही सम्प्रदायवाद व्यक्ति प्रतिष्ठामूलक स्वार्थों की रक्षा-लिप्सा में पड़कर अपने उस मूलाधार को छोड़ चुका है, यह वर्त्तमान संकुचित साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से स्पष्ट होरहा है। दूसरे शब्दों में यों कह लीजिए कि, जिस भक्तिमार्ग के प्रचार-प्रसार के लिए सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ था, वह आध्यात्मिक

भक्तिमार्ग वर्त्तमान साम्प्रदायिक आचार्य्यों की लोकैषणा, तथा वित्तैषणा से विशुद्ध भूतवाद बन गया है। प्रातः काल से सायंकाल पर्य्यन्त ही क्यों, चौबीसों घन्टों हम वित्तैषणा में निमग्न रहते हैं। प्रतिक्षण-प्रतिपल हमारी बुद्धि-मन भौतिक-सम्पत्ति संग्रह के उपाय खोजने में लगे रहते हैं। और अपने इस अर्थकाण्ड को छिपाने के लिए झञ्झा-ताल-मृदङ्ग का सहारा लेकर नामसंकीर्त्तन द्वारा भक्तिमार्ग का आश्रय ढूंढा करते हैं। हम मानते हैं पवित्र गाङ्गेय में दूषित कीटाणुओं को नष्ट करने की शक्ति है, और पर्य्याप्त मात्रा में हैं। परन्तु, साथ ही यह भी जानते हैं कि, यदि एक काच की बोतल में कीचड़ भर कर उस का मुख दृढरूप से बन्द कर उसे गङ्गाप्रवाह में डाल भी दिया जाता है, तब भी आवरण वेष्टित कीचड़ की पवित्रता असम्भव है। ठीक इसी भांति नामसंस्मरण में सभी कुछ शक्तियां विद्यमान हैं, यह मानते हुए भी यह कहना पड़ेगा कि, जिन की वृत्तियां भूतोपासनाओं में संलग्न हैं, जो अपने व्यावहारिक जगत् में अपने पुरुषार्थ को ही प्रधानता दे रहे हैं, उन का यह नामस्मरण कभी उन्हें भक्ति के लक्ष्य पर नहीं पहुँचा सकता।

५२-ज्ञानकर्म्ममार्गापेक्षया भक्तिपथ का आपातसारल्य, तद्द्वारा सर्वधर्म्मपरित्याग पूर्वक अनन्यनिष्ठात्वेन अध्ययात्मप्रपत्यर्थ शरणागतिलक्षण आत्मार्पण एवं प्रकरणोपात्त उपासनालक्षण निरुक्तिप्रक्रम—

ज्ञान और कर्म्म की अपेक्षा भक्तिमार्ग सरल है, यह माना जासकता है, परन्तु जब हम इस मान्यता का विश्लेषण करने चलते हैं, तो कहना पड़ता है कि, सर्वथा सरल प्रतीयमान यह भक्तिमार्ग एक दृष्टि कोण से ज्ञान-कर्म्म की अपेक्षा भी कहीं जटिल पथ है। अनन्यनिष्ठा से आत्म समर्पण ही वह दृष्टि कोण है, जिसे प्राप्त कर लेना बालक्रीड़ा नहीं है। नामसंकीर्त्तन करने वाले भक्तों में से कितने ऐसे भक्त मिलेंगे, जिन्हें सर्वधर्म्मपरित्याग पूर्वक अनन्यनिष्ठा से अध्ययात्मप्रपत्ति प्राप्त होगई है ? मुकुलिततनयन बन कर विचार कीजिए, और फिर इस राजमार्ग के तथ्यातथ्य का निष्कर्ष निकालिए। हमारा तो इस सम्बन्ध में केवल यही निवेदन है कि, गीताप्रतिपादित भक्तिमार्ग श्रौत-स्मार्त्त-शास्त्रीय आदेशोपदेशों को मूलाधार बनाकर ही प्रवृत्त हुआ है। वर्णाश्रमधर्म्म ही भक्तिमार्ग की मूलप्रतिष्ठा है। इस की उपेक्षा कर कोई भी सम्प्रदाय भारतीय वैध भक्तिमार्ग की-जिसे अव्यभिचारिणी भक्ति कहा गया है—रक्षा नहीं कर सकता। फलतः वर्णाश्रमधर्म्मानुगत भक्तिमार्ग ही गीता का वास्तविक भक्तिमार्ग है, एवं यही आत्मप्रपत्तिलक्षणा अनन्यशरणागति है, जिस का विभिन्न आचार्य्यों ने विभिन्न प्रकार से समन्वय किया है। प्रसङ्गोपात्त गीता-सम्मत शरणागति का दिग्दर्शन कराया गया। अब प्रकरणोपात्त उपासना-लक्षणों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

५३-भारतीयपरिभाषापद्धति में लक्षणनिर्वचन का महत्त्वपूर्ण परीक्षाङ्गत्व एवं अद्वैत-निष्ठ भगवान् शङ्कराचार्य्य निरुक्त उपासनालक्षण निर्वचन, अपिच मीमांसाधिया तल्लक्षणों का यथासंख्य दिग्दर्शन—

प्रकरण का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है—उपासनालक्षणनिर्वचन। लक्षण से लक्ष्यीभूत तत्त्व का भली-भांति विश्लेषण होजाता है, अतएव लक्षणपरीक्षा को भारतीयपरिभाषा में एक महत्त्वपूर्ण परीक्षाङ्ग माना गया

है। अद्वैतनिष्ठ भगवान् शङ्कराचार्य्य, विशिष्टाद्वैतनिष्ठ भगवान् रामानुजाचार्य्य, शुद्धाद्वैतनिष्ठ भगवान् वल्लभाचार्य्य, आदि सम्प्रदायाचार्य्यों ने उपासना के जिन जिन लक्षणों का उद्घाटन किया है, उन सबकी मीमांसा का न तो प्रकृत में अवसर ही है, एवं न विशेष उपयोग ही। यहाँ केवल श्रीशङ्कराचार्य्यसम्मत लक्षण की मीमांसा ही पर्य्याप्त होगी। क्योंकि, भगवान् शङ्कर ने उपासना का जो लक्षण किया है, अन्य साम्प्रदायिकों के लक्षणों की तुलना में वही विशेषरूप से विज्ञानभित्ति पर प्रतिष्ठित है। शङ्करसम्मत लक्षण के अतिरिक्त संगृहीत अन्य शास्त्रसम्मत लक्षण भी प्रामाणिक माने जासकेंगे। उन सब लक्षणों की यहाँ मीमांसाक्रम से तालिका उद्धृत कर दी जाती है, जिनका उसी संख्याक्रम से दिग्दर्शन कराया जाएगा—

१—"उपासनं नाम-समानप्रत्ययप्रवाहकरणम्" (शाङ्कर भाष्य ४।१।७।)

२—"निर्भ्रान्तज्ञानसहयोगेनान्यस्मिन्नन्यभावनाबुद्धिरुपासनम्"।

३—"लक्ष्यान्तरसिद्ध्यर्थमन्यलक्ष्यस्थितिरुपासनम्"।

४—विश्वासगर्भितश्रद्धा-सूत्रसहयोगेन लक्ष्ये मनोबुद्ध्यर्पणमुपासनम्"।,

५—"उपास्यदेवताभक्तिप्राप्त्यर्थमनुष्ठीयमानकर्म्मानुगमनमुपासनम्"।

६—"जीवात्मनः परमात्मभक्तिकरणमुपासनम्"।

७—"उपास्यवृत्त्यनुकूलवृत्तिधारणमुपासनम्"।

८—"श्रद्धानसूत्रार्पितमनोवृत्त्यनुकूलदृष्टिसूत्रार्पितायाः श्रद्धेयपरिस्थित्यनुरोधवदपेक्षा-बुद्धिसहकृताया भावनाबुद्ध्यास्तदनुरोधापेक्षितवृत्तिस्थिरत्वमुपासनम्"।

९—"आधिभौतिके कस्मिंश्चिदर्थे बाह्यदृष्टिं विन्यस्य तन्मूलकमसंनिकृष्टे कस्मिंश्चिदाधिदैविकेऽर्थान्तरे मनोदृष्टिसमुन्नयनमुपासनम्"।

१०—"प्रत्यक्षप्रत्ययेन परोक्षेऽर्थे प्रत्ययप्रवाहसम्पादनमुपासनम्"।

११—"बुद्धिसंनिकृष्टार्थद्वारा विदूरार्थ-प्रत्ययधारणमुपासनम्"।

१२—"विजिज्ञासितस्य भावस्य यत्किञ्चित्-रूपं प्रतिपद्य तत्र सत्यत्वेनास्था-धारणं श्रद्धानम्। श्रद्धानपारवश्यात् तदनुकूला वैज्ञानिकी परिचर्य्या ध्यानादिरूपा बुद्धियोगस्तदुपासनम्"।

१३—"अयमीश्वरोऽस्तीति विश्वासभाजां दृढप्रत्ययेन सूर्य्ये, उद्गीथे, गुरौ, अवतारपुरुषे, तत्प्रतिमायां वा ईश्वरोचितकर्म्मकरणमुपासनम्"।

१४—"मनसा धार्य्यमाणेऽर्थे मनःसंयमेन बुद्धिस्थैर्य्यमुपासनम्"।

इत्यादि—

५४–समानप्रत्ययप्रवाहकरणलक्षणात्मिका उपासना, अन्तःकरण–अन्तःकरणवृत्ति–विषय-त्रिकावच्छिन्न चैतन्यसमन्वयी 'प्रत्यय', ज्ञातृ–ज्ञानसाधन–ज्ञेय–त्रिचैतन्य-धारा–समन्वित-विषयप्रत्यक्ष, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' नुसारी पदार्थेन्द्रियवर्ग भौतिकविषयों का ब्रह्मात्मकत्व एवं 'घटमहं जानामि' प्रत्यय में पदार्थेन्द्रिय भौतिकविषयत्रयी की समन्विति—

भगवान् शङ्कर का कहना है कि, "ज्ञान का जो समानप्रवाह है, वही उपासना है, वही उपासना है"। शङ्करलक्षण में प्रथमलक्षणसमन्वय 'प्रत्यय' की समानप्रवाहता का उल्लेख हुआ है। वेदान्तपरिभाषानुसार 'प्रत्यय' उस ज्ञान का नाम है, जिसमें अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य, अन्तःकरणवृत्यवच्छिन्न चैतन्य, एवं विषयावच्छिन्न चैतन्य, इन तीन चैतन्यों का समन्वय रहता है। ज्ञाता, ज्ञानसाधन, ज्ञेय, तीनों की चैतन्य (ज्ञान धारा के समन्वय से ही ज्ञान (विषयज्ञान–विषयप्रत्यक्ष) का उदय होता है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस सिद्धान्त के अनुसार ज्ञाता 'अहं' पदार्थ भी ब्रह्मात्मा (ज्ञानात्मक) है, ज्ञानसाधन इन्द्रियवर्ग भी ब्रह्मात्मक है, एवं ज्ञेय भौतिक विषय भी ब्रह्मात्मक ही हैं। इन तीनों का जबतक एकत्र समन्वय नहीं होजाता, जबतक प्रत्यय (विषयप्रत्यक्ष) नहीं होसकता। उदाहरण के लिए 'घटमहं जानामि' इस घट प्रत्यय को ही लक्ष्य बनाइए। आपके सामने घट रक्खा हुआ है। पुरोऽवस्थित इस घट के आधार पर आपको–'मैं घड़े को जानता हूं' यह प्रत्यय होता है। इस घटज्ञान में द्रष्टा आत्मा का ज्ञान, दृश्य घट का ज्ञान, दर्शनसाधक इन्द्रियज्ञान, तीनों का समन्वय हो रहा है।

५५–त्रिधारासमन्वित 'त्रिपुटीज्ञान', 'घटमहं जानामि' इत्यात्मक पूर्वोक्त उदाहरण के –'चक्षुरिन्द्रिय घट पर जाती है अथवा चक्षुरिन्द्रिय पर घटाकार उपस्थित होता है'-प्रश्नात्मक शङ्काशङ्कुका निरसन एवं तेजोमण्डपरिधिगामी चक्षुर्व्यापार का अप्राप्यकारित्व—

उक्त घटज्ञान में क्योंकि, तीन ज्ञानधाराओं का समन्वय हो रहा है, अतएव यह प्रत्यय 'त्रिपुटी ज्ञान' नाम से व्यवहृत हुआ है। प्रश्न इस सम्बन्ध में यह उपस्थित होता है कि, घटविषय पर हमारी चक्षुरिन्द्रिय जाती है, अथवा घटाकार चक्षुरिन्द्रिय पर आता है? सर्वसाधारण की प्रत्यभिज्ञा के अनुसार यद्यपि इस प्रश्न का यही उत्तर होता है कि, विषयों पर हमारी दृष्टि जाती है। तथापि विज्ञानदृष्ट्या यह उत्तर इसलिए असमीचीन है कि, अपने आध्यात्मिक मण्डल को छोड़ कर किसी भी इन्द्रिय का विषय पर जाना सम्भव नहीं है। शब्द श्रोत्रेन्द्रिय पर आता है, गन्ध घ्राणेन्द्रिय पर आता है, रस रसनेन्द्रिय पर आता है, स्पर्श त्वगिन्द्रिय पर आता है। एवमेव रूप (आकार) भी चक्षुरिन्द्रिय पर आता है, न कि चक्षुरिन्द्रिय विषयाकार पर जाती है। कारण स्पष्ट है। अप्राप्यकारित्व सर्वेन्द्रियवर्ग का सामान्य धर्म्म माना गया है। जिस स्थान पर घट रक्खा हुआ है, एवं जिस स्थान पर हम खड़े–अथवा बैठे हैं, उसके मध्य में केश–सूक्ष्मतन्तु–आदि अन्य विषय भी, मान लीजिए, पड़े हुए है। हम घड़ा तो देख लेते हैं, परन्तु घट की अपेक्षा समीपस्थ केशादि सूक्ष्मपदार्थों को देखने में असमर्थ होजाते हैं। यदि हमारी आँख ही घट पर जाती, तो मध्यस्थ

केशादि का भी वह अवश्य प्रत्यक्ष कर लेती। परन्तु ऐसा नहीं होता। अतएव मनना पड़ता है कि, श्रोत्रेन्द्रियादि अन्य इन्द्रियों की भाँति चक्षुरिन्द्रिय भी अप्राप्यकारी ही है। यदि किसी दार्शनिक ने चक्षु को प्राप्यकारी माना है, तो इसका तात्पर्य्य केवल चक्षुर्मण्डल से सम्बन्ध रख सकता है। तेजोभावशून्य इन्द्रियों का जहाँ मण्डल नहीं बनता वहां तेजोघन आदित्यप्राण से निर्मित चक्षुःप्राण का एक तेजोमण्डल बना करता है। इस तेजोमण्डल की परिधितक चक्षुर्व्यापार की व्याप्ति रहती है। जो वस्तु इस मण्डल में आजाएगी, चक्षुरिन्द्रिय उसी का प्रत्यक्ष कर सकेगी।

५६–चाक्षुष प्राण एवं त्रसरकूटात्मक भौतिक विषयपिण्ड के स्वस्थान त्याग की असंभाव्यता एवं अप्राप्यकारी चक्षुरिन्द्रिय से विदूरस्थ घटाकार में लघुमहत्तारतम्यानुभूति आधारेण पक्ष स्थापन—

उक्त कथन से कुछ ऐसा भान हो रहा है कि, मन्तव्यानुसार चक्षुरिन्द्रिय तो विषय पर नहीं जाती, किन्तु विषय अवश्य इन्द्रियमण्डल में प्रविष्ट होता है। क्या यह मन्तव्य ग्राह्य है ? नहीं। जिसप्रकार चाक्षुषप्राण का स्वस्थान त्याग असम्भव है, एवमेव त्रसरकूटात्मक भौतिक विषय पिण्ड का स्थान त्याग भी असम्भव ही है। जिस हेतु से चक्षुरिन्द्रिय अप्राप्यकारी है, उसी हेतु से यच्चयावत् पाञ्चभौतिक विषय भी अप्राप्यकारी ही हैं। पुरोऽवस्थित घट-पटादि के परमाणु यदि आंख पर आने लगें, तो परमाणु-संख्यासम दर्शकों की उपस्थिति में घट-पटादि की विलुप्ति हो जानी चाहिए। परन्तु देखते हैं, असंख्य दर्शकों के घटप्रत्यक्ष करने पर भी घट-का स्वरूप अक्षुण्ण बना रहता है। यही क्यों, देखने वाले अनन्त, दृश्य घट सभी दर्शकों को दृश्यस्थान पर प्रतीत। यदि घट आंख पर आता, तो उस का दृश्यस्थान पर प्रत्यक्ष न होकर चक्षुःपटल पर प्रत्यक्ष होता। इस के अतिरिक्त यह भी प्रत्यक्ष है कि, घट प्रदेश के समीप खड़े-बैठे रहने वालों की अपेक्षा घटप्रदेश के विदूर खड़े-बैठे रहने वालों को घटाकार स्वल्प दिखलाई देने लगता है। यदि विषय का आंख पर आना मान लिया जाता है, तो दृष्टि के इस आकार-तारतम्य का समन्वय असम्भव हो जाता है। इन्हीं सब कारणों से मानना पड़ता है कि, यदि आंख विषय पर नहीं जाती, तो विषय भी आंख पर नहीं आता।

५७–'गायत्रीमात्रिक' सौर तात्विक वेद की विषयप्रत्यक्षमूलात्मता, 'सैषात्रयी विद्या तपति' प्रभृति श्रौतनिरुक्तिनिर्वचन तथा अग्नि वायु सूर्य्य प्राणात्मिका पार्थिवान्तरिक्ष्य दिव्य लोकावच्छिन्ना ऋग्-यजुः-साम त्रयी विद्या का संवत्सरयज्ञ जननीत्व एवं स्मार्तवचनों का संस्मरण—

आंख जाती नहीं, विषय आता नहीं, परन्तु चाक्षुष-प्रत्यक्ष सर्वानुभूत है। कैसे इस जटिल समस्या का समन्वय किया जाय। वैज्ञानिक समन्वय करते हुए समाधान करते हैं कि, 'गायत्रीमात्रिक' नाम से प्रसिद्ध सौर तात्विक वेद ही इस विषय प्रत्यक्ष की मूलप्रतिष्ठा है। 'सैषा त्रयी विद्यातपति' (शतपथ)-"त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः" (स्मृतिः) इत्यादि श्रुति-स्मृति के अनुसार सूर्य्य वेदघन है। ज्योतिर्म्मय यही सौरवेद स्वसावित्र तेज के प्रतिफलित गायत्र तेजोभाव के सम्बन्ध से 'गायत्रीमात्रिक' कहलाया है, एवं यही चक्षु, तथा विषय दोनों का अनुग्राहक बनता हुआ विषयप्रत्यक्ष का कारण बनता है।

'सर्वं तेजः सामरूपं ह शश्वत' (तै० ब्रा०) के अनुसार वस्तुपिण्ड को केन्द्र बना कर एक-विंशअहर्गणपर्य्यन्त अपनी व्याप्ति रखनेवाला रथन्तरसाम तेजोमय वहिर्म्मण्डल माना गया है। पिण्ड (मूर्त्ति) सम्पादक ऋग्वेद का भूपिण्ड से सम्बन्ध है। यही-'ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्त्तिमाहुः' के अनुसार भौतिक पिण्ड का स्वरूपसमर्पक है। गतिभाव सम्पादक यजुर्वेद का अन्तरिक्ष से सम्बन्ध है। यही-'सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्' के अनुसार पिण्ड-अण्डान्तर्गत गतिभाव का प्रवर्त्तक है। एवं तेजोमण्ड-लात्मक सामवेद का द्युलोक से सम्बन्ध है। यही वहिर्म्मण्डल का स्वरूप सम्पादक है। पिण्डानुग्राहक पार्थिव ऋग्वेद आग्नेय है, गत्यनुग्राहक आन्तरिक्ष्य यजुर्वेद वायव्य है, एवं मण्डलानुग्राहक दिव्य सामवेद सौर है। अग्नि-वायु-रवि-प्राणात्मिका पार्थिव-आन्तरिक्ष्य-दिव्यलोकावच्छिन्ना ऋग्-यजुः-सामात्मिका त्रयी विद्या ही संम्वत्सरयज्ञ की जननी है। सम्वत्सरयज्ञ ही स्वावयवभूत ऋतुपर्वों से अग्नीषोमद्वारा-अग्नि-सोम के अन्तर्य्याम सम्बन्धात्मक याग द्वारा त्रैलोक्यभुक्त चराचरपदार्थों का जनक बनता है, जैसा कि-'अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयंब्रह्म सनातनम्' (मनु०);-"सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः' (गीता) इत्यादि स्मार्त्त वचनों से प्रमाणित है।

५८-"पुरुष एवेदं सर्वम्" मंत्रानुगत यावत्पदार्थों का ऋक्सामावच्छिन्न यजुः पुरुषात्मभाव, ऋङ्मय वस्तुपिण्ड-साममय तेजोमण्डल-उभयसम्बन्ध परिणामि-मूर्त्ति-मण्डलावच्छिन्न वस्तुतत्त्वप्रत्यक्षाधिगम और अग्नि, विद्युत्, तारकादि भूतज्योतियों का सौरज्योति में अन्तर्भाव—

उक्त वेदत्रयी में से ऋक्-साम का एक स्वतन्त्र विभाग है। ऋक् वस्तुपिण्डात्मक आकार का अनुग्राहक है, साम वस्तुमण्डलात्मक आकार का अनुग्राहक है। पिण्डाकार, मण्डलाकार, दोनों से आकारित स्थितिगर्भित गतिभाव ही वस्तुतत्त्व है, यही यत्-जू लक्षण यज्जूर्वेद है, यही परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषा में यजुर्वेद है, जिसे ऋक्-सामात्मक स्पृश्य-दृश्यपुरों से सीमित रहने के कारण 'पुरुष' कहा जाता है (देखिए-शतपथ) । 'पुरुष एवेदं सर्वम्' (यजुः संहिता) इत्यादि मन्त्रवर्णानुसार सम्पूर्ण पदार्थ ऋक्सामावच्छिन्न यजुःपुरुषात्मक माने गए हैं। ऋङ्मय वस्तुपिण्ड के साथ जब तक साममय तेजोमण्डल का सम्बन्ध नहीं हो जाता, तबतक मूर्त्ति-मण्डलावच्छिन्न वस्तुतत्त्व का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। वस्तुपिण्ड केवल ऋक्सम्बन्ध से स्पृश्य है यही सामसम्बन्ध से दृश्य बना करता है। एवं इसी दृष्टि कोण से प्रत्येक भौतिक पिण्ड के स्पृश्य-दृश्य भेद से दो विवर्त्त हो जाते हैं। जिस का हम स्पर्श करते हैं, उसे देख नहीं सकते। जिसे देखते हैं, उस का स्पर्श नहीं कर सकते हैं। स्पृश्यभाव पिण्डात्मक है, दृश्यभाव मण्डलात्मक है। मण्डलात्मक इस दृश्यभाव का अनुग्राहक सौरज्योतिर्मय गायत्रीमात्रिक सामवेद ही माना गया है। अग्नि, विद्युत्, चन्द्र, तारक, इत्यादि यच्चयावत् भूतज्योतियों का सौरज्योति में ही अन्तर्भाव है। अतएव वस्तु के रथन्तरसामात्मक दृश्यमण्डल के प्रत्यक्ष में उक्त भूतज्योतियों में से किसी न किसी भूतज्योति का सहयोग आवश्यक रूप से अपेक्षित हो जाता है। ज्योति प्राणतत्त्व है, अतएव अधामच्छद है, स्थान नहीं रोकने वाला तत्त्व है। इस प्राणात्मक ज्योतिर्भाव का सम्बन्ध हमारे चाक्षुषमण्डल से भी होता है, पुरोऽवस्थित वस्तुमण्डल से भी होता है। मण्डलाकार वस्तुपिण्ड के विष्कम्भ (व्यास) के तारतम्य से बृहल्लघु होता है। तदनुरूप ही ज्योति का विस्तार होता है। एवं तदनुरूप ही प्रत्यय का उदय होता है।

५६- सौरसामानुग्रहावच्छिन्न "सामातिमान" का वस्तुप्रत्यक्ष निदानत्व, एवं वस्तुपिण्ड के बृहल्लघुभाव में विदूरसामीप्य-सापेक्ष कारणता—

पुरोऽवस्थित घट स्पृश्यपिण्ड है। इस के साथ सौरसाम का सम्बन्ध हुआ, चक्षु के ऊपर भी सौर-साम का अनुग्रह हुआ। दोनों वस्तुपिण्डों के ज्योतिर्म्मयमण्डलों का परस्पर अतिमान हुआ, जो कि सम्बन्ध-'सामातिमान' नाम से प्रसिद्ध है। यही सामातिमान वस्तुप्रत्यक्ष का कारण है। न आंख घट पर जाती, न घट आंख पर आता है। अपितु, चक्षु के तेजोमण्डल में घट के तेजोमण्डल का समावेश होता है। ज्योतिर्म्मय घटाकार चक्षुर्म्मण्डल में प्रविष्ट होता है। घट प्रत्यय हो जाता है। साममण्डल के उत्तरोत्तर बृहत् होने से वस्त्वाकार उत्तरोत्तर लघु होता जाता है। यही कारण है कि, हम ज्यों ज्यों वस्तुपिण्ड से विदूर होते जाते हैं, त्यों त्यों आकार प्रतीति लघु होती जाती है। एवं ज्यों ज्यों वस्तुपिण्ड के समीप आते जाते हैं, त्यों त्यों वस्त्वाकार बृहद् रूप से प्रतीत होने लगता है। इसप्रकार ज्योतिर्मय सौरसामवेद के अनुग्रह से वस्तु के बहिर्म्मण्डल का प्रत्यक्ष हुआ करता है। चक्षु और घट के मध्य मे प्रतिष्ठित केश का प्रत्यक्ष इसलिए नहीं होता कि, केश का ज्योतिर्म्मय मण्डल अपने वस्तुपिण्ड की लघिमा से चक्षुर्म्मण्डल में प्रविष्ट नहीं होने पाता। प्रकृत में वक्तव्यांश यही है कि, वस्तुप्रत्यक्ष में सौर सामवेद ही प्रधान कारण है। एवं इसी के उभयानुग्रह से अप्राप्य का चक्षु अप्राप्यकारी वस्तुपिण्ड का प्रत्यक्ष करने में समर्थ होता है।

६०—सम्पूर्ण विश्व के द्रष्टा जीव और ईश्वर, सापेक्ष अन्तर-बहिर्जगत् परिच्छिन्नजीव और व्यापक ईश्वर, जीवदृष्ट सूर्य्य-चन्द्र-पृथिवी ग्रह-नक्षत्रादि का विश्वभुक्त सत्तात्मक सूर्य्यचन्द्रादि से असम्बन्ध एवं श्रीगुरु (मधुसूदन ओझा) प्रणीत संशयोच्छेदवाद-ग्रन्थ में "प्रत्ययैक सत्योपनिषत्" नामा सिद्धान्त का प्रतिपादन—

इस प्रत्यक्षज्ञान में तीन ज्ञानधाराओं का समन्वय होता है, जैसा कि परिच्छेदारम्भ में स्पष्ट किया जा चुका है। प्रत्यक्षज्ञान हमारा (द्रष्टा का) है। इस का तात्पर्य्य यह हुआ कि, प्रतीत होने वाले पदार्थ, किंवा ज्ञानीय पदार्थ द्रष्टा की प्रातिस्विक वस्तु हैं। इसी आधार पर तो द्रष्टा के दृश्य जगत् को विज्ञानभाषा में 'अन्तर्जगत्' कहा जाता है। सम्पूर्ण विश्व में ईश्वर, जीव नामक दो द्रष्टा हैं। ईश्वर द्रष्टा महामायावच्छिन्न विश्व का एक द्रष्टा है। सप्तव्याहृत्यात्मक, किंवा पञ्चपुण्डीरात्मक महाविश्व का उस के ज्ञानीयधरातल पर वितान हुआ है। अतएव उस महाविश्व को हम उस एक ईश्वर द्रष्टा का अन्तर्जगत् कह सकते हैं। जो कि अन्तर्जगत्—लक्षण महाविश्व जीवद्रष्टाओं से परोक्ष रहता हुआ सर्वथा अप्रत्यक्ष रहता है। क्योंकि, ईश्वरीय अन्तर्जगत् (विश्व) जीवज्ञान सीमा से बहिर्भूत है, अतएव उसे जीवापेक्षया हम 'बहिर्जगत्' कह सकते हैं, ईश्वर व्यापक है, एक है। जीव परिच्छिन्न है, नाना है। अतएव जीवसर्ग से सम्बन्ध रखने वाले ज्ञानीय अन्तर्जगत् भी नाना, तथा परिच्छिन्न हैं, साथ ही हैं ईश्वरीय अन्तर्जगत् के गर्भ में समाविष्ट। ईश्वरीयज्ञान के लिए जीवान्तर्जगत् जहां अन्तर्जगत् ही है, वहाँ जीव ज्ञान के लिए ईश्वरीय अन्तर्जगत् सर्वथा बहिर्जगत् है। दूसरे शब्दों में इसी स्थिति का यों विश्लेषण किया जा सकता है कि, सूर्य्य—चन्द्र—पृथिवी-ग्रह—नक्षत्र-पर्वत—पशु—पक्षी—आदि जितने भी चराचर पदार्थ हम (जीव) देखते हैं, वे सब हमारे ज्ञान के बनाए हुए हैं। ईश्वरीय विश्वभुक्त सत्तात्मक सूर्य्यचन्द्रादि से हमारे इन दृश्य सूर्य्य—चन्द्रादि का कोई सम्बन्ध नहीं

है। सत्तासिद्ध ईश्वरीय दृश्य पदार्थों के आधार पर सौर सामवेद के द्वारा जीवज्ञान अपने ज्ञानीय धरातल पर सर्वथा अपूर्व दृश्यों का आविर्भाव करता है। तभी तो ज्ञान को त्रिपुटी कहना अन्वर्थ बनता है। इसी-आधार पर--'प्रत्ययैकसत्योपनिषत्' नामक सिद्धान्त स्थापित हुआ है, जिस का श्रीगुरुप्रणीत संशयोच्छेदवाद नामक वादग्रन्थ में विस्तार से विश्लेषण हुआ है।

६१-हृदयस्थ ज्ञानकन्दल आत्मा पर प्रमाता-प्रमाण-प्रमितित्रिक के एकत्र समन्वय से "घटमहं जानामि" इत्यात्मक घट ज्ञान का उदय, अन्तःकरण-अन्तःकरणवृत्ति-विषय-त्रिकावच्छिन्न चैतन्यज्ञान-कृतरूप-घटप्रत्यय का "आधिदैविक" रूप एवं भौतिक-सत्तात्मक घटाधारेण समानप्रत्ययप्रवाहकरणात्मिका 'उपासना" की उभयात्मिकता—

ईश्वरीयअन्तर्जगत्--जो जीवदृष्ट्या बहिर्जगत् है-के आधार पर सामवेदद्वारा जीवज्ञानधरातल पर जो ज्ञानीय घट उत्पन्न होता है, उसी के लिए 'घटमहंजानामि' यह प्रयोग होता है। जिस घट के लिए 'अहं जानामि' वाक्य का अभिनय होता है, विश्वास कीजिए, उस घट ज्ञान का, किंवा ज्ञानीय घट का सत्तासिद्ध भौतिक ईश्वरीय घट से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह जीव का अपना प्रातिस्विक ज्ञान है, प्रातिस्विक ज्ञानीय घट है, जिस ज्ञानीय घट के ज्ञाता--ज्ञानसाधन--ज्ञेय भेद से तीन पर्व माने जा सकते हैं। हृदयस्थ आत्मा ज्ञानकन्दल है, यही ज्ञाता है, यही प्रमाता है। इन्द्रियवर्ग ज्ञानसाधन हैं, प्रमाण हैं। एवं बहिर्जगत् के आधार पर सामवेदद्वारा प्रादुर्भूत इन्द्रियस्थानों में प्रतिष्ठित विषय ज्ञेय हैं, ये ही प्रमेय हैं। प्रमाता--प्रमाण-प्रमिति, तीनों के एकत्र समन्वय से ही--'घटमहंजानामि' इस घट ज्ञान का उदय हुआ है, जिसे 'प्रमा' कहा जाता है। प्रत्येक विषय यथार्थ ज्ञान 'प्रमा' है, प्रत्यय है। एवं प्रत्येक प्रमात्मक प्रत्यय में प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय (आत्मा-इन्द्रिय-विषयाकार) तीनो का समन्वय है। अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्य (ज्ञाता) अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य (ज्ञानसाधन), विषयावच्छिन्न चैतन्य (ज्ञेय), तीनों ज्ञानों से कृतरूप घटप्रत्यय विशुद्ध ज्ञानात्मक है। इस घट प्रत्यय से भौतिक घट का कोई सम्बन्ध नहीं है। अतएव जीवानुगत इस घट प्रत्यय को हम 'आधिदैविक घट' ही कहने के लिए सन्नद्ध हैं। यह ठीक है कि, घटप्रत्यय विशुद्ध-ज्ञानीय होने से आधिदैविक है। तथापि इस का उदय क्योंकि भौतिक-सत्तात्मक घट के आधार पर हुआ है, अतएव समानप्रत्ययप्रवाहकरणात्मिका उपासना को हम उभयात्मिका ही कहेंगे। कैसा ही प्रत्ययप्रवाह हो, बिना आधिभौतिक को मध्यस्थ बनाए उस का उदय नहीं हो सकता। दूसरे शब्दों में भौतिक विषय को आधार बनाए बिना उपासना लक्षण का समन्वय नहीं किया जासकता। प्रत्यय प्रत्ययरूप से अवश्य आधिदैविक है। परन्तु इस का आधार आधिभौतिक ही है, जो कि एकप्रकार से साधनकोटि में प्रविष्ट है। इसीलिए तो उपासना के लक्षण का विश्लेषण करते हुए यह कहा जाता है कि-"जिस में साधन आधिभौतिक हो, साध्य आधिदैविक हो, वही कर्म्मकलाप उपासना है"।

६२-पूर्वोक्त "प्रत्ययत्रिपुटीभाव' निरूपक कारणता का दिग्दर्शन एवं अधिभूताधारेणैव आधिदैविक घटप्रत्ययोपपत्ति निर्वचन—

प्रत्यय का समान प्रवाह ही उपासना है, लक्षण के आधार पर अविचारणीय भक्त यह कह दिया करते हैं कि,—"उपासना में भौतिक पदार्थ के माध्यम की कोई आवश्यकता नहीं है। प्रत्यय ज्ञान है, उस

का नैरन्तर्य्य ही उपासना है। फलतः उपासना का विशुद्ध आधिदैविकत्त्व अक्षुण्ण रह जाता है। भौतिक माध्यम उपासनाकाण्ड में सर्वथा अनपेक्षित है" । इस भ्रान्ति के निराकरण के लिए ही हमें प्रत्यय के त्रिपुटीभाव का स्पष्टीकरण करना पड़ा है। यह ठीक है कि, ज्ञानत्रयसमन्वय से उत्पन्न प्रत्यय तथा उसका समानप्रवाह, दोनों स्वस्वरूप से विशुद्ध आधिदैविक ही हैं। परन्तु, इस आधिदैविक प्रत्यय की उत्पत्ति होती है-आधिभौतिक के आधार पर ही। यदि सत्तासिद्ध आधिभौतिक घट न हो, तो आधिदैविक घटप्रत्यय सर्वथा असम्भव है, मानना पड़ेगा कि-समानप्रत्ययप्रवाहलक्षणा उपासना आधिभौतिक को आधार बना कर ही उत्पन्न है।

६३-"समानप्रत्ययप्रवाह करणम्" इस शाङ्कर सूत्रानुवर्तिनी उपासना के "समानत्व" का दृढीकार एवं सूर्य्यचन्द्रशिवादि अवयव-देवताओं में से किसी एक का सातत्येन अनुवर्तित्वस्वीकार तत्र च मुहुर्मुहु देवपरिवर्तन कामिचाञ्चल्य क्लृप्त-गौणमुख्य-संप्रत्ययात् उपासनातत्त्व-विलुप्ति भय—

निष्कर्ष यह निकला कि, आधिभौतिक पदार्थ के माध्यम से उत्पन्न त्रिपुटीज्ञान का धारावाहिक अनुगमन करना ही उपासना है। हमने किसी भी भगवत् प्रतिमा के दर्शन किए। भगवत्-प्रतिमा आधि-भौतिक है, पाषाणमयी है। इसके आधार से हमारे मानस पटल पर भगवत्प्रतिमा का ज्ञानीय आकार खचित होगया। अब सोते खाते पीते उठते बैठते चलते फिरते अहर्निश उस आकार का, उसी प्रत्यय का निरन्तर ध्यान होरहा है। भगवत्प्रतिमाद्वारेण उत्पन्न भगवत् स्वरूपात्मक प्रत्यय का यह समान प्रवाह ही उपासना है। शाङ्करलक्षण में केवल 'प्रत्ययप्रवाहकरणम्' नहीं कहा गया है, अपितु-'समानप्रत्ययप्रवाहकरणम्' कहा गया है। प्रत्यय के समानत्त्व पर ही उपासनासिद्धि अवलम्बित है। अवयवोपासना, अवयवी उपासना, दोनों दृष्टिकोणों में महान् अन्तर है। यह ठीक है कि, उपासना अवयव की ही होती है। क्योंकि, जिस किसी भी भौतिक पदार्थ के माध्यम से तदनुरूप प्रत्यय उत्पन्न होगा, वह अवयवप्रत्यय ही होगा। समष्टिलक्षण महाविश्व का एककालावच्छेदेन प्रत्यय इसलिए असम्भव है कि, सीमित इन्द्रियवर्ग एककालावच्छेदेन समष्टि को माध्यम बनाने में असमर्थ है। परन्तु, जिस अवयव को एकबार उपास्य बना लिया, कालान्तर में उसे छोड़कर अन्य अवयव को उपास्य बना लेने से प्रत्यय का समानत्त्व उच्छिन्न होजाता है, उपासनाधार क्रम टूट जाता है। अतएव आवश्यक है कि, ईश्वप्रतीकलक्षण जिस किसी भी अवयव के आधार पर तदनुरूप जो भी अवयव प्रत्यय एकबार मानसधरातल पर खचित होजाय, सदा उसी को अवयवी बुद्धया लक्ष्य में रक्खा जाय। यही प्रत्यय का समानप्रवाहत्त्व है, एवं यही उपासना का वास्तविक तथ्य है। सूर्य्य, शिव शक्ति, गणपति, आदि अवयव देवताओं में से जिस किसी एक को उपास्य मान लिया जाय, सदा उसी को सर्वस्व मान लिया जाय, सदा उसी को सर्वस्व माना जाय। यही अनन्यता है, यही मनःसंयम है, यही संयम उपासना का बीज है। अन्यथा बार बार प्रत्यय परिवर्त्तन से मन में चाञ्चल्य का उदय होजाता है, प्रत्ययभेद से उपास्य देवताओं में गौण-मुख्य भाव का समावेश होजाता है, उपासनातत्त्व विलुप्त होजाता है। फिर तो यह उपासना एक बालप्रेम की भाँति मोह की जननी बनती हुई हमें किंकर्त्तव्यविमूढ बना देती है।

६४-उपासना में प्रत्ययोत्पत्ति के अव्यवहितोत्तरकाल से भूतालम्बन परित्याग एवं "बालदृष्टान्त" द्वारा मानसशान्तिरूपी चाञ्चल्यमूलक समान प्रत्यय प्रवाह-विक्षेप-निरूपण—

अथवा अन्यदृष्टि से समानत्त्व का समन्वय कीजिए। प्रत्यय का समानत्त्व एक प्रकार की निर्गुण उपासना है, जिस में केवल ज्ञान ही प्रधान है। सगुणोपासना में प्रत्यय रहता है, परन्तु वहां पदे पदे भौतिक द्रव्य को लक्ष्य बनाना पड़ता है। सगुणोपासना की सर्वारम्भ भूमिका में तो अवश्य ही भौतिक आलम्बन की अपेक्षा रहती है। परन्तु, प्रत्ययोत्पत्ति के अव्यवहितोत्तरकाल से ही भूतालम्बन का परित्याग कर दिया जाता है। भूतानुगता सगुणोपासना में प्रत्यय का असमानत्त्व भी आरम्भ दशा में सामान्याधिकारी की सामान्य-योग्यतादृष्टि से जहाँ क्षम्य मान लिया गया है, वहाँ भूतविरहिता ज्ञानयोगसमतुलिता निर्गुणोपासना में प्रत्यय का समानत्त्व ही प्रत्येक दशा में आवश्यक माना गया है। समन्वय के लिए उसी बालदृष्टान्त पर ध्यान देना सामयिक होगा। किसी व्यक्ति के मानस धरातल पर किसी बालक की स्मृति अंचित है। उसे अहर्निश वही दिखलाई देता है। कभी बच्चे की हंसी पर, कभी घुंघराले केशों पर, कभी तुतलाती वाणीपर, कभी ठुनक-ठुनक कर चलने पर, इस प्रकार उस के प्रत्येक प्रत्यय पर बालप्रेमी का मन थिरकता रहता है। यहाँ प्रत्येक प्रत्यय में भूतालम्बन है। अतएव प्रत्यय के समानत्त्व का अभाव है। असमानत्त्वलक्षण प्रत्यय का परिणाम यह होता है कि, बालप्रेमी केवल प्रत्यय से ही सन्तुष्ट न होकर प्रत्ययालम्बनभूत बालक को सामने रहने देना चाहते हैं। बालसम्मुख्य में इस के पतनादि भय से मन चञ्चल रहता है, बालसाम्मुख्याभाव में प्रत्ययालम्बन के हट जाने से मन चञ्चल रहता है। इस प्रकार प्रत्यय की इस असमानता में उभयथा मनोयोगलक्षण शान्ति का अभाव ही बना रहता है, जो कि उपासना का एक मुख्य फल मानागया है। एकमात्र इसी मनोयोग सम्पत्ति को लक्ष्य में रखते हुए, आचार्य्यने प्रत्यय का समान प्रवाहत्व अनिवार्य्य माना है।

६५-समान प्रत्यय प्रवाहरूपा उपासना की फलश्रुति, उपासनारम्भदशा में अपेक्षित भी भूतालम्बन का निर्गुणोपासना से अवरत्व एवं समबलयपक्षपाती आचार्य्य द्वारा कर्म्मत्यागलक्षणा संन्यासनिष्ठा की उपादेयता स्वीकारोक्ति—

लक्षण समन्वय की मीमांसा समाप्त हुई। अब प्रश्नान्तर यह है कि, समानप्रत्ययप्रवाहरूपा इस उपासना से उपासक में क्या अतिशय उत्पन्न होजाता है, क्या फल मिलता है? इस उपासना से उपासक उपास्य में लीन होजाता है। जो फल सर्वकर्म्मपरित्यागलक्षण ज्ञानयोग का है, प्रायः वही फल इस समान-प्रत्ययप्रवाहलक्षण निर्गुणोपासना का है। 'प्रायः' इस लिए कहना पड़ता है कि, कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग में जहाँ भूतानुरक्ति का ऐकान्तिक अभाव है, वहां समानप्रत्ययप्रवाह लक्षण उपासना में आरम्भ दशा में भूतालम्बन अपेक्षित है। भक्ति के परिगणित सालोक्य-सामीप्य-सारूप्य-सायुज्य, इन चार फलों में से सायुज्यफल इसी निर्गुणोपासना का है, जो फल ज्ञानयोगैकसाध्य समबलयफल से अवर कोटि का ही माना गया है। अतएव शाङ्कर सिद्धान्तानुसार जीव का परमपुरुषार्थ तो ज्ञानयोग ही माना गया है। उपासना की उपास्यरूप में परिणति, उपासक में उपास्य धर्म्मों का समानप्रवाह, यही उस उपासना का चरमफल

है। जो फल अपने निःसीम भाव में पहुँच कर कर्म्मात्यन्तविमोक का परम्परया कारण बनता हुआ परम्परया ज्ञानयोगात्मक बनकर समवलय का भी कारण बन सकता है। अतएव समवलय-पक्षपाती आचार्य्यने ऐसी उपासना को भी अपनी कर्म्मत्यागलक्षणा संन्यासनिष्ठा में उपादेयता स्वीकार करली है।

६६–प्रतीकमात्र में से किसी भी एक में समानप्रत्ययप्रवाह–साधना का उपासनाकोटि-अन्तर्भुक्तत्व, आध्यात्मिक-वैदिक-शास्त्रीय ज्ञान-कर्म्म-भक्ति की लौकिक-पारमार्थिक-भेदद्वयी एवम् इन उभय योगत्रय-विवर्त्तों का उपासनात्व-निदर्शन—

ईश्वर, गुरु, देव, द्विज आदि किसी के भी प्रतीक को पथमालम्बन बनाकर तत्प्रत्यय के समान-प्रवाह से जो उपासना की जाएगी, सब का फल समान होगा। उपास्य में उपासक लीन होजाएगा, तत्सम-धर्म्मा बन जाएगा। अतएव आचार्य्य ने उपास्य-विशेष का नामोल्लेख न कर सामान्यरूप से उपासना का 'समानप्रत्ययप्रवाहकरणम्' यही लक्षण किया है। अवश्य ही इस सामान्यलक्षण के अनुसार विश्व के यच्चयावत् प्रत्ययों का समानप्रवाहत्व उपासना–कोटि में अन्तर्भुक्त होजाता है। दूसरे शब्दों में समान-प्रत्ययप्रवाह सम्बन्ध से उपासना में ही ज्ञानयोग, तथा कर्म्मयोग दोनों का अन्तर्भाव मान लिया जासकता है। ज्ञानयोग में तो प्रत्यय (ज्ञान) का समानप्रवाहत्व स्वत एव सिद्ध है ही। कर्म्मयोग में भी तत्तत् कर्म्मस्वरूप सम्पादक भूतों के आधार पर उत्पन्न तत्तत् प्रत्ययविशेषों का दीर्घकाल–आदर–नैरन्तर्य्य लक्षण समानप्रवाह ही कर्म्मस्वरूप का साधक बनता है। कर्म्मानुगत प्रत्यय के इसी समानप्रवाह के आधार पर कर्म्मकाण्ड प्रतिपादक विधिग्रन्थों। (ब्राह्मणग्रन्थों में) "अथाध्वर्यु रेव प्रतिपरेत्य पत्नीः संयाजयति, उपास्तऽएव प्रतिप्रस्थाता' (श०२।५।२।४५) इत्यादि रूप से ऋत्विक्–कर्म्मों के सम्बन्ध में भी उपासना शब्द का प्रयोग होता है, जैसाकि—'उपासनालक्षणजिज्ञासा' परिच्छेद में अनेक उदाहरणों से स्पष्ट किया जाचुका है। तात्पर्य्य कहने का यही है कि, ज्ञान, कर्म्म, भक्ति, तीनों के पारमार्थिक, लौकिक, दो दो रूप हैं। आध्यात्मिक ज्ञान, (जिसके लिए गीता में–'अध्यात्मज्ञाननित्यत्त्वम्, प्रयुक्त हुआ है), वैदिक कर्म्म-काण्ड, (जिसके लिए गीता में–'यज्ञ–दान–तपः कर्म्म न त्याज्यं कार्य्यमेव तत्' प्रयुक्त हुआ है), एवं शास्त्रीय भक्तिकाण्ड, (जिसके लिए गीता में–'सततं कीर्त्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते' प्रयुक्त हुआ है), ये तीनों योग पारमार्थिक हैं। एवं लौकिकज्ञान भूतविद्या है, लौकिककर्म्म शिल्प–कला–वाणिज्यादि है, लौकिक भक्ति स्वार्थानुगता सेवा है। लौकिक योगत्रयी हो, अथवा तो शास्त्रीय योगत्रयी, मनोयोग का समानप्रवाह सर्वत्र अपेक्षित है। और इसी दृष्टि से इन दोनों ही योगत्रय विवर्त्तों को 'उपासना' कहा भी जासकता है।

६७–"अर्चनं वन्दनं विष्णोः" इत्यात्मक लोकविश्रुत नवधा भक्ति का आरम्भिक आश्रयण, एवम् भूतानुगत सकाम निष्काम सेवावृत्ति का क्रमशः उपासना और काम्यकर्म्मयोगात्मक रूपोपसंक्रमण—

आरम्भदशा में लक्ष्यीभूत उपासनाकाण्ड में सेवा, उपासना दोनों का अनुगमन करना पड़ता है। भौतिकसहयोग सेवाभाव है, आध्यात्मिक सहयोग उपासनाभाव है। शारीरिकश्रम सेवाभाव है, मनोयोग उपासनाभाव है। मनोयोग की समान प्रत्ययप्रवाहात्मिका स्थिरता के लिए आरम्भ में (अभ्यासकाल में)

किसी भौतिक आलम्बन (प्रतिमादिरूप) की परिचर्य्या करनी पड़ती है । यही अर्चन–वन्दन–पादसेवनादि–लक्षणा सुप्रसिद्ध नवधाभक्ति है, जिसके दास्य–सख्य–आत्म–निवेदनादि अवयव माने गए हैं। दास्यभावात्मिका सेवा का शारीरिकश्रम से प्रधान सम्बन्ध है। यही कालान्तर में मनोयोगात्मिका उपासना की स्वरूप–समर्पिका बन जाती है। परन्तु, यह ध्यान रखना होगा कि, यदि भूतानुगत सेवाभाव (साम्प्रदायिक भक्ति–मार्ग) निष्काम है, तभी यह उपासना का द्वार बन सकता है। यदि यही सेवा सकाम है, तो काम्य कर्म्मयोग में ही इसका अन्तर्भाव मानना पड़ेगा। यही उपासना, तथा भक्ति का प्रधान अन्तर है। सकामभक्ति भक्ति है, निष्कामभक्ति कालान्तर में सायुज्यभाव की प्रवर्त्तिका बनती हुई उपासना है। सेवा भक्ति है, आत्मसमर्पणानुगत मनोयोग उपासना है। शरीर निवेदन भक्ति है, आत्मनिवेदन उपासना है। भक्ति–मार्ग सकाम कर्म्मयोग में अन्तर्भूत है, उपासनामार्ग निष्काम ज्ञानयोग का समर्थक है। इसप्रकार मध्यस्था भक्ति सकामभाव से कर्म्मयोगात्मिका बनजाती है, निष्कामभाव से ज्ञानयोगात्मिका बनजाती है। इसी भेद को लक्ष्य बनाकर हमें शेषलक्षणों का समन्वय करना चाहिए।

६८–बाह्याभ्यन्तर परिचर्य्याओं का क्रियायोग मनोयोगात्मक सेवोपासनात्व, तदनुवर्ती विश्व का यच्चयावत् प्राणिवर्ग, "शिष्यो गुरु मुपास्ते" "विद्यार्थी विद्यामुपास्ते" की व्याख्या, स्वाण्डपोषणपरायण तिर्यक् चटका का सेवात्व, एतद्विषयक लोकव्याहृति एवं ऐहिक फलार्थिनी और आमुष्मिक निःश्रेयसानुगता पत्नी के सेवोपासनामाध्यम से सेवा-उपासना-कर्म्म-ज्ञान-काण्ड-निष्कर्ष का निरूपण—

जो अन्तर उपासना और भक्ति में है, वही अन्तर उपासना और कर्म्म में है। एक सेवक राजा की सेवा करता है। यदि सेवक का यह सेवाभाव 'परिचर्य्यात्मकं कर्म्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्' के अनुसार कर्त्तव्यबुद्ध्या है, तब तो इस भौतिकसेवा (भक्ति–अथवा कर्म्म) द्वारा सेवक का मनोयोग अव्ययब्रह्म से है, एवं उस दशा में उसकी यह सेवावृत्ति कालान्तर में उपासना की स्वरूपसमर्पिका है। यदि यही सेवा कर्त्तव्यबुद्धि से वञ्चित रहती हुई, केवल धनलोभ से सञ्चालित है, तो उस दशा में यही कर्म्मयोग की स्वरूप समर्पिका बन जाती है। उपासना और कर्म्म में यही तारतम्य है। सेवा का क्रिया से सम्बन्ध है, उपासना का मनोयोग से। बाह्यपरिचर्य्या सेवा है, आभ्यन्तरपरिचर्य्या उपासना है। सेवा तन से होती है, उपासना मन से होती है। साध्यदशा में दोनों भाव प्रक्रान्त रहते हैं। गुरु की तन मन से सेवा उपासना करने वाला–'शिष्यो गुरुमुपास्ते'। अहोरात्र तनमन से विद्याव्यसन में लीन रहने वाला–'विद्यार्थी विद्यामुपास्ते'। विश्व के सभी तो प्राणी इस प्राकृतिक उपासनामार्ग पर आरूढ हैं। सर्वत्र सभी कर्म्मों में तन–मन दोनों का योग अपेक्षित है। यदि मन बहिर्मुख है, तो ऐसा तनमनयोग सेवाभाव है। यदि मन अन्तर्मुख है, तो ऐसा तनमन योग उपासना है स्वाण्ड का पोषण करने वाली चिड़िया अण्डे के प्रति पूर्ण मनोयोग रखती है। परन्तु, इसका यह मनोयोग बहिर्मुख है। अतएव इस योग को उपासना न कह कर सेवा कहा जाएगा। लोक में–'चिड़िया अण्डा सेती है' यही व्यवहार प्रसिद्ध है। 'सेती' शब्द 'सेवाभाव' का ही स्वरूप समर्पक है। ज्ञानप्रधान मानव समाज को छोड कर शेष समस्त प्राणिवर्ग, मानवसमाज में भी फलकामुक मानववर्ग केवल सेवाभाव का ही अधिकारी है। ऐहलौकिक फलकामुका

पत्नी पति की सेवा कर रही है। पारलौकिक निःश्रेयसानुगता पत्नी पति की जगत्पति भावना से सेवा करती हुई उपासना कर रही है। सामने आधिभौतिक पति है, लक्ष्य पतिद्वारा ब्रह्म बन रहा है। पति में ही ब्रह्मभावना का समावेश है। दृष्टि भूत पर, मन ।पर, यही तो उपासना निष्कर्ष है। दृष्टि भी भूत पर, मन भी भूतपर, यही कर्म्मकाण्ड निष्कर्ष है। दृष्टि भी आत्मा पर, मन भी आत्मा-पर, यही ज्ञानकाण्ड-निष्कर्ष है।

६९—आधिदैविक, आत्मविकासार्थ-आचरित पारलौकिककर्म्म का उपासनात्व, ऐहिक-आधिभौतिक-फलावाप्ति-निमित्त-कृत कर्म्म का कर्म्मत्व एवं साध्यसाधन उपलब्धियों के निदर्शन से एतादृश उपासना की कर्म्मयोगात्मक व्याहृति—

पारलौकिक आधिदैविक आत्मविकासार्थ किया हुआ कर्म्म उपासना है, ऐहलौकिक आधिभौतिक फल-प्राप्त्यर्थ कृत कर्म कर्म्म है। साधन-साध्यों की आधिभौतिकता कर्म्ममार्ग है। सेवक राजा की सेवा करता है। सम्पूर्ण परिचर्य्या आधिभौतिक है, सभी साधन आधिभौतिक हैं। इस सेवा से प्रसन्न राजा उसे पर्य्याप्त धन-वस्त्रादि देता है। यह सब फल भी—साध्य भी—आधिभौतिक ही हैं। वैद्य रोगी की सेवा करता है—औषधि से। सम्पूर्ण परिचर्य्या आधिभौतिक है। सेवा के बदले रोगी से मिलने वाला धन भी आधिभौतिक है। भौतिक-निवर्त कर्मप्रधान है। सेवा में साधन-साध्य, उभयथा भौतिकजगत् का ही प्राधान्य है, अतएव ऐसी सेवा, ऐसी उपासना कर्म्मयोग ही मानी जाएगी।

७०—लौकिक जीवतन्त्र परिच्छिन्न नृप-चिकित्सक-न्यायाधिपति प्रभृति उपाधियों का अधिभूतभाव, निरुपाधिक ईश्वरतन्त्र-परिच्छिन्न आत्मतत्त्व का अधिदेवात्मक स्वरूप, ईश-जीव-भावानुगति, विकास क्रमेण तत्परिणाम, एवम् उपासना-कर्म्म-ज्ञान-काण्ड-निरूपक मूलवचन—

राजा रोगी आदि मानवमात्र में ईश्वर-जीव नामक दो दो तन्त्राथी प्रतिष्ठित हैं। राजा, डॉक्टर वैद्य, न्यायाधीश, आदि उपाधियाँ जीवतन्त्र से सम्बन्ध रखती हुई आधिभौतिक हैं। निरुपाधिक आत्मभाव ईश्वरतन्त्र से सम्बन्ध रखता हुआ आधिदैविक है। मानवमात्र में ही क्यों, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के अनु-सार चर-अचर-यच्चयावत् पदार्थों में ईश्वरतन्त्र भी प्रतिष्ठित है, साथ ही भेदक विशेषभावानुगत जीवतन्त्र भी प्रतिष्ठित है। ईशभावानुगति उपासना का द्वार है, जीवभावानुगति कर्म का द्वार है। राजा को राजा समझ कर सेवा करने वाला स्वार्थी सेवक राजा से उसकी राजोपाधि-समतुलित धनादि के अतिरिक्त और क्या प्राप्त कर सकता है। यदि सेवक राजा को ईश्वर समझकर सेवा करता है, कर्त्तव्यबुद्धया परिचर्य्या करता है, तो राजोपाधि के गर्भ में प्रतिष्ठित ईश्वरतन्त्र अवश्य ही सेवक के आत्मविकास का कारण बन जाता है। केवल समझमात्र का अन्तर है। भावना में तारतम्य है। निष्कर्षतः निःस्वार्थभाव से ईश्वर-बुद्धया किया हुआ कर्म्म उपासना है, स्वार्थभाव से मानवबुद्धया किया हुआ कर्म्म कर्म्मकाण्ड है, एकान्ततः कर्म्मपरित्याग-भावना ज्ञानकाण्ड है।

७१–"श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्" "श्रद्धामयोऽयं पुरुषः" उक्ति-निर्वचन, श्रद्धावान् और श्रद्धेय, श्रद्धा का उपासनामूल प्रतिष्ठात्व, श्रद्धा से श्रद्धेय (आचार्य्य, मूर्त्ति इत्यादि) गत परोक्षतत्व का प्रत्यक्ष परिणमन, एक और एक केवल दो नहीं, एकादश भी, सर्वत्र सर्वतत्वोपस्थिति, एवं शतपथ ब्राह्मण का "ब्रह्मविद्यया ह वै" इत्यात्मक संशयोच्छेदी उद्घोष—

सब सब हैं, प्रत्येक में सर्वस्व के दर्शन सम्भव हैं। जिस सर्वदर्शन की मूलप्रतिष्ठा है–विश्वगर्भिता श्रद्धा। श्रद्धा ही उपासना की मूलप्रतिष्ठा है। श्रद्धा के बल पर विष में अमृत की भावना सफल होसकती है पाषाण में ईश्वरीयभावना सफल बन सकती है। तत्त्व यही है कि, श्रद्धेय में भी सबकुछ तत्त्वविद्यमान हैं। जिस तत्त्व का अधिकमात्रा में विकास रहता है, तत् तत्त्वानुगत भाव प्रस्फुटित रहता है, शेष अन्तर्भुख बने रहते हैं। एवमेव श्रद्धालु में भी सब तत्त्व विद्यमान हैं। वह अपने श्रद्धामय मन में श्रद्धेय के प्रति जिस भी किसी परोक्ष तत्त्व की भावना करने लगता है, कालान्तर में दृढ़निष्ठा द्वारा अवश्यमेव श्रद्धेय के उस परोक्ष-तत्त्व को प्रत्यक्ष बनना पड़ता है। 'दो एवं दो चार ही होते हैं' दृष्टान्त को उपन्यस्त करते हुए जो महानुभाव प्रतिमापूजन का मिथ्यात्व घोषित करते हैं, वे यह भूल जाते हैं कि, दो और दो चार नहीं, २२ भी होसकते हैं, सबकुछ होसकते हैं। श्रद्धा का तारतम्य सब कुछ सम्भव कर सकता है। तत्वतः एक संख्या ही मौलिक संख्या है। इतर यच्चयावत् संख्याएँ एक ही का विकास है। जिसे २–४–६–८ आदि कहा जाता है, सब–'अयमेकः अयमेकः' भाव से एक एक भी हैं। २-२ का समसन्निवेश २२ भी है। २–२ का व्यूहन अनेक भी है, सब कुछ है। सर्वत्र सब तत्त्व समविष्ट हैं। तत्त्ववेत्ता तत्त्वपरिवर्त्तन के आधार पर सबको सब रूपों में परिणत कर सकते हैं। इसी आधार पर श्रुति का सिद्धान्त प्रतिष्ठित है कि–'ब्रह्मविद्यया ह वै सर्वं भविष्यन्तो मन्यन्ते (मनुष्याः)" (शतपथ ब्राह्मण)।

७२–सर्वव्यापक, त्रिकालाबाधित श्रद्धेय ब्रह्म का सर्वत्र सर्वरूपेण अवस्थान, विश्वास-विजृम्भित श्रद्धानिष्ठा से तप्त लौहस्तम्भ का परमभागवत प्रह्लाद के लिए नृसिंह रूपेण प्रस्फुटन एवं श्रद्धावान् के समान प्रत्यय प्रवाह से पाषाणगर्भित भगवत् स्वरूप का उन्मीलन—

सर्वव्यापक ब्रह्म के सर्वत्र सबरूपों में दर्शन किए जासकते हैं। जैसी हमारी विश्वासानुगता श्रद्धा-होगी, श्रद्धेय को उसी तत्त्व रूप से प्रस्फुटित होना पड़ेगा। श्रद्धालु की श्रद्धा पाषाण को भगवत्स्वरूप में परिणत नहीं करती अपितु श्रद्धालु के भगवत्–स्वरूपानुगत समान प्रत्यय प्रवाह से पाषाणगर्भित सद्रूप भगवत्स्वरूप प्रस्फुटितमात्र होजाता है। 'तं यथायथा उपासते, तथैव भवति' (छां० उप०) 'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः, यो यच्छ्रद्धः स एव सः' (गीता०) इत्यादि श्रौत-स्मार्त्त प्रमाणानुसार अवश्यमेव श्रद्धेय को श्रद्धानुरूप प्रस्फुटित होना पड़ता है। इसी सत्यानुगता श्रद्धा के बल पर एक तप्त स्तम्भ को प्रह्लाद के लिए प्रह्लाद की भावना के अनुरूप नृसिंहरूप में परिणत होना पड़ता है। इसी अनन्य श्रद्धा के आकर्षण से विदूरस्थ अवतार पुरुष की योगमाया द्वारा द्रौपदी का वस्त्रवितान सम्भव है। इसी अनन्य

महत्व--प्रेमाकर्षण से रासमहोत्सव द्वारा व्रजगोपियाँ भगवत्सायुज्य प्राप्त कर सकती हैं। 'न खलु गोपिका नन्दनो भगवान्-(अपितु)-अखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्' (भागवत) की भावना से आज भी श्रद्धालु यह पद प्राप्त कर सकते हैं। इसी श्रद्धानुगता उपासना के बल पर गिरिधर--गोपाल को रिझानेवाली भक्त-प्रवरा मीरा के लिए विष अमृतरूप में परिणत होसकता है। हमारे अभिजन--प्रान्त में इसी सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण सूक्ति प्रचलित है कि--'मानो तो देव नहीं भाटा का लेव'। तात्पर्य्य सूक्ति का यही है कि, यदि श्रद्धाविश्वास है, तो पाषाण--प्रतिमा प्रत्यक्ष देव है। अन्यथा नहीं मानने वाले श्रद्धाशून्य कुतर्कियों के लिए तो पाषाण है ही। यदि श्रद्धाविश्वासपूर्वक दृष्टिविषयिणी प्रतिमा, अथवा तो अन्य किसी भूतालम्बन के आधार पर मानसपटल पर खचित उपास्यदेव का जो प्रत्ययात्मक (ज्ञानात्मक) स्वरूप है, अहर्निश उसी उत्पन्न प्रत्यय में लीन रहना ही उपासना का तात्त्विक लक्षण है। उपास्यविषयिणी बुद्धि, तत्स्वरूप--विज्ञान-प्राप्ति, तत्--अनुगति ही प्रत्यय है। इस प्रत्यय का अनन्य प्रवाह ही उपासना है। एवं निम्नलिखित शाङ्कर--लक्षण से इसी उपासनातत्त्व का स्पष्टीकरण हुआ है—

"समानप्रत्ययप्रवाहकरणं नाम उपासनम्" (अद्वैताचार्याः)

—१—

—✻—

७३-वस्त्वन्तर में वस्त्वन्तर-क्लृप्तिशीला भावना के ज्ञानाज्ञानात्मक दो भेद, "शुक्तौ रजतम्" "रज्जौ सर्पः" इत्याकारक अज्ञानात्मक ज्ञान का मिथ्यामतित्व, पाषाण-प्रतिमा में उपास्येष्टदेवात्मक भावना का ज्ञानात्मत्व एवं रज्जुगत-सर्प पाषाण-निष्ठ उपास्य-निस्यूत-ज्ञानाज्ञानात्मकभिदा का तात्त्विक निरूपण—

अब क्रमप्राप्त लक्षणत्रयोदशी में पठित द्वितीय लक्षण की ओर उपासकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है, जिसकी भाषामात्र में अन्तर होगा, वस्तुतत्त्व वही होगा, जिसका प्रथम लक्षण में स्पष्टीकरण हुआ है। अन्यवस्तु में अन्यवस्तु की भावना के अज्ञानात्मिका, ज्ञानात्मिका, भेद से दो विभाग किए जासकते हैं। रज्जु में सर्प की भावना, मृगमरीचिका में जल की भावना, शुक्ति में रजत की भावना, स्थाणु में पुरुष की भावना, अज्ञानात्मिका है, मोहात्मिका है। इसे ही मिथ्याज्ञानात्मिका भ्रान्ति कहा गया है। पाषाण प्रतिमा में उपास्य देवभावना, गुरु में ब्रह्म भावना, पति में ईश्वरभावना, कार्य्यसहयोगी में दक्षिणभुजभावना, पद्म में पृथिवीभावना, कृष्णमृग में त्रयीवेद की भावना, रुक्म (सुवर्णाभूषणविशेष) में सूर्य्य भावना, कूर्म्म में कश्यप भावना, आदि आदि वैदानिक भावनाएं ज्ञानात्मिका भावनाएं हैं। जिसप्रकार रज्जु को सर्प समझते हुए हमें रज्जु का बोध नहीं रहता, वैसे प्रतिमा में उपास्य भावना रखते हुए हमें प्रतिमा का बोध न होता हो, यह बात नहीं है। अवश्य उक्त ज्ञानात्मिका भावनाओं में उपास्यदेव, ब्रह्म, ईश्वर, दक्षिणभुज, पृथिवी, त्रयीवेद, सूर्य्य, कश्यप, आदि भावनाओं के साथ साथ ही प्रतिमा, गुरु, पति, सहयोगी, पद्म, कृष्णमृग, रुक्म, कूर्म्म आदि का भी बोध बना रहता है। अतएव इस भावना को हम ज्ञानात्मिका भावना कहते हैं, मिथ्याज्ञानात्मिका भ्रान्ति से सर्वथा विभिन्न सत्यभावना है। जान--बूझ कर अन्य में अन्य की भावना करना ही ज्ञानात्मिका भावना है। एवं यही भावना उपासना की (सगुणोपासना की) मूलप्रतिष्ठा है।

७४-विशुद्ध प्रात्ययिका ज्ञानान्विता उपासना का निर्गुणोपासनात्व-स्वीकार—

समानप्रत्ययप्रवाहात्मिका उपासना में आरम्भ में यद्यपि अवश्य ही भूतालम्बन की अपेक्षा रहती है। उस समय किसी अन्य भौतिक द्रव्य में अन्य (उपास्य) आधिदैविक की भावना की जाती है। तथापि भावनान्तर आलम्बन छोड़ दिया जाता है। केवल तत्प्रत्यय का योग बच रहता है। विशुद्ध प्रत्ययात्मिका यही उपासना ज्ञानप्रधान किंवा ज्ञानात्मिका बनती हुई निर्गुणोपासना ही मानी गई है।

७५-अज्ञानात्मक भावना के अविद्यामूला, भ्रान्तिमूला दो अवान्तर भेद, बाह्यदोष-कारणवती भ्रान्ति, आभ्यन्तर दोष हैतुकी "अविद्यामूला" एवम् "एकस्मिन् धर्म्मिणि विरुद्ध नानाकोट्यवगाहि" संशय ज्ञान का स्फुटीकरण—

बतलाया गया है कि, अज्ञानात्मिका भावना का प्रकृत उपासना में कोई सम्बन्ध नहीं है। एक प्रासङ्गिक और अज्ञानात्मिका भावना के ही आगे जाकर अविद्यामूला, भ्रान्तिमूला, भेद से दो अवान्तर भेद हो जाते हैं। पर्य्याप्त प्रकाशाभाव, चाक्षुषदोष, आदि कारणों से पुरोऽवस्थित स्थाणु में पुरुष-प्रतीति होने लगती है। यह अज्ञानात्मिका भावना भ्रान्तिमूला भावना है। कोई व्यक्ति है न्यायाधीश, परन्तु पूरी जानकारी न होने से हम उसे साधारण चपरासी समझ बैठते हैं। यही अविद्यामूला भावना है। भ्रान्तिमूला भावना में बाह्यदोष प्रधान कारण है, अविद्यामूला भावना में आभ्यन्तर दोष प्रधान कारण है। इसप्रकार सूक्ष्मविचार करने पर यद्यपि दोनों स्थलों में भेदप्रतीति स्पष्ट है। तथापि समन्वय व्यवहार में दोनों 'भ्रम' ही कहलाते हैं। एकमात्र इसी आधार पर पूर्व में हमने अज्ञानात्मिका भावना को भ्रान्तिमूला कह दिया है। जानकारी न होने से जो अन्य में अन्य की प्रतीति होने लगती है, इसमें हमारा ही दोष है। रज्जु में सर्पप्रतीति होना प्रकृति का भी दोष है। अन्धकार में पड़ी रज्जु यदि सर्पवत् प्रतीत होने लगे, तो यह केवल हमारा ही दोष नहीं माना जासकता। अपिच, भ्रान्ति में अनेक धर्म्मों का समावेश है। पुरोऽवस्थित स्थाणु में कभी स्थाणुधर्म्म प्रतीत होने लगता है, तो कभी पुरुषधर्म्म। 'एकस्मिन् धर्म्मिणि विरुद्धनानाकोट्यवगाहि ज्ञानं संशयः' लक्षणानुसार 'स्थाणुर्वा-पुरुषो वा' इत्याकारक संशयरूप भ्रम हो पड़ता है। उधर अविद्यामूला भावना में संशय नहीं रहता है। वहाँ केवल अधिकारी आलम्बन रहता है। निःसंदिग्ध होकर मान बैठते हैं कि अमुक तो अमुक है। इसप्रकार अनेक दृष्टियों से अज्ञानात्मिका भावना की अविद्यामूल-भ्रममूला भावनाओं का पार्थक्य देखा जासकता है।

७६-भूतदृष्टि-अनपेक्षिता ज्ञानमुख्या निर्गुणोपासना, दृष्टि अनपेक्षिता नैदानिकोपासना, अथ च सगुणोपासना का आत्मसाक्षात्कार नैमित्य, एवम् निर्गुणोपासना का साक्षात् अव्ययेश्वर प्रसादपरक कारणत्व—

समानप्रत्यय प्रवाहात्मिका निर्गुणोपासना में जैसे भूतदृष्टि अनपेक्षित है, एवमेव इस नैदानिक उपासना में भी दृष्टि अनपेक्षित ही मानी जाएगी। दोनों में प्रत्ययत्वेन समानता है। केवल प्रत्ययप्रवाह में अन्तर है। समानप्रत्ययात्मिका निर्गुणोपासना का अनुयायी गुणातीत बना रहता है, एवं प्रत्ययानुगता सगुणोपासना का अनुयायी त्रैगुण्य में भी अनुगत रहता है। एक दूसरा भेद—समानप्रत्ययानुगता निर्गुणोपासना में भूतालम्बन कहने भर को है, किन्तु अन्यत्रान्यभावनात्मिका सगुणोपासना में भूतालम्बन की प्रधानता है। अपिच

निर्गुणोपासना जहाँ ज्ञान प्रधाना है, वहाँ सगुणोपासना कर्म्म को भी प्रधानता देरही है। अन्यच्च-निर्गुणोपासना जहाँ अव्ययप्रसाद का साक्षात्‌रूप से कारण है, वहाँ सगुणोपासना परम्परया आत्मसाक्षात्कार का निमित्त है। निर्गुणोपासना जहाँ उच्चाधिकारी के लिए विहित है, वहाँ सगुणोपासना मध्यमाधिकारी के लिए विशेषतः उपयोगिनी है। निर्गुणोपासना में जहाँ विशुद्ध प्रत्यय अपेक्षित है, वहाँ सगुणोपासना में निदानालम्बन आवश्यक है।

७७-समान-प्रत्यय-प्रवाहात्मिका-विशुद्धज्ञानगुर्वी-"निर्विकल्प समतुलिता" अन्यत्रान्यभावनात्मिका-ज्ञानकर्म्मसमतुलिता 'निरञ्जनात्मिका' एवं अन्यत्रान्य भावनात्मिका मर्म्ममयी "साञ्जनात्मिका" क्रमेण उत्तममध्यमसामान्याधिकारिसम्मता 'उपासना' के विवर्तत्रय का स्फुटीकरण—

अन्यत्रान्यभावनात्मिका सगुणोपासना के अधिकारी भेद से दो विवर्त्त होजाते हैं। वह सगुणोपासना, जिसमें प्रत्ययालम्बन परोक्ष हो, अथवा प्रत्यक्ष, उच्चश्रेणि की सगुणोपासना कहलाएगी। एवं जिसमें प्रत्यक्षात्मक प्रत्ययालम्बन अपेक्षित हो, वह सगुणोपासना सामान्य कहलाएगी। इसके अतिरिक्त वह उपासना उच्च कही जाएगी, जिसमें दृष्टि की स्थिति अपेक्षित न हो। एवं वह सगुणोपासना सामान्य कहलाएगी, जिसमें दृष्टिस्थैर्य्य अनिवार्य्य होगा। इस प्रकार दृष्टिकोण भेद से उपासना के तीन विवर्त्त होजाएँगे, जिन्हें उच्च-मध्यम-सामान्य अधिकारी भेद से व्यवस्थित माना जाएगा—

१-समानप्रत्ययप्रवाहात्मिका विशुद्धज्ञानमयी उपासना——निर्गुणोपासना निर्विकल्पसमतुलिता

२-अन्यत्रान्यत्रभावनात्मिका ज्ञानकर्म्मसमतुलिता उपासना-सगुणोपासना निरञ्जना

३-अन्यत्रान्यत्रभावनात्मिका मर्म्ममयी उपासना——सगुणोपासना साञ्जना

७८-परोक्षप्रत्यक्षभूतालम्बनसंग्राहिणी "ज्ञानकर्म्मसमतुलिता" अन्यत्रान्यत्र भावनात्मिका 'निरञ्जना' सगुणोपासना का लौकिक उदाहरण द्वारा समन्वय एवं "यजमानः शिष्यं गुरुवदुपास्ते" सूत्रानुवर्ती प्रत्यय के चिराभ्यास का उपास्यप्राप्ति कारणत्व—

उक्त तीनों विवर्त्तों में से प्रथम विवर्त्त का पूर्वपरिच्छेद में स्पष्टीकरण किया जाचुका है। तीसरे का स्पष्टीकरण अगले परिच्छेद में किया जाएगा। प्रक्रान्त है-दूसरा परिच्छेद, जिसमें कि भूतालम्बन तो अवश्य अपेक्षित है, परन्तु तृतीय क्षेत्रवत् दृष्टि-स्थिरता की अपेक्षा नहीं है। साथ ही माध्यम की परोक्षता-अपरोक्षता भी दोनों ही संग्राह्य हैं, जब कि तृतीय क्षेत्र में माध्यम की अपरोक्षता अनिवार्य्य है। लौकिक उदाहरण से लक्षण का समन्वय कीजिए। स्वपुत्रजन्मोत्सव में आप किसी भद्र का आमन्त्रण करते हैं। आने की स्वीकृति मिल जाती है। परन्तु, समय पर उनका आगमन नहीं होता। आप स्वयं दुआरा पहुँच कर आग्रह प्रकट करते हैं। उनके द्वारा विवशता प्रकट करने पर आप कहने लगते हैं-यदि कार्य्यवश आप नहीं पधार सकते, तो कुमार को ही भेज दीजिए। हमारे लिए तो इनका पधारना आपका ही पधारना है। यही अन्यत्रान्य-

भावनात्मिका सगुणोपासना का लौकिक उदाहरण है। कुलपुरोहित का शिष्य भी यजमान द्वारा गुरुवत् सम्मानित किया जाता है। "यजमानः शिष्य गुरुवदुपास्ते"। पुत्र में पिता की भावना करना, सहकर्ता (सेक्रेट्री) में दक्षिणभुज की भावना करना भी इसीके लौकिक उदाहरण हैं। इन सभी उदाहरणों में दृष्टि अनपेक्षित है, केवल समझना ही समझना है। यह समझ (प्रत्यय) ही चिरकालिक अभ्यास के अनन्तर उपास्य प्राप्ति का कारण बन जाती है।

७९–व्यास-कपिल-कणादादि परोक्षमहर्षिमाध्यम से भगवदुपासना के साफल्य का उद्बोधन, "वस्तुशून्यो विकल्पः" इति वैयासिक्यादिसम्मत-सिद्धान्तानुसार आधिभौतिक भी व्यासादि द्वारा "अन्यस्मिन्नन्यभावना" परिकल्पित आधिदैविक ईश्वर की भ्रमाज्ञानराहित्येन उपासना—

भगवान् व्यास, कपिल, कणाद, आदि महर्षि आज हमारे लिए परोक्ष हैं। सर्वथा परोक्ष इन माध्यमों में हम भगवद्भावना कर सकते हैं, एवं तद्द्वारा हमारा उपासना कार्य सफल बन सकता है। परोक्ष व्यासादि की 'वस्तुशून्यो विकल्पः' सिद्धान्तानुसार कल्पना कर उनमें ईश्वरभावना द्वारा उपासना सम्भव है। माध्यम व्यासादि आधिभौतिक हैं, अन्यभावनात्मक ईश्वर आधिदैविक है। दोनों का समन्वय ही उपासना है। निष्कर्ष वक्तव्य का यही है कि, भ्रमज्ञानराहित्येन अन्य में अन्य भावना बुद्धि दृढ बनाना भी उपासना का एक श्रेयःपथ है। निम्नलिखित लक्षण सगुणोपासना के इसी लक्षण का समर्थन कर रहा है—

२–निर्भ्रान्तज्ञानसहयोगेनान्यस्मिन्नन्यभावनाबुद्धिरुपासनम्

—२—

८०–मन्दिरभक्त साम्प्रतिक भारतीय प्रजा में सविशेष प्रचलित अपरोक्ष भूतालम्बनात्मक, अवतार--प्रतिमाधार--निर्भर, लक्ष्यान्तरसिद्ध्यर्थ अन्यलक्ष्याश्रयीभूत-उपासना प्रकार एवं कालान्तर में इन मन्दिर-मूर्त्ति-शुश्रूषुओं के विशुद्धप्रत्ययानुवर्ति मानस की सिद्धावस्था में परिणति—

पूर्वोक्त द्वितीयलक्षणसमन्वय में यह स्पष्ट किया जाचुका है कि, सगुणोपासना का मध्यमाधिकारी वह उपासक माना जाएगा, जो परोक्ष–अपरोक्ष–किसी भी व्यासादि, भगवत्प्रतिमादि आधिभौतिक माध्यमों में उपास्यभावना कर तत्प्रत्यय का (अपनी व्यवहारनिष्ठा से यथानुरूप अनुगमन करता हुआ) अभ्यासी बना रहेगा। अब कुछ एक ऐसे भी अधिकारी बच रहते हैं, जिन का मन तबतक आधिदैविक उपास्य पर दृढ नहीं होसकता, जबतक कि, उन की दृष्टि (चक्षु) के सामने अपरोक्ष भूतालम्बन प्रतिष्ठित न रहे। अवश्य ही अपने आध्यात्मिक प्रत्यय को दृढमूल बनाने के लिए इन तृतीयश्रेणिके अधिकारियों को किसी न किसी अवतारप्रतिमा–देवप्रतिमा–गुरु–आदि भूतों में से एक को दृष्टि का आधार बनाना पड़ेगा। लक्ष्य होगा इन का सर्वथा परोक्ष आधिदैविक तत्त्व ही। परन्तु उस परोक्ष लक्ष्य के साथ मनोयोग करने

के लिए इन्हें आधिभौतिक लक्ष्य में उस परोक्ष आ० दे० लक्ष्य की भावना करते हुए इस पर दृष्टि रखनी पड़ेगी। लक्ष्यान्तर सिद्धयर्थ अन्यलक्ष्य की उपासना करनी पड़ेगी। इस अभ्यास से ज्यों ज्यों इन का मन उस पर दृढनिष्ठ बनता जाएगा, त्यों त्यों भूतसाधन शिथिल होता जाएगा। कालान्तर में पूर्वोक्त सगुणोपासना एवं समानप्रत्ययप्रवाहात्मिका निर्गुणोपासना की भाँति इन का भी मन विशुद्ध प्रत्ययानुगामी बनता हुआ सिद्धावस्था में परिणत होजाएगा। यही उपासना का तीसरा दृष्टिकोण है, जो कि मन्दिर भक्त वर्त्तमान भारतीय प्रजा में विशेषरूप से प्रचलित है।

८१-लक्ष्या स्वतन्त्रता, धरना वैदेशिक वस्तुओं की दूकानों पर, ध्येय स्वराज्य, साधन कारागार-इत्यात्मक कार्य्यकारणभिन्न देशतानुबन्धि "असंगति" निदर्शक अन्यत्र-दृष्टिपरक भिन्नफलावाप्तिमूलक आधिदैविकफलोपासना का दृष्टान्तधिया निरूपण—

प्रस्तुत दृष्टिकोण में दृष्टि-स्थिरता ही पूर्व के दोनों दृष्टिकोणों की अपेक्षा प्रधान है, यही इस का उन दोनों से पार्थक्य है, जिस के सम्बन्ध में दो एक लौकिक दृष्टान्त उद्धृत कर देना भी असामयिक नहोगा। लक्ष्य है—स्वतन्त्रता, परन्तु धरना देते हैं, विदेशी वस्तुओं की दूकानों पर ध्येय है-स्वराज्य, साधन है, कारागार। फल भिन्न है, तत्प्राप्त्यर्थ दृष्टि अन्य लक्ष्य पर है। दक्षिणभुजा, गुरु, आदि मान लेने भर से यहाँ लक्ष्यसिद्धि कथमपि सम्भव नहीं है। केवल समझ लेने से काम नहीं चल सकता। यहाँ तो उन साधनों पर स्थिर दृष्टि रखनी पड़ेगी। तभी लक्ष्यीभूत स्वतन्त्रता मिल सकेगी। हम जानते हैं, दुकानें स्वयं परतन्त्र हैं। स्वतन्त्रता प्राप्ति में स्वतन्त्ररूप से इन का कोई उपयोग नहीं है। तथापि घातक-परराष्ट्र चक्र के आर्थिक पतन द्वारा परम्परया इन्हें भी स्वतन्त्रता का द्वार माना जासकता है। सन्धा यह है कि, उपासनासूत्र विच्छिन्न न होने पाए। असुर बल हमारे इन साधनों पर घातक आक्रमण करेगा। परन्तु, हमें लक्ष्यसिद्धि पर्य्यन्त इन माध्यम साधनों पर दृढ रूप से दृष्टि-स्थिति रखनी पड़ेगी। विजय निश्चित है। इस प्रकार परसत्ताओं द्वारा छीनी गई लक्ष्यीभूत स्वतन्त्रता को पुनः प्राप्त करने के लिए वर्त्तमान समय के भारतीय राष्ट्रीयदल की मान्यता के अनुसार प्रस्तुत दृष्टान्त उपासना का अनुगामी बन सकता है। राष्ट्रीयदल की दृष्टि में यह उपासना परम्परया आधिदैविक-फल की भी साधिका बन रही है। परतन्त्रराष्ट्र का कोई धर्म्म नहीं, धर्म्माचरण बिना ईश्वर प्राप्ति असम्भव। स्वतन्त्रता धर्म्माचरण का साधक है, धर्म्माचरण ईश्वर प्राप्ति द्वार है। फलतः स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए उपास्य माध्यमों का परम्परया आधिदैविक-फलजनकत्व भी सिद्ध होजाता है।

८२-पुरोऽवस्थित भगवत् प्रतिमा का पाषाणत्व, दृष्टिस्थैर्यसम्भूत उपास्यप्राप्ति में तत्साहाय्य एवं साध्यदशा में चञ्चलवृत्तिमन् मन का सापेक्ष्य, अतएव प्रतिमाऽर्चन का आलम्बन सार्थक्य और श्री अद्वैताचार्य्य के "लक्ष्यान्तरसिद्धयर्थमन्यलक्ष्यस्थिति रुपासनम्" इस तृतीय लक्षण की अन्विति—

हम जानते और मानते भी हैं कि, पुरोऽवस्थित भगवत् प्रतिमा पाषाण है। परन्तु, दृष्टिस्थिरता द्वारा मनोयोग की साधिका बनती हुई यही पाषाणप्रतिमा उपास्य प्राप्ति का द्वार बन रही है। लक्ष्य है-ईशप्राप्ति, तदर्थ अपेक्षित है मनोयोग। चञ्चलमन भूतों का आत्यन्तिक परित्याग कर परोक्ष

आधिदैविक परोक्षतत्त्व के साथ योग करले, यह तबतक असम्भव है, जबतक कि, इसमें किसी भूताधार द्वारा स्थिरता उत्पन्न न करली जाय। तदर्थ ही भगवत्प्रतिमा आदि को आलम्बन बनाया जाता है। दृष्टि रहेगी प्रतिमा पर, मन रहेगा सर्वव्यापक उपास्य की ओर। दृष्ट्यनुगता प्रतिमा आधिभौतिक है, मनोऽनुगत उपास्य आधिदैविक है। यहाँ दोनों का समन्वय है। अतएव अवश्य ही इस दृष्टिकोण को भी उपासना कहा जासकता है। निम्नलिखित लक्षण इसी दृष्टिकोण का विश्लेषण कर रहा है—

लक्ष्यान्तरसिद्धयर्थमन्यलक्ष्यस्थितिरुपासनम्

३

——※——

८३-ज्ञानयोग-कर्म्मयोग-भक्तियोग का आलम्बनभूत विशुद्धसत्वानुगत-रजोमिश्रित-तमोगुणानुगत—सत्वतमोऽनुगृहीत उभयात्मक रजोगुणानुगत—मनोयोग, रागात्मक रजोगुण का निरूपण, राग के परिणामस्वरूप मन की वस्तु पर आसक्ति, अनुकूल और प्रतिकूल राग के दो भेद एवं उनका कामक्रोध-उत्पादकत्व—

पूर्व के तीन परिच्छेदों में उत्तम-मध्यम-सामान्य अधिकारी भेद से जिन उपासनामार्गों का दिग्दर्शन कराया गया है, उन तीनों की ही मूलप्रतिष्ठा है-'श्रद्धासूत्र'। समानप्रत्ययप्रवाहात्मिका निर्गुणोपासना हो, अन्यत्रान्यभावनात्मिका सगुणोपासना हो, अथवा तो अन्यसिद्धयर्थान्यत्रदृष्टि स्थितिरूपा सगुणोपासना हो तीनों ही उपासना मार्गों में मनोयोग आवश्यक रूप से अपेक्षित है। गुणत्रयात्मिका योगमाया के अनुग्रह से अन्नमय चान्द्र मन में सत्त्व-रजस्तमोरूपा गुणत्रयी का समावेश रहता है। विशुद्धसत्वानुगत मनोयोग ज्ञानयोग का अनुगामी बनता है, रजोमिश्रित तमोगुणानुगत मनोयोग, कर्म्मयोग का प्रवर्तक बनता है, एवं सत्त्व-तमोऽनुहीत उभयात्मक रजोगुणानुगत मनोयोग भक्तियोग का आलम्बन बनता है। मध्यस्थ रजोगुण ही-'रजोरागात्मकं विद्धि' (गी० १४-७) के अनुसार रागप्रवृत्ति का मूलकारण माना गया है। मन का किसी भी वस्तु के साथ बन्धन-सम्बन्ध द्वारा आसक्त होजाना, अनुरक्त होजाना, राग का ही फल है। यह राग अनुकूलराग, प्रतिकूलराग भेद से दो स्वरूपों में परिणत रहता है। अनुकूलराग का सहायक काम (कामना) बनता है, प्रतिकूलराग का सहायक क्रोध बनता है। काम, क्रोध, ये दोनों मानसभाव भी रजोगुण से ही समुद्भूत है-'काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः' (गी० ३।३०)।

८४- कामसहकृत अनुकूल राग का श्रद्धासूत्रत्व, क्रोधसहकृत प्रतिकूल राग का विद्रोह-सूत्रत्व, अनुकूल प्रतिकूल राग की पराकाष्ठा का परानुरक्तित्व, एवं श्रीमद्भागवत के "कामं क्रोधं भयं स्नेहं" श्लोकोपन्यस्त अनुकूल रागानुगति से प्रह्लाद-नारद-मीरां आदि का, प्रतिकूल राग से रावण, कंस, शिशुपालादि का परमपद प्राप्ति निरूपण—

कामसहकृत अनुकूलराग श्रद्धासूत्र है, क्रोधसहकृत प्रतिकूलराग विद्रोहसूत्र है। मित्रवत् शत्रु की ओर भी हमारा मनोयोग रहता है। परन्तु, इस योग का आलम्बन बनता है—प्रतिकूलरागात्मक विद्रोहसूत्र। इसी सूत्र के कारण अहर्निश शत्रुभावना हमारे मन पर खचित रहती है। काम नहीं है, क्रोध अवश्य है। चाहते हैं-शत्रु का स्मरण भी न हो। परन्तु विद्रोहसूत्रानुग्रह से न चाहने पर भी वह मानस पटल पर घूमता रहता है।

ऐसा विद्रोहसूत्र उपासना में उपयुक्त नहीं बन सकता है ? बन सकता है । कब ? जब कि विद्रोहसूत्रात्मक यही प्रतिकूलराग सीमा का अतिक्रमण कर जाय। आत्यन्तिक द्रोह विपरीत भाव में परिणत होता हुआ कालान्तर में अनुकूलरागात्मक श्रद्धासूत्ररूप में उसी प्रकार परिणत होजाया करता है, जैसे कि, अग्नि-वायु-आदित्यात्मक अङ्गिरा विशकलन की चरम सीमा पर पहुँचकर अप्-वायु-सोमात्मक भृगुरूप में परिणत होजाया करता है। एवमेव निःसीम अनुकूलराग भी कदा कदा द्वेषभाव में परिणत होता देखा गया है। ईशतत्त्व को छोड़कर प्राणिवर्ग से सम्बन्ध रखने वाले राग-द्वेष ससीम हों, अथवा निःसीम, बन्धन के ही कारण बनते हैं। यही राग-द्वेष ईशानुगत बनते हुए भक्तिभाव के कारण बन जाते हैं। सुप्रसिद्ध ईशद्रोही रावण, कंस शिशुपालादिने इसी विद्रोहसूत्र द्वारा परानुरक्ति प्राप्त करते हुए परमपद प्राप्त किया है। प्रह्लाद-नारद-भीष्म-विदुर-मीरा-गोपाङ्गना आदिने श्रद्धासूत्र द्वारा परानुरक्ति प्राप्त की है। अनुकूलरागात्मक राग (प्रेम) हो, अथवा प्रतिकूलरागात्मक द्वेष हो, यदि वह पराकाष्ठापर है, परानुरक्ति है। एवं महर्षि शाण्डिल्य के 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' लक्षणानुसार यह परानुरक्ति ही भक्ति, किंवा उपासना है। निम्नलिखित पुराणवचन भी इसी परानुरक्ति का समर्थन कर रहा है—

> कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च ।
> नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते ॥
>
> —श्रीमद्भागवत १० स्कन्ध, पू० २९।१५।

८५-मनः प्रात्ययिक श्रद्धा द्वारा उपास्य के साथ स्नेह-बन्धन बुद्धिस्थैर्य से उस का दृढीकार, एवं 'विश्वास-गर्भित-श्रद्धासूत्र-सहयोगेन' लक्ष्यमनोबुद्ध्यर्पणमुपासनम्' लक्षण का समन्वय—

आत्यन्तिक द्रोहाभाव में श्रद्धासूत्रानुगता अनुकूलरागात्मिका मनःप्रवृत्ति ही उपासना का आधार मानी जाएगी। श्रद्धा जहाँ मन की प्रवणता का कारण है, वहाँ विश्वास बुद्धिप्रवणता का कारण माना गया है। विश्वास बुद्धि का स्वधर्म्म है, श्रद्धा मन का स्वधर्म्म है। चान्द्रसोममय मन से सम्बन्ध रखने वाला श्रद्धातत्त्व स्नेहगुणक, किन्तु चञ्चल है। सौर-सावित्राग्निमयी बुद्धि से सम्बन्ध रखने वाला विश्वास तत्त्व तेजोगुणक, किन्तु स्थिरधर्म्मा है। उपासक उपास्य में आसक्त होना चाहता है, यह काम मनोमयी श्रद्धा पर अवलम्बित है। साथ ही अपनी श्रद्धानुगता इस परानुरक्ति को उपास्य स्थिर भी रखना चाहता है, तभी तो उपासनासिद्धि है। यह काम बुद्धिमय विश्वास पर अवलम्बित है। मन की श्रद्धा से उपास्य के साथ स्नेहबन्धन होता है, बुद्धि की स्थिरता से यह स्नेहबन्धन दृढ बनता है। उपासना में बन्धन, और बन्धन दृढता, दोनों भाव अपेक्षित हैं। अतएव वही श्रद्धासूत्र उपासना का उपोद्बलक माना जाएगा, जिस श्रद्धा का आधार विश्वास होगा। बुद्धिसहकृत मनोयोग ही विश्वासगर्भिता श्रद्धा का योग है। एवं यही योग उपासना सिद्धि का अन्यतम, तथा आवश्यक द्वार है। निम्नलिखित लक्षण इसी सिद्धि-द्वार का समर्थन कर रहा है—

विश्वासगर्भितश्रद्धासूत्रसहयोगेन लक्ष्यमनोबुद्ध्यर्पणमुपासनम्

४

—※—

८६–भक्त्युपासना के साध्य साधन भेद से दो विवर्त्त, दोनों का परस्पर पृथक्त्व, ईश्वर और जीव के मध्य में जीव के प्रज्ञापराधजन्य रागद्वेषस्मिताऽविद्यादि आवरण और साधन भक्ति द्वारा एतद्व्यपोहन, नित्या साध्यभक्ति, ईश्वर में आत्म-लीन होजाना जीव का परमकर्त्तव्य –

भक्ति, किंवा उपासना के साध्य, साधन भेद से दो विवर्त्त माने गए हैं। साध्या भक्ति भिन्न वस्तुतत्त्व है, साधनभक्ति भिन्नवस्तु तत्त्व है। प्रकृत परिच्छेद में इन्हीं दोनों विवर्त्तों का स्पष्टीकरण अपेक्षित है। बतलाया गया है कि, विश्वासगर्भित श्रद्धासूत्र द्वारा उपास्य में मनोबुद्धि का समर्पण करना ही उपासना है। जिन साधनों से कालान्तर में उपास्य उपासक में लीन होने वाला है, वह साधनावस्था साधनभक्ति है। एवं साधनभक्ति द्वारा प्राप्त समर्पणावस्था साध्यभक्ति है। भक्ति का अर्थ है–भाग, अंश, अवयव। 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' इत्यादि गीतासिद्धान्त के अनुसार यद्यपि जीवमात्र उसके अंश-भाग बने हुए हैं। फलतः सभी जीव प्रकृत्या उसकी भक्ति (अवयव) किंवा भक्त हैं। तथापि आवरणदृष्टया यह प्राकृतिक भक्तिभाव मुकुलित बना हुआ है। ईश्वर और जीव के मध्य में जीव के प्रज्ञापराध से उत्पन्न अविद्या–अस्मिता–राग–द्वेष–अभिनिवेशादि आवरण आए हुए हैं। इन आवरणों से उसके साथ रहने वाला इसका स्वाभाविक भक्तिभाव (अवयवभाव) तिरोहित होरहा है साधनभक्ति द्वारा एकमात्र इसी आवरण को हटाया जाता है। आवरण हटते ही–'तत् स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति' के अनुसार स्वतः सिद्ध प्राकृतिक भक्तिभाव उसी प्रकार प्रस्फुटित होजाता है, जैसेकि वायुद्वारा मेघावरण के हटते ही स्वतः सिद्ध पहिले से ही विद्यमान सूर्य्य प्रकट होजाता है। साध्यभक्ति नित्य है। ईश्वरानुग्रहात्मिका है। साधनभक्ति ही जीवव्यापार की अपेक्षा रखती है साधनभक्ति द्वारा आवरण हटातेहुए जीव का स्वतःसिद्ध प्राकृतिक नित्य भक्तिभाव से प्रस्फुटित होजाना ही भक्तिप्राप्ति कहलाती है। एक ओर उपास्य है, दूसरी ओर उपासक है, मध्य में आवरण है। इस प्रतिकूल आवरण रूप माध्यम के रहते हुए परमात्मभक्तिसम्बन्ध का तिरोभाव होरहा है। अब यहाँ जीव को दो काम करने हैं। आवरण हटाना पहिला काम है, एवं अपने आपको दृढ़ प्रत्ययद्वारा अपने भक्तिभाव से उपास्य में लीन कर देना दूसरा काम है। ये दोनों काम जिससे सम्पन्न होते हैं, वही साधनभक्ति कहलाई है। साधनभक्ति ही वह माध्यम है, जिसके द्वारा उपास्य–उपासक का मध्यावरण भङ्गपूर्वक परस्पर सम्बन्ध होता है। सम्बन्ध सदा द्विनिष्ठ होता है, दो का होता है। सम्बन्ध कराने वाला तीसरा होता है। उदाहरण देखिए—

८७–उपास्य उपासक की तादात्म्यसम्पादिका साधनभक्ति, नित्यद्विनिष्ठ सम्बन्ध और विच्छेद, वेदनिधि गोप्ता ब्राह्मणों एवं तदितर वर्णों का जातीयकर्म्मत्यागमूलक निमित्त दिग्दर्शन—

एक पत्र का अन्य पत्र के साथ सम्बन्ध कराने वाला तीसरा स्नेहद्रव्य (गोंद्-ल्याई आदि) है। उच्चाधिकारी से सामान्य व्यक्ति का परिचय कराने वाला तीसरा परिचायक होता है। वरपाणि का कन्यापाणि से सम्बन्ध करानेवाले तीसरे कुलपुरोहित हैं। औषधि का रोग से सम्बन्ध कराने वाले तीसरे सद्वैद्य हैं। कारागार से स्वतन्त्रता प्रेमियों का सम्बन्ध कराने वाली तीसरी घातक राजनीति है। प्राड्विवाक

(वकील), और न्यायाधीश (जज) का संघर्ष उत्पन्न करानेवाला तीसरा न्यायग्रन्थ (लॉ) है। भारतीय नरेशों का दासता मे गढजोड़ कराने वाला तीसरा रेजिडेन्ट है। ये निदर्शन हैं। सभी सम्बन्धों में तीसरा सहायक अपेक्षित है। न केवल सम्बन्ध कराने में ही, अपितु सम्बन्ध विच्छेद में भी तीसरा ही निमित्त बनता है। वेदनिधि गोप्ता ब्राह्मणों ने वेदसम्बन्ध परित्याग किया आलस्य-परपरिग्रहग्रहणरूप माध्यमों के अनुग्रह से। क्षत्रियों का पुरुषार्थ से सम्बन्ध छूटा कायरता के अनुग्रह, एवं ब्रह्मबल के तिरस्कार से। वैश्यों की अर्थशक्ति का विनाश हुआ ब्रह्मक्षत्र की उदासीनता से। शूद्रों का सेवाभाव से सम्बन्ध विच्छेद हुआ पश्चिमी राष्ट्रों की कूटनीति से। नवयुवकों का भारतीयसंस्कृति-साहित्य-आदर्श से विच्छेद हुआ पश्चिमी शिक्षा से। भारतीय नरेशों ने देशप्रेम खोया विदेशनिवास मोह से।

८८–उपास्य-उपासक-शाश्वतसम्बन्ध–विच्छेदक अविश्वासगर्भित अश्रद्धा–कुतर्क–संशय, निःसंदिग्ध ईश्वर प्रात्ययिकी उपासना, उपासक का ईश्वरावयवानुबन्धि भक्तत्व (अवयवत्व), एवं श्रद्धास्नेहन-द्रव्य–माध्यम-प्रयुक्तउभयसायुज्यभाव—

उपास्य-उपासक के शाश्वत सम्बन्ध का विच्छेदक जहाँ अविश्वासगर्भित अश्रद्धा–कुतर्क–संशय हैं, वहाँ दोनों के शाश्वतसम्बन्ध के उत्तेजक हैं विश्वासगर्भिताश्रद्धा, निःसंदिग्धईश्वरप्रत्यय, शास्त्राभ्यास, देव–द्विज–गुरु–उपासना। इन सब में मुख्यसाधन विश्वासगर्भिता श्रद्धा ही है, जैसा कि पूर्वपरिच्छेद में स्पष्ट किया जाचुका है। श्रद्धा ही वह स्नेहनद्रव्य है, जिसके माध्यम से दोनों का सायुज्यभाव होजाता है। इस श्रद्धासूत्र द्वारा उपासक उपास्य का वस्तुतः भक्त (अवयव) बन जाता है, वैसे ही, जैसे अङ्गुलि शरीर का भक्त किंवा भक्ति है। इय भक्तभाव, किंवा भक्तिभाव (जिसे कि हम साध्याभक्ति कहेंगे) श्रद्धानुगत जिस अर्चनादि कर्म्म से प्राप्त होता है, वही साधनभक्ति है, जिसे वस्तुतः भक्तिप्राप्त्युपाय कहना समीचीन होगा। भक्तिकरण से भक्तिप्राप्त होती है। दूसरे शब्दों में भक्तिप्राप्त्युपायभूत कर्म्मों से भक्ति मिलती है।

८९–साध्या भक्ति का प्रवर्त्तक भक्तिकरणकर्म्म (परिचर्या आदि), तत्प्रयुक्त भक्ति–पदप्राप्ति एवं तत्सिद्धिप्राप्ति सम्भूत विमुक्त का निरूपण—

भक्तिकरणकर्म्म क्योकि साध्याभक्ति का प्रवर्त्तक है, अतएव ताच्छब्द्यन्याय से यह भक्तिकरणकर्म्म भी आगे जाकर 'भक्ति' कहलाने लग गया है। भक्तिकरण कर्म्म स्वयं भक्ति नहीं है, अपितु भक्तिप्राप्ति का सहायक है, निमित्त है। 'हे इष्टदेव। यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं, तो भक्ति प्रदान कीजिए' इसवाक्य का यह अर्थ नहीं है कि, 'मैं आपकी परिचर्य्या करूं'। अपितु अर्थ है इसका यह कि–मैं आपका भक्त–अंश–जुज–बन जाऊं, भगवत् स्वरूप में परिणत होजाऊँ, तद्द्वारा बन्धन से विमुक्त होजाऊँ'। परिचर्य्या–तो भक्तिप्राप्ति का साधन है। परिचर्य्या भक्तिकरणात्मक कर्म्म है, न कि भक्ति। 'भगवान् की भक्ति करो' इसवाक्य में भक्ति से भक्तिकरणकर्म्म अभिप्रेत है। 'अमुक व्यक्ति भगवान् का भक्त है' इसवाक्य में भक्तपद से साध्याभक्ति अभिप्रेत है। 'अमुक व्यक्ति भगवान की बड़ी भक्ति करता है। निरन्तर भगवदर्चन–नामस्मरण में ही लीन रहता है' इसवाक्य में पठित भक्ति शब्द भक्तिकरणकर्म्म का द्योतक है। इस भक्तिकरण कर्म्मरूपा औपचारिकी भक्ति से जिस दिन भक्तिसाधक कर्म्मानुगामी उपासक भक्तिपद प्राप्त कर लेता है, उस दिन तो यह विमुक्त होजाता है। फिर माला जपना, नामसंकीर्तन करना–प्रतिमार्चन करना सभी साधन अन्तर्मुख बन जाते हैं।

६०–"उप+आसना"-निरतार्था "उपासना" एवं तत्प्राप्त्युपायादि का लोकव्यवहार किंवा उपचारधिया भक्त्युपासनात्व—

सामान्य दृष्ट्या इसी भक्ति का पर्य्याय है–'उपासना'। 'उप' का अर्थ है–'समीप'। 'आसना' का अर्थ है–'प्रतिष्ठा'–'बैठक'। उपास्य का अवयव बन जाना ही उपास्य के समीप बैठना है, यही उपासना है। यह उपासना (भगवत्सान्निध्य) जिन अर्चनादि उपायों से प्राप्त होती है, तत्कर्म्म भी उपासना कहलाने लग गया है। तात्पर्य्य कहने का यही है कि, भक्ति, किंवा उपासना साध्य है, लक्ष्य है। इसकी प्राप्ति के लिए जो अर्चनादिकर्म्म किए जाते हैं, उन्हें ही लोकव्यवहार में उपचारधिया भक्ति, किंवा उपासना कहा जाता है। भक्तिकरणात्मिका उपासना के इसी तात्पर्य्य का निम्न भिन्निनलक्षण से समन्वय हुआ है—

उपास्यदेवताभक्तिप्राप्त्यर्थमनुष्ठीयमानकर्म्मानुगमन मेवोपचारापदुपासनम्



६१–अन्तर्याम सम्बन्धेन जीवसत्तात्मक द्वैत का विलय, ग्रन्थिबन्धनोपयिक संचरभावानुगत कर्म्मों का क्षय एवम् अद्वैतप्रवर्त्तिका उपासना का ज्ञानयोगत्व—

यद्यपि जीवात्मतत्त्व परमात्मतत्त्व से व्यवहारतः भिन्नतत्त्व है, तथापि यह भक्तिकरणकर्म्म के माध्यम से परमात्मा में भक्तिभूत बनता हुआ उसके सामीप्य का अधिकार अवश्य प्राप्त कर लेता है। तत्त्वतः उपासना में समवलयलक्षणा परामुक्ति नहीं होती। प्रत्येक दशा में पृथगात्मता ही बनी रहती है। जीवात्मा का परमात्मा से दो प्रकार से सम्बन्ध सम्भव है। अन्तर्य्याम सम्बन्ध से जीव का परमात्मा से युक्त होजाना एक दृष्टिकोण है। जिसप्रकार भोजनद्रव्य उदरसात् होकर रसासृगादिरूप द्वारा शरीररूप में परिणत होजाता है, भोजनद्रव्य की स्वतन्त्र सत्ता उच्छिन्न होजाती है। एवमेव अन्तर्य्याम सम्बन्धेन जीव ईश्वरस्वरूप में परिणत होजाता है, दोनों अभिन्न होजाते हैं, जीवसत्तोच्छेदपूर्वक द्वैतभाव मूलतः विलीन होजाता है। ग्रन्थिबन्धनोपयिक संचर (सृष्टि) भावानुगत कर्म्म का लेश भी शेष नहीं रह जाता। कर्म्मगर्भित विशुद्ध ज्ञान का ही साम्राज्य रह जाता है। अतएव अन्तर्य्यामसम्बन्धात्मिका अद्वैतभावप्रवर्त्तिका ऐसी निर्गुणोपासना को हम 'ज्ञानयोग' ही कहेंगे। ऐसी निर्गुणोपासना के सम्बन्ध में भगवान् शङ्कराचार्य्य का अद्वैतस्थापन पक्ष सर्वथा प्रमाणिक, एवं उपादेय माना जाएगा।

६२-अपरामुक्तिलक्षण-सालोक्य–सामीप्य–सारूप्य–सायुज्य–विवर्तचतुष्टय, एवं रामानुज-वल्लभ–निम्बार्क–मध्व-प्रभृति आचार्य्यों के विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैतादिभाव प्रेरितोपासनाकाण्डात्मक "भक्तियोग" का निरूपण—

बहिर्य्यामसम्बन्ध से जीव ईश्वर का सान्निध्य (जिसके सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य, भेद से अपरामुक्तिलक्षण चार विवर्त माने गए हैं)। मात्र प्राप्त कर सकता है। ब्रह्मवित् ही ब्रह्म बन सकता है,

ब्रह्मोपासक नहीं। भगवान् रामानुज का सगुणब्रह्मवाद इस सगुणोपासनाकाण्ड की दृष्टि से सर्वथा प्रामाणिक तथा उपादेय है। सगुणोपासना में विशिष्टाद्वैत ही मान्य है, निर्गुणोपासना में अद्वैत ही मूलप्रतिष्ठा है। दृष्टिकोण भेद से उभयसम्प्रदायवाद स्व स्व स्थान में अक्षुण्ण है। सगुणोपासना में आधिभौतिक आलम्बन अनिवार्य्य है। निर्गुणाभाव में क्योंकि भौतिकालम्बन का ऐकान्तिक अभाव है, अतएव उस पथ को हम विशुद्ध आधिदैविक ही कहेंगे। उपासना का स्वरूप क्योंकि, उभय समन्वय पर निर्भर है, अतएव निर्गुणो--पासना का हम ज्ञानयोग में ही अन्तर्भाव मानेंगे। भगवान् रामानुजवल्लभ--निम्बार्क--माध्वाचार्य्यादि वैष्णवाचार्य्य सम्मत वह सगुणोपासना, जिसमें विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैत, आदि भावों के कारण भौतिक-दैविक, दोनों का समावेश है-ही उपासनाकाण्ड कहलाएगा, जो कि साम्प्रदायिक भाषा में 'भक्तियोग' कहलाया है।

६३-उपास्योपासक निर्वचन प्रयुक्त "नृप-सेवक" उदाहरण एवं अनुग्राह्य अनुग्राहक भावोपरति समुत्थाद्वैत-निरूपण—

आहार्य्यारोपविधा, प्रतिकृतिविधा, प्रतीकविधा, इन तीन उपासनाविधाओं के द्वारा, जिनका स्वरूप अगले प्रकरणों में विस्तार से बतलाया जाने वाला है, जीवात्मा स्वोपास्य की--'उप--आसना' लक्षणा उपासना में सफल होसकता है। 'उपास्ते' का अक्षुतात्पर्य्य है-'ईशसमीपे आस्ते'। यह सान्निध्य--लोकतः, संनिधानतः, शरीरतः, परिमितअधिकारतः, चार ही भांति से सम्भव है। अतएव सगुणो-पासनालक्षणा अपरामुक्ति के चार ही विवर्त्त माने गए हैं। एक सेवक राजा की उपासना करता है। प्रसन्न होकर राजा आज्ञा दे देता है कि, आज से तुम शहर में न रह कर हमारे प्रासाद में ही रहा करो। अधिक प्रसन्नता में-'हमारे समीप ही रहा करो' यह कह देता है। और भी अधिक प्रसन्नता में राजा अपना प्रतिष्ठापद (ताज़ीम) दे देता है। जो प्रतिष्ठा राजा की होती है, वही इस सेवक की भी होने लगती है। आत्यन्तिक प्रसन्नता पर परिगणित अधिकारों के अतिरिक्त राजा अन्य सब अधिकार भी इसे देदेता है। ये ही चारों श्रेणियाँ क्रमशः सालोक्य (लोकतः) सामीप्य (संनिधानतः), सारूप्य (शरीरतः), सायुज्य (परिमित अधिकारतः), इन नामों से प्रसिद्ध हुई हैं। सेवक सेवा द्वारा सभी कुछ प्राप्त करलेता है। राजा के समान प्रजा इसका शासन भी मानने लगती है। परन्तु, राजा नहीं बन सकता। जिस दिन सेवक राजा भी बन जाएगा, उस दिन तो अनुग्राह्य-अनुग्राहक सम्बन्ध ही न रहेगा। फिर तो उस अद्वैत-सम्पत्ति का समावेश होजाएगा, जो सेवा से नहीं, अपितु समानप्रत्ययप्रवाहात्मक ज्ञानयोग से सम्भव है।

६४ उपासनानन्यधिया उपासक का लोकतः, सन्निधानतः, शरीरतः, परिमित अधि-कारतः ईश्वरसम्बन्धानुबन्ध एवम् अनुष्ठीयमान भक्तिकरणात्मक-कर्म्मानुत्य का उपचारविधा "उपासना" नाम्ना-निरूपण—

यही दृष्टान्त व्यवस्था जीवेश्वर सम्बन्ध में घटित है। उपासना से उपासक जीव 'गोसव' नामक विष्णुधामात्मक ईश्वरलोक में जाता हुआ लोकतः सम्बन्ध प्राप्त कर सकता है। ३६ अहर्गणस्थित पारमेष्ठ्य विष्णु के समीप जाता हुआ सन्निधानतः सम्बन्ध प्राप्त करसकता है। पारमेष्ठ्य व्याप्तिअधि-धर्म्मानुग्रह से तद्रूप में परिणत होता हुआ शरीरतः सम्बन्ध प्राप्त करसकता है। सृष्टिकर्म्मत्वादि परि-गणिताधिकारों को छोड़ कर निग्रहानुग्रहादि अन्यान्य अधिकार प्राप्त करता हुआ परिमित अधिकारतः

सम्बन्ध प्राप्त करसकता है। सब कुछ बन सकता है, ईश्वरवत् बन सकता है, ईश्वर नहीं बन सकता। यही उपासना का चरम फल है, जिसके लिए जीव को परमात्मा का भक्त (अवयव) बनना आवश्यक है। इस भक्तिभाव प्राप्ति के लिए जीवात्मा भक्तिकरणात्मक जिस साधक कर्म का अनुगमन करेगा, वह साधनात्मक कर्म्म ही, जिसे कि हम साधनात्मिका भक्ति कहेंगे, उपचारविधा 'उपासना' नाम से व्यवहृत हुआ है। निम्न लिखित लक्षण इसी उपचारविधात्मक भक्तिस्वरूप का समर्थन कररहा है—

"जीवात्मनः परमात्मभक्तिकरणमुपासनम्"

--६--

—— * ——

६५—उपासक द्वारा उपास्य के धर्म्मों का मन बुद्धि शरीरात्मना सर्वभावेन तादात्म्यीकरण, उपास्य अध्वर्यु, अनुगामी प्रतिप्रस्थाता—ऋत्विक् एवं उसके अन्तर्जगत् में अध्वर्यु के इच्छा कर्म्म की सतत चर्वणा के सात्म्य से सम्भूत उपासना—सिद्धि का अन्यतम द्वार —

उपासना के द्वारा उपासक उपास्य के धर्म्मों का क्रमिक अभ्यास द्वारा अपने आप में समावेश करता हुआ उपास्य में तल्लीन होना चाहता है। इस सायुज्यभाव प्राप्ति के लिए उपासक को अवश्य ही आरम्भ में उपास्यधर्म्मों का अनुगमन करना पड़ेगा। उदाहरण के लिए ईश्वर को ही उपास्य मान लीजिए। ईश्वरीय मन सत्यसंकल्प से, प्राण कर्म्म से, वाक् सत्यवाणी से युक्त है। उपासक को मनसा-वाचा-कर्म्मणा इसी सत्य का अभ्यास करना पड़ेगा। उपासक के मन-बुद्धि-इन्द्रियवर्ग-आत्मा-शरीर-सब कुछ आध्यात्मिक पर्व उपास्य ईश्वरधर्म्मों के अनुगामी बने रहेंगे, एवं तभी उपासक लक्ष्य पर पहुँच सकेंगे। पूर्व प्रकरण के-'सहजोपासना' परिच्छेद में इसी धर्मसमर्पण को सर्वधर्म्म परित्याग कहा गया है। 'प्रतिप्रस्थाता अध्वर्युमुपास्ते' इस कर्मकाण्डलक्षण के अनुसार प्रतिप्रस्थाता-स्थानीय उपासक को अध्वर्युस्थानीय ईश्वर के प्रति मनबुद्ध्यादि अर्पित करने पड़ेंगे। याज्याकर्माधिष्ठाता अध्वर्यु जब अपना कर्म्म समाप्त कर लेता है, तदनन्तर प्रतिप्रस्थाता अपना वह कर्म्म करता है, जिससे अध्वर्यु कर्म्म साङ्गोपाङ्ग बनता है। फलतः जब तक अध्वर्यु स्वकर्म्म करता रहता है, तब तक अनुगामी प्रतिप्रस्थाता को अपना मनोयोग अध्वर्यु के प्रति अनन्यभाव से समर्पित रखना पड़ता है। उपास्य अध्वर्यु की यह इच्छा है कि, जब तक मैं अपना कर्म्म समाप्त नहीं कर लेता, तब तक तुम प्रतीक्षा करो। अध्वर्यु की इस इच्छा के अनुकूल ही प्रतिप्रस्थाता को अपनी इच्छा बनानी पड़ती है। प्रतिप्रस्थाता का कर्म्म वास्तव में अध्वर्यु का ही कर्म्म है। क्योंकि, अध्वर्यु उतना कर्म्म करने में असमर्थ है, अतएव प्रतिप्रस्थाता—नामक ऋत्विक् सहायक बना दिया जाता है। प्रतिप्रस्थाता अध्वर्यु का प्रातिनिध्य ही करता है। निष्कर्षतः उसकी जो इच्छा, जो कर्म्म है, वही इच्छा, वही कर्म्म इस प्रतिप्रस्थाता का है। प्रतिप्रस्थाता के अन्तर्जगत् में सतत अध्वर्यु की इच्छा-कर्म्म की ही चर्वणा चल रही है। उस की प्रत्येक इच्छा-प्रत्येक कर्म्म इस के लक्ष्य में है और यही उपासना सिद्धि का अन्यतम द्वार है।

९६–"द्वारदेशस्थितः सेवको राजान मुपास्ते" इत्यात्मक सेवक-मनोबुद्धिलयात्मक वृत्तिधर्म्मावच्छिन्न उपासना स्वरूप का निर्वचन—

राजा किसी उत्सव विशेष में जाते हुए सेवक को यह आदेश दे जाते हैं कि, जब तक हम वापस न लौटें, तब तक तुम यहीं रहना। बस सेवक के मन–बुद्ध्यादि राजा की आदेश–प्रतीक्षा में तल्लीन होजाते हैं। इतस्ततः ध्यान न बांटता हुआ सेवक–'अब आते हैं–कब आते हैं' वृत्युन्मुख बनता हुआ सज्जीभूत बन कर राजा की प्रतीक्षा करता रहता है। ऐसी स्थिति के लिए भी हम कह सकते हैं कि–द्वारदेशे स्थितः सेवको राजानमुपास्ते'।

९७–"समितिसभ्या घटिकायन्त्रशब्द मुपासते" इत्यात्मक मनोबुद्धि समाकर्षि–"उपासना" लक्षण निर्वचनम्—

नागदन्त (खूंटी) पर घटिकायन्त्र टंगा हुआ है। हम नीचे खड़े हैं। ठीक दस बजे हम अपनी समिति का कार्य्यारम्भ करने वाले हैं। दस के सान्निध्य में जब घटिका–सूची आनी लगती है, तो हम कहते हैं–'जरा शान्त होजाइए। अब दस की टङ्कार होने ही वाली है। सब सभ्यों के मन–बुद्धि उस ध्वनि की ओर आकर्षित होजाते हैं। उपास्यघटिकायन्त्र का भावी शब्द (ध्वनि) सब का लक्ष्य बन रहा है। अन्य–मनस्कता में लक्ष्यच्युति सम्भव है, ध्वनिश्रवण में व्याघात सम्भव है। इसी उदाहरण के लिए 'समिति–सभ्याः–घटिकायन्त्रशब्दमुपासते' कहा जासकता है।

९८–उपास्येच्छावृत्यनुकूलाचरणात्मिका "उपासना" एवं "यवनसाधुर्बकवृत्या पणक मुपास्ते" दृष्टान्त–निरुक्ति—

बक (बगुला) सरोवर में एक पैर से खड़ा रहकर ध्यानमग्न होकर मत्स्य के आगमन की प्रतीक्षा कर रहा है। पानी में आघात लगने से मछली भाग सकती है। प्रत्याघात जनित अप्–शब्द मत्स्यागमन का प्रतिबन्धक है, मत्स्यागमनेच्छा के विरुद्ध है। अतएव वस्तुतः उपासक बक मत्स्यागमनवृत्ति के अनुकूल बने रहने से शान्तभाव से खड़ा रहता है और इस ऐकान्तिक ध्यान से वह लक्ष्य पर पहुँच जाता है, मछली मिल जाती है। इसी उदाहरण के लिए कहा जासकता है कि–'ध्यानमग्नो बको मत्स्यागमनमुपास्ते'। सचमुच उपासना में सुप्रसिद्ध 'बकध्यान' ही अपेक्षित माना गया है। यही उपासक का शिक्षक है। ऐका–न्तिक ध्यान कैसे किया जाता है ? इस प्रश्न का उत्तर 'बकध्यान' से भली भाँति मिल सकता है।

९९–घटिकायन्त्र–मत्स्य–पणकादि पार्थिवालम्बन सापेक्ष "उपासना" एवम् आधिभौ–तिकाधिदैविक समन्विति का उपासनालक्षणेन निर्णचन—

यवनसाधु (मुसलमान फकीर) का दृष्टान्त इसलिए उपस्थित करना पड़ रहा है कि, हिन्दू–साधु तो आज इस कर्म्म के भी योग्य नहीं रह गए हैं। एक फकीर राजमार्ग के फुटपाथ पर आंखमूंदे बैठा हुआ है। वह जानता है कि, दाता से बलपूर्वक नहीं लिया जासकता। इसके लिए तो बकवृत्ति धारण करना ही आव–श्य है। यदि मैं दाता की इच्छा के विरुद्ध बलप्रयोग करूंगा, तो पैसा न मिलेगा। यह निश्चय कर वह शान्तभाव से एकत्र बैठ जाता है, और कहने लगता है—'दे उसका भी भला, न दे उसका भी भला'। लक्ष्य

पर पैसा चढ़ा हुआ है। पैसा लेना है, इसे दाता से। अतः परम्परया दाता भी उपास्य बन रहे हैं। इस उपास्येच्छावृत्यनुकूल आचरण से अवश्य ही यह अपनी उपासना में सफल हो जाता है। इसी उदाहरण के लिए कहा जासकता है कि—'यवनसाधुर्वकवृत्या पणकमुपास्ते'।

१००-घटिकायन्त्रध्वनि-मत्स्यागमन-पणकप्रतीक्षाऽनुबन्धिनी दृष्टान्तत्रयी के सम्बन्ध में विवक्षित आधिभौतिक आधिदैविक आलम्बन, तन्निष्ठा उपासनासिद्धि एवम् एतद्द्वयी-समन्विति का उपासना-निदानत्व—

घटिकायन्त्रध्वनि, मत्स्यागमन, पणकप्रतीक्षा, उक्त तीनों दृष्टान्तों से हमें उपासना के सम्बन्ध में विशेष वक्तव्य है। अतएव ऐसे दृष्टान्त उपस्थित किए गए हैं। तीनों ही दृष्टान्त ऐसे हैं, जिनमें मन निरालम्ब ठहरा हुआ है। घटिकाशब्द, मत्स्यागम, पणप्राप्ति, अभी भावी गर्भ में हैं। न समितिसभ्यों के सामने ध्वनि है, न बक के सामने मत्स्य है, एवं न साधु के सामने पैसा है। फिर भी तीनों के मन उन भावी आलम्बनों पर दृढ होरहे हैं। इसका यह तात्पर्य्य नहीं है कि, आधिभौतिक आलम्बन के बिना उपासना बन सकती है। अवश्य ही प्रत्येक दशा में भौतिक आलम्बन तो अपेक्षित है ही। घटिकाशब्द प्रतीक्षा में घटिकायन्त्र स्वयं भौतिक आलम्बन है। घटिकायन्त्र के अभाव में कभी हमारा मन निरालम्ब-घटिकाशब्द में तल्लीन नहीं होसकता। मत्स्यागमन में आधिभौतिक पानी आलम्बन है। शुष्क सरोवर में बक कभी स्वध्यानवृत्ति-व्याज का अभिनय नहीं करेगा। साधु के लिए पथिक ही आधिभौतिक आलम्बन हैं। वह जानता है कि अमुक मार्ग से जनसमुदाय आता जाता रहता है। वैसे ही जनसमाकुल स्थान में वह स्वोपासनासिद्धि के लिए बैठता भी है। जहां जन-समुदाय के गमनागमन का अभाव है, वहां वह कभी न बैठेगा। इस प्रकार तीनों ही भावी आलम्बनों में प्रत्यक्षात्मक भौतिक पदार्थ आलम्बन बन रहे हैं। तभी तो हम इन्हें उपासनादृष्टान्त मान रहे हैं। आधि-भौतिक-आधिदैविक, दोनों के समन्वित रूप का ही नाम तो उपासना है।

१०१-उपासना शब्द गत-उप+आस्ते, तन्निष्ठ आधिदैविक "उप" एवं आधिभौतिक "आस्ते" एवं उपासक-कर्तृक अध्यात्मभाव की अक्षुण्ण आधिभौतिकता का निरूपण—

स्वयं 'उपासना' शब्द भी इसी उभयसमन्वय का समर्थन कर रहा है। 'उप-आस्ते' वाक्य में 'आस्ते' का कर्त्ता भिन्न है, जिसके समीप कर्त्ता बैठता है, यह कर्त्ता से भिन्न है। 'आस्ते' का कर्त्ता (बैठने वाला) आधिभौतिक है। जिस के समीप यह कर्त्ता बैठता है, वह आधिदैविक है। इस प्रकार—"उपास्ते" का "उप" भाव आधिदैविक भाव का, "आस्ते" भाव आधिभौतिक भाव का समर्थक बन रहा है। फलतः 'उपास्ते' वाक्य दोनों के समन्वित रूप का ही उपासनापरत्व सिद्ध कर रहा है। प्रश्न हो सकता है कि, 'आस्ते' का कर्त्ता उपासक तो आध्यात्मिक है। फिर 'आस्ते' से आधिभौतिक का ग्रहण किस आधार पर किया गया? उत्तर में कहा जाएगा कि, साधन, कर्त्ता, दो तरह से 'आस्ते' भाव आधिभौतिक का समर्थक बना हुआ है। मान लेते हैं-अस्ति का कर्त्ता उपासक आध्यात्मिक है। परन्तु, जिन साधनों से यह अपना उपासनाकर्तृत्व निभाता है, वे साधन तो आधिभौतिक ही हैं। इन साधनों के प्रति उपासक के आत्मा का ममत्व है। 'यावद्वित्तं तावदात्मा' इस श्रौतसिद्धान्त के अनुसार साधन भूत परिग्रह उपासक से अभिन्न हैं। एवं इस परम्परा से उपासक की आधिभौतिकता अक्षुण्ण है।

१०२- अध्यात्म-अधिभूत-अधिदैवतभावानुबन्धी विभिन्न महिमविवर्तों के अनुबन्ध से नाक्षत्रिक संस्थानुगता उपासना के रहस्यात्मक तथ्यों का स्वरूप-समन्वय-प्रयास-

अपिच, उपासक स्वयं भी साक्षात्‌रूप से ही आधिभौतिक भी माना जा सकता है। शारीरिकसंस्था अध्यात्म विवर्त्त है, पार्थिवसंस्था आधिभौतिक विवर्त्त है, सौरसंस्था आधिदैविक विवर्त्त है। यद्यपि विज्ञान दृष्ट्या (केवल शरीरस्थित आत्मा को छोड़कर) तीनों ही संस्था मौतिक विश्वात्मक होने से आधिदैविक ही हैं, तथापि उपासना-सम्बन्ध से तीनों में अध्यात्मादि की व्यवस्था मान ली गई है। खगोलीयनक्षत्र-मण्डल सौरजगत् में अन्तर्भूत होने के कारण आधिदैविक है। इन नक्षत्रपुञ्जों के राशि-आकार के अनु-रूप मेष-वृष-मिथुन-कर्कादि चित्र कल्पित हुए हैं। इन कल्पित चित्रों को आलम्बन बना कर नक्षत्रपुञ्जों की उपासना ज्योतिः शास्त्र में विहित है। सौरमण्डलान्तर्गतत्वेन नक्षत्रपुञ्ज भी आधिदैविक हैं। तत्प्रतिकृ-तियों का तो आधिदैविकत्त्व स्वतः सिद्ध है ही। परन्तु उपासना क्योंकि उभयसमन्वय के बिना बन नहीं सकती अतएव प्रत्यक्षदृष्ट नक्षत्रपुञ्जों को आधिभौतिक मानना पड़ता है, एवं चित्रों को आधिदैविक मानना पड़ता है। नक्षत्रों को आलम्बन बना कर तत्-तत् देवप्राणों की उपासना जाती है। प्रकृत में कहना यह है कि, आत्मविवर्त्त को छोड़ कर पार्थिव शरीर, चान्द्रमन, सौरबुद्धि, अग्निमयीवाक्, वायुमय प्राण, आदित्यात्मक चक्षु, दिक्सोमात्मक श्रोत्र, भास्वरसोमात्मक इन्द्रिय मन, ये पाँचों इन्द्रियाँ. सभी तो आधिभौतिक हैं। मनबुद्धयादि द्वारा ही तो उपासक आत्मा उपास्य प्राप्त में सफल बनता है। प्रतिमादि जहां बाह्य आधि-भौतिक साधन हैं, वहां मन-बुद्धि-इन्द्रियादि आभ्यन्तर आधिभौतिक साधन हैं। ये-आभ्यन्तर साधन-'आत्मेन्द्रिमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' इत्यादि कठोपनिषत् सिद्धान्तानुसार जहां 'आस्ते' के कर्त्ता बनते हुए साक्षात्‌रूपेण आधिभौतिक हैं, वहां प्रतिमादि साधन साधनात्मकत्वेन अधिभौतिक हैं। इसप्रकार उभयथा आस्ते का कर्त्ता उपासक आधिभौतिक बन रहा है। एवं 'उप' भाव आधिदैविक का संग्राहक बन रहा है। फलतः 'उपास्ते' से भौतिकदैविक दोनों का संग्रह हो रहा है। अवश्य ही उपासना-सिद्धि के लिए दोनों भावों का अनुगमन अनिवार्य्य हो जाता है। जहां दोनों आधिदैविक होंगे, वहां एक को आधिभौतिक मानना पड़ेगा, एक को आधिदैविक, जिस का उदाहरण नक्षत्रात्मक है। जहां दोनों आधिभौतिक होंगे, वहां एक को आधिदैविक मानना पड़ेगा, जिस का उदाहरण निम्न लिखित है।

१०३-यच्चयावत् निःस्वार्थभावेन सम्पादित कर्म्म का उपासनात्व, स्वार्थवृत्त्यनुगा उपासना के अधिदैवततत्त्व की अधिभूततत्त्व में परिणति, एवं स्वार्थराहित्येन विहित कर्म्म के अधिभूततत्त्व का भी अधिदेवत्त्व निरूपण—

सुवर्ण और सुवर्ण की खान, यहां दोनों ही आधिभौतिक हैं। सुवर्णखोदना लक्ष्य है, दूसरे शब्दों में सुवर्णप्राप्त करना लक्ष्य है। दृष्टि खान पर है, मन सुवर्ण पर है। खान साधक है, सुवर्ण लक्ष्य है, आराध्य है, उपास्य है, साथ ही दोनों ही आधिभौतिक हैं। यदि प्राप्तसुवर्ण से परमार्थ कर्म्म अभीष्ट है, तो यही सुवर्ण पारमार्थिक आधिदैविक फल का जनक बनता हुआ स्वरूपतः आधिभौतिक रहता हुआ भी परम्परया आधिदैविक बन जाएगा। और उस दशा में सुवर्णान्वेषक को हम कर्म्मयोगानुयायी न कह कर

उपासक कहेंगे। उपासनासिद्धि के लिए आधिभौतिक भी सुवर्ण को आधिदैविक मानना पड़ेगा। मानना क्या पड़ेगा, निःस्वार्थभावनात्मक लक्ष्य से सुवर्ण स्वतः एव आधिदैविक बन जाएगा। निःस्वार्थभावेन संगृहीत सुवर्ण से राष्ट्र का उपकार होगा, विश्वात्मा सन्तुष्ट होंगे, विश्वात्मा के सृष्टिकर्म्मसञ्चालक सर्वहुतयज्ञ की इतिकर्त्तव्यता सम्पन्न होगी। कर्म्म और उपासना में इस दृष्टिकोणमात्र का ही तो भेद है। यच्चयावत् उपासनाएँ स्वार्थभाव से कर्म्म बन जाती हैं, फिर भले ही उन में साध्य आधिदैविक ही क्यों न हो। एवमेव यच्चयावत् कर्म्म निःस्वार्थ भाव से उपासना रूप में परिणत हो जाते हैं, फिर भले ही उन कर्म्मों के साध्य-साधन-दोनों आधिभौतिक ही क्यों न हों। स्वार्थानुगता उपासना में जहां आधिदैविक आधिभौतिक बन जाएगा वहां निःस्वार्थ कर्म्म में आधिभौतिक आधिदैविक बन जाएगा। एवं वही कर्म्म, वही उपासना, उपासना कहलाएगी, जिस में आधिदैविक, आधिभौतिक दोनों का समन्वय होगा। बिना उभय-समन्वय के उपासना असम्भव है। उपासना में या तो उभय समन्वय प्रकृत्या रहेगा, नहीं रहेगा तो परम्परया मानना पड़ेगा।

१०४-"उपास्यवृत्यनुकूल वृत्तिधारणमुपासनम्" इत्यात्मक उपासनालक्षण-प्रकरणोपात्त सप्तमलक्षण-निरुक्ति-निर्वचन –

उक्त प्रासङ्गिक चर्चा को विश्राम देते हुए अन्त में इस सम्बन्ध में हमें यही कहना है कि, उपासना तभी उपासना मानी जाएगी, जब कि उपासक की इच्छा उपास्य की इच्छा में आत्मसमर्पण कर देगी। उपास्यवृत्ति के अनुकूल आचरण करना ही उपासना की मूलप्रतिष्ठा मानी जाएगी। तभी उपासक में उपास्यधर्म्मों का प्रवाह प्रवाहित होगा। एवं इसी उपास्यधर्म्मप्रवाह से उपासक उपास्य के उप (सामीप्य) भावात्मक उपासनालक्ष्य पर पहुँचने में समर्थ हो सकेगा। निम्नलिखित लक्षण उपासना की इसी मूलप्रतिष्ठा का दिग्दर्शन करा रहा है—

"उपास्यवृत्यनुकूलवृत्तिधारणमुपासनम्"

७

१०५-उपासना मूलाधारभूता 'श्रद्धा', तच्छून्यतादशा प्रयुक्त पूजनार्च्चन-प्रणतभावादि का आत्मवञ्चनानिगूढ-वैयर्थ्य, एवम् श्रद्धारससिक्तमनोन्वित दृष्टि-रश्मि-सूत्रप्रोत भावनाबुद्धि का उपास्यनिष्ठ स्थिर-सम्बन्धान्वयी मूलप्रतिष्ठात्व—

सप्तमलक्षण मुग्धभावापन्न है। उपासना की मूलप्रतिष्ठा का उस से, जैसा चाहिए, विश्लेषण नहीं हो रहा, अतएव प्रकारान्तर से उक्तलक्षण का ही रूपान्तर पाठकों के सम्मुख रक्खा जाता है। अबतक उपासना के जो भी लक्षण बतलाए गए हैं, उन से क्या फलितार्थ निकला ? प्रकृत आठवाँ

लक्षण इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है। दूसरे शब्दों में उपासना-मार्ग पर आरूढ उपासक किन किन नियमों, वृत्तियों आदि के अनुगमन-अभ्यास-आचरणादि से लक्ष्य पर पहुँच सकता है, प्रकृत लक्षण इसी जिज्ञासा का समाधान कर रहा है। उपासना का प्रथम, साथ ही सर्वमुख्य बीज है-"श्रद्धा"। यदि श्रद्धा का अभाव है, तो अन्य नियमोपनियम, पूजन-अर्चन-ध्यानादि सब कुछ नितान्त व्यर्थ होजाते हैं। समाज-लज्जा से, वातावरणाकर्षण से, अन्यान्य कारणों से यदि हम भगवत् प्रतिमा के सम्मुख मस्तक नमा भी देते हैं, तो श्रद्धाशून्य इस प्रणत भावना का आत्मवञ्चना के अतिरिक्त और कोई फल नहीं है। श्रद्धामय मन की प्रेरणा से होने वाला प्रणतभाव ही वास्तविक प्रणतभाव है। श्रद्धाशून्य मन का योग, श्रद्धाविरहित भावनाशून्य मनो योगात्मिका चाक्षुषीदृष्टि का सम्बन्ध सर्वथा निरर्थक है। उपास्यधर्म्मानुग्रह के लिए, जिस का 'आत्मप्रसाद' प्राप्ति से श्रद्धालुजन प्रत्यक्ष में अनुभव किया करते हैं, उपासक के मन में उपास्यानुगत श्रद्धा-रस प्रवाहित रहना चाहिए। इस के चक्षु में हृदयावच्छिन्न श्रद्धामयमन से अर्कद्वारा समुत्थित श्रद्धात्मक-प्रसाद भाव रहना चाहिए। श्रद्धारस से ओतप्रोत जो मन है, ऐसे श्रद्धारसात्मक श्रद्धालु मन के साथ युक्ता जो दृष्टि है, श्रद्धारसात्मिका मनोमयी ऐसी दृष्टि के रश्मिसूत्र में प्रोत जो भावना बुद्धि है, श्रद्धारसात्मक मनोयुक्त दृष्टिसूत्रार्पित ऐसी भावानात्मिका बुद्धि का उपास्य के प्रति जो स्थिर सम्बन्ध है, वही उपासना की मूलप्रतिष्ठा है।

१०६-श्रद्धा-मनोयोग-दृष्टि-दीर्घकाल-नैरन्तर्य्यापेक्षासमूह के अत्रुटिमत्, अव्यवच्छिन्न, धारावलोपकृत रूपानुगत्य का "उपासना" दृढाधारत्व एवं योगसूत्रेण तत्समर्थन-

और अधिक स्पष्टीकरण कीजिए। सर्वारम्भ में श्रद्धा है, अनन्तर मनोयोग है, अनन्तर दृष्टि है, अनन्तर स्थिरतालक्षण दीर्घकाल है, अनन्तर दृढभाव प्रवर्त्तक नैरन्तर्य्य है, सबके साथ, सबको सफल बनाने वाली अपेक्षा है। इसप्रकार श्रद्धा, मनोयोग, दृष्टि, दीर्घकाल, नैरन्तर्य्य, अपेक्षा, आदि साधनों के एकलक्ष्य (उपास्य) पर समन्वित होने से ही लक्ष्यप्राप्ति सम्भव है। मान लीजिए, अपने उपास्य के प्रति हमारी पर्य्याप्त श्रद्धा है। श्रद्धावश ही उपास्य हमारे लिए श्रद्धेय, दोषरहित, पूज्य बन रहा है। परन्तु, केवल इस श्रद्धात्मिका भावना मात्र से ही तब तक उपासना नहीं बन सकती, जबतक कि, श्रद्धा के साथ साथ मनोयोगानुगता दृष्टि उस उपास्य पर न चली जाय। श्रद्धा भी है, तदनुप्रोता मनोयोगयुक्ता भावनात्मिका दृष्टि भी है, परन्तु, कुछ ही समय के लिए। तब भी कार्य्यसिद्धि सम्भव नहीं है। दृष्टि का दीर्घकालपर्य्यन्त-आलक्ष्यसिद्धि-योग आवश्यक है। मान लीजिए-आप दृष्टि का योग तो बराबर बनाए रखते हैं। परन्तु, प्रमादालस्य लोकव्यवहारासक्तिवश मध्य मध्य में भुलाते रहते हैं। आज उपास्य की ओर दृष्टि लगाई, पुनः दस दिन छोड़दी। इसप्रकार मध्य-मध्य के विराम से दीर्घकाल भी तबतक उपयुक्त नहीं बन सकता, जब तक कि-अव्यवधानपूर्वक-निरन्तर आप उपासना-दृष्टि प्रक्रान्त नहीं रखते। नैरन्तर्य्य ही धारावल का अनुग्राहक बनता हुआ आत्मशक्तिदार्ढ्य का कारण बनता है। यह अनुभूत है कि, चिरकालिक उपासनाबल एक दिन के भी व्यवधान से धारासम्बन्ध से पृथक् होता हुआ निरर्थक बन जाता है। श्रद्धा है, मनोयोग है, दृष्टि है, दीर्घकाल है, नैरन्तर्य्य भी है, परन्तु जबतक अपेक्षाबुद्धि का भी सहकार नहीं होजाता, तबतक भी काम नहीं चल सकता। स्थिरता उत्पन्न करना अपेक्षा बुद्धि का अन्यतम धर्म्म है। 'ध्यान कर तो रहे हैं, और कैसे करें' इस उपेक्षावृत्ति से अनुष्ठीयमाना उपासना कभी उपास्य के प्रति आत्मनिष्ठा को दृढमूल नहीं

होने देती। इसप्रकार श्रद्धागर्भितमनोयोगयुक्ता दीर्घकालानुगता धारावलोपस्कृता अपेक्षाबुद्धिसहकृता स्थिरदृष्टि ही उपासना-साफल्य का अन्यतम द्वार बना करती है, जिसका-'स तु दीर्घकालादरनैरन्तर्य्यसत्कारासेवितो दृढ भूमिः' इत्यादि योगसूत्र से भी समर्थन हुआ है।

१०७-श्रद्धा-मनोयोगादि उपासनौपयिक-उपादान-सम्भार के उपस्थित रहते हुए भी स्वातन्त्र्यापलाप-विनाकृति में लक्ष्य (उपास्य) लय का असम्भवत्व, शिष्य-प्रयुक्त-स्वाचरण-सौविध्यापेक्षावृत्तिकारणता से आचार्यानुकूल परिस्थिति परिकल्पन-अनवसर में कृतपरिचर्य्या का वैयर्थ्य, अपिच अनन्यभाव से ईशिता में आत्मार्पण विधान और एतेनैव नित्याभियुक्त के योगक्षेम निर्वाहण का भगवच्छब्दों में प्रतिज्ञान—

अभी एक निमित्त का सहयोग और अपेक्षित है। श्रद्धादि सब निमित्तों के उपस्थित रहने पर भी सर्वप्रधान वह निमित्त अभी बच रहता है, जिसके बिना लक्ष्यलीनता असम्भव है। वह निमित्त है-'स्वातन्त्र्यापलापपूर्विका परवशता'। उदाहरण के लिए गुरुसेवा को ही लीजिए। गुरु के प्रति उपासक शिष्य की श्रद्धासूत्रार्पिता मनोयोगयुक्ता अपेक्षाबुद्धिसहकृता स्थिर दृष्टि अवश्य है। परन्तु, अस्थिरप्रज्ञ शिष्य इस दृष्टि में अपना स्वातन्त्र्य रखता है। अपनी सुविधा के अनुसार, अपनी अनुकूलता देखकर समय निकालना है। श्रद्धेय गुरु की अनुकूल परिस्थिति का कोई ध्यान नहीं, केवल अपनी अनुकूलता अभिप्रेत है। उपास्य की परिस्थिति ने शिष्य की अपेक्षा बुद्धि का निर्म्माण नहीं किया, अपितु उपासक की परिस्थिति ने अपनी अपेक्षाबुद्धि का निर्म्माण किया। ऐसी स्वतन्त्रभावनात्मिका, स्वानुकूलपरिस्थिति-अनुगता परिचर्य्या भी अन्ततोगत्वा इतर साधनों के रहते भी व्यर्थ ही सिद्ध होती देखी गई है। अवश्य ही हमें-यहां इतरनिमित्तों के साथ साथ अपने आप को भी सर्वात्मना उपास्यपरिस्थिति के प्रति अर्पित कर देना पड़ेगा। उपासक को उपास्य बन जाना पड़ेगा, उपास्य के प्रत्येक धर्म्म का अनुगमन करना पड़ेगा। उपासक का सोना-उठना-हंसना-बोलना-सबकुछ उपास्य के शयनादि के साथ समतुलित करने पड़ेंगे। यही लक्ष्यसाधिका आत्मप्रपत्ति है, यही सर्वधर्म्मपरित्यागलक्षणा भगवच्छरणागति है, जिसका पूर्वप्रकरणान्तर्गत 'सहजोपासना' परिच्छेद में दिग्दर्शन कराया जाचुका है। जब तक उपासक का यत्किञ्चित् भी स्वातन्त्र्य है, तबतक अन्य निमित्तों के रहते भी उपासना कर्म्मकाण्ड की प्रतिच्छाया से युक्त ही मानी जाएगी। मानव की नित्य-अभियुक्तता ही इस की वास्तविक उपासना कहलाएगी। यह पारतन्त्र्य-उपास्य के प्रति आत्मसमर्पण-परिगणित कतिपय दिवसों का ही अभिप्रेत नहीं है, अपितु सदा सर्वदा के लिए अनिवार्य्य है। जिस प्रकार अपने अनन्य सेवक के भरण-पोषण का ध्यान राजा को रहता है, एवमेव अनन्य शरणागत, नित्य अभियुक्त उपासक के योगक्षेम का उत्तरदायित्व उपास्य पर ही रहता है। निम्नलिखित गीता वचन इसी सिद्धान्त का स्पष्टीकरण कर रहा है—

> अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
> तेषांनित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ गीता ९।२२।

१०८–उपास्यानुगत पारवश्याभावेन मनोयोगस्थितदृष्टि युक्त भी "अभियुक्त" का योगक्षेम चिन्तापरायणता—

उपासक, अभियुक्त, प्रायः योग–क्षेम की चिन्ता में निमग्न देखे जाते हैं। कारण स्पष्ट है। वे उपास्य के प्रति श्रद्धा–मनोयोग–अपेक्षाबुद्धिसहकृता स्थिरदृष्टि, समीकुछ रखते हैं, एवं इन निमित्तों के सम्बन्ध से उन्हें 'अभियुक्त' भी कहा जासकता है। परन्तु, योग–क्षेम चिन्ताग्रस्त ऐसे उपासकों के सम्बन्ध में यह अवश्यही कहा जासकता है कि, उन में उपास्यानुगत पारवश्य का अभाव है। अतएव उनकी उपासना 'परि' भाव से, उनकी अभियुक्तता 'नित्य' भावसे वञ्चित रह जाती है। परिभावात्मिका उपासना 'पर्युपासना' है, नित्यभावात्मिका अभियुक्ति नित्याभियुक्ति है। एवं ऐसे पर्युपासक, तथा नित्याभियुक्त ही योगक्षेम की चिन्ता से मुक्त रह सकते हैं। 'परि' भाव उपासना के यच्चयावत् निमित्तों का संग्राहक है, 'नित्य' भाव यच्चयावत् निमित्तों का सार्वकालिकत्व सूचित कर रहा है। बिना पारवश्य के 'परितः' भावका अभाव रहता है। अतएव पारवश्य–निमित्त से वञ्चिता उपासना 'पर्युपासना' नहीं बननेपाती। अतएव च केवल उपासकों, अभियुक्तों को योग–क्षेम चिन्ताग्रस्त रहना पड़ता है।

१०९–सर्व-निमित्त-संग्रहात्मिका पर्युपासना के (नित्याभियुक्ति के) उदाहरण वैवस्वता-न्वयप्रसूत महाराज दिलीप और एतत् सम्बन्ध में कवि कण्ठीरव कालिदास की सूक्ति का संस्मरण—

उक्त–सर्वनिमित्त संग्रहात्मिका पर्युपासना का, नित्याभियुक्ति का उदाहरण वैवस्वत कुलोद्भव महाराज दिलीप माने जासकते हैं। राष्ट्रीयमर्य्यादा रक्षार्थ सन्तानकामुक सम्राट् दिलीप की गोसेवा–आराधना–इसी 'परि' भाव सम्बन्ध से 'समाराधना' कहलाई है–'सम्राट् समाराधनतत्परोऽभूत्'। केवल २१ दिन पर्य्यन्त ही यह पर्युपासना चलती है, दिलीप की अभीष्टसिद्धि होजाती है। पर्युपासना का कैसा स्वरूप है, इस का समाधान करते हुए पर्युपासनासम्मंज्ञ कविकुल गुरु कालिदास कहते हैं—

> स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां निषेदुषीमासनबन्धधीरः।
> जलाभिलाषी जलमाददानां छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत्॥ –रघुवंशः

११०–श्रद्धेयानुकूल्यवर्तन-सापेक्ष उपासक द्वारा प्रयुक्त गन्धाक्षतपुष्पनैवेद्योपायन का वितथत्व, एतादृश यच्चयावत् शास्त्रविधिप्रतीप–व्याजधर्म्मानुगत भ्रान्तजनों का एतद्विषयक आक्षेप एवम् उपासनानिमित्तोपादेयताविश्लेषक "श्रद्धानस्त्रा-र्पित" लक्षण की निरुक्ति—

हम अपने शरीर से हस्त–पादादि द्वारा जो चेष्टाएँ करते हैं, हमारी छाया उन सब का यथावत् अनुकरण करती है। ठीक इसी भाँति छायावत् उपास्य का अनुगमन करना ही पर्युपासना है। ऐसी उपासना से २१ दिन में जहाँ दिलीप लक्ष्य पर पहुँच जाते हैं, वहाँ आज वर्षों भजन–पूजन करते रहने पर भी

हमारा लक्ष्य पर पहुँचना तो दूर रहा, आत्मशान्ति भी नहीं मिलती । कारण, हमारी उपासना उपासनाभास बनी रहती है । केवल "ड्यूटी" पूरी की जाती है । प्रातःकाल होने वाली ठाकुरसेवा को नौकरी की तरह कर्म्म मान रक्खा है । श्रद्धेय की अनुकूल परिस्थिति का अणुमात्र भी ध्यान नहीं है । जब सुविधा मिली, जैसे बन पड़ा प्रतिमा पर पानी उंडेला, चन्दन के छींटे दिए, अक्षतपुष्प फैंके, नैवेद्य लगाया-न लगाया-पट बन्द कर दिए । इन्हीं व्याज धर्म्मों से भारतीय उपासना स्थान (मन्दिर) आज निस्तत्त्व बन गए हैं, अथवा तो बनते जारहे हैं ! उपासना के वास्तविक तत्त्व के लुप्त होजाने से ही आज शास्त्रसिद्ध प्रतिमोपासना पर से धर्म्मप्राण प्रजा की निष्ठा उठती जारही है । साथ ही हमारे इसी दोष से भ्रान्तजन इस पर आक्षेप करने में समर्थ होरहे हैं । आक्षेप का दोष, उत्तरदायित्व हम पर है, न कि आक्षेपकर्त्ताओं पर । यदि हमें इन आक्षेपों से बचना है, यदि उपासनाकाण्ड की रक्षा अभीष्ट है, तो जिन श्रद्धादिनिमित्तों के सहयोग से उपासना का पर्युपासन भाव सुरक्षित रहता है, उन्हें अपनाना पड़ेगा । तभी हमारी उपासना लक्ष्यप्राप्ति का निमित्त बन सकेगी, उपासना निमित्त बन सकेगी । उपासनानिमित्तों की इसी आवश्यक उपादेयता का निम्नलिखित लक्षण से विश्लेषण होरहा है—

"श्रद्धानसूत्रार्पितमनोवृत्त्यनुकूलदृष्टिसूत्रार्पितायाः श्रद्धेयपरिस्थित्यनुरोधवदपेक्षा-बुद्धिसहकृताया भावनाबुद्ध्यास्तदनुरोधापेक्षित-वृत्तिस्थिरत्त्वमुपासनम्"

— ८ —

——— : * : ———

१११-पञ्चपुण्डीरप्राजापत्यबलात्मक पाञ्चभौतिक मायापरिग्रह गृहीत आधिभौतिक उपायों के द्वारा अमृतमय आधिदैविक उपास्य की प्राप्ति, एवं ज्ञानकर्म्मसमन्वय-रूपा, भूतदेवात्मिका (उभयात्मिका) प्रक्रिया का उपासनात्व—

पदे पदे प्रतिपादित हुआ है कि, अधिभूत-अधिदेव-सम्बन्ध से उपासना उभयात्मिका है, यही सर्वलक्षणों का सामान्य स्वरूप है । प्रकृतपरिच्छेद में इसी सामान्यलक्षणात्मक उपासना-धर्म्म के सम्बन्ध में दो शब्द निवेदन करते हैं । उभयात्मिका उपासना में व्यावहारिक कर्मात्मक आधिभौतिक के माध्यम से पारमार्थिक आधिदैविक तत्त्व का संग्रह किया जाता है । आधिभौतिक-पञ्चपुण्डरीप्राजापत्यबलात्मक-पाञ्च-भौतिक-मायापरिग्रहपरिगृहीत-मर्त्यविश्व से सम्बन्ध रखने वाले आधिभौतिक उपायों के द्वारा भूतातीत-विश्वातीत-आधिदैविक-अमृतमय ब्रह्म से सम्बन्ध रखनेवाले आधिदैविक उपास्य को प्राप्त किया है । जिस किसी भी प्रकृति रुचि के अनुकूल-आधिभौतिक पदार्थ पर बाह्यदृष्टि लगाकर तन्मूलक परोक्ष आधिदैविकतत्त्व के साथ मन का योग कराना ही उपासना है । उदाहरण के लिए भगवत् प्रतिमा, अथवा तो चित्र दृष्टि के सामने रख लिया गया । दृष्टि आधिभौतिकी प्रतिमा, किंवा चित्र पर रहेगी, मन का योग प्रतिमा-चित्र से लक्ष्यीभूत सर्वव्यापक भगवत्तत्त्व की ओर रहेगा । दृष्टि अन्य [भौतिक] पर, मनोयोग अन्य [आधिदै-

चिक] के साथ, यही उपासना मानी जाएगी। प्रतिमा भौतिक है, द्रव्यात्मिका है। क्रियासमष्टि गुण है, गुणकूट ही द्रव्य है। इसप्रकार द्रव्यात्मिका भौतिकी प्रतिमा परम्परया कर्म्मात्मिका बन रही है। उपासनानुगत हमारे यच्चयावत्कर्म्मों का आधार यह कर्म्मात्मिका प्रतिमा ही बनती है। भगवन्निमित्त होने वाला अर्चन-पूजन-नैवेद्यनिवेदन आदि आदि यच्चयावत् कर्मों का अभिनय प्रतिमा से ही सम्बन्ध रखता है। है। जानते हैं-प्रतिमा कर्म्मात्मिका है, मर्त्य है, अतएव ब्रह्म नहीं है। प्रतिमाधारेण लक्ष्यीभूत इन्द्रियातीत निगूढ तत्त्व ही उपास्य ब्रह्म है, जोकि ज्ञानात्मक है। ज्ञानमय मन का उसी से योग होरहा है। इसप्रकार हमारी अध्यात्मसंस्था में प्रतिष्ठित आधिभौतिक शरीरानुगत कर्म्मों का आधार तो कर्म्मात्मिका आधिभौतिकी प्रतिमा बन रही है एवं आधिदैविक मनोऽनुगतप्रत्यय [ज्ञान] का आधार प्रतिमा द्वारा लक्ष्यीभूत ज्ञानात्मक आधिदैविक ज्ञान बना हुआ है। भूत का भूत से, देव का देव से, किंवा कर्म्म का कर्म्म से, ज्ञान का ज्ञान से सम्बन्ध होरहा है। ज्ञानकर्म्मसमन्वयस्वरूपा, भूता-देवात्मिका, उभयात्मिका यही प्रक्रिया उपासना है।

११२-वासना-कषायितोदर परिप्लव मन के दृढीकार में आधिभौतिक आलम्बन का अनिवार्य्यत्व, नृत्यगीतवादित्र सौन्दर्य्यादिपरक गन्धर्वाप्सरस्प्राणविशेष-निर्मित-भौतिक मनस्तत्व की आकारवैशिष्ट्यग्राहिणी प्रवृत्ति और प्रतिमा चित्रादि का उपासना-माध्यमौचित्य—

वस्तुत: आधिदैविक मन:प्रत्यय को आधिदैविक ईशप्रत्यय में प्रवाहित कर देना ही उपासना है, जैसा कि प्रथमलक्षण समन्वय मे स्पष्ट किया जाचुका है। परन्तु-देखते हैं कि, चान्द्रसोम भूतभाग से संश्लिष्ट मन:प्रत्यय तब तक उस आधिदैविकप्रत्यय में प्रवाहित नहीं होसकता, जब तक कि, उसके सम्मुख कोई भौतिक लक्ष्य नहीं रख दिया जाता। वासनावासित, अतएव अतिशयरूपेण चञ्चल मन में दार्ढ्य उत्पन्न करने के लिए उपासना-तत्त्वज्ञों ने भूमिकारम्भ में आधिभौतिक उस अनुरूप आलम्बन का माध्यम अनिवार्य्य माना है। इसी आधार पर 'आभिरुप्याच्च बिम्बानां देवः सान्निध्यमृच्छति' कहा गया है। इन्द्रियविषयपरायण मन की स्थिरता के लिए ही माध्यम अपेक्षित है। यदि मनःस्थैर्य्य ही अपेक्षित है, तो प्रतिमा-चित्रादि बिम्बों की ही क्या आवश्यकता है ? क्यों नही, जिस किसी भी लोष्ठ-पाषाणादि भूत को आलम्बन बना लिया जाता। प्रश्न के सम्बन्ध में यही उत्तर पर्य्याप्त होगा कि, जिस चान्द्रसोम से मन के भौतिक भाग का निर्म्माण होता है, उस में गन्धर्व-अप्सरा-नामक दो प्राण-विशेष विद्यमान है। घन सोममयप्राण गन्धर्व है, तरल सोममय प्राण अप्सरा है, दोनों ही नृत्य-गीत-वाद्य-सौन्दर्य्यादि मनोभावों के प्रवर्त्तक हैं। इन प्राणों से युक्त चान्द्रसोम से अन्नद्वारा समुत्पन्न मन उन प्राणों के सम्बन्ध से स्वभावत:-आकारविशेषों की ओर अनुगत रहता है। बिना आकार-प्रकार-विशेषों के साधारण लोष्ठादि में मन का लगना कठिन है। सात्त्विक-राजस-तामस सौन्दर्य्य का प्रेमी मन जब तक स्वप्रकृत्यनुकूल अभिरूप बिम्बों को सामने नहीं पा लेता, तब तक उस की स्थिरता अनिश्चित रहती है। एकमात्र मनोराज्य के इस प्राकृतिक विश्लेषण के आधार पर ही तत्त्वज्ञों ने प्रतिमा विशेष, चित्र विशेष का माध्यम आवश्यक माना है।

११३–प्रकृतिभेदानुगत गुणभेद युक्त विभिन्न उपासक–मानव का एकविध प्रतिमाऽकार-सापेक्ष स्थिरत्वाभाव, अतएव काली-दुर्गा-रुद्र-शिव-विष्णु-गणपति-प्रभृति विभिन्न गुणधर्म्मा रूपों का उपकल्पन एवम् "उपासकानां सिद्धयर्थं ब्रह्मणो रूपकल्पनम्" सिद्धान्त का निरूपण—

चान्द्रसोम से समुद्भूत मन योगमायांशानुग्रह से त्रिगुणात्मक है, यह कहा गया है। यद्यपि सभी प्राणियों के मन में तारतम्य से तीनों ही गुण समन्वित रहते हैं, तथापि प्रधानता–अप्रधानता के तारतम्य से तीनों के अवान्तर अनेक विवर्त्त होजाते हैं। सात्त्विक, सात्त्विक राजस तामस, तामस आदि प्रकृतिभेद प्रत्यक्षानुभूत हैं। प्रकृतिभेदानुगत गुणभेदयुक्त विभिन्न मन किसी एक ही आकार में स्थिर होजाएँ, यह भी प्रकृतिविरुद्ध होने से असम्भव ही है। अतएव सब के लिए प्रतिमाकार भी समान नहीं होसकते। अवश्य ही उपासक के मनोगुण के अनुरूप सात्त्विकादि विभिन्न भावानुगत विभिन्न प्रतिमाओं को ही आधार बनाना पड़ेगा। यही तो भारतीय उपासना काण्ड का प्रकृतिसिद्ध वह महत्त्वपूर्ण अंश है, जिसका अन्यमतवादों में ऐकान्तिक अभाव है। सत्त्वप्रकृति मनुष्य का मन सुन्दर–शान्त आकार का अनुगामी रहता है। अपि उसके सम्मुख–'शान्ताकारम्' भावात्मिका विष्णुप्रतिमा रख देते हैं। कोई उग्रप्रकृति उग्रस्वरूपों की वाञ्छा करता है। उस के लिए कर कलित कपाल भैरव प्रतिमा ही उपयुक्त है। उपासक का मन उसी माध्यम पर स्थिर रह सकता है, जिस गुण–प्रकृति का जन्मतः उस में अनुशय विद्यमान रहता है। इसी प्रकृतिभेद के आधार पर उपासक की सिद्धि के लिए एक ही निर्गुण उपास्य ब्रह्म के विष्णु, शिव, गणपति, रुद्र, भैरव, काली आदि सहस्रों रूपों की कल्पना कर डाली गई है–"उपासकानांसिद्धयर्थं ब्रह्मणोरूपकल्पना" सिद्धान्त सुप्रसिद्ध है।

११४–"निदानविद्या"–विरहविलुप्त–प्रतिमारहस्य, अनेक देवतावाद्–अपरिचित वैदेशिकों द्वारा अस्मदुपहास, भारतीयों का वैदेशिक शिक्षा सात्म्येन तदानुगत्य, रुद्र–साम्बसदाशिव–विष्णुनाम प्रभृति प्राणदेवतास्वरूपों की वैदिक निरुक्ति एवं "निदाघ" "लू" शब्दनिष्ठ भावों का दैवीस्वरूप-निर्वचन

दुःख है कि–'निदानविद्या' के विलुप्त होजाने से आज प्रतिमारहस्य विलुप्त होगया है। अर्द्धदग्ध व्यक्ति आज भारतीय उपासना काण्ड का इसलिए उपहास करते हैं कि, उन्हें निदान का स्वरूप विदित नहीं है। भारतीय–अनेक–देवतावाद के तत्त्वज्ञान से अपरिचित रहने के कारण यदि कोई विदेशी हमें–'देवताओं के गुलाम' बताता है, तो तत्शिक्षादीक्षित भारतीय भी उसका समर्थन करने लगते हैं। और तो और, अपने आप को वैदिक संस्कृति का समुद्धारक माननेवाले भी इसी भ्रान्ति को सत्यज्ञान समझ रहे हैं। अवसर मिला, तो किसी अगले प्रकरण में 'मूर्त्तिनिर्म्माण रहस्य' पर प्रकाश डाला जाएगा। प्रकृत में यही वक्तव्य पर्य्याप्त होगा कि, भारतीयप्रतिमानिर्म्माण का मूलाधार 'निदानभाव' ही है। 'अमुक वस्तु को अमुक समझो' यही निदान का निष्कर्ष है। तत्तत् प्राणदेवताओं के तत्तच्छक्ति विशेषों के (जो कि इन्द्रियातीत हैं)-स्वरूप परिचय के लिए तत्तत्–अनुरूप पदार्थों को सङ्केत मानना ही निदान है। उदाहरण के लिए–पद्म

पृथिवी का, मदिरा मोहनशक्ति का, खड्ग संहार शक्ति का, अभयमुद्रा अभयवृत्ति का, निदान है। विष्णुप्रतिमा के हाथ में पद्म हैं, इस भाव से ऋषि यही सूचित करना चाहते हैं कि—विष्णु तत्त्व का सम्पूर्ण पृथिवी पर आधिपत्य है। आग्नेयप्राणविशेष स्वरुद्धद्रवण धर्म्म से 'रुद्र' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। स्नेहनधर्म्मा सोम सम्बन्ध से संघटित भूतपरमाणुओं के संघटन का उच्छेद कर उसे नष्ट कर देना रुद्र का स्वाभाविक धर्म्म है। इसी आधार पर इन्हें सर्वसंहारकारक कहा जाता है। सब को खाजाने वाले रुद्राग्नि ही—'सर्वभक्षी' हुताशन हैं। प्राणवायु इन की प्रतिष्ठा है। पारमेष्ठ्य अप्तत्त्व के तथा सौरसावित्राग्नि के सम्बन्ध से इस वायु के आप्य-आग्नेय ये दो भेद होजाते हैं। आप्यवायु में प्रतिष्ठित रुद्राग्नि शान्त होते हुए शिवस्वरूप में परिणत होजाते हैं, जो कि, शिवतत्त्व (आप्यवाय्वात्मकरुद्राग्नि) उपासक सम्प्रदाय में 'साम्बसदाशिव' नाम से प्रसिद्ध है। आग्नेय वायु में प्रतिष्ठित रुद्राग्नि और भी अधिक उग्र होजाते है। अतएव इन्हें (आग्नेयवाय्वात्मकरुद्राग्नि को) 'घोर' कहा जाता है। इसप्रकार आधार भेद से एक ही रुद्रतत्त्व के शिवशरीर घोरशरीर, ये दो स्वरूप होजाते हैं, जिनका-'अग्निर्वारुद्रः, तस्यैते द्वे तन्वे—घोरान्याच, शिवान्या च' इत्यादि श्रुति से विश्लेषण हुआ है। वर्षाऋतु में, विशेषतः श्रावणमास में साम्बसदाशिव तत्त्व का साम्राज्य रहता है। ग्रीष्मऋतु में, विशेषतः फाल्गुन में रुद्रतत्व का साम्राज्य रहता है। फाल्गुन में प्रचण्डवेग से प्रवाहित वायु के लिए हमारे प्रान्त में यह प्रसिद्धि है कि-'अब महादेवजी ने जटा बिखेरी हैं'। फाल्गुन शिवरात्रि वस्तुतः रुद्ररात्रि है, घोररात्रि है। यही उस रुद्रात्मक—रुद्र आग्नेयतत्त्व का जन्मकाल है, जो आगे जाकर प्रचण्ड रूप में परिणत होता हुआ—निदाघ' [नितरां—दहतीति] भाव में परिणत होकर-'सान्तपन' रूप से अभिव्यक्त होने लगता है। ग्रीष्म में जो प्रचण्ड 'लू' चलती है, वही इस घोररुद्र के भौतिक शरीर के प्रत्यक्ष दर्शन है। इन्हें उद्भव काल में ही शान्त करने के लिए, शिवशरीररूप में परिणत करने के लिए उपासकलोग फाल्गुन शिवरात्रि महोत्सव में जलाभिषेक किया करते हैं। अवश्य ही इस भौतिक-जलसिञ्चन भावना से भूतनाथ शिवस्वरूप में परिणत होजाते हैं। महर्षिगण भी अपने उपासनामन्त्रों द्वारा रुद्र भगवान् के उसी मङ्गलमय शिवशरीरानुग्रह की प्रार्थना किया करते हैं। देखिए—

या ते रुद्र ! शिवा तनूरघोरा पापकाशिनी।
तया नस्तन्वा शन्तमया गिरिशन्ताभिचाकशीहि ॥

—यजुः संहिता

११५-अधिभूताधियज्ञाध्यात्माधिदैवताध्यन्तरिक्ष-पञ्चधाविभक्त रुद्रतत्व, उसके पञ्च-पंचाशत् विवर्त्तों का सूर्य्यरश्मिवितानायामेन आनन्त्यपरिगमन एवं वेदमहर्षियों द्वारा उद्गीत इस विभूति का वैतालिकत्व—

उक्तलक्षण रुद्रतत्त्व का, किंवा रुद्रमय वायु तत्त्व के अधिभूत, अधियज्ञ, अध्यात्म, अधिदैवत अध्यन्तरिक्ष भेद से पञ्चधा प्रसार होता है। पञ्चधा इस की प्रवृत्ति होने से ही इन्हें 'पञ्चमुख' कहा गया। सम्भूय ५५ विवर्त्त होजाते हैं। आगे जाकर एकादशधा विभक्त रुद्र पाँचों विवर्त्तों में व्याप्त हैं।

सूर्य्यरश्मि वितान से त्रैलोक्य में, कण-कण में व्याप्त होते हुए रुद्र अनन्तभाव में परिणत होजाते हैं। पृथिवी अन्तरिक्ष-द्यौ-सर्वत्र उनके सहस्र [पूर्ण-अनन्त] भाव व्याप्त हैं। रुद्रदेवता की इसी विभूति का यशोगान कहते हुए वेदमहर्षि करते हैं —

असंख्याताः सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम् ।
अस्मिन्महत्यर्णवेऽन्तरिक्षे भवा अधि ।
नीलग्रीवाः शितिकण्ठा दिवं रुद्रा उपाश्रिताः ।

११६-द्यु-अन्तरिक्ष-पृथिवी-लोकस्थरुद्र प्रवर्तित अप्-वायु-अन्न, प्रज्ञापराधजनित मिथ्याऽति हीन योग द्वारा अन्नाप्वन्न-गतरुद्रतत्व का शिवत्वत्यागपूर्वक संहारक रुद्रतत्व में परिणमन एवं मन्त्रश्रुति का गद्गदभावेन तत्स्मरण—

द्युलोकस्थरुद्र वृष्टिजल द्वारा संहार करते हैं, यहां वर्षा इनके संहारक तीर हैं। वर्षाजल प्रकोप से जो रोग समुद्भूत होते हैं, उनकी मूलप्रवृत्ति दिव्य रुद्र से है, यही तात्पर्य्य है। अन्तरिक्षलोकस्थ रुद्र वायुद्वारा संहार करते हैं, यहां वायु ही इस के तीर हैं, वायुप्रकोप से उत्पन्न रोगों का उपक्रम स्थान आन्तरिक्ष्य रुद्र ही है, यही तात्पर्य्य है। पृथिवीलोकस्थ रुद्र अन्नद्वारा संहार करते हैं, यहां अन्न ही इन के तीर हैं। अन्नदोष से उत्पन्न रोगों के प्रवृत्तिनिमित्त पार्थिव रुद्र ही हैं, यही निष्कर्ष है। अप्-वायु-अन्न [आपोवाय्वन्नानि] भेद से प्राणिजीवनोपयिक साधन मुख्यतः तीन ही माने गए हैं। तीनों में संहारकरुद्रप्राण है। मानवप्राण का उच्छेद जब भी कभी होता है, तीनों में से किसी एक-दो-तीन के कुपित होने से ही होता है। प्रज्ञापराधजनिक अतियोग, हीनयोग, अयोग, मिथ्यायोग, से अप्-वायु-अन्नगत रुद्रतत्व रक्षक शिवभाव को छोड़कर भक्षक रुद्रभाव में परिणत होजाता है। रुद्रतत्व के इसी संहार कर्म्म का स्पष्टीकरण करते हुए मन्त्रश्रुति ने कहा है—

नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये दिवि, येषां 'वर्षमिषवः' ।
नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो येऽन्तरिक्षे, येषां 'वातमिषव' ।
नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये पृथिव्यां, 'येषामन्नमिषवः' ॥ यजुःसं०

११७-द्यु-आन्तरिक्ष्य-पार्थिव सौरचान्द्राग्नेय ज्योतिस्त्रिक समन्वित "त्रिनेत्र", पञ्चधा विकासभावेन "पञ्चवक्त्र" रुद्र के उपास्य अधिदैवत एकादश विवर्त्तों का निरूपण—

जैसाकि बतलाया गया है अधिभूत-अध्यात्मादिभेद से यह रुद्रतत्व पञ्चधाविभक्त होता हुआ द्युलोकस्थ सूर्य्यज्योति, आन्तरिक्ष्य चान्द्रज्योति, पार्थिव आग्नेयज्योति, इन तीन ज्योतियों से युक्त रहता है। पञ्चधाविकास से पञ्चवक्त्र, ज्योतिस्त्रयी सम्बन्ध से त्रिनेत्र बने हुए इसी उपास्य के लिए-'पञ्चवक्त्रं त्रिने-

ग्रम्' कहा जाता है । संहार करना पूर्वकथनानुसार रुद्र का प्रातिस्विक धर्म्म है। संहारक द्रव्य ही 'विष' कहलाया है। तद्रूप वायव्यग्रान्तरिक्ष्य रुद्र अपने इसी विषप्रयोग से मृत्युभाव का उत्तेजक बनता है। उपास्य अधिदैवत रुद्र के एकादश विवर्त्त निम्नलिखित नामों, एवं पर्य्याप्त शब्दों से व्यवहृत हुए हैं--

सैषा-आधिदैविक-रुद्रैकादशी—

१-विरूपाक्षः——त्वष्टा—— अयोनिजः——गर्भः
२-रैवतः——भैरवः——कपर्द्दी——वीरभद्रः
३-बहुरूपः——सेनानी——गिरिशः——×××
४-हरः————नकुलीशः—पिङ्गलः——स्थाणुः
५-त्र्यम्बकः——भुवनेश्वरः—विश्वेश्वरः——सुरेश्वरः
६-सावित्रः——भूतेशः— —कपाली——×××
७-जयन्तः——वृषाकपिः——शंभुः——सन्ध्यः
८-पिनाकी——मृगव्याधः——लुब्धकः——शर्वः
९-अपराजितः-महातेजाः——×××——×××
१०-अहिर्बुध्न्यः-×××——×××——×××
११-अजएकपात्-×××——×××——×××

११८-आधिदैविक एकादश रुद्रों की भचक्र में स्थिति, अष्टम "पिनाकी" की मृगव्याध, लुब्धक नाम्ना प्रसिद्धि, लुब्धक का स्वरूप, ब्राह्मण ग्रन्थोक्त आधिदैविक असदाख्यान एवं लुब्धक-रुद्राग्निताप के समक्ष त्रैलोक्यप्रकाशी सावित्राग्नि सूर्य्य की विषमाहंता—

इन्हीं आधिदैविक ११ रुद्रों को, किंवा एक ही रुद्रतत्त्व के ११ विवर्त्तों को नाक्षत्रिकरुद्र कहा गया है। भचक्र में इन ग्यारहों रुद्रस्वरूपों के नक्षत्ररूपेण साक्षात् दर्शन होरहे हैं। ग्यारहों में भी सर्वतोऽधिक तेजस्वी 'पिनाकी' नाम ८ वां नाक्षत्रिकरुद्र है, जो मृगव्याध, लुब्धक, आदि नामों से भी प्रसिद्ध है। जिसप्रकार सम्पूर्ण ओषधिरसों के समन्वित रूप का नाम 'उदुम्बर' फल' (गूलर) है, एवमेव भचक्रावच्छिन्न यच्च यावत् नाक्षत्रिक प्राणों के समन्वय से लुब्धक का स्वरूप निर्म्माण हुआ है। इतर नाक्षत्रिक प्राण यदि योग्य हैं, तो सर्व नाक्षत्रिक प्राणमूर्त्ति यह लुब्धक भोक्ता है। वैदिक परिभाषा में भोग्य पशु कहलाया है, भोक्ता तत्पति माना गया है। अतएव लुब्धक-रुद्र आगे जाकर 'पशुपति' नाम से भी प्रसिद्ध होगए हैं। लुब्धक पशुपति भगवान् की वह मृगव्याध-लीलाप्रसिद्ध ही है, जिसका शकटाकार रोहिणी-नक्षत्र, त्रिकाण्ड बाणात्मक नक्षत्र, नक्षत्रप्राणात्मक मृगशीर्षनक्षत्र, मानुष-सरोवर से उपलक्षित उक्त नक्षत्रमण्डल का मध्याकाश, आदि के समन्वय से ब्राह्मणग्रन्थों में विश्लेषण हुआ है। आज भी तो उसीरूप

से भगवान् मृगव्याध की यह मृगया-लीला ज्यों की त्यों भचक्र में सञ्चालित है—'त्यजति न मृगव्याध रभसः'। सर्वथा नीलवर्णात्मक पशुपति भगवान् (लुब्धक) रोहिणी से पूर्वाकाश में अतिशयरूपेण चाकचक्यात्मना प्रदीप्त रहते हैं। वैज्ञानिक कहा करते हैं कि, त्रैलोक्य को प्रकाशित करनेवाले सूर्य्य के सावित्राग्नि का लुब्धक-रुद्राग्निता के आगे कोई महत्त्व नहीं है। यदि दुर्भाग्य से सूर्य्य कहीं लुब्धक के समीप पहुँच जाय, तो तत्क्षण सूर्य्य वाष्पावस्था में परिणत होता हुआ रुद्रतिगर्भ में विलीन होजाय। तात्पर्य्य, लुब्धक को मुख्य लक्ष्य मानकर ही निदानविद्या के आधार पर उस आधिदैविक-अवटाख्यान की कल्पना हुई है, जिसका ब्राह्मणग्रन्थों में—'प्रजापति वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायत्-दिव वा, उषसं वा' (शतपथब्रा०) इत्यादि रूप से विश्लेषण हुआ है।

११६-कर्कोटक, वासुकी एवं तत्तन्नक्षत्रमण्डलान्तर्गत नाक्षत्रिक सर्पों की उत्तराआकाशस्थ ध्रुवमण्डलादि सम्बन्धात् उपकल्पना, पूर्वाभिमुख सप्तक का अमङ्गलदर्शनत्व, पश्चिमोन्मुख एकमात्र "वासुकी" के दर्शनों का माङ्गल्यास्पदत्व एवं प्राणिगत (उष्ट्र-महिष-गज-सर्प-मूषक-कूर्म्माश्व प्रभृति) आकृति-विशेषों में "प्राणविद्या" का कारणत्व—

इसी निदान के आधार पर नाक्षत्रिक-सर्पोपासना प्रतिष्ठित है। ज्योतिश्चक्र (खगोल-आकाश-मण्डल) के उत्तर-मध्य-दक्षिण, भेद से तीन खण्ड उपकल्पित हैं। इन्हीं में मेषादि राशियाँ उपभुक्त हैं। सुप्रसिद्ध, विषप्राण प्रवर्तक अश्लेषानक्षत्र के समीप में भुक्त कर्कराशि से आरम्भ कर दक्षिणाकाशस्थ 'उटक' पर्य्यन्त व्याप्त नक्षत्राकार के आधार पर जिस नाक्षत्रिक सर्प की कल्पना हुई है, वही कर्क, उटक, सम्बन्ध से 'कर्कोटक' नामक नाक्षत्रिक सर्प कहलाया है। उत्तराकाशस्थ ध्रुवमण्डल से सम्बन्ध रखने वाले नाक्षत्रिक मण्डल के आधार पर-'वासुकी' नामक नाक्षत्रिक सर्प कल्पित है। एवमेव तत्तत् नक्षत्रमण्डलाधारेण इतर ६ ओं नाक्षत्रिक सर्प उपकल्पित हैं। इन आठ नाक्षत्रिक नागों में से सात सर्प पूर्वाभिमुख हैं, एक पश्चिमाभिमुख है। पूर्वाभिमुख सप्तक का दर्शन अमङ्गलजनक है। एवं पश्चिमाभिमुख (वासुकी) के दर्शन माङ्गलिक हैं। इन आठ नाक्षत्रिक सर्पों के अवान्तर सर्पप्राण एक सहस्र विवर्त्तभावों में परिणत रहते हैं। अतएव आधिदैविक सर्पप्राण से समुत्पन्न आधिभौतिक प्राणि-सर्प की जातियाँ भी एक सहस्र ही मानी गई हैं, जिनका महाभारत में जनमेजय के सर्पसत्र प्रकरण में विस्तार से प्रतिपादित हुआ है। तत्तत् सर्प-मूषक-कूर्म्म-अश्व-उष्ट्र-गज-मनुष्यादि प्राणियों के आकार-भेद-आकारविशेषता के मूल कारण तत्तत् आधिदैविक प्राणविशेष ही माने गए हैं। प्राण का जैसा प्रकृति में सांचा है, प्राणी का वैसा ही आकार बनता है। इसी प्राणविद्या के आधार पर प्राणविपर्य्यय से प्राणियों के आकार-विशेषों में परिवर्त्तन किया जासकता है। सर्पप्राणविद्यावित् व्यक्ति भौतिकसर्पों को नचाया करता है, हम भय करते हैं। जो श्मशान भूमि हमारे लिए भयप्रदा है, वही रुद्रप्राणोपासक कापालिक का उपासना पीठ है।

१२०-रुद्र-शत्रु-संहारक सर्पात्मक नाक्षत्रिक प्राण, महर्षि निर्दिष्टोपासना, अधिभूतादि पञ्चाधारेण रुद्र का "पञ्चमुख" परिकल्पन एवं रुद्रध्यान निर्वचन—

उदाहरणविधा से उपस्थित किया गया आधिदैविक नाक्षत्रिकरुद्र उक्त नागप्राणों से नित्ययुक्त रहता है। सर्पात्मक नाक्षत्रिक प्राण भी त्रिपाक्त वायुमय है, एवं रुद्र भी वाय्वात्मक ही है। रुद्रवायु के परितः नाक्षत्रिकसर्प वेष्टित हैं। ये ही सर्पप्राण रुद्रद्रोहियों के संहारक बना करते हैं। प्रकृतिसिद्ध इसी रुद्रतत्त्व की उपासना का महर्षियों ने उपासक की उपासनासिद्धि के लिए भौतिक-कल्पना की है। तत्त्वात्मक रुद्र के अधिभूतादि पञ्चभावों के आधार पर तत्स्वरूप में पाँच मुखों की कल्पना हुई है। नाक्षत्रिक सर्पप्राणसूचना के लिए तत्स्वरूप को सर्पों से वेष्टित माना गया है। रुद्रशक्ति ही प्राणाकर्षण द्वारा प्राणी को निष्प्राण बना कर उसे 'शव' स्वरूप में परिणत करती है। अतएव श्मशान भूमि रुद्रतत्त्व की आवासभूमि मानी गई है। दृष्टि है आधिभौतिक द्रव्यों पर, मनोयोग है तत्समतुलित आधिदैविक तत्त्वों पर, यही तो निदानमूला उपासना है। इसी औपासनिक रहस्य के विश्लेषण के लिए, साथ ही विषय प्रेमी उपासकों की विषय भावना सुरक्षित रखते हुए उन्हें क्रमक्रमशः उपास्य की ओर अनुगत बनाने के लिए, तत्तदाधिदैविक उपास्य-देवताओं की तत्तद्भूताधारेण निदानविधा से प्रतिमाएँ बना डाली गई हैं। उन उन उपास्यों के उन उन सगुण-भावों को स्पष्ट करने के लिए ही उन उन प्रतिमाओं के पृथक् पृथक् ध्यान बना दिए गए हैं। उदाहरण के लिए रुद्रभगवान् का ध्यान उद्धृत कर देना ही पर्य्याप्त होगा—

मुक्ता-पीत-पयोद-मौक्तिक-जपा-वर्णैर्मुखैः पञ्चभि-
स्त्र्यक्षैरञ्चितमीशमिन्दुमुकुटं पूर्णेन्दुकोटिप्रभम्।
शूलं टङ्क-कृपाण-वज्र-दहनान्-नागेन्द्र-पाशा-ङ्कुशान्-
पाशं-भीतिहरं-दधानममिताकल्पोज्ज्वलाङ्गं भजे॥

१२१-शक्ति-कार्य-स्थान-कालादि भेद से एक ही रुद्रतत्त्व के अनेकविधरूप, एवं शब्दशास्त्रप्रवर्तक शान्त एकमुख शिव स्वरूप का विश्लेषण—

शक्ति, कार्य्य, स्थान, कालादि भेद से एक ही रुद्रतत्त्व के अनेकविधरूप होजाते हैं। इसी आधार पर रुद्र के अनेक ध्यान माने गए हैं। उक्त ध्यान जहाँ पञ्चवक्त्रत्रिनेत्र 'पञ्चमूर्त्तिशिव' का स्वरूप संग्राहक है, वहाँ-'व्याख्यामुद्राक्षमालाः' * इत्यादि ध्यान अश्वत्थवृक्षात्मिका त्रैलोक्य त्रिलोकी की पार्थिवी भूत-

---

* व्याख्यामुद्राक्षमालाकलशपुलिखिते बाहुभिर्वामपादं-
बिभ्राणो जानुमूर्ध्ना पदतलनिहितापस्मृतिद्युद्र्माधः।
सौवर्णे योगपीठे लिपिमयकमले सूपविष्टस्त्रिनेत्रः-
क्षीराभश्चन्द्रमौलिर्वितरतु विबुधां शुद्धबुद्धिं शिवो वः॥

प्रधाना रोदसी त्रिलोकी में–जो कि अश्वत्थद्रुम का अधः प्रदेश माना जाएगा–प्रतिष्ठित शब्दशास्त्र प्रवर्त्तक-आसीन–शान्त एकमुख शिव के स्वरूप का विश्लेषण कर रहा है।

१२२–उपासना द्वारा प्राप्तव्य लक्ष्य सिद्धयर्थ आगम शास्त्रोक्त षट् आम्नायों का निर्वचन—

जिसप्रकार निगमशास्त्र के साथ आम्नाय का सम्बन्ध है, एवमेव निगमादागम, अतएव 'आगम' नाम से प्रसिद्ध निगममूलक शास्त्र में भी 'आम्नाय' माने गए हैं। उपासक पुरुष आगमशास्त्र का अनुगमन करता हुआ दिग्भेद से ६ लक्ष्यों में से किसी एक लक्ष्य पर अनन्यनिष्ठा से आरूढ़ होकर ही लक्ष्य पर पहुँच सकता है। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व, अधः, ये ६ ही मार्ग प्रकृतिसिद्ध हैं। इन्हीं के आधार पर आगमशास्त्र में निम्नलिखित रूप से षडाम्नाय–पद्धति का आविष्कार हुआ है। केवल आत्मयोग द्वारा (ज्ञानयोगद्वारा) प्राप्तव्य लक्ष्य का जैसे षड्दर्शन से सम्बन्ध है, एवमेव आत्मयोगानुगत भूतयोग द्वारा (उपासनाद्वारा) प्राप्तव्य लक्ष्य की सिद्धि के लिए आगमशास्त्र में निम्नलिखित षट्–आम्नाय माने गए हैं—

१–ऊर्ध्वाम्नायः (योगपद्धतिः)——————————ज्ञानयोगसमतुलिता।
२–पूर्वाम्नायः (निगमोक्ताः सिद्धयः)————————कर्म्मयोगसमतुलिताः।
३–दक्षिणाम्नायः (पञ्चदेवोपासना)————————भक्तियोगसमतुलिता।
४–पश्चिमाम्नायः (शाबरमन्त्रानुताः सिद्धयः)————व्यवहारयोगसमतुलिता।
५–उत्तराम्नायः (पञ्चमकारोपासना–वामपथः)————रहस्ययोगात्मिका।
६–अधराम्नायः (मलानुगता–उपासना)——————लोकोत्तरा।

१२३–ऊर्ध्व–अधरादि आम्नायों के युग्म और उनका परस्पर पृथक्त्व—

उक्त ६ ओं आम्नायों में ऊर्ध्व–अधर, पूर्व–पश्चिम, उत्तर–दक्षिण, इस प्रकार दो दो आम्नायों के तीन युग्म हैं। साथ ही तीनों युग्मों के द्वन्द्वभाव परस्पर एक दूसरे से सर्वथा विभिन्न–लक्ष्य रहे हैं।

१२४–ब्रह्मरन्ध्र–सम्बन्धित, ऊर्ध्वाम्नाय, अपान समान-पार्थिव प्राणप्रतिष्ठित, मूलरन्ध्र सम्बन्धित अधराम्नाय कायशुद्धि सापेक्ष, एवं सत्त्वरसिद्धि प्रवर्तक अघोरपथ का निरूपण—

यदि ऊर्ध्वाम्नाय का ब्रह्मरन्ध्र से सम्बन्ध है, तो अधराम्नाय का मूलरन्ध्र से सम्बन्ध है। ऊर्ध्वाम्नाय में कायपरिशुद्धि आवश्यकरूप से अपेक्षित है। पार्थिव अधराम्नाय में मलभाग ही उपासनासिद्धि का प्रधान साधन माना गया है। अधराम्नाय का मूलरन्ध्र से सम्बन्ध है, इस में अपान समान नामक पार्थिव प्राण प्रतिष्ठित रहते हैं, जो कि पार्थिवप्राण मूलरन्ध्र की प्रतिष्ठा बनते हुए मलकोशसंरक्षक हैं। हमारी शरीर–संस्था में पार्थिव भूत भाग ही प्रधानता है, मलभाग ही प्रधान है। पार्थिवप्राण के उच्छिन्न होते ही मल–

ग्रन्थि दूर होजाती है, प्राण उत्क्रान्त हो जाते है। इसी पार्थिवभाग की प्रधानता से पार्थिवप्राणानुगत अघोरपथ अन्य आम्नायो की अपेक्षा सत्वर सिद्धि का प्रवर्त्तक बन जाता है। इसी आधार पर--'अघोरान्नापरोमन्त्रः' सिद्धान्त प्रतिष्ठित है।

१२५-पूर्वपश्चिमाम्नायों का पारस्परिक वैजात्य, स्वरसन्धान समन्वित, नियमोपनियम निगड़ित पूर्वाम्नाय, और "फुरो मन्त्र ईश्वरोवाच" निरूपित पश्चिमाम्नाय एवं "अमन्त्र मक्षरं नास्ति" सिद्धान्त प्रतिष्ठा—

एवमेव पूर्व-पश्चिमाम्नायों में भी परस्पर एकान्त वैजात्य है। पूर्वाम्नाय में द्विजाति-अर्गला, स्वरसंधानपूर्वक निगममन्त्रानुगमन, अन्य नियमोपनियमादिका अनुगमन अपेक्षित है। पश्चिमाम्नाय में विश्व की यच्चयावत् भाषाओं का संग्रह है साधारण प्रतीयमान भाषामन्त्र भी इस आम्नाय में फलप्रद है। 'फुरो मन्त्र ईश्वरोवाच'-एक फूलहंसे एक फूल हँसे' इत्यादि मन्त्र संस्कृत-दृष्टि से यद्यपि नितान्त अशुद्ध, साथ ही अर्थशून्य निरर्थक प्रतीत हो रहे हैं। परन्तु, ये ही मन्त्र तत्काल फल के प्रवर्त्तक बन जाते है। तत्त्व यही है कि, प्राकृतिक प्राणात्मक तत्त्वों के आकार के आधार पर उसी तत्त्वानुगता प्राण-लहरी से समतुलित अक्षर सन्निवेश से इन मन्त्रों का आविर्भाव हुआ है। यहां अर्थ-अनर्थ, शुद्ध-अशुद्ध की दृष्टि-मीमांसा करना न केवल व्यर्थ ही है, अपितु अनिष्टकर भी है। यदि कोई भी अक्षर बदल दिया जाता है, तो तत्त्वाकार त्रुटित हो जाता है। तत्त्वाकार मुख्य वस्तु है। ग्रीक-लेटिन-गुजराती-पंजाबी-उर्दू-हिन्दी-चाहे किसी भी भाषा का अक्षर हो, तत्वाकार की तदनुरूप पूर्तिमात्र अपेक्षित है। वही सिद्धमन्त्र है। इसी आधार पर-'अमन्त्रमक्षरंनास्ति' सिद्धान्त प्रतिष्ठित हुआ है।

१२६-दक्षिण पश्चिमाम्नायों का परस्पर प्रतीपत्व, पञ्चदेवतोपासनात्मक दक्षिणाम्नाय, मद्यमांसादि सम्प्रवृत्त उत्तराम्नाय (वाम मार्ग)—

तीसरा युग्म है-दक्षिण, पश्चिमाम्नाय। जो कर्म्म, द्रव्य, नियमादि दक्षिणाम्नाय में संगृहीत है, उत्तराम्नाय में ठीक इस से विपरीत कर्म्मादि का संग्रह हुआ है। पञ्चदेवतोपासनात्मक दक्षिणाम्नाय पथ में जो मद्यमांसादि एकान्त वर्ज्य हैं, उत्तराम्नाय में वे ही उपासना के साधक माने गए है। अतएव यह पथ दक्षिणाम्नाय की अपेक्षा वाम (जटिल-टेढा) माना गया है। मद्यमांसादि की ओर स्वभावतः प्रवृत्त रहने वाले मानवीय मन को इन्हीं के आधार पर तत्त्ववाद की ओर आकर्षित करना सचमुच एक दुस्तर कार्य्य है। अवश्य ही इस महामहिम पथ के अधिकारी परिगणित ही हैं।

१२७-षड्दर्शन गर्भिता ज्ञान विज्ञानात्मिका निगमविद्या, षड़ाम्नायमूला आगमविद्या निगमविद्या का आगमविद्या ऽधारत्व, एवं तत्प्रयोजनसापेक्षया निगमविद्या परिचय का आवश्यकत्व निरूपण—

निवेदन यही अभीष्ट है कि, षड़ाम्नायमूलिका आगमविद्या की आधार शिला षड्दर्शन गर्भिता ज्ञान-विज्ञानात्मिका निगमविद्या ही मानी गई है। निगमोक्त ज्ञानात्मक ब्रह्मविज्ञान, तथा ब्राह्मणग्रन्थोक्त निदान-

विद्या, दोनों सम्यक् परिज्ञानप्राप्त किए बिना आगमविद्यानुगम का अधिकार नहीं मिल सकता । बिना निग-मरहस्य के, आगम परिज्ञान प्राप्त कर लेना कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव है । आगमशास्त्र आज अपने मूलभूत निगमशास्त्र की उपेक्षा कर बैठा है । अतएव आगम सम्बन्धिनी सम्पूर्ण मन्त्रशक्तियाँ (केवल पश्चि-माम्नाय को छोड़ कर) सर्वथा निष्फल सिद्ध हो रही हैं । कारण स्पष्ट है । बिना विज्ञान-परिज्ञान के, मौलिक उपपत्ति ज्ञान के, किसी भी कर्म्म-उपासना पर दृढ आत्मप्रत्यय सम्भव नहीं है । अतएव आवश्यक है कि, आगम शास्त्रोक्त उपासनामार्गारूढ प्रत्येक उपासक यथाशक्ति निगमशास्त्र का परिचय प्राप्त करले ।

१२८-अग्न्यात्मक रुद्रतत्त्व, तत्वात्मक-भूतात्मक रूपेण इस के दो भेद, भूत-क्षर-चित्य-मर्त्य रूप अग्नि का श्रुति प्रामाण्य—

पूर्व में पञ्चमूर्त्ति-शिव के जिस-'मुक्तापीतपयोद०' आदि ध्यान का उल्लेख हुआ है, उस का सर्वा-त्मना निगमविज्ञान से सम्बन्ध है । रुद्रतत्त्व प्रधानतः अग्न्यात्मक माना गया है । इस अग्नि के तत्त्वात्मक, भूतात्मक, दो रूप हैं । प्रत्यक्ष दृष्ट प्रज्वलित तापधर्म्मा वैश्वानराग्नि भूतात्मक है । यही क्षराग्नि है, मर्त्याग्नि है, यज्ञपरिभाषानुसार चित्याग्नि है । यही संचित-अवस्था में आकार तत्त्वात्मक रुद्राग्नि का बाह्यशरीर बनता है, जैसा कि निम्नलिखित शातपथी श्रुति से प्रमाणित है—

> "अत्रैष सर्वोऽग्निः संस्कृतः । स एषोऽत्ररुद्रो देवता । तस्मिन्—
> देवा एतदमृतं रूपमदधुः । स एषोऽत्र दीप्यमानोऽतिष्ठत्" ।
> —शत० ६।१।२।१।—

१२९-भूतात्मक क्षर-माध्यम से देवात्मक अक्षर (प्राणाग्नि) की उपासना का पर-म्परया आत्मान्वय्य व्ययब्रह्मोपासनात्व एवं "येऽप्यन्यदेवता भक्ताः" गीता सूक्ति का निदर्शन—

क्षरात्मक चित्य-मर्त्य—प्रत्यक्षदृष्ट भूताग्नि का आधार भूत प्राणाग्नि ही अक्षरात्मक-चितेनिधेय-अमृत-परोक्ष-तत्त्वात्मक अग्नि है । यही-'देवता' नाम से प्रसिद्ध है । यही आधिदैविकरुद्रदेवता है, जिस की आधिभौतिक माध्यम से उपासना अभिप्रेत है । भूतवाङ्मय है, वाङ्मयभूत प्राण पर प्रतिष्ठित है, भूता-त्मक प्राण मन पर प्रतिष्ठित है । मन आत्मा है । प्राण देवता है, वाक् भूत है । मनोमय आत्मा अव्यय प्रधान है, प्राणमय देवता 'अक्षर' प्रधान है, वाङ्मय भूत 'क्षर' प्रधान है । तीनों अविनाभूत हैं । भूत-माध्यम से उपास्य प्राणतत्त्व मानसभाव का ही संग्राहक बनता है । दूसरे शब्दों में जो उपासक भूतात्मक क्षर के माध्यम से देवात्मक अक्षर की उपासना करते हैं, वे भी परम्परया (ज्ञानयोगवत्) आत्मात्मक अव्यय ब्रह्म की ही उपासना करते हैं, जैसा कि निम्नलिखित स्मार्त्ती उपनिषत् से स्पष्ट है—

> ये ऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
> तेऽपि मामेव कौन्तेय ! यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ गी० ९।२३।

१३०—पारमेष्ठ्य अप् समुद्र में हिरण्यगर्भरूपेण समुद्भूत एकत्वधर्मा अन्नगर्भित-प्राणाग्नि देव रुद्र का उपनिषच्छ्रुतियों में स्पष्टीकरण—

भूताग्नियुक्त प्राणाग्नि लक्षण रुद्र स्वस्वरूप से एकाकी है, एकल है। पारमेष्ठ्य अप्समुद्र में सर्व-प्रथम हिरण्यगर्भ रूप से समुद्भूत-रोदसीत्रैलोक्य के प्रभवप्रतिष्ठा-परायण साम्बसदाशिव (आपोमय-अन्न-गर्भित प्राणाग्नि देव) के इसी एकत्वधर्म्म का निम्नलिखित मन्त्र-ब्राह्मण (उपनिषत्) श्रुतियों से स्पष्टीकरण हुआ है—

(साम्बसदाशिवः-यमेरिरे भृगवो विश्ववेदसं नाभा पृथिव्या भुवनस्य मज्मना।
वारुणाग्निः) अग्निं तं गीर्भिर्हिनुहि स्व आ दमे य एको वस्वो वरुणो न राजति॥
ऋक्० १।१४३।४।

" महत्तदुल्वं स्थविरं तदासीद्येनाविष्टितः प्रविवेशिथापः।
विश्वा अपश्यद्बहुधा ते अग्ने जातवेदस्तन्वो देव एकः॥
ऋक्० १०।५१।१।

(रुद्रः—सुदक्षो दक्षैः क्रतुनासि सुक्रतुरग्ने कविः काव्येनासि विश्ववित्।
घोराग्निः) वसुर्वसूनां क्षयसि त्वमेक इद्यावा च यानि पृथिवी च पुष्यतः॥
ऋक्० १०।९१।३।

" यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने।
यत्राधिसूर उदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

" आप ह यद् बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्।
ततो देवानां समवर्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
—ऋक्० १०।१२१।६,७।

" एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य्य इमाँल्लोकान् ईशत ईशनीभिः।
प्रत्यङ्जनांस्तिष्ठति सञ्चुकोचान्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपा॥

" यो देवानां प्रभवोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु॥
(श्वेताश्वतरोपनिषत् ३।२,४,)

(वितरतु विबुधां शुद्धबुद्धिं शिवो वः)

१३१–भगवान् रुद्र के ईशान-तत्पुरुष-अघोर-वामदेव-सद्योजात-पञ्चमुखों का ऊर्ध्व-पूर्व-दक्षिणोत्तर-पश्चिम-दिक् सम्बन्ध, पञ्चमुख समष्टिमूलाधार भूपिण्ड—गतापानप्राण का "अधराम्नाय" प्रतिष्ठात्व, एवम् पीतहरितनीलधूम्ररक्ताङ्ग, सिंहाजिन-शोभी अव्ययात्मा रुद्र के उपासक-सर्वस्व-स्वरूप का उल्लेख—

अग्निमूर्त्तिरुद्र अन्नाद नित्य–अन्न सापेक्ष है। फलतः अन्नादाग्निग्रहण से अन्नग्रहणगतार्थ होजाता है। इसप्रकार अग्न्यक्षरमूर्त्तिरुद्र देवता के साथ अन्नात्मक सोमाक्षर का भी ग्रहण होजाता है। इन्द्राक्षर ही अग्न्यक्षर की विकास भूमि है। इन्द्राक्षर विष्णवक्षर सहयोगी है। ब्रह्माक्षर सर्वमूलकत्वेन स्वत एव संगृहीत है। इसप्रकार अग्न्यक्षर द्वारा शेष चारों अक्षर भी प्रकृत्या संगृहीत होजाते हैं। क्योंकि, अग्न्यक्षररूपरुद्रदेवता से पाँचों अक्षरदेवता संगृहीत हैं, अतएव इन्हें 'महादेव' (सर्वदेवमूर्त्ति) कहना अन्वर्थ बनता है। इसी आधार पर–'एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धः'–'विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः'–'अग्निः सर्वाः देवताः' 'अग्निपुरोगाः सर्वे देवाः प्रीयन्ताम्' इत्यादि निगम प्रतिष्ठित हुए हैं। पञ्चाक्षरमूर्त्ति प्राणात्मक रुद्र से पञ्चकल मनोमय अव्ययब्रह्म संगृहीत होजाता है। अव्ययात्मा के पञ्चधाविकास का प्रधान प्रवर्त्तक पञ्चमूर्त्तिरुद्राक्षर ही बनते हैं। अक्षरद्वारा होनेवाली बलचिति से प्रारम्भ में विशुद्ध मनोमय रहने वाले अव्ययब्रह्म को आनन्द–विज्ञान–मन–प्राण–वाक्–रूपसे पाँचचितिभावों में परिणत होना पड़ता है। आत्मपञ्चकलभाव ही रुद्र के पञ्च मुखों का प्रधान कारण है। इन्द्रात्मिका सूर्य्यज्योति, चन्द्रात्मिका सौम्यज्योति, रूपात्मिका अग्निज्योति इन तीन ही भूतज्योतियों से रुद्रभगवान् लोकद्रष्टा बने हुए हैं। अतएव इस ज्योतिस्त्रयी को इनके तीन नेत्र माना जासकता है। रुद्रभगवान् के वे पाँचोंमुख ईशान, ततपुरुष, अघोर, वामदेव, सद्योजात, इन नामों से प्रसिद्ध हैं। ईशानस्वरूप का ऊर्ध्वा दिक् से सम्बन्ध है, यह ही ऊर्ध्वाम्नाय की प्रतिष्ठा हैं। तत्पुरुष का पूर्वा दिक् से सम्बन्ध है, ये ही पूर्वाम्नाय की प्रतिष्ठा हैं। अघोर का दक्षिणदिशा से सम्बन्ध है, ये ही दक्षिणाम्नाय की प्रतिष्ठा हैं। वामदेव का उत्तरदिशा से सम्बन्ध है, यह ही उत्तराम्नाय की प्रतिष्ठा हैं। 'वामदेव' सम्बन्ध से ही यह मार्ग 'वाममार्ग' कहलाया है। सद्योजात का पश्चिमा दिक् से सम्बन्ध है, एवं ये ही पश्चिमाम्नाय की प्रतिष्ठा हैं। इन पाँचोंस्वरूपों की समष्टि का मूलाधार भूपिण्डगत हृदयस्थ अपानप्राण है। यही समष्ट्यात्मक पार्थिवस्वरूप (जिन्हें 'दक्षिणामूर्त्ति शिव' कहा जाता है) अधोदिक् से (ध्रुवु माधः) सम्बन्ध रखते हैं। यह ही छठे अधराम्नाय की प्रतिष्ठा हैं। पाँचोंमुख क्रमशः पञ्चकल, चतुष्कल, अष्टकल, त्रयोदशकल, एवं अष्टकल है। पाँचों का वर्ण क्रमशः पीत, हरित, नील, धूम्र, रक्त है। सिंहचर्म्म पर विराजमान पञ्चमूर्त्ति एवंविध भगवान् के दस हाथ हैं। दसों में क्रमशः अभय (शान्तिमुद्रा), खड्ग, शूल, वज्र, पाश, खड्ग, अङ्कुश, घण्टा, नाग, अग्नि, यह १० आयुध हैं। ऐसे यह रुद्र भगवान् अव्ययात्म सम्बन्धेन सर्वज्ञ हैं, सोमान्न सम्बन्धेन तृप्तिकर हैं, अनादि–बोधस्वरूप हैं, स्वतन्त्र हैं, अलुप्तशक्ति हैं। अनन्तशक्ति हैं। उपासकों के लिए तो सर्वस्व हैं।

१३२–निगमागम भेदविभक्त भारतीय शास्त्र, ब्रह्मविद्या-यज्ञविद्याभिधनिगम, मन्त्रविद्या-पुराणविद्याभिधानद्विधा विभक्तागम शास्त्र, एतद्रहस्यज्ञानमूल प्रतिष्ठा "निदान विद्या", एवम् पूर्वानुच्छेदोल्लिखित रुद्र के दश आयुधों का रुद्र-शक्ति-प्रतीकत्व—

जैसा कि पूर्व में बतलाया गया है, भारतीयशास्त्र प्रधानतः 'निगम, आगम' भेद से दो भागो में विभक्त है। निगमशास्त्र आगे जाकर ब्रह्मविद्याशास्त्र, यज्ञविद्याशास्त्र भेद से दो भागों में, एवं आगम-

शास्त्र मन्त्रविद्याशास्त्र, पुराणविद्याशास्त्र, भेद से दो भागों में विभक्त है। सम्भूय दो के चार विवर्त्त हो जाते हैं, जिनका उपबृंहण आगे जाकर अनेक विवर्त्तों में हुआ है। इन चारों ही विवर्तों के रहस्यज्ञान की मूलप्रतिष्ठा सङ्केतविधात्मिका वह 'निदानविद्या' ही है, जिस के लुप्त होजाने से भारतीय तत्त्ववाद, विशेषतः उपासनावाद, एवं उपासनावाद से सम्बन्ध रखने वाला प्रतिमाभाव आज संशयास्पद बना हुआ है। जिन दस आयुधों का पूर्व में नामोल्लेख हुआ है, उनका नैदानिक-भावों से ही सम्बन्ध है। तत्तदायुधविशेषों से रुद्रभगवान् की तत्तच्छक्तियों का ही सङ्केत हुआ है।

१३३-रुद्र स्वरूप समर्पक अग्नि-सोम-वाय्वात्मक सत्वत्रय, एतत् सर्वाधारभूत मनः-प्राणवाङ्मय-अव्ययब्रह्म के त्रिवृद्भाव बृंहित विवर्तों का उग्रत्व, शान्तिमय प्राजापत्यप्राण "परोरजा" एवं घण्टा-नाग-अग्नि-प्रभृति आयुधों का शक्ति-व्याहरण—

अग्नि, सोम, वायु ये तीन तत्त्व साम्बसदाशिव के मुख्य आधार माने गए हैं। रुद्रस्वरूप समर्पक इन तीनों तत्त्वों के सर्वाधारभूत मनःप्राणवाङ्मय सृष्टिसाक्षी अव्ययब्रह्म के प्राकृतिक त्रिवृद्भाव से अवान्तर तीन तीन विवर्त्त होजाते हैं। अग्नितत्त्व के तीन विवर्त्त-अग्नि, वायु, इन्द्र, नाम से, सौम्यप्राण के तीनों विवर्त्त-वरुण, चन्द्रमा, दिक्, नाम से, वायव्यप्राणविवर्त्तत्रयी-शब्द, वायु, अग्नि, नाम से प्रसिद्ध हैं। इन ९ विवर्त्तभावों के सम्बन्ध से रुद्रभगवान् में नवशक्तियों का समावेश रहता है। ये सब (नव) शक्तिविवर्त्त रुद्र के घोरस्वरूप हैं, उग्र धर्म्म हैं, संहारकधर्म्म हैं। इन सब उग्रस्वरूपों का आधारभूत दसवां 'परोरजा' नामक शान्तिमय प्राजापत्यप्राण है, जिस के सम्बन्ध से रुद्र की रुद्रता शिवभाव में परिणत होती हुई अभयपद प्रदान करती है। यह अभयशक्ति ही शेष नवों उग्रशक्तियों की मूलप्रतिष्ठा मानी गई है। सम्भूय १० शक्तिविवर्त्त होजाते हैं। इन्हीं शक्तिस्वरूपों के (उपासक के बोधसौकर्य्य के लिए) स्पष्टीकरण के लिए नैदानिकों ने तत्तदनुरूप निदानभावों के आधार पर रुद्र स्वरूप की कल्पना की है। रुद्रस्वरूप में प्रतिष्ठित हस्त की अभयमुद्रा परोरजाप्राणात्मक शान्तभाव की सूचिका है। टङ्क से आग्नेयताप, शूल से वायव्यताप*, वज्र से ऐन्द्रताप (विद्युत्ताप) सूचित है। इसप्रकार टङ्क, शूल, वज्र, तीन आयुध क्रमशः अग्नि-वायु-इन्द्र, इन तीन आग्नेयी शक्तियों की ओर सङ्केत कर रहे हैं। पाश वरुणबन्धन का सूचक है। पाशलक्षण बन्धन के एकमात्र अधिष्ठाता वरुणदेवता ही माने गए हैं। इसी आधार पर 'वरुण्या वा एषा रज्जुः' निगम प्रसिद्ध है। खड्ग से चान्द्रहेति अभिप्रेत है। एवं अङ्कुश से दिश्यहेति का ग्रहण है। इसप्रकार पाश, खड्ग, अङ्कुश, तीन आयुध क्रमशः वरुण, चन्द्रमा, दिक् (आप्यसोमात्मक वरुण भास्वर-सोमात्मक चन्द्रमा, दिक्सोमात्मिका दिक्) इन तीन सौम्यशक्तियों की ओर सकेत कर रहे हैं। घण्टा आयुध ध्वनिलक्षण शब्दशक्ति का, नाग आयुध सञ्चरनाड़ी का विश्लेषण कर रहा है। रुद्रभगवान् जिस द्वार से प्रवेश करते हैं, एवं जिसके आधार पर तत्र प्रतिष्ठित होते हैं, वह वायव्यप्राणी ही नाक्षत्रिक सर्पप्राण सम्बन्ध से 'नाग' कहलाया है। अपिच सञ्चरनाड़ी का साधारण लक्ष्य भी 'सर्प' ही माना गया है। यच्च-यावत् ग्रहों के परिभ्रमणमार्ग वायुसम्बन्ध से संर्पणशील बने रहते हुए सर्प नाम से व्यवहृत हुए हैं। सर्प विष का भी निदान है। विष संहार का निदान है। इस परम्परा से नाग आयुध संहारशक्ति का भी निदान

बन रहा है। संहारशक्ति रुद्र के उग्र स्वरूप का मुख्य धर्म्म है। अतएव हाथ के अतिरिक्त रुद्रस्वरूप के सर्वाङ्गशरीर में सर्पों का वेष्टन कल्पित हुआ है। दृष्टिलक्षण प्रकाशधर्म्म अग्नि (अग्निज्वाला) आयुध द्वारा संकेतित है। इसप्रकार घण्टा, नाग, अग्नि, इन तीन आयुधों के द्वारा क्रमशः शब्द–वायु–अग्नि, इन तीन वायव्य शक्तियों का ही निदान बतलाया जारहा है। इसप्रकार रुद्रस्वरूप विश्लेषण के लिए तत्तच्छक्तिविशेषों के बोध के लिए महर्षियों ने निदान के आधार पर तत्तदनुरूप भौतिक द्रव्यों में तत्तच्छक्ति-भावनाओं के अभ्यास को अनिवार्य्य माना है। निम्नलिखित तालिका से रुद्र के उक्त शक्ति–नैदानिकरूपों का स्पष्टीकरण होजाता है—

१	१	१	अभयम्	प्राजापत्यप्राणः	शान्तिः	परोरजाप्राणः	प्रतिष्ठा
१	१	२	टङ्कः	आग्नेयतापः	अग्निः (प्राणात्मकः)	आग्नेयप्राणः	अग्निः
२	२	३	शूलम्	वायव्यतापः	वायुः	,,	,,
३	३	४	वज्रम्	ऐन्द्रतापः	इन्द्रः	,,	,,
१	४	५	पाशः	वारुणहेतिः	वरुणः	सौम्यप्राणः	सोमः
२	५	६	खड्गः	चान्द्रहेतिः	चन्द्रमाः	,,	,,
३	६	७	अङ्कुशः	दिश्यहेतिः	दिक्	,,	,,
१	७	८	घन्टा	ध्वनिः शब्दः	शब्दः	वायव्यप्राणः	वायुः
२	८	९	नागः	सञ्चरनाड्यः	वायुः	,,	,,
३	९	१०	अग्निः	प्रकाशः	अग्निः (भूतात्मकः)	,,	,,

१३४–तत्वभिदा अनेकधापरिकल्पित रुद्र के "मृत्युञ्जय-कामेश्वर-दक्षिणामूर्ति" निरूढ आनन्द-विज्ञान-मनोमय-अमृत-भावोपेत स्वरूप का उपबृंहण—

दशायुधोपेत साम्बसदाशिव पञ्चमूर्ति हैं, अव्ययब्रह्म इन की मूलप्रतिष्ठा है। अव्ययब्रह्म की आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण, वाक्, ये पाँच कलाएँ हैं, यह बतलाया जाचुका है। इन पाँच कलाओं में मनः प्राण-वाग्रूप अव्यय सृष्टिसाक्षी बनता हुआ कर्म्मप्रधान है। आनन्दविज्ञानमनोमय अव्यय मुक्तिसाक्षी बनता हुआ ज्ञान प्रधान है। बलात्मक कर्म्म मृत्युतत्त्व है, रसात्मक ज्ञानतत्त्व अमृततत्त्व है। मनःप्राणवाङ्मयरुद्र पञ्चमूर्त्ति साम्बसदाशिव हैं। ये ही मृत्युजगत् के अधिष्ठाता हैं, जिनका अब तक विश्लेषण हुआ है। आनन्द, विज्ञान, मनोमय अमृतभावों के आधार पर निदानविधा से तीन शिवस्वरूपों की कल्पना और हुई है। आनन्दमय शिव 'मृत्युञ्जय' कहलाए हैं, विज्ञानमूर्तिशिव 'दक्षिणामूर्त्तिशिव' कहलाए हैं, एवं मनोमय शिव मनोमयी अन्तःकामना के सम्बन्ध से 'कामेश्वरशिव' कहलाए हैं। तीनों के विभिन्न स्वरूपों के आधार पर तीनों के उपासनाप्रकार भिन्न भिन्न हैं। मृत्युञ्जय भगवान् कमल पर विराजमान हैं, एक हस्त में माला हैं, दूसरे में पुस्तक है, तीसरे में अभयमुद्रा है, चौथे में मृग है। कमल प्रतिष्ठात्मिका आनन्दघना शान्ति का, माला शब्दब्रह्मात्मक अखण्डस्फोट का, पुस्तक ज्ञान का, अभयमुद्रा परोरजाप्राण का, एवं मृग त्रयीविद्या का निदान है। दक्षिणामूर्त्ति भगवान् का ध्यान अन्यत्र निरूपित है। मनोमय कामेश्वर भगवान् ब्रह्मा-विष्णु-रुद्रादि पञ्चमूर्त्तियों पर विराजमान हैं। इसप्रकार तत्त्वभेद से रुद्रस्वरूप की निदान द्वारा अनेकधा कल्पना हुई है।

१३५–यच्चयावत् भारतीय देवस्वरूपों का निदानविद्याऽधारेण उपकल्पन, एतन् मर्म्मानवगत वैदेशिकों एवम् पाश्चात्यशिक्षाविधि-स्वीकार-समुत्पन्न-मानस-वैजात्ययुक्त भारतीयों द्वारा उपहासाक्षेप, किन्तु, व्यवहारपक्षधिया भारतेतरदेशिकों द्वारा भी निदानभावों का आचरण—

निदर्शनमात्र हैं। भारतीय उपासनाकाण्ड में संगृहीत यच्चयावत् देवस्वरूप निदानविद्या के आधार पर ही उपकल्पित हैं। विना इस भूतात्मक निदानभाव को माध्यम बनाए, आधिदैविक उपासना में मनः-संयम सम्भव नहीं है। उपासनासिद्धि के साथ साथ इस निदानद्वारा प्रकृति के गुप्ततम रहस्यों का भी बोध होजाता है। भारतीय निदान विद्या का मर्म्म न समझने वाला वर्त्तमान युग का शिक्षित समाज हमारे देवस्वरूपों के आनन्त्यपर, इन के स्वरूप-विशेषों पर आक्षेप भले ही करे, परन्तु उसे भी अपने व्यावहारिक जगत् में उसी निदान का अनुगमन करना पड़ रहा है। लौकिक भाव सूचना के लिए वह भी निदानभावों को ही मध्यस्थ मान रहा है। पश्चिमी जगत् में समसम्बन्धी की मृत्यु होजाने पर हाथ पर काली पट्टी बाँधने की प्रथा प्रचलित है। शोक परोक्ष तत्त्व है। उस का काले वस्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं है। फिर भी परोक्ष शोक की सूचना के लिए प्रत्यक्ष आधिभौतिक काला कपड़ा सूचक माना जारहा है। यही तो निदान है। क्रासचिह्न अपने उपास्य (ईसा) की स्मृति का निदान है। सिद्ध है कि, विदूरस्थ-परोक्ष तत्त्व की ओर मनोयोग करने के लिए संमुखोपस्थित-प्रत्यक्ष-आधिभौतिक को अवश्यमेव आलम्बन बनाना पड़ता है।

१३६–"असतो मा सद् गमय" वेदमहर्षियों की मेध्यावाणी का अन्वर्थ स्फुरण, एवम् दृष्टिमनः-संयम-समन्वय-विधायिप्रतिमार्च्चन के बाह्य-भौतिकालम्बनपक्ष का "असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते" लोकसूक्ति समन्वितीकरण—

'दृष्टि अन्य पर, मनोयोग अन्य पर' यही उपासना का प्रधान लक्षण है। भगवत्-प्रतिमा दृष्टि के सम्मुख है, मन व्यापक भगवान् पर है। असत् पर दृष्टि संयम, सत् पर मनः संयम, कैसा रहस्यपूर्ण समन्वय है। वेदमहर्षि इसी रहस्य को लक्ष्य में रखते हुए कहा करते हैं—'असतो मा सद्गमय'। भौतिकी प्रतिमा बलप्रधाना बनती हुई मृत्युमयी है, प्रतिमा द्वारा लक्ष्यीभूत आधिदैविक उपास्य तत्त्व रसप्रधान बनता हुआ अमृतमय है। इसी आधार पर-'मृत्योर्मा अमृतं गमय' कहा जाता है। भौतिकी प्रतिमा मूर्त्त है, उपास्य अमूर्त्त है। अतएव-'मूर्त्तान्मा अमूर्त्तं गमय' कहा जासकता है। 'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते' ही उपासना का मुख्यदृष्टिकोण है। इसी लिए तो उपासनाकाण्ड को उभयात्मक कहना अन्वर्थ बनता है।

१३७–उपासना का आधिदैविक आधिभौतिक साध्यसाधन परकत्व, एवम् प्रतीकोपासना के कर्म्म-भक्ति-ज्ञानयोगात्मक स्वरूपों का पारिभाषिक-निर्वचन—

पूर्व प्रतिपादित 'ज्ञानयोगपरीक्षा' नामक द्वितीय खण्ड के 'ग' विभाग में हमने उपासना काण्ड को केवल आधिदैविक साध्य-साधन परक ही बतलाया था। परन्तु यहाँ इसे उभयात्मक (साधनदृष्ट्या आधिभौतिक, तथा साध्यदृष्ट्या आधिदैविक) बतलाया जारहा है। इस में परस्पर विरोध का अवसर इस लिए नहीं है कि, फलदृष्ट्या पूर्वखण्ड का कथन अन्वर्थ है। एवं अनुष्ठानात्मक व्यवहार की दृष्ट्या इसे उभयात्मिक कहना अन्वर्थ है। साध्य-साधनरूप से उभयथा आधिदैविक ज्ञानयोग का जो नैष्कर्म्य फल है, वही फल समानप्रत्ययप्रवाह लक्षण, अतएव ज्ञानयोगसमतुलिता निर्गुणोपासना का है। एकमात्र इस फल के अभिप्राय से ही वहाँ उपासना को उभयथा आधिदैविक ही बतलादिया गया है। अनुष्ठान दृष्टि से तो प्रत्येक दशा में उपासनाकाण्ड आधिदैविक आधिभौतिक-दोनों की ही अपेक्षा रखता है। प्रतिमा को प्रतिमा समझना कर्म्मयोग है, प्रतिमा पर दृष्टि रखते हुए तद्द्वारा तद्गत रसरूप व्यापक ब्रह्म को लक्ष्य बनाना भक्तियोग है, एवं प्रतिमा का आत्यन्तिकरूप से परित्याग करते हुए रसैकघन बन जाना ज्ञानयोग है।

१३८–नेत्रकनीनिकान्तः प्रतिबिम्बिता प्रतिमा, मनः प्रदेशसञ्चारिणी तद्गता विराड्भावना, मृण्मयी प्रतिमा द्वारा विदूरस्थ आचार्य (द्रोण) को गुरुभाव अर्प्पित करने वाले "एकलव्य" का धनञ्जय-जिष्णु अप्रतिम धनुर्धरत्व एवम् सुरथ-समाधिवैश्य भगवान् राम (सेतुबन्ध-रामेश्वर स्थापक) द्वारा प्रतिमोपासना—

दूसरी दृष्टि से पाषाण को पाषाण समझना कर्मयोग है, पाषाण को समआलम्बन बनाकर तद्गत परोक्ष व्यापक ब्रह्म में मनोयोग करना उपासना है, पाषाण का परित्याग कर तद्गत ब्रह्म में अद्वैत भावना से

लीन होजाना ज्ञानयोग है। इस प्रकार थोड़े से विपर्य्यय से एक ही आध्यात्मिक योग योगत्रयरूप में परिणत होरहा है। यदि हमारी दृष्टि भी प्रतिमा पर है, मन भी प्रतिमा पर है, तो कभी भक्तियोग सफल नहीं होसकता। अवधानपूर्वक विचार कीजिए, कैसे अद्भुत, साथ ही जटिल पथ है। देखें कुछ और का और ही, समझें कुछ और का और ही। यदि दृष्टिविषयिणी प्रतिमा को ही हम भगवान् समझ रहे हैं, साथ ही यदि दृष्टिविषयिणी प्रतिमा को हम भगवान् नहीं समझ रहे, तब भी उपासना नहीं है। समझना मनो व्यापार है। यदि प्रतिमा के साथ मन का (समझ-का) योग है, तब भी उपासना नहीं है। यदि प्रतिमा के उपास्यभाव पर समझ है, तब भी उपासना नहीं है। समझ (मन) का तो प्रतिमा से भावात्मक अभावात्मक, किंवा उभयात्मक, किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहना चाहिए। प्रतिमा तो केवल दृष्टि का विषय रहना चाहिए। तभी उपासना का साफल्य है। बाह्यदृष्टि प्रत्यक्ष-समीपस्थ आधिभौतिक पर मनोदृष्टि तन्मूलक परोक्ष-विदूरस्थ आधिदैविक तत्त्व पर यही उपासना है। उपासनातत्त्व के इसी दृष्टि कोण का निम्नलिखित से स्पष्टीकरण होरहा है। जिस दृष्टि कोण के आधार पर महाभाग एकलव्य ने आज से ५००० हजार वर्ष पहिले विदूरस्थ-परोक्ष गुरुद्रोण की मृण्मयी प्रतिमा को सामने रखते हुए धनुर्विद्या में अर्जुनापेक्षया भी अधिक कुशलता प्राप्त की थी, लाखों वर्षों पहिले महाराज सुरथ, तथा समाधि नामक वैश्य ने मृण्मयी प्रतिमा के माध्यम से परमतत्त्व का साक्षात् कार किया था। एवं सेतुबन्ध रामेश्वर-स्थापना द्वारा अवतार पुरुषने स्वोपास्य शिवतत्त्व का अनुग्रह प्राप्त किया था।

'आधिभौतिके कस्मिंश्चिदर्थे बाह्यदृष्टिं विन्यस्य तन्मूलकमसंनिकृष्टे-कस्मिंश्चिदाधिदैविकेऽर्थान्तरे प्रत्ययप्रवाहसम्पादनमुपासनम्'

है

—*—

१३६-गजोश्वोष्ट्र-काष्ठपुत्तलिकाओं द्वारा तत्तद् गजोश्वोष्ट्रपशु-पार्थिवों का स्वरूपबोध, एवञ्च दृष्टिविषयक प्रत्यक्ष ज्ञान बलेन मनः प्रदेशखचित परोक्ष (गजोश्वोष्ट्रादि, प्रतिमास्थभगवत्तत्वादि) बोध का अधिगमन--

दृष्टिविषयक प्रत्यक्षज्ञान के आधार पर मनोविषयक परोक्षज्ञान में प्रवाहित होजाना, दूसरे शब्दों में प्रत्यक्षज्ञान द्वारा परोक्षज्ञान में बुद्धिगर्भित मानसज्ञान को प्रवाहित कर देना ही उपासना निष्कर्ष है। लोक-दृष्टान्त के आधार पर समन्वय कीजिए। अबोध बालक पिता से प्रश्न करता है-हाथी, घोड़ा, ऊँट, कैसे होते हैं। पिता उस के सामने काष्ठपुत्तलिकाएं रख देता है, और-'यह हाथी है, यह घोड़ा है, इत्यादि रूप से बालक को उद्बोधन कराता जाता है। बालक के मानस पटल पर इन उपकल्पित पुत्तलिकाओं का संस्कार खचित होता जाता है। इन के आधार पर इस का मनोज्ञान परोक्ष-विदूरस्थ वास्तविक गजादि आकारों की ओर प्रवाहित होजाता है। जब भी कभी इस की दृष्टि वास्तविक हाथी की ओर जाती है, तभी इस के मनोराज्य

में प्रतिष्ठित मिथ्या-हाथी का चित्र इस सच्चे हाथी का बोध कर देता है। यही उपासना है। नवमलक्षण की अपेक्षा प्रस्तुत लक्षण में थोड़ी विशेषता है। नवमलक्षण का अधिकारी जहाँ थोड़ी उच्चभूमिका में प्रतिष्ठत है, वहाँ प्रस्तुत अधिकारी अपेक्षाकृत निम्न कोटि में प्रतिष्ठित माना जाएगा। प्रतिमा सामने रख कर इसी के आधार पर परोक्ष तत्त्व की ओर मन लगाना, पूर्व दृष्टिकोण था। प्रतिमा सामने रखकर प्रतिमाज्ञान ही पहिले मानस पटल पर खचित करना, पुनः मानस ज्ञान के आधार पर बुद्धिद्वारा परोक्ष-तत्त्व की ओर ध्यान प्रवाहित करना प्रस्तुत दृष्टिकोण है। निम्न लिखित लक्षण इसी विशेषता का विश्लेपण कर रहा है।

"प्रत्यक्षप्रत्ययेन परोक्षेऽर्थे प्रत्ययप्रवाहमुपासनम्

१०

—o—

१४० अज्ञात देश-पुरुष-पदार्थादि का प्रतिकृतिलभ्य स्वरूप-ज्ञान, अतएव बुद्धिसमीपस्थ अन्य द्वारा परोक्षातीत-पदार्थादि परक ज्ञानप्रवाह का उन्मीलन एवम् अद्वैताचार्य्य के "बुद्धि संनिकृष्टार्थ द्वारा विदूरार्थप्रत्ययधारण मुपासनम्" लक्षण की निरुक्ति—

बुद्धिसमीपस्थ वस्तु के द्वारा दूरदेशस्थ वस्तु का परिज्ञान होजाना ही 'उपासना' है। अज्ञात देश, अज्ञात महापुरुष, अज्ञात पदार्थ, आदि जो भी अज्ञातवस्तुएँ हमारे लिए (अन्यत्र विद्यमान रहने से) अज्ञात हैं, उनका ज्ञान कैसे प्राप्त किया जाय? उत्तर स्पष्ट है। उन सब अज्ञातभावों की, पदार्थों की प्रतिकृति (चित्र) सामने रखलीजिए, अज्ञातों का ज्ञान सुलभ बन जाएगा। समस्त खगोल-भूगोल परिज्ञान इसी चित्र (ऐटलस) के आधार पर अवलम्बित है। चित्र बुद्धि के समीप हैं, इनके आधार पर विदूरस्थ पदार्थों का सम्यक् बोध होजाना सार्वजनिक है। सम्भव है-उन विदूरस्थों के साथ कभी हमारा दृष्टसम्बन्ध न हो। फिर भी केवल उनकी प्रतिकृतियों के आधार उनका बोध हमें होजाता है। परोक्ष अतीत-युग के महापुरुष आज भौतिक शरीर से नहीं हैं। जब वे थे, तब हम न थे। फिर भी उनके चित्रों के आधार पर हम उनका बोध कर रहे हैं। यही तो चित्र की चित्रता (विचित्रता) है। आज से सहस्रों वर्षों पहले भूक्षेत्रों की जैसी अवस्था थी, उसका परिज्ञान भी हमें इन्हीं चित्रों के आधार पर आज भी हमारे शिक्षक करा देते हैं। इस प्रकार समीपस्थ अन्य द्वारा विदूरस्थ परोक्ष-अतीत-अथवा वर्त्तमान का ज्ञानप्रवाह प्रवाहित होजाना ही उपासना है। नवमलक्षण से अधिकांश में समतुलित इसी लक्षण का निम्नलिखितरूप से अभिनय हुआ है—

"बुद्धिसंनिकृष्टार्थद्वारा विदूरार्थप्रत्ययधारणमुपासनम्"

— ११ —

—※—

१४१-"श्रद्धान" परिभाषा, उपासना का मूल "श्रद्धा", इसका तात्त्विक स्वरूप, एवम् द्रवत्व-स्निग्धत्वादि प्रधान श्रद्धाधर्म्मों की स्थिति का निरूपण—

जिस भाव, तत्त्व, पदार्थ का हमें परिज्ञान अपेक्षित है, उस भाव-तत्त्व-पदार्थ के किसी एक स्वरूप पर दृष्टि का संयम करते हुए उसमें सत्य आस्था कर लेना ही 'श्रद्धान' कहलाता है। श्रद्धामूलक यह श्रद्धान ही उपासना की मूलप्रतिष्ठा है, जैसाकि अष्टम-लक्षणसमन्व में विस्तार से बतला जाचुका है। क्योंकि 'श्रद्धा' ही उपासना का मूल है, अतः प्रसंगोपात्त दो शब्दों में श्रद्धातत्त्व के तात्त्विक-स्वरूप की भी मीमांसा कर लेनी चाहिए 'श्रद्धा वा आपः' इस ब्राह्मण वचन के अनुसार अप्तत्त्व का ही नाम श्रद्धा है। 'आपो द्रवाः स्निग्धाः' (वै० द०) इत्यादि दार्शनिक सिद्धान्तानुसार द्रवत्व, तथा स्निग्धत्व, अप्तत्त्व के प्रधान धर्म्म हैं। प्रवाहित होजाना, साथ ही वस्त्वन्तर में संसक्त होजाना अप् का विशेष धर्म्म है। फलतः अप्तत्त्वात्मिका श्रद्धा में भी इन दोनों धर्म्मों की स्थिति स्वभावतः सिद्ध होजाती है।

१४२-दृक्दोष-श्रुतिदोष-स्वप्नदोषात्मिका तमःप्रधाना, जड़धर्म्मानुगता मनोवृत्ति, एतादृग्वृत्ति-आनुकूल्य-परिहारण-समुत्पन्न गुणदर्शनात्मिका वृत्ति का दार्शनिक "श्रद्धा" त्व, एवम् "कासारेऽपि प्रविष्टः कोलः कर्दमं गवेषयति" सम्मत पर-निन्दाशूरादिका उक्त दोषत्रय विवेचनोदाहरणधिया प्रतिपादन—

वैज्ञानिकलक्षण समन्वय को थोड़ी देर के छोड़ते हुए श्रद्धा के दार्शनिक लक्षण का समन्वय कीजिए। दार्शनिक विद्वान् श्रद्धा का लक्षण करते हुए कहा करते हैं-"दोषदर्शनानुकूलवृत्तिप्रतिबन्धकवृत्तिधारणं श्रद्धा"। दोष देखने के अनुकूल जो मनोवृत्ति है, उस दोषदर्शनानुकूलवृत्ति के विरुद्ध जो मनोवृत्ति है, उस वृत्ति (गुणदर्शनवृत्ति) का मन में प्रतिष्ठित होजाना, उस वृत्ति का मन में खचित होजाना ही श्रद्धा है'। तमोगुण प्रधान पार्थिवशरीर से परिवेष्टित मानववर्ग की मनोवृत्ति स्वभावतः अधिकांश में परदोषानुगामिनी ही बनी रहती है। यद्यपि समालोचक स्वयं दोषों का आगार भले ही हो, तथापि तमोगुणानुग्रह से वह दूसरों के दोषान्वेषण में अनन्यनिष्ठ बना रहता है। मानवमन की दोषदर्शनानुकूला तमोगुणप्रधाना, अतएव जड़धर्म्मानुगता वही मनोवृत्ति दोषवृत्ति कहलाई है, जिसके वैज्ञानिकों ने 'दृक्दोष, श्रुतिदोष, स्वप्नदोष' ये तीन श्रेणि-विभाग माने हैं। दृक्प्राणमूल तमोगुणमय प्राकृतिक दोष दृक्दोष हैं। श्रुतिप्राणमूल रजस्त-मोगुणमय-आगन्तुकदोष श्रुतिदोष है। एवं स्वप्नप्राणमूल रजोगुणमय तात्कालिकदोष स्वप्नदोष हैं। कितने ही व्यक्ति जन्म से ही दोष देखने के, परनिन्दाप्रवृत्ति के आचार्य्य पद पर विराजमान रहते हैं। परदोषान्वेषण में न इन महापुरुषों का लाभ है, न हानि, केवल स्वभाव है। यही स्वाभाविकदोषात्मक दृक्दोष है। कितने एक व्यक्ति स्वयं तो बड़े सीधे सीधे हैं। परन्तु इनके पार्श्ववर्त्ती महानुभाव निरन्तर इन पर दोषमीमांसा का प्रभाव डाला करते हैं। कालान्तर में इस संगवृत्ति से उन में भी दोषदर्शनवृत्ति प्रस्फुटित होजाती है। यही आगन्तुक संसर्गजनितदोष श्रुतिदोष हैं। कितने एक व्यक्ति नासमझी से, परिस्थिति का परिज्ञान न रखने से कुछ का कुछ समझ बैठ कर दोषदर्शन के अनुगामी बन जाते हैं। प्रज्ञापराधमूलक यही तात्कालिक दोष स्वप्नदोष है। इसप्रकारदोषभाव के अवान्तर तीन विवर्त्त होजाते हैं, जिनका विशद वैज्ञानिक विवेचन 'ईशविज्ञानभाष्य' प्रथमखण्ड में निरूपित है।

१४३–मानस-सौम्यरस संश्लिष्टा, गुणैकपक्षव्रता, रजस्तमोमया ऽसद्वृत्तिरोधिनी सद्वृत्ति का "श्रद्धा" त्व, श्रद्धेय के साथ इसका अन्तर्य्याम-सम्बन्ध, एवं तन्निरूपण—

उक्त तीनों दोषों में से किसी एक भी दोषवृत्ति के आजाने से मानवीय मन दोषदर्शनानुकूला वृत्ति का उपासक बन जाता है। जो सात्त्विकवृत्ति इस दोषदर्शनानुकूलावृत्ति को रोक कर मानवीय मन को गुणदर्शन की ओर प्रवृत्त करती है, उस सद्वृत्ति का ही नाम श्रद्धा है, जबकि वह सद्वृत्ति मानस सौम्यरस से संश्लिष्ट होजाती है। दूसरे शब्दों में जो गुणदर्शनानुकूलासात्त्विकी सद्वृत्ति दोषदर्शनानुकूला रजस्तमोमयी असद्वृत्ति का निरोध कर देती है, उस सद्वृत्ति का अनुगमन ही श्रद्धा है। जब यह सद्वृत्ति मन में प्रस्फुटित होजाती है, तो जिस श्रद्धेय के साथ इस वृत्ति का अन्तर्य्याम सम्बन्ध होजाता है। उस श्रद्धेय के दोषों पर पहले तो श्रद्धालु दृष्टि ही नहीं जाती। यदि दृष्टि आती भी है, तो वह दोष भी इसे गुण ही प्रतीत होने लगते हैं। ऐसा होता क्यों है? प्रश्न का उत्तर है–गुणत्रय का तारतम्य, साथ ही सर्वव्याप्त।

१४४–श्रद्धा–अश्रद्धा–अन्धश्रद्धा–समुत्पन्न- विरुद्धदृष्टि एवं शास्त्राचारोल्लङ्घन, गोवत्स-वधात्मिका असद्वृत्तियों का निरूपण—

सत्त्व–रज–स्तमोगुणत्रयी दुर्निवार है। इन्ही तीनों गुणों के सम्बन्ध से श्रद्धा के भी सात्त्विकी, राजसी, तामसी, ये तीन भेद होजाते हैं, जिनका विशद वैज्ञानिक विवेचन 'उपनिषद्विज्ञानभाष्य भूमिका' प्रथमखण्डान्तर्गत–'क्या उपनिषत् वेद है?, नामक अवान्तर प्रकरण में हुआ है। सात्त्विकीश्रद्धा अध्यात्म-संस्था से, अभ्युदय निःश्रेयस से सम्बन्ध रखती है। राजसीश्रद्धा लौकिक व्यवहारों की प्रतिष्ठा बनती है। एवं तामसीश्रद्धा असद्वृत्तिरूपा अश्रद्धा से समतुलित होती हुई सर्वनाश का कारण बनती है। यही अन्धश्रद्धा कहलाई है, जिसका उदय असुरप्राणमूलक असदन्नभक्षण, असच्छिक्षानुगमन, सच्छिक्षाभाव, आदि सहयोगियों से माना गया है। जिनमे इस असच्छ्रद्धा का समावेश रहता है, वे सत् को असत् मानने लगते हैं, असत् को सत् कहने लगते हैं। शास्त्रीय आदेशोपदेश सर्वथा निरर्थक, एवं अशास्त्रीय कल्पित आदेशोपदेश मान्य, यही अन्धश्रद्धा है, जिसका आज भारतवर्ष में विशेष गौरव माना जारहा है। इसी तामसी श्रद्धा का यह अनुग्रह है कि, आज हमारे राष्ट्रीय नेता अज्ञानतावश जो भी शास्त्रविरुद्ध कर बैठते हैं, उनके श्रद्धालु उन कार्य्यों को भी गुणपक्ष में ही स्थापित करने लगते हैं। दुष्टश्रद्धा के इसी प्रभाव से गोवत्सप्राण हरण करने वालों का यह जघन्य कर्म्म भी उसके श्रद्धालुओं के लिए समर्थन की वस्तु सुना गया है। दोषानुगता ऐसी अन्धश्रद्धा, और असद्वृत्तिलक्षणा अश्रद्धा दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। दूसरी राजसीश्रद्धा भी व्यवहार खण्ड मे यथाकथञ्चित् उपयोगिनी बनती हुई भी तत्त्वतः त्याज्या ही मानी गई है। उपादेया है–एकमात्र सात्त्विकीश्रद्धा, जिसका कि निर्दुष्टसत्यानुगत विश्वास से अन्तर्य्याम सम्बन्ध है। जैसे को तैसा ही दिखलाने वाली श्रद्धा ही सात्त्विकी श्रद्धा है, जैसाकि अनुपद में ही बतलाए जाने वाले वैज्ञानिकलक्षण से स्पष्ट होने वाला है।

१४५ उपासनासिद्धि दौवारिका निर्दुष्टसत्य-विश्रम्भाश्रयणीय धर्म्मावच्छिन्ना "श्रद्धा" "वेदाः प्रमाणम्" इत्येतन्निष्ठ निर्व्याज वज्रप्राण निष्ठानुगति का फलग्राहि उपासनात्व, "यदि वेदाः प्रमाणं स्युः" इति रसनास्खलति व्याहृतमात्र-प्रत्यवाय-प्रायश्चित्त-परायण प्रातर्वन्द्य श्रीकुमारिल भट्ट—

श्रद्धा वही वास्तविकीश्रद्धा मानी जाएगी, जिसके निर्दुष्टसत्यत्व, विश्वास, आश्रयणीय, ये तीन भाव अङ्ग बने रहे होंगे, एवं ऐसी निर्दुष्टसत्य विश्वासयुक्ता आश्रयणीया श्रद्धा ही उपासना--सिद्धि का द्वार मानी जाएगी। दोषराहित्यभावना, श्रद्धेयतत्व, सत्यता, दृढआत्मविश्वास, और ऐसे विश्वास की कार्य्यरूप में परिणति, तद्रूपा मानसवृत्ति ही उक्त दार्शनिक लक्षण का निष्कर्ष है। उदाहरण के लिए 'वेदश्रद्धा' को ही लीजिए। वेदज्ञान हमारे लिए सर्वथा दोषरहित है, श्रद्धेयवेदतत्वमूलतः सत्य है, सत्यतापर दृढ आत्मविश्व है, विश्वानुगत श्रद्धेयवेद के आदेशोपदेशों का आश्रय भी है। यही उपासना--साफल्य है। यदि-'वेदाः प्रमाणं स्युः' मे सन्देहात्मक 'यदि' का भी समावेश है, तो श्रद्धयच्युति है, जिसके सर्वोच्च उदाहरण प्रातः स्मरणीय कुमारिल भट्ट थे। जिस अतीतयुग में वेदमार्ग पर आक्षेप किए जारहे थे, उस युग में सर्वश्री कुमारिल भट्ट ने वेदमार्ग प्रतिष्ठापन का व्रत ग्रहण किया। परमात्मानुग्रह से आपका व्रत सफल हुआ। परन्तु-'यदि वेदाः प्रमाणं स्युः' के 'यदि' शब्द के उच्चारण मात्र से होनेवाले प्रत्यवाय के प्रायश्चित्त के लिए, कहते हैं आप सूखे पिप्पल के वृक्ष पर बैठ सशरीर जलकर अपनी उपासना सफल करगए। करगए-'भट्टो जागर्त्ति भूतले' वाक्य को शाश्वत। यही वास्तविक वह श्रद्धा है, जिसके बलपर अग्नि अपना ताप छोड़ सकते हैं, सूर्य्योदय अवरुद्ध किया जा सकता है, स्तम्भ नृसिंहरूप में परिणत होसकता है,-'यो यच्छ्रद्धः स एव सः'।

१४६-अप्तत्व (श्रद्धातत्व) की अम्भः-मरीचि-मरः-आपः-इति चतुर्धा विभक्ति, एवम् एतच्चतुष्टय का विश्लेषण—

कहा गया है कि, अप्तत्त्व ही श्रद्धातत्त्व है। अम्भः, मरीचिः, मरः, आपः, भेद से यह अप्तत्व (लोकभेद से) चार जातियों में विभक्त है। पारमेष्ठ्य अप्तत्व 'अम्भः' है, जिसका गाङ्गेय से सम्बन्ध है। सौररश्मिसंघर्ष से उत्पन्न अग्निधर्म्मा रश्मिस्थ अप्तत्व 'मरीचि' है, जिसका यामुनेय से सम्बन्ध है, एवं जिसके आधार पर अर्णव समुद्र तथा कश्यपप्रजापति प्रतिष्ठित हैं। पार्थिव मूर्च्छित अप्तत्व 'मरः' है, जिसमें रासायनिक सम्मिश्रण से पेयजल का स्वरूप निष्पन्न होता है। चान्द्र सौम्य अप्तत्व 'आपः' है, जिसमें चान्द्रसोम सम्बन्ध से स्नेहगुण अत्यधिक मात्रा में प्रतिष्ठित है, जो कि अप्तत्व पितृप्राण की प्रतिष्ठा बनता हुआ चतुरशीति (८४) पितृसहः पिण्डों का ताता बनता हुआ 'ताता पिण्डानाम्' (ऋक्-संहिता) नाम से प्रसिद्ध हुआ है। यही चान्द्र अप्तत्व (आपः) 'श्रद्धा' कहलाया है। हमारी अध्यात्मसंस्था के प्राणतत्त्व से पारमेष्ठ्य 'अम्भः' का सम्बन्ध है, बुद्धि से सौर मरीचि का सम्बन्ध है, शरीर से पार्थिव 'मर' का सम्बन्ध है, एवं मन से चान्द्री श्रद्धा का सम्बन्ध है। जिस व्यक्ति के मन में चान्द्ररस जितना अधिक स्फुट होता है, वह उसी अनुपात से अधिकाधिक श्रद्धालु होता है। श्रद्धारस के अनुग्रह से वञ्चित मन्दभाग्य ही अश्रद्धान, संशयी, अज्ञ बने रहते हुए नष्ट होते देखे गए हैं-'अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति'।

१४७–आत्मविश्वास मूलप्रतिष्ठा "श्रद्धा", श्रत्-धा (सत्य-धारण) इत्यात्मक तदर्थ, एवं श्रद्धेय के आदेशोपदेशों का "इदमित्थं नान्यथा" इत्यात्मक निर्व्याजभावेन ग्रहण—

श्रद्धातत्त्व ही मनोयोग द्वारा 'सत्यत्व' धारणा का जनक बनता है। 'अमुक वस्तु सत्य है' इस आत्म-विश्वास की प्रतिष्ठा श्रद्धा ही है। 'श्रत्' भाग सत्य का सूचक है। इस 'श्रत्' का (सत्य का) धारण करने वाला तत्त्व ही 'श्रद्धा' है। श्रद्धा के आधार पर उत्पन्न–'इदमित्थमेव नान्यथा' यह भाव 'श्रद्धान' (श्रद्धाकरणं श्रद्धानम्) है। यह श्रद्धान श्रद्धेय के किसी एक अवयव के आधार पर भी उत्पन्न होता देखा गया है। यदि किसी मन्त्रशास्त्री तान्त्रिक द्वारा बतलाया गया कोई मन्त्र हमारी सफलता का कारण बन जाता है; तो हमारी उसकी सम्पूर्ण मन्त्रविद्या पर दृढ आत्मनिष्ठा होजाती है। एक मन्त्रसिद्धि के आधार पर ही उसका प्रत्येक आदेश हमारे लिए ईश्वरवाक्यवत् श्रद्धेय बन जाता है। इस श्रद्धानपारवश्य के प्रभाव से वे हमें जो भी आज्ञा देते जाते हैं, बिना किसी ऊहापोह के हम नतमस्तक होकर उसे मानते चले जाते हैं। यही उपासना है।

१४८–तत्वोपासनानुगता "वैज्ञानिकी परिचर्य्या" एतदीय वैज्ञानिक निरूपण-सापेक्ष-नियमोपनियमानुकूल्यवर्तन का उपासना-लक्षण-तन्निष्ठ-भाष्य–निर्वचन द्वारा प्रतिपादन—

लौकिक उपासना से सम्बन्ध रखनेवाली चर्य्या जहां लौकिकचर्य्या है, वहां तत्त्वोपासना से सम्बन्ध रखने वाली चर्य्या भी तत्त्वात्मिका ही होगी। अतएव उसे वैज्ञानिकी-परिचर्य्या ही कहेंगे। मानलीजिए, आपका उपास्य 'परदेवता' (जगन्माता) है। अष्टमी, नवमी, चतुर्दशी को शक्तितत्त्व प्रकृतिमण्डल में विशेषरूप से विकसित रहता है। एवमेव करवीरपुष्प, कलश, यन्त्रपूजन, पट्टस्थापन, आदि आदि पूजन–विशेषधर्म्म भी उपास्य के अनुरूप हैं। इन सब विशेषधर्म्मों, भावों, पदार्थों, का यथाशास्त्र तदनुरूप अनुगमन करने से ही उपास्यतुष्टि सम्भव है। इन सब नियमोपनियमों का प्राकृतिक तत्त्वों से सम्बन्ध है। यहां मनमाना कुछ भी नहीं किया जासकता। अतएव तत्त्वोपासनाकाण्ड की इस श्रद्धानभावात्मिका परिचर्य्या को 'वैज्ञानिकी परिचर्य्या' कहना अन्वर्थ बनता है। निम्नलिखितलक्षण (वै० प०) इसी उपासना का समर्थन कर रहा है—

> "विजिज्ञासितव्यस्य भावस्य यत्किञ्चिद्रूपं प्रतिपद्य तत्र सत्यत्त्वेनास्थाधारणंश्रद्धानम्"
>
> श्रद्धानपारवश्यात् तदनुकूला वैज्ञानिकी परिचर्य्याध्यानादिरूपा बुद्धियोगस्तदुपासनम्"

—१२—

१४९-ईशसत्तापरक निदुष्टास्थावती उपासना के सूर्य-गुरु-अवतारपुरुषात्मक आलम्बन, तत्र भगवान् सूर्य्य का प्राधान्येन निरुपण एवम् ईशप्रजापति द्वारा अण्ड-सृष्टिसर्ग—

जिस आस्तिक प्रजा की ईशसत्ता पर निदुष्ट सत्यविश्वासात्मिका आश्रणीया आस्था है, विशिष्टाद्वैत मूला सगुणोपासना उन आस्तिकों के लिए ही विहित है। आस्तिक प्रजा की यह ईश्वरोपासना सूर्य्य, गुरु, अवतारपुरुष, तीन माध्यमों से भलीभाँति सम्पन्न होसकती है। सूर्य्य आधिकारिक अचेतन ईश्वरांश है, गुरु प्रावाहिक चेतन ईश्वरांश है, एवं अवतारपुरुष (रामकृष्णादि) आधिकारिक चेतन ईश्वरांश हैं। यद्यपि, चन्द्रमा, नक्षत्र, पृथिवी, ग्रहोपग्रह, आदि आदि अन्य सभी प्राकृतिक विश्वपर्व भी सूर्य्यवत् आधिकारिक अचेतन ईश्वरांश ही हैं, अतएव इन सभी को (किसी भी एक को) आलम्बन बनाया जासकता है। तथापि किसी हेतुविशेष से हम सूर्य्य को ही प्रधानता दे सकते हैं। एवं वह हेतुविशेष है—एकमात्र 'त्रयीविद्या'। सगुणेश्वर की सगुणता का उपक्रम शब्दतन्मात्रा से हुआ है, जो कि शब्दतन्मात्रा अनादिनिधना-स्वायम्भुवी-सत्यावाक् नाम से प्रसिद्ध हुई है। यही सत्यावाक् अपने ऋक्-यजुः-सामात्मक विवर्त्तभावों में परिणत होती हुई त्रयीविद्या, किंवा त्रयीवेद नाम से प्रसिद्ध हुई है, 'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा'-'वाग्विवृताश्च वेदाः'- जैसाकिइत्यादि स्मृतिवचनों से प्रमाणितहै। 'अग्निःश्वसित' नामक, तत्त्वात्मक, इसी अपौरुषेयवेद को ब्राह्मणश्रुतियों ने-'ब्रह्मैव प्रथममसृजत् त्रयीमेवविद्याम्' (शत० ब्रा० ६।१।१।८) इत्यादिरूप से 'ब्रह्म' नाम से व्यवहृत किया है। इसी त्रयीब्रह्म पर प्रतिष्ठित होकर सप्तपुरुष पुरुषात्मक ईशप्रजापति अप्सृष्टि द्वारा आगे होने वाली अस्त्वण्ड, पोषाण्ड, यशोऽण्ड, रेतोऽण्ड, आदि अण्डसृष्टिसर्ग में समर्थ हुए हैं-(देखिए शत० ६ कां० १ प्र० १ ब्रा०) तात्पर्य, त्रयीवेद ही ईशप्रजापति का मुख्य सगुणरूप है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शेष चारों गुणात्मिका तन्मात्राओं का प्रथमाधार वेदब्रह्मात्मक शब्दतन्मात्रा नामक गुणभाव ही है—"वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्चनिर्ममे"

१५०-शब्दतन्मात्रात्मक त्रयीवेद, तत्र धर्म्मसृष्टि, ऋषिप्रणीत मानवधर्म्म की ऋषि सम्बन्धेन "आर्षधर्म्म" एवं नित्यभावेन "सनातनधर्म्म" रूपेण निरुक्ति, वेदोपदेष्टा गुरु वैदिकधर्म्म संरक्षणैकव्रती अवतार पुरुष, वेदब्रह्म-भौतिक-स्वरूपोन्मीलक सूर्य्य एवम् सगुणेश्वरोपासना में उक्तत्रिकमाध्यम की स्वीकारोक्ति—

शब्दतन्मात्रात्मक ईश्वरीय सगुणभाव ही त्रयीवेद है। इस त्रयीवेद के आधार पर ही धर्म्म-सृष्टि हुई है। प्राकृतिक नित्य धर्म्मसूत्र का सञ्चालन वेदतत्त्व के आधार पर ही होरहा है। जैसाकि-'वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ' इत्यादि मानवीय वचन से प्रमाणित है। तत्त्वात्मक इसी वेदब्रह्म के आधार पर शब्दात्मक वेद का ऋषियों के अन्तःकरण में प्रादुर्भाव हुआ है। ऋषियों ने इसी वेदशास्त्र के आधार पर मानवधर्म्म को सुव्यवस्थित किया है, जो कि मानव धर्म्म ऋषि सम्बन्ध से 'आर्षधर्म्म, अपने नित्यभाव से 'सनातन-धर्म्म' कहलाया है। शास्त्रात्मक वेद का उपदेश गुरुद्वारा होता है। तत्त्वात्मक वेद के आधार पर प्रति-

ष्ठित धर्म्म की रक्षा अवतारपुरुषों द्वारा होती है। एवं तत्त्वात्मक वेदब्रह्म के मौतिक स्वरूप का (जोकि भौतिक स्वरूप-'गायत्रीमात्रिक' नाम से प्रसिद्ध है) विकास सूर्य्य द्वारा हुआ है, जैसाकि-'सैषा त्रय्येव विद्या तपति' (शत० १०) इत्यादि वचन से प्रमाणित है। इसप्रकार प्रत्यक्षदृष्ट प्राकृतिक पर्वों में एकमात्र सूर्य्य ही त्रिगुणात्मक वेदतत्त्वात्मक आलम्बन बना हुआ है। दूसरा वेदविद्यानिधि गुरु है। तीसरा वेदधर्म्मरक्षक अवतारपुरुषवर्ग है। सूर्य्य, गुरु, अवतारपुरुष, तीनों का त्रयीवेद से घनिष्ठ सम्बन्ध है। त्रयीवेद ईश का प्रधान सगुणभाव है। अतएव सगुणेश्वरोपासना में इन तीनों के माध्यम को ही प्रधान स्थान दिया जासकता है।

१५१-सूर्य्य गुरु अवतार-निष्ठ श्रेणिविभाग तत्र क्रमप्राप्त सूर्य्य-गुरु-अवतार पुरुषों के प्रथम द्वितीय तृतीयास्पद का निरूपण—

सूर्य्य, गुरु, अवतार, तीनों प्रतिनिधियों में श्रेणिविभाग समझना चाहिए। प्रथमस्थान त्रयीमय त्रिगुणात्मक सूर्य्यभगवान् का है। प्रत्यक्षरूप से भासमान तेजोमय सूर्य्य साक्षात् उद्गीथोङ्कार है। ओङ्कार ही 'तस्य वाचकः प्रणवः' के अनुसार ईश का प्रधानस्वरूप है। तद्रूप सूर्य्य अवश्य ही तीनों में मुख्य है। दूसरा विभाग गुरु है। प्रत्यक्ष में निग्रहानुग्रह में समर्थ गुरु अवश्य ही अवतारपुरुषापेक्षया उपासक के अधिक सन्निकट है। तीसरा विभाग अवतारपुरुषों का है। प्रतिमा-चित्रादि दृष्टि द्वारा पहले अवतार-पुरुषों को लक्ष्य बनाया जाता है, पुनः इनके द्वारा व्यापक सगुणेश्वर को। इन दो परम्पराओं के सम्बन्ध से भी इस तृतीय विभाग को तृतीयश्रेणी का मानना ही अन्वर्थ बनता है। निष्कर्ष यही हुआ कि, तीनों में से किसी एक को आलम्बन बनाकर, साथ ही इन्हीं में ईश्वरबुद्धि स्थापित कर ईश्वरोचित कर्म्मानुगमन ही उपासना है।

१५२-उपासनालक्षणान्विता "दृष्टि" के "चाक्षुषी" "मानसी" भेदद्वय, "औपासनिक दृष्टि" शब्देन उभयानुबन्धि ग्रहण एवम् "अयमीश्वरोऽस्तीति" उपासना के त्रयोदश लक्षण का समन्वय—

उपासना के सभी लक्षणों में यह कहा गया कि, दृष्टि अन्य पर, मनोयोग अन्य पर, यही उपासना है। यह दृष्टि चाक्षुषी, मानसी, भेद से दो भागों में विभक्त है, एवं औपासनिक दृष्टि शब्द से इन दोनों का ही ग्रहण करना चाहिए। कारण यही है कि, यच्चयावत् माध्यमों के साथ चाक्षुषी दृष्टि का सम्बन्ध होना असम्भव है। प्राण तत्त्व ब्रह्म का प्रतीक माना गया है। फलतः प्राणदृष्टि से ही मनोयोग द्वारा ब्रह्मोपासना होती है। रूपरसादितन्मात्राओं से एकान्ततः अतीत अधामच्छद, अमूर्त्त प्राणतत्त्व कभी

चाक्षुषीदृष्टि का विषय नहीं बन सकता। प्राण इन्द्रियग्राह्य नहीं, अपितु मनोग्राह्य है। अतः दृष्टि से दोनों दृष्टियां ही संगृहीत माननी आवश्यक हैं। निम्नलिखितलक्षण उपासना के पूर्वोक्त दृष्टिकोण का ही स्पष्टीकरण कर रहा है—

"अयमीश्वरोऽस्तीति विश्वासभाजां दृढप्रत्ययेन सूर्य्योद्गीथे, गुरौ, अवतारपुरुषे, तत्प्रतिमायां वा ईश्वरोचितकर्म्मकरणमुपासनम्"

—१३—

१५३--उपासना के उपर्युक्त त्रयोदश-लक्षणों का फलितार्थ, ससीम शक्तिधर मानव एवम् महाशक्ति-समाकुल-महाविश्व के अतुलित आधिदैविक-शक्ति-तापों का विवेचन, जीवस्थ परिमित शक्तियों का ईश्वरीय शक्तिप्रवेशानुबन्धी उपासन-तत्वाधिगम एवम् मनः संयति प्रयुक्त बौद्धिकप्रजा-प्रतिष्ठित निष्ठा का जीवन-फलेग्रहितानुबन्धी निष्कर्षस्तवन—

पूर्व में उपासना के जिन तेरह लक्षणों का समन्वय किया है, उन सब का वैज्ञानिक तात्पर्य्य क्या है ! क्या फलितार्थ है ? यह प्रश्न शेष रह जाता है। इसी शेष प्रश्न का समाधान कर प्रस्तुत लक्षण-निर्वचन प्रकरण उपरत होरहा है। सत्त्व-रज-स्तमोगुणमयी योगमाया के गर्भ में जन्म लेने वाला मानव ईश्वरस्वरूपसमर्पिका महामाया के पाञ्चभौतिक महाविश्व की अतुलित शक्तियों के आघात-प्रत्याघात सहने में प्रायः असमर्थ ही रहता है। आधिदैविक तापों का आक्रमण इसकी स्वल्प-सीमित शक्तियों को क्षुब्ध करता रहता है। महाशक्ति समाकुलित महाविश्व के महामहिम महत्त्व के सामने मानवीय मन का महत्त्व ही क्या रह जाता है ! सांसारिक तापों से इसकी इन्द्रियां, मन, बुद्धि, सब कुछ किंकर्त्तव्य विमूढ रहते हैं। तत्त्वज्ञ वैज्ञानिकों ने योगजदृष्टि से प्रकृति के तत्त्वों का साक्षात्कार किया, साक्षात्कार किया पञ्चविंश उस तत्त्वेश्वर का, जो सर्वज्ञ-सर्ववित्-सर्वशक्तिघन बनता हुआ सांसारिक द्वन्द्वों से नित्ययुक्त रहताहुआ भी द्वन्द्वातीत बनकर बनकर आपूर्यमाण समुद्रवत् अचलप्रतिष्ठ बना रहता है, नित्य अशान्ति के कण कण में व्याप्त रहता हुआ भी नित्यशान्त बना रहता है। वैज्ञानिकों ने इसी इसी तत्त्वेश्वर के आधार पर उस वैज्ञानिकी प्रक्रिया का आविष्कार किया, जिससे सर्वज्ञ ईश की शक्तिधाराओं के साथ अल्पज्ञ जीव की अल्प-शक्ति का सम्बन्ध होजाय। अवश्य ही उसकी प्रबलशक्तिधारा के प्रवाह से इसकी स्वल्पशक्तियों में बल का आधान होजाता है। इसी प्राप्तबल द्वारा यह तद्वत् सांसारिक द्वन्द्वों में रहता हुआ भी नित्यशान्त बना रह सकता है। जिस वैज्ञानिक पद्धति से जीव की स्वल्पशक्तियों में ईश्वरीय शक्तियों का प्रवेश होजाता है, वह वैज्ञानिक पद्धति ही 'उपासना' कहलाई है, जिसके उपासक अधिकारी की योग्यता के तारतम्य से बहुसंख्यक प्रकार बन गए हैं। शान्तिप्राप्ति का एकमात्र उपाय है—इन्द्रियसंयमपूर्वक मनः संयम

द्वारा बुद्धिस्थिरता लक्षण बुद्धियोगनिष्ठावाप्ति । ऐन्द्रियक विषयानुगत मन स्वभावतः चञ्चल है। मनका चाञ्चल्य तत्प्रतिविम्बित बुद्धि के स्थिरधर्म्म का उच्छेद है। बुद्धि की अस्थिरता किंकर्त्तव्य विमोह की जननी है। यही अशान्ति हैं। आवश्यक है कि, मन का संयम किया जाय। क्योंकि जबतक मन स्थिर नहीं होगा, तबतक उसपर प्रतिष्ठित बुद्धि उसी प्रकार अस्थिर रहेगी, जैसेकि आन्दोलित जलपात्र में प्रतिबिम्बित सूर्य्यम्बिम्ब आन्दोलित रहता है। इस मन: स्थैर्य्य के लिए मन को स्थिर-शान्तलक्षण ईशतत्त्व का अनुगामी बनाना पड़ेगा। परन्तु विषयासक्त मन एकहेलया विषयों की, आधिभौतिक प्रपञ्च की तत्क्षण उपेक्षा करदे, यह भी सम्भव नहीं है। अवश्य ही तत्-सायुज्यप्राप्ति से पहिले पहिले अभ्यास दृढ़ता के लिए इसके सम्मुख किसी आधिभौतिक विषयालम्बन को रखना पड़ेगा। इस प्राम्भिक संयमाभ्यास से क्रम क्रमश: मन में स्थिरता का उदय होगा, परम्परया बुद्धि में भी स्थिरधर्म्म का उदय होगा। जिस दिन मन: संयम द्वारा बुद्धिगत प्रज्ञाभाग एकान्तत: प्रतिष्ठित होजाएगा, तत्क्षण स्थितप्रज्ञताद्वारा बुद्धियोग निष्ठा प्राप्त होजाएगी, सफल होजाएगा जीवन, प्राप्त होजाएगा शाश्वत पद। यही उपासनातत्त्व का फलितार्थ है, यही इसका निष्कर्ष है, जिसके निम्नलिखित लक्षण के साथ प्रस्तुत प्रकरण उपरत होरहा है—

"मनसा धार्य्यमाणेऽर्थे मन:संयमेन बुद्धिस्थैर्य्यमुपासनम्"

—१४—

—*—

इति-उपासनालक्षणनिर्वचनम्

२

इति–भक्तियोग परीक्षायामुत्तरखण्डे

"उपासनालक्षण निर्वचनम्"

नामकं

द्वितीयम् प्रकरण मुपरतम्

श्रीः

अथ–भक्तियोगपरीक्षाया मुत्तरखण्डे

उपासनाभेद निर्वचनम्

नामकं

तृतीयम् प्रकरणम्

श्रीः

अथ-भक्तियोगपरीक्षाया मुत्तरखण्डे

उपासनाभेद निर्वचनम्

नामकं

तृतीयम् प्रकरणम्

१–समानशीलव्यसनेषु मैत्री-निदर्शन-प्रातिस्विक वैशिष्ट्याभिजात्य तारतम्योद्गत (उत्तम-मध्यम प्रथम) श्रेणि विभाग एवम् साध्यानुग्रहाप्तिकृत-साध्यस्वरूपानुवर्ति साधनोपकल्पन का आपेक्ष्य—

अष्टादशपरिच्छेदात्मक पूर्वप्रकरण में अनेकधा यह स्पष्ट किया जाचुका है कि, आधिभौतिक-लौकिक साधनों के द्वारा (मध्यालम्बन द्वारा) आधिदैविक–पारमार्थिकफल प्राप्ति जिस वैज्ञानिकी प्रक्रियाविशेष से सम्भव है, वह उभयात्मिका प्रक्रियाविशेष ही 'उपासना' है। इस पूर्व सिद्धान्त के सम्बन्ध में एक विप्रतिपत्ति उपस्थित होती है। सजातीयों का सम्बन्ध स्वाभाविक है। समसम्बन्धियों का ही परस्पर आकर्षण लोक–वेद सम्मत है। इसी आधार पर संस्कृतसाहित्य में–"एकसम्बन्धिज्ञानमपर सम्बन्धिज्ञानस्य स्मारकं भवति' न्याय प्रतिष्ठित भी है। लोकसम्मत व्यावहारिक दृष्टिकोण भी इसी सिद्धान्त का समर्थन कर रहा है। बुद्धि–अनुगत योग्यता के तारतम्य से, किंवा सोपाधिक सप्तदशराशिलक्षण–सविशेष (अतएव प्रतिशरीर में भिन्न) भूतात्मा की प्रातिस्विक विशेषताओं के तारतम्य से मानव समाज में उत्तम–मध्यम–प्रथमादि श्रेणि विभाग व्यवस्थित हुआ है। स्वामी–सेवक, राजा-प्रजा, न्यायाधीश–कर्म्मचारी, गुरु–शिष्य आदि द्वन्द्वव्यवहार, ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य–शूद्रादि वर्णावर्णव्यवस्था, आदि आदि भेद व्यवहार, सविशेष–अतएव भेदक भूतात्मा की प्रातिस्विक योग्यताओं पर ही निर्भर है। इसी प्रातिस्विक भेद व्यवहार के आधार पर मानवसमाज में प्रतिष्ठित तत्तत् विशेष श्रेणिविभाग का तत्तदनुरूप श्रेणिविभाग से ही समसम्बन्ध होता देखा गया है। जो व्यक्ति जिस श्रेणि में प्रतिष्ठित होगा, उसका अनुग्रह प्राप्त करने के लिए उस व्यक्ति के व्यक्तित्व के अनुरूप ही साधनों का आश्रय लेना आवश्यक होगा। साध्यस्वरूप के अनुरूप साधन ही साध्यानुग्रह प्राप्ति के कारण बन सकेंगे।

२–उपासनार्थ स्वीकृत आधिदैविक साध्यानुग्रह प्रयोजक आधिभौतिक साधनों का साध्य-वैजात्य, कर्म्म-बन्धन-प्रवर्तक-तमोमय आधिभौतिक, ज्ञानात्मक-बन्धन-निवर्तक-ज्योतिर्म्मय आधिदैविक एवम् तल्लक्षणा ज्योतिर्मय साध्यावाप्त्यर्थ अपेक्षिता आधिभौतिकोपादानसंहति पर शङ्काऽवधान—

उक्त लोकस्थिति के आधार पर देखना हमें यह है कि, उपासनाकाण्ड में आधिदैविक साध्यानुग्रह प्राप्ति के लिए जिस आधिभौतिक साधन की मध्यस्थता स्वीकार की गई है, क्या वह मध्यस्थता साध्यस्वरूप

के अनुरूप है ? कहना पड़ेगा कि, अनुरूपता की क्या कथा, अपितु दोनों के स्वरूप में आत्यन्तिक विजातीयता है। साध्य आधिदैविक ज्ञानप्रधान बनता हुआ यदि ज्योतिर्म्मय है, तो साधन आधिभौतिक कर्म्मप्रधान बनता हुआ तमोमय है। एक (ज्ञानात्मक आधिदैविकतत्त्व) यदि बन्धन निवर्त्तक है, तो एक (कर्म्मात्मक आधिभौतिक द्रव्य) बन्धन प्रवर्तक है। क्या बन्धन प्रवर्त्तक, किट्टस्वरूप, तमोमय, ऐसे आधिभौतिक साधन द्वारा बन्धन निवर्त्तक, विशुद्ध, ज्योतिर्म्मय वैसे आधिदैविक साध्य को प्राप्त करना सम्भव है ? लोक-दृष्टान्त उत्तर देगा—असम्भव। फिर कैसे आधिभौतिक को साधन माना गया ? उत्तर अपेक्षित है। अन्यथा सभी उपासनालक्षण लक्षणाभास हैं, असल्लक्षण हैं। किस सद्वादी की ऐसे असल्लक्षणों की ओर प्रवृत्ति होगी।

३-कर्म्मबन्धन-विमुक्त-उपास्य-प्राप्ति में कर्म्मबन्धन मुक्त्यर्थ आचरित तमः स्पृष्ट भौतिक-साधनों का वैयर्थ्य-विजातीयत्व, एवम् साध्यानुग्रह-लम्भनार्थ साधन साजात्य का आनुकूल्यवर्तनात्मक निदर्शन—

उपास्य ईशतत्त्व कर्म्मबन्धन से सर्वथा विमुक्त है। इस की उपासना से भी उपासक के लिए कर्म्म-बन्धन विमोक ही अभीप्सित है। जो कर्म्म अपने स्वाभाविक तमोभाव से ज्ञानमय ईश के लिए उपेक्षणीय है, उस कर्म्मसाधन से क्या कभी उसका अनुग्रह प्राप्त किया जासकता है ? क्या वह ब्राह्मण—जिस के लिए मद्य नितान्त हेय है, मद्य साधन द्वारा ही तुष्ट किया जासकता है ? बहुमूल्य रत्नाभूषणों का अधिकारी राजा क्या दो चार पणों से प्रसन्न किया जा सकता है ? एवमेव ज्ञानमूर्त्ति ईश क्या कर्ममय भूत साधन से तुष्ट किया जासकता है ? पूर्वकथनानुसार सजातीयों का ही पारस्परिक सम्बन्ध सम्भव है, न कि विजातीयों का। ब्राह्मण—ब्राह्मण का सह भोजनादिव्यवहार सामयिक तथा लोक-वेद सम्मत है। ब्राह्मण, तथा अस्पृश्यशूद्र का सम्बन्ध अभिनिविष्ट की दृष्टि के अतिरिक्त सबकी दृष्टि में निन्द्य, एवं प्रत्यवाय का जनक ही माना गया है। निष्कर्षतः आधिदैविक-ज्ञानलक्षण उपास्य के साथ आधिदैविक का सम्बन्ध ही सम्भव है, एवं ऐसा सम्बन्ध ही तत्प्राप्ति का कारण माना जासकता है। साधन—साध्यों की सजातीयता जहां साध्यानुग्रह की प्रतिष्ठा है, वहां दोनों की विजातीयता साध्यप्राप्ति में महान् प्रतिबन्धक है। अतएव कहा जासकता है कि, पूर्वोक्त लक्षण-प्रकरण में जो उभयात्मक सिद्धान्त स्थापित किया गया है, वह सर्वथा विरुद्ध है, अनुभव से विपरीत है।

४-मनः-प्रत्ययानुभव-ज्ञानैकवेद्य उपास्य का इन्द्रिय-बहिर्विश्व-चक्षुः-कर्म्मानुबन्धि-भूतग्राम द्वारा अधिगमनायास, बुद्धि-विज्ञानगम्य ईशिता का तादृश-भूत सामुदायिक प्रयत्नों से अनधिगमन, एवम् "न कर्म्मणा न प्रजया धनेन" उपनिषत्तत्त्व का विशकलन—

यथार्थ में वस्तुस्थिति कुछ ऐसी ही है। उभयात्मक सिद्धान्त को हमने अविरुद्ध न माना हो, यह बात नहीं है। हम जानते, साथ ही मानते भी हैं कि, आधिदैविक की प्राप्ति आधिभौतिक से सम्भव नहीं है। केवल

मनोराज्य से, प्रत्ययजगत् से, अनुभव से, ज्ञान से सम्बन्ध रखने वाला उपास्य ईशतत्त्व कभी इन्द्रियराज्य से बहिर्जगत से, चाक्षुषीदृष्टि से, कर्म्मात्मक भूत से प्राप्त नहीं किया जासकता। वस्तुगत्या इन्द्रियपथातीत ईशा-तत्त्व एकमात्र बुद्धिगम्य ही है, विज्ञानगम्य ही है-'तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः'—'तमेव विदित्त्वा-तिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'-'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः'-'ज्ञानवान् भय प्रपद्यते'-इत्यादि श्रु ति-स्मृतियाँ-सर्वतो भावेन उसकी बुद्धिगम्यता का ही समर्थन कर रही हैं। वर्त्तमान में प्रचलित-'खुदा को देखा कि, अक्ल से पहचाना' किंवदन्ती भी यही सिद्ध कर रही है। राजमार्गस्थ-आपणों में रक्खे हुए पदार्थ जैसे पणों द्वारा क्रीत कर लिए जाते हैं, क्या वैसे पाषाणमय मन्दिरों में प्रतिष्ठित पाषाणमय विग्रहों की २-४ पणों की भेंट से ईशतत्त्व प्राप्त किया जासकता है? अङ्गुलीनिर्द्देश से सर्वथा अतीत ईशतत्त्व विश्व की किसी भौतिक-विज्ञानशाला में नहीं मिल सकता। उसकी स्थिति है-एकमात्र आध्या-त्मिक विज्ञानशाला में, जहां भौतिकविज्ञान का प्रवेश सर्वथानिषिद्ध है। क्षणिक कर्म्म, क्षणिक भूतविज्ञान, मर्त्य भौतिकपदार्थों से अतीत अक्षर ज्ञानमूर्ति, नित्यविज्ञानघन, अमृत आधिदैविक उपास्य क्षणिकादि मर्त्य-भावों के द्वारा प्राप्त नहीं किया जासकता-'नामृतत्त्वस्यतु-आशास्ति वित्तेन,'-'न कर्म्मणा, न प्रजया धनेन' *।

५-अधिकारि-योग्यतातारतम्यकारण-परिणामी आधिदैविकेन आधिभौतिक सम्बन्ध, सृष्टि के निर्म्माण का निमित्तोपादान-कारण ईश्वर एवम् आधिभौतिक माध्यमा-लम्बन का रहस्य—

प्रातिस्विक आधिदैविकस्वरूप सम्बन्ध से इन्द्रियप्रत्यक्ष विषयीभूत आधिभौतिक पदार्थ-समष्टि से पराःपरावत (अत्यन्तविदूर) रहने वाला केवल प्रत्येतव्य जो ज्ञानप्रधान उपास्य तत्त्व है, उसके उपभाव की प्राप्ति प्रत्ययाधारेणैव सम्भव है। इस प्रकार सिद्धान्ततः उसे आधिदैविक-साधनगम्य (ज्ञानसाधनगम्य) मानते हुए भी इसें कारणविशेष से इस आधिदैविक उपासना काण्ड के साथ आधिभौतिक का सम्बन्ध मानना पड़ता है। एवं वह कारण विशेष है-एकमात्र अधिकारीवर्ग की योग्यता का तारतम्य। मनुष्यमात्र एकहेलया वैज्ञानिक भावों को सरलता से समझ कर उन पर आरूढ होजाएँ, यह असम्भव है। 'ईश्वर विज्ञान साध्य है, बुद्धिगम्य है' इस विज्ञान भाषा से तब तक आप सामान्य अधिकारियों का ध्यान (मन) आधिदैविक उपास्य की ओर आकर्षित नहीं कर सकते, जबतक कि, उन अधिकारियों के चिराभ्यस्त भौतिक विषयों में से किसी अनुरूप भौतिक द्रव्य को आप उनकी दृष्टि का विषय नहीं बना देते। एक वैज्ञानिक मनुष्य अपने ज्ञानबल से यह भलीभाँति जानता है, जानसकता है कि, ईश्वर ही जगत् का निमित्त कारण है, वही उपादान कारण है। वही सृष्टिनिर्म्माणकर्त्ता है, वही सृष्टि है। वही बनाता है, वही बनता है। क्या एक अवैज्ञानिक लौकिक मनुष्य आपकी इस विज्ञानभाषा-मात्र से यह स्वीकार कर लेगा? उसने तो अपने लोकव्यवहारो

---

* यदा चर्म्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति॥

में यही जाना-सुना है कि, बनाने वाला दूसरा होता है, बनने वाला दूसरा होता है। कुम्भकार घट का निमित्त कारण है, मिट्टी घट का उपादान कारण है। कुम्भकार ही घट बनता है, वही घट बनता है, जैसे यह व्यवहार उसकी सामान्य दृष्टि में असम्भव है, तथैव ईश्वर की निमित्त, तथा उपादानकारणता का एकत्र समन्वय भी उसके लिए तबतक असम्भव ही बना रहता है, जब तक कि, आप उसके सम्मुख किसी वैसे लौकिक-आधिभौतिक दृष्टान्त नहीं रख देते, जिसमें निमित्तता, तीनों का एकत्र समन्वय होरहा है। इस प्रकार विज्ञैकगम्य वैज्ञानिक भावों के बोध सौकर्य्य के लिए अधिकारी की सामान्य-योग्यता के अनुरोध से अवश्य ही आपको आधिभौतिक भावों को माध्यम बनाना पड़ेगा। बस यही स्थिति वस्तुत उपासना काण्ड के सम्बन्ध में घटित हुई है।

६-ईश्वररूप सम्पूर्ण जगत्, घट का निमित्त कारण कुलाल एवं शङ्काशङ्कु समापक "ऊर्णनाभि" का दृष्टान्त—

आप सम्मुख बैठे हुए एक लौकिक अधिकारी को अपनी विज्ञान भाषा में समझा रहे हैं कि, 'सम्पूर्ण जगत् का निर्म्माण भी ईश्वर से ही हुआ है, एवं यह सम्पूर्णजगत् है भी ईश्वररूप ही'। जिज्ञासु बोल पड़ेगा-असम्भव। क्या कहीं कुम्भकार भी घट बन सकता है। हां, बना भर सकता है। निमित्तमात्र बन सकता है, उपादान नहीं। यदि बनाने वाला स्वयं ही बनने लगेगा, तो उस बनने वाले को बनाने वाला और कौन होगा? यदि ईश्वर ही जगत् बनता है, तो ईश्वर को जगत् बनाता कौन है? 'ईश्वर ने बनाया' इस उत्तर में इसलिए तथ्य नहीं है कि, जो स्वयं बनने वाला है, वह बनाने वाला कैसे बन सकता है। उपादान कारण की कार्य्यरूपपरिणति तो सम्भव है। परन्तु, निमित्तकारण कार्य्य बन जाय, यह कैसे सम्भव है। एवमेव संचरक्रम में उपादान कारण से उत्पन्न कार्य्य तो प्रतिसंचरावस्था में उपादान कारण अवश्य बन सकता है। परन्तु किसी भी अवस्था में कार्य्य का निमित्त कारण बनना असम्भव है। घट (कार्य्य) भग्नावस्था में परिणत होकर कालान्तर में मिट्टी (उपादान कारण) बन सकता है। परन्तु, वह घट किसी भी अवस्था में कुम्भकार (निमित्त कारण) नहीं बन सकता। इस प्रकार आप किसी भी आधिदैविक दृष्टान्त के आधार केवल ज्ञान के आधार उसे यह बोध नहीं करा सकते कि, 'निमित्त भी वही है, एवं उपादान भी वही है'। करना आपको यह पड़ेगा कि, आप आधिदैविक कारणता से मिलता जुलता आधिभौतिक उदाहरण उसके सम्मुख रक्खेंगे। अवश्य ही चिराभ्यस्त उस आधिभौतिक दृष्टान्त के माध्यम से (जो कि माध्यम वस्तुतः आधिदैविक के अनुरूप नहीं है) आपके लक्ष्यीभूत विज्ञानतत्त्व की ओर उसका ध्यान आकर्षित होजाएगा। आप उसे कहेंगे-देखो! मकडी को जाला बुनते तुमने कई बार देखा है। यह मानते हो कि, मकड़ी ही जाला बुनती है। मकड़ी कारण है, जाला कार्य्य है। पूछते हैं कि, क्या मकड़ी के जाले में सिवाय मकड़ी के अन्य किसी उपादानकारण की अपेक्षा है?। तुम कहोगे-नहीं। हम कहदेंगे-हमारा लक्ष्य सिद्ध होगया। मकड़ी स्वयं ही जाला बनाती है, अतएव मकड़ी निमित्तकारण है। मकड़ी स्वयं ही अपने प्रत्यंश से जालरूप की जन्मदात्री बनती है, अतएव मकड़ी ही जाल का उपादानकारण भी है। मकड़ी का वह प्रत्यंश ही जालरूप में परिणत होता है, अतएव मकड़ी ही जालरूप कार्य्य भी है। इस प्रकार वही मकड़ी अपने शारीरिक श्रम से जाल का निमित्त है, अंशात्मक भूतभागापेक्षया उपादान है, जालापेक्षया कार्य्य भी है। प्रत्येतव्य अर्थ है-ईश्वर की

कारणता, साधन है-आधिभौतिकी ऊर्णनाभिः (मकड़ी) । दृष्टि मकड़ी पर है मन ईश्वर की ओर है । स्वयं वेद भगवान् ने विस्पष्ट भाषा में इसी आधिकभौतिक-मध्यालम्बनत्त्व का निम्नलिखित रूप से समर्थन किया है—

> यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च, यथापृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति ।
> यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाऽऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वम् ॥
>
> —मुण्डकोपनिषत्

७-पुनः ऊर्णनाभि--पृथिवी--पुरुष दृष्टान्त द्वारा ईश्वर का सृष्टिरूपत्व--निरूपण, एवम् मुण्डकोपनिषद् की निरुक्ति—

श्रुति कहती है-जिसप्रकार मकड़ी (किसी अन्य निमित्त--उपादान कारण की अपेक्षा न रखती हुई स्वशरीर से ही) तन्तुजाल उत्पन्न करती है, एवं अन्त में उसे अपने आप में ही लीन भी कर लेती है । जिस प्रकार पृथिवी से अपने आपके मलमय भाग से ही (कारणान्तरानपेक्षया) औषधि--वनस्पतियां उत्पन्न होती हैं, जिसप्रकार जीवित पुरुष (पुरुषशरीर के शारीर वैश्वानराग्नि किट्ट) से केश और लोम उत्पन्न होते हैं, ठीक इसी प्रकार (किसी भी कारणान्तर की अपेक्षा न रखते हुए अव्ययज्ञान से सर्वज्ञ, क्षरभूत से सर्ववित्, एवं स्वाक्षरस्वरूप से सर्वशक्ति बने हुए (सर्वज्ञ सर्ववित्-) अक्षर ब्रह्म के (ज्ञानमय तप से--प्रतिष्ठालक्षण ब्रह्म--भूतज्योतिर्लक्षण नाम--रूप--यज्ञलक्षण अन्नात्मक) यह सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न हुआ है * ऊर्णनाभि, पृथिवी, पुरुष, तीन दृष्टान्तों को माध्यम बनाने का विशेष प्रयोजन है । मकड़ी का दृष्टान्त-पृथिवी का दृष्टान्त-पुरुष का दृष्टान्त, तीनों ही यद्यपि उपादान कारणता से ही सम्बन्ध रखते हैं । तथापि तीनों के तात्त्विक स्वरूप में थोड़ा थोड़ा अन्तर है । मकड़ी के केन्द्र से जाल निकलता है, निकल कर निराधार आकाश प्रदेश में व्याप्त होजाता है । अन्त में उसी रूप से वह जाल केन्द्र में विलीन होजाता है । पृथिवी के सभी प्रदेशों से ओषधियाँ उत्पन्न होसकती है, होती हैं । साथ ही पार्थिवप्रदेश ही उनकी प्रतिष्ठा बनता है । जालवत् उसी रूप से इनका विलयन पृथिवी में नहीं होता । अपितु, इनका ध्वंस-रूप ही पृथिवी में लीन होता है । पुरुष-शरीर के सभी प्रदेशों से केश-लोम उत्पन्न तो होते हैं, परन्तु पुरुष के शरीर में ही इनका विलयन नहीं होता । अपितु पार्थिवभाग में इनका विलयन होता है । इसप्रकार तीनों दृष्टान्तों की कार्य्य-कारणता में विभेद हैं ।

---

* यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयंतपः ।
तस्मादेतद् ब्रह्म, नामरूप मन्नं च जायते ॥
प्रतिष्ठा-ज्योतिः-यज्ञः—मुण्डकोपनिषत्

८–ऊर्णनाभि–तन्तु–पृथिवी–औषधि–पुरुष–केशलोम–पिता–पुत्र–मृद्–घट अङ्गार–विस्फुलिङ्ग–निर्दिष्ट औपादानिक कार्य–कारण का विश्लेषण—

दूसरी दृष्टि से विभिन्नता की मीमांसा कीजिए। मकड़ी से उत्पन्न जाल का मकड़ी में विलयन होता भी है, नहीं भी होता। मकड़ी के केन्द्राधार पर जाल आलम्बित रहता है, मकड़ी से जाल पृथक् (व्योमप्रदेश में) रहता है। पृथिवी से उत्पन्न ओषधि–वनस्पतियाँ आलम्बित भी पृथिवी पर ही रहती है, रहती भी व्योमप्रदेश में ही हैं। परन्तु, इनका विलयन प्रत्येक दशा में होता पृथिवी में ही है। आलयन, इनका विलयन पृथिवी में कभी न भी हो, यह बात नहीं है। केश–लोम शरीर में आलम्बित भी हैं, नहीं भी हैं। काटकर उन्हें शरीर से पृथक् भी किया जासकता है। इनका कभी शरीर में विलयन भी नहीं होता। पृथक् चरत्वं समान है। पितापुत्र का सम्बन्ध पृथक् ही है, मृद्घट का सम्बन्ध विभिन्न ही है, एवं अङ्गार–विस्फुलिङ्ग का सम्बन्ध अन्य ही है। अष्टादशविध कार्य्य–कारणसम्बन्धों में से एक औपादानिक कार्य्यकारण सम्बन्ध है। इस एक के–'ऊर्णनाभि–तन्तु, पृथिवी–ओषधि, पुरुष–केशलोम, पितापुत्र, मृद्–घट, अङ्गार–विस्फुलिङ्ग, ये ६ अवान्तर विभेद हैं। ६ ओं में उपादान कारणत्त्व धर्म्म यद्यपि समान हैं, तथापि ६ ओं में थोड़ी बहुत विशेषता है। पितापुत्रीय दृष्टान्त अंशतः पुरुष–केशलोमीय दृष्टान्त से, मृद्घटानुगत दृष्टान्त अंशतः पृथिवी–ओषध्यनुगत दृष्टान्त से, एवं अङ्गार विस्फुलिङ्गानुगत दृष्टान्त अंशतः ऊर्णनाभि–तन्त्वानुगत दृष्टान्त से समतुलित हैं। अतएव तीन श्रौतदृष्टान्तों से शेष तीनों का भी संग्रह होजाता है। समस्त विश्व में उपादान कार्य्यकारणता के षड्विध दृष्टान्त ही उपलब्ध होते हैं। ६ ओं का तीन के ग्रहण से ग्रहण होरहा है। अतएव ब्रह्म के औपादानिक–कार्य्यकारण का विश्लेषण करते हुए श्रुतिने तीन ही दृष्टान्त उपस्थित करना पर्य्याप्त मान लिया है *।

९–उल्लिखित दृष्टान्तत्रयी–समन्वयार्थ–निरूपित स्थावर–जङ्गम–भूत विवर्तद्वयी एवम् जड़–स्वल्पचेतन–मानववर्ग–रूपेण त्रिविवर्त निरूपण—

विभिन्न दृष्टिकोण से दृष्टान्तत्रयी का समन्वय कीजिए। लौकिक मनुष्य की प्रत्यक्ष दृष्टि के सामने स्थावर–जङ्गम, ये दो भूतविवर्त्त हैं। स्थावरविवर्त्त से विभिन्न जङ्गम विवर्त्त के ससंज्ञ स्वल्पज्ञानानुगत प्राणी, ससंज्ञ–पूर्णज्ञानानुगत प्राणी, ये दो थूल विवर्त्त हैं। इसप्रकार–जड़, स्वल्पचेतनवर्ग, मानववर्ग, ये तीन भूतविवर्त्त होजाते हैं। तीनों भौतिक विवर्त्तों के तीनदृष्टान्त श्रुति ने उद्धृत करते हुए यह सङ्केत किया है कि, तुम्हारे सामने तुम्हारे अनुरूप तीनों ही विवर्त्तों के ऐसे दृष्टान्त विद्यमान हैं, जिनके आधार पर तुम कार्य्य–कारण रहस्य का बोध प्राप्त कर सकते हो। पृथिव्योषधि–दृष्टान्त स्थावरविवर्त्त से सम्बन्ध रखता है, ऊर्णनाभि–तन्तु–दृष्टान्त का स्वल्पप्राणिवर्ग से सम्बन्ध है, एवं पुरुष–केशलोमात्मक दृष्टान्त का मानववर्ग से सम्बन्ध है। इस दृष्टिकोण से भी तीन दृष्टान्तों का उद्धरण विशेष महत्त्व रखता है।

---

* सृष्टिविद्या से सम्बन्ध रखने वाले इन १८ कार्य्यकारण–भावों का वैज्ञानिक विवेचन–'ईश–विज्ञानभाष्य' द्वितीय खण्ड के–'सम्बन्ध निरुक्ति' नामक प्रकरण में देखना चाहिए।

१०-अधिकारि-बोध-सौकर्य-दृष्ट्या दृष्टान्तत्रयी के प्रतिलक्षण तत्तद् रूपेषु प्रतीयमान रूपान्तरों का सृष्टिजनकत्व स्वरूप-सङ्गमन—

अधिकारी-बोध सौकर्य्य की दृष्टि से सम्बन्ध रखनेवाले शिक्षण-कौशल की अपेक्षा से दृष्टान्तत्रयी का समन्वय कीजिए। मकड़ी का सर्वत्र सुविधा से मिल सकना भी सम्भव नहीं, साथ ही मकड़ी से जालोद्गम होता देखा जाना भी सुगम नहीं। अतएव यह दृष्टान्त थोड़ा जटिल बना रहजाता है। श्रुति कहती हैं, यदि ऊर्णनाभि-दृष्टान्त तुम्हारा सन्तोष नहीं कर सकता, तो थोड़ा श्रम करो, घर से बाहिर निकल कर खेतों पर चले जाओ, किसी उद्यान में जाने का कष्ट करो। देखोगे कि, पार्थिवमृद्भाग ही अपने वैश्वानराग्निरूप से ओषधिवनस्पतियों का निर्म्माण करता है, वही अग्निलक्षण (चित्याग्निलक्षण) मृद्भाग जलसम्बन्ध से ओषधिवनस्पतिरूप में परिणत होता है। पृथिवी ही निमित्त है, यही उपादान है, यही अंशत कार्य्य भी है। बाहिर जाने का कष्ट भी न उठाना न चाहो, तो अपने शरीर पर ही दृष्टि डाललो। समाधान हो जाएगा। केश-लोमों के निमित्त भी तुम्हीं हो, उपादान भी तुम्हीं हो, तुम्हारा ही शरीराग्नि केश-लोमरूप में परिणत भी हुआ है। तीनों में से किसी भी एक आधिभौतिक दृष्टान्त के आधार पर तुम यह मान लोगे कि, अवश्य ही-'ईश्वर ही जगत् बनाता है, वही अंशरूप से जगत् बनता भी है। वही कारण है, वही कार्य्य भी है। इसप्रकार भौतिक माध्यम से इसे आधिदैविक का परिज्ञान अवश्यमेव होजाएगा।

११-"घटो ऽस्ति, घटो नास्ति" इत्यात्मक भावाभावद्वयाश्रित-अस्ति-नास्ति-गर्भित-ब्रह्म-कर्म्म-निरूपक भावानुबन्धी शङ्का-समाधान—

आप किसी सामान्य अधिकारी को यह बोध करा देना चाहते हैं कि,—'भाव, अभाव, दोनों साथ रहते हैं। भाव 'सत्ता' है, 'अस्तित्व' है। अभाव 'नास्तित्व' है। 'है', और-'नहीं', दोनोंतत्त्व सहकारी हैं"। जिज्ञासु कहता है-'असम्भव। 'अस्ति'-'नास्ति' दोनों परस्परात्यन्त विरुद्ध हैं। इनका सहचरभाव सम्भव ही कैसे है। अस्ति (ब्रह्म), और 'नास्ति' (कर्म्म) का सम्बन्ध बतलाना कुथमपि सङ्गत नहीं। 'घड़ा है'-'घड़ा नहीं है' दोनों विरुद्धभावों का एकत्र समन्वय जैसे असम्भव है, एवमेव अस्तिलक्षण भावात्मक ब्रह्म, तथा नास्तिलक्षण अभावात्मक कर्म्म, दोनों का परस्परात्यन्तविरुद्ध होने के कारण दोनों का सहावस्थान एकान्ततः असम्भव है।" बतलाइए-जिज्ञासु की इस भावना का केवल आधिदैविक दृष्ट्या कैसे निराकरण करेंगे ? अवश्य ही इसभावना के निराकरण के लिए आपको किसी वैसे भौतिक उदाहरण का अनुगमन करना पड़ेगा, जिसका वह बहिरिन्द्रिय जिज्ञासु साक्षात् कर सकता हो। अहोरात्रमय भौतिक जगत् की ओर उसका ध्यान आकर्षित करते हुए आप उससे प्रश्न कीजिए कि—'जिस दिन, और रात का तुम साक्षात्कार कर रहे हो, जानते हो उनका स्वरूप ? अवश्य ही तुम्हें स्वीकार करना पड़ेगा कि, दिन एक वस्तुतत्त्व है, ज्योतिर्लक्षण 'अस्ति' तत्त्व है। और रात अरे ! रात तो प्रकाश का न होना है, अस्ति का अभाव है, 'नास्ति' है। देखो न, तभी तो प्रकाश के लिए जहाँ सत्तासिद्ध सूर्य्य, चन्द्र, विद्युत्, तारक, अग्नि, दीपक, आदि सत्तासिद्ध पदार्थों की आवश्यकता होती है, वहाँ रात्रिरूप अन्धकार के लिए किसी भी सत्तासिद्ध पदार्थ की आवश्यकता नहीं होती। अपितु, सत्तासिद्ध ज्योतिर्म्मय सूर्य्यादि पदार्थों का अभाव ही रात्रिरूप तमका अभिव्यञ्जक बनता है। क्या यह विश्वास करने योग्य है

कि, अभाव भी किसी का कारण बनता है ? कभी नही। जो स्वयं नहीं है, वह अन्य का उत्पादक कैसे बन सकता है। फिर वह अन्य (रात्रि) भी तो अभाव ही है। अभाव अभाव का कारण बने, यह कैसे, और कब सम्भव है। हां तो, अपनी प्रत्यक्षदृष्टि के आधार पर तुमने यह मान लिया कि, अहः सत्तात्मक भाव है, रात्रि अभाव है।

१२-अस्तिलक्षण ब्रह्म एवम् नास्तिलक्षण कर्म्म का परस्परात्यन्तविरुद्धकोटिमत्व होते हुए भी एकत्र समन्वय इष्टापत्ति, प्रकाशान्धकार का निरूपित- स्थितिमत्त्व-

तुम यह कहा करते हो न, कि–'रात दिन काम करना पड़ता है, फिर भी काम पूरा नहीं होपाता। क्यों ? दिन के साथ रात का सञ्चर सम्बन्ध मान लिया न। अभावात्मिका रात्रि का भावात्मक दिन के साथ तुम स्वयं सम्बन्ध मान रहे हो। बस, अपने इस प्रत्यक्षानुभूत भौतिक दृष्टान्त के आधार पर ही तुम्हें यह विश्वास कर लेना पड़ेगा कि, अस्तिलक्षण ब्रह्म, तथा नास्तिलक्षण कर्म्म, दोनों उसी प्रकार एकत्र समन्वित हैं, जैसे परस्परात्यन्तविरुद्ध होते हुए भी तमः–प्रकाश का एकत्र समन्वय हो रहा है। तुम प्रश्न कर सकते हो कि, रात–दिन साथ रहते होंगे, रहा करें। इसी आधार पर हम यह भी मान लेते हैं कि, ब्रह्म–कर्म्म भी साथ रहते होंगे। परन्तु-'एकत्र' साथरहना कैसे सम्भव माना जासकता है ? अहोरात्रलक्षण दृष्टान्त में भी 'एकत्र' व्यवस्था का अभाव है। * प्रातः से सायं तक अहः है, सायं से प्रातः पर्य्यन्त रात्रि है। अहः भिन्न समय में प्रतिष्ठित है, रात्रि भिन्न समय में। अहः काल में ही रात्रिका, रात्रिकाल में ही अहः का यदि समन्वय सम्बन्ध होता, तो अवश्यही हम 'अस्तिलक्षण ब्रह्म के गर्भ में नास्तिलक्षण कर्म्म, एवं कर्म्म के गर्भ में ब्रह्म है' यह सिद्धान्त मान लेते। इष्टापत्तिः। आप को यही तो मानना है। और अपने अहोरात्रदृष्टान्त के आधार पर ही। अहः का अर्थ आपने भी प्रकाश (उजेला) मान रक्खा है, रात्रिका अर्थ भी आप अन्धकार ही मान रहे हैं। अहःकाल जिसे आपने केवल ज्योतिर्म्मय मान रक्खा है, भी में रात्रिकालानुगत अन्धकार विद्यमान है। एवमेव रात्रिकालोपलक्षित अन्धकार के पर्व पर्व में भी प्रकाश अनुस्यूत है। प्रकाश का तारतम्य, अन्धकार का तारतम्य, यह प्रमाणित कर रहा है कि, अवश्यमेव प्रकाश के कण कण में तम, तथा तम के कण कण में काश व्याप्त है। प्रकाश मण्डल में प्रतिष्ठित रहनेवाली तृणच्छाया यह सिद्ध कर रही है कि, प्रकाशागमन से अन्धकार न तो नष्ट ही हुआ है, न देशान्तर–लोकान्तर में पलायित ही हुआ है, अपितु उसीकार घन प्रकाश से इस का अभिभवमात्र होगया है, जैसेकि–अहःकाल में चान्द्रमसी ज्योति का सौरी ज्योति से अभिभवमात्र हो जाता है। सामान्य अन्धकार, घन अन्धकार, निविडान्धकार, का यह तारतम्य भी यही प्रमाणित कर रहा है कि, अन्धकार ने प्रकाश को हटाया–नष्ट नहीं किया है। यह अभिभवमात्र है। इस प्रकार अनेक दृष्टियों से दोनों का अन्तरान्तरी भाव सर्वात्मना सिद्ध होरहा है। एवं इसी भौतिक दृष्टान्त द्वारा विज्ञानानधिकारी सामान्य मनुष्य भी आधिदैविकतत्त्व के उस परोक्ष अन्तरान्तरीभाव के साथ मनोयोगलक्षणा उपासना का अनुगमन कर सकता है।

---

* अनुरागवती सन्ध्या दिवस स्तत् पुरस्सरः।
अहो ! दैवगति श्चित्रा तथापि न समागमः॥
—कश्चित्

१३–गुण दोष युग्म का पृथक्त्व, समन्वय-प्रयुक्ताधिभौतिकसर्ग–स्वरूप–निष्पत्ति, पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशभूतपञ्चक का विभिन्न-परस्पर-विरुद्ध-धर्म्मत्व एवम् पाञ्च-भौतिक शरीरों में इन की अविरोधवर्तना स्थिति, आहार्य्यारोप-प्रतिरूप-प्रतीकमूलक प्रत्ययालम्बन द्वारा परोक्ष-प्रत्यय-प्रवाहोत्पादन ही आधिभौतिक मध्यालम्बन का प्रयोजन एवं गो-गवय-उदाहरण का विप्रकृष्टतम के प्रति प्रत्ययाधानत्व,—

भलाईगुण है, बुराई दोष है। कहने को दोनों पृथक् पृथक् रहते हैं। परन्तु, तत्त्वतः दोनों के समन्वय से ही आधिभौतिकसर्ग की स्वरूपनिष्पत्ति हुई है। 'गुणदोषमयं सर्वं स्रष्टा सृजति कौतुकी' सिद्धान्त सर्वानुभूत है। अग्नि जल में परस्परात्यन्त शत्रुता मानी गई है। परन्तु, पाकस्वरूप निष्पत्ति उभयसमन्वय पर ही निर्भर है। पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, पाँचों भूत परस्पर विभिन्नधर्म्मा हैं। परन्तु, पाँचों विभिधर्म्मा एक ही पाञ्चभौतिक शरीर में अभिन्नवत् प्रतिष्ठित हो रहे हैं। इसप्रकार अनेक दृष्टान्त ऐसे उपलब्ध होरहे हैं, जिनका लौकिक मनुष्यों को भी सम्यक् परिज्ञान है। इन्हीं भौतिकदृष्टान्तों के द्वारा उन का ध्यान आधिदैविकतत्त्व की ओर आकर्षित किया जासकता है। निष्कर्ष यही हुआ कि, यद्यपि अपने आधिदैविकधर्म्म के कारण उपास्य ईश्वर विज्ञानात्मिका आधिदैविकी मानसी दृष्टि से ही परिज्ञेय है, तथापि जो वैज्ञानिक–स्नायुतन्तुओं के विकासाभाव से, बिना किसी भूताधार के उसका परिज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ हैं, उन मन्दाधिकारियों के उपकार के लिए ही वैज्ञानिकों ने परिज्ञेयतत्त्व धर्म्मों से मिलते जुलते संनिहित उस आधिभौतिक अर्थको मध्यालम्बन बनाना अनिवार्य्य मान लिया है, जिस अनुरूप आधिभौतिक अर्थ का उसे सम्यक् परिज्ञान है। ऐसे अनुरूप मध्यालम्बन पर चाक्षुषी दृष्टिका संयमबनाकर आहार्य्यारोपमूलक, प्रतिरूपमूलक, प्रतीकमूलक प्रत्ययालम्बनद्वारा परोक्षप्रत्यय प्रवाहउत्पन्न करा देना ही आधिभौतिक माध्यम का एकमात्र प्रयोजन माना है। ऐन्द्रियक ज्ञान 'प्रत्यय' कहलाया है। 'इदमित्थमेव' इत्याकारक निश्चित ज्ञान ही प्रत्यय है। जाङ्गल पशुविशेष 'गवय' नाम से प्रसिद्ध है। विदूरस्थ–परोक्ष–गवय का ज्ञान कराना अपेक्षित है। गवयबोधशून्य व्यक्ति को कहा जाता है–'देखो! गोपशु तुम्हारा जाना पहिचाना है। ठीक इस से मिलता जुलता ही 'गवय पशु' है। अवश्य ही–'गोसदृशो गवयः' इस ज्ञान के आधार पर 'गवय' से मिलते जुलते गोपशु को स्वप्रत्यय का आलम्बन बनाकर तद्द्वारा (तत्संस्कारद्वारा) परोक्ष गवय पदार्थ की ओर प्रत्यय प्रवाह प्रक्रान्त होजाता है। इसप्रकार जैसे लौकिक अर्थों में अन्य के द्वारा अन्य के प्रति प्रत्यय का प्रवाह प्रक्रान्त हो जाता है, एवमेव पारलौकिक विप्रकृष्टतम पदार्थ के प्रति प्रत्यय प्रवाहित करने के लिए उससे मिलते जुलते आधिभौतिक पदार्थ को ऐन्द्रियक ज्ञान का आलम्बन बनाकर तद्द्वारा उस परोक्षतत्त्व के प्रति प्रत्यय प्रवाहित किया जासकता है।

१४–उपासना शब्द-निरुक्ति का पुनरावर्तन, एवम् सन्दर्भ-सङ्गमन—

'उपासना' शब्द के निर्वचनार्थ से भी आधिभौतिक की संग्रहणीयता का ही समर्थन होरहा है। 'उप' का अर्थ है–'समीप', 'आसना' का अर्थ है–'बैठना'। उप का अर्थ उपास्य नहीं है, अपितु उपास्य के समीपस्थ तत्सदृशधर्म्मा भौतिकपदार्थ की ओर 'उप' शब्द सङ्केत कर रहा है। 'ईश्वर के समीप बैठना'

यह अर्थ उपासना-शब्द का नहीं है। अपितु, ईश्वर के, किंवा आधिदैविक अन्य-जिस किसी भी उपास्य के 'उप' रहने वाले के (जोकि उप-उपास्यधर्म्मों के अनुरूपधर्म्मा होगा) समीप बैठना ही उपासना है। साक्षात् उपास्य 'उप' नहीं, उपास्य है। शब्द 'उपास्यासना' नही है, अपितु 'उपासना' है। जिस का स्पष्टरूप से निर्वचनार्थ यही होता है कि, 'उपास्य' के उप की आसना ही उपासना है। लौकिक दृष्टान्त भी उपासना के इसी उपभाव का समर्थन कर रहे हैं। लक्ष्य है प्रयाग, मनोयोग है प्रयाग पर, दृष्टि है ट्रेनपर। लक्ष्य है विद्या, साधन है-आधिभौतिक पुस्तक। जो महानुभाव विज्ञान के अधिकारी हैं, जो योगिप्रवर बिना किसी भौतिक आलम्बन के केवल योगदृष्ट्या तत्प्रति स्वज्ञान समानरूप से प्रवाहित रखने में समर्थ हैं, उन 'निर्गुणोपासकों' को तो ज्ञानयोगी ही कहा जाएगा। उपासक तो वही माना जाएगा, जो विशुद्ध आधिदैविक ज्ञान के माध्यम को अपनाने में असमर्थ होता हुआ तदनुरूप किसी आधिभौतिक को ही आलम्बन बनाएगा। ऐसी दशा मे हमें यह कहना पड़ता है कि-'आधिदैविकत्वात् विज्ञानद्वारा ही जानने योग्य होने पर भी सामान्य अधिकारी-वर्ग के उपकार के लिए सर्वथा विजातीय भी आधिभौतिक पदार्थ की मध्यस्थता अनिवार्य्य है। ज्ञानयोगदृष्ट्या भले ही यह कथन विपर्य्यस्त हो, परन्तु उपासनादृष्ट्या तो अविपर्य्यस्त (यथार्थ) ही माना जाएगा। इसी भौतिक दृष्टिकोण को लक्ष्य में रखते हुए पूर्व प्रकरण में उपासना-लक्षण चतुर्द्दशी का समन्वय हुआ है, जिसकी सन्दर्भसङ्गति के लिए प्रकृत प्रकरण में भी सिंहावलोकनदृष्ट्या पुनरावर्त्तन करा दिया गया है।

१५-उपास्याधिदैविकम्प्रति मानस-प्रत्ययाधानहेतुकाधिभौतिकालम्बनस्यापेक्ष्यम्—

उपास्यआधिदैविक के प्रति मानस प्रत्यय प्रवाहित करने के लिए कोई न कोई आधिभौतिक आलम्बन अवश्यमेव अपेक्षित है। वही आधिभौतिक पदार्थ, जो कि आधिदैविक से अंशतः मिलता जुलता है, आरम्भ में उपासक के मानसप्रत्यय का आलम्बन बनता है। मानस प्रत्ययालम्बनरूप आधिभौतिक पर दृष्टिसंयम का अभ्यास करते करते कालान्तर में अवश्य ही उपासक आधिदैविक लक्ष्य पर पहुँच जाता है, यह पूर्व परिच्छेद में स्पष्ट किया जाचुका है। और वहीं यह भी कहा जाचुका है कि, चाक्षुषीदृष्टि से संयमरखने वाली यह प्रत्ययालम्बनता आहार्य्यारोपमूला, प्रतिकृतिमूला, प्रतीकमूला, भेद से तीन प्रकार से सम्भव है। प्रस्तुत परिच्छेद में क्रमप्राप्त आहार्य्यारोपमूला प्रत्ययालम्बनता के ही कुछ एक उदाहरण उद्धृत किए जाते हैं।

१६-अन्यस्मिन्नन्य भावनात्मक आरोप के प्रातिभासिक-व्यावहारिक दो भेद, आद्वैतिकों द्वारा प्रातिभासिक का प्रत्याख्यान किन्तु, वैज्ञानिकों द्वारा इत्यत्रापि सत्यभाशाक्रान्ति परिकल्पन, एवम् वेदान्तनिष्ठा में "अध्यास नाम्ना एतत्" प्रसिद्धि—

अन्य को अन्य मानलेना, कुछ को कुछ समझना ही 'आरोप' कहलाया है। पूर्वप्रकरणान्तर्गत 'द्वितीयलक्षणसमन्वय' नामक छठे परिच्छेद में 'भावना' रूप से जिस प्रत्ययालम्बनता का स्पष्टीकरण हुआ है, उसी का यहाँ 'आरोप' रूप से स्पष्टी करण किया जारहा है। 'अन्यस्मिन्नन्यभावना' त्मक इस आरोप के **'प्रातिभासिक आरोप'-'व्यवहारिक आरोप'** भेद से दो विभाग माने जासकते हैं। प्रातिभासिक आरोप सर्वथा-

परमार्थ-दृष्ट्या तथा व्यवहार दृष्ट्या, उभयथा निष्प्रयोजन बनता हुआ उपेक्षणीय है, जिसे समझने के लिए 'मिथ्या आरोप' भी कहाजासकता है। कल्पित अद्वैतनिष्ठानुगामी इसे 'मिथ्या आरोप' ही कहा करते हैं। साथ ही 'रज्जु-सर्प'-'मृगमरीचिका' 'शुक्ति-रजत' आदि इस के उदाहरण बतलाया करते हैं। क्योंकि इन आरोपों से प्रयोजन-सिद्धि नहीं होती, एतावता ही इन्हें कहने भर के लिए मिथ्या माना जासकता है। परन्तु, वैज्ञानिक तत्त्वदृष्ट्या यह आरोप भी सत्यभाव से आक्रान्त ही मानने पड़ेंगे। उदाहरण के लिए मृगमरीचिका ही लक्ष्य बनाइए। प्रचण्ड आतप में वालुकामय भूक्षेत्र में मृग को जल प्रतीति होने लगती है। इसी प्रतीति को आधार बनाकर मृग वहाँ दौड़ता है। परन्तु, निराश होजाता है। क्या मृग की यह प्रतीति सर्वथा असत्य है? कल्पिताद्वैतवादी कहेगा हाँ, किन्तु वैज्ञानिक कहेगा-नहीं। यह ठीक है कि, मृग का मरीचिका को पेय पानी समझलेना भ्रान्ति है। परन्तु, उस की सामान्यतः जलप्रतीति एकान्ततः भ्रान्त नहीं मानी जासकती। वालुकाप्रदेश में संलग्न सूर्य्यरश्मियों के कारण ही तो जलप्रतीति होती है। सूर्य्यरश्मियों के संघर्ष से उत्पन्न वाष्पावस्थापन्न जो अग्निधर्म्मा तत्त्वात्मक जल है, वही विज्ञानभाषा में 'मरीचि' कहलाया है, जिससे कि मारीच कश्यपभगवान् की स्वरूप निष्पत्ति हुई है। इसी सत्यभावनात्मक पानी के आधार पर मृग के सत्यपूत आत्मा ने पेय पानी का अनुमान लगाया है। पानी समझना आत्मधर्म्म है, यह तत्त्वतः सत्य है। पेय पानी समझना इन्द्रियधर्म्म है, यह भ्रान्त है। इस प्रकार प्रातिभासिक आरोप में भी अंशतः सत्यभावना अवश्यमेव विद्यमान रहती है। क्योंकि, व्यवहारतः वह अनुपयुक्त है, अतएव इसे उपेक्षणीयमात्र मान लिया गया है। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि, प्रातिभासिक आरोप को, विशुद्ध मिथ्या आरोप कहना समझने भर के लिए है। अस्तु, वक्तव्य यही है कि-अनुपयुक्त इन्द्रियभ्रान्तिमूलक आरोप ही प्रातिभासिक आरोप कहलाया है, यही वेदान्तनिष्ठा में-'अध्यास' नाम से प्रसिद्ध हुआ है।

१७-अध्यासात्मक मिथ्या आरोप से पृथक्कल्पित "व्यावहारिक" आरोप का "आहार्य्यारोप" संज्ञात्व, एवम् लक्ष्य सिद्ध्यनन्तर (गन्तव्यस्थानाधिगमानन्तर शकट वाहनादिवत्) तद्वैयर्थ्य—

मरीचिका में पेयतोयप्रतीति, रज्जु में सर्प प्रत्यय, स्थाणु में पुरुष भ्रान्ति, ये सब उक्त लक्षण अध्यासात्मक आरोप के ही उदाहरण हैं। इन अध्यासात्मक आरोपों से किसी भी लक्ष्य की सिद्धि नहीं होती, अपितु, यदा कदा अनिष्ट ही होजाता है। सर्पभ्रान्ति से उत्पन्न भय की चरम सीमा कभी कभी तो निधनावस्थातक का कारण बनती देखी गई है। अतएव अध्यासात्मक आरोप सर्वथा अनुपयुक्त, भ्रान्त, ही माना गया है। दूसरा है-व्यावहारिक आरोप। परमार्थ दृष्टि से यद्यपि यह आरोप भी अव्यवहार्य्य बनता हुआ अनुपयुक्त ही माना गया है, तथापि इस से लौकिक पारमार्थिक लक्ष्यों की ओर ध्यान आकर्षित होजाता है, अतएव इसे उपादेय मान लिया गया है। अध्यासात्मक मिथ्या आरोप से पृथक् समझाने के लिए इस व्यावहारिक आरोप का 'आहार्य्यारोप' नामकरण कर दिया गया है। दूर करने योग्य, छाँटने योग्य भाव के लिए 'आहार्य्य' शब्द प्रयुक्त हुआ है। आरोप यद्यपि व्यावहारिक दृष्ट्या सत्य है। तथापि परमार्थ दृष्ट्या यह कल्पित ही है। परमार्थतः यह आरोप भी आहार्य्य ही बन रहा है। जिस परमार्थिक सत्य लक्ष्य की सिद्धि के लिए यह आरोप किया जाता है, लक्ष्य-सिद्ध्यनन्तर उसे छोड़ ही देना पड़ता है। समान प्रत्यय

प्रवाहानन्तर प्रत्ययालम्बन भूताआहार्य्यारूपमूला प्रतिमा स्वतः एव लक्ष्य से छूट जाती है। अतएव इसे आहार्य्यारोप कहना अन्वर्थ बन जाता है। गन्तव्यस्थान पर पहुँचे बाद शकटादि वाहन स्वत एव छूट जाते हैं।

१८–आहार्य्यारोपविधा का सनातन ग्राह्यत्व, व्यवहार-मर्य्यादा-रक्षणार्थ तदावश्यकत्व, एवम् कतिपय तत्सम्बन्धी उदाहरण—

जिस भौतिक पदार्थ में लक्ष्यसिद्धि के लिए यह आहार्य्यारोप किया जाता है, उसके उन सामान्य-धर्म्मों का, जो आरोपित पदार्थ में, तथा लक्ष्यीभूत पदार्थ में समान हैं, तो ग्रहण कर लिया जाता है, शेष भेदक धर्म्मों का परित्याग कर दिया जाता है। उपासना काण्ड में गृहीत यह आहार्य्यारोप–विधा कोई अपूर्व विधा है, यह बात नहीं है। अपितु, समस्त लौकिक व्यवहारों के सञ्चालन के लिए वृद्धव्यवहार परम्परा में यह विधा सदा से गृहीत है। आहार्य्यारोप के सम्बन्ध में यह भी कह दिया, जाय, तो कोई अत्युक्ति न होगी कि, जिस दिन इस विधा का परित्याग कर दिया जायगा, उस दिन हमारी व्यवहारमर्य्यादा का यथावत् सञ्चालित रहना ही असम्भव बन जाएगा। उदाहरण के लिए कतिपय दृष्टान्त ही पर्य्याप्त होंगे। दो वणिक् साझे में वस्त्र–व्यवसाय आरम्भ करते हैं। व्यवहारकुशल सहयोगी की व्यापार कुशलता से व्यवसाय चमक उठता है। एक तटस्थ व्यक्ति इसे अपना सहयोगी बनाने की कामना प्रकट करता है, तो दूसरा व्यक्ति कह देता है–'इस का साथ हम नहीं छोड़ सकते। ये तो हमारे दाहिने हाथ हैं'। सभी जानते हैं कि, सहयोगी दाहिना हाथ नहीं है। फिर भी मान लिया जाता है। यही आहार्य्यारोपविधा का प्रत्यक्ष लौकिक उदाहरण है। दो सहोदर भ्राताओं में परस्पर 'भुजा' व्यवहार होता देखा गया है। इस आहार्य्यारोप से होने वाला कर्म्म ही लक्ष्य है जिस प्रकार दाहिने हाथ के बिना कर्म्मकौशल असम्भव है, एवमेव-सहयोगी के सहयोग बिना कर्म्मसाफल्य असम्भव है। इस कर्म्माभेद सूचन के लिए ही सहयोगी में दक्षिण भुजारोप कर लिया जाता है। दृष्टि आरोपित भुजा पर है, मनोयोग भुजा द्वारा लक्ष्यीभूत कर्म्म पर है।

१९–प्रक्रान्त आहार्य्यारोपविधा का सर्वावस्थाऽभिन्न आत्मतत्व-निरूपक उदाहरणान्तर—

दूसरा उदाहरण सामने रखिए। समवयस्क तीन बच्चों में परस्पर गाढमैत्री होजाती है। आगे जाकर तीनों वयस्क बन जाते हैं। एक विदेश चला जाता है। दो स्वदेश में ही रह जाते हैं। कालान्तर में वह विदेश से लौट आता है। स्वदेशस्थ दोनों मित्रों में से एक मित्र उसे भूल जाता है। तब दूसरा कहता है–भूल गए, अरे! यह वही तो है, जो अपने साथ बचपन में खेला करते थे। हम कहते हैं–विदेश से लौटने वाला मित्र 'वही' कैसे है? वह तो बालक था, यह युवा है। उत्तर वही–आहार्य्यारोप। युवावस्था में बालावस्था का आरोप है। परन्तु ध्यान रहे, यह आरोप–है प्रत्येक दशा में आहार्य्य ही। 'वही है' परिज्ञान में भेद डालने वाली है–बाल–युवावस्थाएं। आरोप से इन दोनों भिन्न अवस्थाधर्म्मों का परित्याग कराया जाता है, सदा एकरस रहने वाले आत्मधर्म्म की ओर ध्यान आकर्षित कराया जाता है। अवस्थाएँ परस्पर भिन्न हैं, अवस्थाधार भूत आत्मतत्त्व दोनों अवस्थाओं में क्या, सभी अवस्थाओं में अभिन्न है।

२०–पत्राङ्कित क-च-ट-त-पादि वर्णों का मुखोच्चरित क-च-ट-त-पादि से असम्बन्ध, इन्द्रियातीत ध्वन्यात्मक शब्दों का व्योमान्तर्लय एवं लेखनी-प्रसूत वर्णों का विद्यमानत्व, तत्प्रमाणभूत विविधाकृतिमद् ब्राह्मी-खरोष्टी प्रभृति लिपियाँ, ततोऽपि एतन्मूलक असत्यालम्बनेनैव सत्यबोध-संस्तुति—

जिस लिपि से सम्पूर्ण विश्व के व्यवहार सञ्चालित होते हैं, उस का मूल भी यही आहार्य्यारोप ही बन रहा है। स्लेट–कागज़–आदि पर लिखे जाने वाले क–च–ट–त–पादि आकारों के साथ वागिन्द्रिय से (मुख से) बोले जाने वाले क–च–ट–त–पादि वर्णाक्षर पदवाक्यादि का कोई सम्बन्ध नहीं है। वागिन्द्रिय से विनिःसृत ध्वन्यात्मिका शब्दराशि तत्क्षण स्वप्रभव व्योम प्रदेश में अन्तर्लीन होजाती है, उच्चारणानन्तर यह सर्वथा इन्द्रियातीत बन जाती है। परन्तु, देखते हैं–लेखिनी से लिखी गई शब्दराशि विद्यमान रहती है। दोनों के स्वरूप में कुछ भी तो समानता नहीं है, दोनों का कोई भी तो सम्बन्ध प्रतीत नही होरहा। क्या आप यह समझना, एवं कहना चाहते हैं कि–कागज़ पर लिखे गए शब्दाकार वागिन्द्रिय से विनिसृत शब्दों की प्रतिकृतियां (चित्र) हैं ? कभी नहीं। यदि लिपि-रूप शब्द उच्चारण शब्दों की प्रतिकृतियां होतीं, तो सम्पूर्ण विश्व में केवल एक ही 'लिपि' की सत्ता उपलब्ध होती। क्योंकि, वस्तु की प्रतिकृति सर्वत्र सब के लिए समानाकार ही होती देखी जाती है। उधर लिपियां प्रत्येक देश में भिन्न हैं, जबकि वागिन्द्रिय से उच्चरित शब्दों की ध्वनियां समतुलित हैं। ए–बी–सी–डी–आदि अक्षरों के उच्चारण में जहां समानता है, वहाँ लिपियों में प्रत्यक्षतः असमानता पाई जारही है। उच्चारण हम और वे समान करेंगे, परन्तु लिखते–समय हम लिखेंगे–'ए–बी–सी–डी–वे लिखेंगे-A. B. C. D.। कितना अन्तर है। ब्राह्मी–पाली–कर्णाटकी–तेलगू–गुजराती–उर्दू–आदि यच्चयावत् लिपियों का आकार प्रकार परस्पर में अत्यन्त विभिन्न उपलब्ध होरहा है। ऐसी स्थिति में कभी शब्दलिपियों को शब्दध्वनियों की प्रतिकृति नहीं माना जासकता इसके अतिरिक्त यदि शब्द की ध्वन्यात्मक प्रतिकृति ही होती, तो अनेक लिपियों का प्रादुर्भाव ही न होता। फिर तो एक ही लिपि से सब को समानरूप से बोध होजाता परन्तु देखते हैं–कण्ठ–ताल्वाद्यभिघातलक्षणा शब्दध्वनि के समान रहते भी को किसी की लिपि का तात्पर्य्य–बिना उस की शिक्षा के अवगत नहीं कर सकता। मानना पड़ेगा कि, लिपि को शब्द कहना केवल आहार्य्यारोप ही है। इस प्रकार 'लिपि' को अक्षर मानना यद्यपि परमार्थदृष्ट्या असत् है, तथापि बिना इस मान्यता के अक्षरबोध भी असम्भव है। लिप्याधारेणैव अस्मदादि का लक्ष्य लक्ष्यीभूत शब्दप्रपञ्च की ओर आकर्षित होता है। (केवल शब्दप्रपञ्चापेक्षया) मिथ्याभावात्मिका लिपि का माध्यम ही सत्यभावात्मक शब्द बोध का कारण है। असत्यालम्बन ही सत्यबोध का प्रवर्त्तक बन रहा है।

२१–भूगोल शिक्षण-प्रयुक्त गोलाकार (ग्लोब) असत् प्रतीक द्वारा नद-पर्वत-गह्वरादि सत् स्वरूपों का परिचय, इत्यत्र लक्ष्यसिद्धि प्रयोजन सापेक्ष "आहार्य्या" रोपण, एवम् इसी प्रकार पार्थिव प्रतिमादि का उपास्य-परक आहार्य्य-मूलक निदानत्व—

भुवनकोश के शिक्षक मिट्टी, अथवा तो स्थूल पट्ट के बने हुए एक गोलाकार को हाथ में लेकर पुरोऽवस्थित विद्यार्थियों को भूगोल से सम्बन्ध रखनेवाले तत्तत्–देश–पर्वत–नद–नदियों की शिक्षा दे रहे

हैं। गोलाकार वृत्त की ओर विद्यार्थियों का ध्यान आकर्षित करते हुए कहते हैं—देखिए ! यह पृथिवी है, यह उत्तर ध्रुव है, यह दक्षिण ध्रुव बिन्दु है । दोनों से बद्ध भूपिण्ड यों घूम रहा है, कहते हुए शिक्षक उस वृत्त को घुमा देते हैं। सभी विद्यार्थी जानते हैं कि, यह वृत्त न तो पृथिवी ही है, न धातु के बने कीलक उत्तर-दक्षिण-ध्रुव ही हैं। फिर भी उन्हें इस के माध्यम से उन प्राकृतिक तत्त्वों की ओर अपना ध्यान आकर्षित करना पड़ता है। देशान्तर, अक्षांश, मध्यरेखा, इक्वेटर, केन्सर, आदि सभी तो इस वृत्त में उपकल्पित हैं। तत्तत् चिन्हों की ओर अङ्गुलीनिर्देश करते हुए सभी तो-'यह वह है, यह वह है' इत्यादि रूप से व्यवहार कर रहे हैं। दृष्टि इस आधिभौतिक गोले पर है, मनोयोग उस प्राकृतिक स्थिति पर है, जिस का लक्ष्यसिद्धि के लिए इस गोले पर आहार्य्यारोप हुआ है। दोनों के भेदक धर्म्मों की निवृत्ति अपेक्षित है, अभेदक गोलाकार, परिभ्रमणादि धर्म्मों का ग्रहण है। इसी आहार्य्यारोपविधा के आधार पर यदि भारतीय महर्षियोंने पाषाणादि प्रतिमाओं में उपास्य-ईश्वर का आरोप कर दिया, तो कौन-सा अनर्थ कर डाला। ऋषिप्रदिष्ट जिस आहार्य्यारोप का आज सम्पूर्ण विश्व अपने व्यावहारिक क्षेत्र में उपयोग कर रहा है, वही आज का शिक्षित समाज जब आहार्य्यारोपमूला प्रतिमोपासना पर जब आक्षेप-प्रत्याक्षेप करता दिखलाई देता है, तो हमें कहना पड़ता है कि, वास्तव में दुराग्रहमूलक अभिनिवेश सर्वथा अचिकित्स्य ही रोग है * विद्युत्-विज्ञान सर्वथा अमूर्त्त है, आधिदैविक सौरमण्डलावच्छिन्न तत्त्व है । अवश्य ही इस अमूर्त्त तत्त्व के परिज्ञान के लिए बड़े से बड़े वैज्ञानिक को भी मूर्त्त-आधिभौतिक विद्युद्विद्याप्रतिपादक ग्रन्थ को ही मध्यालम्बन बनाना पड़ता है। पीठावस्थित राजा तक पहुँचने के लिए द्वारादि का समाश्रय अनिवार्य्य है। तत्त्वतः असत्याश्रय ही सत्यप्राप्ति का प्रथम सोपान है । मृत्यु ही अमृत प्राप्ति का द्वार है, नानात्व समाश्रय ही एकत्वप्राप्ति का निमित्त है। अज्ञान ही ज्ञान का उत्तेजक बनता है। आहार्य्यारोपमूलक इसी औपासनिक शिक्षण-कौशल का भगवान् भर्तृहरि द्वारा निम्न लिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है—

उपायः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः ।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते ॥ वाक्यपदी—

२२–नित्य शब्द-स्फोट के साथ विभिन्नाकार समन्विता लिपियों का असाङ्गत्य, एवम् आधुनिक अभिनिविष्टों के अनुरञ्जना सामर्थ्य का प्रतिपादन —

वर्णाक्षरपदवाक्यादि लक्षण-ध्वन्यात्मक अमूर्त्त शब्दप्रपञ्च की ओर प्रत्यय-प्रवाहित कर देने वाली विभिन्नाकाराकारिता-भूतात्मिका-मूर्त्त लिपियों के साथ शब्दतत्त्व का (जो व्याकरण शास्त्र में अवनी-अव्ययात्मिका स्फोट मर्य्यादा से नित्य माना गया है) कोई सम्बन्ध नहीं है। दोनों विभिन्न तत्त्व हैं। न यह लिपि शब्दप्रपञ्च की प्रतिकृति है, न प्रतीक (अवयव) ही । अतएव यह आहार्य्यारोपविधा दोनों

---

* अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः ।
ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्माऽपि नरं न रञ्जयति ॥
—भर्तृहरिः ।

विद्याओं से तीसरी अपूर्वविद्या ही मानी गई है । भर्तृहरि ने अपने सुप्रसिद्ध शतकग्रन्थ में एक स्थान पर कहा है-'न तु प्रतिनिविष्ट मूर्खजनचित्त माराधयेत्' * वास्तविक जिज्ञासु का, ज्ञानपिपासु का सन्तोष अनेक दृष्टियों से किया जासकता है । परन्तु, जिन्हों ने अपना यह सिद्धान्त बना लिया हो कि-'कुछ भी कहिए, हम तो नहीं मानते' ऐसे अभिनिविष्टों का अनुरञ्जन तो ब्रह्मा भी नहीं कर सकते * । भारतीय प्रतिमोपासना, जिस का एक आधार आहार्य्यारोप भी है-की उपादेयता यद्यपि आदर्शवत् स्पष्ट है । तथापि जिन का उपास्य एकमात्र दुराग्रह ही है, उन के लिए तो कोई भी समाधान सन्तोषजनक नहीं बन सकता । उन का तर्क, उन की शिक्षा उन का स्वाध्याय, उन का हवन तो उन्हें यही सिखा रहा है कि, 'अपना कोई सिद्धान्त नहीं, अन्यप्रदर्शित सिद्धान्तों को मानो नहीं'-यही उन का सिद्धान्त है । "हम न कुछ करते, न मानते, परन्तु तुम जो कुछ कहते-करते-तथा मानते हो, वह सब वेद विरुद्ध है" यही एक वह कल्पनास्त्र है, जिस के बल पर वे अपनी वेदभक्ति सुरक्षित रक्खे हुए हैं । अभ्युपगम वाद का आश्रय लेते हुए थोड़ी देर के लिए हम यह मान लेते हैं कि, उन के परमप्रिय वेदशास्त्र में प्रतिरूप, प्रतीक, आरोप, तीनों में से किसी एक भी विद्या का उल्लेख नहीं हुआ है । यह मान लेने पर से ही क्या तीनों विद्याओं की अनुपयोगिता मान ली जाएगी ।

२३-लौकिक-वृद्ध-व्यवहार-सुगृहीताहार्य्यारोपविधाप्रामाण्यसङ्गमनार्थ श्रुति सम्मत निदर्शनोपक्रमप्रतिश्रुति एवं मुग्धास्तिक प्रजानिमित्तेन- उदाहृत प्रामाण्यवाद की आवश्यकता—

क्या वे लौकिक वृद्धव्यवहार, जिन के माध्यम से हम लक्ष्य पर पहुँच सकते हैं, अनुपयुक्त मान लिए जाएँगे ? * परम्परा तो यह प्रमाणित कर रही है कि, व्याकरण-कोश-उपमान-आप्तवाक्य-इन चारों की भाँति वृद्धव्यवहार शक्तिग्राहकों में सर्वमूर्द्धन्य माना गया है-'शक्तिग्राहकशिरोमणेर्व्यवहारस्य' । अवश्य ही वे

---

(१) * प्रसह्य मणि मुद्धरेन् मकरवक्त्रदंष्ट्रान्तरात् ।
समुद्र मपि सन्तरेत् प्रचलदुर्म्मिमालाकुलम् ॥
भुजङ्ग मपि हेलया शिरसि पुष्पवद् धारयेत् ।
न तु प्रतिनिविष्ट मूर्खजन चित्त माराधयेत् ॥
—भर्तृहरिः ।

(२) * ज्ञानी समझत सहज में पर जिन नर अभिमान ।
मन रञ्जन तिन का कभी सम्भव नांहिं सुजान ॥ कश्चित्—

---

(३) * शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्त वाक्याद् व्यवहारतश्च ।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥
—लघु० मं०, नागेशः

लौकिक भी विधाएँ, जिन का शास्त्र में खण्डन नहीं हुआ है, अपितु, परम्परया जिन का शास्त्र में भी यत्र-तत्र सङ्केत मिलता है, आधिदैविक लक्ष्य सिद्धि के लिए संगृहीत मानी जासकती हैं। अभिनिवेश की तो कोई चिकित्सा है नहीं। वैसे समाधान सर्वथा शक्य हैं। "जिन विधाओं, सिद्धान्तों का स्वयं वेदशास्त्र में प्रत्यक्षरूप से उल्लेख नहीं मिलता, केवल लौकिक व्यवहार के आधार पर ही उन्हें प्रामाणिक नहीं माना जासकता"–यदि यही दुराग्रह है, तो–'वक्तुरेव तत् जाड्यं श्रोता यत्र न बुद्ध्यते' इस आत्मरक्षा के नाते, साथ ही–'शब्द प्रमाणका वयं, यदस्मान्–शब्द आह, तदस्माकं प्रमाणम्'–'लक्षणैक–चक्षुष्का वयम्'–'आप्तवाक्यं प्रमाणम्' इत्यादि शास्त्रीय वृद्धव्यवहारों के आदेश पालन के अनुबन्ध से हमारा यह कर्त्तव्य होजाता है कि, जिस आहार्य्यारोप–विधा के आधार पर सर्वथा असत् भौतिक पदार्थ को सल्लक्षण आधिदैविक उपास्य की प्राप्ति का द्वार बतलाया जारहा है, उस विधा की प्रामाणिकता के लिए स्वयं वेदशास्त्र के ही कुछ एक उदाहरण उद्धृत कर दिए जाएँ। जब कि हम यह भी भलीभाँति जानते हैं कि, वेदशास्त्र की वह प्रामाणिकता भी, जो उनके कल्पित सिद्धान्त के प्रतिकूल पड़ेगी, वे स्वीकार नहीं करेंगे। हां, जो मुग्ध आस्तिक प्रजा ऐसे मिथ्या–वेदभक्तों के पुरोचरना वाक्यों में फँस कर लक्ष्यच्युत हो जाते, और होरहे हैं, उनका अवश्य ही इस प्रामाण्यवाद से उद्बोधन होगा।

२४–कुशमुष्टि-जुहू-पभृत्-कृष्णमृगाजिन-हविः–शकटाज्य-पंङ्क्तिसंख्या–निवह में ब्रह्म-भोक्तृ–भोज्य–त्रयी-सत्र–कुलिश–विराड्यज्ञ–रूपितारोपलक्षणाऽऽहार्य्यारोपान्वयी करणक्षमा अन्यस्मिन्नन्यभावना का प्रतिपाद्यत्व स्वीकार–

वेदशास्त्र के ब्राह्मण भाग में कुशमुष्टि को ब्रह्मा माना गया है। जुहू नामक यज्ञ पात्र को यजमान, भोक्ता, माना गया है। उपभृत्–पात्र को यजमानशत्रु, भोग्य, माना गया है। कृष्णमृगचर्म्म को त्रयीवेद माना गया है। हविःपरिपूर्ण शकट को यज्ञ माना गया है। आज्य को वज्र माना गया है। १० संख्या को विराड्यज्ञ माना गया है। इस प्रकार एक, दो, दस ही स्थलों में नहीं, अपितु सहस्रों स्थलों में इस आहार्य्यारोप विधा के आधार पर अन्य में अन्य भावना का तत्तत्–कर्मेतिकर्त्तव्यताओं का निर्वाह किया गया है, जैसाकि निम्न लिखित वचनों से प्रमाणित है—

२५–ऋग्-यजुः-साम-त्रयीमूर्त्ति "वेन" तत्त्व निष्पन्ना "कुशमुष्टि", कुशाङ्गुलीयकधारण द्वारा ब्राह्मण की वेदवित्ताज्ञप्ति, एवम् दर्भरूप वेद का प्रजापतिश्मश्रुत्व—

(१)–दर्भमुष्टि को ब्रह्मा माना गया है, इस का एकमात्र निदान यही है कि, ब्रह्मा त्रैविद्य होता है। एवं जिस 'वेन' तत्त्व से दर्भ का स्वरूप निष्पन्न हुआ है, वह वेन ऋक्–यजुः–साम तीनों को अपने गर्भ में रखता हुआ त्रयीवेद मूर्त्ति है। अतएव कुशमुष्टि का दूसरा निदान 'वेद' भी माना गया है। पुराकाल में अधीत वेदविद्या के सङ्केत के लिए ऋषिकल्प ब्राह्मण कुश की अंगूठी पहिना करते थे, एवं इसे निदान के आधार पर 'वेद' कहा जाता था। यह कुशमुद्रा सूचित करती थी कि, यह ब्राह्मण वेदवित् है। वेद (दर्भमुष्टि) निदानेन प्रजापति (ब्रह्मा) भी बनाया जाता है। जहाँ योग्य ब्रह्मा अनुपलब्ध रहता है, वहां ब्रह्मासन पर दर्भमुष्टि रख दी जाती है। यही नैदानिक ब्रह्मा मान लिए जाते हैं। इसी आधार पर दर्भरूप वेद

प्रजापति के श्मश्रु मान लिए गए हैं। 'प्राजापत्यो वै वेदः (दर्भमुष्टिः)',–तै० ब्रा० ३–३–७–२– "प्रजापतेर्वा एतानिश्मश्रूणि, यद्वेदः" (तै० ब्रा० ३।३।९।११) इत्यादि वचन इस प्रथम उदाहरण का समर्थन कर रहे हैं।

२६–पूर्णमासेष्टियज्ञविहित "स्रुगादापन" कर्म्म का निर्वचन एवं जुहूपभृत्-स्रुक्क-ल्पिता-हार्य्यारोपविधा का श्रुतिगिरा प्रामाण्य—

(२)-(३)–पूर्णमासेष्टि में एक 'स्रुगादापन कर्म्म' विहित है। होतृप्रवरणानन्तर वृत होता स्वंस्त्य यनजप करता है। अनन्तर–'अग्निर्होता वेत्त्वग्नेर्होत्रम्' इत्यादि नवव्याहृत्यात्मक स्रुगादापन निगदमन्त्र का पाठ करता है। होता के–'घृतपतीमध्वर्यो ! स्रुचमाप्यस्व' इस व्याहृति पाठ के समय अध्वर्य्यु वीप पूर्वक आहवनीयाग्नि में आज्याहुति देने के लिए जुहू–उपभृत् नामक पात्रों का स्वस्त में ग्रहण करता है। यही स्रुगादापन कर्म्म है। होता 'स्रुचमास्यस्व' इत्यादि रूप से प्रेरणा एक स्रुक् के लिए करता है, पद्धति मे जुहू उपभृत् दोनों स्रुचों का ग्रहण विहित है। प्रश्न होता है कि, ऐसी दशा में होता दोनों के प्रेरणा न कर एकवचनान्त प्रयोग करता हुआ जुहू के लिए ही प्रेरणा क्यों करता है ? इसी प्रश्न का समाधान करते हुए श्रुति ने कहा है कि–(आहार्य्यारोपविधामूलक निदान के आधार पर) जुहू यजमान है, भोक्ता है उप-भृत् यजमान शत्रु है, भोग्य है। दोनों के लिए प्रेरणा करना यजमान को तच्छत्रु की प्रतिस्पर्द्धा में खड़ा करना है। भोक्ता को भोग्य के समकक्ष बनाना है। ऐसा न हो, इसलिए एकवचनान्त ही प्रेरणा होती है। स्पष्ट ही जुहू-पहभृत् जैसे अचेतन काष्ट पात्रों को चेतन यजमान–तच्छत्रु मानना–आहार्य्यारोपमूलक निदान है, जैसाकि श्रुति कहती है—

(२)–"यजमान एव जुहूमनु, योऽस्मारातीयति–स उपभृतमनु। य यद् द्वे इव ब्रूयात्, यजमानाय द्विपन्तं भ्रातृव्यं प्रत्युद्यामिनं कुर्य्यात्" (३)–"अत्तैव जुहू-मनु, आद्य उपभृतमनु। स यद् द्वे इव ब्रूयात्, अत्रऽऽाद्यं प्रत्युद्यामिनं कुर्य्यात्। तस्मादेकमिवैवाह (स्रुचमास्यस्वेति)"

(शत० १।५।३।२–स्रुगादापन ब्राह्मण)।

२७–वेदमन्त्रपूत पाषाण की भगवत्तत्त्वसायुज्यक्लृप्ति, तदुपहास का ईश्वरोपहास-निदा-नत्व, प्रतिमार्च्चन प्रतीपाचारी श्रुतिनिष्ठों से प्रश्न—

"मूर्त्ति पाषाणमयी है, कल्पित है, मिथ्या है, जड़ है, यह सभी कुछ ठीक है। परन्तु, वेदोक्त पद्धति से वेदमन्त्रों द्वारा जब इसमें प्राणप्रतिष्ठा करते हुए उपास्य भगवत्तत्त्व का आरोप कर दिया जाता है, तो इसका उपास्य से अभेद होजाता है। उस दशा में जड़ मूर्त्ति का उपहास करना उपास्य ईश्वर का उपहास करना है" भावनात्मक यह सिद्धान्त भी उक्त श्रुति से ही प्रमाणित हो रहा है। जुहू-उपभृत् काष्ठमय हैं, अचेतन हैं। परन्तु जब इनमें क्रमशः यजमान, और तच्छत्रु का आरोप कर दिया जाता है, तो ये तदभिन्न बन जाते हैं। श्रुति कहती है कि, जुहू-उपभृत् दोनो को उठाने के लिए मन्त्र बोलना यजमान, और तच्छत्रु

में, भोक्ता, और भोग्य में प्रतिस्पर्द्धा करानी है। मूर्त्तिपूजन के विरोधी उन वेदभक्तों से हम पूछते हैं कि, जुहू के साथ चेतन यजमान का क्या सम्बन्ध ? काष्ठमय उपभृत् के साथ चेतन यजमान शत्रु का क्या मेल ? जुहू उपभृत् के सहोच्चारण से यजमान, तच्छत्रु में प्रतिस्पर्द्धा कैसी ? 'त एव वेदभक्ताः प्रतारणीयाः'।

२७-यज्ञिय कृष्णमृगाजिन की शुक्ल-कृष्ण-बभ्रु-रोमावली का ऋक्-साम-यजुस्त्रयी-वेदत्व, एवं द्युलोकोत्क्रान्त यज्ञ का कृष्णमृगाजिन रूपेण निरूपण—

(४)—पूर्णमासेष्टि में पुरोडाश (परिपक्कहवि) के लिए हविर्द्रव्य (अपरिपक्व, किन्तु, परिष्कृत कूटा-फटका हुआ धान) सम्पन्न किया जाता है। काले मृग चर्म्म पर उलूखल में मुसल से धान कूट कर उसका वितुषी करण होता है। कृष्णमृगचर्म्म क्यों बिछाया जाता है ? इसकी उपपत्ति बतलाते हुए श्रुति ने कहा है कि, हविर्द्रव्य यज्ञांश होने से यज्ञरूप है। यदि हविर्भाग अयज्ञिय भूतप्रदेश पर गिर जाएगा, तो यज्ञांश अयज्ञिय बन जाएगा। कृष्णमृगचर्म्म यज्ञिय है। द्युलोक से उत्क्रान्त यज्ञ कृष्णमृग बन कर भूपिण्ड पर विचरने लगा था। देवताओं ने उसकी त्वचा उखाड़ली। इस कृष्णमृगचर्म्म में शुक्ल रोम ऋक् है, कृष्णरोम साम है, बभ्रु रोम यजुः हैं। इस प्रकार यह चर्म्म त्रयीवेद है। त्रयीवेद ही यज्ञ है। यज्ञ (हवि) कूटने पर उछट कर यज्ञ पर (कृष्णमृगचर्म्म) ही प्रतिष्ठित रहे, अयज्ञिय न बने, इसीलिए—'कृष्णाजिनमादत्ते'। इसप्रकार कृष्णमृगचर्म्म में त्रयीवेद, तद्रूप यज्ञ का आरोप यह प्रमाणित कर रहा है कि, आहार्य्यारोप अवश्य ही वेदोक्त विद्या है। निम्न लिखित ब्राह्मण श्रुति इसी चतुर्थ उदाहरण का समर्थन कर रही है—

४-"अथ कृष्णाजिनमादत्ते-यज्ञस्यैव पर्वत्वाय। यज्ञो ह देवेभ्यो ऽपचक्राम। स कृष्णो भूत्वा चचार। तस्य देवा अनुविद्य त्वचमेवावच्छायाजह्रुः। तस्य यानि शुक्लानि च कृष्णानि च लोमानि, तान्यृचां च साम्नां च रूपम्। यान्येव बभ्रूणि, तानि यजुषां रूपम्। सैषा त्रयीविद्या यज्ञः। अस्कन्नं हविरसदिति। यज्ञे यज्ञः प्रतिष्ठात्" (शत० १।१।४।२,३,)।

२८-एतदीय समर्थन में उदाहरणान्तरों का उद्धरण—

शेष उदाहरण भी इसी विधा का समर्थन कर रहे हैं, जिनके सम्बन्ध में केवल तद्वचन उद्धृत कर देना ही पर्य्याप्त होगा—

१—"आदित्यास्त्वगसि"——यजुः सं०

२—"देवो वः सविता हिरण्यपाणिः" "

३—"दिवस्कम्भनीरसि" "

५-"यज्ञो वा अनः । यज्ञो हिवा ऽअनस्तस्मादनस एव यजूंषि सन्ति । यज्ञायज्ञं निर्मिमाऽइति । तस्मादनस एव गृह्णीयात्" ॥-शत० १।१।२।७।

६-"वज्रो वाऽआज्यम् । तद्वज्रेणैवैतन्नाष्ट्रारक्षांस्यवबाधते" ।—शत० ३।६।४।१५ ।

७-"द्वन्द्वं पात्राण्युदाहरति-शूर्पं चाग्निहोत्रहवणीं च, स्फ्यं च कपालानि च, शम्यां च कृष्णाजिनं च, उलूखलमुसले, दृषदुपले ' तद्दश । दशाक्षरा वै विराट् । विराड्वै यज्ञः । तद्विराजमेवैतद्यज्ञमभिसम्पादयति" ॥ (शत० १।१।१।२२।) ।

२६-दर्भ में भूत्वक्त्व, सौररश्मियों में सवितृपाणित्व का आहार्य्यारोपविधा से सम्भवत्व, सत्तासिद्ध-भातिसिद्ध-उभयसिद्ध-पदार्थ एवम् आहार्य्यारोपविधा का दार्शनिकगिरा में "भातिसिद्ध" नाम्ना निरूपण—

इसी प्रकार दर्भास्तरण को पृथिवी की त्वचा मानना, सौररश्मियों को सविता के सुनहरी हाथ मानना शम्यापात्री को द्यु लोक की स्कम्भनी मानना, इत्यादि मन्त्रभागोक्त उदाहरण भी इसी आहार्य्यारोपविधा का समर्थन कर रहे हैं। इसी लोक-वेद व्यवहारसिद्ध आहार्य्यारोप-विधा के आधार पर हमारा उपासनाकाण्ड प्रतिष्ठित है। उपास्य देव की जितनी भी काल्पनिक धातुमयी, किंवा पाषाणमयी, प्रतिमा बनाई जाती हैं, जितने भी चित्र कल्पित हुए हैं, उन सबका आहार्य्यारोपमूला प्रत्ययालम्बनता से ही सम्बन्ध है। भेदक धर्म्मपरित्यागपूर्वक अभिन्नधर्म्मानुगमनात्मक समानप्रत्यय प्रवाह ही इस उपासना का प्रधान लक्ष्य है। 'है नहीं, किन्तु समझिए' यही आहार्य्यारोपमूला प्रत्ययालम्बनता का निष्कर्ष है, जिसे दार्शनिक लोक 'भातिसिद्ध' कहा करते हैं। जिनकी सत्ता भी है, प्रतीति भी होरही है, प्रत्यक्ष दृष्ट सूर्य-चन्द्र-पुरुष-पाषाणादि वे सब 'उभयसिद्ध' कहलाए हैं। जिनकी सत्ता अवश्य है, किन्तु इन्द्रिय द्वारा जिनका प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है, वे परमात्मा, जीवात्मा, प्राण, आदितत्त्व 'सत्तासिद्ध' पदार्थ हैं। जिनकी सत्ता नहीं है, अपितु जिनके द्वारा व्यवहारमार्ग का सञ्चालन होरहा है, वे दिक्, काल, संख्या, अपरत्व, आदि 'भातिसिद्ध' पदार्थ हैं। एक रुपये के १६ आने, ४० सेर का मन, ये सब भी भातिसिद्ध ही हैं। प्रतिमा ईश्वर है नहीं, मानली गई है। यही आहार्य्यारोपविधा की भातिसिद्धत्त्व है। एवं यही इस प्रथमविधा का सोदाहरण संक्षिप्त विश्लेषण है।

—१—

प्रतिकृतिमूला प्रत्ययालम्बनता और-उपासना

१-प्रतिस्वरूपमीमांसा

३०-प्रतिमार्च्चन की वैज्ञानिकता, वैदिकता एवम् ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-योगों का ईश्वर-देव-भूतपरत्व निरूपण—

आहार्य्यारोपविधा से सम्बन्ध रखने वाली प्रत्ययालम्बनता, तन्मूला उपासना का सोदाहरण स्पष्टीकरण किया गया। इसी प्रत्ययालम्बनता के सम्बन्ध 'प्रतिरूपविधा' से भी काम लिया जासकता है, जिसका भारतीय 'प्रतिमापूजन' से विशेष सम्बन्ध माना गया है। भक्तिपरीक्षा-पूर्वखण्ड के सर्वान्त के 'प्रतिमापूजन, और उपासना' नामक प्रकरण में प्रतिमापूजन की वैदिकता पर पूर्ण प्रकाश डाला जाचुका है। अतः इस सम्बन्ध में पिष्टपेषण अनावश्यक है। पथमविधा का उपसहार करते हुए यह कहा गया है कि, 'प्रतिमा ईश्वर है नहीं, मानली गई है, यही आहार्य्यारोपविधा का भातिसिद्धत्त्व है। इस सम्बन्ध में थोड़ा स्पष्टीकरण अपेक्षित है। ईश्वरीय विवर्त्त 'आत्मा, देव, भूत' भेद से तीन भागों में विभक्त माना गया है। महामायावच्छिन्न, सर्वव्यापक (विश्वव्यापक) देव-भूत प्रपञ्च को अपने गर्भ में रखनेवाला मायीतत्त्व 'आत्मा' है, यही दार्शनिक परिभाषा का सगुणब्रह्म, किंवा 'ईश्वर' है। मायी आत्मेश्वर लक्षण पुरुष (जिसे अक्षर-क्षरगर्भित मनोमय ज्ञानैकसार अव्ययपुरुष भी कहा जासकता है) के गर्भ में प्रतिष्ठित प्राणात्मक प्राकृतिक भाव दूसरा देवविवर्त्त है। प्रत्यक्ष दृष्ट पञ्चभौतिक विवर्त्त भूतविवर्त्त है। भूतविवर्त्त क्षरात्मक विकृतिभाव है, देवविवर्त्त अक्षरात्मक प्रकृतिभाव है, एवं आत्मविवर्त्त अव्ययात्मक पुरुषभाव है। सर्वव्यापक पुरुषभाव (ईश्वराव्यय) केवल ज्ञानगम्य है। क्योंकि बिना माध्यम के उपासना सम्भव नहीं, एवं कोई भी माध्यम उस व्यापक की प्रतिमा नहीं। सब उसी की प्रतिमा है यह ज्ञान क्षेत्र है, न कि उपासना क्षेत्र। उपासना उसकी नहीं होती, उसके अवयवभूत देवताओं की ही होती है, जिनके प्रतिरूप हमें उपलब्ध होरहे हैं। तीसरा भूतविवर्त्त केवल कर्म्मानुगत है। तत्त्वतः-ईश्वर-का ज्ञानयोग से, देवता का भक्तियोग से, एवं भूत का कर्म्मयोग सम्बन्ध सिद्ध होजाता है।

३१-उपासना सम्बन्धिता "प्रतिमाविधा" के प्राकृतिक-कृत्रिम दो विवर्त्त, रामकृष्णव्यासादि की कृत्रिम प्रतिमाएँ एवं प्रकृत्या विनिर्म्मित प्राकृतिक प्रतिमाओं का वैदिक-उपासना-माध्यमत्व-स्वीकार—

उपासनाकाण्ड से सम्बन्ध रखने वाली प्रतिरूपविधा का तात्पर्य्य है 'प्रतिमाविधा'। इस प्रतिमाविधा के प्राकृतिक, कृत्रिम, भेद से दो विवर्त्त माने गए हैं। मानवीय मन की कल्पना से बनाए गए उपास्य प्रतिरूप कृत्रिम प्रतिमा हैं एवं स्वतः सिद्ध उपास्य प्रतिरूप प्राकृतिक प्रतिमा हैं। राम-कृष्ण-व्यास-परा शरादि का स्वरूप हमने कभी नहीं देखा था। परन्तु केवल उनके शब्दज्ञान के आधार पर उनकी प्रतिमाएँ, चित्र बना दिए गए हैं। 'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः' (यो० द० १।९।) के अनुसार सुनी सुनाई बातों के आधार पर, अवतारपुरुषों के तथाविध चरित्र श्रवण के आधार पर उनकी प्रतिमाएँ निर्म्मित्त होजाती हैं। वर्त्तमान उपासना काण्ड में-जिसे भक्तियोग कहना समीचीन होगा-इसी कृत्रिम प्रतिमाभाव-मर्य्यादा अधिकांश में में उच्छिन्न ही होचला है। जिन देवप्रतिमाओं का मानवीय कल्पना से

कोई सम्बन्ध नहीं है, अपितु जो प्रकृत्या विनिर्मित हैं, वे ही प्राकृतिक प्रतिमा हैं। एवं वैदिक उपासना-काण्ड में इन्हीं प्रतिमाओं का माध्यमरूप से संग्रह हुआ है, जैसाकि अनुपद में ही सोदाहरण स्पष्ट किया जाने वाला है।

३२–आदर्श और प्रतिकृति, प्रतिकृति का शब्दान्तर प्रतिरूप, गुरु-माता-पितादि के चित्र-दर्शन की तद्गत प्रत्ययप्रवाहिता, एवम् उपासनार्थ प्रतिरूप प्रत्ययालम्बन का औचित्य—

वास्तविक मूल पदार्थ 'आदर्श' कहलाया है, इसके तदनुरूप तूलपदार्थ को 'प्रतिकृति' कहा जाता है। पिता मूलस्थानीय आदर्श है, तो-'पिता वै जायते पुत्रः' के अनुसार तदनुरूप तूलस्थानीयपुत्र प्रतिकृति है। चित्र भी उस चित्र के आधार भूत आदर्श की प्रतिकृति ही मानी जाएगी। इसी 'प्रतिकृति' के लिए प्रकृत में 'प्रतिरूप' शब्द से ग्रहण किया गया है। प्रतिरूप को दृष्टिद्वारा प्रत्यय का आलम्बन बनाते हुए जिसका यह प्रतिरूप है, परोक्ष भी उसकी ओर हमारा मनोयोग होजाता है। गुरु, पिता, माता, ज्येष्ठभ्राता, आदि के चित्रों के साथ ज्यों ही दृष्टि सम्बन्ध होता है, त्यों ही प्रत्यय उस ओर प्रवाहित होजाता है। कल्पित चित्र इसप्रकार वास्तविक तत्त्व की ओर मनोयोग का कारण बन जाता है। 'प्रतिगतं-प्रतिकृतंवा-रूपम्'-'प्रतिगतंरूपमस्य' ही प्रतिरूपशब्द के निर्वचन हैं। जिन के उदाहरण यत्र तत्र उद्धृत हैं *। गवय-पशु भी इसी आंशिक प्रतिरूपता के कारण गोप्रत्यय का जनक बनता देखा गया है। सुप्रसिद्ध उत्तरराम-चरित-नाटक में कवि ने इसी प्रतिरूपविधा के आधार पर जगन्माता सीता की स्मृति पूर्वचरित्रों की ओर आकर्षित है। लोक में भी व्यवहारकाण्ड में पदे पदे इस प्रतिरूप विधा का आश्रय लिया गया है। इसी लोकसिद्ध प्रतिरूपविधा के आधार उपासनाकाण्ड में भी प्रतिरूपों को प्रत्ययलम्बनतारूप से संग्राह्य मान लिया गया है। कृत्रिम प्रतिरूप विधाओं के उदाहरण देना इसलिए अनावश्यक है कि, वर्त्तमान में यही विधा अधिकांश में व्यवहार्य्य बन रही है। प्रकृत में तो प्रतिरूपविधा से सम्बन्ध रखने वाले उन प्राकृतिक उदाहरणों का ही स्पष्टीकरण आवश्यक है, जिनके अपरिज्ञान से प्रतिरूपविधात्मक (प्रतिमा-चित्र-विधा-त्मक) भारतीय उपासनाकाण्ड को अवैदिक बतलाने का दुःसाहस किया जारहा है।

३३–ऋक्-यजुः-सामाथर्व-संहिताओं में से केवल ऋक्-संहितानिरूपित सम्राट् "इन्द्र" प्रतिमा का वेदोक्ति द्वारा निरूपण—

पहिले मूलसंहिता को ही लीजिए। प्रतिरूप का जो अर्थ ऊपर किया गया है, उसके सम्बन्ध में उपलब्ध ऋक्-साम-अथर्व, चारों संहिताओं में से केवल ऋक्संहिता में एक मन्त्र उद्धृत हुआ है।

---

* भवन्ति पुरुषा लोके मद्भक्तास्त्वामनुव्रताः।
भवान्मे खलुभक्तानां सर्वेषांप्रतिरूपधृक्॥ श्रीमद्भागवत७।१०।२१

आत्मनः प्रतिरूपोऽसौलब्धः प्रति रितिस्थिते।
विचित्रवीर्य्यं कल्याण्यौ पूजयामासतुःशुभे॥ महाभारत १।१०२।

वैदिकयुग इन्द्रप्रधानयुग माना गया है। क्योंकि, वैदिकयुग से सम्बन्ध रखनेवाली भौमत्रिलोकी-व्यवस्था में स्वर्गाधिपति इन्द्र ही त्रैलोक्य के प्रधान अधिष्ठाता थे। तत्कालीन महापुरुषों में इन्द्र का स्थान प्रमुख था। अतएव इन्द्र का पूजन स्वभाविक था। भारतीयप्रजा अपने सम्राट इन्द्र की प्रतिमाएँ बनाकर इसी प्रतिरूप विधा से उन की पूजा किया करती थी। घर घर इन्द्रपूजन प्रचलित था। निम्नलिखित ऋङ्मन्त्र से देवेन्द्र के इसी प्रतिरूप भाव का स्पष्टीकरण होरहा है—

> रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
> इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश ॥
>
> ऋसं० ६।४७।१८।

३४–वेदोक्त ब्रह्म-विष्णिवन्द्राग्नि सोम-देवाधारेणैव तत्तत्पौराणिक देवताओं की प्रतिष्ठा, भौतिकप्रपञ्च-प्रभव-प्रतिष्ठा परायण महेश्वर, वैदिकोपासना के मुख्य-आधार भगवान् रुद्र एवं तत्त्रिनेत्र-स्वरूप-व्याख्योपबृंहण—

यह एक रहस्यपूर्ण विषय है कि, ब्रह्म, विष्णु, इन्द्र, अग्नि, सोम, इन वेदोक्त पांच देवताओं के आधार पर ही पौराणिक ब्रह्म, विष्णु, शिव, इन तीनों देवताओं की प्रतिष्ठा हुई है। स्वायम्भुव ब्रह्म का एक स्वतन्त्र विभाग है, पारमेष्ठ्य विष्णु का एक स्वतन्त्र विभाग हैं। एवं सौर इन्द्र, चान्द्रसोम, पार्थिव अग्नि, इन तीनों की समष्टि का एक स्वतन्त्र विभाग है। यही महेश्वर है।—'मायां तुप्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' के अनुसार ये मायीमहेश्वर ही भौतिकप्रपञ्च के प्रभव–प्रतिष्ठा–परायण बनते हुए भूतपति, भूतानाथ, भूतेश, भूतभावन, आदि नामों से प्रसिद्ध हुए हैं। सूर्य्य, चन्द्रमा, अग्नि, ये तीन ज्योतियाँ ही इनके तीन नेत्र हैं। अग्नीषोमात्मक विश्व की रक्षा अग्नि–सोमरूप दो नेत्रों के खुले रहने तक ही सम्भव है। तभी तक, जबतक कि अग्नीषोमात्मक यज्ञ का इन्द्र के साथ सम्बन्ध है, यह तत्त्व संसार के लिए 'शिव' है, कल्याणकर है, रक्षक है। जिस दिन प्रतिसञ्चर क्रम से अग्नि–सोम का यज्ञात्मक अन्तर्य्याम सम्बन्ध उच्छिन्न होजाता है, विशुद्ध सौर इन्द्र की प्रधानता रहजाती है, उसी दिन शिवतत्त्वरुद्ररूप में परिणत होता हुआ संहारक बन जाता है। तृतीय सूर्य्यनेत्र ही अपने एकाकी यज्ञसम्बन्ध वञ्चित रूप से विश्व विनष्टि का कारण बन जाता है। यही रुद्र, तथा इन्द्राग्निसोम समष्टिरूपशिव वैदिक उपासनामार्ग का मुख्य आधार है। उपासनारुद्र, किंवा शिव की ही होती है। अवतार विष्णु का ही होता है, जैसाकि भक्तियोग–परीक्षा पूर्वखण्ड में भी स्पष्ट किया जाचुका है। विश्वामित्र, काशीराज प्रतर्द्दन आदि उपासकों ने इसी रुद्रात्मक इन्द्र की उपासना से अभीष्ट फल प्राप्त किया था। 'आदित्य मुद्गीथमुपासीत' इत्यादिरूप से श्रुति भी इसी आदित्येन्द्रोपासना का, जिसे पुराणभाषा में हम 'शिवोपासन'–कहेंगे–समर्थक हुआ है। देवविभूति के उपासक भारतीयों के अतिरिक्त भौम असुरों की उपासना का भी आधार यही शिवतत्त्व रहा हैं। उक्त मन्त्रद्वाराउपासनाधारभूत उस इन्द्रतत्त्व का ही स्वरूपविश्लेषण हुआ है, जो अपनी योगमाया से जीवसृष्टि का महामाया से विश्वस्वरूप का सञ्चालक बना हुआ है।

३५-इन्द्र का अधिभूताधिदैवताध्यात्म स्वरूप, "त्वष्टा" "मघवा" नामादित्यप्राणविशेष स्वरूप का यूंहण—

मन्त्र ने आधिदैविक, अध्यात्मिक, आधिभौतिक, तीनों इन्द्रों का संग्रह किया है। आधिदैविक-सौरप्राणेन्द्र के चतुर्दश (१४) विवर्तों में से एक विवर्त रूप का अधिष्ठाता माना गया है। आकाररूप, वर्णरूप, भेद से रूपविवर्त दो भागों में विभक्त है। आकार रूप का अधिष्ठाता 'त्वष्टा' नामक आदित्य-प्राणविशेष है । शुक्ल-नील-हरित-लोहित-आदि वर्णरूपों का अधिष्ठाता 'मघवा' नामक आदित्यप्राण विशेष है। इसप्रकार अपने त्वाष्ट्र, तथा मघवा-रूपों से सौरप्राण (जिसे-'य ईन्धे-तस्मादिद्धः तं वा इद्धं सन्तमिन्द्रमित्या चक्षते परोक्षम्' निर्वचनानुसार 'इन्द्र' कहा जाता है) ही आकार, तथा वर्णरूपों का अधिष्ठाता बन रहा है। वर्तमान विज्ञान ने भी कम से कम यह तो जान और मान ही लिया है कि, सौररश्मियाँ ही सातवर्णों (रङ्गों) की प्रवर्त्तिका है।

३६-विश्व के यच्चयावत् स्वरूपों के प्रतिनिधि इन्द्र एवं पदार्थों की विभिन्न प्रतीति का आधार आकार-वर्ण-गत रूप—

इन्द्रतत्त्व के इसी आधिदैविक स्वरूप का विश्लेषण करते हुए महर्षि गर्ग ने कहा है कि, यह इन्द्रदेवता (सौरत्वष्टा, एवं मघवेन्द्र) ही यच्चयावत् रूपों के (आकाररूपों एवं वर्णरूपों) के प्रतिनिधि हैं। इन्द्र ही स्वरूपों से सर्वदेवतारूपों में परिणत होरहे हैं। इसी आधार पर-'नेन्द्रादृते पवते धाम किञ्चन'-'इन्द्रोरूपाणि कनिक्रदच्चरत्'-'इन्द्रः सर्वदेवताः' इत्यादि निगम प्रतिष्ठित हैं। यदि इन्द्रद्वारा यह रूप-विभाजन न होता तो किसी भी पदार्थ की 'अयं घटः- अयं पटः- इत्याकारक विभेदप्रतीति असम्भव थी। आकाररूप, वर्णरूप ही पदार्थों की विभिन्न प्रतीति का आधार है। विभिन्न प्रतीति ही प्रतिचक्षण पृथग्-दर्शन-पृथक्प्रतीति है। 'तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय' मन्त्रभाग से यही कहा गया है।

३७-अपरिच्छिन्न-व्यापक-"माया"-बलाधारेण इन्द्र का एककालावच्छेदेन सर्वत्र रूप-विस्तार सामर्थ्य, एवं सहस्रभावापन्न सौररश्मियों द्वारा रूप विवर्त प्रतिष्ठात्व-निरूपण—

ऐसा कौनसा साधन था, जिसके सहयोग से एक ही इन्द्र विश्वकेन्द्र में प्रतिष्ठित रहकर एककालावच्छेदेन ही सर्वत्र अपने रूपविस्तार में समर्थ होगया? मन्त्रोत्तरार्द्ध इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है। अपरिच्छिन्न तत्त्व व्यापक है। अतएव उसकी पृथक्त्वेन, विभक्तिरूप से प्रतीति सम्भव नहीं है। अपरिच्छिन्न को परिच्छिन्न बनानेवाला, अमित को मित बनाने वाला, असीम को सीमित करने वाला जाया, धरा, आपः, अम्ब आदि सुप्रसिद्ध सोलह बलकोशों में से एक मुख्य सर्वाधार बल ही 'मिनोति या सा'-'मीयते अनया' इत्यादि निर्वचनानुसार 'माया' नाम से व्यवहृत हुआ है। इसी मायाबल के आधार पर इन्द्रप्राण रूपविभाजन में समर्थन हुए हैं। मायाबलों के द्वारा ही इन्द्रदेवता पुरुरूपभावों में असंख्यरूपों में परिणत, होरहा है। माया का यह आनन्त्य 'पूर्ण' वै सहस्रम्' के अनुसार सहस्रसंख्या पर विश्रान्त है। सौररश्मियाँ

विराट् सम्बन्ध से १०—१००—१०००, इन तीन प्रक्रमों में परिणत होकर सर्वत्ररूप प्रसार में समर्थ होरही हैं, मौलिक विराट के १० अवयव हैं। एक एक के दशधादशधा विस्तार से दश—दशावयव दश विराट् होजाते हैं, यही १०० अवयव है। इन १०० का, दूसरे शब्दों में दश—दशावयव दश विराटों का प्रत्येक का पुन: दश—दशधा विकास होता है। यही १००० अवयव हैं। इसप्रकार दश, दश के दश, वैसे दशों के पुन: दश, क्रम से सहस्रभावापन्न सौररश्मियाँ ही रूपविवर्त्त की प्रतिष्ठा बन रही हैं। यही आधिदैविक इन्द्र का संक्षिप्त स्वरूप निदर्शन है।

३८—हृदयावच्छिन्न-विज्ञानसम्परिष्वक्त प्रज्ञानेन्द्र का अनन्तजीवप्रवर्तकत्व, बृहतीछन्दो-वृत्त-प्रतिष्ठित इन्द्रप्राणात्मक सूर्य्य, एवम् षट्त्रिंशत्सहस्र-आयुःप्रमाणात्मक-सौर मात्राओं की प्रतिष्ठा का आध्यात्मिक इन्द्रत्व निर्वचन—

अपने इन्हीं मायासहस्र विवर्त्तों से हृदयस्थ प्रज्ञानमन पर प्रतिबिम्बित होकर यह इन्द्र अध्यात्म-संस्था की संस्था की प्रतिष्ठा बन रहा है। 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा। तं मामायुरमृतमित्युपास्स्व' इत्यादि कौषीतकि सिद्धान्तानुसार हृदयावच्छिन्न विज्ञानसम्परिष्वक्त यही प्रज्ञानेन्द्र जीवानन्त्य का प्रवर्त्तक बन रहा है। बतलाया गया है कि, दशसंस्था का नाम विराट् है। जिस खगोलीय वृत्त केन्द्र में इन्द्रप्राणात्मक सूर्य्य प्रतिष्ठित है, वह वृत्त (विष्वगवृत्त) 'बृहतीछन्द' नाम से प्रसिद्ध है। इस छन्द के ३६ अक्षर माने गए हैं। ९—९ अक्षरों का एक एक पाद है। प्रत्येक पाद में ९—९ विराट् उपभुक्त हैं। इस प्रकार ३६ के ३६ विराट् (३६—दश) होजाते हैं, यही ३६० अहोरात्र-पर्वत्र हैं। आगे जाकर इन ३६ बृहती भावों का, विराड्भावों का सहस्रधा व्यूहन होता है। ३६ के ३६०० (छत्तीतहजार) पर्व होजाते हैं। रश्मि द्वारा अध्यात्मेन्द्र में भुक्त ये ३६०० पर्व हीं हमारे आयुः सूत्र हैं। यही वेदोक्त आयुःप्रमाण है। ३६ हजार सौर मात्राओं का भोग समाप्त होजाता है। इसप्रकार १०० वर्षों [३६००० दिनों] में मानव आयु समाप्त होजाती है। मानवसंस्था के, किंवा प्राणिसंस्था (अध्यात्मसंस्था) के इन विभक्तिभावों की प्रतिष्ठा यही आध्यात्मिक इन्द्र है। मन्त्रने इस का भी स्पष्टीकरण किया है।

३९—रामकृष्णादि अवतारप्रतिमार्च्चनवत् ऐतिहासिक "इन्द्र" की प्रतिमाओं का अर्च्चन—

तीसरा आधिभौतिक इन्द्र है, जिसे हम ऐतिहासिक मनुष्यविध इन्द्र कहते हैं। उपासक लोक जिस प्रकार आज रामकृष्णादि अवतारों की प्रतिमाओं के माध्यम में उपासना कर्म्म का अनुगमन करते हैं, एवमेव पुरायुग में इन्द्रप्रतिमाओं के माध्यम से लक्ष्यीभूत आधिदैविक इन्द्रोपासना सञ्चालित थी। अधिकांश में सर्वत्र ही इन्द्र के [भौमइन्द्र के, जिन्हें अवतारपरिभाषानुसार आधिदैविक इन्द्र के अवतार कहा जासकता है] प्रतिरूप [प्रतिमाएं] उपासना के माध्यम माने जाते थे। इसप्रकार तीनों ही दृष्टिकोणों से इन्द्र प्रतिरूप बन रहे हैं। तीनों में से प्रकृत में ऐतिह्य प्रतिरूप का ही सम्बन्ध समझना चाहिए। एक अन्य ऋङ्मन्त्र से भी इन्द्र के इस प्रतिरूप भाव का समर्थन होरहा है। प्रतीत ऐसा होता है कि, तत्समय के सैनिकों में भी इन्द्र पूजन प्रचलित था। देवासुरसंग्राम उस युग के सामान्य धर्म्म थे। जब कोई सैनिक युद्ध

के लिए युद्धभूमि की ओर प्रयाण करता था, अपनी उपास्य इन्द्रप्रतिमा को इस संधा पर कि, वह उसे वापस लौटने पर वापस मिल जाएगी, बेच दिया करता था। देखिए !

क इमं दशाभिर्ममेन्द्रं क्रीणाति धेनुभिः *।
यदा वृत्राणि जंघनत्- अथैनं मे पुनर्ददत् ॥
—ऋक् सं० ४।२४।१०।

४०-इन्द्र प्रतिरूपतासमर्थक श्रौत प्रमाणों का विनियोग--

सम्भव है, वेदों में इतिहास न मानने वाले महानुभाव इन्द्र प्रतिरूपता के सम्बन्ध में बतलाए गए, उक्त विवेचन से सन्तुष्ट न हों। अतएव उनके सम्यक् परितोष के लिए कुछ एक ऐसे श्रौत-स्थान उन के सम्मुख रक्खे जाते हैं, जो स्पष्टरूप से प्रतिरूपविधा का समर्थन करते हुए यह प्रमाणित कर रहे हैं कि, उपासना काण्ड में आहार्य्यारोप मूला प्रत्ययालम्बनता के अतिरिक्त प्रतिरूपमूला [प्रतिकृति-प्रतिमामूला] प्रत्ययालम्बनता भी संमान्य बन रही है।

४१-"औदुम्बरण" होमानन्तर प्रयुक्त "कृष्णाजिनदीक्षा" कर्म्म के स्वरूप का निरूपण--

'औदुम्बरणहोम' के अनन्तर एक 'कृष्णाजिनदीक्षा' नामक कर्म्म होता है। यज्ञमण्डल के नियत स्थान पर बिछे हुए कृष्णमृग चर्म्म पर बैठकर यज्ञकर्त्ता यजमान दीक्षा लेता है, यही कृष्णाजिनदीक्षा है। कृष्णमृगचर्म्म पर बैठ कर वह यजमान शुक्ल, और कृष्ण लोमों की सन्धि का-'ऋक्सामयोः शिल्पे स्था' यह मन्त्र बोलता हुआ स्पर्श करता है। इस स्पर्श कर्म्म को बतलाते हुए श्रुति ने कहा है कि, यह कृष्ण-मृगचर्म्म ऋक्साम का प्रतिरूप [प्रतिकृति] है। जिसप्रकार एक शिल्पी वास्तविक पदार्थ के आधार पर तदनुरूप उस का शिल्प [मूर्त्ति] बनाता है, तथैव प्रजापति ने ऋक्साम के आधार पर कृष्णमृगचर्म्म के शुक्ल कृष्णलोमरूप शिल्प का निर्माण किया इस की सन्धि पर बैठकर दीक्षा लेना ऋक्-साम की सन्धि पर बैठकर ही दीक्षा लेना है। इसप्रकार स्पष्ट ही कृष्णमृगचर्म्मरूप प्रतिरूप के माध्यम से उस परोक्ष ऋक्साम की ओर यजमान के प्रत्यय प्रवाह की प्रामाणिकता सिद्ध होरही है। देखिए !

(१) "अथ जघनेन कृष्णाजिने पश्चात् प्राङ् जान्वाक उपविशति। स यत्र शुक्लानां च कृष्णानां च संधिर्भवति, तदेवमभिमृश्य जपति-'ऋक्सामयोः शिल्पे स्थ' इति यद्वै प्रतिरूपं, तच्छिल्पम्। 'ऋचां च प्रतिरूपे स्थ' इत्येवैतदाह"।

—शत० ३।२।१।१।

---

* धेनु उस युग का सिक्का था। गो आकृतिमत् सिक्के बनाए जाते थे, जो सुवर्ण के होते थे। इन्हीं १० धेनुओं से बेंचने का भाव प्रकट किया गया है।

४२–लक्ष्यीभूत "आत्मब्रह्मोपासना" मार्गान्तःपाति आदित्य चन्द्र वायु विद्युदाकाशादि पुरुष प्रतिरूपोपासना के कर्ता अजातशत्रु-काश्य एवं "बालाकि" उपनामरूढा प्रत्ययालम्बनता—

'बालाकि' उपनाम से प्रसिद्ध गार्ग्य इसी प्रतिरूपमूला प्रत्ययालम्बनता के पक्षपाती थे। उन्होंने ब्रह्म के प्रतिरूप आदित्यपुरुष, चन्द्रपुरुष, विद्युत्पुरुष, आकाशपुरुष, वायुपुरुष, अग्निपुरुष, अप्पुरुष, आदर्शपुरुष, दिक्पुरुष, छायापुरुष, इत्यादि प्रतिरूपों की उपासना के द्वारा अजातशत्रु-काश्य के द्वारा अन्ततो गत्वा लक्ष्यीभूत आत्मब्रह्मोपाना में सफलता प्राप्त की थी। निम्न लिखित वचन गार्ग्य की इसी प्रतिरूपमूला प्रत्ययालम्बनता का ही स्पष्टीकरण कर रहा है।

(२)–"स होवाच गार्ग्यः–ए एवायमप्सु पुरुषः, एतमेवाहं ब्रह्मोपासे इति। स होवाच अजात शत्रुः–मा मा एतस्मिन् संवदिष्ठाः, प्रतिरूप इति वाऽअहमेतमुपासे इति। स य एतमेवमुपास्ते, प्रतिरूपं हैवैनमुपगच्छति, नाप्रतिरूपम्। अथो प्रतिरूपोऽस्माज्जयते"।

—शत० १४।६।१। ब्राह्मण-८-कं०।

४३–सूर्य्य चन्द्र-विद्युदाकाश प्रभृति का आत्मब्रह्म प्रातिरूप्यनिर्वचन एवम् अजातशत्रु-काश्य द्वारा गार्ग्य-आचरित प्रतिरूपोपासनान्तर्गत तदीय भ्रान्ति का निराकरण—

तात्पर्य्य यही है कि, सूर्य्य, चन्द्रमा, विद्युत्, आकाश, वायु, अग्नि, आपः, चक्षुप्रतिबिम्बितपुरुष, दिशाएं, शब्द, छाया, ये सभी विश्वपर्व उस सर्वव्यापक हृदयावच्छिन्न अणोरणीयान्, महतोमहीयान् आत्म-ब्रह्म के ही प्रतिरूप हैं। इन में से किसी को भी प्रत्ययालम्बन बनाकार इस के माध्यम से परम्परया आत्मो-पासना बन जाती है। इन प्रतिरूपों को प्रतिरूप मानकर जो उपासना की जाएगी, वह सफल होगी। परन्तु, प्रति-रूपों को ही प्रधान लक्ष्य बना लेने से आत्मब्रह्मोपासना सफल न होगी। गार्ग्य करते थे प्रतिरूपोपासना, कहते थे-मैं ब्रह्मोपासना कर रहा हूँ। अजातशत्रु काश्य ने गार्ग्य की इस भ्रान्ति का निराकरण करते हुए उन के सामने यही सिद्धान्त रक्खा कि, गार्ग्य! जिसे तुम ब्रह्मोपासना कहते हो, वह तो प्रतिरूपोपासना है। तुम्हें 'ब्रह्मो-पासे' न कह कर–'प्रतिरूप मुपासे' ही कहना चाहिए। ब्रह्म तो उपास्य नहीं, स्वानुभवैकगम्य है, ज्ञानयोग साध्य है। उपासमा तो प्रतिरूप की ही सम्भव है। इसीप्रकार निम्न लिखित वचन भी इसी प्रतिरूपविधा का समर्थन कर रहे हैं—

(३)–"इदं वै तन्मधु (मधुविद्यारहस्यं) दध्यङ्ङाथर्वणो ऽश्विभ्यामुवाच। तदे-तदृषिः–पश्यन्नवोचत्–'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव, तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय। इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते, युक्ताह्यस्य हरयः शता दश' इति। अयं वै

हरयः, अयं वै दश च, सहस्राणि बहूनि चानन्तानि च। तदेतद् ब्रह्मापूर्व-मनपर ममनन्तमबाह्यम्। ब्रह्मसर्वानुभूः-इत्यनुशासनम्"

शत० १४।५।५।१६।

(४)-"किं देवतोऽस्यांप्रतीच्यां दिश्यसीति ?, वरुण देवत इति। स वरुणः कस्मिन्-प्रतिष्ठितः-इति ?, अप्स्विति। कस्मिन्नापः प्रतिष्ठिता भवन्ति-इति ?, रेतसीति। कस्मिन्नु रेतः प्रतिष्ठितं भवति-इति ?, हृदये-इति। तस्मादपि प्रतिरूपं जातमाहुः-हृदयादिव सृप्तः, हृदयादिव निर्म्मित इति।

—शत० १४।६।६।२३।

(५)-"यद्वै प्रजापतिरालब्धोऽश्वोऽभवत्, तस्मादश्वः प्रजापतेः पशूनामनुरूपतमः (प्रतिरूपः)। आऽस्य पुत्रः प्रतिरूपो जायते, य एवं वेद"

—तै० ब्रा० ३।६।२२।२।

(६)-"अनुरूपं शंसति। प्रजा वा अनुरूपः। तस्मात् प्रतिरूपमनुरूपंकुर्वन्ति। प्रति-रूपो हैवास्य प्रजायामाजायते, ना प्रतिरूपः। तस्मात् प्रतिरूपमनुरूपं कुर्वन्ति"—

—गो० ब्रा० उ० ३।२२।

४४-द्वादश प्राकृतिकविवर्ताधारेणाविर्भूत प्राकृतिक प्रतिरूप विधा स्वरूपों का निरूपण—

उपासनाकाण्डानुगता प्रतिरूपविधा की प्रामाणिकता का समर्थन करने वाले उक्त श्रौतवचनों के अतिरिक्त-अब इसी सम्बन्ध में कुछ एक ऐसे उदाहरण भी उद्धृत कर देना अप्रासङ्गिक न माना जाएगा, जिन से प्राकृतिक प्रतिरूपविधाओं की प्रत्ययालम्बनता भलीभांति प्रमाणित हो रही है। बतलाया गया है कि, प्रतिरूप (प्रतिकृति, प्रतिमा, चित्र) भाव प्राकृतिक, कृत्रिम भेद से दो भागों में विभक्त हैं। ईश्वरव्यापारसिद्ध प्रतिरूप प्राकृतिक हैं, एवं मानवीय कल्पनानुगत भूतयुक्त प्रतिरूप कृत्रिम हैं। वहीं यह भी स्पष्ट किया गया है कि, वर्त्तमान उपासना-काण्ड में जहां कृत्रिमप्रतिरूप-विधा का प्राधान्य है, वहां आर्षयुग (वेदयुग-देवयुग) में प्राकृतिक प्रतिरूप विधा की ही प्रधानता थी। आर्षयुग से सम्बन्ध रखने वाली प्राकृतिक-प्रतिरूप विधा के उदाहरण ही प्रकृत में बतलाए जाएँगे। उदाहरणों से पहिले यह जान लेना आवश्यक होगा कि, जिस प्राकृतिक ईश्वरीय विवर्त्त के साथ प्राकृतिक-प्रतिरूपविधाओं का सम्बन्ध है, वह ईश्वरीय विवर्त्त अधिदैवत, अध्यात्म, अधिभूत, भेद से तीन भागों में विभक्त है। तीनों में से प्रत्येक के अवान्तर ४-४ विवर्त्त हैं। सम्भूय प्राकृतिक विवर्त्त के अवान्तर १२ विवर्त्त हो जाते हैं। कुछ एक प्रतिरूप विधाओं का चतुर्धाविभक्त अधिदैवत विवर्त्त से, कुछ एक का अध्यात्म विवर्त्त से, एवं कुछ एक का अधिभूत विवर्त्तों

से सम्बन्ध है । इसी पृथिवी में हम तीनों उन प्रतिरूपविधाओं का साक्षात्कार कर सकते हैं, जिन का ईश्वरीयशिल्प से सम्बन्ध है । दूसरे शब्दों में जिन प्रतिरूपों का निम्माण साक्षात् प्रकृति ने किया है । उन में से किसी एक को माध्यम बनाते हुए प्रत्ययालम्बन द्वारा उपास्य-प्राप्ति सम्भव है । यही वास्तविक प्रतिरूपो-पासना है, जिस का स्थान साम्प्रदायिक वातावरण के कारण आज कृत्रिम प्रतिरूपों ने छीन कर उपासना-का वास्तिकस्वरूप अभिभूत कर लिया है । उदाहरण-प्रदर्शन से पहिले उन ईश्वरीय विवर्त्तो-का संक्षेप से परिचय करा देना ही आवश्यक होगा, जिन १२ प्राकृतिक विवर्त्तों के आधार पर प्राकृतिक प्रतिरूपविधाओं का आविर्भाव हुआ है । उन्ही की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है ।

१

२–आधिदैविक प्रतिरूपविद्या-(४)

४५–सप्तव्याहृति समष्टिरूप-रोदसी-क्रन्दसी-संयती-त्रैलोक्य समतुलित-सप्तवितस्तिकाया-त्मक पाञ्चभौतिक महाविश्व का ईश्वर प्रातिरूप्य, सूर्य्य चन्द्रादि आधिदैविक प्रति-रूप, एवं प्रत्यक्षदृष्ट विश्व की प्रतिरूपविधोपपत्ति—

बात थोड़ी सूक्ष्म, किन्तु समझ ने में सहजसी है । भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्, इन सातव्याहृतियों की समष्टिरूप, रोदसी-क्रन्दसी–संयती–इन तीन त्रैलोक्यों से समतुलित, सप्तवितस्तिकाया-त्मक, महामायावच्छिन्न, प्रत्यक्षदृष्ट, पाञ्चभौतिक, महाविश्व ही आधिदैविक ईश्वर का प्रतिरूप है । चक्षु-ताराप्रवर्त्ती जिस चाक्षुष-इन्द्रियप्राण से हम सूर्य्य–चन्द्र–ग्रह–नक्षत्र-पृथिवी–आकाश–सरिता–समुद्र–आदि आदि विविधभावाक्रान्त महाविश्व का साक्षात् कार कर रहे हैं, यही आधिदैविक प्रतिरूप है, जिसे हम ईश्वर का प्रतिरूप कहेंगे । प्रतिरूप का अर्थ है प्रतिकृति, प्रतिकृति का अर्थ है–प्रतिमा, प्रतिमा का अर्थ है आदर्श (असल) के अनुरूप बनी हुई प्रतिकृति (नकल) । प्रश्न होता है कि, जिस महाविश्व का हम साक्षात् कार कर रहे हैं, जिस के सूर्य्य-चन्द्रादि पर्वों का प्रत्यक्ष दर्शन हो रहा है, वह तो आदर्श ही है । यही तो ईश्वर का वास्तविकस्वरूप है । फिर इसे प्रतिरूप (नकल) कैसे माना गया ? प्रत्यक्षदृष्टविश्व आधिदैविक आदर्श है, न कि प्रतिरूप । प्रत्यक्षदृष्ट विश्व के स्वरूप के आधार पर यदि पाषाणप्रतिमावत् अलग से कोई विश्व प्रतिमा बनती, तो उसे अवश्य ही प्रतिरूप माना जा सकता था । परन्तु विश्व के गर्भ में ऐसा कोई आधिदैविक–प्राकृतिक विश्वप्रतिरूप–जिस के गर्भ में विश्ववत् सूर्य्य चन्द्रादि के प्रतिरूप भी प्रतिष्ठित हों–अनुपलब्ध है, अतएव महाविश्व को प्रतिरूप विधा का उदाहरण नहीं माना जा सकता ।

४६–साक्षात्करणीय प्रतिरूप महाविश्व, आदर्श-विश्व-प्रत्यक्ष की असम्भूति, तदर्थ उदाहरण एवं "परोक्षप्रिया इव देवाः प्रत्यक्षद्विषः" का तात्पर्य्य-स्पष्टीकरण –

विप्रतिपत्ति का निराकरण करते हुए वैज्ञानिक समाधान करते हैं कि, जिस महाविश्वका हमें साक्षात्कार होरहा है, वही प्रतिरूप है। आदर्शात्मक विश्व का तो हमें कभी प्रत्यक्ष हो ही नहीं सकता। जिस के लिए एक ही उदाहरण पर्य्याप्त होगा। हम सूर्य्य को देखते हैं, और यह समझ बैठते हैं कि, हम वास्तविक (आदर्श) सूर्य्य को देखरहे हैं। हमारे देखे हुए, किंवा दीखाई देने वाले सूर्य्य का आकार है अधिक से अधिक ६–७ अङ्गुलव्यासात्मक। क्या वास्तविकसूर्य्य का आकार एतावन्मात्र ही है ? विज्ञानदृष्टि कहती है–सूर्य्यगोलक भूगोलक से कई सहस्रगुणित बृहत् है। वही सूर्य्य का वास्तविक आकार है। वही वास्तविक सूर्य्य है। क्या आप इसी बृहत् सूर्य्य को देख रहे हैं ? मानलेना पड़ेगा कि, जिसे देख रहे हैं, वह वास्तव में वास्तविकसूर्य्य से भिन्न, किन्तु उसका प्रतिरूप है। चाक्षुषधरातल पर वास्तविकसूर्य्य के आधार पर रश्मिद्वारा जो सूर्य्यप्रतिमा प्रतिष्ठित (प्रतिफलित) होगई है, उस अपने ज्ञानीय–ज्ञानात्मक–काल्पनिक–सूर्य्य के आधार पर ही हमें सूर्य्यदर्शन का अभिमान हो रहा है। प्रतिरूपात्मक सूर्य्य का ही हमारी दृष्टि से सम्बन्ध है। महाविश्व के एक छोटे से अवयव सूर्य्य का भी जब हम प्रतिरूप ही देख सकते हैं, देखते हैं, तो उस महाविश्व को कैसे दृष्टिका विषय माना जासकता है, जिसके गर्भ में अनन्त-सूर्य्य, चन्द्रमादि प्रतिष्ठित हैं। आदर्शात्मक महाविश्व (वास्तविक) ईश्वर का अन्तर्जगत् है, वही हमारे लिए बहिर्जगत् है। बहिर्जगत् के आधार पर निर्मित हमारे ज्ञानीय अन्तर्जगत् का ही हमें प्रत्यक्ष होरहा है। हम जिस महाविश्व को देख रहे हैं, वह हमारी ज्ञानीय कल्पना है। ज्ञानीयकल्पना कृत्रिम नहीं, अपितु प्राकृतिक है। स्वतः एव ज्ञान तदाकार में परिणत होरहा है। हम जोकुछ देखते, सुनते, सुनाते हैं, सब प्रतिरूप है। इसी आधार पर–'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। 'यह सूर्य्य है, यह चन्द्रमा है', इत्यादिरूप से जिन विश्वपर्वों की ओर हम सङ्केत करते हैं, वे वास्तव में उन उन सूर्य्य–चन्द्रादि के प्रतिरूप ही हैं, जो केवल हमारे प्रातिस्विक अन्तर्जगत (ज्ञानीयजगत्) में ही भुक्त हैं, गर्भीभूत हैं। इसी आधार पर–'तदस्यरूपं-प्रतिरूपं-प्रतिचक्षणाय' कहा जाता है। इसी आधार पर श्रुति ने सिद्धान्त स्थापित किया है कि–'परोक्षप्रिया इव हि देवाः, प्रत्यक्षद्विषः'। 'इव' का तात्पर्य्य स्पष्ट है। प्रतीयमान प्रतिरूपों में विशुद्ध कल्पना ही नहीं होती। अपितु यह कल्पना सत्य–आदर्श के आधार पर प्रतिष्ठित है, अतएव इसे सर्वथा परोक्ष न कह कर परोक्षवत् ही कहा जाएगा। इस प्रकार यह मान लेना पड़ता है कि, जिस महाविश्व को हम देख रहे हैं वह वास्तविक–आदर्श–आधिदैविक ईश्वर नहीं है, अपितु वास्तविक आदर्श–आधिदैविक ईश्वरस्वरूप के आधार पर आधिदैविक ज्ञान से कल्पित आधिदैविक ईश्वर का प्रतिरूप है।

४७-आधिदैविक प्रतिरूपालम्बन परम्परया गतार्था सत्यविश्वेश्वरोपासना, आधिदैविकेश्वराजस्रचर्वणया तद्भावना का अध्यात्मसमावेश, एवं च महाविश्वात्मकाधिदैविक प्रतिरूप माध्यमेन समष्ट्यात्मक विश्वेश्वरोपासना की सम्भवता का निरूपण—

इस आधिदैविक प्रतिरूप को आलम्बन बनाने से परम्परया तत्समतुलित सत्य-वास्तविक-आदर्शात्मक विश्वेश्वर की उपासना गतार्थ बन जाती है। हमारे ज्ञान में प्रतिरूप-रूपसे प्रतिष्ठित आधिदैविक ईश्वर की अजस्रचर्वणा से कालान्तर में तद्भावना (परोक्ष-ईश्वरभावना) का अध्यात्म में समावेश होजाता है। इस प्रकार महाविश्वरूप ईश्वर-प्रतिरूप (आधिदैविक-प्रतिरूप) को माध्यम बनाकर समष्टिरूप से समष्ट्यात्मक विश्वेश्वर की उपासना सम्भव बनाई जासकती है, जिसके अधिकारी विरले ही हुआ करते हैं। यही उपासना की सर्वोच्च दृष्टि है। सर्वत्र सब में-प्रतिरूप-प्रत्ययों में ईश्वरभावना करना ज्ञानयोगात्मिका-समानप्रत्ययप्रवाहरूपानिर्गुणोपासना ही मानी गई है, जिसका 'उपासनालक्षण निर्वचन' प्रकरण में विश्लेषण किया जाचुका है।

४८-महामायावच्छिन्न ईश्वर, योगमायावच्छिन्न जीव, प्रजापति के दो एवम् माया के तीन (ब्रह्म-विष्णु-शिव-मायात्मक) विवर्तों का उपबृंहण—

आत्मा, शरीर, दोनों की समष्टि ही ईश्वर है, उभय समष्टि ही जीव है, अतएव इन्हें अपनी परिभाषा में 'विशिष्ट' (शरीरविशिष्ट आत्मा, अथवा आत्मविशिष्ट शरीर) नाम से व्यवहृत करेंगे। महामायात्मकपुर से वेष्टित आत्मा ईश्वर है, योगमायात्मकपुर से वेष्टित आत्मा जीव है। ईश्वर महामायावच्छिन्न है, जीव योगमायावच्छिन्न है। महामायात्मकमहाविश्व ईशात्मा का शरीर है, योगमायात्मक स्वस्थशरीर जीवात्मा का विश्व है। महाविश्व उसका शरीर है, तो हमारा शरीर हमारा (जीवात्मा का) विश्व है। इस प्रकार महामाया, योगमायाभेद से शरीरविशिष्ट आत्मन्वी प्रजापति के ईश्वर-प्रजापति, जीवप्रजापति, ये दो विवर्त्त होजाते हैं। महामाया ब्रह्ममाया है, योगमाया विष्णुमाया है, एवं दोनो से अतिरिक्त तीसरी भूतमाया शिवमाया है। ब्रह्ममाया का आधिदैविक ईश्वर विवर्त्त से, विष्णुमाया का आध्यात्मिक जीव विवर्त्त से, एवं शिवमाया का आधिभौतिक भूत विवर्त्त से सम्बन्ध है। भूत का स्वरूप प्रत्यक्ष होने से विदित है, जीव का स्वरूप अप्रत्यक्ष होने से अविदित है। तीसरा ईश्वरविवर्त्त विदितभूत, अविदितजीव, दोनों से अतीत है*।

---

* "अन्यदेव तद्विदितात्, अथो अविदितादधि।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे ॥" तलवकारोपनिषत्।

भूतपति शिवतत्त्व से सञ्चालित विदित भूतविवर्त्त की प्रतिष्ठा अव्ययाक्षरगर्भित–क्षरतत्त्व है। देवपति विष्णु-तत्त्व से सञ्चालित अविदित जीवविवर्त्त की प्रतिष्ठा क्षराव्ययगर्भित–अक्षरतत्त्व है। चित्प्रति ब्रह्मतत्त्व से सञ्चालित विदिताविदितातीत ईश्वरविवर्त्त की मूलप्रतिष्ठा क्षराक्षरगर्भित–अव्ययतत्त्व है। अव्ययात्मप्रधान, महामायावच्छिन्न ईश्वरतत्त्व ही आधिदैविकविवर्त्त है। अक्षरात्मकप्रधान, योगमायावच्छिन्न जीवतत्त्व ही अध्यात्मिकविवर्त्त है। एवं क्षरात्मप्रधान, भूतमायावच्छिन्न भूततत्त्व ही आधिभौतिकविवर्त्त है।

४६–उक्त त्रिविवर्ताधारेणैव प्रतिरूपविधा का विश्लेषण, सृष्टि के चेतन अर्धचेतन, अचेतनात्मक विवर्त, सत्व-रजस्तमोगुणात्मक सर्ग, एवम् ब्रह्म, प्रजापति, पितर, इन्द्र गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पिशाच इन अष्टविवर्तों का निरूपण—

इन उक्त तीन विवर्त्तों के आधार पर ही हमें प्रतिरूपविधा का विश्लेषण करना है, अतएव तीनों का प्रासङ्गिक स्पष्टीकरण कर दिया है। इन तीनों ईश्वर–जीव-भूत–विवर्त्तों में से ईश्वर, जीव, ये दो विवर्त्त तो आत्मन्वी (आत्मा–शरीरविशिष्ट–विशिष्टतत्त्व–प्रजापति) मानें जाएँगे। तीसरा भूतविवर्त्त आत्मज्योति के आत्यन्तिक अभिभव से केवल 'पशु' (अनात्मजत्त्व) कहलाएगा, जिसके सम्बन्ध से भूतपति पशुपति भी कहलाए हैं। इसप्रकार तीनों विवर्त्तों को चेतनविवर्त्त, अचेतनविवर्त्त, इन दो भागों में विभक्त किया जासकेगा। चेतनईश्वर चेतनजीव, दोनों से अतिरिक्त तीसरे अचेतन भूतवर्ग में ही चेतना के आंशिक अन्तर्विकास से एक अर्द्धचेतनसृष्टि का विकास और होता है। उन्हें ही 'अन्तःसंज्ञा' कहा जाता है। इसप्रकार अन्ततोगत्त्वा चेतन अर्द्धचेतन, अचेतन, ये तीन विवर्त्त होजाते हैं। चेतन ईश्वर का विभाग स्वतन्त्र है। चेतन जीव, अर्द्धचेतन भूत (वृक्षादि), अचेतन भूत (पाषाणादि) तीनों का एक स्वतन्त्र विभाग है। चेतन ईश्वर विशुद्धसत्त्व से सम्बन्ध रखता है। चेतनजीव का मलिनसत्त्वानुगत रजोगुण से अर्द्धचेतन भूत का रजोमिश्रित तमोगुण से, तथा अचेतन भूत का तमोगुण से सम्बन्ध माना गया है। चेतन ईश्वर के ये तीन ही प्रधान सर्ग हैं। चेतनसर्ग ससंज्ञ है, अर्द्धचेतनसर्ग अन्तःसंज्ञ है, अचेतनसर्ग असंज्ञ है। ससंज्ञचेतनसर्ग के देवयोनि, भूतयोनि भेद से दो विवर्त्त हैं। देवयोनिसर्ग में सत्त्वमात्रा विकसित है, अतएव यह ऊर्ध्वस्थ सत्त्वविशालसर्ग कहलाया है, जिसके– ब्रह्म, प्रजापति, पितर, इन्द्र, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पिशाच, ये आठ विवर्त्त माने गए हैं, एवं जिन में ११ मानवेन्द्रियों के अतिरिक्त अणिमा–महिमादि आठ सिद्धियाँ ६ तुष्टियाँ सम्भूय १८ ऐन्द्रियक भाव और रहते हैं। भूतयोनिसर्ग में रजोमात्रा विकसित है। अतएव यह मध्यस्थ रजोविशाल सर्ग सर्ग कहलाया है, जिस के मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, कृमि, ये पांच विवर्त्त हैं। इस प्रकार ससंज्ञ चेतनसर्ग, के अष्टविध देवयोनि, पञ्चविध भूतयोनि भेद से १३ विवर्त्त होजाते हैं। अन्तःसंज्ञ अर्द्धचेतनसर्ग एवं असंज्ञ अचेतनसर्ग दोनों भूतसर्ग तमोगुणातिशय से मूलस्थ तमोविशालसर्ग कहलाए हैं, जिस का 'स्तम्ब' रूपों से एक ही विवर्त्त में संग्रह मान लिया जाता है। यही चौदहवां भूतसर्ग है। यही प्राधानिक शास्त्र का 'चतुर्दशविधोभूतसर्गः' है। जिस का अन्यत्र (शतपथ प्रथमवर्ष में) विशद वैज्ञानिक विवेचन हुआ है। प्रतिपादित त्रिरत्नपाद का निम्न लिखित तालिकाओं से भलीभांति स्पष्टीकरण होजाता है।

१	२	३
ब्रह्मानुगता–महामाया	विष्ण्वनुगता–योगमाया	शिवानुगता–भूतमाया
महामायी–ईश्वरः	योगमायी–जीवः	भूतमायी–विश्वम्
आधिदैविकविवर्त्तम्	आध्यात्मिकविवर्त्तम्	आधिभौतिकविवर्त्तम्
ईश्वरः	जीवाः	भूतानि

विदिताविदितातीतप्रपञ्चः स्वानुभवैकगम्यः	अविदितप्रपञ्चः परोक्षः	विदितप्रपञ्चः प्रत्यक्षः
चित्पतिर्ब्रह्मासञ्चालकः	देवपतिर्विष्णुःसञ्चालकः	भूतपतिर्शिवः सञ्चालकः
क्षराक्षरगर्भितोऽव्ययःप्रतिष्ठा	क्षराव्ययगर्भितोऽक्षरःप्रतिष्ठा	अव्ययक्षरगर्भित क्षरःप्रतिष्ठा
आत्मन्वीप्रजापतिः १–आत्मा २–शरीरम् —विशिष्टः	आत्मन्वीप्रजापतिः १–आत्मा २–शरीरम् —विशिष्टः	पशुः–नात्मन्वी शरीरमेव नात्मा —अविशेषः
चेतनः	चेतनः	अचेतनः

विशुद्धसत्त्वः–ईश्वरः (१)

चेतनः–आत्मन्वी १

अचेतनः २

१–चेतनसर्गः (१)

(२) १-अर्द्धचेतनसर्गः (अन्तसंज्ञः)
(३) २-अचेतनसर्गः (असंज्ञः)

१

१–देवयोनिसर्गः सत्त्वविशालः ८			२–भूतयोनिसर्गः रजोविशालः ५	
(१)	१–ब्रह्मा (१)	(१)	१–मनुष्याः (१)	
(२)	२–प्रजापतिः (२)			
(३)	३–पितरः (१)	(२)	२–पशवः (१)	
(४)	४–इन्द्रः (२)		३–पक्षिणः (२)	
(५)	१–गान्धर्वः (१)	(३)	४–कीटाः (१)	
(६)	२–यक्षः (२)		५–कृमयः (२)	
(७)	३–राक्षसः (१)		ससंज्ञाः १३	
(८)	४–पिशाचः (२)			

चतुर्दशविधोभूतसर्गः

५०-ईश्वर-जीव-भूत-प्रतिरूपान्वयी उपासना मार्ग के अधिदैवताधिभूताध्यात्म प्रत्ययालम्बनात्मक तीन भाग, एवं अधिदैवत प्रत्ययालम्बनता के उदाहरण का उपक्रम—

प्रदर्शित परिलेखानुसार प्रकृतिसिद्ध ईश्वर, जीव, भूत, तीनों के प्रतिरूपों से सम्बन्ध रखने वाले उपासनामार्ग आधिदैवतप्रत्ययालम्बनता, अध्यात्मप्रत्ययालम्बनता, अधिभूतप्रत्ययालम्बनता, भेद से तीन भागों में विभक्त किया जासकता है। तीनों में से अधिदैवत–प्रत्ययालम्बनता से सम्बन्ध रखने वाला उदाहरण प्रक्रान्त है। परिलेख की ३ री पीठिका में भूतसर्ग के वृक्षादि अर्द्धचेतनसर्ग, पाषाणादि अचेतनसर्ग भेद से दो विवर्त्तों का उल्लेख हुआ है। प्रथमपीठिका से सम्बन्ध रखने वाले आधिदैविक ईश्वरविवर्त्त को चेतनविवर्त्त बतलाया गया है। इस आधिदैविक चेतन विवर्त्त के भी आधिभौतिक–अर्द्धचेतन, अचेतन, भेदों की भाँति दो विवर्त्त होजाते हैं। समष्टिरूप से आत्मन्वी को प्रत्ययालम्बन बनाना चेतन आधिदैविक की उपासना है। आधिदैविक चेतन–ईश्वरपुरुष के चिदनुग्रह से स्व–स्व कर्म्म में सर्गारम्भ से लयपर्य्यन्त अवधानपूर्वक नियुक्त रहने वाले सूर्य्य–चन्द्र–ग्रह–नक्षत्रादि ईश्वरावयवों के प्रतिरूपों को माध्यम मानना अचेतन आधिदैविक प्रत्ययलम्बन का आश्रय लेना है।

५१–आधिकारिक ईश्वर की उत्पत्ति-स्थिति-संहृति-अधिकारनियुक्ति, अधिकार समूहनानन्तर मायाबल ग्रन्थिविमोक एवम् आधिकारिक ईश्वर का महासत्ताऽन्तर्लीनत्व—

समष्ट्यात्मक आधिदैविक विवर्त्त चेतनविवर्त्त है, यही आधिकारिक ईश्वरात्मा है। 'यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्' के अनुसार जबतक अनन्तशक्तिघन–सर्वबलविशिष्टरसैकघन–मायातीतनिष्कल–निर्गुण–निरञ्जन–विश्वातीत परात्पर के महामायाबलाधिकार से प्रेरित महामायावच्छिन्न सगुणेश्वर जबतक स्वविश्व के उत्पत्ति–स्थिति–भङ्गभावों के अधिकार में नियुक्त रहता है, तबतक उसकी विश्वेश्वररूप से स्थिति है। अधिकार समाप्त्यनन्तर जिस दिन मायाबलग्रन्थि–विमोक होजाता है, ईश्वरसत्ता उस महासत्ता (अत्यन्तपिनद्धा परात्परसत्ता) में विलीन होजाती है। अपनी इसी विश्वाधिकारमर्य्यादा से मायामय ईश्वर को आधिकारिक-ईश्वर कहा जासकता है। इसकी उपासना करना एक दृष्टिकोण है, जिसका पूर्व में स्पष्टीकरण हुआ है।

५२–सूर्य्य-चन्द्र-ग्रहादि का आधिकारिक अचेतन जीवत्व, व्यष्टिरूप प्रत्ययालम्बनार्थ "आदित्यमुद्गीथ मुपासीत" इत्यादि श्रुतिव्याहृतिसङ्गत सूर्यादि उपासना, एवम् आर्षधर्म्मानुगत देवोपासना स्वरूपोपबृंहण—

इस आधिकारिक चेतन ईश्वर के गर्भ में प्रतिष्ठित अवयवरूप सूर्य्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्रादि जड़ पदार्थ भी आधिकारिक ही हैं। जिसप्रकार परात्पर द्वारा प्राप्त महामायानुगत विश्वाधिकार से ईश्वर आधिकारिक बन रहा है, एवमेव इस आधिकारिक ईश्वर के द्वारा प्राप्त योगमायानुगत तत्तद्विशेषाधिकारों से सूर्य्य–चन्द्रादि भी आधिकारिक ही बन रहे हैं। सूर्य्य–चन्द्रादि किसी कर्म्मभोग के लिए उत्पन्न नहीं हुए है। अपितु ईश्वरीय विश्वकर्म्म में सहायकमात्र है। तत्तद्विशेषाधिकारिक कर्म्मों में अवधानपूर्वक संलग्न रहने वाले ये सूर्य्यादि

सर्गसमाप्त्यनन्तर, अधिकारसमाप्त्यनन्तर, अधिकारसमर्पक ईश्वर में ही लीन होजाते हैं। क्यों कि, ये अचेतन हैं, जड़ हैं, ईश्वरनिर्देश से सञ्चालित हैं, अतएव इन आधिदैविक सूर्य्यादि पर्वों को हम 'आधिकारिक अचेतनजीव' कहेंगे। इस प्रकार समष्टि, व्यष्टिरूप से आधिदैविक ईश्वर विवर्त्त के आधिदैविक आधिकारिक चेतन ईश्वर, आधिदैविक आधिकारिक अचेतन जीव, ये दो विवर्त्त होजाते हैं। जिनका मन समष्टि (ईश्वर) के प्रतिरूप को प्रत्ययालम्बन बनाने में असमर्थ है, वे व्यष्टिरूप सूर्य्य–चन्द्रादि–अचेतन–आधिकारिक–ईश्वर-के प्रतिरूपों में से किसी एक को प्रत्ययालम्बन बनाते हुए भी परम्परया उपासना में सफल होसकते हैं। 'आदित्ययुद्गीथ मुपासीत'–''पञ्चविधं–सामोपासित'–'आदित्ये-चन्द्रे–विद्युति–आकाशे–वायौ–अग्नौ–अप्सु–उपासते, य एवमुपासते–प्रतिरूपं–हैवैनयुपगच्छति' इत्यादि श्रुतियां इसी व्यष्टिलक्षण आधिदैविक–प्रतिरूपालम्बनता का स्पष्टीकरण कर रही हैं। यही आर्षधर्म्मानुगता देवोपासना है। इस प्रकार ईश्वरप्रतिरूपप्रत्ययालम्बनता, देवप्रतिरूपप्रत्ययालम्बनता, भेद से आधिदैविक–प्राकृतिक प्रतिरूपों के माध्यम से आधिदैविक प्रतिरूप के दो विवर्त्त होजाते हैं। ध्यान रहे, इन दोनों ही आधिदैविक प्रतिरूपविधाओं में मानवीयमन से कल्पित भूतानुगत प्रतिमादि कृत्रिम प्रतिरूपों का कोई सम्बन्ध नहीं है। अपितु ईश्वरीय अन्तर्जगत् के आधार पर दृष्टि द्वारा स्वतः विनिर्मित ज्ञानीय प्रतिरूप ही यहाँ प्रतिरूपविधा से संग्राह्य हैं। आर्षयुग में एवंविध प्राकृतिक प्रतिरूप का ही प्राधान्य था, जबकि अधिकारी भेद से अन्य कृत्रिम प्रतिरूप (भौतिकप्रतिमा) भी अंशतः संग्राह्य थे। आर्षयुग के मनुष्यों द्वारा होने वाली इन्द्रप्रतिमोपासना, आर्षपुरुष भगवान् रामद्वारा होने वाली शिवप्रतिमोपासना, महाराजसुरथ, महाभाग समाधि वैश्य द्वारा होने वाली मृण्मयी–शक्तिप्रतिमोपासना, दैविक प्रवर्ग्ययाग (घर्म्मयाग) से सम्बन्ध रखने वाली वल्मीकमृत्तिकामयी महावीरोपासना, आदि उपासना–माध्यम कृत्रिम प्रतिरूपों के माध्यम भी सर्वात्मना समर्थन कर रहे हैं। यह तो मानना पड़ेगा कि, आर्षयुग में क्षत्रिय, वैश्यों को छोड़कर वेदवित् ब्राह्मणवर्ग में, ऋषिसम्प्रदाय में तो प्राकृतिक प्रतिरूपों को ही प्रधानतया प्रत्ययालम्बन माना जाता था, जो कि तत्कालीन–मान्यता तद्युगीय ब्राह्मण–ऋषियों के प्रवृद्धतम ज्ञानक्षेत्र के अनुरूप ही थी। आधिदैविकप्रतिरूपविधा के उक्त दो विवर्त्तों के अनन्तर इसी के सम्बन्ध में एक अन्य दृष्टिकोण पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जाता है।

५३–भारतीयोपासनापथान्तःपातिवैचित्र्यपरिज्ञानार्थ आवश्यक प्रकृति रहस्य ज्ञान एवम् अद्वैतवाद निष्ठा प्रतिष्ठित उपासनाकाण्ड के अनुयायी भारतीयों की त्रिविध देवोपासना के वैचित्र्य का समन्वय—

भारतीय उपासना मार्ग की अनेकाङ्गता, उपास्यों के विविधरूपों का अनुगमन, माध्यमों का स्वरूप–विभेद, सभीकुछ प्रकृति से सम्बन्ध रख रहे हैं। फलतः जबतक प्रकृति के उन रहस्यपूर्ण भेदों का सम्यक्–परिज्ञान प्राप्त नहीं कर लिया जाता, जबतक भारतीय उपासनामार्गके वैचित्र्य का समन्वय असम्भवही बना रह जाता है। अनेकविध उपास्य, उपासनामार्गों को देख–सुन कर नीर–क्षीर विवेकियों को भारतीयों की एकेश्वरभावना में सन्देह होने लगता है। और उनका यह सन्देह आगे जाकर इस निष्कर्ष का जन्मदाता बन बैठता है कि, आरम्भ में भारतीयों को एकेश्वरवाद का बोध ही न था। अपितु अपनी प्रारम्भिक दशा में वे

अग्नि-वायु-सूर्य्य-ओषधि-वनस्पति-धातु-आदि जड़ पदार्थों को ही देवता मानते हुए इनकी उपासना किया करते थे। भारतीय रहस्यात्मक परिभाषाज्ञानलव से भी परिचय न रखने वाले इन नीरक्षीर विवेकियों को सम्भवत: यह जानने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ कि, हमारा समस्त उपासनाकाण्ड एकेश्वरवाद की, अखण्ड आत्मवाद की, दूसरे शब्दों में अद्वैतवाद की अभेदशिला पर ही प्रतिष्ठित है। उपासना के जितने भी अवान्तर प्रतिरूपों का शास्त्र में निरूपण हुआ है, सबके मूलमें वही आत्मभावना निहित है। अद्वैतभावना-विरहिता देवोपासना की पदे पदे निन्दा हुई है, अद्वैतभावनात्मिका देवोपासना का संग्रह हुआ है। लक्ष्य सब प्रतिरूपों का एक है, अधिकारी की योग्यता के भेद से माध्यम भिन्न भिन्न है *। प्रत्ययालम्बन भिन्न हैं, प्रत्यय प्रत्ययत्त्वेन समान है, और उस समानप्रत्यय प्रवाहलक्षणा उपासना का प्रधान-अन्तिम-लक्ष्य-आत्म-देवता, किंवा एकेश्वर ही हैं। एकत्वानुगत अनेकत्वानुगमन ही तो भारतीय उपासनाकाण्ड की वह प्राकृतिक विशेषता है, जिसका अन्यत्र ऐकान्तिक अभाव ही है। माध्यम प्रतिरूपों के साथ साथ ही पदे पदे उसी अद्वैतभावना का समावेश हुआ है। वही वास्तविक उपासना है, जिसके मूल में एकत्वभावना निहित है। प्रकृतिभेदभिन्न विषमवर्त्तन, आत्माभेदाभिन्न समदर्शन ही तो यहाँ का प्रधान पुरुषार्थ है। समदर्शन जहाँ अद्वैतमूलक है, वहाँ विषमवर्त्तन प्रकृतिमूलक है। दोनों विरुद्धभावों का एकत्र जैसा आश्चर्य्यकर समन्वय महर्षियों ने किया है, वैसा अन्यत्र उपलब्ध है। किसी ने भेदात्मक संसार का तिरस्कार किया है, किसी ने इसी को प्रधान लक्ष्य बनाया है। परन्तु यहाँ तो इस नानाभाव के साथ साथ ही एकत्व की उपासना हुई है। 'भेदवादसहिष्णु-अभेदवाद' ही हमारे उपासनाकाण्ड का सर्वोत्कर्ष, किंवा अनन्योत्कर्ष है। नानादर्शन जहांघातक है, वहां-समदर्शन आत्मविकास का हेतु है। दर्शनसमान हो, वर्त्तन नानाहो, तो वह नानावर्त्तन-दर्शनसमानता से अमृतलक्षण आत्मप्राप्ति का भी कारण बन जाता है, साथ ही नानावर्त्तन से लोकमर्य्यादा का ही संरक्षण होजाता है। विषमवर्त्तन को जो अनेकता से युक्तदेखता है, दूसरेशब्दों में जिसका पृथग्वर्त्तन नानादर्शन से युक्त होजाता है, उस का मृत्युभाव (नानानुवर्त्तन), अमृतभाव (ऐकत्त्वदर्शन) से वञ्चित रहता हुआ विशुद्ध मृत्युभाव का ही प्रापक बना रहजाता है। अतः मृत्युलक्षण नानानुवर्त्तन के साथ साथ अमृतलक्षण एकत्त्वदर्शन को सुरक्षित रखना चाहिए। निम्नलिखित श्रुतियाँ इसी ज्ञान-कर्म्म, आत्मा-शरीर, अमृत-मृत्यु, सत्-असत्, अमूर्त्त-मूर्त्त, उपास्य-तत्प्रतिरूप, के समन्वयभाव का ही समर्थन कर रही हैं—

१-तदेजति (भूतनुवर्त्तनेन), -तन्नैजति (आत्मदर्शनेन)।
तद्दूरे (भूतानुवर्त्तनेन),-तद्वन्तिके (आत्मदर्शनेन)।
तदन्तरस्यसर्वस्य (भूतानुवर्त्तनेन), तदुसर्वस्य बाह्यतः (आत्मदर्शनेन)॥

२-यस्तु सर्वाणि भूतानि, आत्मन्येवानु पश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मनं, ततो न विजुगुप्सते॥

---

* रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिलनानापथजुषाम्।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥ महिम्नः स्तोत्रम्।

३–यस्मिन्त्सर्वाणि भूतानि–आत्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥

४–सम्भूतिं च (आत्मदर्शनंच), विनाशं च (भूतानुवर्त्तनंच) यस्तद्वेदो भयंसह (सम-दर्शनानुगत विषम वर्त्तनेन)–विनाशेन (भूतानुवर्त्तनेन) मृत्युं तीर्त्वा, सम्भूत्या (आत्मदर्शनेन) अमृतमश्नुते ॥

—ईशोपनिषत्–५,६,७,१४ ।

५–यद्वाचा मनसा–चक्षुषा–श्रोत्रेण–प्राणेन–अनभ्युदितं, न मनुते, न पश्यति, न शृणोति, न प्राणिति (अपितु) येन–वाक् मनः–चक्षूंषि–श्रोत्रं–प्राणः–अभ्युद्यते, मतम्, पश्यति, श्रुतं, प्रणीयते,—
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि–नेदं यदिदं (प्रतिरूपं) उपासते ॥

—तलवकारोपनिषत्–१ खण्ड । ४,५,६,७,८, ।

६–प्रतिबोध–(प्रति–प्रतिरूप)–विदितंमतं–अमृतत्वं हि विन्दते ।
आत्मना विन्दते वीर्य्यं, विद्यया (समदर्शनेन) विन्दतेऽमृतम् ॥

७–इह चेत्–अवेदीत्, अथ सत्यमस्ति । न चेदिहावेदीत्–महती विनष्टिः ।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥

—तलवकारोपनिषत २ खं० ४।५।

८–मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन ।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ।

—कठोपनिषत् ४।११

९–अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥

—कठोपनिषत ५।९

१०–तदेव शुक्रं (विकृतिः), तद्ब्रह्म (प्रकृतिः), तदेवामृतं (पुरुषः) उच्यते ।
तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे, तदुनात्येति कश्चन–एतद्वै तत् ॥

—कठोपनिषत्–५।८।

११-यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः ।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ अमृतस्यैष सेतुः ॥

—मुण्डकोपनिषत् ३।१।५।

१२-एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य्य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः ।
प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति सञ्चुकोचान्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः ॥

१३-विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् ।
सं बाहुभ्यां धमति, सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥

—श्वेताश्वतरोपनिषत् ३।२,३, ।

१४-य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वाँल्लोकानीशत ईशनीभिः ।
य एवैक उद्भवे सम्भवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥

—श्वे० ४।१

१५-य एको वर्णो बहुधा शक्तियोगाद् वर्णाननेकान् निहितार्थोदधाति ।
वि चैति चान्ते विश्वमादौ स देवः सनो बुद्ध्या शुभया संयुनक्त ॥

—श्वे० ४।१

१६-प्रजापतिश्चरसि गर्भे, त्वमेव प्रतिजायसे ।
तुभ्यं प्राणः प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति, यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि ॥

१७-देवानामसि वह्निसमः, पितृणां प्रथमा स्वधा ।
ऋषीणां चरितं, सत्यमथर्व्वाङ्गिरसामसि ॥

१८-इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा, रुद्रोऽसि परिरक्षिता ।
त्वमन्तरिक्षे चरसि, सूर्य्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः ॥

१९-यदा त्वमभिवर्षस्यथेमाः प्राण । ते प्रजाः ।
आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायान्नं भविष्यति ॥

२०–व्रात्यस्त्वं प्राणैकऋषिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः ।
वयमाद्यस्य दातारः पितात्वं मातरिश्वनः ॥
—पिप्पलादोपनिषत् २ प्रश्न, ।७,८,९,१०,११, ।

२१–एको हंसो भुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्निः सलिले सन्निविष्टः ।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥
—श्वे० ६।१५।

२२-तदेवाग्नि, स्तदादित्य, स्तद्वायु, तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं, तद्ब्रह्म, तदाप, स्तत् प्रजापतिः ॥

२३–त्वं स्त्री, त्वं पुमानसि, त्वं कुमार, उत वा कुमारी ।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि, त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥

२४–नीलः, पतङ्गो, हरितो, लोहिताक्ष, स्तडिद्गर्भ, ऋतवः, समुद्राः ।
अनादिमत्त्वं विभुत्वेन वर्त्तसे यतो जातानि भुवनानि विश्वा ॥
—श्वे० ४।२,३,४, ।

२५–एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धः, एकः सूर्य्यो विश्वमनुप्रभूतः ।
एकैवोषाः सर्वमिदं विभाति, 'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्' ॥
ऋक् सं०

२६–इन्द्रं, मित्रं, वरुण, मग्नि, माहु-रथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति–अग्निं, यमं, मातरिश्वानमाहुः ॥
—ऋकसं० १।१६४।४६ ।

२७–तिस्रो मातृस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेकं ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमवग्लापयन्ति ।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वमिदं वाचमविश्वमिन्वाम् ॥
—ऋक्सं० १।१६४।१०।

२८–षड्भाराँ एको अचरन् बिभर्त्यृतं वर्षिष्ठमुप गाव आगुः ।
तिस्रो महीरुपरास्तस्थुरत्या गुहा द्वे निहिते दर्श्येका ॥
—ऋक्सं० ३।५६।२।

२९-"अर्थात् आत्मादेश आत्मैवाऽधस्तात्, आत्मोपरिष्टात्, आत्मा पश्चात्, आत्मा पुरस्तात्, आत्मा दक्षिणतः, आत्मोत्तरतः, आत्मैवेदं सर्वम् इति। स वा एवं पश्यन्, एवं मन्वानः, एवं विजानन्-आत्मरतिः, आत्मक्रीड़ः, आत्ममिथुनः, आत्मानन्दः-स स्वराड्भवति, तस्यसर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति"।

—छान्दोग्योपनिषत् ७ प्र० ।२५ खं० । २ कं० ।

३०-"स योऽत एकैकमुपास्ते, न स वेद। अकृत्स्नो ह्येषोऽत एकैकेन भवति। आत्मेत्येवोपासीत अत्र ह्येते (प्रतिरूपाभावाः) सर्वे एकं भवन्ति। तदेतत्-पदनीयमस्य सर्वस्य, यदमात्मा। अनेन ह्येतत् सर्वं वेद"।

—बृहदारण्यकोपनिषत् १।४।७

३१-"तदिदमप्येतर्हि-य एवं वेद-'अहं ब्रह्मास्मी'ति, स इदं सर्वं भवति। तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते। आत्मा ह्येषां स (उपासकः) भवति। अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते-'अन्योऽसौ, अन्योऽहमस्मी' तिन स वेद। यथा पशुः, एवं स देवानाम्"

—बृ० उ० १।४।१०

* * * *

५४-जीवनाम्ना व्यवहृत शरीरात्मक ससंज्ञान्तःसंज्ञासंज्ञादिविवर्तमाध्यमेन उपास्य महाप्रत्यय के प्रति स्वकीयाल्पप्रत्यय का अजस्रप्रवाहण, तदुपासना के विवर्तों का उपबृंहण—

उक्त श्रुतियों द्वारा सर्वव्यापक जिस आत्मब्रह्म का उल्लेख हुआ है, वही अध्यात्मप्रतिरूप के माध्यम से उपास्य है। उपास्य सर्वेश्वरब्रह्म के शरीरात्मक महाविश्व के गर्भ में ससंज्ञ (चेतन), अन्तःसंज्ञ (अर्द्ध-चेतन), असंज्ञ (अचेतन), जितने भी विवर्त्त हैं, सब 'जीव' नाम से व्यवहृत हुए हैं। इनके माध्यम से उस महाप्रत्यय के प्रति अपने अल्पप्रत्यय (ज्ञान) को अजस्ररूप से प्रवाहित करना ही उपासना है जिसके आधिदैविक, आध्यात्मिक आधिभौतिक, भेद से तीन विवर्त्त बतलाए गए हैं। इन तीनों के आगे जाकर जीवसर्ग भेद से अवान्तर अनेक विवर्त्त होजाते हैं। ईश्वरीय चतुर्दशविध भूतसर्ग का दिग्दर्शन कराते हुए पूर्व में (२४७ पृष्ठ) यह बतलाया गया था कि, अव्ययप्रधान स्वयं ईश्वरविवर्त्त आधिदैविक विवर्त्त हैं, अष्टविधदेवयोनिसर्ग-पञ्चविधतिर्य्यक्सर्ग, ये १३ सर्ग आध्यात्मिक विवर्त्त हैं, एवं ओषधिवनस्पतिरूप अर्द्धचेतनवर्ग, पाषाणलोष्टादिरूप अचेतनवर्ग, उभयसमष्टिरूप १४ वां सर्ग आधिभौतिक विवर्त्त हैं। प्रदर्शित वहाँ के त्रिपीठात्मक-परिलेख की १-२-३ इन तीन पीठिकाओं में क्रमशः इन्हीं तीनों विवर्त्तों का स्पष्टीकरण करते हुए यह सिद्ध किया गया था कि, आधिदैविक विवर्त्त से सम्बन्ध रखने वाली प्रतिरूप-प्रत्ययालम्बनता समष्टिलक्षण चेतन

ईश्वरप्रतिरूपविधा, व्यष्टिलक्षण अचेतन-सूर्य्यादिप्रतिरूपविधा, भेद से दो भागों में विभक्त है। उक्त विधाद्वयी का केवल स्थूलदृष्टिकोण से ही सम्बन्ध समझना चाहिए। वस्तुतः इस आधिदैविकप्रतिरूपविधा के सर्गभेद से चार विवर्त्त होजाते हैं। समष्टिरूप प्रतिरूपविधा एक स्वतन्त्र आधिदैविकविधा है। दूसरी व्यष्टिरूपप्रतिरूपविधा के चेतन, अर्द्धचेतन, अचेतन, भेद से तीन विवर्त्त होजाते हैं। सम्भूय दो के चार आधिदैविकविवर्त्त बन जाते हैं। दूसरी प्रक्रान्त आध्यात्मिकविधा के भी उसी सर्ग भेद से चार विवर्त्त होजाते हैं। एवमेव तीसरी आधिभौतिकविधा के भी चार ही विवर्त्त होजाते हैं। सम्भूय तीन विवर्त्तों के १२ विवर्त्त, किंवा १२ प्रतिरूपविधा होजातीं हैं। प्रश्नस्वाभाविक है कि, इन १२ प्रतिरूपविधाओं का मूल क्या है ?। प्रश्नसमाधि के लिए ईश्वर-सर्ग की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

५५–अधिदैवतादि त्रिविभागभक्त विश्वसर्ग एवं परावर अक्षर ब्रह्म का प्रतिष्ठा ज्योतिः यज्ञ त्रिसर्ग प्रवर्तकत्व—

क्षराक्षरगर्भित अव्ययप्रधान, महामायावच्छिन्न, सगुणेश्वर से उत्पन्न विश्वविवर्त्त, किंवा विश्वसर्ग को आरम्भ में स्थूलदृष्टि से अधिदैवत, अध्यात्म, अधिभूत, इन तीन भागों में विभक्त माना जासकता है 'अवर' नामक क्षर से पर, तथा 'पर' नामक अव्यय से अवर कोटि में प्रतिष्ठित, अतएव 'परावर' नाम से प्रसिद्ध अक्षरपुरुष ही (प्रकृति ही) इस ओर के क्षर की अर्थमात्रा से सर्वविद् बन कर, उस ओर के अव्यय की ज्ञानमात्रा से सर्वज्ञ बन कर, अपनी क्रियाशक्ति से प्रतिष्ठा, ज्योति, यज्ञ, सर्वप्रथम इन तीन सर्गों का प्रवर्त्तक बनता है, जैसाकि निम्नलिखित वचन से प्रमाणित है—

> यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः।
>
> तस्मादेतद् ब्रह्म-नामरूप-मन्नञ्चजायते ॥
>
> —मुण्डकोपनिषत् १।१।६।

---

* ब्रह्म-प्रतिष्ठा } अन्नम्-यज्ञः।
नामरूपे-ज्योतिः }

५६–अस्त्वण्डादि अण्डसर्गप्रवर्तक अक्षर प्रजापति का ऋक्-साम-यजुस्त्रयी ब्रह्म-प्रतिष्ठात्व, प्रतिष्ठा लक्षणत्रयी-ब्रह्म के खं-वायु-ज्योति-रापः-पृथिव्यात्मक पञ्चविवर्त, एवं विवर्तान्तरों का उपवर्णन—

'ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा'–'प्रतिष्ठाह्येतद्ब्रह्म' इत्यादि के अनुसार ऋक्-साम-यजुर्लक्षणा त्रयी-ब्रह्म ही वह प्रष्ठितत्त्व है, जिस पर प्रतिष्ठित होकर सप्तपुरु-पुरुषात्मक अक्षरप्रजापति तपद्वारा अस्त्वण्ड, पोषाण्ड, रेतोऽण्ड, यशोऽण्ड, आदि आण्डसर्गों के प्रवर्त्तक बनते हैं। (देखिए शत० ६।१।१। ब्रा०)। त्रयीवेदप्रतिष्ठा के ऋक्-सामपर्व आयतन बनते हैं, आवपन बनते हैं। इनमें अन्तर्भुक्त यजुःपुरुष का यत्-भाग प्राण है, जू भाग वाक् है। वाक् आकाश है, प्राण सुसूक्ष्मवायु है। वायुव्यापार (प्राणव्यापार) से आकाश (वाक्) का अंशभाग संघर्ष से युत होकर अप्सर्ग का कारण बनता है–'सोऽपोऽसृजत्, वाचएव लोकात्, वागेव साऽसृज्यत'। अनन्तर इसी क्रम से अग्निमयसूर्य्य, आपोमय चन्द्रमा, अन्नादमयी पृथिवी

का प्रादुर्भाव होता है। प्रारम्भिक जू भाग आकाश है, तदुत्पन्न आपः पारमेष्ठ्य वायु है, तदुत्पन्न सूर्य्य ज्योति है, तदुत्पन्न चन्द्रमा आपः, है, सर्वान्त में पृथिवी है। इसप्रकार प्रतिष्ठालक्षण त्रयीब्रह्म के खं-वायुः-ज्योतिः-आपः-पृथिवी ये पांच विवर्त्त होजाते हैं। धारणात्मिका प्रतिष्ठा का अन्तिम पर्व पृथिवी है। यही पञ्चमहाभूतात्मक महाविश्व उस प्रजापति की पहिली ब्रह्मलक्षण (वेदमूला-वेदात्मिका) प्रतिष्ठासृष्टि है, जिसे हम 'आधिदैविकसर्ग कहेंगे। यही आगे जाकर नाम-रूपात्मिका ज्योति का जनक बनता है। नाम-रूप, (कर्म्म भी) ही भौतिकविश्व का प्रकाश है। यही उसका दूसरा आधिभौतिक विवर्त्त है। प्राण-मन-इन्द्रियवर्ग-आदियुक्त अध्यात्म की सृष्टि ही अन्नसृष्टि है, जिसे अग्नि-सोममयी होने से यज्ञसृष्टि भी कह सकते हैं। इस प्रकार वह सर्वज्ञ-सर्ववित् अक्षर ब्रह्मात्मिकाप्रतिष्ठालक्षण आधिदैविकीसृष्टि, नामरूपकर्म्मात्मिका ज्योतिर्लक्षणा-आधिभौतिकसृष्टि, एवं अन्नात्मिका (अग्नीसोमय) * यज्ञात्मिका आध्यात्मिकी सृष्टि, इन तीन सृष्टियों का प्रवर्त्तक बनता है, जिनके आगे जाकर अनेक अवान्तर विवर्त्त होजाते हैं।

अव्ययसम्बन्धेन — स्वाक्षरसंबन्धेन — क्षरसम्बन्धेन

सर्वज्ञः — सर्वशक्तिः — सर्ववित्

अक्षरप्रजापतिः-तस्मात्

एतत्-

आधिदैविकसर्गः—१-ब्रह्म—खं-वायु-ज्योति-रापः-पृथिवीलक्षण 'प्रतिष्ठा'

आधिभौतिकसर्गः—२-नामरूपम्-नामरूपकर्म्मात्मकं 'ज्योतिः'

आध्यात्मिकसर्गः—३अन्नं च——अग्निः-सोममयो-'यज्ञः'

जायते

---

*-'अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर!

—गी०

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥

—गी०

:—"यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गाः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाऽऽक्षराद्विविधाः सौम्य! भावाः प्रजायन्ते, तत्र चैवापियन्ति"॥

'अव्यक्तोऽक्षर इत्याहुस्तमाहुः परमांगतिम्'

—गीता ८।२१

५७-आधिदैविकाधिभौतिकाध्यात्मिक विवर्तों का निमित्तकारण अक्षर पुरुष, उपादान-कारण क्षर पुरुष एवम् "तस्यैव मात्रा ग्रुपादाय सर्वाणि भूतान्युपजीवन्ति" राद्धान्तेन अव्ययपुरुष का विवर्तत्रय मूलकारणत्व—

अव्यय-क्षर-धर्म्मानुगत मध्यस्थ प्रकृतिरूप अक्षर पुरुष आधिदैविकादि तीनों विवर्त्तों का निमित्त कारण है, तो स्वयं अव्ययपुरुष अधिष्ठान (आलम्बन), तथा क्षरपुरुष उपादान कारण है, जिन कारणताओं का ईशादि विज्ञानभाष्यों में विस्तार से प्रतिपादन किया गया है। इसप्रकार यद्यपि तीनों का ही कारणत्व सिद्ध होजाता है, तथापि 'तस्यैव मात्रामुपादाय सर्वाणिभूतान्युपजीवन्ति' सिद्धान्तानुसार तत्वतः मूलकारण अकारणरूप अव्ययपुरुष ही माना जाएगा। कारण स्पष्ट है। क्षर वाङ्मय बनता हुआ अर्थशक्तिमय है, अक्षर प्राणमय बनता हुआ क्रियाशक्तिमय है। उधर अव्यय मन--प्राण--वाग्घन बनता हुआ सर्वघन है "सामान्ये सामान्यभावः" न्यायानुसार मन-प्राण-वाक्-रूप सामान्यभावों में अन्य मन-प्राण-वाग्भावों का अभाव है, अतएव सल्लक्षणप्राण जैसे 'असत्' कहलाया है, एवमेव मनः-प्राण-वाग्घन अव्यय को अमना-अप्राण-अवाक् कहा जाएगा, जिसका तात्पर्य्य होगा-मनःप्राणवाग्रूपः, मनःप्राणवाग्घनः। अक्षर मनःप्राणवाङ्मय बनता हुआ समना-सप्राण-सवाक् है। 'स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः। सोऽकामयत, स तपोऽतप्यत, सोऽश्राम्यत्' इत्यादि बृहदारण्यक श्रुति से उपवर्णित मनःप्राणवाङ्मय, काम--तपः--श्रम-व्यापाराधिष्ठाता आत्मा अक्षर ही है। एवमेव क्षर भी वाङ्मय बनता हुआ सवाक् है। परन्तु मनःप्राणवाग्रूप अव्यय तो अमना-अप्राण--अवाक् ही है। इन तीन कोशों के अतिरिक्त आनन्द, विज्ञान, नामक दो अव्यय कोश और हैं। पञ्चकोशात्मक इस अव्ययकोश की आनन्द--विज्ञान-मनः-प्राण--वाङ्-मात्राओं को ले ले कर ही अक्षर-क्षरप्रकृतियां निमित्त उपादान कारण बन रही हैं। अतएव अव्यय को ही सर्वत्रयी का मूलप्रभव माना जासकता है। 'प्रभवः प्रलयस्थानं निधानं बीजमव्ययम्' (गी०········)-'मत्तः परतरंनान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय' इत्यादि स्मृतियां भी अव्यय की ही आदिकारणता का समर्थन कर रही हैं। अव्यय की इसी मूलकारणता का समर्थन करती हुई मुण्डक श्रुति कहती है—

> दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
> अप्राणो ह्यमनः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः ॥१॥
> एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
> खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥२॥

५८–अणवणीयस (अणु–अणुतर) महाविश्व में व्याप्त "सर्वभूतान्तरात्मा" सगुणेश्वर, इस आधिदैविक (सर्वभूता०) के मुण्डक-निरूपित आधिभौतिकात्मक विवर्त द्वय एवम् चन्द्र-सूर्य्य-वायु-पृथिवी-पर्जन्य-संवत्सरप्रभृति आधिदैविक तपःश्रद्धासत्यास्तिक्य-ब्रह्मचर्य्यादि आध्यात्मिक एवम् समुद्र-गिरि-सर्वरसादि यच्चयावत् आधिभौतिकपर्वों का एतस्मिन् उपनिषन्निरूपितेऽन्तर्भावः—

पञ्चमहाभूतात्मक महाविश्व में अणोरणीयान्–रूप से व्याप्त आधिदैविक विवर्त्तात्मक उक्त लक्षण वही सगुणेश्वर 'सर्वभूतान्तरात्मा' नाम से व्यवहृत हुए हैं। आधिदैविक विवर्त्तात्मक इसी सर्वभूतान्तरात्मा के आध्यात्मिक, आधिभौतिक, इन दो गर्भीभूत विवर्त्तों का मुण्डकश्रुति में विस्तार से निरूपण हुआ है, जिसका विशद वैज्ञानिक विवेचन 'मुण्डकोपनिषद्विज्ञानभाष्य' में ही देखना चाहिए। चन्द्रमा, सूर्य्य, वाङ्मय स्वायम्भुव सत्यवेद, वायु, पृथिवी, पर्जन्य, सम्वत्सर, यच्चयावत् वैध यज्ञ, तन्तुदेवता, यज्ञियदेवता, साध्य-देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, ओषधि–वनस्पतियाँ, तप, श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य्य, विधि, सप्तप्राण, सप्तार्चि, सप्तसमिध, सप्तलोक, समुद्र, पर्वत, सिन्धु, सर्वरस, आदि आदि यच्चयावत् आधिदैविक–आध्यात्मिक–आधि-भौतिकपर्व इसी सर्वभूतान्तरात्मा के व्यापक स्वरूप में अन्तर्भूत हैं, जिनका निम्नलिखित वचनों से विश्लेषण हुआ है—

(आधिदैविक विवर्त्त)-अग्निर्मूर्द्धा, चक्षुषी चन्द्र-सूर्य्यौ, दिशः श्रोत्रे, वाग्विवृताश्चवेदाः ।
वायुः प्राणो, हृदयं विश्वमस्य, पद्भ्यां पृथिवी,–ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा॥१॥

(आधिभौतिकविवर्त्त)–तस्मादग्निः-समिधो यस्य सूर्य्यः, सोमात् पर्जन्य, ओषधयः पृथिव्याम् ।

(आध्यात्मिकविवर्त्त)–पुमान् रेतः सिञ्चति योषितायां बह्वीः प्रजाः पुरुषात् सम्प्रसूताः ॥२॥

* * *

(अधियज्ञविवर्त्त)-तस्मादृचः साम यजूंषि, दीक्षा, यज्ञाश्च सर्वे, क्रतवो, दक्षिणाश्च ।
सम्वत्सरं, यजमानश्च, लोकाः......................

* * *

आधिदैविकविभूतयः)–.......................सोमो यत्र पवते, यत्र सूर्य्यः ॥३॥
तस्माच्चदेवा बहुधा सम्प्रसूताः, साध्याः.................. ।

(आध्यात्मिकविभूतयः)–····························मनुष्याः, पशवो, वयांसि ।

(जीवनविभूतयः)–प्राणापानौ व्रीहि–यवौ······································ ।

(धर्म्मविभूतयः)–························तपश्च, श्रद्धा, सत्यं, ब्रह्मचर्य्यं, विधिश्च ॥४॥

अर्कविभूतयः)–सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्, सप्तार्चिषः, समिधः, सप्तहोमाः ।
सप्त इमे लोका, येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त ॥५॥

(आधिभौतिकविभूतयः)–अतः समुद्रा, गिरयश्चसर्व्वेऽ, स्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः ।
अतश्च सर्व्वा ओषधयो, रसश्च, येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा ॥६॥

उपसंहारः–पुरुष एवेदं विश्वं कर्म्म तपो ब्रह्म परामृतम् ।
एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य ॥७॥

—मुण्डकोपनिषत् २।१।४।५।६।७।८।६।१०, ।

* * *

५६–आधिदैविक जीवसर्ग का कर्म्मफलभोगानुबन्ध-राहित्य दिग्दर्शन एवं सृष्टिस्थितिलय त्रिकाधयुग्म-पर्य्यन्त इन (अग्नि वायु सूर्य्य वरुणादि प्राणात्मक, वामन-वराह-कूर्म्म-मत्स्यादि नित्यावतारात्मक देवों) का कर्म्म संलग्नत्व–(ईश्वरवत्-तद्द्वारैव प्राप्ताधिकारानुरोधेन) एवम् प्रतिसञ्चरकाल में ईश्वराव्ययात्मनि अन्तर्हितत्व –

अब हमें विचार यह करना है कि, उक्त विवर्त्तत्रयात्मक सर्वभूतान्तरात्मा का जीवसर्ग किन अवान्तर भागों में विभक्त है ? सबसे पहिले क्रमप्राप्त आधिदैविक–जीवसर्ग के चारों विवर्त्तों पर ही दृष्टि डालिए। आधिदैविक ईश्वर विवर्त्त से सम्बन्ध रखने वाले चारों ही जीवसर्ग आधिकारिक हैं। इनका कर्म्मफल भोग से कोई सम्बन्ध नही है। अपितु ईश्वरवत् ईश्वरद्वारा प्राप्त अधिकार की रक्षा के लिए ये चारों आधिदैविक आधिकारिक जीव यावत् सृष्टिस्थितिपर्य्यन्त सृष्टिकर्म्म में संलग्न रहते हैं। प्रतिसञ्चरकाल में इन चारों का उसी महती ईश्वरसत्ता में अव्यय होजाता है। त्रिणाचिकेतादि सप्त आधिदैविक देवस्वर्गों में प्रतिष्ठित अग्नि, वायु, आदित्य, वरुण, इन्द्र, प्रजापति, ब्रह्म, अप्सरसांगण आदि परिगणित स्वर्गीय प्राणदेवता, 'वामन–वराह–कूर्म्म–मत्स्य–आदि परिगणित नित्यावतारदेवता, इन आधिदैविक चेतनदेवताओं का एक स्वतन्त्र विभाग हैं। सौम्यत्रिलोकी में व्याप्त त्रिविक्रम वामन विष्णु, पिण्डरक्षक वाय्वात्मक वराह, कूर्म्मा-

त्रिलोकी में प्रतिष्ठित पश्यक कश्यप, आदि नित्य प्राकृतिक चेतन अवतार हैं। निम्न लिखित श्रुतियाँ उक्त स्वर्गीय प्राणदेवताओं, तथा नित्यावतारों के तात्त्विक स्वरूपों का ही विश्लेषण कर रही हैं।

स्वर्गीयदेवदेवतावर्गः—"स एतं देवयानं पन्थानमापद्य–अग्निलोकमागच्छति, स वायुलोकं, स आदित्यलोकं स वरुणलोकं स प्रजापतिलोकं, स ब्रह्मलोकम् × इन्द्र-प्रजापती द्वारगोपौ। × तंपञ्चशतान्यप्सरसां प्रतियन्ति—

शतं चूर्णहस्ताः, शतं वासो हस्ताः, शतं फलहस्ताः, शतमाञ्जनहस्ताः, शतं माल्य-हस्ताः। * * *

—कौपीतक्युपनिषत्, पर्य्यङ्कविद्या-१।३।

* * *

नित्यावतारवर्गः-(वामनावतारः) (१) "अतो देवा अवन्तु नो यतो विष्णुर्विचक्रमे।
आग्नेयः पृथिव्याः सप्त धामभिः ॥१॥

इदं विष्णु र्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।
समूलहमस्य पांसुरे ॥२॥
त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः।
अतो धर्म्माणि धारयन् ॥३॥
विष्णोः कर्म्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे।
इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥४॥
तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम् ॥५॥
तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते।
विष्णोर्यत् परमं पदम् ॥६॥

—ऋक् सं० १ २२।१६,१७,१८,१९,२०,२१ मं०।

"विष्णोर्नु कं वीर्य्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि।
यो अस्कभायदुत्तर सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः" ॥

—ऋक्सं० १।१५४।१।

(२)-"अथाक्रमते-'विष्णुस्त्वाक्रमता' मिति। यज्ञो वै विष्णुः। स देवेभ्य इमां विक्रान्तिं विचक्रमे-या एषामियं विक्रान्तिः। इदमेव प्रथमेन पदेन पस्पार, अथेदमन्तरिक्षं द्वितीयेन, दिवमुत्तमेन—शत० १।१।२।१३।

"वामनो ह विष्णुरास। तद् देवा न जिहीडिरे। ते प्राञ्चं विष्णुं निपाद्यच्छन्दोभिरभितः पर्य्यगृह्णन्"—शत० १।२।२।४।५।

* * *

(वराहावतारः)— (१)-"प्रकाव्यमुशनेव ब्रुवाणो देवो देवानां जनिमाविवक्ति।

वायव्यः महिव्रतः शुचिबन्धुः पावकः पदा वराहो अभ्येतिरेभन्॥

—सामसं० पू० ६।४।२।

मल्वं बिभ्रती गुरुभृत् भद्रपापस्य निधनं तितिक्षुः।

वराहेण पृथिवी संविदाना सूकराय विजिहीते मृगाय॥"

—अथर्व सं १२।१।४८।

(१)-"अथ वराहविहतम्। 'इयती' अग्रऽआसीत्-इति। इयती ह वाऽइयमग्रे पृथिव्यास प्रादेशमात्री। तामेमूष इति वराह उज्जघान। सोऽस्याः पतिः, प्रजापतिः"

—शत० १४।१।२।११

* * *

(कूर्म्मावतारः) (१)-"सुपर्णः पार्जन्य आतिर्वाहसोदर्विदा ते वायवे बृहस्पतये

त्रैलोक्यरसात्मकः वाचस्पतये पैङ्गराजोऽलज आन्तरिक्षः प्लवो मद्गुर्मत्स्यस्ते नदीपतये—

—द्यावापृथिवीयः कूर्म्मः यजुः सं० २४।३४।

(२)-"सोऽकामयत-आभ्योऽद्भ्योऽधीमां प्रजनयेयामिति। तां संक्लिश्य-अप्सु प्राविध्यत्। तस्यै यः पराङ् रसोऽत्यक्षरत्, स कूर्म्मोऽभवत्"।

—शत० ६।१।१।१२।

"रसो वै कूर्म्मः। यो वै स एषां लोकानामप्सुप्रविद्धानां पराङ् रसोऽत्यक्षरत, स एष कूर्म्मः। + + + +। स यत् कूर्म्मो नाम-एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत। यदसृजत-अकरोत्तत्। यदकरोत्-तस्मात् कूर्म्मः। कश्यपो वै कूर्म्मः। तस्मादाहुः-सर्वाः प्रजाः काश्यप्यः-इति।"

—शत० ७।४।२।१,५,।

* * *

(मत्स्यावतारः) (१)–"मनवे ह वै प्रातरवनेग्यमुदकमाजहुः । तस्यावनेनिजानस्य
आप्यः मत्स्यः-पाणी आपेदे । स हैवास्मै वाचमुवाद–बिभृहि
मा !, पारयिष्यामि त्वा–इति ।"

* * * —शत० १।८।१।१,

६०–व्यष्टिरूपा आधिदैविक विवर्तत्रयी के प्रथम विवर्त "आधिकारिक चेतन जीव" नाम्ना व्यवहृत स्वर्गीय प्राणदेवता और नित्यावतार, "इल्य" नामा स्वर्गीयवृत्तादि द्वितीय विवर्त एवम् "विजरा नदी" प्रभृति अचेतन आधिकारिक तृतीय विवर्त, सम्भूय चत्वारो विवर्ताः—

स्वर्गीय प्राणदेवता, तथा नित्यावतार, दोनों सर्ग आधिदैविक, साथ ही आधिकारिक हैं। अतएव इन्हें–हम 'आधिदैविक आधिकारिक चेतनजीव' कह सकते हैं। यही व्यष्टिरूपा आधिदैविक विवर्त्तत्रयी का पहिला चेतन विवर्त्त है। दूसरा अर्द्धचेतन आधिदैविक आधिकारिक विवर्त्त है, जिस का स्वर्गस्थान से ही सम्बन्ध है पर्य्यङ्कविद्या में उपवर्णित 'इल्य' नामक स्वर्गीय वृत्तादि अर्द्धचेतन–आधिकारिक जीव हैं। एवं विजरा नदी, सालज्य संस्थान, विचक्षण आसन्दी, अमितौजा पर्य्यङ्क, इत्यादि स्वर्गीय अचेतन पदार्थों, तथा सूर्य्य–चन्द्र–ग्रह–नक्षत्रादि अचेतन गोलकों का आधिदैविक आधिकारिक अचेतन जीवों में अन्तर्भाव है। इसप्रकार ईश्वरीय आधिदैविक विवर्त्त में सम्भूय चार आधिकारिक विवर्त्त होजाते हैं। चारों के प्रतिरूपों के आधार पर आधिदैविक प्रतिरूपविधा के भी चार ही विवर्त्त होजाते हैं, जैसा कि तालिका से स्पष्ट है—

२–आधिदैविक प्रतिरूपविधा चतुष्टयी—

१	(१)–सप्तवितस्तिकायः, महामायी–विश्वेश्वरः—आधिकारिकश्चेतनेश्वरः समष्टिरूपः आधिदैविकः
२	(१)–अग्निवाय्वादिदेवाः, वामनवराहादि-आधिकारिकाश्चेतनाः आधिदैविकाः जीवाः ससंज्ञा-व्यष्टिरूपाः
३	(२)–ईल्यादयः स्वर्गीयवृत्ताः——आधि० अर्द्धचेतनाः आधिदै० जीवाः अन्तः संज्ञा–व्य० ।
४	(३)–स्वर्गसम्भाराः, सूर्य्य–चन्द्र-ग्रहादिगोलकाः—आधि०-अचेतनाः आधिदै० जीवाः–असंज्ञाः-व्य० ।

सैषा–आधिदैविकप्रतिरूपविधा–चतुर्द्धा विभक्ता द्रष्टव्या

--२--

* * * *

३-आध्यात्मिक प्रतिरूपविधा (४)

६१-आधिदैविक प्राकृतिक प्रतिरूपविधा चतुष्टयानन्तर क्रमागताध्यात्मिक प्रतिरूपविधा चतुष्टयी का निरूपण—

आधिदैविक प्राकृतिक प्रतिरूपविधा-चतुष्टयी के अनन्तर क्रम प्राप्त आध्यात्मिक-प्राकृतिक-प्रतिरूप-विधा चतुष्टयी की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। इस विधा के चारों विवर्तों के साथ केवल चेतन जीवों का ही सम्बन्ध है। आध्यात्मिक जीवसर्ग युगधर्मानुगत अवतारजीव, नित्यचान्द्रजीव, अनित्य-चान्द्रजीव, अनित्य पार्थिवजीव, भेद से चार भागों में विभक्त किए जा सकते हैं। चारों में पहिले के दो जीवसर्ग (अवतारजीव, नित्यचान्द्रजीव) ईश्वराधिकारसिद्ध सृष्टिकर्म्म में सहयोग रखते हुए, अतएव कर्म्मफलभोग से पृथक् रहते हुए आधिकारिक हैं। उत्तर के दो जीवसर्ग (अनित्य चान्द्रजीव,) अनित्यपार्थिव-जीव) कर्म्मफल भोक्ता बनते हुए औपपत्तिक हैं। इन्हीं चारों का क्रमशः दिग्दर्शन कराया जाता है।

६२-अखिल पार्थिव प्राणि सर्ग की सुखशान्ति का उत्तरदायी मानव, सृष्टि का शाश्वत धर्म्म "आर्ष" किंवा "सनातन" धर्म्म, मानवकृत अनुकूल-प्रतिकूलाचरण का सर्ग पर प्रभाव एवं प्रतिकूलाचरण क्षुब्ध प्रकृति प्रभावापन्न नित्ययुक्त-पुरुष का मानव शरीरावतार—

"मानवसमाज पर सम्पूर्ण पार्थिव प्राणिवर्ग की सुखशान्ति का उत्तरदायित्व है। यदि मानवसमाज प्रकृति के अनुकूल अपने कर्म्मकलाप का अनुष्ठान करता रहता है, तो प्राकृतिक वातावरण शान्त निरुपद्रव बना रहता हुआ समय पर अनुग्रह करता रहता है। विकृतिरूप मानव समाज प्रकृति का अवयव है। अवयव शान्ति ही अवयवी की शान्ति का मूलकारण माना गया है। प्राकृतिक नियम समष्टि का ही नाम शाश्वत-धर्म्म है, जो वैज्ञानिक-मानव समाज में, ऋषिसम्प्रदाय में 'आर्षधर्म्म'-सनातनधर्म्म' आदि नामों से प्रसिद्ध है। धर्म्माचरण से प्राकृतिक विवर्त्त यथावस्थित रहता है। यदि अपने प्रज्ञापराध से (जिस के उत्पादक असत्-शिक्षा, सङ्गदोष, अन्नदोष, अज्ञान, आदि माने गए हैं)-मानव समाज प्रकृतिविरुद्ध आचरण करने लगता है, अधर्म्मपथ का अनुगमन करने लगता है, तो प्रकृति क्षुब्ध हो जाती है। क्षुब्ध प्रकृति के कोप से अनावृष्टि, अतिवृष्टि, करकापात, भूकम्प, अकालमृत्यु, जनपदविध्वंसिनी, आदि आदि उपद्रव होने लगते हैं। यदि प्रज्ञापराध साधारण-होता है, तब तो मानव समाज के शिष्ट पुरुष अपने आदेशोपदेशों से स्थिति को संभालते हुए प्राकृतिक कोप शान्त कर देते हैं। यदि प्रज्ञापराध सीमा का उल्लंघन कर जाता है, तो उस अवस्था में शिष्ट पुरुषों के उद्योग व्यर्थ सिद्ध हो जाते हैं, और फलस्वरूप प्रकृति का आत्यन्तिक क्षोभ अनि-वार्य्य बन जाता है। इस प्राकृतिक क्षोभ का प्रभाव प्रकृति से नित्ययुक्त पुरुष पर पड़ता है। पुरुष भी क्षुब्ध हो पड़ता है। क्षुब्ध पुरुष अपने अंशरूप से मानव-शरीर में अवतीर्ण होता है। जिस स्थिति का-'प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य सम्भवाम्यात्ममायया' (गी०) शब्दों से विश्लेषण हुआ है।

६३–धर्मग्लान्यधर्माभ्युत्थानोपशमनार्थ आधिदैविक आधिकारिक सगुणेश्वर का अंशावतार, "यदा यदा हि धर्मस्य" श्लोकानुगत्य पर भारतीयों की अविच्छिन्न–दृढ़ास्था एवं नित्यानित्यावतारस्वरूप निर्वचन—

इसप्रकार युगधर्म्मानुग्रह से समय समय पर होने वाली धर्म्मग्लानि के उपशम के लिए, साधुवर्ग के त्राण के लिए, धर्म (प्राकृतिक नियमों) के पुनः स्थापन के लिए तत्तत् समय विशेषों में आधिदैविक-आधिकारिक-सगुणेश्वर का अंशावतार हुआ करता है। एवं अपने इस आधिकारिक, योगमायावच्छिन्न * अवतार पुरुष सगुणेश्वर द्वारा प्राप्त अधिकारबल से स्वाधिकारानुगत कर्त्तव्य-कर्म्म समाप्त कर पुनः स्वप्रभव में विलीन हो जाते हैं"। यह आर्य्य जाति का चिरन्तन विश्वास है, जिस की मूलप्रतिष्ठा आर्षशास्त्ररूप आप्त–वचन माना गया है। तत्कालिक होने से ही हम इन राम–कृष्ण–कल्कि–नृसिंहादि मानवावतारों को अनित्यावतार कह सकते हैं। वामन–वराहादि अनित्यावतार जीव जहां आधिकारिक–चेतन–ससंज्ञ–आधिदैविक जीवमाने गए हैं, वहां राम–कृष्णादि अनित्यावतारजीव आधिकारिक–चेतन–ससंज्ञ–आध्यात्मिक जीव माने जाएँगे। क्योंकि, वामनादि नित्यावतार जहां ईश्वरीय महामाया से युक्त हैं, वहां मानवावतार जीवानुगत योग–माया से युक्त रहते हैं। महामाया जहां आधिदैविक विवर्त्त की प्रतिष्ठा है, वहां योगमाया आध्यात्मिक विवर्त्त की प्रतिष्ठा मानी गई है *।

६४–सूर्य्याद्यचेतना––धिदैविकजीवेषूपास्यप्रत्ययालम्बनाशक्तिमज्जनार्थम् अनित्य मानवावतारेष्वपि स्वप्रत्ययालम्बनेन लक्ष्यावाप्ति-निरूपणम्, भरत–व्याध–विभीषण–हनूमद्–व्यास-भीष्मार्ज्जुन-भिल्लपुरन्ध्रि-कुब्जा-विदुरादिद्वारा एवञ्च तत्तदनित्य-मानवावतारकालात्ययेऽपि तत्प्रतीकद्वारा श्रद्धाजुषाम्प्रत्ययालम्बनसाफल्य निरूपणम्—

समष्टिलक्षण आधिदैविक सगुणेश्वर की व्यष्टिलक्षण नित्यावतारजीव, अर्द्धचेतनजीव, सूर्य्यादि अचेतनजीव, इन तीनों आधिदैविक तत्त्वात्मक जीवों की प्रत्ययालम्बनता में भी जो अधिकारी असमर्थ हैं, वे इन मानवावतारों में से किसी एक के प्रतिरूप को स्वप्रत्यय का आलम्बन बना कर लक्ष्य पर पहुँच सकते हैं।

---

*–भगवानपि ता रात्रीः शरदुत्फुल्ल मल्लिकाः।
वीक्ष्य, रन्तुं मनश्चक्रे योगमायासमावृतः॥

—श्रीमद्भागवत १० स्क० पू० रासपञ्चाध्यायी।

---

*–"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥

(गी० ७।२५।

तत्तदवतारपुरुषों के तत्तद्युगविशेषों में तत्तदवतारपुरुष समकालीन–भरत–व्याध–विभीषण–हनूमान्–व्यास–भीष्म–अर्जुन–भिलनी–कूबरी–विदुर–आदि आदि तत्तन्मानवविभूतियों ने इसी मानवावतार माध्यम से लक्ष्य प्राप्त किया था। अवतारपुरुषों के लीलासंवरण कर जाने के अनन्तर भी उन के शास्त्रीय शब्दोपवर्णन के आधार पर–'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः' न्याय से उन उन अवतार पुरुषों की ज्ञानीय प्रतिमा बना कर ध्यानयोग से तद्योगियों ने तत्पद प्राप्त किया है। कुछएक ने अवतारपुरुषों की प्रतिमाएँ बना कर अपनी प्रत्ययालम्बनता को सफल बनाया है। भौतिक अवतारप्रतिरूप (पाषाणादि विनिर्मित प्रतिमाएँ) कृत्रिम हैं, ज्ञानीय प्रतिरूप प्राकृतिक हैं। अपने अन्तर्जगत् में शब्दज्ञानाधारेण अवतारस्वरूप की भावना करने वाले भक्तों के लिए उपास्यतत्त्व तत्प्रतिरूप से ही समुपस्थित होजाते हैं। प्राकृतिक प्रतिरूपों के एवंविध आध्यात्मिक भक्त ध्यानयोगी) ही उदाहरण बनते हैं। यही आध्यात्मिक प्रतिरूपविधा का उदाहरण माना जाएगा। भौतिकप्रतिरूपों (धातु–पाषाणमयी प्रतिमाओं) का तो भौतिक प्रतिरूपविधा से ही सम्बन्ध है, जैसा कि तत्प्रकरण में ही स्पष्ट होने वाला है। प्रकृत में वक्तव्यांश यही है कि, मानवावतार आधिकारिक आध्यात्मिक जीव हैं, इन के प्रतिरूप माध्यम से भी परम्परया उपास्य के प्रति स्वप्रत्यय प्रवाहित किया जासकता है। यही आध्यात्मिक विवर्त्त की प्रथमाविधा है।

६५–चन्द्रमण्डलानुबन्धी द्वितीय आध्यात्मिक जीव वर्ग, प्राकृतिक वैकारिक विवर्त्तभिन्न (भिदावाप्त) अष्टाविंशतीन्द्रियात्मक "आपात" जीव, वैकारिक चान्द्रजीवों का अध्यात्मप्रतिरूपविधात्मक प्रत्ययालम्बन एवम् भूत–प्रेत–पिशाच–गुह्यकादि चान्द्र देवयोनियों का पश्चिमाम्नायसम्बन्धि "उपासना" न्वय—

दूसरा आध्यात्मिक जीववर्ग चान्द्रमण्डल से सम्बन्ध रखता है। आधिदैविकविधा-प्रकरण में प्रदर्शित परिलेख में ब्रह्मा, प्रजापति, आदि जिन अष्टविध, २८ इन्द्रियात्मक, सौम्य जीवों का उल्लेख हुआ है, वे ही पुरुषविध चान्द्र देवता हैं। इन में केवल पादप्रतिष्ठा का अभाव है। अतएव इन्हें 'आपात्'–जीव माना गया है। इन के प्राकृतिक, वैकारिक, भेद से दो विवर्त्त हैं। प्राकृतिक चान्द्रदेवता ईश्वरीयसृष्टि–कर्म्म में नियुक्त रहते हुए आधिकारिकजीव हैं। ये नित्यधर्म्मा हैं। मानवशरीर परिच्छिन्न जीवात्मा भी तत्तद्विशेष कर्म्मातिशयों से तत्तद्विशेष चान्द्रदेवस्वरूपों में परिणत हो सकता है। ये ही कर्म्मफलभोक्ता चान्द्रदेवता औपपातिक जीव हैं, जिन्हें वैकारिक जीव भी माना गया है। इसप्रकार आधिकारिक, औपपातिक-वैकारिक, भेद से चान्द्रदेवों के दो विवर्त्त होजाते हैं। दोनों ही ससंज्ञहोने से चेतन जीव हैं। आधिकारिक चेतन प्राकृतिक अष्टविध चान्द्रदेवताओं में से किसी को प्रत्ययालम्बन बनाना एक प्रकार की आध्यात्मिक प्रतिरूपविधा है, एवं औपपातिक चेतन वैकारिक-कर्म्मकफलभोक्ता चान्द्रजीवों में से किसी को भी प्रत्ययालम्बन मानना अन्यप्रकार की आध्यात्मिक प्रतिरूपविधा है। आगमशास्त्रोपवर्णित उपासनामार्ग की प्रतिरूपविधा का प्रधानतः आधिकारिक चान्द्रदेवों से सम्बन्ध है, एवं आगमशास्त्र के ही अङ्गभूत पश्चिमाम्नाय से सम्बन्ध रखनेवाली भूत–प्रेत-पिशाचादि उपासनामार्ग का औपपातिक चान्द्रदेवों से सम्बन्ध है। इसप्रकार चान्द्रदेवानुगता प्रतिरूपविधा के दो विवर्त्त होजाते हैं।

६६-मनुष्य-पशु-पक्षि-कीट-कृमिजीवों की रजस्विनी आध्यात्मिक-ससंज्ञजीव-निरुक्ति एवम् मानव प्रतिरूप विधात्मिकोपासना के समर्थक "मातृदेवोभव" "पितृदेवोभव" "आचार्य्यदेवोभव" इत्याद्यादेश—

मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, कृमि, ये पाँच रजोविशाल आध्यात्मिक ससंज्ञजीव हैं। कर्म्मफलभोग सम्बन्ध से ये भी औपपातिक वैकारिकजीव ही माने गए हैं। मनुष्यविध औपपातिक आध्यात्मिक जीवों में से सर्वदेवप्रतिरूपमूर्त्ति द्विज, विद्याप्रदाता आचार्य्य, माता, पिता, देवगुणविभूषित अन्य विभूतिशायी महापुरुष भी प्रतिरूपविधा से उपासना के माध्यम बनाए जासकते हैं, बनाए जाते हैं। 'आचार्यदेवोभव, मातृदेवोभव, पितृदेवोभव, इत्यादि आदेश इसी मानवप्रतिरूपविधाका समर्थन कर रहे हैं। *

६७-गो-वृषाश्वादि का पशु प्रतिरूपविधात्वेन प्रत्ययालम्बन निदर्शन—

पशुओं मे गौ, वृषभ, अश्व, आदि के माध्यम का भी संग्रह हुआ है। गौ सूर्य्य का, अश्व रैवन्त का प्रतिरूप है। शीतलावाहत्वेन तत्प्राणात्मकतया रासभ भी माध्यम बनता है। यज्ञकर्म्म में कश्यपप्रजापति शेष प्रतिरूप कूर्म्म (कछुआ) भी चितिरूप से उपास्य माना गया है। तत्तद्विशेषदेवतानुगत तत्तद्विशेष यज्ञों में तत्तद्विशेषदेवप्राणात्मक तत्तद्विशेष अज-वृषभ-गौ-अश्व-भी उपास्य माने गए हैं। इसप्रकार पशुसर्ग भी प्रतिरूपविधा का समर्थक बन रहा है।

६८-तार्क्ष्य-नीलकण्ठ-श्येन शरभादि पक्षिविशेषों का गायत्रब्रह्म नीलग्रीव-सुपर्णात्मिका-गायत्री-आगमप्रोक्त पक्षिराट् प्रातिरूप्य, एवं तत्तद् विवर्त्तों का विशकलन-

गरुड़पक्षी, नीलकण्ठ, श्येन (बाज), शरभ, आदि पक्षिविशेष भी प्रतिरूपविधा से प्रत्ययालम्बन बनते हैं। गरुड़पक्षी गायत्रब्रह्म का नीलकण्ठपक्षी नीलग्रीव शिवतत्त्व का श्येनपक्षी सुपर्णात्मिका गायत्री का शरभपक्षी आगमशास्त्रोक्त पक्षिराज का प्रतिरूप माना गया है। वासुकि-अनन्त-तक्षक-आदि नाग कृमि-कीटादि प्रतिरूप भावों का समर्थक बनरहा है। इसप्रकार कर्म्मफलभोक्ता रजोविशाल पाँचों वैकारिक-औपपातिक आध्यात्मिक ससंज्ञ जीवों से सम्बन्ध रखने वाली प्रतिरूपविधा भी शास्त्र में संग्रहीत है, जिसका एक विभिन्न दृष्टिकोण से भक्तियोग-परीक्षा पूर्वखण्डान्तर्गत-'वेदयुग कालीन उपासना मार्ग' नामक प्रकरण में (पृ० सं० २०० से ३३६ पृ० पर्य्यन्त) भी विश्लेषण हुआ है। इन प्रतिरूपोपासनाओं के श्रौत-स्मार्त्त प्रमाण भी तत्प्रकरण में ही उद्धृत हुए हैं। प्रस्तुत विधाओं के समन्वय के लिए तत्प्रकरण पर भी एक बार दृष्टि डाल लेनी चाहिए। प्रकृत में निवेदन यही करना है कि, मानवावतार, चान्द्रनित्य-देवता, चान्द्र अनित्यदेवता, पार्थिव ससंज्ञजीव, भेद से आधिदैविक प्रतिरूपविधावत् आध्यात्मिक प्रतिरूप-विधा के भी चार ही विवर्त्त होजाते हैं। ईश्वरीयआध्यात्मिक जीवसर्ग का चातुर्विध्य ही आध्यात्मिक प्रतिरूप-विधा के चातुर्विध्य की मूलप्रतिष्ठा है, जिसका निम्न लिखित तालिका से स्पष्टीकरण होरहा है।

---

* मातृमान् पितृमानाचार्य्यवान् पुरुषो वेद-श्रुतिः।

३–आध्यात्मिकप्रतिरूपविधा–चतुष्टयी—

(१)–राम–कृष्ण–कल्कि–आदिरूपाः, युगावतारलक्षणाः, दिव्यशरीरात्मकाः, योगमायावच्छिन्नाः, मानवावतारात्मकाः, ससंज्ञाः, आधिकारिकाः, चेतनाः–आध्यात्मिकजीवाः सत्त्वविशालाः–पृथिव्यां प्रतिष्ठिताः। तत्प्रतिरूपोपासना प्रथमाविधा।

(२)–ब्रह्म–प्रजापति–पितर–इन्द्र–गन्धर्व–यक्ष–राक्षस–पिशाच–भेदभिन्नाः, अष्टविधाः, चान्द्र–मण्डले प्रतिष्ठिताः, सृष्टिकर्म्मणिनियुक्ताः, प्राकृतिकाः, नित्याः, देवयोनिलक्षणाः, सोमशरीरात्मकाः, योग–मायावच्छिन्नाः, पुरुषविधाः, पादरहिताः, २८ इन्द्रियात्मकाः, ससंज्ञाः, आधिकारिकाः, चेतनाः,–आध्यात्मिक–जीवाः सत्त्वविशाला ऊर्ध्वस्थाः–तत्प्रतिरूपोपासना द्वितीयाविधा।

(३)–ब्रह्म–प्रजापति–पितर–इन्द्र–गन्धर्व–यक्ष–राक्षस–पिशाच–भेदभिन्नाः, अष्टविधाः, पृथिवी–स्थानात् चान्द्रमण्डलेगताः, कर्म्मफलभोक्तारः, वैकारिकाः, अनित्याः, देवयोनौ परिणताः, सोमशरीरात्मकाः, योगमायावच्छिन्नाः, पुरुषविधाः, पादरहिताः, २८ इन्द्रियात्मकाः, ससंज्ञाः, औपपातिकाः, चेतनाः,–आध्यात्मि–कजीवाः, सत्त्वविशाला ऊर्ध्वस्थाः–तत्प्रतिरूपोपासना तृतीया विधा।

(४)–मनुष्य–पशु–पक्षि–कीट–कृमि–भेदभिन्नाः, पञ्चविधाः, पृथिव्यां प्रतिष्ठिताः, कर्म्मफल भोक्तारः, वैकारिकाः, अनित्याः, पार्थिवशरीरात्मकाः, योगमायावच्छिन्नाः, २-४-६-८-८-१००-१००० पाद–युक्ताः, पादरहिताश्चान्तिमाः, ११ इन्द्रियलक्षणाः, ससंज्ञाः, औपपातिकाः, चेतनाः, आध्यात्मिकजीवाः–रजोविशालाः–मध्यस्थाः। तत्प्रतिरूपोपासना चतुर्थीविधा।

सैषा–आध्यात्मिकप्रतिरूपविधा–चतुर्द्धा विभक्ता द्रष्टव्या

--३--

* * * * *

४–आधिभौतिकप्रतिरूपविधा (४)—

तीसरी क्रमप्राप्त आधिभौतिक प्रतिरूपविधा है। इस विधा के दो विवर्त्त अर्द्धचेतन जीवों से सम्बन्ध रखते हैं, एवं दो विवर्त्त अचेतन जीवों से सम्बन्ध रखते हैं। अश्वत्थ, वट, तुलसी, बिल्व, अथर्ववेदोपवर्णित अन्यान्य दिव्य–सत्त्वयुक्त ओषधिवनस्पतियाँ आधिकारिक आधिभौतिक अन्तःसंज्ञ जीव हैं। इनके प्रतिरूपों को माध्यम बनाना आधिभौतिकी प्रथमाविधा है। शालग्रामशिला, गङ्गा, यमुना, नर्म्मदा, आदि दिव्य पाषाण–सरित्–आदि आधिकारिक आधिभौतिक असंज्ञजीव हैं। इनके प्रतिरूपों को माध्यम बनाना आधिभौतिकी द्वितीया विधा है।

दिव्यौषधि--वनस्पतिवर्ग के अतिरिक्त कर्म्मफलभोक्ता व्रीहि-यव--तिल-माष--गोधूम-आदि आदि ओषधिवनस्पतिवर्ग औपपातिक आधिभौतिक अन्तः संज्ञजीव हैं। 'अन्नं ब्रह्मेत्युपास्व' इत्यादिरूप से इनके प्रतिरूपों को माध्यम बनाना आधिभौतिकी तृतीया विधा है। दिव्यपाषाण, दिव्यसरित् के अतिरिक्त सरित्, सागर, पर्वत, पाषाण, लोष्ट, आदि यच्चयावत् अचेतन आधिभौतिक प्रपञ्च औपपातिक आधिभौतिक असंज्ञजीववर्ग हैं। 'ओषधे त्रायस्व'-शृणोतु ग्रावाणः' इत्यादिरूप से इनके प्रतिरूपों को माध्यम बनाना आधिभौतिकी चौथी विधा है। ब्राह्मणोक्त यज्ञकर्म्मों में इन चारों विधाओं के शतशः उदाहरण उद्धृत हुए हैं, जो तत्स्वाध्याय सापेक्ष हैं। निम्न लिखित तालिका से चारों विवर्त्तों का स्पष्टी करण होरहा है-

४-आधिभौतिकप्रतिरूपविधा-चतुष्टयी—

(१)--अश्वत्थ-वट-तुलसी--विल्व--मन्दार--पारिजात--आदि भेदभिन्नाः, दिव्यौषधि--वनस्पतिरूपाः, पृथिव्यां प्रतिष्ठिताः, पार्थिवशरीरात्मकाः, त्वगिन्द्रियलक्षणाः, अन्तःसंज्ञाः, आधिकारिकाः, अर्द्धचेतनाः आधिभौतिकजीवाः--तमोविशालाः-मूलस्थाः। तत्प्रतिरूपोपासना प्रथमाविधा।

(२)--शालग्रामशिला, गङ्गा, यमुना, नर्म्मदा, आदि भेदभिन्नाः, दिव्यशिला-रत्न-तोयादिरूपाः, पृथिव्यां प्रतिष्ठिताः, प्रवाहिताश्च, पार्थिव-जलीयशरीरात्मकाः, अनिन्द्रियाः, असंज्ञाः, आधिकारिकाः, अचेतनाः, आधिभौतिकजीवाः-तमोविशालाः-मूलस्थाः। तत्प्रतिरूपोपासना द्वितीयाविधा।

(३)--व्रीहि--यव-तिल-माष--तन्दुल--गोधूमादि भेदभिन्नाः-पार्थिवौषधिवनस्पतिरूपाः, पृथिव्यां प्रतिष्ठिताः, पार्थिवशरीरात्मकाः, त्वगिन्द्रियलक्षणाः, अन्तःसंज्ञाः, वैकारिकाः, औपपातिकाः, कर्म्मफलभोक्तारः, अर्द्धचेतनाः आधिभौतिकजीवाः-तमोविशालाः, मूलस्थाः। तत्प्रतिरूपोपासना तृतीयाविधा।

(४)--सरित्--सागर--पर्वत--पाषाण--लोष्टादि भेदभिन्नाः, पार्थिवभूतरूपाः, पृथिव्यां प्रतिष्ठिताः, पार्थिवशरीरात्मकाः, अनिन्द्रियाः, असंज्ञाः, वैकारिकाः, औपपातिकाः, कर्म्मफलभोक्तारः अचेतनाः, आधिभौतिकजीवाः-तमोविशालाः-मूलस्थाः। तत्प्रतिरूपोपासना चतुर्थीविधा।

सैषा-आधिभौतिकप्रतिरूपविधा चतुर्द्धाविभक्ता द्रष्टव्या

---४---

* * * * *

सर्वविधा-संग्रहः—

१–	(१)	१–महामायी सगुणेश्वरः	आधिकारिकः–विशिष्टः–आत्मन्वी–ईश्वरः	क अधिदैवतम् ४
१–	(२)	२–नित्यदेवाः, नित्यावताराश्च	आधिकारिकाः–विशिष्टाः–चेतनाः ससंज्ञजीवाः	
२–	(३)	३–ईल्यादि दिव्यौषधिवनस्पतयः	आधिकारिकाः–अविशेषाः–अर्द्ध चेतनाः–अन्तःसंज्ञजीवाः	
३–	(४)	४–स्वर्गसम्भाराः, ग्रहोपग्रहाश्च	आधिकारिकाः–अविशेषाः–अचेतनाः–असंज्ञजीवाः	
४–	(५)	१–मानवावतारपुरुषाः	आधिकारिकाः–विशिष्टाः–चेतनाः–ससंज्ञजीवाः	ख अध्यात्मम्
५–	(६)	२–नित्याश्चान्द्रदेवाः	आधिकारिकाः–विशिष्टाः–चेतनाः–ससंज्ञजीवाः	
६–	(७)	३–औपपातिकाश्चान्द्रदेवाः	औपपातिकाः–विशिष्टाः–चेतनाः–ससंज्ञजीवाः	
७–	(८)	४–औपपातिकाः पार्थिवप्राणिताः	औपपातिकाः–विशिष्टाः–चेतनाः–ससंज्ञजीवाः	
८–	(९)	१–अश्वत्थादि दिव्यौषधिवनस्पतयः	आधिकारिकाः-अविशेषाः-अर्द्ध चेतनाः-अन्तःसंज्ञजीवाः	ग अधिभूतम्
९–	(१०)	२–शालग्राम-गङ्गादि-दिव्यभूतानि	आधिकारिकाः-अविशेषाः-अचेतनाः-असंज्ञजीवाः	
१०–	(११)	३–व्रीह्यादि पार्थिवौषधिवनस्पतयः	औपपातिकाः-अविशेषाः-अर्द्ध चेतनाः-अन्तःसंज्ञजीवाः	
११–	(१२)	४–सरित्–पाषाणादि–पार्थिवभूतानि	औपपातिकाः-अविशेषाः-अचेतनाः-असंज्ञजीवाः	

एकश्चरति भुवनेषु-ईश्वरः-आधिकारिकः

तद्गर्भे

त्रयोदशविधा जीवाश्चरन्ति

तेषु

(७) सप्त-आधिकारिकाः-सृष्टिकर्म्मणिनियुक्ताः-ब्रह्माश्वत्थानुयायिनः

(४) चत्वारः-औपपातिकाः-कर्म्मफलभोक्तारः-कर्म्माश्वत्थानुयायिनः

मध्यस्थे अध्यात्मविवर्त्ते पारीणस्याधिदैविकस्य, अवारस्याधिभौतिकस्य च समन्वयः। तेनैव आध्यात्मिकः पुरुषः पूर्णः। ततएव चोपासना प्रतिरूपविधा द्वादशधाविभक्ता। उपासनया च पूर्णतासम्पत्तिराध्यात्मिके पुरुषे। तामेतामौपासनिकां पूर्णतामभिप्रेत्यैवाहुराचार्य्याः—

पूर्णमदः—(अधिदैवतम्)

पूर्णमिदम्—(अधिभूतम्)

पूर्णात् (अधिदैवतात्-अधिभूताच्च)

पूर्णमुदच्यते—(अध्यात्ममुदच्यते)

पूर्णस्य (अधिदैवतस्य, अधिभूतस्य च)

पूर्णमादाय (समन्वयेन)

पूर्णमेवावशिष्यते (पुरुषः पूर्णतागतो भवति-उपासनया)

* * *

६६—प्रकृतप्राप्त प्रतिरूपविधोदाहरण एवं तत्तद् द्वादश विवर्त वर्गीकरण विनियोग—

जैसाकि आरम्भ में निवेदन किया गया था, उदाहरण से पहिले प्राकृतिक द्वादश विवर्त्तों का परिज्ञान प्राप्त करलेना आवश्यक है, तत्प्रतिज्ञानुसार प्रासङ्गिक प्राकृतिक द्वादश प्रतिरूपविधाओं का दिग्दर्शन कराया गया। अब प्रकृतप्राप्त प्रतिरूपविधा के कुछ एक उदाहरण उद्धृत किएजाते हैं। बतलाया गया है कि, १२ विवर्त्तों में से सबसे पहिला आधिदैविक विवर्त्त तो आधिकारिक ईश्वर विवर्त है, एवं शेष ११ विवर्त्त जीवविवर्त हैं। इनमें से ७ विवर्त तो आधिकारिक हैं, एवं ४विवर्त्त औपपातिक हैं, ७ आधिकारिक विवर्त्तों में से ३ विवर्त्त आधिदैविक हैं, २ विवर्त आध्यात्मिक हैं, २ विवर्त आधिभौतिक हैं। ४ औपपातिक विवर्त्तों में से २ विवर्त आध्यात्मिक हैं, २ विवर्त्त आधिभौतिक हैं। आधिदैविक प्रपञ्च में औपपातिक विवर्त का अभाव है। इसप्रकार निम्न लिखितरूप से इन १२ विवर्त्तों के वर्गीकरण को लक्ष्य बनाकर उदाहरणों की मीमांसा करनी चाहिए—

(१)	१–आधिदैविक ईश्वरविवर्त्त———आधिदैविक*—समष्टिः		
(२)	१–आधिकारिक नित्यावतारविवर्त्त———आधिदैविक(१)	-३-	आधिदैविकआधिकारिक
(३)	२–आधिकारिक दिव्यौषधिवनस्पतिविवर्त्त——— " (२)		
(४)	३–आधिकारिक ग्रहोपग्रहविवर्त्त——— " (३)		
(५)	४–आधिकारिक मानवावतारविवर्त्त——— " (४)	-२-	आध्यात्मिकआधिकारिक
(६)	५–आधिकारिकनित्यचान्द्रदेवविवर्त्त——— " (२)		
(७)	६–आधिकारिक अश्वत्थादिपार्थिवविवर्त्त———आधिभौतिक(१)	-२-	आधिभौतिकआधिकारिक
(८)	७–आधिकारिक शालग्रामादिपार्थिवविवर्त्त——— " (२)		
(९)	१–औपपातिकअनित्यचान्द्रदेवविवर्त्त———आध्यात्मिक(१)	-२-	आध्यात्मिकऔपपातिक
(१०)	२–औपपातिक पार्थिवप्राणिविवर्त्त——— " (२)		
(११)	३–औपपातिक व्रीहियवादिविवर्त्त———आधिभौतिक(१)	-२-	आधिभौतिकऔपपातिक
(१२)	४–औपपातिकसरित्पाषाणादिविवर्त्त——— " (४)		

७०–प्रतिरूपविधा के प्राकृतिक-कृत्रिम विवर्त, आहार्य्य और कृत्रिम प्रतिरूपविधा का परस्पर पार्थक्य—

द्वादशधा–विभक्त उक्त ईश्वरीयविवर्त्त के माध्यम से मनःसंयमद्वारा उपास्य के प्रति स्वप्रत्यय को समासरूप से प्रवाहित करना ही उपासना निष्कर्ष है। अधिकारी भेद से बारहों के प्रतिरूपों को प्रत्ययालम्बन बनाया जासकता है। जैसाकि बतलाया गया है—प्रतिरूप प्राकृतिक, कृत्रिम, भेद से दो भागों में विभक्त है। इस द्वैध के कारण प्रतिरूपविधा के भी प्राकृतिक, कृत्रिम, भेद से दो विवर्त्त होजाते हैं। 'अग्नि-मूर्द्धा०' इत्यादिरूप से उपनिषदों में उपवर्णित पूर्वप्रदर्शित ईश्वरस्वरूप का जहां प्राकृतिक प्रतिरूपविधा

से सम्बन्ध है, वहाँ पाषाणमयी भगवत्-प्रतिमा का कृत्रिम प्रतिरूपविधा से सम्बन्ध है। कृत्रिम प्रतिरूपविधा एवं पूर्वपरिच्छेदोपवर्णित आहार्य्यारोपविधा में थोड़ा ही अन्तर है। किसी पार्थिवभूत को उपास्यभावनायुक्त समझलेना आहार्य्यारोविधा है, पार्थिव भूतों से शब्दवर्णन के (ध्यान के) आधार पर शिल्पीद्वारा बनी हुई प्रतिमाओं को उपास्य भावना से (निदानद्वारा) युक्त समझना * कृत्रिमप्रतिरूपविधा है। आहार्य्यारोपविधा में जहाँ आकार-प्रकार सन्निवेश अनपेक्षित है, वहाँ कृत्रिमप्रतिरूपविधा में आकार-प्रकार सन्निवेश आवश्यकरूप से अपेक्षित है। भूतत्त्वेन दोनों समान हैं, स्वरूपतः दोनों विभिन्न हैं।

७१-अन्तर्जगत् प्रतिबिम्बता ध्यानयोगात्मिका एवं अन्य प्रतिविधाओं के स्वरूप का निरूपण—

प्रतिरूपविधा के कृत्रिमविवर्त्त के अतिरिक्त। (जिसका मानवीय शिल्प से सम्बन्ध है), दूसरी प्राकृतिक प्रतिरूपविधा के दो विवर्त्त होजाते हैं। प्रथमविधा तो वह है, जिसका अन्तर्जगत् में प्रतिम्बित ज्ञानीयप्रतिरूपों से सम्बन्ध है, एवं यही ध्यानयोगात्मिका वास्तविक प्रतिरूपविधा है। इसविधा में विदित प्रतिरूप विशुद्ध ज्ञानात्मक है। प्रत्यक्षदृष्टि के आधार पर, अथवा तो शब्दोपवर्णन के आधार पर ज्ञान से विनिर्म्मित ज्ञानीय प्रतिमाओं को माध्यम बनाना ही प्रथम प्राकृतिक प्रतिरूपविधा है। दूसरी प्राकृतिक प्रतिरूपविधा का ईश्वरीयशिल्प से सम्बन्ध है। स्वयं ईश्वरीय व्यापार से विनिर्म्मित आधिभौतिक प्रतिरूपों को माध्यम बनाना ही द्वितीया प्राकृतिक-प्रतिरूपविधा है। प्रथमा ज्ञानीय प्राकृतिक प्रतिरूप विधा के उदाहरण 'अग्निर्मूर्द्धा॰'-'आदित्यमुद्गीथमुपासीत' इत्यादिरूप से पूर्व में बतलाए जाचुके हैं। अब द्वितीया भौतिक-प्राकृतिक-प्रतिरूपविधा के उदाहरणों का दिग्दर्शन कराना शेष रहजाता है। ईश्वरीय १२ विवर्त्तों का 'चेतन, अर्द्धचेतन, अचेतन' इन तीन विवर्त्तों में अन्तर्भाव किया जासकता है। इसी आधार पर तीन उदाहरण बतला देने से विषय गतार्थ बनजाता है। चेतनप्रतिरूप, अर्द्धचेतनप्रतिरूप, अचेतन प्रतिरूप, तीनों उदाहरण प्राकृतिक हैं। तीनों का निर्म्माण ईश्वरीय प्रेरणा से हुआ है। जो महानुभाव प्रतिरूपोपासना (प्रतिमोपासना) की अवैदिकता घोषित करते हुए अणुमात्र भी लज्जा से अवनत नहीं होते, वे देखेंगे कि, तीनों भौतिक प्रतिरूपों का वेद में न केवल वर्णन ही हुआ है, अपितु उसके माध्यम से आधिभौतिकलक्ष्य प्राप्ति का भी उसी वेद में स्पष्टीकरण हुआ है। अस्तु, 'अपने अध्यात्म को अधिभूत प्रतिरूप के माध्यम से अधिदैवत के साथ युक्त करदेना ही उपासना है'-इस तत्त्व को लक्ष्य में रखते हुए हमें क्रमशः तीनों ईश्वरीय (ईश्वरविनिर्म्मित-पाकृतिक) प्राकृतिक प्रतिरूपों का ही संक्षेप से निरूपण करना है—

—५—

* इन कृत्रिमप्रतिरूपविधाओं का स्वरूप, दूसरे शब्दों में मनुष्यशिल्पी द्वारा विनिर्म्मित मिट्टी, काष्ठ, ईष्टपाषाण, धातु आदि की प्रतिमाओं का स्वरूप पुराणशास्त्र में विशेषरूप से उपबृंहित हुआ है। विशेष-जिज्ञासुओं को मत्स्यपुराण के २५८, २५९, २६०, २६३, अध्यायों का एवं अग्निपुराण के ४, ५, १९, ४४, ४५, ४६, ४७, ४८, ४९, ५०, ५१, ५२ अध्यायों का, अवलोकन करना चाहिए। इन स्थलों में कृत्रिमप्रतिरूपविधाओं (अवतारादि की प्रतिमाओं) का विशदरूप से विश्लेषण हुआ है।

७२–आत्म-प्राण-पशु-इन्द्र-वायु-पर्जन्यादि का प्रजापति शब्दान्वयित्व—

सुप्रसिद्ध पार्थिव आध्यात्मिक कर्म्मफलभोक्ता प्राकृतिक 'कच्छप' प्राणी (कुछुआ) ही इस चेतन-प्रतिरूप का प्रधान उदाहरण है। प्राकृतिक, आधिकारिक, कूर्म्मप्रजापति का जैसा स्वरूप है, कच्छप प्राणी का स्वरूप ठीक वैसा ही है। अतएव इस कच्छप भौतिक प्रतिरूप के माध्यम उस आधिदैविक देवसत्यलक्षण ईश्वरप्रजापति (कूर्म्मप्रजापति) की ओर स्वप्रत्यय को प्रवाहित किया जासकता है। वेदशास्त्र में पठित 'प्रजापति' शब्द का शतशः समन्वय हुआ है। अग्नि, इन्द्र, वायु, वरुण, पर्जन्य, आदि सभी के लिए प्रजापति शब्द प्रयुक्त हुआ है। क्यों कि—'आत्म-प्राण-पशुत्त्वं प्रजापतित्वम्' लक्षण का सभी के साथ समन्वय होरहा है। प्रकृत में हमें केवल 'प्रजापति' शब्द से उस प्रजापति की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है, जो 'ईश्वर' नाम से प्रसिद्ध है, एवं जिस का निम्न लिखित लक्षण किया जाता है।

> यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति, य आविवेश भुवनानि विश्वा।
> प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी ॥
>
> —यजुः सं ८।३६।

७३–"यस्मान्न जातः परो" यजुः संहितोक्त मन्त्र की तात्पर्यावगति, एवं त्रिज्योतिः-सम्परिष्वक्त ईश्वर के अमृत-ब्रह्म-देवसत्य त्रिविवर्त स्वरूप का उपबृंहण—

'जिस से अतिरिक्त उत्पन्न होने वालों में दूसरा नहीं है, अर्थात उत्पन्न वस्तु मात्र जो स्वयं ही है, जो इन सम्पूर्ण भुवनों में प्रविष्ट है, जो अपनी उत्पन्न प्रजा से सम्बन्धित है, ऐसा वह षोडशी प्रजापति तीन ज्योतियों से सम्परिष्वक्त है' एवं लक्षण ईश्वर प्रजापति को वैज्ञानिकों ने 'अमृतसत्य, ब्रह्मसत्य, देवसत्य' भेद से तीन विवर्त्तभावों में विभक्त माना है। निष्कल, किंवा एककल परात्पर, पञ्चकल अव्यय, पञ्चकल अक्षर, पञ्चकल आत्मक्षर, इन १६ कलाओं की समष्टि ही षोडशी (षोडशीकल) प्रजापति है। षोडशीकल प्रजापति का निष्कल, अर्द्धमात्रिक, परात्पर भाग 'ज्योतिषां ज्योतिः' है। पञ्चकल अव्ययभाग 'ज्ञानज्योति' है, पञ्चकल अक्षरभाग 'क्रियाज्योति' है, एवं पञ्चकल आत्मक्षरभाग 'अर्थज्योति' (सूर्य्य-चन्द्र-विद्युत्-अग्नि, ताराभेदभिन्नपञ्चभूतज्योति) है। इन तीन ज्योतियों से वह षोडशी सर्वत्र अविभक्त रूप से व्याप्त है।

७४–अमृत ब्रह्म देवसत्य विवेचन एवं साक्षी-भोक्तासुपर्ण का उपवर्णन—

परात्परस्रूप अखण्ड धरातल पर प्रतिष्ठित ज्ञानज्योतिर्म्मय अव्यय 'अमृतसत्य' है। क्रिया-ज्योतिर्म्मय अक्षर 'ब्रह्मसत्य' है। एवं अर्थज्योतिर्म्मय आत्मक्षर 'देवसत्य' है। अमृतसत्य पुरुषविवर्त्त है, ब्रह्मसत्य प्रकृतिविवर्त्त है, देवसत्य विकृतिविवर्त्त है। तीनों ही सत्य त्रिपुरुष (अव्यय, अक्षर, आत्मक्षर) पुरुषात्मक बनते हुए सर्वात्मक हैं। अमृतसत्य अक्षर-क्षरपुरुषद्वयी-गर्भित अव्ययपुरुष प्रधान है, ब्रह्मसत्य अव्यय-क्षरपुरुषद्वयीगर्भित अक्षरपुरुषप्रधान है, देवसत्य अव्यय-अक्षरपुरुषप्रधान है, देवसत्य अव्यय-अक्षर-

पुरुषद्वयी गर्भित आत्मक्षरप्रधान है। अतएव अमृत से अव्यय का, ब्रह्म से अक्षर का, देव से आत्मक्षर का भी (प्रधानतया) ग्रहण किया जासकता है। अव्ययप्रधान अमृतसत्य विज्ञानभाषा में 'महेश्वर' कहलाया है। अक्षरप्रधान-ब्रह्मसत्य 'उपेश्वर' कहलाया है। एवं आत्मक्षरप्रधान देवसत्य 'ईश्वर' कहलाया है। 'द्वासुपर्णा सयुजा सखाया०' इत्यादि ऋङ्मन्त्र में उपवर्णित दोनों सुपर्णों में एक साक्षी सुपर्ण एक भोक्तासुपर्ण है। साक्षी सुपर्ण ईश्वर माना गया है, भोक्तासुपर्ण जीव माना गया है। वैश्वानराग्नि, तैजसवायु, प्राज्ञ इन्द्र, तीनों की समष्टिरूप अग्नि-वायु-आदित्यदेवमूर्तिभोक्ता जीवात्मा-अग्नि लक्षणविराट् वायुलक्षण हिरण्यगर्भ, आदित्यलक्षण सर्वज्ञ, तीनों की समष्टिरूप जिस साक्षी सुपर्ण का सखा माना गया है, वह आत्मक्षर प्रधान देवसत्यलक्षण 'ईश्वर' विवर्त्त ही है।

७५-सहस्रवल्शेश्वर महामायावच्छिन्न प्रजापति का "उपेश्वरत्व" एवं वल्शेश्वरलक्षण उपेश्वर का ब्रह्मसत्यान्तर्भाव—

अमृतसत्यमूर्त्ति, अव्ययप्रधान, षोडशी प्रजापति एक स्वतन्त्र प्रजापति है, यही महेश्वर है, जिसे 'सहस्रवल्शेश्वर' भी कहा जासकता है। महामायावच्छिन्न होने से ही-'मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्' (श्वे० उप०) के अनुसार यह महेश्वर कहलाए हैं। मायी महेश्वर के गर्भ में वेदतत्त्वानुगता सुप्रसिद्ध 'साहस्रीविद्या' के आधार पर एक सहस्र योगमायाविवर्त्तों का प्रादुर्भाव होता है। प्रत्येक योगमायाविवर्त्त से परिच्छिन्न योगमाया ब्रह्मसत्यमूर्त्ति, अक्षरप्रधान, षोडशी प्रजापति एक स्वतन्त्र प्रजापति है, यही उस महामायी सहस्रवल्शेश्वर-लक्षण महेश्वर के उप रहता हुआ 'उपेश्वर' कहलाया है। इस का योगमायात्मिका केवल एकवल्शा से सम्बन्ध है, जिस वल्शा में स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी, ये पुण्डीर हैं। पांच पुण्डीरों के सम्बन्ध से ही यह वल्शा 'पञ्चपुण्डीरा प्राजापत्यवल्शा' कहलाई है। प्रत्येक वल्शा का अन्तिम पर्व पृथिवी है। पृथिवी पर्व अग्नि-प्रधानता है। अग्नि चित्य (मर्त्य), चितेनिधेय (अमृत) भेद में दो प्रकार का है। चित्याग्नि से भूपिण्ड का स्वरूप निर्म्माण हुआ है, एवं इस चित्याग्निलक्षणा पृथिवी (भूपिण्ड) का वल्शेश्वरलक्षण उपेश्वरनामक ब्रह्मसत्य में ही अन्तर्भाव है। चितेनिधेयाग्नि से प्राणात्मिका त्रैलोक्यरूपा महापृथिवी का स्वरूप निर्म्माण हुआ है। तदवच्छिन्न-अग्नि-वायु-आदित्य कृतमूर्ति, विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञात्मक योगमायी, देवसत्यमूर्त्ति, आत्मक्षरप्रधान, षोडशी प्रजापति एक स्वतन्त्र प्रजापति है, जिसे रोदसीत्रैलोक्य प्रजा का ईशिता (ईशत-ईशनीभिः-श्वे० उ०....) होने से 'ईश्वर' कहा जासकता है।

७६-षोडशी प्रजापति के मायानुबन्धी अमृत-ब्रह्म-देव त्रिविवर्त, एवं त्रिविवर्त की "षोडशी" नामान्वितिमूलाव्याख्या—

सहस्रवल्शेश्वर अमृतसत्य (महेश्वर), एकवल्शेश्वर ब्रह्मसत्य (उपेश्वर), महापृथिव्यात्मक-प्रजेश्वर देवसत्य (ईश्वर), तीनों उस ही षोडशी प्रजापति के मायानुबन्धी तीन विवर्त्त हैं। वही अपने अमृतलक्षण अव्ययरूप से महेश्वर है, ब्रह्मलक्षण अक्षररूप से उपेश्वर है, एवं देवलक्षण, किंवा शुक्रलक्षण

अक्षरस्वरूप से ईश्वर है—'तदेव शुक्रं, तद्ब्रह्म, तदेवामृतमुच्यते'। तीनों सत्यों में (प्रत्येक में) भुक्त तीन ज्योति विवर्त सम, विषमरूप से दो दो भागों में विभक्त माने गए हैं। अव्ययात्मकज्ञानज्योति अक्षरात्मक क्रियाज्योति, क्षरात्मक अर्थज्योति, तीनों स्थानों में 'समोऽहं सर्वभूतेषु' न्याय से समान हैं, अतएव तीनों को 'षोडशी' कहना अन्वर्थ बनता है। इस समान भाव के अतिरिक्त महेश्वर में ज्ञान-क्रिया-अर्थज्योतियों का प्राधान्य है, उपेश्वर में-वाक्-विद्युत्-अग्नि ज्योतियों का प्राधान्य है, एवं ईश्वर में सूर्य-चन्द्र-अग्नि-ज्योतियों का प्राधान्य है। इस दृष्टि से तीनों के तीनों ज्योति विवर्त विषम बने हुए हैं।

७७-आत्म-शुक्र-भूत-ज्योतिस्त्रिक एवं आत्मा के अव्यय-अक्षर-क्षरात्मक पर्वत्रय--

दूसरे शब्दों में इसी स्थिति का यों भी विश्लेषण किया जासकता है कि, आत्मज्योति, शुक्रज्योति, भूतज्योति, भेद से ज्योति तीन भागों में विभक्त है। आत्मा के अव्यय (ज्ञान), अक्षर (क्रिया), क्षर (अर्थ), तीन पर्व हैं, जिन के लिए 'आत्मा उ त्रा एकःसन्नेतत्त्रयम, त्रयं सदेकमयमात्मा (शत० १४।..........) यह कहा जाता है। मनोमय अव्ययं ज्ञानज्योतिर्मय है, प्राणमय अक्षर क्रियाज्योतिर्मय वाङ्मय क्षर अर्थज्योतिर्मय है। इस त्रिज्योति का ही नाम आत्मज्योति है, जिस का प्रधानतः अमृत-सत्यलक्षण मायी महेश्वर प्रजापति से सम्बन्ध है।

७८-शुक्रज्योति के वागवग्निरूप त्रिविवर्त एवं इन त्रिविवर्तों के स्वरूप का विशकलन—

शुक्र के वाक्-आपः-अग्निः, ये तीन विवर्त हैं। वाक् स्वायम्भुव तत्त्व है, यही सत्यावाक् है। आपः-पारमेष्ठ्य तत्त्व है, अग्नि सौरतत्त्व है। शुक्र के मर्त्यस्वरूपों का क्रमशः सूर्य-चन्द्रमा-भूपिण्ड से सम्बन्ध है। मर्त्य सूर्य-मर्त्याग्निशुक्रमय है, चन्द्रमा मर्त्य अप्-शुक्रमय है, भूपिण्ड मर्त्यवाक्शुक्रमय है। भूपिण्ड मध्यस्थ-सूर्य्य में अमृताग्नि शुक्र, मर्त्याग्नि शुक्र, दोनों का समन्वय होरहा है, जैसाकि-'निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च' श्रुति से प्रमाणित है। इस प्रकार स्वयम्भू-परमेष्ठी-अमृतसूर्य्य-मर्त्यसूर्य्य-चन्द्रमा-भूपिण्ड, इन ६ वल्शापर्वों में क्रमशः अमृतवाक्, अमृतअप्, अमृताग्नि, मर्त्याग्नि, मर्त्यापः, मर्त्यावाक्, इन ६ शुक्रों का उपभोग होरहा है। ६ के शुक्रत्वेन वाक्-आपः-अग्निः-ये तीन ही विवर्त रह जाते हैं। वाग्ज्योति अव्ययानुगत ज्ञानज्योति से अब्ज्योति अक्षरानुगत क्रियाज्योति से, अग्निज्योति क्षरानुगत अर्थज्योति से समतुलित है। यही त्रिज्योति शुक्रज्योति है, जिसका प्रधानतः यज्ञसत्यलक्षण उपेश्वर प्रजापति से सम्बन्ध है।

७९-पार्थिवाग्नि-(विद्युदाद्यनुगत) अन्तरिक्ष्य-चन्द्र-दिव्यसूर्य्य त्रिविवर्तात्मक पार्थिव-भूत, एवं प्रक्रान्त परिलेख परिचायी अग्निचन्द्रादित्य-ज्योतिःस्वरूप-निरूपण—

पार्थिवभूत के अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य्य, ये तीनविवर्त हैं। अग्नि पर्थिव है, चन्द्रमा (तदनुगत वायु, और विद्युत्) आन्तरिक्ष्य है। सूर्य्य (सूर्य्यप्रवर्ग्यभूत एकविंशस्थ आदित्यप्राण) दिव्य है। पार्थिवस्तोम्य त्रिलोकी से सम्बन्ध रखने वाली पार्थिव त्रिवृतस्तोमावच्छिन्न विराट्पर्व से तदवच्छिन्न अग्निज्योति का सम्बन्ध है।

पार्थिव आन्तरिक्ष्य पञ्चदश स्तोमावच्छिन्न हिरण्यगर्भ पर्व से तदवच्छिन्न चान्द्रज्योति (एवंविध ज्योति) का सम्बन्ध है । एवं पार्थिव (दिव्य) एकविंशस्तोमावच्छिन्न सर्वज्ञपर्व से तदवच्छिन्न आदित्यज्योति का सम्बन्ध है । सर्वज्ञपर्वानुगत आदित्यज्योति अव्ययानुगतज्ञानज्योति से, हिरण्यगर्भ पर्वानुगत चान्द्रज्योति अक्षरानुगत क्रियाज्योति से, एवं विराट्पर्वानुगत अग्निज्योति क्षरानुगत अर्थज्योति से समतुलित है । यही त्रिज्योति भूतज्योति है, जिसका प्रधानतः देवसत्यलक्षण ईश्वरप्रजापति से सम्बन्ध माना गया है । * निम्नलिखित परिलेखों से तीनों विवर्त्तों का स्पष्टीकरण होरहा है—

(१) सहस्रवल्शेश्वरः-माहामाया-महेश्वरप्रजापतिः-षोडशी—

(अमृतसत्यप्रजापतिः-अव्ययप्रधान)

१-अव्ययः—ज्ञानज्योतिः (मनोमयः-मनोज्योतिः)
२-अक्षरः—क्रियाज्योतिः (प्राणमयः-प्राणज्योतिः) } -आत्मज्योतिः
३-आत्मक्षरः—अर्थज्योतिः (वाङ्मयः-वाग्ज्योतिः)

* * *

(२)-एकवल्शेश्वरः-योगमायी-उपेश्वरप्रजापतिः-षोडशी—

ब्रह्मसत्यप्रजापतिः-अक्षरप्रधानः-

स्वयम्भूः-वाङ्मयः (१)

परमेष्ठी—आपोमयः (२)

{ अमृतसूर्य्यः—अग्निमयः, मर्त्यसूर्य्यः—अग्निमयः } -(३) } अग्निज्योतिः -क्षरानुगतम् } आपोज्योतिः -अक्षरानुगतम् } वाग्ज्योतिः -अव्ययनुतम् } शुक्रज्योतिः

चन्द्रमाः—आपोमयः (४)

पृथिवी—वाङ्मयः (५)

* * *

---

* इन तीनों विवर्त्तों का भक्तिपरीक्षा पूर्वखण्ड में भी अन्यदृष्टिकोण से समन्वय किया जाचुका है ।

(३)-बल्शाग्रभागस्थः-योगमायी-ईश्वरप्रजापतिः-षोडशी—देवसत्यप्रजापतिः-आत्मक्षरप्रधानः-

१-एकविंशस्तोमावच्छिन्नः-आदित्यानुगतः सर्वज्ञः—	सूर्य्यज्योतिः अव्ययानुगतम्	—भूतज्योति :
२-पञ्चदशस्तोमावच्छिन्नः-चन्द्रानुगतः- हिरण्यगर्भः—	चन्द्रज्योतिः अक्षरानुगतम्	
३-त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्नः —पृथिव्यनुगतः —विराट्—	अग्निज्योतिः क्षरानुगतम्	

* * *

सर्वसंग्रहः—

१-अक्षरात्मक्षरगर्भितः, सहस्रवल्शेश्वरः-सहस्रोपेश्वराध्यक्षः-महामायी-अमृतमत्यः षोडशी

२-अव्ययात्मक्षरगर्भितः, एकवल्शेश्वरः-पञ्चपुण्डीराध्यक्षः-उपेश्वरः—ब्रह्मसत्यः षोडशी

३-अव्ययाक्षरगर्भितः, वल्शाग्रस्थः- पार्थिवप्रजाध्यक्षः-ईश्वरः— देवसत्यः षोडशी

तदित्थम्-अमृतसत्यसंस्थायां ज्ञान-क्रिया-र्थज्योतिर्भावैः, आत्मभावेन, ब्रह्मसत्यसंस्थायां-वाक्-आपः-अग्निज्योतिर्भावैः, शुक्रभावेन, देवसत्यसंस्थायां-सूर्य्य-चन्द्र-अग्नि-ज्योतिर्भावैः, भूतभावेन व्याप्तः सन्-अव्ययानुगतज्ञानज्योति- अक्षरानुगत-क्रियाज्योति-आत्मक्षरानुगतार्थज्योतिर्भावैः सर्वत्र त्रिषु स्थानेषु व्याप्तः सन्-प्रजापतिः षोडशी-एवेदं सर्वंयदिदं किञ्च ।

* * *

८०-आधिदैविकोपास्यतत्त्वस्य त्रिप्राजापत्यविवर्त्ताधारेणैव प्रतिज्ञात-चेतनार्धचेतनाचेतन प्रतिरूप प्रतिष्ठानम्, कच्छपाश्वत्थशालग्राम-प्रतिरूप-निरूपणम्, एवं चानुक्रमेणेश्वरमहेश्वरोपासना समन्वितिसमाम्नानम्—

आधिदैविक उपास्यतत्त्व के उक्त तीनों प्राजापत्य विवर्त्तों के आधार पर ही प्रतिज्ञात चेतन-अर्द्ध-चेतन-अचेतन प्रतिरूप प्रतिष्ठित हैं। अर्द्धचेतनात्मक अश्वत्थवृक्ष (पिप्पलवृक्ष) महामायीमहेश्वर का

अर्द्धचेतनप्रतिरूप है। अचेतनात्मक शालग्राम योगमायी उपेश्वर का अचेतनात्मक प्रतिरूप है। चेतनात्मक कच्छप प्राणी योगमायीद्यावापृथिव्य ईश्वर का चेतनात्मक प्रतिरूप है। अश्वत्थवृक्ष के माध्यम से महेश्वर लक्ष्य बनता है, शालग्राम के माध्यम से उपेश्वरोपासना गतार्थ बनती है, एवं कच्छप के माध्यम से ईश्वरोपासना का निर्वाह होता है। इस दृष्टिकोण से भी हमने इन तीन उदाहरणों का ही संग्रह विज्ञानमोदित-माना है।

१–मायीमहेश्वरः—तत्प्रतिरूपः–अश्वत्थवृक्षः (अर्द्धचेतनप्रतिरूपः (२)

२–उपेश्वरः— —तत्प्रतिरूपः–शालग्रामः (अचेतनप्रतिरूपः) (३)

३–ईश्वरः— —–तत्प्रतिरूपः–कच्छपः (चेतनप्रतिरूपः) (१)

८१–आधिदैविकेश्वरप्रजापतिनिगूढकूर्म्मप्रजापतिप्रतिरूपाशङ्कानिराकृतये "ईशावास्य मिदं सर्वम्" "कश्यपात् सकलं जगत्" प्रभृति औपनिषद-स्मार्त-सिद्धान्त-निरूपण—

तीनों सृष्टिक्रम में चेतन, अर्द्धचेतन, अचेतन, यह क्रम है। इस क्रम से उदाहरणविधाओं में भी कच्छप, अश्वत्थ, शालग्राम, यही क्रम रक्खा जाएगा। इस क्रम के अनुसार प्रथमस्थानीय चेतनकच्छप प्रतिरूप की ओर ही सर्वप्रथम तत्त्वोपासकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। कच्छप प्राणी आधिदैविक देवसत्यात्मक ईश्वरप्रजापति (कूर्म्मप्रजापति) का प्रतिरूप कैसे है ?, इस प्रश्न के समाधान के लिए संक्षेप से कूर्म्मप्रजापति के तात्त्विक स्वरूप का विश्लेषण अपेक्षित होगा। 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्' इस औपनिषद सिद्धान्त से समतुलित–'कश्यपात् सकलं जगत्' इस स्मार्त्त सिद्धान्त के अनुसार कश्यपप्रजापति से ही सम्पूर्ण लोकसृष्टि की उत्पत्ति हुई है। इसी आधार पर यह भी किंवदन्ती प्रचलित हुई है कि,–जिसका कोई गोत्र नहीं, उसका कश्यपगोत्र'।

८२–कश्यप-कौशिक-वशिष्ठागस्त्य-हारीतादि ऋषिनामों के प्राण-प्राणिविध दो भेद, आधिदैविक सृष्टिकर्म्म-नियुक्त स्वायम्भुवापौरुषेयतत्व वेदानुगत-रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दमात्रातीताधामच्छदमौलिक प्राणविध-ऋषिवर्ग, एवं तदाधारेणैव "ऋषिभ्यः पितरो जाताः" इत्यादि श्रौतस्मार्त सिद्धान्त समन्वित प्राणिविध ऋषिवर्ग, तद्दिग्दर्शन—

कश्यप, विश्वामित्र, वशिष्ठ, अगस्त्य, मत्स्य, आदि आदि जितने भी ऋषिनाम सुने जाते हैं, उनके प्राणविध, प्राणीविध, भेद से दो दो विवर्त्त समझने चाहिए। आधिदैविक–सृष्टिकर्म्म में नियुक्त स्वायम्भुवअपौरुषेयतत्ववेदानुगत रूप–रस–गन्ध–स्पर्श–शब्दमात्रातीत होने से अधामच्छद (अमूर्त्त-इन्द्रियातीत) मौलिक तत्त्वविशेष ही 'असल्लक्षण प्राण' कहलाए हैं, ये मौलिक प्राण ही—'ते सर्वस्मादिदमिच्छन्तः श्रमेणतपसा अरिषन्, तस्मादृषयः' इस निर्वचन से 'ऋषि' कहलाए हैं, यही प्राणविध

ऋषिवर्ग है *। प्राणविध ऋषिवर्ग के आधार पर ही—'ऋषिभ्यः पितरोजाता, पितृभ्यो देवदानवाः, देवेभ्यश्चजगत्-सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः' (मनु······) इत्यादि स्मार्त्तसिद्धान्तों का, एवं-'सर्वाः प्रजाः काश्यप्यः' (शत०········)-'अर्चिषि भृगुः सम्बभूव, अङ्गारेऽप्यङ्गिराः सम्बभूव' (················) 'वागेवात्रिः' (शत०········) इत्यादि श्रौतसिद्धान्तों का समन्वय हुआ है। इन ऋषिप्राणों की परीक्षाकर इनके आधार पर यज्ञविद्या का आविष्कार करने वाले मानवऋषि प्राणी-चित्रऋषि कहलाए हैं। जिसप्राण का जिस तत्त्ववेत्ता ने सर्वप्रथम आविष्कार किया, वह तत्त्ववेत्ता भी उसी नाम से प्रसिद्ध होगया। यही उस तत्त्ववेता का यशोनाम कहलाया, जैसाकि उपनिषद्विज्ञान,भाष्यभूमिका-द्वितीय-खण्ड के 'ऋषिस्वरूपनिरूपण' प्रकरण में विशद वैज्ञानिक विवेचन हुआ है। प्रकृत में प्राणविध ऋषि-तत्त्व से सम्बन्ध रखने वाले कश्यप स्वरूप का ही दिग्दर्शन अपेक्षित है।

८३-अम्भः-मरीचि-मर-आपः-चतुःश्रेणि विभक्त अप्तत्व, एवं तत्स्वरूपोपबृंहण—

अप्तत्त्व के अम्भः, मरीचिः, मरम्ः, आपः, ये चार श्रेणिविभाग माने गए हैं। उपेश्वर स्वरूप का दिग्दर्शन कराते हुए जिन स्वयम्भू आदि वल्शापुरों का उल्लेख किया गया था, उन पाँच विश्वपर्वों में सर्व प्रथम प्रतिष्ठित, प्रादुर्भूत स्वयम्भू में अप्तत्त्व का अभाव है। शेष चारों विवर्त्तों में अप्तत्त्व का समन्वय है। स्वायम्भुवी वेदवाक् से सर्वप्रथम जो अप्तत्त्व उत्पन्न होता है *, वही परमेष्ठी संस्था का स्वरूप समर्पक बनता है। एवं यही पारमेष्ठ्य अप्तत्त्व 'अम्भः' नाम से व्यवहृत हुआ है, जो कि, प्रकृत्या सोमगुणक माना गया है। सूर्य्यात्मिक द्युलोक से परे परमेष्ठी में ही इस की प्रथमव्याप्ति है। अम्भःरूप सोम ही सौर सावित्राग्नि में आहुत होकर सौर द्युलोक की प्रतिष्ठा बनता है, अतएव अम्भः को द्यु-प्रतिष्ठा माना गया है। यही अम्भः उत्तर दिगनुगामी बनकर भूतल से स्पर्शकर 'गङ्गा' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। गाङ्गेय का माहात्म्य इसी अम्भः पर निर्भर है।

---

*—"असद्वा इदमग्र आसीत्। तदाहुः-'किंतदसदासीत्' इति ?, ऋषयो वाव तदग्रेऽसदासीत्। तदाहु'-'के ते ऋषयः' इति ?, प्राणा वा ऋषयः। ते यत् पुरास्मात् सर्वस्मादिदमिच्छन्तः श्रमेण तपसा-रिषंस्तस्माहषय;"—शत० ६।१।१।१।

---

*—"आत्मा (स्वयम्भूः) वा इदमेक एवाग्र आसीत्, न्यान्यत् किञ्चन मिषत्। स ईक्षत-'लोकान्नु सृजा' इति। स इमाँल्लोकानसृजत-अम्भो मरीचि मर आपः। अदोऽम्भः परेण दिवं, द्यौः प्रतिष्ठा। अन्तरिक्ष मरीचयः। पृथिवी मरः। या अध स्तात्-ता आपः"।

—ऐ० उप० १।१,२।

'ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् ।
महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत् तमोनुदः ॥१॥
योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः ।
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः, स एव स्वयमुद्बभौ ॥१॥
सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजा ।
अप एव ससर्जादौ तासु बीज मवासृजत ॥२॥

मनु---: १।६,७,८,

८४-"अम्भो" लक्षण "आपः-से पूर्ण परमेष्ठी गर्भ में सूर्य्य-जन्म, रश्मि संघर्षोत्पन्न "मरीचि" एवम् गाङ्गेय यामुनेय-अम्भः का सौम्याग्नेय-प्रकृतिमत्त्व—

अम्भोलक्षण आपः से परिपूर्ण परमेष्ठी के गर्भ में सूर्य्य का जन्म होता है । इस के लिए—'तासुबीजमवासृजत' कहा जाता है । सूर्य्यरश्मियाँ प्रतिक्षण प्राणन-अपानव्यापार करती रहती हैं । रश्मियों के इस प्राणनापानन से संघर्ष होता है । संघर्ष से सौरअग्नि 'अग्नेरापः' सिद्धान्तानुसार अब्रूप में परिणत होजाता है । रश्मिसंघर्ष से उत्पन्न, अग्निगुणक यही सौरपानी 'मरीचि' कहलाया है । जहांतक सौर रश्मियाँ व्याप्त हैं, वहां तक यह तेजोमय मरीचि व्याप्त है । अतएव सौररश्मिमण्डल को अवश्य ही 'मरीचिमण्डल' कहा जासकता है । जिस प्रकार गाङ्गेय के साथ पारमेष्ठ्य अम्भः का, सम्बन्ध है, एवमेव यामुनेय के साथ सौरमरीचि पानी का सम्बन्ध है । अतएव गाङ्गेय जहाँ प्रकृत्या सौम्य है, वहाँ यामुनेय प्रकृत्या आग्नेय हैं । इसी मरीचि-सम्बन्ध से सौरप्राणविशेष 'यम' को यमुना का भ्राता माना गया है । इसी आधार पर 'भातृद्वितीया' [भइया दोज] को यमुना तट पर सहोदर भ्राता को भोजन कराने का विशेष महत्त्व माना जाता है, जैसा कि-'हिन्दू त्यौंहारों का वैज्ञानिक रहस्य' नामक स्वतन्त्र निबन्ध के तत्प्रकरण में विस्तार से निरूपित है ।

८५-प्राणि-तृषा-शामक पार्थिवमृद्भाग मूर्च्छित "मर" नाम्ना प्रसिद्ध अप्तत्व, एवं चान्द्र-सौम्य-पितृ तृषा-शामक श्रद्धाप्राण "आपः" अप्तत्व का निर्वचन—

पार्थिव मृत्-भाग से मूर्च्छित पेय पानी 'मर' नाम से प्रसिद्ध है । यह मरणधर्मा मनुष्यों की तृषाशान्त करता है । चान्द्रपानी 'श्रद्धा' नाम से प्रसिद्ध है, जिस से चान्द्र-सौम्य पितरों की तृषा शान्त होती है । यही श्रद्धा 'आपः' नामक चौथा पानी है । सृष्टिक्रम में चन्द्रमा अन्तिम पर्व है । अतएव इस चन्द्र-आपः के लिए-'या अधस्तात्-ता आपः' कह दिया जाता है । 'श्रद्धा का निरूपण पूर्व के 'उपासना लक्षण निर्वचन' प्रकरण में विस्तार से किया जाचुका है । इस प्रकार परमेष्ठी, सूर्य्य, पृथिवी, चन्द्रमा, भेद से अप्तत्त्व अम्भः-मरीचि-मरम्-आपः-रूप से चार प्रकार का होजाता है ।

८६-कूर्म्म प्रजापति का सौररश्मि मण्डलस्थ आग्नेय "मरीचि" से सम्बन्ध, एवं तत्प्राणयुक्त-कश्यप (कूर्म्म) अनुबन्धी निर्वचन—

उक्त चारों पानियों में से प्रकृत में सौररश्मिमण्डलस्थ आग्नेय 'मरीचि' पानी से ही हमारे कूर्म्म प्रजापति का सम्बन्ध है। भौतिक मरीचि पानी का आधार भूत आप्य प्राण भी 'मरीचि' कहलाया है। प्राणात्मक यही 'मरीचि' ऋषि ही दूसरे शब्दों में मरीचिप्राणयुक्त मरीचि पानी ही कूर्म्म प्रजापति का जनक बनता है। मरीचि—अप्तत्वानुगत मरीचि ऋषि [प्राण] का जिस विद्वान् ने सर्वप्रथम अन्वेषण किया, वह भी 'मरीचि' नाम से ही प्रसिद्ध होगया। मरीचिप्राण से उत्पन्न कश्यप [कूर्म्म] प्राण की परीक्षा मरीचि ऋषि के पुत्र ने की, अतएव वे 'कश्यप' नाम से प्रसिद्ध होगए। बड़ा ही आश्चर्यप्रद समन्वय है, जो एकमात्र मरीचि, और कश्यपप्राण के सम्बन्ध में ही घटित हुआ है। प्रकृति में मरीचि प्राण पितृ स्थानीय है, कश्यपप्राण पुत्रस्थानीय है। वहाँ भी पितृस्थानीय मरीचि प्राण का साक्षात्कार पिता मरीचि ने किया, एवं पुत्रस्थानीय कश्यप प्राण का साक्षात्कार मरीचिपुत्र कश्यप महर्षि ने किया।

८७-सौरमरीचिमण्डलावच्छिन्न द्यावापृथिव्य रसात्मक "कश्यप" एवं दिति-अदिति आदि तत् पत्नियाँ—

सौरमरीचिमण्डलावच्छिन्न द्यावा-पृथिव्य रसात्मक तत्त्वविशेष ही 'कश्यप' है। सौरदिव्यप्राण, आन्तरिक्ष्यव्यान, पार्थिवअपान, तीनों प्राणों से सौरमरीचि प्राणाधारेण उत्पन्न लोकत्रयरसात्मकयोगजप्राण ही कश्यप है। क्योंकि, सौरमरीचिप्राण इस की मूलप्रतिष्ठा बनता है, अतएव इसे अवश्य ही 'कश्यपो वै मारीचः' के अनुसार 'मरीचिपुत्र' कहा जासकता है। पितृःपरिमण्डल ही पुत्रायतनभूमि बनता है। अदिति, दिति, दनु, आदि तेरह दाक्षायणी इस कश्यप की पत्नियाँ मानी गई हैं *। दक्षवृत्त के सौरप्राणात्मक कश्यप के सम्बन्ध से (त्रयोदशमासात्मक-सम्वत्सर विधा से) तेरह अवयव होजाते हैं। इन्हीं अवयवों से यह दर्शपूर्णमास नामक प्राकृतिक यज्ञद्वारा प्रजासृष्टि में समर्थ होता है।

---

*-मरीचेः कश्यपः पुत्रः, कश्यपात्तु इमाः प्रजाः।
प्रजज्ञिरे महाभाग दक्षकन्यास्त्रयोदश ॥१॥
अदिति, दिति, दनुः, काला, दनायुः, सिंहिका तथा।
क्रोधा, प्राधा च, विश्वा च, विनता, कपिला, मुनिः ॥२॥
कद्रुश्च, मनुजव्याघ्र ! दक्षकन्यैव भारत !"
—महाभारत-१।६५।११-१३।

८८-श्रीमद् भागवत वर्णनानुसृत सप्तदश दक्ष कन्याओं एवं तत्तत् प्रसूतियों का वर्णन—

श्रीमद्भागवत में १३ के स्थान में १७ दक्ष कन्याओं का उल्लेख हुआ है।। वहाँ बतलाया गया है कि, [1] अदिति से देवदेवता, [2] दिति से दैत्य, [3] दनु से दानव, [4] काष्ठा से अश्वादि, [5] अरिष्टा से गन्धर्व, [6] सुरसा से राक्षस, [7] इला से वृक्ष, [8] मुनि से अप्सरोगण, [9] क्रोधवशा से सर्व [10] ताम्र से श्येन [बाज] गृध्रादि, [11] सुरभि से गो-महिषादि, [12] सरमा से श्वापद, [13] तिमि से यादोगण, [14] विनता से गरुड़-अरुण, [15] कद्रु से नाग, [16] पतङ्गी से पतङ्ग, [17] यामिनी से शलभ उत्पन्न हुए हैं। (देखिए श्रीमद्भागवत·········)।

८९-"द्वादश वै मासा, संवत्सरस्य, त्रयोदश वा" इत्यादि वैज्ञानिक दृष्ट्याधारेण आदित्यात्मक "कश्यप" की भोगानुबन्धिनी दक्ष कन्याओं का त्रयोदशत्व, दक्ष वृत्त के चन्द्र-धर्म्मारिष्टनेमि-कृशाश्वाङ्गिराभृगुपुत्रभोगसम्बन्धेन सप्त चत्वारिंशत् विभाग एवं कश्यपभुक्त त्रयोदश दक्षकन्या समन्वयेन सम्भूय षष्टि विभाग, तन्निरूपण—

वस्तुतस्तु अन्यपुराण-सन्दर्भों के अनुरोध से, तथा 'द्वादश वै मासाः सम्वत्सरस्य, त्रयोदश वा (मलिम्लुच सहयोगेन)' इत्यादि वैज्ञानिक दृष्टि से आदित्यात्मक कश्यप के भोग से सम्बन्ध रखने वाली दक्षकन्या १३ ही मानी जानी चाहिए। मार्कण्डेय ने जिन १७ दक्षकन्याओं का कश्यप से सम्बन्ध बतलाया है, उन का १३ में ही अन्तर्भाव है। अवान्तर विभूतियों के सम्बन्ध से ही वहाँ १७ का उल्लेख कर दिया गया है। दक्षस्तु षष्टिकन्यास्तु' इत्यादि पुराणवचनानुरोध से भी १३ ही पत्नियाँ सिद्ध होती हैं। चान्द्र-परिभ्रमण वृत्त ही 'दक्ष' कहलाया है। सोमात्मक होने से यह योषाप्राणरूप है। योषा सम्बन्ध से ही इस के सौम्य पर्व 'कन्या' [स्त्रीसन्तान] कहलाए हैं। २७ नक्षत्र भेद से नक्षत्राधिपति चन्द्रमा के परिभ्रमणानुरोध से पूरे दक्ष के २७ विभाग होजाते हैं, ये ही चन्द्रमा की २७ पत्नियाँ मानी गई हैं। धर्म्मतत्त्व सम्बन्ध से पूरे दक्ष वृत्त के १० विभाग होजाते हैं। स्वस्तिकानुगत चतुर्द्धा विभक्त अरिष्टनेमि के सम्बन्ध से पूरे दक्ष वृत्त के ४ विभाग होजाते है। कृशाश्वा के सम्बन्ध से पूरे दक्ष के २ विभाग होजाते हैं। अङ्गिरा के सम्बन्ध से पूरे दक्ष वृत्त के २ विभाग होजाते हैं। इसप्रकार चन्द्रमा-धर्म्म-अरिष्टनेमि-कृशाश्वा-अङ्गिरा-भृगुपुत्र-के भोग-सम्बन्ध से एक ही दक्षवृत्त २७-१०-४-२-२-२-सम्भूय [४७] विभाग होजाते हैं। शेष कुल १३ ही विभाग होजाते हैं। त्रयोदशमासात्मक, आदित्यप्राणमूर्त्ति कश्यप के भोग सम्बन्ध से दक्ष के १३ ही विभाग प्रकृतिसिद्ध हैं। १३ के समन्वय से ६० विभाग होजाते हैं। निम्न लिखित वचन इसी विभाग का समर्थन कर रहा है—

ददस्तु पष्टिकन्यास्तु–सप्तविंशतिमिदन्वे ॥
ददौ, स दश धर्म्माय, कश्यपाय त्रयोदश ॥१॥
द्वे चैवाङ्गिरसे प्रादात, द्वे कृशाश्वाय धीमते ॥
द्वे चैव भृगुपुत्राय, चतस्रोऽरिष्ट नेमिने ॥२॥
(सर्वपुराणेषु)

६०–प्रजासृष्टि के साथ कश्यप का साक्षात् और परम्परा सम्बन्ध, परम्परा सम्बन्ध निदर्शनानुवर्ती अन्न का रसासृग्-मांस-मेदः-अस्थि-मज्जा-सञ्चरित "शुक्र" रूप परिणमन, वनस्पति-अन्नादि के द्रवत्व का सौराग्नि प्रवेश से घनभाव, दुग्ध में दधि आतञ्चन का लौकिक उदाहरण. मधुविद्या रहस्य एवं पर्य्युषितान्नादि प्रकरण का "तृणं स्पृशति" निदर्शन—

कश्यप की प्रजासृष्टि के साथ कश्यप का साक्षात, परम्परया, उभयथा सम्बन्ध है। पहिले परम्परा–सम्बन्ध को ही लीजिए। पार्थिव शरीराग्नि में आहुत अन्न ही रस–मल के क्रमिक विश्लेषण से रस, असृक्, माँस, मेद, अस्थि, मज्जा, रूप से परिणत होता हुआ सातवें सञ्चार में 'शुक्र' रूप में परिणत होजाता है। यही शुक्र योषिद्गर्भस्थशोणिताग्नि में आहुत होकर प्रजारूप में परिणत होता है, जैसा कि— 'पुमान् रेतः सिञ्चति योषितायां बह्वीः प्रजाः पुरुषात् सम्प्रसूताः' [मुण्डक २।१।५] इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है। * प्रजा का उपादान भूत शुक्र परम्परया अन्नात्मक है। पार्थिव अन्न की उत्पत्ति–सोमाश्रय, प्रतिष्ठित हैं। अन्नगत घन भाग [दाना] 'दधि' रस है। घनीभूत दुग्ध ही दधि कहलाया है। अपरिप-क्वावस्था में खेतों का अन्न प्रवाही रस (दुग्ध–दूधिया–कच्चा) से युक्त रहता है। सौराग्नि द्वारा प्रविष्ट इन्द्र के समावेश से कालान्तर में यही अन्नगत दुग्ध घन भाव में परिणत होजाता है–(पक जाता है, बन जाता है)। यही अन्नदुग्ध की दध्यवस्था है। दधिभाव के लिए इन्द्रतेज का समावेश अपेक्षित है। अतएव लोक में भी दुग्ध को दधिरूप में परिणत करने के लिए 'दधि' का ही आतञ्चन (जोमण) दिया जाता है। दधि का वैदिक नाम 'सान्नाय्य' है, जो दर्शेष्टि में इन्द्र के लिए विहित है। सान्नाय्य (दधि) इन्द्र-प्राणात्मक होने से ही इन्द्रतर्पक माना गया है। अतएव दधि का ही आतञ्चन दिया जाता है। दधि प्रतिष्ठित इन्द्र प्राण दुग्धगत तरल सोमरस का कालान्तर में पान कर जाता है। दुग्ध दधिरूप में परिणत हो जाता है। वही स्थिति अन्न में समझिए। अन्नगत तरलरसात्मक (सोमात्मक) दुग्ध रश्मिगतइन्द्रप्राणरूप सान्नाय्य के समावेश से कालान्तर में इन्द्रभुक्त बन जाता है। परिणामस्वरूप अन्न घनावस्था में परिणत होजाता है। यही अन्नगत 'दधि' भाग है, जिसे हम 'पार्थिवरस' कहेंगे। अन्न में एक प्रकार का स्नेहन (चिकनाई) रहता है। आता

---

* रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः।

—आयुर्वेद शास्त्र०

गोंदने पर उस में एक प्रकार की मसृणता (लुआब) आजाती है। यही दूसरा घृतरस है, जिस का अन्तरिक्ष से सम्बन्ध है। प्रत्येक अन्न में एक प्रकार का पृथक् पृथक् मिठास होता है। यही तीसरा 'मधु' रस है, जिसका द्युलोक से, किंवा द्युलोकस्थ 'देवमधु' नामक आदित्य से सम्बन्ध है। छान्दोग्योपनिषत् की सुप्रसिद्ध 'मधुविद्या' का इसी मधु-रस से सम्बन्ध है। जब सूर्य्य भरणी-नक्षत्र पर आता है, तो द्युलोकस्थ मधुरस, सुषुम्णा-नाडी से अतिशय मात्रा में पृथिवी में मुक्त होता है। अतएव भरणीनक्षत्र 'मधुच्छत्र' कहलाया है। प्रत्येक अन्न में एक विशेष प्रकार का 'स्वाद' रहता है। परन्तु 'स्वाद' मधु से विभिन्न है। पर्य्युषित (बासी) कलाकन्द में मधु भाग अवश्य है, परन्तु 'स्वाद' नहीं है। स्वाद सोमात्मक अमृततत्त्व है, प्राणभाग है। यही चौथे आपोलोक का रस है, जिसे हमने पूर्व में 'अम्भोमय-परमेष्ठी' कहा है। 'यो वः शिवतमो रसः' के अनुसार अम्भोरूप स्वादुरस ही शिवतमरस है। इस प्रकार पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौः-आपः, चारों लोकों के दधि-घृत-मधु-अमृत-चार रसों के समन्वय से अन्न का स्वरूप निष्पन्न होता है। अन्नगत पार्थिवदधिभाग से शरीर अस्थि-मांस-चर्म्म-आदि घन धातुओं का, आन्तरिक्ष्य घृतभाग से रस, असृक्, मेदा, मज्जा (चर्बी), आदि तरल धातुओं का, दिव्य मधुभाग से शुक्र रूप विरल धातु का, एवं चौथे अमृतभाग से सौम्यमन का स्वरूप निर्म्माण होता है। यही कारण है कि, अमृतरस से रहित पर्य्युषित अन्न मन को प्रिय नहीं होता। अस्वादु भी अन्न शरीर-अन्यधातुओं की जहां क्षति-पूर्ति कर देता है, वहां अस्वादु अन्न से मनःस्वरूप का विकास सम्भव नहीं है। अतएव पर्य्युषित अन्न निषिद्ध माना गया है। परिपक्व सद्यः ताजा) अन्न अमृतरस से युक्त रहता है। वायुगत इन्द्र रस का ग्रहण करता रहता है। अतएव कालान्तर में अन्न गतरस बन जाता है। दिन में तो फिर भी यथाकथञ्चित् अन्न में थोड़ी बहुत अमृतमात्रा रहती है। परन्तु यातयाम अन्न तो सर्वथा ही नीरस होजाता है। प्रकृत में यही कहना है कि, चारों रसों का जिस लोकचतुष्टयी से अन्न में आगमन होता है, तल्लोक चतुष्टयी ही कश्यप का वास्तविक स्वरूप है। इस प्रकार शुक्र द्वारा उत्पन्न प्रजा का परम्परया रसचतुष्टयकृतमूर्त्ति कश्यप ही अन्नद्वारा प्रजा का उत्पादक बन रहा है।

८१-खगोलीय "कश्यप" के आधार पर प्रत्येक शुक्र के पृथक् "खस्वस्तिक" का निर्म्माण, शुक्र केन्द्राधारेणैव अध ऊर्ध्व तिर्य्यक् चतुरस्रत स्तत्तद् खगोलावच्छिन्न रसमात्राचतुष्टयी का गर्भ में आगमन, एवम् एक समय में एक ही प्राणी का आविर्भाव तदाधारेण ज्यौतिष शास्त्रीय फलादेश-निरुक्ति-सत्यत्व—

इसके अतिरिक्त-साक्षात्-रूप से भी यह कश्यपप्रजापति गर्भस्थिति से आरम्भ कर निधनक्षणपर्य्यन्त अपने लम्बन से प्रजावर्ग में रस प्रदान किया करते हैं। खगोलीय कश्यप के आधार पर प्रत्येक शुक्र के केन्द्र एक 'खस्वास्ति' का निर्म्माण होता है। किसी भी शुक्र को लक्ष्य बना लीजिए। शुक्र गर्भाशयस्थ-शोणिताग्नि में आहुत होता है। जिस समय पुरुष द्वारा योषिदग्नि में शुक्राहुति होती है, उस समय इस दम्पती के खस्वस्तिक के आधार पर खगोल की स्थिति रहती है, वह इस दम्पती का प्रातिस्विक कश्यप-प्रजापति कहलाया है। गर्भस्थ शुक्र को केन्द्र बनाकर ऊर्ध्व-तिर्य्यक्-चारों ओर से ततखगोलावच्छिन्न रसमात्राचतुष्टयी का गर्भ में आगमन होने लगता है, जिसके मात्रातारतम्य के, दैवासुर भावविशेषों के, उत्कर्षापकर्षभावों के निमित्त गर्भस्थ औपपातिक जीवात्मा के जन्मान्तर के ज्ञानजनितभावना, कर्म्मजनित-

वासनासंस्कार बनाकरते हैं। यदि आप शुक्र केन्द्र को तदनुगत खगोल से समतुलित करेंगे, तो तदाकाश-स्थिति ठीक कच्छप जैसी मिलेगी। इसीप्रकार प्रत्येक शुक्रकेन्द्र के भेद से प्रत्येक का खगोलीय-आधिदैविक ग्रहोपग्रहभावयुक्त कश्यप पृथक् पृथक् मिलेगा। इसीके आधार पर ज्योतिष में प्रत्येक की उत्पत्ति का समय पृथक् पृथक् माना गया है। 'एक समय में एक ही प्राणी उत्पन्न होता है'—यह सिद्धान्त ही प्रत्येक प्राणी के भाग्यभेद का मूलकारण है। युग्मसन्तानों में भी शुक्रकेन्द्र भेद से कश्यप भेद स्वभाविक है। प्रतिशुक्र केन्द्र के लम्बन से बनने वाली खगोलीय स्थिति प्रत्येक प्राणी की सर्वथा विदूर होगी। क्योंकि पार्थिव ३६० अंश से खगोलीय ३६० अंश उत्तरोत्तर बृहत्-बृहत्तर-बृहत्तम होते हुए समतुलित रहते हैं। यहाँ का (गर्भस्थिति का) सुसूक्ष्मभी अन्तर वहाँ के (खगोल के) लिए पर्य्याप्त अन्तर का निमित्त बनजाता है। इस प्रकार हृदयभेदनिबन्धन कश्यपसंस्था भेद से किसी भी प्राणी के आधिदैविक-ग्रहोपग्रहभाव परस्पर समान नहीं होने पाते। फलतः जो महानुभाव— "देखते हैं-एक ही समय में उत्पन्न होने पर भी, एक ही ग्रहस्थिति में उत्पन्न होने पर भी अफ्रीका में वर्बरता का समावेश रहता है, उसी समय में भारतीय ब्राह्मण के घर द्विजन्मा पैदा होता है, चाण्डाल के घर चाण्डाल। अतएव ज्योतिषशास्त्र का फलादेश नितान्त भ्रान्त है' इत्यादि कुतर्कों को आगे कर फलादेश का उपहास करते हैं, उनका यह उपहास उन्हीं की प्रातिस्विक सम्पत्ती बना रह जाता है। तत्त्वतः-एक समय में अनेक उत्पन्न हो ही नहीं सकते। कालमापक हमारा भातिसिद्ध घटिका-यन्त्र (घड़ी) नहीं है, अपितु प्रत्येक प्राणी के उपादान भूत शुक्र की केन्द्र बिन्दु से समतुलित कश्यपसंस्था ही है, जिसे न जानकर अल्पज्ञ लोग उपहास के पात्र बन रहे हैं।

६२-प्रजासर्गनिमित्त-सौररश्म्यवच्छिन्न-मरीचिमण्डलाधार प्रतिष्ठित "मारीचाख्य" पार्थिव दध्यादि रसाप्लुत 'कश्यप" प्रजापति का देवसत्यात्मक स्वरूप, तदुपबृंहण एवम् विज्ञान-चिति-सञ्चार-यज्ञ-परिभाषानुसृत-सौम्यत्रिलोकी-अषाढा-उषा-पुष्करपर्ण-नामालिनिरूपण—

परम्परया, एवं साक्षात्रूप से, उभयथा प्रजासर्ग के निमित्त बननेवाले, सौररश्म्यवच्छिन्न मरीचि-मण्डल के आधार पर प्रतिष्ठित रहने से 'मारीच' नाम से व्यवहृत होने वाले, पार्थिवादि लोकों के दध्यादिरसों से ओतप्रोत रहने वाले, पार्थिव त्रैलोक्य में व्याप्त रहने वाले कश्यप प्रजापति का तात्त्विक स्वरूप देवसत्यात्मक है, यह प्रकरणारम्भ में ही स्पष्ट किया जाचुका है। सौरमरीचिमण्डल को एक ओर रखते हुए स्वतन्त्र रूप से कश्यप के स्वरूप का विचार कीजिए। महेश्वर-उपेश्वर-ईश्वर नामकी विवर्त्तत्रयी का स्पष्टी-करण करते हुए यह कहा गया था कि, ईश्वर का ही नाम देवसत्य है, एवं इसकी प्रतिष्ठापार्थिव त्रैलोक्य है। चित्याग्निमय भूपिण्ड के केन्द्राधार से वितायमान चितेनिधेयाग्निमण्डल ही वह महापृथिवी है, जिसके

आधार पर ईश्वरीय देवसत्य का वितान हुआ है। महापृथिवी के त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंश, ये तीन स्तोम प्रदेश क्रमशः महापृथिवी पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौः, ये तीन लोक हैं। यही त्रैलोक्यात्मिका महापृथिवी है, जिसे विज्ञानभाषा में 'स्तोम्यत्रिलोकी'-चितिपरिभाषा में 'अपाढा' संचारपरिभाषा में 'उखा', यज्ञपरिभाषा में 'पुष्करपर्ण' आदि नामों से व्यवहृत किया गया है। भूकेन्द्र से आरम्भकर महापृथिवी के २१ वें अहर्गण व्याप्त चितेनिधेय अग्नि (प्राणाग्नि, देवाग्नि, यज्ञाग्नि, सम्वत्सराग्नि) की घन-तरल-विरल-भेद से तीन अवस्था होजाती है। अवस्थात्रयी सम्बन्ध से त्रिधाविभक्त पार्थिव अग्नि क्रमशः त्रिवृदादि तीनों स्तोमों में प्रतिष्ठित होकर अग्नि-वायु-आदित्य नाम धारण किए हुए है। पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न अन्तरिक्ष में वायु, चन्द्रमा, विद्युत्, इन्द्र, चारों हैं। अतएव प्रकरण भेद से श्रुतियों में यत्रातत्र चारों से किसी का भी संग्रह कर लिया है। उदाहरण के लिए 'त्रीणिज्योतीषि' के सम्बन्ध से हमने पूर्व में चन्द्रमा को देवसत्य का आन्तरिक्ष्यपर्व बतलाया है। परन्तु, प्रकृत कश्यपस्वरूप मीमांसा में हम वायु को ही आन्तरिक्ष्यपर्व मानते हुए कश्यपस्वरूप की मीमांसा करेंगे।

६३-विराट्-सर्वज्ञ-हिरण्यगर्भ का क्रमशः सहस्रपात्-सहस्रशीर्ष सहस्राक्ष-स्वरूप, एवम् ससंज्ञ-प्रभृति त्रिविध प्रजासर्ग-उपादान कारण "देवसत्य" प्रजापति के स्वरूप का निर्वचन—

त्रिवृत् स्तोमानुगत घनाग्नि (अग्नि) में पञ्चदश-एकविंशस्तोमानुगत वायु-आदित्य की आहुति होने से अग्नि-वाय्वादित्यमूर्त्ति, किन्तु अग्निप्रधान जो अपूर्वस्वरूप उत्पन्न होता है, वही अग्निप्रधानस्वरूप 'विराट्' कहलाया है। पञ्चदशस्तोमानुगत तरलाग्नि (वायु) में त्रिवृत्-एकविंशस्तोमानुगत अग्नि-आदित्य की आहुति होने से वाय्वग्न्यादित्यमूर्त्ति, किन्तु वायुप्रधान जो अपूर्वस्वरूप उत्पन्न होता है, वही आदित्य प्रधान स्वरूप 'सर्वज्ञ' कहलाया है। विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञ ही क्रमशः सहस्रपात्-सहस्राक्षः-सहस्रशीर्षः-त्रैलोक्यव्यापक-देवत्रयीमूर्त्ति-देवसत्य प्रजापति है। देवसत्यप्रजापति के तीनों रूपों से उत्पन्न प्रजा चेतनप्रजा (अस्मदादि) कहलाई है। चेतन प्रजा का जीवात्मा ससंज्ञ है। इसके आग्नेय वैश्वानर, वायव्य तैजस, आदित्यात्मक प्राज्ञ, तीनों रूप क्रमशः देवसत्य के विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञ के अंश हैं। देवसत्य के हिरण्यगर्भ, विराट्-इन दो रूपों से उत्पन्न प्रजा अर्द्धचेतनप्रजा (वृक्षादि) कहलाई है। अर्द्धचेतनप्रजा का जीवात्मा अन्तःसंज्ञ है। इसके आग्नेय वैश्वानर, वायव्य तैजस, दोनोंरूप देवसत्य के विराट्-पर्व से उत्पन्न प्रजा अचेतन प्रजा (पाषाण लोष्ठादि) कहलाई है। अचेतनप्रजा का आत्मा असंज्ञ है। इसका आग्नेय वैश्वानररूप देवसत्य के विराट् का अंश है। इसप्रकार वही देवसत्य अपने तीनोंरूपों से त्रिविधप्रजासर्ग का उपादान बनता हुआ अपने कर्तृत्व का समर्थक बनरहा है।

६४–देवसत्य प्रजापति के घन-तरलाद्यवस्थापन्नभाव, अमृतरसगर्भस्थ दधि-मधु-घृत लक्षण विराट् हिरण्यगर्भ "कूर्म्म" एवम् ईश्वरीय देवसत्य-प्रत्यक्षीकरण-विश्लेषण—

देवसत्यलक्षण ईश्वर प्रजापति का पार्थिव विराट्रूप घनावस्थापन्न अग्नि प्रधान बनता हुआ दधिरस से, आन्तरिक्ष्य हिरण्यगर्भरूप तरलावस्थापन्न वायु-प्रधान बनता हुआ घृतरस से, दिव्य सर्वज्ञरूप विरलावस्थापन्न आदित्यप्रधान बनता हुआ मधुरस से युक्त है। दधि, घृत, मधु, तीन रस ही इसके स्वरूप निर्म्मापक हैं। चौथा पारमेष्ठ्य सोमात्मक अमृतरस तो इसको चारों ओर से वेष्टन करने वाला ही बनरहा है। आपोमय पारमेष्ठ्य समुद्र के गर्भ में, दूसरे शब्दों में अमृतरस के गर्भ में दधि–घृत–मधु–लक्षण विराट्–हिरण्यगर्भ–सर्वज्ञमूर्त्ति देवसत्य प्रतिष्ठित है, जिसका अनुपद में ही कूर्म्मरूप से विश्लेषण होने वाला है। क्योंकि देवसत्य स्वरूप में रसत्रय का ही सहयोग है, अतएव श्रुति ने इसे रसत्रयात्मक ही बतलाया है। रसत्रयात्मक देवसत्य का पार्थिव सम्वत्सर से सम्बन्ध है, जिसे हम 'रथन्तरसामात्मक' भी कह सकते हैं। पार्थिव रथन्तरसाम की प्रतिष्ठा सौर बृहत् सामलक्षण सौर संवत्सर है। सौर बृहत्सामलक्षण के आधार पर ही पार्थिव रथन्तरमण्डल का वितान हुआ है। इससे निष्कर्ष यह निकला कि, सौर रश्मियुक्त मरीचि नामक आप्य–प्राण मण्डल ही रसत्रयात्मक देवसत्य का जन्मदाता बनता है। देवसत्य का मूलप्रभव सौरमरीचिप्राण ही है। अतएव इस देवसत्य को अवश्य ही 'मारीच' भी कहा जासकता है। एक ऐसा परिलेख बनाइए; जिसके ऊर्ध्व भाग में तो सूर्य्य प्रतिष्ठित हो, अधोभाग में भूपिण्ड प्रतिष्ठित हो। भूपिण्ड के केन्द्र को काटता हुआ सूर्य्यकेन्द्र का स्पर्श–करता हुआ पार्थिव रेखावृत्त हो। रेखावृत्त में सौर रश्म्यवच्छिन्न मरीचिप्राण व्याप्त हो। भूपिण्ड–केन्द्र से सूर्य्यपिण्ड पर्य्यन्त व्याप्त २१ अहर्गणों में से २१–१५–६ अहर्गण प्रदेशों में सर्वज्ञ–हिरण्यगर्भ–विराट्–व्याप्त हों। चारों ओर पारमेष्ठ्य समुद्र व्याप्त हो। यही ईश्वरीय देवसत्य का प्रत्यक्ष निदर्शन होगा, जिसके लिए निम्नलिखित तालिका सहायक बनसकेगी—

पार्थिवत्रिलोकी मण्डलात्मकः, सौरमरीचिमण्डलगर्भभुक्तः—पार्थिव सम्वत्सरः

म हा पृ थि वी

पृथिवी—१						अन्तरिक्षम्—१						द्यौः—१					
४ (१)	५ (२)	६ (३)	७ (४)	८ (५)	९ (६)	१० (१)	११ (२)	१२ (३)	१३ (४)	१४ (५)	१५ (६)	१६ (१)	१७ (२)	१८ (३)	१९ (४)	२० (५)	२१ (६)
अर्थमूर्त्तिः—विराट् दधिरसोपेतः						क्रियामूर्त्तिः—हिरण्यगर्भः घृतरसोपेतः						ज्ञानमूर्त्तिः—सर्वज्ञः मधुरसोपेतः					
अग्निर्योनिः		वायुः		आदित्यः		वायुर्योनिः		अग्निः		आदित्यः		आदित्योयोनिः		अग्निः		वायु	
अग्नि—वायु—आदित्यकृतरूपः अग्निप्रधानः—विराट् वैश्वानराधिष्ठाता असंज्ञसर्गप्रवर्त्तकः						वायु—अग्नि—आदित्यकृतरूपः वायुप्रधानः—हिरण्यगर्भः तैजसाधिष्ठाता अन्तःसंज्ञसर्गप्रवर्त्तकः						आदित्य—अग्नि वायुकृतरूपः आदित्यप्रधानः—सर्वज्ञः प्राज्ञाधिष्ठाता ससंज्ञसर्गप्रवर्त्तकः					
दधि—हैवास्यलोकस्यरूपम्						घृतमन्तरिक्षस्य						मध्वमुष्य					

अमृतरसात्मक पारमेष्ठ्यसमुद्रेणाभितः सम्परिष्वक्तः, सौररश्म्यवच्छिन्न मरीचिप्राणमण्डले भुक्तः, दधि—घृत—मधुरसोपेतः—पार्थिवसौम्यत्रैलोक्यस्य पृ० अ० द्यु० स्थानेषु विराट्—हिरण्यगर्भ—सर्वज्ञरूपेण प्रतिष्ठितः—अग्निवाय्वादित्यमूर्त्तिः—देवसत्यप्रजापतिः

म री चि म ण्ड ल

पारमेष्ठ्यसमुद्रः — सूर्यः — अमृतम्

पारमेष्ठ्यसमुद्रः — २ — अविराड्:२ — अमृतम्

९५–रसत्रयात्मक (दधि घृत मधु) अन्नद्वारा शुक्ररूप परिणत प्रजासर्ग (प्रभव) निदान-भूत देवसत्य, शुक्रकेन्द्राधारेण प्रतिप्राणि-भेद-विभक्त रसप्रद (देवसत्य) इति देव-सत्यानुबन्धि दृष्टिकोण द्वयी एवं प्रजासृष्टि संलग्न कूर्म्म प्रजापति स्वरूप निरूपण—

उक्त लक्षण देवसत्य प्रजापति रसत्रयात्मक अन्नद्वारा शुक्ररूप में परिणत होता हुआ प्रजासर्ग का प्रभव बनता है, यह एक दृष्टिकोण है। एवं शुक्रकेन्द्र के आधार पर प्रतिप्राणी भेद से विभक्त रहता हुआ स्वतन्त्ररूप से प्रजा में रसप्रदान करता है, यह दूसरा दृष्टिकोण है। दोनों का पूर्व में स्पष्टीकरण किया जाचुका-है। प्रकृत में दूसरे दृष्टिकोण की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। क्योंकि, कश्यपस्वरूप का इसी से सम्बन्ध है। रसत्रयात्मक देवसत्यप्रजापति कूर्म्मरूप में परिणत होकर ही रसप्रदान किया करते हैं। दृश्य खगोल में देवसत्यसंस्था का स्वरूप कूर्म्माकार (कछुए जैसा) ही है। कछुए का उपरिभाग वर्त्तुल होता है, अधः प्रदेश सम होता है। ठीक इसी आकार में परिणत होकर प्रजापति सृष्टिकर्म्म किया करते हैं, जिस कूर्म्माकार का किसी भी निरावरण प्रान्त में साक्षात्कार किया जा सकता है। निरावरण प्रान्त (खुले मैदान) में किसी एक स्थान पर खड़े होकर प्राकृतिक स्थिति पर दृष्टि डालिए। आप देखेंगे–आप का पार्थिव धरातल ठीक कछुए के निम्नधरातल के समान सम (चपटा) है। एवं आकाश वर्त्तुलाकाराकारित बनता हुआ चारों ओर के पार्थिव-सम क्षितिज से संलग्न है। यही तो र्म्म का प्रत्यक्ष आकार है। देवसत्यप्रजा-पति के इस आकार में पार्थिव-दधि–आन्तरिक्ष्यघृत-दिव्यमधु, तीनों प्राणरस परिपूर्ण हैं। इन रसों से इसी आकाररूप में परिणत हो कर ही तो आधिदैविक कूर्म्मप्रजापति प्रजासृष्टि कर्म्म में संलग्न हैं। रसत्रय सम्बन्ध से इन्हें 'रसमूर्त्ति' कहा जा सकता है। सौररश्मि युक्तमरीचिप्राण सम्बन्ध से इन्हें 'मारीच' कहा जासकता है। प्रतिष्ठात्मक आदित्य प्राण सम्बन्ध से इन्हें 'आदित्य' कहा जासकता है। लोकद्रष्टा होने से 'पश्यक' बनते हुए यही 'कश्यपः–पश्यको भवति' इस नैगमिक सिद्धान्तानुसार 'कश्यप' (पश्यक–द्रष्टा) कहला सकते हैं। कश्यपाकार (कछुए के से आकार) रूप में परिणत होने से भी इन्हें 'कश्यप' कहना अन्वर्थ बन सकता है। प्रजाकर्तृत्व से–'यदकरोत्' निर्वचन से इन्हें 'कूर्म्म' भी कहा जासकता है। त्रैलोक्य रसात्मक होने से इन्हें–'द्यावापृथिव्य' भी कहा जासकता है।

९६–पशु विशेष कच्छप का "कूर्म्मा" भिध देवसत्य प्रजापतिश्च निरूपण—

'कच्छेन पिबति' निर्वचन से पशु विशेष कच्छप कहलाया है। यही प्रतिरूपविधा से कूर्म्म नाम से भी प्रसिद्ध होगया है। वस्तुतः 'यदकरोत्' निर्वचन से 'कूर्म्म' नाम आधिदैविक देवसत्य प्रजापति का है। परन्तु क्योंकि कच्छप–पशु तदाकाराकारित है, अतएव वह नाम इस से भी सम्बद्ध होगया है। कच्छप का अधर कपाल पृथिवी की प्रतिकृति है, ऊर्ध्वकपाल द्युलोक की प्रतिकृति है। इसप्रकार कच्छप पशु तदाकारात्मक बनता हुआ अवश्यमेव उस का प्रतिरूप बन रहा है।

९७–भौतिक पशुविशेष "कूर्म्म" माध्यमेन आधिदैविककूर्म्मसंग्रहणे मानम्, उभयो स्तारतम्य-निदर्शनम्—

कूर्म्म पशु आधिदैविक कूर्म्मप्रजा ति की प्रतिकृति है, प्राकृतिक प्रतिरूप शिल्प (ईश्वरीय प्रतिमा) है, यह उक्तसन्दर्भ से प्रमाणित होजाता है। इस के माध्यम से अवश्य ही वह आधिदैविक कूर्म्म उपास्य बन जाता

है। कूर्म्म उस का प्रतिरूप है, यह माना। परन्तु, इस के माध्यम से आधिदैविक कूर्म्म का संग्रह होजाता है, इस में क्या प्रमाण? किस आधार पर ऐसी प्रतिरूपविधा का समर्थन किया गया? यह प्रश्न अभी शेष है। इस के समाधान के लिए वेदोक्त चितियज्ञ की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। चयनयज्ञ-द्वारा आध्यात्मिक अग्नि में आधिदैविक मण्डल के तत्त्वों की चिति की जाती है। उन सब आधिदैविक चितियों के एकमात्र साधन तत्प्रतिरूपविध आधिभौतिक पदार्थ ही माने गए हैं। भौतिकप्रतिरूपों के माध्यम से ही आधिदैविक तत्त्वचिति की भावना की जाती है। एवं इसी प्रतिरूपविधा से यह भावना कार्य्यरूप में परिणत होजाती है। द्यावापृथिव्य, रसत्रयात्मक-देवसत्यात्मक-कूर्म्म भी आधिदैविक तत्त्व है। चयन कर्म्म में इस की भी यजमान के आध्यात्मिक अग्नि में चिति अपेक्षित है। श्रुति के सामने समस्या उपस्थित हुई कि, किस भौतिक पदार्थ को मध्यस्थ बनाने से आधिदैविक कूर्म्म प्राण का चयन सम्भव हो सकता है?, श्रुति ने कूर्म्म-पशु के माध्यम से समस्या का निराकरण किया। और स्पष्ट किया अनेक दृष्टियों से कूर्म्म का कूर्म्मत्व। आधिदैविक कूर्म्म यदि रसात्मक है, तो यह कूर्म्म पशु भी रसात्मक है। क्योंकि, आपोमयी-लोकसृष्टि से शेष बचे हुए-प्रवर्ग्यभूत आप्यरस से ही जलीय इस कूर्म्म पशु का स्वरूप निर्म्माण हुआ है। इसप्रकार रसापेक्षया यह उस का प्रतिरूप है। अतएव इस के उपधान से भावना द्वारा वह रसात्मक प्रजापति अवश्य ही उपहित हो जाता है। कूर्म्म पशु की चिति करना इस के माध्यम से लोकत्रयात्मकरस की ही (भावनाद्वारा) चिति करना है—

१-कूर्म्ममुपदधाति। रसो वै कूर्म्मः। रसमेवैतत् (कूर्म्मोपधानकर्म्मणा) उपदधाति। यो वै स एषां लोकानां (पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकानां) पराङ् रसोऽत्यक्षरत, स एष (प्रवर्ग्यरस एव) कूर्म्मः (कूर्म्मस्वरूपोपपादकः)। तमेवैतदुपदधाति"

९८-कूर्म्मो ऽयं पशु रस्तु किं त्रिजगतां मध्ये रसेनप्लुतः-(एतादृक्) शङ्कातङ्क-तमस्विनी-विलयन-प्राग्भार-जुष्टा-श्रुतिः—

रस त्रैलोक्य में प्रतिष्ठित है। त्रैलोक्यरस की चिति अपेक्षित है। कूर्म्म प्रवर्ग्य रसात्मक अवश्य है, परन्तु इस में त्रैलोक्य का समावेश कहां है? जबतक इस में त्रैलोक्य प्रतिरूपता नहीं, तबतक त्रैलोक्य-रस चिति की भावना गतार्थ नहीं। इसी लोकप्रतिरूपता का दिग्दर्शन कराती हुई आगे जाकर श्रुति-कहती है कि-जहाँ तक (आलोमभ्यः-आनखाग्रेभ्यः-लोमकेशों, और नखाग्रभागों को छोड़ कर सर्वाङ्ग शरीर में) रस व्याप्त रहता है, वहां तक भूतात्मा व्याप्त रहता है। रसात्मक भूतात्मा जिस कूर्म्म पशुस्वरूप में प्रतिष्ठित है, वह कूर्म्म शरीर त्रैलोक्य का ही प्रतिरूप है। कूर्म्मपशु का अधरकपाल-आदर्शोदर-भूमिप्रतिष्ठित-समभाग-पृथिवी है। यह भूमि पर ठहरा रहता है। उधर पृथिवीलोक भी ठहरा हुआ सा है। अतएव तत्सम कछुए का अधर कपाल अवश्य ही पृथिवीलोक (का प्रतिरूप) माना जा सकता है। कूर्म्म का पृष्ठभाग, जो उभरासा है, उन्नत है, वर्त्तुल है, वही द्युलोक है। यह ऊर्ध्व भाग नीचे के समभाग से पृथक् उठा हुआ सा रहता है। उधर आकाशरूप द्युलोक भी भूलोक से उठा हुआ सा ही रहता है। इसी सादृश्य से कछुए के ऊर्ध्व-भाग को द्युलोक (का प्रतिरूप) माना जा सकता है। अधर कपाल, उत्तर भाग, दोनों के मध्य का उदर

भाग ही अन्तरिक्षलोक है। क्योंकि, पृथिवी, और द्यौ का मध्य प्रदेश ही तो अन्तरिक्ष माना गया है। इस-प्रकार कूर्म्म शरीर रसवत् तीनों लोकों का भी प्रतिरूप बन रहा है। फलतः कूर्म्मोपधान से रसात्मक तीनों लोकों का भी उपधान गतार्थ बन रहा है। इसी लोकत्रय-प्रतिरूपता का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है

२-'यावानु वै रसस्तावानात्मा। स एष इमऽएव लोकाः। तस्य (पशोः) यदधरं कपालं, अयं स लोकः (पृथिवीलोकः)। तत् (अधरकपालं) प्रतिष्ठितमिव भवति। प्रतिष्ठित-इव ह्ययं लोकः। अथ यदुत्तरं सा द्यौः। तत् (उत्तरं वर्त्तुलकपालं) व्यवगृहीतान्तमिव भवति। व्यवगृहीतान्तेव द्यौः। अथ यदन्तरा-तदन्तरिक्षम्। स एष (कूर्म्मः) इमऽएवलोकाः (लोकानां प्रतिरूपः)। (कूर्म्मोपधानेन) इमानेवैतल्लोकानुपदधाति" ॥।

९९-"तमभ्यनक्ति दध्ना मधुना घृतेन" श्रुतिसाक्ष्य द्वारा दधि घृतमधु सम्परिष्वक्त कूर्म्म का सर्वात्मना अधिदैवत कूर्म्म प्रातिरूप्य-निर्वचन—

लोकत्रयरसप्रवर्ग्य भाग से उत्पन्न होने के कारण सामान्य रस सम्पत्ति का एवं अधर सम कपाल-उत्तर वर्त्तुल कपाल, उभय मध्यप्रदेशरूप से लोकत्रय सम्पत्ति की प्रतिरूपता का तो यहां ग्रहण हो जाता है। परन्तु, तीनोंलोकों में रहनेवाले दधि-घृत-मधु-इन तीन रसों की पृथक्त्वेन साक्षात्रूप से प्रतिरूपता का कूर्म्म में अभाव है। आहार्य्यारोपविधा में तो केवल आरोपबुद्धि से भी काम चल जाता है। परन्तु प्रतिरूपविधा तो वही मानी गई है, जिस में आदर्श के प्रत्येक स्वरूप का, अवयव का समावेश रहे। कूर्म्म में क्योंकि दध्यादिरसों के प्रतिरूपों का अभाव है, अतएव चयनयज्ञ में गृहीत कूर्म्म का इन तीनों रसों के प्रतिरूपभूत दधि-(दही), घृत (घी), मधु (शहद) तीनों से अभ्यञ्जन किया जाता है। इन तीनों के अभ्यञ्जन (अनुलेपन) से कूर्म्म सर्वात्मना उस अधिदैवत कूर्म्म का प्रतिरूप बन जाता है। इसी वैध प्रति-रूपता का स्पष्टीकरण करती हुई आगे जाकर श्रुति कहती है—

३-"तमभ्यनक्ति-दध्ना, मधुना, घृतेन। दधि हैवास्य लोकस्य रूपं, घृतमन्तरिक्षस्य, मध्वमुष्य। स्वेनैवैनमेतद्रूपेण समर्द्धयति। अथो दधि हैवास्य लोकस्य रसः, घृत-मन्तरिक्षस्य, मध्वमुष्य। स्वेनैवैनमेतद्रसेन समर्द्धयति"।

१००-अप्तत्व प्रतिरूप "अवका" (शैवाल)-वेष्टित कूर्म्म का दध्यादिरसत्रयातिरिक्त चतुर्थामृतरस सम्पन्नत्व, एवं अवका अधस्ताद् भवन्ति···" श्रुति द्वारा एत-न्निरूपण—

सबकी प्रतिरूपता का समन्वय होगया। परन्तु अभी एक प्रतिरूपता की कमी रह गई। बतलाया गया है कि, आधिदैविक देवसत्यात्मक कूर्म्मप्रजापति के चारो ओर आपोमय परमेष्ठी व्याप्त है, यही चौथा आपो-लोकानुगत अमृतरस है, जिसे स्वादुरसात्मक सोम बतलाया गया है। इसकी प्रतिरूपता के लिए यहां कूर्म्म-

पशु के ऊपर-नीचे 'अवका' (शैवाल) रक्खे जाते हैं। 'अवका' अप्तत्त्व का ही प्रतिरूप है। जिस प्रकार त्रैलोक्यरसों के प्रतिरूपभूत दध्यादि तीनों रसों से कूर्म्म रसत्रय सम्पत्ति से युक्त होजाता है, एवमेव चतुर्थ-लोकीय आप्यरस से प्रतिरूपभूत अवकाओं के सर्वतः वेष्टन से यह कूर्म्म उस चौथी अमृतरस सम्पत्ति से भी युक्त होजाता है। दोनों ओर अवका के उपधान से कूर्म्मपशु दोनों के मध्य में उसी प्रकार उपहित होजाता है, जैसेकि अधिदैवत लोकत्रयात्मक कूर्म्मप्रजापति-'समुद्रमभितः पिन्वमानम्' (यजुःसं०) इत्यादि यजुर्म्मन्त्रवर्णनानुसार-आपोमय समुद्र के मध्य में उपहित है। इसी अप्-प्रतिरूपता का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

४-"अवका अधस्ताद् भवन्ति, अवका उपरिष्टात्। आपो वा अवकाः। अपामे-वैनमेतन्मध्यतो दधाति"।

१०१-अधिदैवत कूर्म्म प्रजापति में आधार रूप से आदित्यप्राणों का समावेश—

बतलाया गया है कि, अधिदैवत कूर्म्मप्रजापति में आधाररूप से आदित्यप्राण का भी समावेश है अतएव कूर्म्म को आदित्य भी कहा जासकता है। इसी आधार पर श्रुति कहती है कि, कूर्म्मपशु का उपधान करना प्रतिरूपविधा से आदित्य का भी उपधान करना है। प्राकृतिक सम्वत्सराग्निलक्षण चयन यज्ञ में आदित्य का पूर्णतः प्रत्यक्ष रूप से ही उपधान होता है।

१०२-योषा प्राणात्मिका "अषाढा" वृषा प्राणात्मिका "कूर्म्मचिति" एवं अरत्निमात्र प्रदेशान्तर पर योषा दक्षिणाहि वृषा का शयन—

'अषाढा' चिति स्त्रीलिङ्गत्वेन योषा-प्राणात्मिका (स्त्रीप्राणात्मिका) है, कूर्म्मचिति पुल्लिङ्गत्वेन वृषाप्राणात्मिका (पुरुषप्राणात्मिका) है। दूसरे शब्दों में 'कूर्म्म' पशु अपने लिङ्गधर्म्म से वृषा (पुरुष) का भी प्रतिरूप बन रहा है। प्रजोत्पादक-प्राकृतिक आध्यात्मिक दाम्पत्ययज्ञ में योषा (स्त्री) से दक्षिणभाग में वृषा (पुरुष) अरत्निमात्र प्रदेशान्तर पर शयन करता है। अतएव वृषाप्रतिरूप कूर्म्म का योषाप्रतिरूपा अषाढाचिति के दक्षिणभाग में अरत्नि-मात्र प्रदेश के अन्तर पर ही उपधान होता है।

१०३-प्राणापान व्यानत्रयी प्रतिरूप कूर्म्म, एवं एतद् द्वारा अपूर्व मिथुन सम्पत्ति का संग्रह—

पार्थिव आग्नेय प्राण 'अपान' आन्तरिक्ष्य वायव्यप्राण 'व्यान' है, द्युलोकस्थ आदित्यप्राण 'प्राण' है। इस दृष्टि से त्रैलोक्यरसात्मक कूर्म्मप्रजापति प्राणात्मक भी बन रहा है। अतएव तत्प्रतिरूप कूर्म्मपशु को लोकत्रयावच्छिन्ना प्राणत्रयी का भी प्रतिरूप माना जासकता है। फलतः कूर्म्मपशुरूप प्रतिरूप के उपधान से यज्ञकर्त्ता यजमानात्मा में भी प्राणों का भी [भावनाद्वारा] उपधान होजाता है। इस प्राणाधान से एक अपूर्व अन्य मिथुनसम्पत्ति का संग्रह और होजाता है। अषाढाचिति उसी प्रतिरूपविधा से योषा के अतिरिक्त 'वाक्' भी है। कूर्म्मचिति वृषा के अतिरिक्त प्राण भी है। प्राण-वाक् का मिथुन ही प्रजोत्पादक है। इस दृष्टि से

[प्राणप्रतिरूपविधा से] कूर्म्मचिति इस मिथुन सम्पत्ति की भी संग्राहिका बन रही है। इसप्रकार देवसत्य-प्रजापतिरूपकूर्म्म के प्रतिरूप के साथ साथ यह कूर्म्मपशु आदित्यप्राण, वृषा, आध्यात्मिक प्राणत्रयी, मिथुनभाव, आदि सम्पत्तियों का भी संग्राहक बन रहा है, जिनका निम्नलिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है—

५—"स य सः कूर्म्मः—असौ स आदित्यः। अमुमेवैतदादित्यमुपदधाति ; तं (कूर्म्म-पशुं) पुरस्तात् प्रत्यञ्चमुपदधाति, अमुं तदादित्यं पुरस्तात् प्रत्यञ्चं दधाति, अमुं तदा-दित्यं पुरस्तात् प्रत्यञ्चं दधाति। तस्मादसावादित्यः पुरस्तात् प्रत्यङ् धीयते"।

६—"दक्षिणतोऽपाढायै (अपाढायाः—दक्षिणभागे उपदधाति कूर्म्मपशुम्।) वृषा वै कूर्म्मः (वृषाप्रतिरूपः- पुल्लिङ्गात्वात्) । योषा अपाढा (योषाप्रतिरूपा—स्त्रीलिङ्गत्वात्)। दक्षिणतो वै वृषा योषा मुपशेते। अरत्निमात्रे (अपाढाया दक्षिणतः अरत्निमात्र प्रदेशान्तरे कूर्म्ममुपदधाति)। अरत्निमात्राद्धि वृषा योषामुपशेते"।

७—"यद्वेव कूर्म्ममुपदधाति-प्राणो वै कूर्म्मः। प्राणो हीमाः सर्वाः प्रजाः करोति। प्राण-मेवैतदुपदधाति। यजमानेतत् प्राणं दधाति"।

८—"दक्षिणतोऽपाढायै उपदधाति)। प्राणो वै कूर्म्मः। वागपाढा। प्राणो वै वाचो वृषा (वाग्रूपिण्या अपाढायाः प्राणरूपः कूर्म्मः—वृषा—पतिः)। प्राणो मिथुनम् (मिथुनमेवैतदुपदधाति)।"

१०४—त्रिमूर्त्ति--अग्निप्रधानविराट्--वायुप्रधानहिरण्यगर्भ—आदित्यप्रधानसर्वज्ञ--त्रितय-पर्वात्मक देवसत्य स्वरूप निष्पत्ति, कूर्म्मोपधान में आग्नेय त्रिवृत् सम्पत्ति का ऋचावाप्त संग्रह एवं त्रिवृत् प्रतिरूपता दिग्दर्शनानुबन्धि श्रुतिप्रामाण्य—

एक प्रतिरूप सम्पत्ति का समन्वय और कर लीजिए। बतलाया गया है कि, भूकेन्द्र से आरम्भ कर २१ वें अहर्गणपर्य्यन्त व्याप्त त्रैलोक्यावच्छिन्न पार्थिव अग्नि की घनादि तीन अवस्थाओं [अग्नि—वायु—आदित्यों] से ही प्राकृतिक कूर्म्मप्रजापति का स्वरूप निर्म्माण हुआ है। पार्थिव अग्निलक्षण अग्नि, अन्त-रिक्ष्य वायुलक्षण अग्नि, दिव्य आदित्यलक्षण अग्नि, तीनों के त्रिवृत्करण से त्रिस्त्रिमूर्त्ति अग्निप्रधान विराट्, वायुप्रधान हिरण्यगर्भ, आदित्यप्रधान सर्वज्ञ एतत्त्रितयपर्वात्मक देवसत्य का स्वरूप सम्पन्न हुआ है। अग्नि की इस त्रिवृत् सम्पत्ति का संग्रह भी कूर्म्मोपधान में होना आवश्यक है। यह सम्पत्ति ऋचा से प्राप्त होजाती

है । तीन ही मन्त्रों से तो कूर्म्म का दधि मधु-घृत से अभ्यञ्जन* होता है, एवं तीन ही मन्त्रों से कूर्म्म का उपधान÷ होता है इस प्रकार त्रिरभ्यञ्जन, एवं त्रिरुपधान से अग्न्यनुगता त्रिवृत् सम्पत्ति का भी कूर्म्मप्रजापति के प्रतिरूप कूर्म्मपशु के साथ सम्बन्ध होजाता है। इसी त्रिवृत्प्रतिरूपता का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है ।

९–"गायत्रीभिस्तिसृभिः (अभ्यनक्ति) । त्रिभिरुपदधाति । त्रय इमे लोकाः । अथोत्रिवृदग्निः यावानग्निः, यावात्यस्य मात्रा, तावतैवैनमेतदुपदधाति । त्रिभिरभ्यनक्ति । तत् षट् । तस्योक्तो बन्धुः ॥"

१०–"अपां गम्भन्त्सीद मा त्वा सूर्य्योऽभिताप्सीन्माग्निर्वैश्वानरः ॥
अच्छिन्नपत्राः प्रजा अनुवीक्षस्वानु त्वा दिव्या वृष्टिः सचताम् ॥१॥
त्रीन्त्समुद्रान्त्समसृपत् स्वर्गानपां पतिर्वृषभ इष्टकानाम् ॥
पुरीषं वसानः सुकृतस्य लोके तत्र गच्छ यत्र पूर्वे परेताः ॥२॥
मही द्यौः पृथिवी च न इमं यज्ञं मिमिक्षताम् ॥
पिपृतां नो भरीमभि ॥३॥ (इत्युपधानमन्त्रत्रयी)

१०५–"कूर्म्म" शब्द निरुक्ति, पृषोदरादित्वात् वर्णविपर्य्ययेन सर्वलोक द्रष्टृ-स्वरूपात् "पश्यक" शब्द का "कश्यप" विपर्य्यय, काश्यपी प्रजा, एवं कच्छपपशु का कूर्म्म-प्रजापति व्याहार—

कूर्म्मपशु से सम्बन्ध रखने वाली प्रतिरूपता का स्पष्टीकरण होगया । अब केवल नाम निर्वचन का प्रश्न शेष रहा । इस पशु का नाम 'कूर्म्म' क्यों रक्खा गया ?, इसी प्रश्न का समाधान करती हुई श्रुति कहती है कि, (अग्नि–वायु–आदित्यात्मक, त्रैलोक्यव्यापक, रसत्रयमूर्त्ति, देवसत्य लक्षण ईश्वर) प्रजापति

---

*–"मधुवाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः ॥
माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः ॥१॥
मधुनक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवं रजः ॥
मधु द्यौरस्तु नः पिता ॥२॥
मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्य्यः ॥
माध्वीर्गावो भवन्तु नः ॥३॥ (इत्यभ्यञ्जनमन्त्रत्रयी)
—यजुः सं० १३,३०,३१,३२।

इस पशु के आकार में परिणत होकर ही (कछुए जैसा ऊपर से वर्तुलाकार, नीचे से आदर्शवत् समआकार रूप में परिणत होकर ही) प्रजा उत्पन्न करता है, जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है। जो कि प्रजापति इस आकार में परिणत होकर प्रजा उत्पन्न करता है, वह उत्पादन कर्म्म ही करता है। इस कर्म्म सम्बन्ध से ही वह आधिदैविक प्रजापति 'यदकरोत्' निर्वचन से 'कूर्म्म' कहलाया है। वह कूर्म्म अपने आधिदैविक स्वरूप से सर्वलोकद्रष्टा बनता हुआ 'कश्यप' है। अतएव परोक्षप्रियदेवताओं की परोक्षभाषा में वह पश्यक ही वर्णविपर्य्य से 'कश्यप' कहलाया है। इसी से सम्पूर्ण प्रजा उत्पन्न हुई है, होरही है, होगी, अतएव प्रजा को 'काश्यपी' कहा जाता है। तात्पर्य्य यही है कि, इस पशु के आकार से समतुलित होता हुआ अपने कर्तृत्व धर्म्म से वह कूर्म्म कहलाया है। यह पशु उसी का प्रतिरूप है। अतएव उसके कूर्म्म नाम का इस कच्छप पशु के साथ सम्बन्ध होगया है। इसप्रकार प्रतिरूपविधया से यह कच्छप पशु भी 'कूर्म्म' इस प्रजापति नाम से व्यवहृत होने लगगया है—

२०–"स यत् कूर्म्मों नाम-एतद्वै रूपं (कच्छपरूपं) कृत्वा प्रजापतिः
प्रजा असृजत। यदसृजत–अकरोत्तत्। यदकरोत्–तस्मात् कूर्म्मः।
कश्यपो (पश्यको) वै कूर्म्मः। तस्मादाहुः 'सर्वाः प्रजाः काश्यप्यः' इति"।

—शत० ब्रा० ७ कां० । ५ अ० । १ ब्रा० । १ क० से ११ क० पर्य्यन्त ।

१०६–पुराण शास्त्रोक्त "अमृत मन्थन" आख्यान का कूर्म्म प्रजापति से सम्बन्ध, एवं आधुनिक वैदिकम्मन्यों के प्रौढवाद पर कटाक्षेप—

पुराणशास्त्रोक्त सुप्रसिद्ध 'अमृतमन्थन' आख्यान का भी इसी कूर्म्मप्रजापति से सम्बन्ध है। रोदसी त्रैलोक्य में व्याप्त अर्णवसमुद्र का पार्थिव और प्राणात्मक देव देवताओं, तथा आप्यप्राणात्मक असुरों के द्वारा ग्रहात्मक नागवायु व्यापार से मन्थन होता है। इस मन्थन की मूलप्रतिष्ठा त्रैलोक्य व्यापक कूर्म्म-प्रजापति ही बनते हैं। देवासुरों की इसी मन्थन प्रक्रिया से चौदहरत्नों का उद्गम होता है, जिनका पुराणादि निबन्धों में विस्तार से वैज्ञानिक विवेचन हुआ है। उपवर्णित कूर्म्मप्रजापति देवसत्यात्मक है, मायीमहेश्वर का अवतार है, अंश है। अंशी से अभिन्न है। इस दृष्टि से यद्यपि कूर्म्मप्रजापति को महेश्वररूप भी माना जासकता है। तथापि तत्त्वदृष्ट्या इसे उसका अवताररूप ही माना जाएगा। वामन–वराह–कूर्म्म–सूर्य्य–चन्द्र–आदि सभी कुछ वही हैं। परन्तु वामन वराह नहीं है, वराह वामन नहीं है। वाक् प्राण–चक्षुः–श्रोत्र–आदि सभी सर्वाङ्गशरीरव्यापक आत्मापेक्षया जहाँ अभिन्न हैं, अहंलक्षण हैं, वहाँ 'गुणानाञ्च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात्' न्याय से ये परस्पर विभिन्न तत्त्व हैं। ऐसी स्थिति में कूर्म्म–वामन–वराहादि विभिन्न तत्त्वों को परस्पर अविभिन्न बतलाना कथमपि विज्ञासम्मत नहीं माना जासकता। यदि इन्हें विभिन्न मान लिया जाएगा, तो अनेकदेवतावाद प्रमाणित हो जाएगा, और उस दशा में प्रतिरूपोपासना (प्रतिमोपासना) भी प्रामाणिक बन जाएगी, एकमात्र इस स्वकल्पित अवैदिक सिद्धान्त की रक्षा के लिए कूर्म्मादि को परमेश्वर परक लगाना आधुनिक वैदिकम्मन्यों का केवल प्रौढवाद ही रहजाता है।

१०७-"स यत् कूर्म्मो नाम" इत्यादि शतपथ श्रुति पर "परमेश्वरेणेदं सकलं जगत् क्रियते, तस्मात्तस्य कूर्म संज्ञा" इत्यात्मक श्रीमद्यानन्द स्वामी के भाष्य का समालोचन—

स्वामी दयानन्द भी अन्यभाष्यकारों की तरह सम्भवतः तत्त्वज्ञान की ओर से उदासीन ही थे। यही कारण है कि, उन्होंने उक्त शतपथी श्रुति का भाष्य करते हुए यह प्रकट किया है कि–'परमेश्वरेणेदं सकलं जगत् क्रियते, तस्मात् तस्य 'कूर्म्म' इति संज्ञा' (ऋग्वेद भाष्योपक्रमणिका)। तत्त्वतः-स्थिति तो यह है कि, परमेश्वर का न तो नाम ही कूर्म्म है, एवं न परमेश्वर सृष्टिकर्त्ता ही है। सर्वबल विशिष्ट रसैकघन मायातीत अखण्ड-परात्पर ही तत्त्वदृष्टया परमेश्वर है। सृष्टिकर्तृत्त्व की मूल प्रतिष्ठा कामना (इच्छा) है। अप्राप्तवस्तु की प्राप्ति के लिए ही कामना होती है। व्यापक परात्पर-परेश्वर अपनी व्यापकता से आत्मकाम है, आप्तकाम है, नित्यतृप्त है। जब वहाँ किसी वस्तु का अभाव ही नही तो कामना कैसी। कामना नही, तो उसका सृष्टि कर्तृत्त्व कैसा ? 'कामस्तदग्रेसमवर्त्तताधि मनसोरेतः प्रथमं यदासीत्' (ऋक् सं०·········) इत्यादि ऋग्वर्णनानुसार मन का व्यापार है, मन का रेत है। 'हृत् प्रतिष्ठं यदजिर जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' (यजुः सं०·······) इत्यादि यजुर्वर्णनानुसार मन की प्रतिष्ठा हृदय है। हृदय (गर्भ-केन्द्र) सीमित वस्तु से ही सम्बन्ध रखता है। असीम परात्पर परमेश्वर में सीमानुबन्धी हृदय का ही जब अभाव है, तो कामनामय मन का वहाँ सम्बन्ध ही कैसे सम्भव है। यदि अभ्युपगमवाद का आश्रय लेते हुए थोड़ी देर के लिए स्वामी जी के परमेश्वर को सीमित मान लिया जाय, तब भी उनका निराकार-सिद्धान्त कैसे सुरक्षित रहेगा !, इस प्रश्न की सम्भवतः उन्होंने मीमांसा ही न की होगी। श्रुति कूर्म्मप्रजापति को त्रैलोक्यात्मक बतला रही है, उसका 'एतद्वै रूपं कृत्वा' रूप से कूर्म्मपशुसम निश्चत आकार बतला रही है। श्रुति कहती है-कूर्म्मपशु उसका प्रतिरूप है, श्रुति-भक्त स्वामी जी कहते हैं, न उसका कोई आकार है, न प्रतिरूप (प्रतिकृति-प्रतिमा) है। कैसे अद्भुत श्रुति-समन्वय है, और कैसी है उनकी अभिनन्दनीय (?) वेदनिष्ठा।

१०८-प्रतिरूपमाध्यम को अवैदिक घोषित करने वाले महाशयों से प्रश्न—

तत्त्वज्ञान शून्य महानुभाव प्रतिरूप माध्यम की अवैदिकता घोषित करते हुए कहा करते हैं कि, प्रतिमा से उसका कोई सम्बन्ध नही है। जड़ प्रतिमा से कहीं चेतन का ध्यान सम्भव हुआ है ? ठीक। हम उन प्रतिरूप-माध्यम विरोधियों से पूछते हैं कि, क्या कूर्म्मपशु सचमुच उस त्रैलोक्यव्यापक कूर्म्मप्रजापति से समतुलित है ? क्या थोड़े से दधि-घृत-मधु-लिम्पन से कूर्म्मपशु त्रैलोक्यविभूति से युक्त होजाता है ?, क्या दोनों ओर लगाए गए अवका (शैवाल) व्यापकपारमेष्ठ्य समुद्र माना जासकता है ?। यदि नहीं, तो श्रुति ने इनके माध्यम से उन आधिदैविक तत्त्वो का संग्रह कैसे स्वीकार किया ? यदि हाँ, तो प्रतिमा माध्यम द्वारा विहित उपासनामार्ग का विरोध किस आधार पर किया गया ? दे सकेंगे वेद भक्त इस प्रश्न का उत्तर ?, कर सकेंगे वे प्रकृत कूर्म्मोप्रधान श्रुति का समन्वय ? त एव प्रष्टव्याः।

१०९–जड़ भगवत् प्रतिमा में प्राणप्रतिष्ठा, भावनात्मक भूतमाध्यम से उपास्य-प्रत्ययालम्बन का साफल्य, एवं "उपासकानां सिद्ध्यर्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना" सिद्धान्त का निर्वचन—

भगवत्प्रतिमा जड़ है, मानते है। परन्तु वेदमन्त्रों द्वारा इसमें प्राणप्रतिष्ठा द्वारा चेतन भावना का समावेश किया जाता है। भले ही प्रतिमा को यह विदित न हो कि, मैं उस व्यापक उपास्य का प्रतिरूप हूँ। परन्तु हमारी भावना सफल होजाती है। क्या कूर्म्मपशु को यह विदित है कि, मैं त्रैलोक्यव्यापक कूर्म्मप्रजापति का प्रतिरूप हूँ? क्या वह जानता है कि—'मधुवाता ऋतायते०' इत्यादि गायत्रत्रिच से मेरा दध्यादि से अभ्यञ्जन होरहा है, और मैं त्रैलोक्यरसों से युक्त होरहा हूँ?, क्या वह यह अनुभव कर रहा है कि-'अपां गम्भन् सीद०' इत्यादि उत्तर चित्र से मैं समुद्र की गहराई में प्रतिष्ठित होरहा हूँ?, क्या उसे यह बोध है कि मैं आदित्यप्राणात्मक हूँ, वृषा हूँ, प्राण हूँ?, कदापि नहीं। फिर कैसे श्रुति ने कूर्म्मपशु के उपधान से इन तत्त्वों का संग्रह कर लिया?। उत्तर वही भावनात्मिका प्रतिरूपविधा है। हमारी भावना ही भूतमाध्यम से उपास्य प्रत्ययालम्बनता की साधिका बन जाती है। सम्पूर्ण वैदिकयज्ञकर्म्म, वैदिक उपासना इसी भावना पर अवलम्बित है। 'देवो भूत्वा देवं भावयेत'–'यद्यत्स्वरूपमादत्तेतेन तेन स यज्यते'–'तं यथायथोपासते, तथैवभवति'–श्रद्धामयोऽयं पुरुषः योयच्छ्रद्धः स एव सः'–'उपासकानां सिद्ध्यर्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना' इत्यादि आर्ष सिद्धान्त इसी श्रद्धामयी भावना का समर्थन कर रहे हैं, जिसके आधार पर एक जलीय पशु (कूर्म्म) आधिदैविक प्रजापति की उपासना का साधक बन रहा है। एवं जिस भावना के अभाव से मन्दबुद्धियों का भावात्मक अन्तर्जगत् अभावस्वरूप में परिणत होता हुआ नष्ट होरहा है—'काले कारुणिक त्वयैव कृपया ते भावनीया नराः'।

११०–चेतन प्रतिरूपात्मक प्रथम कूर्म्मोदाहरण की संक्षिप्त मीमांसा—

प्रकृतमनुसरामः। कूर्म्मपशु नित्यावतारलक्षण, देवसत्यात्मक-ईश्वरप्रजापति का चेतन प्रतिरूप है। इसके माध्यम से इसकी सुप्रसिद्ध * कूर्म्माङ्गवृत्ति का अनुसरण करता हुआ तद्द्वारा आधिदैविक प्रजापति के साथ स्वप्रत्यय को प्रवाहित करने में अवश्य ही समर्थन होसकता है। इसीप्रकार चेतन गौपशु, चेतन माता–पिता-आचार्य्य के माध्यम से भी तदनुरूप आधिदैविक तत्त्वों का अध्यात्म में आधान किया जासकता है। यही चेतन प्रतिरूपात्मक प्रथम कूर्म्मोदाहरण की संक्षिप्त मीमांसा है।

---

* यदा संहरते चायं कूर्म्मोऽङ्गानीव सर्व्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ गी० २।५८।

—६—

७–अर्द्धचेतनप्रतिरूपोदाहरणम्–(अश्वत्थवृक्षः)—

कूर्म्मपशु चेतन उपास्य का चेतनप्राणी प्रतिरूप भी बन सकता है, ऐकात्म्यभावानुगति से चेतन उपास्य के लिए चेतनमाध्यम का यथाकथञ्चित् समादर भी किया जासकता है। परन्तु जड़-भौतिक पदार्थ की प्रतिरूपता का तो उस चेतन आधिदैविक के साथ अणुमात्र भी साम्य नहीं है। और हम (प्रतिमा-माध्यम विरोधी लोग) ऐसी जड़ोपासना के ही विरोधी हैं" उक्त कूर्म्मोदाहरण में यह थोड़ा सा अस्वारस्य आजाता है। इस अस्वारस्य की निवृत्ति प्रकृत 'अश्वत्थोदाहरण' से अंशतः हट रही है। उसी का स्वरूप उद्धृत होरहा है।

११२–आधिभौतिक, आधिकारिक, प्राकृतिक "अश्वत्थ" का अर्द्धचेतन-प्रतिरूपविधा मुख्योदाहरणत्व—

सुप्रसिद्ध, पार्थिव, आधिभौतिक, आधिकारिक, प्राकृतिक 'अश्वत्थवृक्ष ही अर्द्धचेतन प्रतिरूपविधा का मुख्य उदाहरण माना जासकता है। प्राकृतिक, आधिदैविक, आधिकारिक अश्वत्थब्रह्म का जैसा स्वरूप है, कई अंशों में अश्वत्थवृक्ष उससे समतुलित है। अतएव इस अश्वत्थवृक्षात्मक भौतिक प्रतिरूप के माध्यम से उस आधिदैविक अमृतसत्यलक्षण महेश्वरप्रजापति की ओर स्व-आध्यात्मिक प्रत्यय प्रतिपादित किया जासकता है। जिस अश्वत्थ प्रजापति का यह अश्वत्थवृक्ष प्रतिरूप है, पहिले उस तत्वात्मक आधिदैविक अश्वत्थ के स्वरूप की ओर विष्णूपासकों का ध्यान आकर्षित कियाजाता है।

११३–महेश्वर-उपेश्वर–ईश्वर -त्रिविभागभक्त प्रजापति, महेश्वर–उपेश्वरादि में अन्तर्लीन (प्रतिष्ठित) अस्मदादि चतुर्दश भूतसर्ग, "परमेश्वर" का सर्वातिशायी रूप एवं ईश्वरोपेश्वरों के सहस्रावधि विवर्तों का निरूपण—

चेतनप्रतिरूपोदाहरण–परिच्छेद के उपक्रम में 'प्रजापति' शब्द की व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि महेश्वर, उपेश्वर, ईश्वर, भेद से प्रजापति तीन भागों में विभक्त है। महेश्वर के गर्भ में उपेश्वर प्रतिष्ठित है, उपेश्वर के गर्भ में ईश्वर प्रतिष्ठित है, ईश्वरगर्भ में अस्मदादि चतुर्दशविध भूतसर्ग (प्रजावर्ग) प्रतिष्ठित है। प्रजाध्यक्ष ईश्वर देवसत्यात्मक क्षरप्रधानतत्त्व है। ईश्वराध्यक्ष उपेश्वर ब्रह्मसत्यात्मक अक्षर-प्रधानतत्त्व है। उपेश्वराध्यक्ष, किंवा सर्वाध्यक्ष महेश्वर अमृतसत्यात्मक अव्ययप्रधानतत्त्व है। ये तीनों जिस एक अखण्ड-अद्वय–मायातीत–सर्वबलविशिष्टैकरसमूर्त्ति परात्पर के अंश हैं, वही अखण्ड विश्वातीत परात्पर 'परमेश्वर' कहलाया है। अनाद्यनन्त महासमुद्र में जो स्थिति सीमाभावपन्न बुद्बुदों (बुलबुलों) की है, तत्सम अखण्ड परात्पर धरातल पर प्रतिष्ठित महेश्वरादि तीनों की वही स्थिति है। महेश्वरस्वरूप को जन्म देने वाली महामाया अपने असंख्य विवर्त्तभावों से बुद्बुदवद् उस अनाद्यनन्त परात्पर समुद्र में आविर्भूत–तिरोभूत होती रहती है। एक एक महामाया से एक एक उस मायी महेश्वर का उद्गम होता है, जिस मायी महेश्वर के गर्भ में सहस्रयोगमायाओं के पञ्चपुण्डीरा प्राजापत्य ब्रह्मा के अध्यक्ष एक सहस्र ब्रह्मेश्वर (उपेश्वर), एवं इतने ही देवसत्यलक्षण ईश्वर प्रतिष्ठित हैं। एक सहस्र ईश्वर, एक सहस्र उपेश्वर, दोनों

सहस्र सहस्र विवर्त्तों को अपने गर्भ में भुक्त रखने वाले महामायावच्छिन्न ऐसे ऐसे असंख्य महेश्वर (असंख्य महामाया विवर्त्तों के कारण) जिस अखण्ड धरातल पर प्रतिष्ठित हैं, वह परात्पर परमेश्वर संख्यातीत है, एक है। उस एक ही अखण्ड परात्पर के-'एकं वा इदं विबभूव सर्वम्' के अनुसार महेश्वरादि अनन्त विवर्त्त हैं।

११४-महावन-समतुलित परात्पर परमेश्वर, तन्मायानन्त्य, एवं इस ब्रह्म वृक्ष का तैत्तिरीय ब्राह्मणोपवर्णित प्रश्नोत्तरों से स्पष्टीकरण—

अनन्त महामायाबलों को अपने गर्भ में रखने वाला अखण्ड परात्पर परमेश्वर उस 'महावन' से समतुलित है, जिस निःसीम महावन में अनन्त-असंख्य वृक्ष प्रतिष्ठित रहते हैं। महावनरूप परात्पर ब्रह्म के गर्भीभूत एक एक माहामाया बल से सहस्रोपश्वर-सहस्रेश्वर गर्भित जिस एक एक महामायी महेश्वर उद्गम होता है, वह वृक्षरूप से समतुलित है। मायानन्त्य से उस परात्परवन में ऐसे अनन्त वृक्ष हैं। इन अनन्त वृक्षब्रह्मों (मायी महेश्वरों) में से हमारा सम्बन्ध केवल एक वृक्षब्रह्म से है। इस एक वृक्षब्रह्म के क्षर भाग को काट-छांट कर अक्षर प्रकृति ने जिस एक पञ्चपुण्डीरात्मिका प्राजापत्य वल्शा का निर्म्माण किया है, वह वल्शा एक योगमायी उपेश्वर है। द्यावापृथिवीरूप उपेश्वर वृक्षकाष्ठ से निर्म्मित एक पुर से समतुलित है। परात्पररूप वन, महेश्वररूप वृक्ष, उपेश्वररूप पुर, तीनों एक ही परात्पर के मायातीत, महामायी, योगमायी विवर्त्त हैं। इस दृष्टि से तीनों को 'ब्रह्म' इस समान नाम से व्यवहृत करते हुए यह कहा जासकता है कि-ब्रह्म ही वन है, ब्रह्म ही वृक्ष है, ब्रह्म ही द्यावा पृथिवी रूप वह पुर है, जिसे ब्रह्मवृक्ष को काट-छांट कर निर्म्मित किया गया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में इसी रूप से इस तत्त्वत्रयी का विश्लेषण हुआ है, जैसाकि निम्न लिखित प्रश्नोत्तरों से स्पष्ट है-

* १-प्रश्नश्रुतिः-"किंस्विद्वनं क उ स वृक्ष आसीत्-यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ॥
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु-यद ध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ! ॥"

२-उत्तरश्रुतिः-"ब्रह्म वनं, ब्रह्म स वृक्ष आसीत्-यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ॥
मनीषिणो मनसा विब्रवीमि वः-ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ॥"

—तै० ब्रा० २ कां० ।८ प्र० ।६ अ० ।६,७ कं०।

---

*-"किंस्विद्वनं, क उ स वृक्ष आस, यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ॥
सन्तस्थाने अजरे इत ऊती अहानि पूर्वीरुषसो जरन्त ॥१॥
नैतावदेना परो अन्यदस्त्युक्षास द्यावापृथिवी बिभर्त्ति ॥
त्वचं पवित्रं कृणुत स्वधावत् यदीं सूर्यं न हरितो वहन्ति ॥२॥

—ऋक् सं० १०।३१।७,८।

किंस्विद्वनं, क उ स वृक्ष आस, यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ॥
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदुतत्-यदध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन् ॥१॥

—यजुःसं० १७।२०।

—तै० ब्रा० २ ब्रा० २ कां० ।८ प्र०।६ अ० । ६, ७ कं० ।

१-ब्रह्मवनम्—अखण्डः परात्परः—सत्यस्य सत्यम्—परात्परः-परमेश्वरः।
२-ब्रह्म स वृक्षः-महामायी महेश्वरः—अमृतसत्यम्—पुरुषः-अव्ययः।
३-द्यावापृथिवी-योगमायी उपेश्वरः—ब्रह्म-देवसत्ये—प्रकृतिरक्षरः, विकृतिः क्षरश्च।
(देवसत्यगर्भितः)

* * *

११५-क्षराक्षर गर्भित महेश्वर रूप "अश्वत्थ" की सहस्रशाखाएँ, मायी महेश्वर गर्भ प्रतिष्ठित योगमाया के सहस्र विवर्त्तों का स्वरूपोपबृंहण—

परात्पररूप महावन के एक मायात्मक महेश्वर-वृक्ष का ही प्रकृत की अर्द्ध चेतन प्रतिरूपविधा से सम्बन्ध है। महेश्वररूप क्षराक्षरगर्भित वृक्ष ही 'अश्वत्थवृक्ष' कहलाया है। इस अश्वत्थवृक्ष की एक सहस्र शाखा मानीं गई हैं। उपेश्वर स्वरूप सम्पादिका योगमाया के एक सहस्र विवर्त्त मायी महेश्वर के गर्भ में प्रतिष्ठित है। एकमात्र इसी आधार पर इसे 'सहस्रवल्श' माना गया है। प्रत्येक वल्श में तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' न्याय से वह मनोमय महेश्वर प्रतिष्ठित है, अतएव वह 'सहस्रचेताः' नाम से प्रसिद्ध है। (ऋक् मं० १।१००।१२)। इसी साहस्री के आधार पर वह 'सहस्रऽअक्षराः'-'सहस्रचक्षाः'-'सहस्रजित्'-'सहस्रद्वारं'-'सहस्रधारः'-'सहस्रपर्णः'-'सहस्रशीर्षा'-'सहस्राक्षः'-'सहस्रपात्'-'सहस्रशृङ्गः' (ऋक् मं० (१।१६४।४१)-(७।३४।१०)-(१।१८८।११)-(७।८८।१)-(६।२६।२)-८।७३।७)-(१०।९०।१)-(१७६।१२)-(१०।९०।१)-(५।१।८)—) इत्यादि नामों से व्यवहृत हुआ है। निम्न लिखित मन्त्र श्रुतियाँ अश्वत्थवनस्पतिरूप सहस्रवल्श इसी महेश्वर का दिग्दर्शन कर रही हैं—

१-वनस्पते शतवल्शो वि रोह सहस्रवल्शा वि वयं रुहेम ॥
यं त्वामयं स्वधितिस्तेजमानः प्रणिनाय महते सौभगाय ॥

—ऋक् सं० ३।८।११।

२-त इन्निण्यं हृदयस्य प्रकेतैः सहस्रवल्शमभि सं चरन्ति ॥
यमेन ततं परिधिं वयन्तोऽप्सरस उप सेदुर्वसिष्ठाः ॥

—ऋक् सं० ७।३३।९।

११६-पुरुष एवेदं सर्वम्" आधारेण सत्यपि पुरुष वैशिष्ट्ये किमिति महेश्वर समष्टि-वर्णने "वृक्ष" इत्यभिधीयत इति शङ्कायाम् कृतप्ररोहि वृक्षस्य कृताप्ररोहि-पुरुषापेक्षया वैशिष्ट्यात् समष्टि महेश्वरस्य "वृक्ष" इत्येव संज्ञा किन्तु, वृक्षापेक्षया-ऽधिक चेतनधर्म्मान्वितः "पुरुषः" किमिति पुन र्नः प्ररोहते—

महेश्वर विवर्त्त 'अश्वत्थ' क्यों कहलाया ?, यह तो प्रश्नान्तर है। पहिले हमें इस के वृक्षसामान्य नाम का विचार करना चाहिए। वैसे तो 'पुरुषो वै प्रजापते र्नेदिष्ठम्' (शत० ......) इत्यादि

ब्राह्मणश्रुति के अनुसार चेतन प्रजापति के धर्म्मों से चेतन पुरुष ही सर्वात्मना समतुलित है। अतएव उसे यत्र तत्र–'पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्' (यजुः सं०.......) इत्यादि रूप से भी व्यवहृत किया गया है। परन्तु समष्ट्यात्मक वर्णन में उसे 'वृक्ष' नाम से ही व्यवहृत करना उचित समझा गया है। कारण यही है कि, पुरुष चेतन तो अवश्य है, परन्तु इस के अवयव विस्रस्त होकर पुनः प्ररोहित नहीं होते। यदि हाथ–पैर काट दिए जाते हैं। तो पुनः इन का उद्‌गम नहीं होता। परन्तु वृक्ष की शाखा-पल्लव–फल–आदि सब कुछ काट देने पर भी पुनः उस का प्ररोहण होजाता है *। इसी लिए तो इसे असमाधेय प्रश्न माना गया है। भगवान् याज्ञवल्क्य ने प्रश्न किया है कि, पुरुषापेक्षया स्वल्पमात्रा में चेतन धर्म्म का अनुगमन करने वाले वृक्षादि काट दिए जाने पर पुनः प्ररोहित होजाते हैं, तो क्या कारण है कि, वृक्षापेक्षया अधिक चेतन धर्म्मों का अनुगमन करता हुआ भी पुरुष काट दिए जाने पर पुनः–प्ररोहित नहीं होता ?। देखिए !

"तान् हैतैः श्लोकैः पप्रच्छ—यथा वृक्षो वनस्पति स्तथैव पुरुषोऽमृषा ॥
तस्य पर्णानि लोमानि, त्वगस्योत्पाटिका बहिः ॥१॥
त्वच एवास्यरुधिरं प्रस्यन्दित्वच उत्पटः ॥
तस्मात्तदातुन्नात्प्रैति रसोवृक्षादिवाहतात् ॥२॥
मांसान्यस्य शकराणि किनाटं स्नाव तत्स्थिरम् ॥
अस्थीन्यतरतो दारूणि मज्जा मज्जोपमा कृता ॥३॥
यद्वृक्षो वृक्णो रोहति, मूलान्नवतरः पुनः ॥

—शत० १४।६।१०।३०,३१,३२,३३,।

११७-सतत विस्रंसन–प्राजापत्य–सृष्टि–निर्म्माण, तदीयचिति द्वारा पुन स्तत् सर्ग, एवं एतत्सामान्यधर्म्म द्वारैव प्रजापति की "वृक्ष" नामान्विति—

प्रजापति का सृष्टिनिर्म्माण कर्म्म में सतत विस्रंसन होता रहता है। परन्तु वह पुनः अपने क्षतभाग से (चितिद्वारा) पूर्ण बनता रहता है। इसी समधर्म्म से इसे 'वृक्ष कहना अन्वर्थ बनता है। संवरणार्थक 'वृक्ष' धातु से अच् प्रत्ययद्वारा 'वृक्ष' शब्द निष्पन्न हुआ है, जिस का अर्थ है–अपने परिणाह (घेर) से स्वाश्रितों का संवरण करने वाला। प्रजापति भी अपने साहस्री–मण्डल से इसी प्रकार त्रैलोक्य का संवरण किए हुए है, अतएव इसे भी संवरणसाधर्म्यात् 'वृक्ष' कहना अन्वर्थ बनता है। वृक्ष का मूल स्थिर रहता है, शाखा–प्रशाखा–पत्रादि अस्थिर–कम्पित रहते हैं। एवमेव प्रजापति भी अपने मूलात्मक हृदयभाव से सर्वथा निश्चल रहता है, एवं मूलात्मक प्रजाभाग से विचाली बना रहता है। वृक्षबीज के मूल–मध्य–अग्र भागों में क्रमशः प्रतिष्ठालक्षणा स्थिति (ब्रह्मा) अर्वाग्गतिलक्षणा आगति (विष्णु), पराग्गतिलक्षणा गति (इन्द्र, किंवा शिव) प्रतिष्ठित रहती है। उधर प्रजापति संस्था के मूल–मध्य–अग्र भागों में में भी इसी रूप से तीनों धर्म्म प्रतिष्ठित हैं, जबकि अध्यात्मसंस्था (पुरुषशरीर) में तीनों विपर्य्यय रूप से प्रतिष्ठित हैं। वृक्ष 'आत्मग्राम' माना गया है। पत्र–पुष्प–फल–शाखा–प्रशाखा–वल्कल–आदि सब वृक्षाव-

पत्रों की उत्पत्ति-स्थिति-भङ्ग पृथक् पृथक् है। जिसप्रकार पुरुषसंस्था में आलोमभ्यः-आनखाग्रेभ्यः एक आत्मा है, वैसे वृक्ष में एक आत्मा नहीं हैं। पत्ते पृथक् समय में उत्पन्न होते हैं, रक्त-हरित-पीतादिवर्णों में परिणत होते हुए झड़ जाते हैं। यही अवस्था फल-पुष्पादि की है। यही स्थिति प्राजापत्य संस्था की है। योगमाया-नन्त्य भेद से इसका प्रत्येक सृष्टिपर्व स्वतन्त्र आत्मभाव से युक्त है। अनेक खण्डात्म समष्टि से एक ईश्वरीय प्राजापत्य संस्था का स्वरूप सम्पन्न हुआ है। इन्हीं सब समान धर्म्मों के आधार पर महर्षियों ने प्रजापति को वृक्ष नाम से व्यवहृत करना भी अन्वर्थ माना है।

११८-सर्वरूप "अश्वत्थ" वृक्ष की महिमा का निरूपण—

वृक्षों में भी इसे अश्वत्थ वृक्ष क्यों कहा गया है, यह द्वितीय प्रश्न है। इसी का संक्षिप्त समाधान उपस्थित किया जाता है। * मायीमहेश्वर, योगमायीउपेश्वर, योगमायीईश्वर, प्रजापतिलक्षण महा वृक्ष के ये तीन तुल्य विवर्त्त हैं। इसदृष्टि से यों भी कहा जासकता है कि, महामायाप्रपञ्च से सम्बन्ध रखने वाले विश्ववृक्ष के अवान्तर तीन वृक्ष माने जासकते हैं। सामान्य 'वृक्ष' अभिधा के गर्भ में प्रतिष्ठित वे विशेष अभिधाएँ ही क्रमशः 'अश्वत्थ, पलाश, वट' नाम से व्यवहृत हुई हैं। अव्ययप्रधान महामायी महेश्वर वृक्ष 'अश्वत्थवृक्ष' है। अक्षरप्रधान योगमायी उपेश्वर (एकवल्शेश्वर) वृक्ष 'पलाशवृक्ष' है। आत्मक्षर प्रधान योगमायी द्यावापृथिव्य ईश्वर (देवसत्य) वृक्ष 'वटवृक्ष' हैं। अश्वत्थवृक्ष की एक शाखा (पञ्च-पुण्डीरा वल्शा) एक पलाशवृक्ष है, पलाशवृक्ष की पाँच शाखाओं में से अन्त की नित्यभूपिण्डात्मिका शाखा पर अवलम्बित महापृथिवी रूप स्तोम्यत्रैलोक्य वटवृक्ष हैं। इससे यह भी निष्कर्ष निकल आता है, कि पलाश, और वटवृक्ष, दोनों अश्वत्थस्वरूप के गर्भ में ही अन्तर्भूत हैं। अश्वत्थसीमा में (तदवयवरूप से) ही दोनों प्रतिष्ठित हैं। अतएव अश्वत्थग्रहण से दोनों का ग्रहण किया जासकता है। यही अश्वत्थ-वृक्ष की सर्वरूपता है, जिसका निम्न लिखित शब्दों में अभिनय हुआ है—

यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चित्, यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥

—श्वे० उ० ३।९।

११९-अश्वत्थ मूर्त्ति महेश्वर का "अणोरणीयान्" "पूर्णमिदं" व्याख्यानुसृत विभूति परक निर्वचन—

महामायावच्छिन्न, सहस्रवल्शोपेत महाविश्व में महामायी महेश्वर ही अपने महेश्वर (अव्यय) रूप से 'पर' है, एवं ईश्वररूप से अपर (किंवा, अवर) है। अपने महिमभाव से वही महतो महीयान् है, हृदयभाव से अणोरणीयान् है। वह सर्वव्यापक (मायामण्डलव्यापक, महाविश्वव्यापक) मायीमहेश्वर

---

* अश्वत्थ की विशद वैज्ञानिक व्याख्या मूलभाष्यान्तर्गत 'अश्वत्थविद्या' प्रकरण में ही देखनी चाहिए।

वृक्षवत् स्तब्ध खड़ा हुआ है इसी पूर्णपुरुष की पूर्णता के उदक पूर्णरूपों से सर्वविश्वप्रपञ्च-'पूर्णमदः-पूर्णमिदम्' रूप से पूर्ण बन रहा है। अश्वत्थमूर्त्ति इस मायीमहेश्वर का अपना अश्वत्थात्मक समष्टिरूप अमृतसत्यलक्षण, क्षराक्षरगर्भित अव्ययपुरुष है। मायी महेश्वररूप अव्ययपुरुष से अविनाभूत अश्वत्थ वृक्षशाखात्मक, ब्रह्मसत्यलक्षण, अव्ययक्षरगर्भित पलाशवृक्षात्मक, उपेश्वरमूर्ति अक्षरपुरुष इसी मायीमहेश्वर का दूसरा विवर्त्त है। मायी महेश्वर के अव्ययरूप से अविनाभूत, अश्वत्थ वृक्षान्तिमपर्वमहिमात्मक, देवसत्य-लक्षण, अव्ययाक्षरगर्भित, वटवृक्षात्मक, ईश्वरमूर्त्ति आत्मक्षरपुरुष इसी मायीमहेश्वर का तीसरा विवर्त्त है। इसप्रकार अश्वत्थ मूर्त्ति वह मायीमहेश्वर ही अमृतसत्याव्यय, ब्रह्मसत्याक्षर, देवसत्यात्मक्षर रूप से महेश्वर-उपेश्वर-ईश्वर इन तीन भावों में परिणत होता हुआ अश्वत्थ-पलाश-वटरूप से सर्वत्र व्याप्त होरहा है। अश्वत्थमूर्त्ति अव्यय के गर्भ में सब वृक्षरूप प्रतिष्ठित है। अतएव 'अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्' इत्यादिरूप से इसी को विभूति-परिगणना में मुख्य स्थान दिया गया है।

त्रिमूर्त्ति अश्वत्थवृक्ष (मायीमहेश्वर) का मूल ऊर्ध्व है, शाखाएँ अवाङ्रूप से वितत हैं। केन्द्र ही वस्तु का ऊर्ध्व भाग कहलाया है, जिसे 'उत्तर' भी कहा जासकता है। केन्द्र के आधार पर वितत बहिर्मण्डल अधोभाग कहलाया है, जिसे 'दक्षिण' भी कहा जासकता है। केन्द्र में वह उक्थरूप से प्रतिष्ठित है, परिधिमण्डल में अर्क (रश्मि) रूप से प्रतिष्ठित है। यद्यपि मायाबलोपाधि सम्बन्ध से यह मात्रादृष्ट्या सादि-सान्त है, तथापि अपने मूलात्मक परात्परांशरूप अव्ययरूप से यह सर्वथा सनातन है, शाश्वतधर्म्मा है। ऊर्ध्वमूल, अवाक्शाख, अव्ययप्रधान, सर्वदैकरसमूर्त्ति * , यह अश्वत्थ ही महामायारूप से अमृतसत्य (महेश्वर) है, एकवल्शात्मिका योगमायारूप से ब्रह्मसत्य (उपेश्वर) है, द्यावापृथिव्यात्मिका योगमायारूप से देवसत्यात्मशुक्र (ईश्वर है)। सर्वव्यापक सर्वरूप इसी अश्वत्थवृक्ष के अमृत-ब्रह्म-शुक्र विवर्त्तों का दिग्दर्शन कराती हुई उपनिषच्छ्रुति कहती है—

---

*—ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्यपर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥गी०१५।१।
सदृशं त्रिषुलिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम् ॥ गी०श्रा०···।
ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेवशुक्रं, तद्ब्रह्म, तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्व्वे तदु नात्येति कश्चन ॥ एतद्वै तत् ॥
—कठोपनिषत् ६।१। *

१२०–अमर्त्य–मर्त्य–विभूतिनित्य युक्त "अश्वत्थमूर्त्ति" अव्यय पुरुष, एवम् "ब्रह्माश्वत्थ" "कर्म्माश्वत्थ" के स्वरूप का उपबृंहण—

अश्वत्थमूर्त्ति–अव्ययपुरुष–'अमृतं चैवमृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन'–'अर्द्धं ह वै प्रजापति रात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्' इत्यादि स्मार्त–श्रौतसिद्धान्तानुसार अमृत–मर्त्य, दोनों विभूतियों से नित्य युक्त है। अमृतरूप विद्याव्यय है, मर्त्यरूप कर्म्माव्यय है। आनन्द–विज्ञान–मनोमय वही अव्यय ब्रह्म है, मनः–प्राण वाङ्मय वही अव्ययकर्म्म है। ब्रह्माव्यय मुक्तिसाक्षी है, कर्म्माव्यय सृष्टिसाक्षी है। मुक्तिसाक्षी ब्रह्माव्यय ब्रह्माश्वत्थ है, सृष्टिसाक्षी कर्म्माव्यय 'कर्म्माश्वत्थ' है। ब्रह्माश्वत्थ सनातन है, कर्म्माश्वत्थ विकुर्वाण होने से क्षणभावात्मक है। 'न श्वः तिष्ठति' यह कर्म्माश्वत्थ का निर्वचन है। 'अश्ववत्तिष्ठति'–'अश्वत्थवत् वा तिष्ठति, यह ब्रह्माश्वत्थ का निर्वचन है। ब्रह्माश्वत्थ का ईश्वरविवर्त्त से सम्बन्ध है, कर्म्माश्वत्थ का जीवविवर्त्त से सम्बन्ध है। पूर्व में महेश्वर, उपेश्वर, ईश्वर, नामक तीन विवर्त्तों का जो स्पष्टीकरण हुआ है, वह ब्रह्माश्वत्थ से सम्बन्ध रखता है, जिसका उपलब्ध भाष्यों में स्पर्श भी नहीं हुआ है। सभी व्याख्याताओं ने केवल कर्म्माश्वत्थ को ही अपना लक्ष्य बनाया है, जबकि–'एषोऽश्वत्थः सनातनः'–'तेनेदंपूर्णं पुरुषेण सर्वम्' 'अश्वत्थं प्राहुरव्ययम्' इत्यादिरूप से अनित्य संसारवृक्षात्मक–जीववृक्षात्मक–कर्म्माश्वत्थ से अतिरिक्त सनातन–पूर्ण–अव्यय–रूप ब्रह्माश्वत्थ का पदे पदे विश्लेषण हुआ है।

१२१–ब्रह्माश्वत्थ षोडशी प्रजापति का "परात्पर–अव्यय–अक्षर–आत्मक्षर" कलान्तर्भाव से षोडशकलत्व, एवं "त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुष., पादोस्येहाभवत् पुनः" श्रुति निरुक्ति का सङ्गमन—

परात्पर, अव्यय, अक्षर, आत्मक्षर, की १–५–५ कलाओं से जहाँ ब्रह्माश्वत्थ षोडशीप्रजापति है, षोडशकल है, वहाँ इन चार निष्कल परात्पर, अमृताव्यय, ब्रह्माक्षर, शुक्राक्षर पर्वों से वही ब्रह्माश्वत्थ, किंवा अश्वत्थब्रह्म चतुष्पाद बन रहा है। विश्वातीत निष्कल परात्पर सृष्टिकर्म्म मूलाधिष्ठान है। विश्वेश्वर पञ्चकल अव्यय सृष्टिकर्म्म का साक्षी है। विश्वात्मा पञ्चकल अक्षर सृष्टिकर्म्म का निमित्त (कर्त्ता) है। विश्वयोनिपञ्चकल आत्मक्षर ही अपने विश्वसृट्–पञ्चजन–पुरञ्जनरूपों से सृष्टि का उपादानकारण है। इसप्रकार चतुष्पाद् ब्रह्माश्वत्थ के परात्पर, अव्यय, अक्षर, ये तीन पाद तो ऊर्ध्व (केन्द्र) भाग के ही अनुगामी बने रहते हैं। सृष्टिरूप में परिणत होता है, चौथा उपादान कारणभूत विकुर्वाण आत्मक्षर। इसी स्थिति का यों भी अभिनय किया जासकता है कि, चतुष्पाद ब्रह्म के तीन पाद तो स्थितिभावापन्न हैं, निश्चित हैं, अनेजत् हैं, कम्परहित हैं। एवं चौथा आत्मक्षरपाद ही गतिभावापन्न है, विचाली है, एजत् है, सकम्प है। अनेजत्–एजत् की समष्टि ही ब्रह्माश्वत्थ वृक्ष है। इसका अनेजत्भाग ब्रह्माश्वत्थ का मौलिक स्वरूप है, एजत्भाग कर्म्माश्वत्थ (संसारवृक्ष) का आदिप्रवर्त्तक है। इसी स्थिति का दिग्दर्शन करते हुए श्रुति ने कहा है–'त्रिपादूर्ध्वउदैत्पुरुषः, पादोस्येहाभवत्पुनः' (यजुः सं०………)।

१२२-अश्वत्थब्रह्मवत् प्रतिष्ठित "अश्व" पशु, एवं "सहस्रशीर्षा सहस्राक्षः सहस्रपात्" यजुर्मन्त्रोवर्णित अग्निरूप सौरइन्द्रप्राणों का अश्वपशु में प्राधान्य—

अश्वपशु ठीक चतुष्पाद अश्वत्थब्रह्मवत् ही प्रतिष्ठित रहता है। अश्व जब भी कभी खड़ा होता है, तभी उसके तीन पाद तो भूप्रतिष्ठित रहते हुए कम्पनरहित रहते हैं, एकपाद कम्पितसा--अधर--सा रहता है। चतुष्पाद्ब्रह्म का मूलकेन्द्र सूर्य्य है। 'आदित्यो वै विश्वस्य हृदयम्' के अनुसार सूर्य्य ही ब्रह्माश्वत्थ का केन्द्र है, एवं 'ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाखः' इत्यादिरूप से यही वह उत्थरूप से प्रतिष्ठित है सौरहृदयप्राण ही 'मघवा' नामक इन्द्र कहलाया है। सौरकेन्द्रानुगत षोडशीप्रजापति स्थानानुगता षोडशकल विभूति से अनुगृहीत होने से ही सौरइन्द्र 'षोडशी' कहलाया है। जैसाकि--'इन्द्रोह वै षोडशी' इत्यादि ब्राह्मणश्रुति से प्रमाणित है। तात्पर्य्य यह है कि, चतुष्पाद षोडशी अश्वत्थप्रजापति के कर्म्मों का विश्वकेन्द्रस्थ इन्द्र में समावेश होरहा है। अश्वपशु में इसी इन्द्रप्राण का प्राधान्य है *। श्रुति ने कहा है--प्रजापति का चक्षु निकल पड़ा, वही अश्व बनगया। 'सहस्रशीर्षा सहस्राक्षः सहस्रपात्' इत्यादि यजुर्म्मन्त्रोपवर्णित सहस्राक्षका स्थान सौरकेन्द्र ही माना गया है। अग्निरूप सौरइन्द्र प्राण ही अपने प्रवर्ग्य भाग से अश्वपशु का आत्मा बनता है (शत० १३।३।१।१।)। अहर्गणपरिभाषानुसार सर्वं प्रजापति 'चतुस्त्रिंश' कहलाया है। अश्वपशु इसी प्रजापत्य--हृदय--सौर--इन्द्र--प्राण का प्रतिरूप है, अतएव इसे भी--'अश्व श्चतुस्त्रिंशः' (तै० ब्रा०३।७।१।२) इत्यादिरूप से चतुस्त्रिंश नाम से ही व्यवहृत किया गया है। इन्द्रतत्व ही अपने स्वाभाविक वृषा (पुरुष) भाव से × 'नर' कहलाता है ÷। नरात्मक इसी इन्द्र सम्बन्ध से लोकभाषा में अश्वभी 'नर' कहलाया है +। अपने प्राकृतिक इसी चतुष्पाद्--लक्षण प्राजापत्य धर्म्म से अश्व के तीन पाद प्रतिष्ठित--अकम्पित रहते हैं, एक पाद अप्रतिष्ठित--सा--कम्पित--सा रहता है। अश्वपशु जिस रूप से खड़ा रहता है, इसी रूप से ब्रह्माश्वत्थ प्रतिष्ठित है। अतएव 'अश्ववत्तिष्ठति' निर्वचन से उसे 'अश्वत्थ' कहना अन्वर्थ बनता है। अपिच अश्वत्थवृक्ष की जैसी स्थिति है, जिसका कि अनुपद में ही दिग्दर्शन कराया जाने वाला है--वैसी ही इस प्रजापति की स्थिति है इसलिए भी--'अश्वत्थवत् तिष्ठति' निर्वचन से अश्वत्थ कहना अन्वर्थ बनता है। ईश्वर--उपेश्वर--गर्भित महेश्वर प्रजापति 'अश्वत्थ-वृक्ष' नाम से क्यों व्यवहृत हुआ? प्रश्न की यही संक्षिप्त मीमांसा है।

---

*-'इन्द्रोवाअश्वः' (कौ०ब्रा०१५।४।) 'असौवाआदित्योऽश्वः' (तै०ब्रा०३।६।२३।२।)। 'सौर्य्यो वा अश्वः' (शत०१३।१।१।१।) 'प्राजापत्योवा अश्वः (शत०६।५।३।६।)।

×-"इन्द्रो वै वृषा' (तां०म०ब्रा०६।४।३।)।

÷ "त्वं सत्य इन्द्र धृष्णुरेतान्-त्वमृभुक्षा-नर्यस्त्वं षाट्" (ऋक्सं० १।६३।३।)।

+ नरा(?) घोड़ा।

१२३–अश्वत्थ-पलाश-वट त्रिविवर्त बृंहित अश्वत्थ ब्रह्म, एवम् एकवल्शात्मक योग-मायावच्छिन्न उपेश्वर के विवर्तस्वरूपों का उपबृंहण—

अश्वत्थब्रह्म को सहस्र वल्शात्मक बतलाते हुए स्पष्ट किया गया है कि, इसी की एक शाखा पलाश-ब्रह्म है, एवं पलाश ब्रह्म के अन्तिम पर्व के आधार पर वितत महापृथिवी ही वटब्रह्म है। इसप्रकार एक ही अश्वत्थब्रह्म के 'अश्वत्थ-पलाश-वट' ये तीन विवर्त्त होजाते हैं। इस दृष्टि से वृक्षात्मिका प्राजापत्यविधा के 'अश्वत्थविधा, पलाशविधा, वटविधा' ये तीन विवर्त्त माने जासकते हैं, और कहा जासकता है कि, विश्ववृक्ष के अश्वत्थ-पलाश-वट, ये तीन स्वतन्त्र विवर्त्त हैं। मायीमहेश्वर के मायामय महाविश्व को छोड़कर केवल एकवल्शात्मक योगमायावच्छिन्न उपेश्वर विवर्त्त को लक्ष्य बनाइए। क्योंकि वृक्षत्रयी विद्या का इस संस्था के आधार पर भलीभांति स्पष्टीकरण सम्भव है। एकवल्शेश्वर उपेश्वर ब्रह्मसत्य प्रजापति की एक वल्श के 'स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी, ये पाँच पुण्डीर (पर्व-पोर) बतलाए हैं। उपेश्वरप्रजापति अक्षरप्रधान माना गया है। इस अक्षर की ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि, सोम, ये पाँच कलाएँ मानी गई हैं। इन पाँचों अक्षरों का, किंवा एक ही अक्षर की पाँचों कलाओं का उक्त स्वयम्भु आदि पांच पुण्डीरों से क्रमिक सम्बन्ध है। यही पञ्चाक्षरात्मिका पञ्चपुण्डीरात्मिका वह उपेश्वर संस्था है, जिसमें हमें अश्वत्थ-पलाश-वटवृक्षों का स्वरूपभोग बतलाना है।

१२४–धामविधाधारेण त्रिधाविभक्त पञ्चपुण्डीर, एवं पञ्चपुण्डीरों के तीन धामों का निरूपण—

पञ्चपुण्डीरों को 'धामत्रिधा' के आधार पर तीन मार्गों में विभक्त किया जासकता है। ब्रह्माक्षरा-नुगृहीता स्वयम्भु पुण्डीरका एक स्वतन्त्र प्रथम धाम है। इसे 'परमधाम' कहा जाएगा, एवं ब्रह्माक्षर सम्बन्ध से इसे 'ब्रह्मधाम' कहा जाएगा *। विष्णु-अक्षरानुगृहीता परमेष्ठी पुण्डीर, इन्द्राक्षरानुगृहीता सूर्य्यपुण्डीर (अमृतात्मिका-सूर्य्यपुण्डीर), दोनों का एक स्वतन्त्र द्वितीयधाम है। इसे 'मध्यमधाम' कहा जाएगा, एवं इन्द्रगर्भित विष्णु-अक्षर सम्बन्ध से इसे + 'विष्णुधाम' माना जाएगा। यही विष्णु पारमेष्ठ्य दिक्सोम सम्बन्ध से 'सोमधाम' ('बृहद्गभीरं तव सोमधाम' ऋक् सं० १।९१।३।), पारमेष्ठ्य आप्य-प्राणरूप वरुण सम्बन्ध से 'वरुणधाम' ('दीर्घं सचन्ते वरुणस्य धाम'-ऋक् सं० १।१२३।८), 'ऋतमेप परमेष्ठी' (गो० ब्रा० ·· ···) के अनुसार पारमेष्ठ्य आपो-वायुः सोमः' इन तीनों ऋततत्त्वों

---

*—"स वेदैतत् परमं ब्रह्मधाम यत्रविश्व निहितं भातिशुभ्रम्।
उपासते पुरुषंय ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः॥
—मुण्डकोपनिषत् ३।२।१।

× "तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरय।
दिवीव चक्षुराततम्"।
—ऋक् सं० १।२२।१।

के सम्बन्ध से 'ऋतधाम' ('ऋतस्य योषा न मिनाति धाम'-ऋक्० सं० १।१२३।६), एवं सौर अमृत-न्द्र सम्बन्ध से 'इन्द्रधाम' ('प्रियं वै धामोपागाः' कौ० उ०......) नाम से व्यवहृत हुआ है। इन्द्र-सोम-अग्नि-अक्षरानुगृहीता सूर्य्य (मर्त्यसूर्य्य), चन्द्रमा, भूपुण्डात्मिका तीनों पुण्डीरों का एक स्वतन्त्र तृतीयधाम है। इसे 'अवमधाम' माना जाएगा। एवं सूर्य्य भास्वरसोमात्मक चन्द्रमा सोम अग्निरूप शिव-तत्त्व सम्बन्ध से इसे 'शिवधाम' कहा जाएगा। इसप्रकार ५ पुण्डीरों के तीन धाम होजाएँगे। इन तीनों दिव्य (आधिदैविक) धामों की समष्टि ही वह तुरीयधाम माना जाएगा, जिसके अवान्तर व्यष्टिलक्षण ये तीन धाम हैं-('तुरीयंधाम महिषो विवक्ति' ऋक् सं० ६।६६।१६।-+। निम्न लिखित मन्त्रश्रुतियां समष्टिरूप तुरीय विश्वकर्म्मधाम परप्रतिष्ठित व्यष्टिलक्षण इन्हीं उक्त तीनों ब्रह्म-विष्णु-शिव-धामों का स्पष्टीकरण कर रही है-

१-या ते धामानि परमाणि, यावमा, या मध्यमा, विश्वकर्म्मन्नुतेमा।
शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधावः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः ॥ ऋक्सं०१०।८१।५।

२-युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्वि श्लोक एतु पथ्येव सूरेः।
शृण्वन्तु अमृतस्य पुत्रा आ ये धामनि दिव्यानि तस्थुः ॥ ऋक् सं० १०।१३।१।

३-यो नः पिता जनिता यो विधाता धामनि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामधा एक एव तं सम्प्रश्नं भुवना पन्त्यन्या ॥ ऋक् सं०१०।८२।३।

त्रिधामपरिलेख—

पुण्डीरा		अक्षरभावाः		धामानि
१-१-स्वयम्भूः		ब्रह्मा	ब्रह्मधाम—परमधाम (१)	—समष्टिलक्षणं-तुरीयंधाम
२-१-परमेष्ठी		विष्णुः	विष्णुधाम—मध्यमधाम (२)	
३-	२-अमृतसूर्य्य	इन्द्रः		
	१-मर्त्यसूर्य्यः	इन्द्रः		
४-२-चन्द्रमाः		सोमः	शिवधाम—अवमधाम (३)	
५-३-भूपिण्डः		अग्निः		

+ इन्हीं आधिदैविक चार धामों के प्रतिरूप से आधिभौतिक चार पार्थिव धाम व्यवस्थित हुए हैं। जिन पार्थिव चतुर्धामों की मात्रा के माध्यम से उपासक आधिदैविक धामचतुष्टयी की ओर स्वप्रत्यय प्रवाहित करने में समर्थ होजाते है।

१२५-पञ्चपुण्डीरात्मक योगमायावच्छिन्न विश्व के ऋत-सत्यात्मक विवर्तद्वय, एवं संयती-क्रन्दसी-रोदसी-स्वरूप द्यौ-अन्तरिक्ष-पृथिवी के ब्रह्मसत्य का उपवर्णन—

पञ्चपुण्डीरात्मक, योगमायावच्छिन्न विश्व ऋत-सत्य भेद से दो विवर्त्तों में भी विभक्त देखा जासकता है। 'अग्नीषोमात्मकंजगत्' इत्यादि बृहज्जाबाल-श्रुति के अनुसार इसी ऋत-सत्य दृष्टि से पञ्चपुण्डीरात्मक विश्व को अग्नीषोमात्मक भी कहा जासकता है। पाँचों में तीन सत्य हैं, दो ऋत हैं। स्वयम्भू, सूर्य्य, भूपिण्ड, तीनों क्रमशः वेदाग्नि, देवाग्नि, भूताग्नि, हैं। वेदाग्निमयसत्य स्वयम्भू, और देवाग्निमय सत्य सूर्य्य, दोनों के मध्य में दिक्सोममय-ऋतपरमेष्ठी है। देवाग्निमय सूर्य्य, और भूताग्निमय भूपिण्ड, दोनों के मध्य में भास्वर-सोममय ऋत चन्द्रमा है। उभय मध्यस्थ परमेष्ठी, और चन्द्रमा का दोनों से सम्बन्ध है। अतएव कहा जासकता है कि, स्वयम्भू और परमेष्ठी, दोनों का एक विभाग है। सूर्य्य-चन्द्रमा-भूपिण्ड, तीनों का एक विभाग है। परमेष्ठीगर्भित स्वयम्भू ब्रह्मा है, सूर्य्यगर्भित परमेष्ठी विष्णु है, चन्द्र-भूपिण्ड गर्भित सूर्य्य शिव है। परमेष्ठी-गर्भित स्वयम्भू द्युलोक है, यही त्रैलोक्यरूपा संयती है। सूर्य्यगर्भित परमेष्ठी अन्तरिक्षलोक है, यही त्रैलोक्यरूपा क्रन्दसी है। चन्द्र-भूपिण्डगर्भित सूर्य्य भूलोक है, यही त्रैलोक्यरूपा रोदसी है। संयती त्रैलोक्यरूपा द्यौ, क्रन्दसी त्रैलोक्यरूप अन्तरिक्ष, रोदसीत्रैलोक्यरूपा पृथिवी, तीनों का अवारपारीण विश्वकर्म्मा-एक ब्रह्मेश्वर प्रजापति ही सर्वाधार ब्रह्मसत्य है, जिसका निम्नलिखित शब्दों में उपवर्णन हुआ है—

> विश्वतश्चक्षु, रुतविश्वतो मुखो, विश्वतोबाहु, रुत विश्वतस्पात् ॥
> सं बाहुभ्यां धमति, संपत्त्रैर्द्यावा भूमी जनयन् देव एकः ॥१॥
> विश्वकर्म्मन् हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम् ॥
> मुह्यन्त्वन्ये अभितः सपत्ना इहास्माकं मघवा सूरिरस्तु ॥२॥
>
> —यजुःसं० १७।१९,२२,।

१२६-शीर्ष-हृत्-पाद मूल सृष्टिविज्ञान, सृष्टि-स्थिति-दृष्टि-सापेक्ष द्यु-अन्तरिक्ष-पृथिवी-मूलक-सृष्टिविज्ञान, एवं तत्तत् सर्गक्रमों का उपवर्णन—

भारतीय सृष्टिविज्ञान शीर्षमूल, हृन्मूल, पादमूल, भेद से तीन भागों में विभक्त माना गया है। द्युमूलक सृष्टिविज्ञान सृष्टिसापेक्ष है, अन्तरिक्षमूलक सृष्टिविज्ञान स्थिति सापेक्ष है, पृथिवी मूलक सृष्टिविज्ञान दृष्टिसापेक्ष है। उत्पत्ति क्रम में द्युलोक से सृष्टि विज्ञान का आरम्भ है, स्थिति क्रम में अन्तरिक्ष से सृष्टि-विज्ञान का प्रारम्भ है, एवं दृष्टिक्रम में भूलोक से सृष्टिविज्ञान का प्रारम्भ है। शीर्षस्थानीया स्वयम्भूमूला सृष्टि द्युलोकानुगता सृष्टि है, हृत्स्थानीया सूर्य्यमूलासृष्टि अन्तरिक्षलोकानुगता सृष्टि है, पादस्थानीया पृथिवी-मूला सृष्टि भूलोकानुगता सृष्टि है। द्युलोकानुगता सृष्टि ब्राह्मी सृष्टि है, अन्तरिक्षलोकानुगता सृष्टि वैष्णवी सृष्टि है, भूलोकानुगता सृष्टि शैवीसृष्टि है। तीनों में मध्यस्था वैष्णवी सृष्टि ही हिरण्यगर्भमूला सृष्टि कहलाई है। मध्यस्थ सौर प्राण ही 'मघवा' नामक इन्द्र है। परस्थानीय स्वयम्भू परमेष्ठी, अवरस्थानीय चन्द्रमा-पृथिवी

दोनों पतत्रों से युक्त मध्यस्थ हिरण्यगर्भ * सम्पूर्ण विश्व का सन्निवेशक बन रहा है। उक्त दोनों यजुर्मन्त्रों में इस हिरण्यगर्भमूला सृष्टि का ही विश्लेषण हुआ है। इसी मध्यमूल सृष्टिक्रम को आलम्बन मान कर ही हमें वृक्षत्रयी का समन्वय करना है—

१–स्वयम्भूः (ब्रह्माक्षरानुगतो वेदाग्निः—सत्याग्निः) २–परमेष्ठी (विष्णवक्षरानुगतो दिक्सोमः-ऋतसोमः)	} ब्रह्मा (स्वयम्भूः)—द्यौःसंयती
३–सूर्य्यः (इन्द्राक्षरानुगतोदेवाग्निः——सत्याग्निः) ४–चन्द्रमाः (सोमाक्षरानुगतो भास्वरसोम-ऋतसोमः)	} विष्णुः (सूर्य्यः)—अन्तरिक्षं-क्रन्दसी
५–भूपिण्डः (अग्न्यक्षरानुगतो भूताग्निः-सत्याग्नि)	} शिवः (भूः)—पृथिवी–रोदसी

१२७–सूर्य्यगर्भित-परमेष्ठिरूप अव्ययाश्वत्थवृक्ष, सर्वविध यक्ष्मकीटाणुसंहारक-सोम-प्रधान विष्णु तत्व एवं अश्वत्थवृक्ष की तादृशभावोपपन्नता—

परमधामात्मक ब्रह्मा 'अक्षरब्रह्मपरम्' के अनुसार अक्षरप्रधान उपेश्वर है, अवमधामात्मक शिव क्षर प्रधान ईश्वर है, एवं मध्यमधामात्मक विष्णु अव्ययप्रधान महेश्वर है। इसप्रकार पञ्चपुण्डीरात्मक एक वल्शेश्वर–संस्था में हीं तीनों प्रजापतिसंस्थाओं का उपभोग होरहा है। 'मध्येवामनमासीनं सर्वे देवा उपासते' के अनुसार मध्यस्थ वामन विष्णु ही सर्वप्रतिष्ठात्मक बना हुआ है। तद्विष्णोः परमपदम्'–'सोऽध्वनः पारमाप्नोति', इत्यादि श्रुतियाँ विष्णु के साथ ही अव्यय का सम्बन्ध मान रही हैं। अव्यय ऊर्ध्वमूल (केन्द्रमूल) है। उधर विष्णु भी केन्द्रमूल ही है। अतएव मध्यस्थ विष्णुरूप वृक्ष को अवश्य ही 'अव्ययाश्वत्थवृक्ष' कहा जासकता है। अव्ययाश्वत्थवृक्ष सूर्य्यगर्भित परमेष्ठीरूप है। पारमेष्ठ्य लोक ही तृतीय द्युलोक कहलाया है। रोदसी त्रिलोकी का अन्तरिक्ष प्रथम द्यौः है, सूर्य्य द्वितीय द्यौः है। सोमात्मक परमेष्ठी इस दृष्टि से अवश्य ही तृतीय द्यौः है, जिसके लिए–'तृतीयस्यां वै इतो दिवि सोम आसीत्' यह कहा जाता है। विष्णुतत्त्व सोमप्रधान है। उस पवित्र ब्रह्मणस्पति नामक पारमेष्ठ्य सोम से विष्णु युक्त है, जिसका आधिभौतिक रूप गाङ्गेय है, आध्यात्मिकरूप शरीरस्थ पवित्रगुणक शिवतमोरसः है। सर्वविध यक्ष्माकीटाणुओं का समूल विनाश करना इसका मुख्य धर्म्म है। इसकी कमी से ही शरीर में कुष्ठ यक्ष्मा, आदि रोग उत्पन्न होते हैं। ब्रह्मा पलाशवृक्ष है। इसकी स्थिति चतुर्थद्युरूप स्वयम्भू में है। विष्णु अश्वत्थ है। इसकी स्थिति तृतीयद्युरूप परमेष्ठी है। शिव वटवृक्ष है। इसकी स्थिति हमारे रोदसी त्रैलोक्य में हैं। तीनों में अश्वत्थात्मक विष्णु ही प्रक्रान्त है। निम्न लिखित मन्त्र इसीके तात्त्विक स्वरूप का विश्लेषण कर रहे हैं—

*–"एष सूर्य्यमरोचयत् पवमानो विचर्षणिः विश्वा धामानि विश्ववित्।

—ऋक्सं० ९।२८।५।

"१—अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता ।
गो भाज इत् किलासथ यत्सनवथ पूरषम् ॥ऋक्०सं०१०।९७।५।

२—अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्यामितो दिवि ।
तत्रामृतस्य (सोमस्य) चक्षणं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥

३—हिरण्मयी नौरचरद्धिरण्यबन्धना दिवि ।
तत्रामृतस्य पुष्पं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥ अथर्वसं० ५।४।३,४।

४—गर्भो अस्योषधीनां गर्भो हिमवतामुत ।
गर्भो विश्वस्य भूतस्येमं मे अगदं कृधि ॥ अथर्वसं०६।९५।३।"

५—"अथ यदनाशकायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्य्यमेव । तदेष ह्यात्मा न-नश्यति, यं ब्रह्मचर्य्येणानुविन्दते । अथ यदरण्यायनमित्याचक्षते-ब्रह्मचर्य्यमेव तत् । तदरश्च ह वैण्यश्च-अर्णवौ ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितोदिवि । तत्-ऐरं मदीयं सरः, स्तद-श्वत्थः सोमसवनः । तदपराजिता पूः-ब्रह्मणः,प्रभुविमितं हिरण्मयम्" ।

—छान्दोग्योपनिषत्-८।५।३

सहस्रवल्शः--मायीमहेश्वरः—अमृतसत्यात्मा (अव्ययप्रधानः)-विष्णुः (अश्वत्थः)

एकवल्शेश्वरः--उपेश्वरः——ब्रह्मसत्यात्मा (अक्षरप्रधानः)-ब्रह्म (पलाशः)

द्यावापृथिव्यः--ईश्वरः———देवसत्यात्मा (आत्मक्षरप्रधानः)-शिवः (वटः)

१	१—स्वयम्भूः २—परमेष्ठी	—ब्रह्मा	—"मूलतोब्रह्मरूपाय	'अश्वत्थायनमोनमः' (सैषावृक्षत्रयी-आधिदैविकी)
२	१—परमेष्ठी २—अमृतसूर्य्यः	—विष्णुः	—"मध्यतोविष्णुरूपिणे"	
३	१—मर्त्यसूर्य्यः २—चन्द्रमाः ३—भूपिण्डः	—शिवः	—"अग्रतःशिवरूपाय"	

(१)–अश्वत्थवृक्षात्मकोविष्णुर्मायोमहेश्वरः–

"यस्मिन् वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधिविश्वे।
तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद ॥

—ऋक् सं० १।१६४।२२।

* * *

(२)–पलाशवृक्षात्मकोब्रह्मायोगामायी उपेश्वरः—

"सर्वेषां वा एष वनस्पतीनां योनिर्यत्पलाशः (स्वाम्भुवब्रह्मरूपत्त्वात्)।

—ऐ०ब्रा०२।१।

"ब्रह्म वै पलाशस्य पलाशम्"–शत०२।६।२।८।

"ब्रह्म वै पलाशः—शत० १।३।३।१६।

* * *

[३)–बटवृक्षात्मकः शिवः–ईश्वरः—

कः स्विद्वृक्षो निष्ठितो मध्ये अर्णसो यं तौग्र्यो नाधितः पर्यषस्वजत् ।
पर्णा मृगस्य पतरोरिवारभ उदश्विना ऊहथुः श्रोमताय कम् ॥

– ऋक् सं० १।१८२।७।

* * *

१२८–अश्वत्थ–पलाश-बट वृक्षत्रय के आधिभौतिक प्रतिरूपों का निर्वचन, इनकी वैष्णव-ब्राह्म-शैवात्मकता, "अयं पुरुषः, अयं पशुः" "अयम् पक्षी" इत्यादि भेद प्रतीति जनक वैशेषिक दर्शन, एवं प्राणिभिन्न किन्तु "प्राण" प्रतिष्ठित अपि दृष्टि सिद्धान्त से गोपशुवध जन्य (अस्मदीय) आध्यात्मिक प्राणों का ग्लानत्व—

तत्त्वात्मक अश्वत्थ–प्रजापति (आधिदैविक अश्वत्थवृक्ष) का, एवं प्रसङ्गोपात्त तद्गर्भीभूत तत्त्वात्मक पलाश प्रजापति, बटप्रजापति, का दिग्दर्शन कराया गया। अब इन तीनों के आधिभौतिक प्रतिरूपों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। अश्वत्थवृक्ष में पारमेष्ठ्य सोमानुगत, किंवा सोमात्मक विष्णुप्राण की प्रधानता है, पलाश (छीला) वृक्ष में स्वायम्भुव-ब्रह्मप्राण की प्रधानता है, एवं बटवृक्ष में पार्थिवशिव प्राण का प्राधान्य है। अतएव तीनों क्रमशः वैष्णव, ब्राह्म, शैव–वृक्ष कहलाए हैं। तत्तत् प्राकृतिक आधिदैविक प्राणदेवताओं के रासायनिक सम्मिश्रण का ही नाम यज्ञ है। एवं इसी यज्ञ है। एवं इसी यज्ञ से स्थिर–चर सर्ग प्रादुर्भूत हुआ है, जैसाकि—'देवेभ्यश्च जगत् सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः'

(मनुः) इत्यादि स्मृति से प्रमाणित है। यद्यपि सभी आधिभौतिक पदार्थों में (प्रत्येक में) पञ्च-यावत् आधिदैविकप्राण प्रतिष्ठित हैं, इसी आधार पर-'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'-'प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं यदिदं किञ्च' इत्यादि सिद्धान्त स्थापित भी हुए हैं, इसी आधार पर वैय्याकरणों का-'सर्वेसर्वार्थवाचका-'दाक्षीपुत्रस्यपाणिनेः' सिद्धान्त भी सुव्यवस्थित है, तथापि प्रत्येक भौतिकपदार्थ में कोई न कोई आधिदैविक प्राण प्रधान बना रहता है, जो कि प्रधान प्राण 'मुख्यप्राण'-'आत्मप्राण' 'आत्मा' इत्यादि नामों से व्यवहृत हुआ है। उस मुख्यप्राण के सम्बन्ध से सर्वप्राण सामान्यात् परस्पर अविशेष बने रहते हुए भी आधिभौतिक पदार्थ उस मुख्यप्राण के सम्बन्ध से परस्पर विशेष बन रहे हैं। सुप्रसिद्ध वैशेषिकदर्शन ने, जो कि भारतीय आधिभौतिक विज्ञानशास्त्र है-इसी धर्म्म का विश्लेषण किया है। यही विशेषप्राण पदार्थों का भेदक है। यदि यह विशेषप्राण भौतिक पदार्थों में न होता, तो-'अयं पुरुषः'-'अयं पशुः'-'अयं पक्षी' इत्यादि भेद प्रतीति असम्भव थी। जिस भौतिक पदार्थ में जो दैविक प्राण विशेष बना रहता है, वही उसकी मूलप्रतिष्ठा बनता है उसका नाम रूप-कर्म्म, तद्विशेषण के आधार पर ही व्यवस्थित रहता है। उदाहरण के लिए गौ पशु को ही लीजिए। गौपशु में इतरप्राण जहाँ सामान्यरूप से प्रतिष्ठित है, वहाँ आधिदैविक सौर-गौप्राण विशेषरूप से प्रतिष्ठित है। आधिदैविक गौप्राण अदितिमण्डलस्थ आदित्य-रुद्र-वसुप्राणों की प्रतिष्ठा है। अतएव तत् प्राणप्रधानत्वेन गौपशु भी सर्वदेवमय बन रहा है। यही सर्वदेवमयगौप्राण भौतिक जगत् की मूलप्रतिष्ठा बनता है। अतएव तत्प्राणप्रधान गौपशु को इसका प्रतिरूप माना गया है पशुत्वेन गौपशु पशु है, यह ऋषि जानते हैं। परन्तु इसके साथ ही वे यह भी जानते हैं कि, इसमें वह आधिदैविक गौप्राण प्रतिष्ठित है, सब भूतों का आत्मा है। ऋषि यह भी जानते हैं कि, पशुत्वेन गौ को यह विदित नहीं है कि, मैं पूजी जारही हूँ। परन्तु ऋषि यह भी जानते हैं कि, हमारी आध्यात्मिक भावना से गौपशु में रहने वाला अन्तर्य्यामी गौप्राण अवश्य ही अनुग्रह कर देता है। ऋषि की प्रधान लक्ष्यभूमि 'प्राण' है, न कि प्राणी। उनका उपासना काण्ड, कर्म्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड, व्यवहारकाण्ड, सब कुछ प्राण पर प्रतिष्ठित है। दृष्टि रखते हैं वे प्राणी पर, मनोयोग है उनका प्राण के साथ। दृष्टि है उनकी गौपशु पर, परन्तु मनो-योग है गौपशु में अन्तर्य्यामरूप से प्रतिष्ठित सर्वदेवमय उस गौप्राण पर, जिसके विच्छेद से (गौपशु बध से) अपमान से, उपेक्षा से हमारा आध्यात्मिक प्राण कुपित होजाता है। इसी प्रतिरूपविधा के आधार पर ऋषि कहते हैं—

> माता रुद्राणां, दुहिता वसूनां, स्वसादित्यानां, अमृतस्य नाभिः।
> प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय—मा गामनागा मदितिं वधिष्ट॥
>
> —ऋक् सं०······।

१२९-रुद्रमाता, वसुकन्या, आदित्यभगिनी, सोमनाभि गौ पशु पर शङ्का एवं आधि-दैविक प्राण-प्रतिष्ठा द्वारा तत्समाधान—

वसु त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न पृथिवी में प्रतिष्ठित देवप्राण, रुद्र पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न आन्तरिक्ष में प्रति-ष्ठित, आदित्य एकविंशस्तोमावच्छिन्न द्युलोक में प्रतिष्ठित, अमृत (सोम) चतुर्थ आपोलोक की वस्तु,

त्रिदेवों को स्वगर्भ में रखने वाला सम्वत्सर अदितिमण्डल, और इस सम्पूर्ण आधिदैविक प्रपञ्च का एक पार्थिव आधिभौतिक स्वल्पकाय उस गौपशु से अभेद बतलाना क्या गोपशु से सम्बन्ध रखता है ? क्या गौपशु रुद्रों की माता, वसुओं की कन्या, आदित्यों की भगिनी, सोम की नाभि है ?, नहीं, कदापि नहीं। तो क्या यह उपवर्णन असत् हैं ? नहीं कदापि नहीं। न गोपशु वैसा है, न ऋषियों का गोपशु को लक्ष्य बना कर होने वाला उक्त उपवर्णन असत् है। इसके-'मातारुद्राणां' आदि धर्म्म हैं। इस प्राणदृष्टि के आधार पर गौपशु एक पशु रहता हुआ भी पूज्य-उपास्य-तद्गुणक मान लिया गया है। यही व्यवस्था सर्वत्र समझनी चाहिए। गर्दभपशु बुद्धिमान्द्य के लिए प्रसिद्ध है। परन्तु उसी प्राणदृष्टि के आधार पर शीतलावाहनत्वेन यह भी उपास्य माना गया है। ऐसा कौनसा आधिभौतिक पदार्थ है, जिसमें कोई न कोई आधिदैविक प्राण प्राण विशेष रूप से प्रतिष्ठित न हो। प्राणविद्या ही तो वेदविद्या है। इसी के आधार पर तो कूर्म्मपशु प्रजापतिरूपेण, अश्वत्थवृक्ष मायीमहेश्वररूपेण, पलाशवृक्ष योगमायी उपेश्वररूपेण, वटवृक्ष देवसत्यात्मक ईश्वररूपेण उपास्य बन रहे हैं। इनके भौतिक शरीरों के अपमान से इनका कोई अनिष्ट भले ही न हो, परन्तु अपमानकर्त्ता का अनिष्ट निश्चित है। पलाशवृक्ष काटने से, इनके शाखा-प्रशाखा विच्छेद से-सम्भव है। वर्त्तमान युग के भौतिक विज्ञानवादी कोई हानि न समझते हों। सम्भव है-गौपशु का उनकी दृष्टि में अन्य रासभादि पशुओं की अपेक्षा कोई विशेष महत्त्व न हो। परन्तु अध्यात्म-आधिदैविकलक्षण प्राणविज्ञानाचार्य भारतीय महर्षियों की दृष्टि में तो प्राणदृष्ट्या इनका वह महत्त्व है, जो एक चिकित्वान् के ही लक्ष्य में आसकता है। कामभोग परायण एक लौकिक मनुष्य प्रकृति के प्राणात्मक इन गुप्तरहस्यों को क्या समझेगा। अश्वत्थ-वट-पिप्पल में क्रमशः विष्णु-शिव-ब्रह्म-प्राण अन्तर्य्यामरूप से प्रतिष्ठित हैं। अतएव इन्हें उपासना का माध्यम माना गया है। इनके अवमान-कृन्तन आदि को अतिशय-प्रत्यवाय का जनक माना गया है। जो महत्त्व सर्वदेवमूर्त्ति सान्तपताग्नि प्रतिरूप एक वेदवित्-कर्म्मठ ब्राह्मण का है, वो महत्त्व सर्वदेवप्राणमय एक गौपशु का है, वही महत्त्व सर्वदेवमय अश्वत्थ-वट-पलाशवृक्षों का है। वृक्षत्रयी के प्राणात्मक इसी आधिदैविक स्वरूप का सुप्रसिद्ध पद्मपुराण में बड़े विस्तार से विश्लेषण हुआ है। पाठकों के परितोष के लिए तत्प्रकरण के कुछ एक स्थल यहां भी उद्धृत कर दिए जाते हैं—

१३-०वृक्ष विद्या प्रसङ्गोपात्त सूतमुनिव्याहृत पुराण प्रसङ्ग-निरूपण—

कथामृतरसास्वादपरायण-कुशल सूत वक्ता है, साठ सहस्र ऋषि श्रोता है। नैमिषारण्य में अपूर्व समारोह। वृक्षविद्याप्रसङ्ग में सूत के यह कहने पर कि -अश्वत्थादिवृक्ष गो-ब्राह्मणसम हैं, ऋषि प्रश्न कर बैठते हैं—

"कथं त्वयाश्वत्थवटौ गोब्राह्मणसमौ कृतौ।
सर्वेभ्योऽपि तरुभ्यस्तौ कथं पूज्यतमौ कृतौ ? ॥"।

सूत उवाच—"अश्वत्थरूपो भगवान् विष्णुरेव न संशयः ॥
रुद्ररूपो वटस्तद्वत् पलाशो ब्रह्मरूपधृक् ॥१॥
दर्शनस्पर्शसेवासु ते वै पापहराः स्मृताः ॥
दुःखापद्व्याधिदुष्टानां विनाशकारिणोध्रुवम् ॥२॥

१३१-ब्रह्म विष्णु महेश देवत्रयी स्वरूप पलाश-अश्वत्थ-वट त्रयी सम्बन्धी रहस्याख्यान—

ऋषियों ने पुनः प्रश्न किया है कि, ब्रह्म-विष्णु-महेश, तीनों क्रमशः पलाश, अश्वत्थ, वटरूप में कैसे, क्यों परिणत होगए, हे सूती आप यह सम्पूर्ण रहस्य हमें बतलाए, क्योंकि आप इन रहस्यों के ज्ञाता हैं। उत्तर में महाभाग सूत ने एक आधिदैविक आख्यान द्वारा रहस्य का विश्लेसण किया है। जगन्माता पार्वती के शाप से ही तीनों देवता वृक्षरूपों में परिणत हुए हैं, जैसा कि आख्यान वचनों से स्पष्ट है—

पार्वत्युवाच—"कृमि-कीटादयोऽप्येते जानन्ति सुरतेः सुखम्।
तस्मात् मम सुखभ्रंशात् यूयं वृक्षत्वमाप्स्यथ ॥"।
सूत उवाच—"एवं सा पार्वतीदेवी अशपत् क्रुधमानसा।
तस्माद्वृक्षत्वमापन्ना ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ॥
तस्मादिमौ विष्णुमहेश्वरावुभौ बभूवतुर्बोधिवटौ मुनीश्वराः।
बोधिस्त्वयंचार्किदिनं विनैव न संस्पृशेत्-अर्कजवारयोगात् ॥
इत्यादि—

१३२-पलाशाश्वत्थवटत्रयी में अश्वत्थ का (आधिदैविक तत्व वृक्षात्मक मायी महेश्वर प्रतिरूप्यात्) महत्त्वातिशय निर्वचन—

तीनों वृक्षों में से सर्वमूलभूत अश्वत्थ का विशेष महत्त्व माना गया है। क्योंकि-आधिदैविक तत्त्व-वृक्षात्मक मायीमहेश्वररूप विष्णु तीनों में ज्यायान् हैं। तत्प्रतिरूप भूत अश्वत्थवृक्ष अवश्यमेव सर्व तो ज्यायान् है। निम्न लिखित वचन अश्वत्थ के इसी महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए इसकी विष्णुप्रतिरूपता का समर्थन कर रहे हैं। साथ ही इसके अपमान का आत्यन्तिक निषेध, एवं अपमानकर्त्ता की दुर्गति का विश्लेषण कर रहे हैं—

१-अश्वत्थवृक्षमालोक्य प्रणामं कुरुते तु यः।
आयुर्वृद्धिर्भवेत्तस्य वर्द्धन्ते सर्वसम्पदः ॥

२-अश्वत्थपूजको यस्तु स एव हरिपूजकः ।
अश्वत्थमूर्त्तिर्भगवान् स्वयमेव यतोद्विज ! ॥

३-तस्ज्ञानादुद्विजश्रेष्ठ ! योऽश्वत्थं हन्ति मूढधीः ।
संसारे नास्ति तत्कर्म्म यत्कृत्वा स शुद्ध्यति ॥

४-अश्वत्थो वृक्षराजोऽयं हरिमूर्त्तिः प्रकीर्त्तितः ।
तस्मादश्वत्थहन्तॄणां त्राता को ऽपि न विद्यते ॥

५-विलोक्याश्वत्थहन्तारं यः शक्तो न निवारयेत् ।
तन्नेत्रयुग्मं बडिशैर्यमेनोत्पाट्यते स्वयम् ॥

६-'अश्वत्थच्छेदनं मूढ ! मा कुर्वि' ति वदेन्न यः ।
तस्य जिह्वां छुरिकया स्वयं कृन्तति भास्वरिः ॥

७-अश्वत्थशाखामेकां यः स्वल्पामपि निहन्ति यः ।
स कोटिब्रह्महत्यानां, फलं प्राप्नोति मानवः ॥

८-यत् पापं ब्रह्महत्यायां, गुरुस्त्रीगमने च यत् ।
सुरापाने, तथास्तेये, न्यासापहरणे तथा ॥

९-यत् पापं भ्रूणहत्यायां, हत्यायां सुहृदां तथा ।
विश्वासवाक्याकथने, परहिंसाविधौ च यत् ॥

१०-यत् पापं परनिन्दायां, हरिवासरभोजने ।
अश्वत्थच्छेदनाद्घोरं तत् पापं प्राप्यते जनैः ॥

११- विष्णुमूर्त्तेर्जनोमोहादश्वत्थस्य निहन्ता यः ।
तत्तुल्यः पातकी कोऽपि न श्रुतः क्षितिमण्डले ॥

* * *

१२-"वदाम्यश्वत्थमाहात्म्यं सर्व्वपापप्रणाशनम् ।
साक्षादेव स्वय विष्णुरश्वत्थोऽखिलविश्वराट् ॥

१३-तद्भक्तिं, कुर्वतः पुंसो विद्यते नाशुभं क्वचित् ।
अश्वत्थं सेवते यस्तु विष्णुबुद्ध्या नरोत्तमः ।
तस्य प्रसन्नो भगवान् ददाति परमं पदम् ॥"

—पद्मपुराण क्रियायोगासर 'अश्वत्थसेचन नामक १३ अ०

१३३-पुराणों में पलाशाश्वत्थवटादि का त्रिदेवस्वरूपत्व, पौराणिक तत्ववाद का वेद-प्रतिष्ठात्व, एवं आधुनिक शिक्षितों का तत्सम्बन्धी अज्ञानोपेक्षाभाव—

इसी प्रकार अन्य पुराणों में भी यत्र तत्र अश्वत्थ-वट-पलाश-वृक्षों का त्रिदेवप्रतिरूपत्व निरूपित हुआ है। पौराणिक तत्ववाद यद्यपि वेद विज्ञान की आधार शिला पर प्रतिष्ठित रहते हुए सर्वथा प्रामाणिक हैं। तथापि वर्त्तमान मनोवृत्ति के कारण, जो पश्चिमी शिक्षा की, तथा भारतीय उन वेदव्याख्याताओं की-जिन्हें वेदतत्त्वज्ञान का अणुमात्र भी बोध नहीं है—विशेष देन है-आज पौराणिक तत्ववाद नवशिक्षित भारतीयों की दृष्टि में अप्रामाणिक बना हुआ है। प्रत्येक विषय को अपनी भौतिकविज्ञानानुगता स्थूलदृष्टि की निकषा पर कसने वाले जबतक पौराणिक तत्ववाद की भौतिक-उपयोगिता नहीं देख लेते, तबतक वे इस ओर विश्वास करने के लिए सन्नद्ध नहीं होते। उन के लिए दो शब्दों में अश्वत्थवृक्ष की उस आधिभौतिक उपयोगिता का भी दिग्दर्शन करा देना अनावश्यक न समझा जाएगा।

१३४-सोमसम्बन्ध प्रदीप्त शारीराग्नि का "तप्ततनूत्व", सोम मात्रा राहित्य प्रयुक्त कुष्ठादिरोग, एवं "अश्वत्थ" वृक्ष का, तुलसी-गाङ्गेय का तन्निर्णाशनक्षम शक्तिमत्त्व—

भौतिक दृष्टि से अश्वत्थवृक्ष कीटाणुओं का, कुष्ठरोग का नाशक है। कीटाणुओं से शरीर में यक्ष्मारोग प्रादुर्भूत होजाता है। इन्हीं कीटाणुओं के प्रकोप से शुक्ररस कुपित होजाता है, फलस्वरूप कुष्ठ (कोढ) होजाता है। शारीराग्नि के साथ जबतक सोमतत्त्व का सम्बन्ध बना रहता है, तबतक शारीराग्नि प्रबलवेग से प्रदीप्त रहता है। सोमसम्बन्ध से प्रदीप्त शारीराग्नि ही 'तप्ततनू' कहलाया है। जब सोम मात्रा शरीर से निकल जाती है, तो अग्नि निर्बल होजाता अग्नि के निर्बल होते ही अशुचिभाव प्रवर्त्तक कीटाणुओं को बलप्रयोग का अवसर मिल जाता है। फलतःशरीर यक्ष्मा-कुष्ठादि रोगों से आक्रान्त होता हुआ सड़ने लगता है। आत्मोत्क्रान्ति के साथ साथ ही सोममात्रा भी उत्क्रान्त होजाती है। अतएव शवशरीर सड़ने लगता है। आत्मोत्क्रान्ति के कुछ क्षणों से पूर्व ही दूषित कीटाणुओं का बलप्रयोग आरम्भ होजाता है। परलोकाभिमुख भूतात्मा को इस अशुचिभाव से बचाने के लिए मुमूर्षु प्राणी को तुलसी, और गङ्गाजल देना आवश्यक माना गया है। तुलसी में भी सोममात्रा है, गङ्गाजल भी सोम का साक्षात् प्रतिरूप है। सोमप्राणी ही विष्णु है। अतएव तुलसी विष्णुपत्नी मानी गई है, गङ्गाजलोद्भव विष्णुचरण से माना गया है। न केवल मुमूर्षुदशा में ही, अपितु प्रतिदिन तुलसी-गङ्गाजल सेवन भारतीय उपासना काण्ड में संगृहीत माना गया है। जो महत्त्व तुलसी-गाङ्गेय का हैं, वही महत्त्व अश्वत्थवृक्ष का है। क्योंकि अश्वत्थ का निर्माण पारमेष्ठ्य उस सोमात्मक विष्णुप्राण से ही हुआ है, जो सोमात्मकप्राण पवित्रगुणक 'ब्रह्मणस्पति'

नाम से व्यवहृत हुआ है * । अश्वत्थ वृक्ष की छाया में बैठने से, जलसेक द्वारा उसके सम्पर्क में आने से शरीर के साथ अश्वत्थयुक्त सौम्यप्राण का सम्बन्ध स्वाभाविक है । अवश्य ही नियमित रूप से अश्वत्थोपसेवन सोममात्रा-वर्द्धक सिद्ध हुआ है । भारतीय दैनिक जीवन में से जब से ये नियमित चर्याएँ निकल गई हैं, तभी से हमारी शरीर संस्थाएँ विविध रोगों से आक्रान्त होने लग गई हैं । जो कुष्ट-यक्ष्मादि रोग नाममात्र के लिए देखे सुने जाते हैं, आज उन का साम्राज्य होरहा है । कारण स्पष्ट है । महर्षियोंने तत्त्ववाद के आधार पर हमारे दैनिक कर्म्मों में जिस तुलसी-गाङ्गेय-अश्वत्थ-वट-आदि का समावेश किया था, आज पश्चिमी झञ्झावात में पड़कर हमने उन सब स्वस्त्ययन कर्म्मों का परित्याग कर दिया है, जिन का गीताविज्ञानभाष्यभूमिका द्वितीयखण्डान्तर्गत 'कर्म्मयोगपरीक्षा' नामक 'ग' खण्ड के-'स्वस्त्ययनकर्म्मपरिगणना' नामक प्रकरण में विस्तार से विश्लेषण हुआ है । निवेदन यही करना है कि, आध्यात्मिक आधिदैविक-पारलौकिक तत्त्ववाद दृष्टि के साथ साथ भारतीय कर्म्मोपास्तिज्ञान-काण्डत्रयी में आधिभौतिक-ऐहलौकिकभूतदृष्टि का भी सम्बन्ध सुरक्षित है । अश्वत्थवृक्ष विष्णुदेवताप्रतिरूपत्वेन जहाँ उपासना का समर्थक है, वहां यही अपने प्राकृतिक सोमधर्म्म से दूषित कीटाणुओं का भी नाशक बन रहा है । आज तो भूतविज्ञानवादी पश्चिमी विद्वानोंने भी अश्वत्थवृक्षकी इस भौतिक उपयोगिता को स्वीकार कर लिया है ÷ । अश्वत्थवृक्ष में ऐसागुण कहाँ से आया ?, प्रश्न का उत्तर देती हुई श्रुति कहती है कि, तृतीयद्युलोकस्थ पवित्रसोमप्राण इस में अन्तर्य्याम-सम्बन्ध में प्रतिष्ठित है । 'इन्द्रतुरीया ग्रहा गृह्यन्ते' इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक मरुत्वान् वायु में एक चतुर्थांशभाग इन्द्र का रहता है । आधिदैविक-आध्यात्मिक इन्द्रतत्त्व (इन्द्रप्राण) को अपनी मूलप्रतिष्ठा बनाने वाला आधिभौतिक इन्द्रतत्त्व वायु में प्रतिष्ठित है । अतएव वायु में जीवनीय शक्ति प्रतिष्ठित रहती है । अतएव च-'वायुर्वेन्द्रो-वान्तरिक्षस्थानः' (यास्कनि०········) के अनुसार अन्तरिक्ष में मरुत्वान् वायु, तथा इन्द्र, दोनों की सत्ता मानी गई है । माप्य वरुणप्राणात्मक वारुणवायु जहाँ अपने संकोचधर्म्म से कीटाणुओं की प्रवृत्ति का कारण है, वहाँ इन्द्रप्राणात्मक आन्तरीक्ष्य ऐन्द्रवायु (मरुत्वान्वायु) अपने विकासधर्म्म से कीटाणुओं का निवर्त्तन माना गया है । खुली हवा इसी इन्द्र सम्बन्ध से जीवन प्रद बनती है । सावरण प्रान्त इस

÷-प्रत्यक्ष श्रुति है कि, एकबार मालवा प्रान्तीय महू-केन्ट्रोलमेन्ट (महू की छावनी) की भूमि के अश्वत्थवृक्षों के काटने का गवर्नमेंन्टने आदेश दे डाला । इसी अवसर में इंगलैन्ड से इस आशय का आदेश मिलने पर कि, पीपल का कोई वृक्ष न काटा जाय । क्यों कि इन में थाइसिस (यक्ष्मा) के जर्म्स (कीटाणु) मारने की शक्ति है । आदेशानुसार पेड़ काटने की स्कीम रद्दी मान ली गई । हमारे राज्य के प्रधानमन्त्री महोदय [सर मिर्जा इस्माइल] के शासन काल में उनके आदेश से कटने वाले वट-पिप्पल वृक्षों की ओर उनका ध्यान आकर्षित किया गया, तो उत्तर मिला यह पुराने खयालात है । पुराने ख्यालात आप की दृष्टि में सर्वथा निस्तत्त्व है ।

*-पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः ।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत् समाशत ॥

—ऋक् सं०········ ।

इन्द्र सम्पत्ति से वञ्चित रहता हुआ वारुणवायु से आक्रान्त होजाता है, जैसाकि-'यद्वै वातो नाभिवाति, तत्, सर्वं वारुणदेवत्यम्' इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है। सावरण प्रासादादि सड़ने क्यों लग जाते हैं?, बंद हवा में हम क्यों घुटने लगते हैं?, उत्तर यही वारुणवायु है। निरावरण प्रासादि शुद्ध क्यों रहते हैं?, खुली हवा में क्यों प्राण विकसित होजाते हैं?, उत्तर वही ऐन्द्रवायु है। वायुसहयोगी यह इन्द्रतत्त्व विशाल अन्तरिक्षात्मक आकाश में सर्वथ व्याप्त है। ऐसा कोई आन्तरिक्ष्य प्रदेश नहीं है, जहाँ वायु न हो। अतएव ऐसा कोई प्रदेश नहीं, जहाँ वायुगर्भित इन्द्र न हो। इसी आधार पर मन्त्रश्रुति का-'नेन्द्रादृते पवते धाम किञ्चन' [ऋक् सं०.........] इत्यादि सिद्धान्त स्थापित हुआ है। अतएव-'स यस्य आकाशः इन्द्र एव सः' (जै० उ० ब्रा० १।२८।२।१) इत्यादिरूप से आकाश (अन्तरिक्ष) और इन्द्र का अभेद मान लिया गया है। 'को ह्येवान्यात्, कः प्राण्यात्, यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' (.........) इत्यादि श्रुति के अनुसार आकाशात्मक इन्द्र ही प्राणन-अपानरूप श्वास-प्रश्वास लक्षण जीवन की प्रतिष्ठा है। निम्न लिखित ब्राह्मणश्रुतियाँ आन्तरिक्ष्य मरुत्वान् वायुगर्भित, तदभिन्न, जीवन प्रतिष्ठा रक्षक इसी इन्द्रतत्त्व का विश्लेषण कर रही हैं—

१-"यो वै वायुः-स इन्द्रः। य इन्द्रः-स वायुः"।

—शत० ४।१।३।१६।

२-"सर्वं वाऽइदमिन्द्राय तत् स्थानमास, तदिदं किञ्च। अपि योऽयं (वायुः) पवते"।

—शत० ३।६।४।१४।

३-"इन्द्रो ज्योतिः, ज्योतिरिन्द्रः-इति-तदन्तरिक्षलोकम्"।

—कौ० ब्रा० ३।६।४।१४।

४-"प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा, तं मां (इन्द्रं) आयु-स्मृतमित्युपास्व"।

—कौ० उ०.........।

१३५-आन्तरिक्ष्य, वायुगर्भित, जीवनरस प्रदाता "इन्द्रतत्त्व" एवं वर्तमान भौतिक विज्ञान व्याहृत "ईथर" का सम्भावित एकरूपत्व —

कोई आश्चर्य्य नहीं, आन्तरीक्ष्य वायुगर्भित, जीवनरस प्रदाता यही इन्द्रतत्त्व वर्त्तमानभौतिक विज्ञान काण्ड का 'ईथर' (.........) नामकतत्त्व हो। यह भी सम्भव है कि, प्रकृतिसिद्ध निरुक्तिवाद से जैसे 'सुन्दर' शब्द-'सुद्दर'-'सुत्थर' आदिरूपों में परिणत होता हुआ 'सुथरा' बन गया है, वैसे ही मौलिक 'इन्द्र' शब्द भी 'इन्दर'-'इद्दर' 'इत्थर' आदिरूपों में परिणत होता हुआ आज 'ईथर' रूप में परिणत होगया हो। भौतिक विज्ञान वादी ईथर के जो जीवनप्रदादि विशेष धर्म्म मानते हैं, हमारे शास्त्र में भौतिक मरुत्त्वान् आन्तरिक्ष्य इन्द्र के भी वे ही धर्म्म माने गए हैं। अन्तर दोनों दृष्टिकोणों में केवल यही है कि, उन की स्थूल-दृष्टि जहाँ भौतिक इन्द्र पर ही विश्रान्त है, वहाँ भारतीय वैज्ञानिकोंने आधिदैवत-आध्यात्म-इन्द्र का भी विश्लेषण किया है, जिस का एकमात्र योगज-आर्षदृष्टि से ही सम्बन्ध रहता है।

१३६–आन्तरिक्ष्य प्राणलक्षण वायु के चत्वारिंशत् विवर्त, एवं यजन कर्म्मसापेक्ष्य चत्वारिंशत् त्रिधात्मक काष्ठपात्रों का तत्तद् देवविशेष सोमरसाप्लुतत्व—

आन्तरिक्ष्य प्राणलक्षण वायु के अवान्तर ४० विवर्त्त माने गए हैं। यही 'ग्रह' नाम से प्रसिद्ध हैं, जिन ४० ग्रह वायुओं के आधार पर चत्वारिंशद्‌ग्रहात्मक सुप्रसिद्ध 'ग्रहयोग' प्रतिष्ठित हैं। इन में से शुक्रामन्थी, आग्रयण, मरुत्त्वतीय, उक्थ, माहेन्द्र, नामक पाँच ग्रह इन्द्र सम्बन्धी हैं। इनमें भी मरुत्त्वतीयग्रह मरुत्वान्–आन्तरिक्ष्य इन्द्र का विशेष सम्बन्धी है। इस ग्रह का पात्र अश्वत्थ काष्ठ का बनाया जाता है। भिन्न भिन्न देवप्राणात्मक भिन्न भिन्न ४० ग्रहों के लिए ४० काष्ठपात्र बनाए जाते हैं, ये ४० पात्र चालीस वायव्यग्रहों के प्रतिरूप माने गए हैं। इनमें तत्तद्देवता विशेषों के यजन के लिए सोम रस परिपूर्ण रहता है। मरुत्वतीय ग्रहपात्र अश्वत्थकाष्ठ का क्यों होता है ?, प्रश्न का उत्तर देते हुए श्रुति ने कहा है कि–इन्द्र क्षत्र है, शास्ता है। मरुद्वायु प्रजा है, शासित है। प्रजा से ही क्षत्र बलवान् बनता है। मरुत्वतीयग्रह मरुत्वान् (वायव्य) आन्तरिक्ष्य–माध्यन्दिन सवनीय * इन्द्र के लिए विहित है। उधर इन्द्रयुक्त मरुद्वायु अश्वत्थवृक्ष में प्रतिष्ठित है। इन्द्रात्मक सोमयुक्त मरुत्प्राण से ही अश्वत्थ का निर्म्माण हुआ है। अतः इसी में मरुत्त्वतीय ग्रह का सम्पादन करना प्राकृतिक है। तात्पर्य्य यह निकला कि, इन्द्रानुगत सोममय मरुद्वायु ही कीटाणुनाशक हैं। वही अश्वत्थ में प्रतिष्ठित है। अतः अश्वत्थ भी अवश्य ही यक्ष्मानाशक है। अश्वत्थ के इसी मरुद्धर्म्म का निम्नलिखित वचन से स्पष्टीकरण होरहा है—

तद्यन्मरुत्वतीयान् ग्रहान् गृह्णाति-(तदुच्यते)। एतद्वा इन्द्रस्य निष्कैवल्यंसवनं-यन्माध्यन्दिनं सवनम्। तेन वृत्रमजिघांसत्। तेन व्यजिगीषत। मरुतो वाऽइति–अश्वत्थे अपक्रम्य तस्थुः। क्षत्रं वा इन्द्रः, विशो मरुतः। विशा वै क्षत्रियो बलवान् भवति। तस्मादाश्वत्थे ऋतुपात्रे स्याताम्।"

—शत० ४।३।३।६

१३७–राजसूय यज्ञ दीक्षित नृपति द्वारा अभिषेक में प्रयुक्त सरस्वती प्रभृति १८ अष्टादशविध पानीय और तदभिषेचनीय काष्ठपात्रों का आर्षवैज्ञानिककारण निरूपण–

राजसूय यज्ञ में दीक्षित राजा का सरस्वती, स्यन्दमाना, प्रतीपस्यन्दिनी, आदि १८ प्रकार के पानियों से अभिषेक कर राजा में तत्तदाप्य गुणों का आधान किया जाता है। (देखिए शत० ५।२।४ ब्रा०)। जिन पात्रों में ये पानी भरे जाते हैं, वे पात्र 'अभिषेचनीय' पात्र कहलाए हैं। पलाशकाष्ठ के पात्र से ब्राह्मण

---

* अहःकालोपलक्षित प्राकृतिक सौर यज्ञ में प्रातः–मध्याह्न–सायं–भेद से तीन सवन हैं, जो क्रमशः–प्रातःसवन, माध्यंन्दिन सवन, सायं सवन, नामों से प्रसिद्ध है। प्रातःकालीन सौर तेज पृथिवी से, मध्याह्न का तेज अन्तरिक्ष से, सायंकालीन तेज द्युलोक से समतुलित है। अतएव तीनों सवन त्रैलोक्य के प्रतिरूप माने गए हैं। माध्यंन्दिन सवन आन्तरिक्ष का प्रतिरूप है, यही मरुत्त्वान् आन्तरिक्ष्य इन्द्र प्रतिष्ठित है। अतएव माध्यंन्दिन सवन इन्द्र का निष्कैवल्य–प्रातिस्विक–असपत्न–सवन मान लिया गया है।

अभिषेक करता है, क्योंकि-'ब्रह्म वै पलाशः' (शत० ५।३।५।११) के अनुसार पलाशवृक्ष ब्रह्मप्राण प्रधान बनता हुआ वृक्षानुगता चातुर्वर्ण्यसृष्टि में ब्राह्मणवृक्ष है। औदुम्बर (गूलर के) पात्र से स्वयं राजा अपना अभिषेक करता है (शत० ५।३।५।१२।)। नैय्यग्रोध (वट) के पात्र से मित्र राजा इस दीक्षित राजा का अभिषेक करता है। (शत० ५।३।५।१३।) एवं आश्वत्थ (पिप्पल) के पात्र से वैश्य इस का अभिषेक करता है। कारण बतलाती हुई श्रुति कहती है कि, अन्तरिक्ष से अपक्रान्त (सोमानुगत आन्तरिक्ष्य) मरुत् विद् है, विद् ही वैश्य है। अतः मरुल्लक्षण विड्रूप अश्वत्थ मरुत् प्रधान बनता हुआ वृक्षों में वैश्य है। अतएव वैश्य इसी के पात्र से अभिषेक करता है। इसप्रकार-'स यद्देवादोऽश्वत्थेऽतिष्ठत-इन्द्रो मरुत उपामन्त्रयत' इत्यादि श्रुति भी (शत० ५।३।५।१४) अश्वत्थ के इन्द्र-सोमानुगत विशोधक वायव्यधर्म्म का ही विश्लेषण कर रही है।

१३८-वृत्रवधरुष्ट त्वाष्ट्र का अभिचार द्वारा सोमाहरण. सोम प्रिय इन्द्र द्वारा पुनः सोम प्राप्ति एवं पान, इन्द्र शरीर निर्झरित सोम रस द्वारा अजादि पशुओं एवं अश्वत्थ वनस्पति का निर्म्माण—

"त्वष्टा के पुत्र त्वाष्ट्र-वृत्र को वज्रप्रहार से इन्द्र ने मार डाला। अपने पुत्र को मरा देख त्वष्टा ने इन्द्र पर अभिचार प्रयोग करना चाहा। इन्द्र की दृष्टि से बचा कर त्वष्टा सोम को ले गया। सोमप्रिय इन्द्र छद्मवेश बना कर वहाँ पहुँच गए, एवं हठात् त्वष्टा का सोम पी गए। वह सोम इन्द्र के सर्वाङ्ग शरीर से फूट निकला, चू निकला। इन्द्रशरीर के अङ्ग प्रत्यङ्ग से चू निकलने वाले तत्तदङ्गानुगत सोम से ही अजादि पशु उत्पन्न हुए (देखिए शत० १२।७।१ ब्रा०)। इसी वैज्ञानिक आख्यान में आगे जाकर यह बतलाया गया है कि-इन्द्र की त्वचा से जो सोम वह निकला था, वही अश्वत्थरूप में परिणत हुआ-'त्वच एवास्यापचितिरस्रवत्। सोऽश्वत्थो वनस्पतिरभवत्' (शत० १२।७।१।९।)। पारमेष्ठ्य आप्यप्राण 'सर्वं-वृत्त्वा शिष्ये'-'यदवृणोत्' इत्यादि निर्वचनों के अनुसार त्वाष्ट्र-वृत्रासुर है। सौर रश्मिरूप वज्र से पारमेष्ठ्या आप्यवृत्र की घनता टूट जाती है, पारमेष्ठ्य सोम सौररश्मिमण्डलावच्छिन्न आन्तरिक्ष्य इन्द्र गर्भ में भुक्त होजाता है। इन्द्रगर्भ से परिस्रुत वही सोम तत्तद्विशेष प्राणों के सम्मिश्रण से तत्तद्विशेष पार्थिव-भौतिक पदार्थों का जनक बनता है। सौरसम्वत्सर मण्डल का अन्तिम प्रदेश (परिधिभाग) पारमेष्ठ्य आपः स्तर से युक्त रहता है। पारमेष्ठ्य सोमयुक्त वही परिधिमण्डल ज्योतिर्म्मय भाग हैं, तत्रस्थ आप्य-सोममात्रा ही 'वेन' है। यही इस सौरसम्वत्सरात्मक इन्द्र शरीर की त्वचा है। इसी से दर्भ उत्पन्न हुए हैं, इसी से अश्वत्थ। इस दृष्टि से भी अश्वत्थ का सोममयत्व, इन्द्रानुगतत्व, परमेष्ठित्वेन विष्णुदेवताकत्व सिद्ध होरहा है। वेनतत्त्व तेजोमय है, इसी आधार पर कहा जाता है-"तेजसो वा एष वनस्पतिरजायत, यदश्वत्थः" (ऐ० ७।३२)।

१३९-अग्नि-मनु-इन्द्र-प्राण-प्रजापति-निरुक्त सौर हिरण्यगर्भ तत्त्व का निरूपण—

सौरसम्वत्सरमण्डल केन्द्रस्थ हिरण्यगर्भतत्त्व प्रजापति है। जो सावित्राग्नि सम्बन्ध से 'अग्नि' केन्द्रावच्छिन्न मनुप्राण सम्बन्ध से 'मनु', आयुःप्राण सम्बन्ध से 'इन्द्र' दिव्यप्राणात्मकत्वेन 'प्राण', एवं रोदसी

प्रजोत्पादकत्वेन-पालकत्वेन 'प्रजापति' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। एवं विश्वकेन्द्रानुगत यही और प्रजापति केन्द्रगत ऊर्ध्वभूत शश्वत अव्यय ब्रह्मत्वेन 'शाश्वतब्रह्म' भी कहलाया है *। यह नभ्य प्रजापति उक्थ प्रजापति है, जो इन्द्रियातीत नभ्य भाव के कारण 'अनिरुक्त प्रजापति' भी कहलाया है। यह नभ्य प्रजापति स्वोक्थरूप से समन्ततः रश्मिरूप अर्कभाव में परिणत होकर सर्वत्र [रोदसी त्रैलोक्य] में व्याप्त होरहा है। इसप्रकार अर्करूप से वह उक्थ प्रजापति द्वादश आदित्य प्राणात्मक द्युलोकस्थ देवमण्डल की दृष्टि से परोक्ष बना हुआ है। इस का भूपिण्ड की ओर आने वाला, भूपिण्ड से संसृष्ट रहने वाला अदितिमण्डलागर्भित अर्करूप ही आधिदैविक अश्व है, जिसका-उषा वा अश्वस्य मेध्यस्यशिरः (..........) इत्यादि अश्व-विज्ञानश्रुति से सम्बन्ध है। अश्वात्मक, [जिसे सोम-सावित्राग्नि-इन्द्र-आन्तरिक्ष्यवायु आदि से युक्त कहा जायगा] प्रजापति ही प्रवर्ग्यरूप से अश्वत्थवृक्ष रूप में परिणत होता है। अश्वत्थवृक्ष के इसी महत्वपूर्ण अतिशय का निम्नलिखित ब्राह्मणश्रुति से प्रतिपादन होरहा है—

१४०—आधिदैविक-आध्यात्मिक-उपासना एवं तत्वात्मिक प्रतिरूपता के साथ "अश्वत्थ" वृक्ष का ऐहलौकिक प्रत्यक्षानुभूत रोग (विशेषतः कुष्ठ) विनाशक शक्ति प्राप्त इतर वृक्ष वैशिष्ट्य-निरूपण—

उक्त सन्दर्भ से यह भलीभाँति सिद्ध होजाता है कि, आध्यात्मिक-आधिदैविक-उपासना तथा ज्ञान-काण्ड से सम्बन्ध रखने वाली परोक्ष तत्त्वात्मिका प्रतिरूपता के साथ साथ आधिभौतिक कर्मकाण्ड के सम्बन्ध से, ऐहलौकिक प्रत्यक्षानुभूत फलदृष्टि से भी अश्वत्थवृक्ष रोगविनाशक, विशेषतः-कुष्ठ-सर्वविध यक्ष्मा-आदि के कीटाणुओं का विनाशक बनता हुआ अन्यवृक्षापेक्षया अपना एक विशेष महत्त्व रखता है। निम्नलिखित मन्त्र अश्वत्थ वृक्ष के इसी अतिशय का विस्पष्ट भाषा में प्रतिपादन कर रहे हैं:—

---

*—एतमेकेवदन्त्यग्निं, मनुमन्ये प्रजापतिम्।
इन्द्रमेके, परे प्राण, मपरे ब्रह्मशाश्वतम्॥ मनु० १२।१२३।

"प्रजापतिर्देवेभ्यो निलायत–अश्वोरूपं कृत्वा।
सोऽश्वत्थे सम्वत्सरमतिष्ठत्। तदश्वत्थस्य अश्वत्थत्त्वम्"॥

—तै० ब्रा० ३।८।१२।२।

"१—यो गिरिष्वजायथां वीरुधां बलवत्तमः ।
कुष्ठे हि तक्मनाशनमक्मानं नाशयन्नितः ॥

२—सपर्णसुवने गिरौ जातं हिमवतस्परि ।
धनैरभि श्रुत्वायन्ति विदुर्हि तक्मनाशनम् ॥

३—अश्वत्थो देवसदन स्तृतीयम्यामितो दिवि ।
तत्रामृतस्य चक्षणं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥

४—हिरण्मयी नौरचरद्धिरण्यबन्धना दिवि ।
तत्रामृतस्य पुष्पं देवाः कुष्ठमतन्वत ॥

५ हिरण्मयाः पन्थान आसन्नरित्राणि हिरण्मया ।
नावो हिरण्मयीरासन् याभिः कुष्ठं निरावहन् ॥

६ इमं मे कुष्ठ पुरुषं तमा वह तं निष्कुरु ।
तमु मे अगदं कृधि ॥

७—देवेभ्यो अधि जातोऽसि सोमस्यासि सखाहितः ।
स प्राणाय व्यानाय चक्षुषे मे अस्मै मृड ॥

८—उदङ् जातो हिमवतः स प्राच्यांनीयसे जनम् ।
तत्र कुष्ठस्य नामान्युत्तमानि विभेजिरे ॥

९—उत्तमो नाम कुष्ठास्युत्तमो नाम ते पिता ।
यक्ष्मं च सर्वं नाशय तक्मानं चारसं कृधि ॥

१०—शीर्षामयमुपहत्यामक्ष्योस्तन्वोरपः ।
कुष्ठस्तत् सर्वं निष्करद् दैवं समह वृष्ण्यम् ॥"

—अथर्वसंहिता ५ काण्ड । ४ सूक्त । १—१० ।

१४१-मायी महेश्वर का सर्वत्र स्थित रहते हुए भी असङ्गत्व, अश्वत्थवटादि का भी श्लथमूलत्वात् तत्साधर्म्य, एवं साधर्म्य स्वरूपोपबृंहण—

प्रकृतमनुसरामः-पापपाशं तरामः-आधिदैविक अश्वत्थवृक्षात्मक मायीमहेश्वर सर्वत्र सब में रहता हुआ भी असङ्ग है। तद्वत् आधिभौतिक अश्वत्थवृक्ष भी वटवृक्षादि अन्य वृक्षों की भाँति दृढमूल न रह श्लथमूल-असङ्गमूल ही रहता है। पिप्पल का मूल अधिक गहराई में नजाकर थोड़ा ही भूगर्भ में असङ्गरूप से प्रतिष्ठित रहता है। यही कारण है कि सामान्य से झञ्झावात में पिप्पल-उखड़ जाता है। यही उस के साथ इस की पहिली प्रतिरूपता है। इस अश्वत्थवत् प्रतिष्ठित रहने से भी वह (आधिदैविक महेश्वर) अश्वत्थ कहलाया है। मायी महेश्वर अव्ययानुगत विष्णु से सम्बन्ध रखता है। विष्णुद्वारा सोम से, सोमद्वारा सौर इन्द्र से, इन्द्रद्वारा आन्तरिक्ष्य मरुत् से सम्बन्ध रखता है। अश्वत्थरूपमायी महेश्वर का मूल स्वयम्भू-रूप ब्रह्मा है, मध्य सूर्य्यगर्भित परमेष्ठीरूप विष्णु है, अग्रभाग रोदसीत्रैलोक्य व्यापक शिव है। इधर पूर्व-सन्दर्भानुसार अश्वत्थवृक्ष भी तृतीयद्युरूप सोम-विष्णु-इन्द्र-मरुत्-आदि के प्रवर्ग्यभागों से निष्पन्न होता है। अश्वत्थ के भी बीज में मूल-मध्य-ऊर्ध्व भागों में स्थितिलक्षण ब्रह्मतत्त्व, आदानधर्म्मों के कारण अश्व-त्थवृक्ष को उस महामायावच्छिन्न सहस्रवल्शोपेत आधिदैविक अश्वत्थरूप मायीमहेश्वर का प्रतिरूप माना जासकता है, माना गया है। यही महेश्वर के अर्द्धचेतन प्रतिरूपात्मक द्वितीय अश्वत्थोदाहरण की संक्षिप्त मीमांसा है। अवश्य ही इस के अर्द्धचेतन प्राकृतिक आधिभौतिक आधिकारिक-अश्वत्थवृक्षात्मक प्रतिरूप के माध्यम से उस आधिदैविक मायीमहेश्वर के प्रति स्व-आध्यात्मिक प्रत्यय को समानरूप से प्रवाहित करते हुए उपासक लक्ष्य पहुँच सकते हैं।



८-अचेतनप्रतिरूपोदाहरणम् (शालग्रामः)

१४२-अचेतन प्रतिरूपोदाहरण शालग्राम का उपास्यत्व निरूपण—

"अश्वत्थवृक्ष अर्द्धचेतन है, अतएव इस में पूर्ण नहीं, तो अंशतः चेतना का भी समावेश है। अतएव च ससंज्ञ चेतन कूर्म्म पशुवत् अन्तःसंज्ञ अर्द्धचेतन यह अश्वत्थवृक्ष भी चेतन उपास्य से अंशतः समतुलित रहता हुआ यथाकथंचित् उस चेतन उपास्य का प्रतिरूप माना जासकता है। एवं इसे प्रत्ययालम्बन बनाया जासकता है। एतावता जड़प्रतिमोपासना की प्रमाणिकता का समर्थन नहीं किया जासकता"। उक्त अश्वत्थोदाहरण में यही अस्वारस्य आजाता है। तन्निवृत्ति के लिए ही तृतीय अचेतन प्रतिरूपात्मक शालग्रामोदाहरण उद्धृत होरहा है।

१४३-प्राकृतिक-आधिदैविक-आधिकारिक एकवल्शेश्वरात्मक योगमायी शालग्राम-ब्रह्म का आधिभौतिक शालग्राम शिला-समतुलन—

सुप्रसिद्ध, पार्थिव, आधिभौतिक, औपपातिक, कर्म्मफलभोक्ता, प्राकृतिक शालग्राम ही अचेतनप्रति-रूपविधा के मुख्य उदाहरण माने जासकते हैं। प्राकृतिक, आधिदैविक, आधिकारिक, एकवल्शेश्वरात्मक,

योगमायी, ब्रह्मसत्याक्षरमूर्त्ति, शालग्रामब्रह्म का जैसा स्वरूप है, कई अंशों में आधिभौतिकी-शालग्रामशिला उस से समतुलित है। अतएव इस शालग्रामशिलात्मक भौतिक प्रतिरूप के माध्यम से उस आधिदैविक ब्रह्म-सत्यलक्षण उपेश्वर प्रजापति की ओर स्व-आध्यात्मिक प्रत्यय प्रवाहित किया जासकता है। जिस शालग्राम-प्रजापति का यह शालग्राम प्रतिरूप है, पहिले उसी तत्त्वात्मक आधिदैविक शालग्राम-प्रजापति-स्वरूप का दो शब्दों में दिग्दर्शन कराया जाता है।

१४४-स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्र-भूपिण्डगत ब्रह्मसत्य प्रजापति, एवम् एकवल्शेश्वर "उपेश्वर" के स्वरूप का विवर्तभक्त स्वरूपबृंहण—

पूर्व परिच्छेदों में स्पष्ट किया जाचुका है कि, स्वयम्भू, परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा-भूपिण्ड, ये पाँच ब्रह्म-पुर ही ब्रह्मसत्य प्रजापति की आवासभूमि है। इन पाँचों ब्रह्मपुरों में अवारपारीणव्याप्त रहने वाला योग-मायी अक्षरप्रधान प्रजापति ही एकवल्शेश्वर 'उपेश्वर' है। इस उपेश्वर के यदि व्यष्टिरूपों का विचार किया जाता है, तो इस के 'परम', और 'प्रतिमा' ये दो विवर्त्त होजाते हैं। दोनों विवर्त्तों से परिचय प्राप्त करने के लिए पाँचोंपुण्डीरों के सुप्रसिद्ध 'दहरोत्तर' सम्बन्ध की ओर लक्ष्य देना आवश्यक होगा। 'आत्मप्राण-पशुत्वं प्रजापतित्त्वम्' यही प्रजापति का वैज्ञानिक लक्षण है। आत्मा उक्थ है, प्राण इस उक्थ से चारो ओर निकल कर समन्ततः व्याप्त रहने वाले अर्क (रश्मियाँ) हैं, अर्कमण्डलभुक्त पदार्थमात्र पशु हैं। यही उस मण्डलात्मक उदर में भुक्त 'अशिति' (अन्न) अतएव प्रजापति का 'उक्थार्काशित्वं प्रजापतित्त्वम्' यह भी लक्षण किया जासकता है। समष्ट्यात्मक, पञ्चपुण्डीरात्मक एकवल्शेश्वर प्रजापति के आधार पर व्यष्टिरूप स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, भूपिण्ड, ये व्यष्टिलक्षण पांच प्रजापति प्रतिष्ठित हैं। समष्टिलक्षण प्रजा-पति ही 'परमप्रजापति' कहलाया है। 'आत्मा-पदं-पुनः पदम्' भेद से इस के तीन संस्थान हैं। स्वयम्भू-पिण्ड केन्द्रस्थ अनिरुक्त भाव 'आत्मा' है। स्वयं स्वयम्भूपिण्ड केन्द्रस्थ उक्थरूप आत्मा से विनिर्गत अर्कों की व्याप्ति से-आत्मार्क प्रपत्ति से 'यत्रात्मार्करूपेणप्रपन्नो भवति' निर्वचनानुसार 'पदम्' है। स्वयम्भूपिण्ड का महिमामण्डल पुनःपदम् है। इस महिमामण्डल के गर्भ में समहिम परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा-भूपिण्ड चारों प्रतिष्ठित हैं। महिमामण्डल प्रतिष्ठित ये चारों विवर्त्त ही उस नव्य स्वयम्भुव प्रजापति की अशिति (अन्न) है। इस प्रकार उस स्वयम्भू प्रजापति ने सब की अपने में आहुति कर रक्खी है, साथ ही स्वयं भी अपने प्रवर्ग्यरूप से सब में आहुत होरहा है। इसी सर्वाहुति-सम्बन्ध से स्वयम्भू प्रजापति 'सर्वहुतयज्ञ' नाम से व्यवहृत हुआ है, जिस का निम्नलिखित शब्दों में विश्लेषण हुआ है—

"ब्रह्म वै स्वयम्भु तपोऽतप्यत। तदैक्षत-न वै तपस्यानन्त्यमस्ति। हन्त-'अहं भूतेषु-आत्मानं जुहवानि, भूतानि चात्मनि' इति। ततसर्वेषु भूतेस्वात्मानं हुत्वा, भूतानि चात्मनि (हुत्वा), सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्य्येत्। स वा एष सर्वमेधः"—(शत० १३।७।१।१,२,)।

१४५–ब्रह्मसत्याक्षरप्रधान-सर्वहुतयज्ञमूर्ति-स्वयम्भू प्रजापति का "परमप्रजापति" स्वरूप-निर्वचन—

परमेष्ठयादि शेष चारों को, साथ ही पुण्डीरात्मक स्वयम्भू को भी अपने गर्भ में अशिति रूप से भुक्त रखने वाले, योगमायात्मक विश्व में अवारपारीणरूप से व्याप्त रहता हुआ 'विश्वकर्म्मा' (सर्वकर्म्मा) नाम से प्रसिद्ध होने वाला, ब्रह्मसत्याक्षर प्रधान, सर्वहुत–यज्ञमूर्ति–परोरजा स्वयम्भू प्रजापति ही 'परम-प्रजापति' है। जो आत्मा-पर्द-पुनःपर्द-आदि संस्थाविभाग इस के हैं, वे ही विभाग स्वयम्भू आदि चारों के हैं। इन्ही समधर्म्मों के कारण ये चारों इस के 'सखा' कहलाए हैं, जैसा कि–'शिक्षा सखिभ्य' (ऋक्सं० १०।८१।५।) इत्यादि मन्त्रवर्णन द्वारा पूर्व में (२६२ पृ०) स्पष्ट किया जाचुका है परमेष्ठी, इन्द्र (सूर्य्य), सोम (चन्द्रमा), अग्नि (भूपिण्ड), चारों इस परमप्रजापति लक्षण स्वयम्भू प्रजापति के स्वरूप से सम-तुलित रहते हुए इस के आधिदैविक प्रतिरूप (प्रतिमा) हैं । अतएव इन चारों को 'प्रतिमाप्रजापति' कहा जासकता है, जैसा कि निम्न लिखित ब्राह्मण श्रुति से प्रमाणित है—

"स ऐक्षत प्रजापतिः (स्वयम्भूः)–'इमं वाऽआत्मनः प्रतिमामसृक्षि । * * * ता वा एताः प्रजापतेरधिदेवता असृज्यत–अग्निः, इन्द्रः, सोमः, परमेष्ठी प्राजापत्यः । * * । ता वा एताः पञ्चदेवताः । स्वायम्भुवो ब्रह्मा, पारमेष्ठ्योविष्णुः, सौर इन्द्रः, चान्द्रः, सोमः, भौमोऽग्निः, इत्येते पञ्चाक्षर देवताः) एतेन कामप्रेण यज्ञेनायजन्त"

(शत० ११।१।६।१३,१४,२०,) ।

१४६–व्यष्टि लक्षण पञ्च प्रजापतियों के स्वतन्त्र "उपेश्वरों" का एकैकशः निरूपण—

व्यष्टिलक्षण पाँचों प्रजापति एक एक स्वतन्त्र उपेश्वर हैं। इसी दृष्टि से एक वल्शेश्वरात्मक एक उपेश्वर के पांच उपेश्वर विवर्त्त माने जासकते हैं, इन में स्वयम्भू उपेश्वर को सर्वव्याप्ति से परमप्रजापति, शेष चारों उपेश्वरों को 'प्रतिमाप्रजापति' कहा जासकता है। प्रतिमा का अर्थ यही है कि, प्रजापतिपर्वत्रयी, उक्थार्कशितित्रयी, आत्मा-पर्द- पुनःपर्द–त्रयी, मनोतात्रयी, आदि सभी दृष्टियों से परमेष्ठयादि चारों स्वयम्भू-स्वभूप से समतुलित हैं। इन पाँचों उपेश्वरों में परस्पर दहरोत्तर सम्बन्ध है । स्वयम्भूमहिमामण्डल में, जोकि महिमामण्डल विज्ञान भाषा में 'वैश्वरूप्य' कहलाया है–शेष चारों का वैश्वरूप्य (महिमामण्डल) प्रतिष्ठित हैं। परमेष्ठी के विश्वरूप में समहित सूर्य्यादि तीनों, सूर्य्य के विश्वरूप में समहित चन्द्रमादि दोनों, एवं भूपिण्ड के विश्वरूप में समहिम चन्द्रमा गर्भीभूत है। पाँचों के पांच विश्वरूप क्रमशः परमाकाश, महा-समुद्र, सम्वत्सर, नक्षत्र, आन्द, इन नामों से व्यवहृत हुए हैं। निम्न लिखित परिलेख से उक्त प्राजा-पत्य सख्य–सम्बन्ध का भलीभांति स्पष्टीकरण होजाता है–

——— *

१-परमप्रजापतिः स्वयम्भूः-विश्वकर्म्मा-(शिरोमूलसर्गाध्यक्षः)-

क-प्रजापतिपर्वत्रयी-(आत्मप्राणपशुत्वंप्रजापतित्वम्)-सम्बन्धेन—

१-सूत्रात्मानुगतः——अन्तर्य्यामी-अव्यक्तात्मा —	आत्मा	स्वयम्भूः (१)
२-अंसलक्षणाः——ऋषिप्राणाः —	प्राणाः	
३-परमाकाशगर्भिताः—परमेष्ठि-सूर्य्य-चन्द्र-भूपिण्डाः——	पशवः	

——— *

ख-उक्थार्काशितित्रयी-सम्बन्धेन—

१-हृदयावच्छिन्नो ब्रह्मावेदमूर्त्तिः	—उक्थम्	स्वयम्भूः (२)
२-पिण्डावच्छिन्नाः प्राणाः-ऋषयः	—अर्काः	
३-महिमागर्भिताः-स्वयम्भुपरमेष्ठ्यादयः सर्वे	—अशितयः	

——— *

ग-आत्मा-पदं-पुनःपदं-त्रयी-सम्बन्धेन—

१-परमप्रजापतिः स्वयम्भूः—आत्मा		(हृत्पृष्ठम्)	स्वयम्भूः (३)
२-स्वयम्भूः	—पदम्	(स्पृश्यपृष्ठम्)	
३-परमाकाशः	—पुनःपदम्	(दृश्यपृष्ठम्)	

——— *

घ-मनोतात्रयी-सम्बन्धेन—

१-वेदाः सत्यम्——ऋग्यजुःसामात्मिका वेदत्रयी ब्रह्मनिःश्वसित-अपौरुषेयी	स्वयम्भूः (४)
२-सूत्रं सत्यम्——ऋतसूत्रं, सत्यसूत्रं, ऋतसत्यसूत्रम्।	
३-नियतिः सत्यम्—ब्रह्मनियतिः, विष्णुनियतिः, इन्द्रनियतिः	

——— *

२–प्रतिमाप्रजापति परमेष्ठी—

क–प्रजापतित्रयी–सम्बन्धेन—

१–चिद्गर्भाधिष्ठाता महानात्मा	—	आत्मा	परमेष्ठी (१)
२–ऋषिप्राणजन्याः पितृप्राणाः	—	प्राणाः	
३–महासमुद्रगर्भिताः–सूर्य्यचन्द्रभूपिण्डाः	—	पशवः	

———*

ख–उक्थार्काशितित्रयी–सम्बन्धेन—

१–हृदयावच्छिन्नो विष्णुः–लोकमूर्त्तिः	—उक्थम्	परमेष्ठी (२)
२–पिण्डावच्छिन्नाः प्राणाः पितरः	—अर्काः	
३–महिमगर्भिताः–परमेष्ठि–सूर्य्यादयः सर्वे	—अशितयः	

———*

ग–आत्मा–पदं–पुनःपदं–त्रयी–सम्बन्धेन—

१–प्रतिमाप्रजापतिः परमेष्ठी	—आत्मा	(हृत्पृष्ठम्)	परमेष्ठी (३)
२–परमेष्ठी–पिण्डः	—पदम्	(स्पृश्यपृष्ठम्)	
३–महासमुद्रः	—पुनःपदम्	(दृष्यपृष्ठम्)	

———*

घ–मनोतात्रयी–सम्बन्धेन—

१–इट्, अव्–वायु–सोमात्मको भृगुर्वा	परमेष्ठी (४)
२–ऊर्क्, अग्नि–वायु–आदित्यात्मक–अङ्गिरा वा	
३–गौः, अनुष्णाशीतः–अत्रिर्वा	

———*

३-प्रतिमाप्रजापतिः-हिरण्यगर्भः (मूलसर्गाध्यक्षः)—

क-प्रजापतित्रयी-सम्बन्धेन—

१-चिद्विकासको . विज्ञानात्मा———आत्मा
२-पितृप्राणजन्या देवप्राणाः————प्राणाः } सूर्य्यः (१)
३--सम्वत्सरगर्भितौ---चन्द्रभूपिण्डौ——पशवः

ख-उक्थार्काशितित्रयी-सम्बन्धेन—

१-हृदयावच्छिन्नः-इन्द्रः-देवमूर्त्ति———उक्थम्
२-पिण्डावच्छिन्नाः-प्राणाः-देवाः———अर्काः } सूर्य्यः (२)
३-महिमगर्भिताः-सूर्य्यपिण्ड चन्द्रादयः सर्वे-अशितयः

ग-आत्मा-पदं-पुन-पदं-त्रयी सम्बन्धेन—

'-प्रतिमाप्रजापतिः-हिरण्यगर्भः—आत्मा—(हृत्पृष्ठम्)
२-सूर्य्यपिण्डः —पदम्—(सूर्यपृष्ठम्) } सूर्य्यः (३
३-सम्वत्सरः —पुनःपदम्-(दृश्यपृष्ठम्)

घ-मनोतात्रयी-सम्बन्धेन—

१-ज्योतिः (देवसृष्टिप्रवर्तकाः ३३ भावाः)
२-गौः (भूतसृष्टिप्रवर्त्तकाः-१००० भावाः) } सूर्य्यः (४)
३-आयुः (आत्मसृष्टिप्रवर्त्तकाः-३६००० भावाः)

---

* * *

४–प्रतिमाप्रजापतिः–पद्मभूः (पादमूलसर्गाध्यक्षः)—

क–प्रजापतित्रयी-सम्बन्धेन—

१–भूतविकासको भूतात्मा—आत्मा
२–सर्वप्राणजन्याः–पशुप्राणाः–प्राणाः } पृथिवी (१)
३–आन्दगर्भितश्चन्द्रमाः—पशवः

ख–उक्थार्काशितित्रयी-सम्बन्धेन—

१–हृदयावच्छिन्नोऽग्निः–भूतमूर्त्तिः—उक्थम्
२–पिण्डावच्छिन्ना द्यावापृथिव्याः पशवः—अर्काः } पृथिवी (२)
३–महिमगर्भिताः-भूपिण्ड-चन्द्रदायः सर्वे—अशितयः

ग–आत्मा-पदं-पुनःपदं-त्रयी-सम्बन्धेन—

१–प्रतिमाप्रजापतिः–पद्मभूः—आत्मा (हृत्पृष्ठम्)
२–भूपिण्डः —पदम् (स्पृश्यस्पृष्टम्) } पृथिवी (३)
३–आन्दम् —पुनः पदम् (दृश्यदृष्टम्)

घ–मनोतात्रयी-सम्बन्धेन—

१–वाक्—रथन्तरसामात्मिका गायत्री पृथिवी–वाङ्मयी
२–गौः—वैरूपसामात्मिका-सागराम्बरापृथिवी-गौमयी } पृथिवी (४)
३–द्यौः—शाक्वरसामात्मिका–मही पृथिवी—द्यौमयी

* * *

५-प्रतिमाप्रजापतिः-निधनः—

क-प्रजापतित्रयी-सम्बन्धेन—

१-ऋतुविकासकः—प्रज्ञानात्मा——आत्मा
२-असुरप्राणजन्याः गन्धर्वप्राणाः—प्राणाः
३-नक्षत्रमण्डलगर्भिताः—सर्वाः——पशवः
} चन्द्रमाः (१)

ख-उक्थार्काशितित्रयी-सम्बन्धेन—

१-हृदयावच्छिन्नः सोमः—धर्ममूर्त्तिः—उक्थम्
२-पिण्डावच्छिन्नाः प्राणाः-गान्धर्वाः—अर्काः
३-महिमागर्भिताः-चन्द्रपिण्डादयःसर्वे—अशितयः
} चन्द्रमाः (२)

ग-आत्मा-पदं-पुनःपदं-त्रयी-सम्बन्धेन—

१-प्रतिमाप्रजापतिः-निधन——आत्मा (हृत्पृष्ठम्)
२-चन्द्रपिण्डः, ——पदम् (स्पृश्यपृष्ठम्)
३-नक्षत्रम् (राजनमण्डलंवा)—पुनः पदम् (दृश्यपृष्टम्)
} चन्द्रमाः (३)

घ-मनोतात्रयी-सम्बन्धेन—

१-रेतः—भूतात्मप्रतिष्ठात्मकम्
२-श्रद्धा-प्रज्ञानात्मप्रतिष्ठात्मिका
३-यशः—विज्ञानात्मप्रतिष्ठात्मकः
} चन्द्रमाः (४)

---

* * *

सर्वसंग्रहः—

१	(१) १—स्वयम्भूः (स्वयम्भूः—परलप्रजापतिः	—अमृतपर्वणी—द्यौः (परमधाम)	
	(२) २—परमेष्ठी (परमेष्ठी—प्रतिमाप्रजापतिः		
	(३) १—सूर्य्यः (हिरण्यगर्भः—प्रति० प्र०)	—(मध्यमधाम)	—उभयात्मको हिरण्यगर्भः—शालग्रामप्रजापतिब्रह्म—सत्याक्षरः—उपेश्वरः
३	(४) १—पृथिवी (पञ्चभूः—प्रति० प्र०		
	(५) २—चन्द्रमाः (निधनः—प्रति० प्र०	—मर्त्यपर्वणी—पृथिवी (अवमधाम)	

१४७—सूर्य्य केन्द्रस्थ इन्द्रात्मक "हिरण्यगर्भ प्रजापति" द्वारा सम्पूर्ण योगमायी विश्व का संग्राहकत्व—

स्वायम्भुवपरमाकाश के गर्भ में आपोमय परमेष्ठी प्रतिष्ठित है। इन दोनों में ही भूतज्योति का अभाव है। भूतज्योति की प्रथमविकास भूमि वह सूर्य्य है, जो स्वयम्भुगर्भित आपोमय परमेष्ठी के गर्भ में प्रतिष्ठित है। विश्वकेन्द्रस्थ भूतज्योतिर्म्मय सूर्य्य अपनी सहस्ररश्मियों को वितत करते हुए रश्मिमण्डल के गर्भ में भी प्रतिष्ठित माने जासकते हैं। सौरतेज 'हिरण्य' कहलाया है। सौररश्मिमण्डल हिरण्मयमण्डल हैं। इसके केन्द्र में सूर्य्य प्रतिष्ठित है। सूर्य्यकेन्द्रस्थ इन्द्रात्मक प्रजापतितत्व ही 'हिरण्यगर्भ प्रजापति' है, जिनसे सम्पूर्ण योगमायी विश्व का संग्रह होरहा है। 'सं वाहुभ्यां धमति, संपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः' के अनुसार अमृतप्रधान परमधामात्मक स्वयम्भू-परमेष्ठीरूप द्युलोक, तथा मृत्युप्रधान * अवमधामात्मक चन्द्रमा—पृथिवीरूप पृथिवीलोक, दोनों अमृत—मृत्युलोकों का मध्यस्थ अव्ययधामात्मक अक्षरप्रधान सौरहिरण्यगर्भ प्रजापति के द्वारा ही यथास्थान सन्निवेश + होरहा हैं, जैसा कि मुण्डकोपनिषद् विज्ञानभाष्यान्तर्गत 'हिरण्यगर्भमूलसृष्टि' प्रकरणों में विस्तार से प्रतिपादित हुआ है। यही प्रजापति सर्वप्रथम व्यक्तरूप से प्रकट हुए हैं, जिनका निम्न लिखित मन्त्र से स्वरूप विश्लेषण हुआ है, यही आधिदैविक, विराड्विष्णुरूप, उपास्य शालग्राम है, जिनके आधिभौतिक शालग्रामशिलारूप प्रतिरूप का प्रकृत में समन्वय करता है—

---

*—"सा या सा वाक्—असौ स आदित्यः। स एष मृत्युः। तत्—किञ्चार्वाचीनमादित्यात्' सर्वं तन्मृत्युनाप्तम्" (शत० १०।५।१।४।)।

×—"आ कृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्ययेन सविता रथेनादेवोयाति भुवनानि पश्यन् ॥
हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥—यजुः सं०

१४८-शाल बहुल प्रदेश समीपवर्ती ग्राम का "शालग्राम" नाम एवं तत्रस्थ गण्डकी नदी प्रवाहान्तःपाति ज्योतिर्म्मयकीटकिट्ट पाषाण का "शालग्राम" अभिधान—

नेपाल राज्य में एक सुप्रसिद्ध 'गण्धकी' नाम की नदी प्रवाहित है। इसके समीपवर्त्ती ग्रामविशेष में 'शाल' वृक्ष अधिक संख्या में उत्पन्न होते हैं। इन शालवृक्षों की प्रधानता से ही यह ग्राम 'शालग्राम' नाम से प्रसिद्ध होरहा है। शालग्राम समीपवर्त्तिनी गण्डकी नदी का आगमन एक पर्वत से होता है। पर्वतोपत्य का में गण्डकी-जलपूरित एक स्रोत बन गया है। इस स्रोत में हिरण्यवर्ण (सुनहरी) विशेष से एक विशेषप्रकार के कीट रहते हैं पानी के साथ बह बह कर आने वाले कृष्णपाषाण कणों से इन हिरण्मय कीटों का सम्बन्ध होता रहता है। पाषाणकण सम्पर्क से ज्यों ज्यों हिरण्मय कीट इतस्ततः आलोडित होजाते हैं, त्यों त्यों पाषाणकण इनमें अन्तप्रविष्ट होते जाते हैं। गुरु स्वभार से मुक्त होने के लिए ज्यों ज्यों कीट अधिकाधिक प्रयास करते हैं, त्यों त्यों पाषाणकण अधिकाधिक संख्या में इनसे लिप्त होजाते हैं। अन्ततो गत्वा कीट मर जाते हैं, फलस्वरूप कन्दुकाकारवत् उनका पाषाण शरीर शेष रह जाता है। यही शालग्राम-मूर्ति का उद्भव है। जिसे उस हिरण्यगर्भ आधिदैविक शालग्राम का प्रतिरूप मान लिया गया है। जिस प्रकार प्रतिरूप भूत कच्छप पशु के 'कच्छप' नाम का आधिदैविक कूर्म्मप्रजापति के साथ, एवं आदर्शरूप कूर्म्मप्रजापति के 'कूर्म्म' नाम का प्रतिरूपभूत कच्छपपशु के साथ सम्बन्ध होगया है, एवमेव हिरण्यगर्भ विष्णु नाम का सम्बन्ध तो तत्प्रतिरूप भूत इस शालग्रामपाषाण के साथ होगया है, एवं इसके 'शालग्राम' नाम का सम्बन्ध उस हिरण्यगर्भ विष्णु के साथ होगया है।

१४६-शालग्राम शिला के बाह्यकृष्णभाग का आकाशात्मक स्वायम्भुव कृष्ण परमेष्ठी-मण्डल-प्रातिरूप्य एवम् लघु-बृहत् शालग्राम शिलास्थ अवरोत्तम महत्त्व का दिग्दर्शन—

शालग्रामशिला का बाह्य कृष्णवेष्टन (दृश्यकृष्णभाग) तो स्वायम्भुव आकाशात्मक कृष्ण पारमेष्ठ्य-मण्डल का प्रतिरूप है। शालग्रामशिला के केन्द्र में प्रतिष्ठित हिरण्मयकीट विश्वकेन्द्र में प्रतिष्ठित हिरण्मय-सूर्य्य, किंवा हिरण्यगर्भ प्रजापति का प्रतिरूप है। शालग्राम की खण्डित प्रतिमा पर जब आप दृष्टि डालेंगे, तो देखेंगे-मध्य में चारों ओर रेखाएँ होरहीं हैं। ये रेखाएँ सूर्य्यरश्मियों के ही प्रतिरूप हैं। इसी सर्वविध सादृश्य के आधार पर तो महर्षियों ने इसे उस उपेश्वर-विराड्-विष्णु का प्रतिरूप माना है। हिरण्मय कीटाकार के तारतम्य से ही शालग्राम प्रतिमाओं का बृहत्-लघु तारतम्य होता है। शालग्रामनिवासी नेपाली सुसूक्ष्म छिद्रद्वारा शालग्रामप्रतिमाकेन्द्रस्थ सुवर्णात्मक कीट निकाल लेते हैं। इस सुवर्णमात्रा के निकल जाने पर प्रतिरूपता अंशतः कम हो जाती है। छोटी प्रतिमाओं में से इस सुवर्णमात्रा का निकालना कठिन होता है। एकमात्र इसी आधार पर पुराणों में बड़ी शालग्राम प्रतिमाओं की अपेक्षा छोटी प्रतिमाओं को विशेष महत्त्व दिया है। यह भी विधान है कि, जिस परिमाण की प्रतिमा वहाँ से निकाली जाय, तत्परिमाणात्मक सुवर्ण वहाँ डाल देना चाहिए। इस सुवर्णमात्रा से ही तो तत्रस्थ कीटों के बाह्यशरीरों का निर्म्माण होता है। प्रतिमानिर्म्माणक्रम अवरुद्ध न होजाय, एकमात्र इसी उद्देश्य से यह विधान हुआ है।

१५०-शालग्राम शिला का सर्वात्मना हिरण्यगर्भ उपेश्वर प्रजापति समत्व एवं एतदुपासनाधारेण हिरण्य प्रजापति की ओर आत्म प्रत्यय प्रवाहण में सौविध्य का निरूपण—

प्रकृतमनुसराम:—शालग्रामशिला आह्ववर्ण, केन्द्र, रेखा, आदि सभी दृष्टियों से उस हिरण्यगर्भ उपेश्वरप्रजापति की प्रतिरूप बन रही है। उपासक इस प्राकृतिक-आधिभौतिक-अचेतनलक्षण प्रतिरूप को माध्यम बनाता हुआ इसके द्वारा इसके आकार से समतुलित उस विश्वव्यापक परमाकाशवेष्टित हिरण्यप्रजापति की ओर आत्मप्रत्यय प्रवाहित करने में अवश्यमेव सफल होजाता है।

१५१-शालग्राम शिवात्मक अचेतन प्रतिरूप की वेदानुपलब्धि शङ्का, एवम् तत्समाधानसन्धान—

अब इस सम्बन्ध में एक विप्रतिपत्ति शेष रह जाती है। कूर्मरूप चेतनप्रतिरूप का, अश्वत्थरूप अर्द्धचेतन प्रतिरूप का, दोनों का तो वेदशास्त्र में उल्लेख मिलता है, परन्तु शालग्रामशिलारूप अचेतन-भौतिक प्रतिरूप की वेद में उपलब्धि नहीं होती। अतएव कहा जासकता है कि, जड़प्रतिरूपोपासना (प्रतिमोपासना) अवैदिक होने से अमान्य है, अप्रामाणिक है, एवं प्रतिमामाध्यम के विरोधी इसी हेतु को आगे करते हुए जड़प्रतिमोपासना की अशास्त्रीयता घोषित कर रहे हैं। अवश्य ही विप्रतिपत्ति यथार्थ है। अवश्य ही शालग्रामशिला की प्रतिरूपता का मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद में कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। किन्तु, एतावता ही इसकी प्रामाणिकता का अपलाप नहीं किया जासकता, जबकि पुराणशास्त्र वेदशास्त्र का ही उपबृंहण है।

१५२-कृत्रिम (मानवनिर्म्मित) प्रतिरूपोपासना सम्बन्धी वेदशास्त्रीय उल्लेखों का आनन्त्य, एवं प्राकृतिक प्रतिरूपों की प्रतिरूपविधात्मकता के निःसन्दिग्ध-प्रामाण्यों का सङ्कलन—

यह ठीक है कि, शालग्रामशिला, अथवा तत् सम अन्य किसी प्राकृतिक (ईश्वरव्यापारविनिर्मित) प्रतिरूप का, प्रतिमा का) वेदशास्त्र में उल्लेख नहीं मिलता। परन्तु कृत्रिम (मनुष्यव्यापार द्वारा विनिर्म्मित) प्रतिरूपों का पदे पदे वेदशास्त्र में उल्लेख मिल रहा है, जैसाकि भक्तिपरीक्षा-पूर्व खण्ड के-'प्रतिमापूजन और उपासना' नामक प्रकरण में सोदाहरण विस्तार से बतलाया जाचुका है। कृत्रिम प्रतिरूप हो, अथवा प्राकृतिक प्रतिरूप, प्रतिरूपविधा वेदशास्त्र सम्मत है, यह निःसंदिग्ध है। एवं एकमात्र इसी हेतु के आधार पर शालग्रामं प्रतिरूपता की प्रामाणिकता सर्वथा अक्षुण्ण है। शालग्राम तो एक प्राकृतिक प्रतिरूप माना गया है। वेदशास्त्र में तो रुक्म जैसे एक कृत्रिम सुवर्ण प्रतिमान को भी आदित्य का प्रतिरूप माना गया है। ब्राह्मणभागान्तर्गत चयनयज्ञ-प्रकरण पर दृष्टि डालिए। चयनयज्ञ द्वारा आधि-

दैविक जिन सौरतत्त्वों का यज्ञकर्त्ता यजमान अपने अध्यात्म में आधान करता हुआ अमृत सम्पत्ति प्राप्त करता है, उन यच्चयावत् आधिदैविक तत्त्वों का इस आधिभौतिक प्रतिरूपविधा से ही सम्बन्ध है। आत्मा, अग्नि, सत्यसाम, इन तीन भौतिक प्रतिरूपों से आधिदैविक अमृतसंस्था का, पुष्करपर्ण, रुक्म, पुरुष, चित्रसाम, इन चार भौतिक प्रतिरूपों से आधिदैविक ब्रह्मसंस्था का, एवं सत्रनाम, इन्द्राग्नी, स्वयमातृण्णा, व्याहृतिसाम दूर्वादि, इन पाँच भौतिक प्रतिरूपों के माध्यम से आधिदैविक शुक्रसंस्था का अपने अध्यात्म में आधान करता हुआ यजमान चयनयज्ञातिशय से अमृत-ब्रह्म-शुक्रात्मक पूर्णेश्वर की पूर्ण आधिदैविक विभूति भोक्ता बन जाता है, जिन विभूति का शतपथविज्ञानभाष्यान्तर्गत चयनरहस्य प्रकरण में (६-७-८-९-१७ इन पाँच काण्डों में) विस्तार से वैज्ञानिक विवेचन हुआ है।

१५३—चयन यज्ञ में चितिरूपेण संगृहीत पुष्कर पर्ण-रुक्म खण्ड प्रभृति का प्रतिरूप विधात्व स्वीकार एवम् भौतिक जड़ प्रतिमानों के माध्यम से तत्तदाधिदैविक-तत्त्वाधिगमाधान सामर्थ्य का निरूपण—

चयनयज्ञ में चितिरूप से संगृहीत पुष्करपर्ण बृहत् सामात्मक लोकत्रय का, सुवर्णात्मक रुक्मखण्ड समुद्रजचित्याग्नि पिण्डात्मक सूर्य्यबिम्ब का, स्वयमातृणा नामक मृण्मयी इष्ट का पृथिवी (भूपिण्ड) का तथा तद्गत चित्याग्निप्राण का, दूर्वा भूतग्राम का, अषाढ़ा महिमापृथिवी का, उलूखल मुसल यज्ञात्मक विष्णु का, पञ्चपशुमस्तक पशुओं के, तथा मनःप्राणश्चक्षुः श्रोत्र वाक् के, हिरण्यशकल पञ्चपशुप्राणों के प्रतिरूप माने गए हैं। एवं इन भौतिक, सर्वथा जड़ प्रतिरूपों के माध्यम से उसी प्रकार तत्तदाधिदैविक तत्त्वों का अध्यात्म में आधान हुआ है, जैसे उपासना काण्ड में उपासक आधिदैविक-उपास्य-महेश्वर-उपेश्वर-ईश्वर के अर्द्धचेतनात्मक अश्वत्थ, अचेतनात्मक शालग्राम, चेतनात्मक कूर्म्म रूप प्रतिरूपों के माध्यम से अध्यात्म में तत्तदाधिदैविक तत्त्वों का आधान करने में समर्थ होजाते हैं। निम्न लिखित श्रौत वचन अचेतन भौतिक रूप प्रतिरूप-विधाओं की प्रामाणिकता, तथा माध्यम का ही विश्लेषण कर रहे हैं।

१-पुष्करपर्णात्मकप्रतिरूपम्—(त्रैलोक्यस्य) "अथ पुष्करपर्ण मुपदधाति। योनिर्वै पुष्करपर्णम्। योनिमेवैतत् (पुष्करपर्णप्रतिरूपोपधानकर्म्मणा) उपदधाति। आपो वै पुष्करपर्णम्। यथा ह वा इदं पुष्करपर्णमप्स्वध्याहितं, एवमेवेयमप्स्वध्याहिता। से यं योनि रग्नेः। इमामेवैतदुपदधाति। (शत० ७।४।१।७,८)। द्यौः पुष्करपर्णम्" (शत० ६।४।१।६।)।

२-रुक्मात्मकप्रतिरूपम्-"अथ रुक्ममुपदधाति। असौ वा आदित्य एषं रुक्मः। (आदित्यस्य) अमुमेवैतदादित्यमुपदधाति। स (रुक्मः) हिरण्मयः (सुवर्णमयः) भवति,, परिमण्डलः (वर्तुलाकारः), एकविंशतिः निर्बाधः (२१ रेखात्मकः)। रश्मयो वाऽएतस्य निर्बाधाः" (शत० ७।४।१।१०)। *।

३-स्वयातृण्णात्मकंप्रतिरूपम-"स्वयमातृण्णामुपदधाति। इयं वै स्वयमातृण्णा। इमामे- (भूपिण्डस्य तद्गत चित्याग्निप्राणस्यच) वैतदुपदधाति। प्राणो वै स्वयमातृण्णा। प्राणमेवैतदुपदधाति।" (शत० ७।४।२।१,२)।

४-दूर्वात्मकं प्रतिरूपम्-"अथ दूर्वेष्टकामुपदधाति। पशवो वै दूर्वेष्टका। पशूनेवैतदु- (पशूनां, ओषधीनाञ्च) पदधाति। प्राणो ह्येष रसः, लोमान्यन्या ओषधयः। एतां (दूर्वेष्टकां) उपदधत्-सर्वा ओषधीरुपदधाति" (शत० ७।४।२।१०,१२)।

५-अषाढ़ात्मकंप्रतिरूपम्-"अथाषाढ़ामुपदधाति। इदं वा अषाढ़ा (महिमापृथिवी)। [महिमपृथिव्याः] इमामेवैतदुपदधाति। वाग्वा आषाढ़ा। वाचमेवोपधत्ते।" (शत० ७।४।२।३३,३४,)।

६-उलूखलमुसलात्मकं प्रतिरूपम्-"अथोलूखलमुसलेऽउपदधाति। विष्णुरकामयत-अन्नादः [यज्ञात्मकस्य विष्णोः] स्यामिति। स इमेऽइष्टकेऽअपश्यदुलूखलमु सले। तेऽ उपाधत्त। तेऽउपधायान्नादोऽभवत्।" (शत० ७।५।१।१२।)।

---

* सूर्य्य हिरण्मय है, गोलाकार है, 'एकविंशो वा इत आदित्यः' (......) के अनुसार भूपिण्ड से २१ वें अहर्गण पर बृहती-छन्द के केन्द्र में प्रतिष्ठित है। रुक्म इसी का कृत्रिम प्रतिरूप है। अतएव यह सुवर्ण का बनता है, क्योंकि सुवर्णधातु सौर सावित्राग्नि का प्रवर्ग्य भूत पार्थिवधातु है। सूर्य्यवत् यह गोल होता है। २१ की प्रतिरूपता-प्राप्ति के लिए इस के चारों ओर समानान्तर २१ शङ्कु बनाए जाते हैं।

७-पशुशीर्षात्मकं प्रतिरूपम् [पशूनां, मनःप्राणवाक् श्रोत्रवाचाञ्च] "पशुशीर्षाण्युपदधाति । पशवो वै पशुशीर्षाणि । पशूनेवैतदु-पदधाति । मनसः पुरुषं, चक्षुषोऽश्वं प्राणाद्गां श्रोत्रदविं, वाचोऽजं निरमिमीत (प्रजापतिः) पुरस्तादेवैतत् प्रत्यगात्मन्-घते ।" (शत० ७।४।२।१,६,) ।

८-हिरण्यशकलात्मकंप्रतिरूपम्- [पञ्चपशुप्राणानाम्] "अथैषु (पशूनांशिरोभागेषु) हिरण्यशकलान् प्रत्यस्यति । प्राणो वै हिरण्यम् । अथ वाऽएतेभ्यः पशुभ्यः संज्ञप्यमानेभ्यः-एव प्राणा उत्क्रामन्ति । तद्यद्-हिरण्यशकलान् प्रत्यवस्यति-प्राणानेवैष्वेतद्दधाति" (शत० ७।४।२।८।) ।

१५४-प्रतिरूपमाध्यमप्रतीपविचार-रोमन्थन परायण वेदव्याख्याताओं से सम्प्रश्न एवम् शालग्राम शिला के अनिवार्य्य अचेतन प्रतिरूपविधोदाहरण की निरुक्ति—

कूर्म्मश्रुति को निराकार-अखण्डब्रह्म परक लगाने वाले प्रतिमा-माध्यम विरोधी वेदव्याख्याता सम्भवतः यह भूल गए हैं कि, उसी कूर्म्मश्रुति प्रकरण में आगे जाकर कूर्म्मपशु को लक्ष्य बनाते हुए उस पर कूर्म्म-प्रजापति का आरोप हुआ है । कूर्म्मपशु का जिसे अणुमात्र भी बोध नहीं है, कूर्म्मप्रजापतिरूप से उसी प्रकार दधि-मधु-घृतादि द्वारा उपासना की गई है, जैसे एक भावुक उपासक बोधशून्य जड़ प्रतिमा की उपास्य भावना से धूप-दीप-नैवेद्य-अक्षत-चन्दन-पुष्पादि द्वारा षोडशोपचार-पूजन किया करता है । यदि भारतवर्ष का यह प्रकार अशास्त्रीय है, तो कूर्म्मपशु से सम्बन्ध रखने वाला प्रकार कैसे मान्य बन गया । यह उन्हीं वेद-व्याख्याताओं से पूछना चाहिए, जो अपने कल्पित सिद्धान्तों की प्रामाणिकता के लिए वेदशास्त्र को दूषित करने की विफल चेष्टा में निमग्न हैं । कृत्रिमप्रतिरूप हो, अथवा प्राकृतिक प्रतिरूप । प्रतिरूप प्रतिरूपत्वेन सर्वथा प्रतिरूप है । और अवश्य ही प्राकृतिक शालग्रामप्रतिरूप अचेतनप्रतिरूपविधा का मुख्य उदाहरण माना जासकता है ।

८

६-परिच्छेदोपसंहार—

१५५-आध्यात्मिक भावनाओं को दृढ़मूल बनाने के लिए प्रकृतिविध आधिभौतिक माध्यम की अपरिहार्य्यता एवम् भावानुगत मनोरसमयी श्रद्धा के अनुरूप काली, दुर्गा, भैरव आदि मृत्तिका-काष्ठ-धातु प्रतिरूपविधाओं के अर्च्चन का औचित्य —

कृत्रिम प्रतिरूप हो, अथवा तो प्राकृतिक प्रतिरूप, किसी एक को आरम्भभूमिका में दृष्टि का आलम्बन बनाते हुए तद्द्वारा तत्स्वरूपसमतुलित आधिदैविक उपास्य के प्रति अपने मन का योग करा देना ही प्रतिकृतिमूला-(प्रतिरूपा) प्रत्ययालम्बनता है, यही उपासना है । अवश्य ही प्रतिकृतिविध (प्रतिरूपविध) आधिभौतिक के माध्यम से भी उपासक स्वोपासनाकाण्ड में सफल होजाते हैं । अपनी आध्यात्मिक भावना को दृढमूल बनाने के लिए भावनानुगता मनोरसमयीश्रद्धा के अनुरूप महाकाली, विष्णु, शिव, गणपति, भैरव, राम, कृष्ण आदि किसी भी एक उपास्य के शिल्पी द्वारा उपकल्पित मृत्तिका, काष्ठ, धातु आदि की आकर्षक प्रतिमाएँ उपास्य के प्रतिरूप हैं । इन प्रतिरूपों के सामूहिक, वैय्यक्तिक. भेद से दो विवर्त्त माने गए हैं । जहाँ ग्राम-नगर निवासी सामूहिकरूप से आकर सुविधानुसार प्रतिमाओं के द्वारा प्रत्ययप्रवाह में समर्थ होते हैं, वे ग्राम-नगर के नियत देवालयों में प्रतिष्ठित वे उपास्यप्रतिमाएँ सामूहिकभाव से सम्बन्ध रखती हैं । एवं स्वगृहानुगता स्वोपासनालम्बनभूता प्रतिमा का वैय्यक्तिक भाव से सम्बन्ध है । दोनों के आकारादि निर्म्माण के सम्बन्ध में विभेद है, जिसका 'बृहत्संहिता' में विस्तार से विश्लेषण हुआ है । वेदवित् विद्वानों के द्वारा इनकी प्राणप्रतिष्ठा होती है । प्राणप्रतिष्ठा से इनमें जो दिव्य अतिशय उत्पन्न होजाता है, वही आधिदैविक दिव्यभावानुगति की प्रतिष्ठा बनता है । अतएव जिन वर्णों में जन्मतः उस दिव्यमात्रा का अभाव है, वे इस प्रतिमादर्शनादि में अनधिकृत माने गए हैं । देवालय शिखरदर्शनमात्र से उनकी प्रत्ययालम्बनता गतार्थ बन जाती है । इस सम्बन्ध में होने वाला वर्त्तमान दुराग्रह अनिष्ट का ही कारण है, यह निर्विवाद है । प्रतिमाओं की आधिदैविक तत्त्वाकर्षणता किन किन नियम विशेषों पर अवलम्बित है ?.. प्रश्न के उत्तर में निम्नलिखित सूक्ति ही पर्य्याप्त है—

> अर्चकस्य तपोयोगात्, अर्च्चनस्यातिशायनात् ।
> आभिरूप्याच्च बिम्बानां, देवः सान्निध्यमृच्छति ॥

६

प्रतीकमूलाप्रत्ययालम्बनता और–उपासना—

१५६–"प्रतीक" शब्द निरुक्ति, प्रतीकमाध्यम प्रयुक्त प्रत्ययालम्बनता, सूर्य्य–चन्द्र–पृथिव्यग्नि-वाय्वादि "अङ्गों" (अवयवों) से युक्त अवयवी विराट् पुरुष के प्रति तादृश (प्रत्ययालम्बन सम्भूत) उपादानों से उपासना का सम्भवत्व—

आहार्य्यारोपमूला, तथा प्रतिकृति (प्रतिरूप) मूला प्रत्ययालम्बनता का क्रमशः पूर्व के द्वितीय–तृतीय परिच्छेदों में सोदाहरण प्रतिपादन किया गया। अब क्रमप्राप्त तीसरी प्रतीकमूला प्रत्ययालम्बनता की ओर विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। अवयव, अङ्ग का ही नाम 'प्रतीक' है। इसे माध्यम बना कर स्वप्रत्यय प्रवाहित करना ही प्रतीकमूला प्रत्ययालम्बनता है। सप्तवितस्तिकायात्मक, पञ्चपुण्डीरप्राजापत्य-वल्शाधिष्ठित, योगमायावच्छिन्न, ब्रह्मसत्यमूर्त्ति, अक्षरात्मप्रधान उपेश्वरप्रजापति अवयवी है, अङ्गी है। स्वायम्भुव वागग्नि इसका मस्तक है, सूर्य्य चन्द्रमा चक्षु हैं, अन्य दृष्टिकोण से सूर्य्य चक्षु है, चन्द्रमा मन है, दिशा (दिक्सोम) श्रोत्र है, स्वायम्भुव अपौरुषेय वेद वागिन्द्रिय है। वायु प्राणेन्द्रिय है, महिमापृथिवीपाद हैं नक्षत्र लोमगर्त हैं। इस प्रकार वह अपने सूर्य्य–चन्द्रमा–पृथिवी–अग्नि–वायु–आदि आदि अवयवों से युक्त रहता हुआ विराटरूप से प्रतिष्ठित है। अवयवीरूप इस विराट्पुरुष के अवयवरूप किसी भी विश्वपर्व को प्रत्यय का आलम्बन बनाते हुए अवयवी की उपासना की जासकती है। क्योंकि समष्टि में जो धर्म्म रहते हैं, मात्रातारतम्य से व्यष्टियों में भी उन्हीं धर्म्मों का समावेश रहता है। अतएव अवयवग्रहण से लोकव्यवहार में भी अवयवी का ग्रहण होता देखा गया है। पटावयव के दग्ध होजाने पर 'पटोदग्धः' व्यवहार सुप्रसिद्ध है। पुत्रद्वारा पिता का अङ्गुलीग्रहण कर लेना पितृग्रहण माना जाता है। गुरुपादसेवा गुरुसेवा मानी गई है। गङ्गा के यत्किञ्चित् प्रदेश में स्नान करने वाले के लिए 'गङ्गायांस्नानः' व्यवहार होता है। इसी आधार पर संस्कृत साहित्य में न्याय प्रसिद्ध है कि—'समुदाये दृष्टाः शब्दा अवयवेष्वपि वर्त्तन्ति'। 'महिम्नः' शब्द इसी अवयवमर्य्यादा से सम्पूर्ण स्तोत्र का, 'कर्पूर' शब्द सम्पूर्ण स्तोत्र का संग्राहक बना हुआ है *। तथैव उपासनाकाण्ड में भी ईश्वरावयव [प्रतीक] रूप सूर्य्य, चन्द्रमा, अग्नि, पृथिवी, वराहादि नित्यावतार, रामकृष्णादियुगावतार, आदि किसी भी पदार्थ को माध्यम बनाया जासकता है। अङ्गों के द्वारा अङ्गी की भावना करना ही प्रतीकमूला प्रत्ययालम्बनता है, जिसका निम्नलिखित मन्त्रश्रुति द्वारा भी समर्थन हुआ है—

> प्र ब्रह्मैतु सदनादृतस्य वि रश्मिभिः ससृजे सूर्य्यो गाः।
> वि सानुना पृथिवी सस्र उर्वी पृथु प्रतीकमध्येधे अग्निः॥
>
> —ऋक् सं० ७।३६।१।

---

* नामैकदेशग्रहणे नाममात्रस्य ग्रहणम्। यथा देवः, दत्तः, दत्तिका, सत्या, भामा इत्यादिः।

१५७–प्रवाहण जैवलि द्वारा श्वेतकेतु को अज्ञात्मक पाँच प्रश्न, एवं तत्र "प्रतीक" शब्द व्याहार—

ब्राह्मणग्रन्थों में भी इस प्रतीकविधा का यत्रतत्र विश्लेषण हुआ है। अरुणपुत्र, अतएव आरुणेय (आरुणि)-नाम से प्रसिद्ध श्वेतकेतु जब पञ्चालों की ब्रह्मपरिषत् में पहुँचते हैं, तो वहाँ प्रवाहण जैवलि के द्वारा इन से अज्ञात्मक पांच प्रश्न होते हैं। इन्हीं को वहाँ 'प्रतीक' शब्द से व्यवहृत किया गया है। श्वेतकेतु इन प्रतीक प्रश्नों का उत्तर देने में असमर्थ जब अपने आपकी असमर्थता प्रकट करते हैं, तो स्वयं प्रवाहण की ओर से इन पांचों का क्रमिक समाधान होता है। देखिए !

"अथ हैनं वसत्योपमन्त्रयाञ्चक्रे। अनादृत्य वसतिं कुमारः प्रदुद्राव। स आजगाम पितरम्। तं होवाचेति-वाव किल तो भवान् पुरानुशिष्टानवोच-इति-कथं सुमेध इति। पञ्च मा प्रश्नान् राजन्यबन्धुरप्राक्षीत्-ततो नैकंचन वेदेति होवाच। कतमे तऽइति, इमेऽइतिह—प्रतीकान्युदाजहार"—(शत० १४।६।१।७।)।

१५८–"सर्वं खल्विदं ब्रह्म" मूलक अद्वैत भावनानुप्राणित प्रतीकोपासना एवं अद्वैत के भाव-क्रिया-द्रव्यात्मक तीन भाग एवं "अणोरणीयान् महतो महीयान्" तात्त्विक दृष्टि से प्रतिरूपविधा का सार्थक्य समर्थन—

सर्वं खल्विद ब्रह्म' मूला अद्वैत भावना ही इस प्रतीकमूला उपासना का मुख्य आलम्बन है। यह अद्वैतभावना भावाद्वैत, क्रियाद्वैत, द्रव्याद्वैत, भेद से तीन भागों विभक्त है, जैसा कि अगले प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। तिक्त–कटु–क्षार–मधु–आदि सर्वरसों से ओतप्रोत एक जलपूरित भाण्ड में जो जो रस प्रतिष्ठित हैं, उस जलभाण्ड से बहिर्भूत एक स्वल्प जलकण में भी वे सम्पूर्ण रस विद्यमान हैं। ठीक यही स्थिति यहां समझनी चाहिए। सर्वव्यापक ईश्वरतत्त्व के अंशभूत प्रत्येक पदार्थ में वे–सब ईश्वरीयभाव अणोरणीयान्, महतोमहीयान्रूप से व्याप्त हैं, जो स्वयं उस में प्रतिष्ठित हैं। अतएव किसी भी भौतिकपर्व को माध्यम बना कर तत्प्रत्ययप्रवाह प्राप्त किया जासकता है। कहना न होगा कि, पूर्व–प्रतिपादित दोनों विधाओं की अपेक्षा इस अद्वैतब्रह्मभावानात्मिका प्रतीकविधा का विशेष महत्त्व है।

१५९–उपासकों द्वारा गृहीत कूर्म्माश्वत्थ प्रतीकालम्बनों का साक्षात् ब्रह्मावयवत्व भावन एवं इस उपासनाभावना की ज्ञानकाण्ड में भुक्ति का निरूपण—

जिन तत्त्ववेत्ताओंने–'ब्रह्मैवेदंसर्वम्'–इस सञ्चर विद्या के, तथा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस प्रति–सञ्चरविद्या के तात्त्विक विश्लेषण द्वारा यह समझ लिया है कि, सम्पूर्ण विश्व उसी ब्रह्म से प्रादुर्भूत है, एवं ब्रह्म से प्रादुर्भूत सम्पूर्णविश्व समष्टि–व्यष्टिरूप से उभयथा ब्रह्मरूप ही है, उन की दृष्टि में सूर्य्य–चन्द्र–पाषाण–ओषधि–मनुष्य–पशु–पक्षी–आदि सभी उस अवयवी ब्रह्म के अवयव हैं, प्रतीक हैं। इन में से किसी

को भी दृष्टिस्थिरता के लिए आलम्बन बना कर वे इस प्रतीकमूला प्रत्ययालम्बनता से लक्ष्य पर पहुँच जाते हैं। इन के लिए प्रतिरूप, तथा आहार्य्यारोप, दोनों ही प्रतीक बन रहे हैं। न इन्हें किसी भौतिक पदार्थ में उपास्य का आरोप करना है, न किसी को उस उपास्य का प्रतिरूप मानना है। अपितु कूर्म्म, अश्वत्थ, शालग्रामादि प्रतिरूप इन की दृष्टि में प्रतिरूप नहीं, अपितु साक्षात्-ब्रह्म हैं, ब्रह्म के प्रतीक (अवयव) हैं। 'साक्षात् ब्रह्म हैं' इस भावना का ज्ञानकाण्ड में अन्तर्भाव है। उपासनाकाण्ड का तो-'ब्रह्म के प्रतीक हैं' इस भावना से ही सम्बन्ध समझना चाहिए, जो भावना अन्ततोगत्वा 'साक्षात् ब्रह्म ही है' इस भावना की प्रवर्त्तिका बन जाती है। प्रतीकविद्यात्मिका इस उपासना में कल्पना का अणुमात्र भी समावेश नहीं है, तत् में तत् का ही प्रत्यय है, साक्षाद्रूपेण ईश्वर का समाश्रय है। अतएव विजातीय भावना विरहिता ब्रह्मभाव-नात्मिका, प्रतीकवती यह उपासना उच्चाधिकारियों से सम्बन्ध रखती हुई उच्चोपासना कहलाई है।

१६०-अद्वैत भावनाशून्य केवल प्रतीकोपासना का मध्यमोपासनात्व—

लोकव्यवहारनिष्ठ ऐसे भी व्यक्तियों की कमी नहीं, जो सर्वत्र सब भौतिक पदार्थों में ब्रह्म भावना करने में असमर्थ हों। उन की लक्ष्यसिद्धि कूर्म्म-अश्वत्थ-शालग्रामादि प्राकृतिक प्रकृतियों के माध्यम से, सम्भव है। इस में अद्वैतभावना का अभाव है, अतएव इस का मध्यमाधिकारियों से सम्बन्ध माना जाएगा, एवं इसे 'मध्यमोपासना' कहा जाएगा।

१६१-विज्ञानसापेक्ष प्रतिरूप परिज्ञान, एवं तृतीय आहार्य्यारोपमूला प्रत्ययालम्बनता का निरूपण—

कूर्म्म, अश्वत्थ, शालग्रामादि प्राकृतिक प्रतिरूपों का परिज्ञान भी विज्ञान सापेक्ष है। अस्मदादि सर्वसाधारण की दृष्टि में यह भी नहीं आसकता कि, कूर्म्मादि पशु, अश्वत्थ-वटादि वृक्ष, शालग्रामशिला, उस उपास्य की प्रतिमाएं हैं। अयएव ही उन के लिए कृत्रिम प्रतिमाएं बनानी पड़ेंगी, एवं अवश्यमेव वे इन में उपास्य का आरोप करते हुए लक्ष्य पर पहुँच जाएँगे। यही तीसरी आहार्य्यारोपमूला प्रत्ययालम्बनता मानी जाएगी, जिस में विशुद्ध कल्पना का समावेश है, एवं जो उपासना मार्ग ही तत्त्वविलुप्ति से आज प्रधान बना हुआ है।

१६२-प्रतीक-प्रतिरूप आहार्य्यारोपविधा उपासनाओं का उदाहरणविधया निर्वचन—

तीनों के स्पष्टीकरण के लिए यों देखिए। पुस्तक के कोण को पकड़ कर उस में पुस्तक की भावना करना प्रतीकोपासना (अवयवोपासना) है, पुस्तक के चित्र में पुस्तक भावना करना प्रतिरूपोपासना है, एवं पाषाणादि किसी भी भौतिक पदार्थ में पुस्तक की भावना करना आहार्य्यारोपोपासना है।

१६३-प्रतीक में ईश्वर प्रत्ययात्मिका अन्यत्रान्यभावना लक्षणा आहार्य्यारोपविधा का उपासना लक्ष्यारूढ़ि स्वीकार—

मूर्त्ति को ईश्वर समझना आहार्य्यारोप है। उपासक जानता है कि, मूर्त्ति का निर्म्माण एक शिल्पी ने किया है। तथापि वह भावनामात्र से इस में ईश्वर बुद्धि कर लेता है। क्योंकि, तत्त्वतः मूर्त्ति भी सर्वव्यापक

ब्रह्म के अंश से युक्त है। अतएव उपासक की यह आहार्य्यारोपमूला कल्पित भी भावना चिरकालानन्तर प्रतीकात्मिका सत्यभावनारूप में परिणत हो जाती है, और इसप्रकार 'अन्यत्रान्यभावनात्मिका प्रत्ययालम्बनता लक्षण' इस आहार्य्यारोपविधा से सामान्य श्रेणि के उपासक भी लक्ष्यारूढ होजाते हैं। यही उपासनाकाण्ड का प्रथम सोपान (पहिली सीढी) है।

१६४-प्रत्ययालम्बनात्मक "आदित्य मुद्गीथ मुपासीत" इत्यादि रूप उपासनाओं का मध्यमाधिकारियों के लिए आवश्यकत्व—

तत्त्वदृष्टि के अभ्यासी ईश्वर की प्राकृतिक प्रतिकृतियों को आलम्बन बनाने में समर्थ होजाते हैं। वे उद्गीथ, साम, प्रणव, रूपात्मक उस के प्रतिरूपों का तात्त्विकबोध प्राप्त करते हुए अपने प्रत्यय को तत् के प्रति प्रवाहित करते हुए परम्परया लक्ष्य पर पहुँच जाते हैं। 'आदित्यमुद्गीथमुपासीत'—लोकेषु सप्त विध सामोपासीत'—'ओमित्येव ध्यायथ आत्मानम्' इत्यादि रूपा उपासनाओं का प्रतिरूप मूला प्रत्ययालम्बनता से ही सम्बन्ध है। मध्यमाधिकारियों से सम्बन्ध रखने वाली यही उपासना का द्वितीय सोपान है।

१६५-ब्रह्मचर्य्य-तपः-सत्यादि द्वारा अधिगततत्त्वदृष्टियों के लिए यच्च यावत् भौतिक पदार्थों में स्वप्रत्ययालम्बन सौविध्य—

"चिरकाल के अभ्यास से, ब्रह्मचर्य्य-तपः-सत्य-वेदानुपालन-श्रद्धा-उपनिषत्-आदि नियमोपनियमों के अनुगमन से जिन्होंने तत्त्वदृष्टि प्राप्त कर ली है, उन के लिए यच्चयावत् भौतिक पदार्थ ईश्वर के प्रतीक बन जाते हैं, ब्रह्मावयव बन जाते हैं। ऐसे तत्वद्रष्टा लोग किसी भी भौतिक पदार्थ को स्वप्रत्यय का आलम्बन बनाते हुए अवयवी के प्रति कालान्तर में तादात्म्यभाव प्राप्त करने में समर्थ होजाते हैं। यही प्रतीकमूला प्रत्ययालम्बनता है। यही उपासना का तृतीय, किंवा अन्तिम सोपान है, जिस का आरोहण उच्च अधिकारी ही कर सकते हैं। जिस दिन ऐसे उपासक की भावना प्रतीक द्वारा अवयवी पर पहुँच जायगी, द्वैत का एकान्ततः उन्मूलन हो जायगा, और उस दशा में पहुँचने के अनन्तर उपासक का यह उपासना योग विशुद्ध अद्वैतात्मक 'ज्ञानयोग' स्वरूप में परिणत हो जायगा।

१६६-आहार्य्यारोपमूला-प्रतिकृतिमूला-प्रतीकमूला प्रत्ययालम्बनता का उपासनामूल प्रतिष्ठात्मक फलश्रुति वर्णन—

इसप्रकार भारतीय महर्षियों ने अधिकारी भेद से उपासना के ये तीन ही प्रकार उपासकों के सम्मुख रक्खे हैं। आहार्य्यारोप मूला प्रत्ययालम्बनता में उपास्य सर्वथा परोक्ष है, प्रतिकृतिमूला-प्रत्ययालम्बनता में उपास्य परोक्ष है, एवं प्रतीकमूला प्रत्ययालम्बनता में उपास्य प्रत्यक्ष है। तीनों प्रत्ययालम्बनताओं का 'आधि-भौतिक माध्यम से आधिदैविक की ओर अध्यात्मका योग कर देना' ही फलितार्थ है, जो कि फलितार्थ उभ-यात्मिका उपासना की मूलप्रतिष्ठा माना गया है।

१६७-भुक्तत्रिपरिच्छेद-स्पष्टीकृत विधाओं का स्वतन्त्र विधात्व, एवं उदाहरण विनियोग्-

तीनों विधाओं का क्रमशः विभिन्न तीन परिच्छेदों में हमने जो स्पष्टी करण किया है, वे तीनों हीं स्वतन्त्र विधा हैं। यद्यपि आहार्य्यारोपविद्या को प्रतिरूपविधा का, तथा प्रतीक विधा का भी उदाहरण माना जासकता है। क्योंकि, जिस भौतिक पदार्थ में उपासक उपास्य का आरोप करता है, वह भौतिक पदार्थ-रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' के अनुसार उपास्य का प्रतिरूप भी बन रहा है, साथ ही--'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' इस तत्त्वदृष्टि से वही उपास्य का प्रतीक भी बन रहा है, एवमेव दूसरी प्रतिरूपविधा को इसी-''ब्रह्मैवेदं सर्वम्' न्याय से प्रतीकविधा भी माना जासकता है, तथापि विधाओं के निरूपण करते समय हमने उनका तत्-दुदाहरणों से ही सम्बन्ध बतलाया है। अब एक दो ऐसे उदाहरण बतला देना भी अप्रासङ्गिक न माना जाएगा, जिन में तीनों विधाओं का स्वतः एव संग्रह हो जाता है।

१६८-अहर्दिव निपेवित देवालय विशिष्टानुगत काली दुर्गा प्रभृति प्रतिमाओं में अनिर्वचनीय भक्तिभाव की एकान्त रसता एवं तत्प्रतिरूपान्तरित-सर्गों का निर्वचन---

जिस प्रकार चित्र दृष्टि से आदर्श की ओर हमारा मन आकर्षित होजाता है, गुरुचित्र से गुरु की ओर मन चला जाता है, तथैव उपासनाकाण्ड में भी रामकृष्ण की प्रतिमा दृष्टि से आदर्शरूप दशरथि, वासुदेव पर की ओर मन आकर्षित होजाता है। एवं इन के द्वारा इन के आधिदैविक व्यापक विष्णुरूपों पर ध्यान आकर्षित होजाता है। रामकृष्ण प्रतिमा आहार्य्यारोप है, दाशरथि वासुदेव प्रतिरूप हैं, व्यापक विष्णु प्रतीक है। तीनों का समन्वय होरहा है। दूसरे दृष्टिकोण से समन्वय कीजिए। किसी देवालय में हम प्रतिदिन जगदम्बा के दर्शन करने जाते हैं। उस भगवती-प्रतिमा के साथ हमारा कुछ ऐसा स्नेह होगया है कि, उस के दृष्टि से हटते ही हमारा मन व्याकुल होजाता है। अहर्निश उसी की चर्वणा बनी रहती है। अपनी इस मनोभावना को सुस्थिर अव्यवच्छिन्न बनाए रखने के लिए हम अपनी किसी कन्या में उसी नाम से वह भावना करने लगते हैं। उस के साम्मुख्य से हमें मन्दिरस्था भगवती का स्मरण होता रहता है। कन्या में उपास्य भावना आहार्य्यारोप मूला है, मन्दिरस्थ प्रतिमा में उपास्य-भावना प्रतिरूपमूला है, प्रतिमाद्वारा लक्ष्मी-भूत महामाया की प्रतीकरूपा योगमाया की प्रतीकरूपा योगमाया की उपास्य भावना प्रतीकमूला है। इसप्रकार अधिकारी भेद से तीनों विधाओं का यथास्थिति समन्वय होता रहता है। प्रक्रान्त विषय 'उपासनाभेद निर्वचन' है'। एवंदम सम्बन्ध में ये उक्त तीन विधाएं हीं हमारे सम्मुख होती हैं, जिन का सोदाहरण दिग्दर्शन कराया गया है।

* * *

इति-भक्तियोगपरीक्षायां मुत्तरखण्डे

"उपासनाभेद निर्वचनम्"

नामकं

तृतीयम् प्रकरणमुपरतम्



श्रीः

इति–भक्तियोगपरीक्षाया मुत्तरखण्डे

"उपासनाभेद निर्वचनम"

नामकं

तृतीयम् प्रकरणमुपरतम्



श्रीः

अथ-भक्तियोगपरीक्षायाम् उत्तरखण्डे

उपासना परिशिष्ट निर्वचनम्

नामकं

चतुर्थम् प्रकरणम्



श्रीः

अथ-भक्तियोगपरीक्षायाम् उत्तरखण्डे

उपासना परिशिष्ट निर्वचनम्

नामकं

चतुर्थम् प्रकरणम्

१-परिशिष्ट प्रकरणोपक्रम, 'उपास्ति' और 'वित्ति' के प्राचीनव्याख्यातृसम्मत दृष्टिकोण पर विचार विमर्शार्थ ही प्रस्तुत परिशिष्ट प्रकरण का प्रयोजन—

उपासनास्वरूप, उपासनालक्षण, एवं उपासनाभेद, तीनों का पूर्व के तीन प्रकरणों से क्रमशः विश्लेषण किया गया। अब इस उपासनापरिशिष्टनिर्वचन' नाम चतुर्थ प्रकरण में कुछ एक उन परिशिष्ट विषयों का दिग्दर्शन कराना है, जिनका पूर्व प्रतिपादित तीनों प्रकरणों से सम्बन्ध है। अतएव प्रस्तुत प्रकरण को 'परिशिष्टप्रकरण' नाम से व्यवहृत करना ही अन्वर्थ समझा गया है। उपासनास्वरूप के सम्बन्ध में 'उपास्ति', और 'वित्ति' को लक्ष्य में रखकर प्राचीन व्याख्याताओं ने जो दृष्टिकोण हमारे सम्मुख रक्खा है, क्या वह विज्ञानसम्मत है ?, उपासना के जो लक्षण पूर्व में बतलाए गए हैं, क्या उन सबका निर्विरोध समन्वय किया जासकता है ?, आहार्य्यारोप-प्रतिरूप-प्रतीक; भेद से पूर्व के तृतीयप्रकरण में उपासना की जिन तीन पृथक् पृथक् विधाओं का विश्लेषण हुआ है ?, क्या सत्यवती, अङ्गवती, उपासनाओं में उन तीनों विधाओं में अन्तर्भाव किया जासकता है ?, अथवा तो क्या सत्यवती आदि उपासना भेदत्रयी पूर्वप्रादिता उपासनाभेदत्रयी से पृथक् वस्तुतत्त्व है ?, क्या 'उपासना', और 'भक्ति' शब्द समानार्थक है ?, क्या भाव-क्रिया-द्रव्याद्वैतों का उपासना में अन्तर्भाव किया जासकता है ?, उपास्य एक है, अथवा अनेक है ?, कृष्णोपासना का क्या तात्त्विक समन्वय सम्भव है ?, भावोपासना का तात्त्विक स्वरूप क्या है ?, निदानोपासना का तात्त्विक आधार क्या है ?, आगमशास्त्रनुगता प्रतिमोपासना का क्या मौलिक स्वरूप है ?, आदि आदि परिशिष्ट प्रश्नों के तात्त्विक समाधान के लिए ही प्रकृत प्रकरण पाठकों के सम्मुख उपस्थित होरहा है।

२-शाश्वत-उभयलोककल्याणप्रद शास्त्रीय-उपासनाकाण्ड, एवं प्रतीच्यसभ्यता झञ्झावाताहत स्वधरातलभ्रष्ट भ्रान्तभारतीयों का उद्बोधक शास्त्रीय मार्ग—

यद्यपि इस में कोई सन्देह नहीं कि, ईश्वरद्वारा प्रदत्त हमारे आध्यात्मिक सहजज्ञान से सम्बन्ध रखने वाली प्राकृतिक सहज उपासना का न तो उक्त कृत्रिम प्रश्न परम्पराओं से कोई सम्बन्ध ही है, एवं इनके

शास्त्रीय-जाल से एक भावुक उपासक की आत्मतृप्ति ही सम्भव । तथापि केवल तत्त्वसमन्वय की दृष्टि से साथ ही प्रतीच्यसंस्कृति के झञ्झावात से स्वधरातल से च्युत भ्रान्त भारतीयों के उद्बोधन की दृष्टि से यह शास्त्रीय-जाल भी अवश्य ही उपादेय माना जाएगा। यही हमारा वह प्रधान लक्ष्य है, जिसे लक्ष्य बना-कर हमें इस विस्तार क्रम का अनुगमन करना पड़ रहा है। भारतीय उपासनाकाण्ड के तात्त्विक विश्लेषण के आधार पर हम वर्त्तमान पीढ़ी के शिक्षित भारतीयों को यही बतलाना चाहते हैं कि, जो उपासनाकाण्ड आज परसंसर्ग के कारण उनकी दृष्टि में तत्त्ववादशून्य, अतएव अनुपादेय सिद्ध होरहा है, उपासना के तात्त्विक स्वरूप ज्ञान से वञ्चित रहने के कारण जो देशप्रेमी इसकी शास्त्रीय मर्य्यादाओं का उपहास करना ही अपना परम पुरुषार्थ समझते हैं, उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि, यह मार्ग विशुद्ध तत्त्ववाद की अभेद्य शिला पर प्रतिष्ठित है। हम उनसे साग्रह सानुनयविनयपूर्वक निवेदन करेंगे कि, वे इन शाश्वत-उभयलोक कल्याण प्रद शास्त्रीय मर्य्यादाओं की अनुचित मीमांसा से पहिले अपने अमूल्य समय में थोड़ा समय निकालकर एकबार उन परिभाषाओं के अवलोकन का कष्ट करें, अनन्तर किसी निश्चित निर्णय के प्रदाता बनें। हमें विश्वास है, वे इस पारिभाषिक तत्त्ववाद के अवलोकन से अपने कृत्रिमभाव का परित्याग कर सहजभाव की ओर अवश्य ही आकर्षित होंगे, इसी सामयिक निवेदन के साथ प्रतिशात परिशिष्ट परिभाषाओं की ओर उनका ध्यान आकर्षित किया जाता है।

* * *

ख-क्या उपास्ति और वित्ति अभिन्न हैं ?—(नेति होवाच)।

३-वित्ति और उपास्ति का पर्य्यायनिदर्शकप्रत्न आचार्य्य दृष्टिकोण, एवं विचारान्तर विमर्श—

परिशिष्ट प्रश्नोत्थानिका का एक विशेष कारण है। सर्वकर्म्मात्यन्तविमोकलक्षण ज्ञानयोग के पक्षपाती आचार्य्य अपनी ज्ञानैकमूला अद्वैतनिष्ठा के सर्वात्मना समन्वय के लिए कुछ एक श्रौत निदर्शनों के आधार पर 'उपास्ति', तथा 'वित्ति' दोनों का अभेद मानते हुए उपासना का ज्ञानयोग में ही अन्तर्भाव कर गए हैं, जबकि तत्त्वतः उपासना ज्ञानयोग से एक पृथक् वस्तुतत्त्व है। आचार्य्यों की दृष्टि में 'वित्ति' शब्द 'उपास्ति' का पर्य्याय है। यह ठीक है कि, उपास्य के प्रति समानरूप से प्रवाहित रहने वाले आध्यात्मिक प्रत्यय (ज्ञान) की अपेक्षा से कर्म्म-ज्ञानोभयात्मिका उपास्ति वित्ति से अंशतः समतुलित है। अतएव प्रत्ययांशदृष्ट्या वित्ति को उपास्ति का अंशतः पर्य्याय माना भी जासकता है। इसप्रकार आंशिक पर्य्याय-सम्बन्ध के रहने पर भी वित्ति को उपास्ति का पर्य्याय नहीं माना जासकता। हमारा अपना तो इस सम्बन्ध में यह आत्मविश्वास है कि, संस्कृतिसाहित्य में प्रयुक्त यच्चयावत् शब्द विभिन्न अर्थों के ही वाचक हैं। 'कोई भी शब्द सर्वात्मना पर्य्याय नहीं बना सकता। नहीं बनना चाहिए, जबकि किसी भी शब्द का वर्णाकार से सर्वात्मना समतुलित नहीं है। 'सर्वे सर्वार्थवाचका दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः' इस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा जहां अद्वयब्रह्म है, वहाँ—'यत्किञ्चित् पदार्थतावच्छेदकावच्छिन्ने एव शब्दस्य शक्तिः' सिद्धान्त की मूलप्रतिष्ठा व्याव-हारिक द्वैतवाद ही माना गया है। इसी द्वैतव्यवहार के आधार पर घट, पट, मठ, आदि शब्द अन्य अर्थों के व्यावर्त्तक बन रहे हैं। उदाहरण के लिए राम, कृष्णादि शब्दों को ही लीजिए। राम, दशरथि, कोशलेश,

सीतापति, राघव, आदि सभी शब्द विभिन्न भावों के ही समर्थक माने जाएँगे। राम शब्द उपास्य भाव का दाशरथिशब्द पुत्रभाव का, कोशलेश शब्द अधिपति-भाव का, राघव शब्द वंशभाव का समर्थक है। यही भेदभाव वासुदेव, नन्दनन्दन, कृष्ण, गोपाल, आदि शब्दो में समझिए। विभिन्न धातु-प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाले विभिन्नाकाराकारित विभिन्न शब्द परस्पर सर्वात्मना पर्य्याय बन ही कैसे सकते हैं। हां, आंशिक समत्व के आधार पर अवश्य ही प्रचलित पर्य्याय-मर्य्यादा संग्रह्य मानी जासकती है।

४–उपास्य-ध्येय-लक्ष्य-प्रतीक्ष्य-अनुरोध्य-आराध्य-वेद्य शब्दों का आंशिक समार्थमूलक पर्य्यायत्व एवं एतावन्मात्र आंशिक समत्वाधारेण पूर्वाचार्यों द्वारा उपास्ति-वित्ति का समानार्थ निरूपण—

उपासनाकाण्ड को ही इस आंशिक समतुलन की दृष्टि से देखिए। उपासना द्वारा हमारा भूतात्मा उसके उप (समीप) आसीन होजाता है, उसका भक्त (भाग, अवयव) बन जाता है। इस दृष्टिकोण से उसे 'उपास्य' कहा जासकता है। उपासनात्मक मनोयोग द्वारा वह हमारे चिन्तन का विषय बना रहता है, अतएव उसे 'ध्येय' भी जासकता है। वही उपासका का मुख्य आधार बनता हुआ (निशाना बनता हुआ) 'लक्ष्य' भी कहा जासकता है। उपासनाद्वारा प्राप्तव्य बनता हुआ वही 'प्रतीक्ष्य' भी माना जासकता है। जिसप्रकार एक सेवक स्वामी के अनुरोध का अनुगामी बना रहता है, तद्वत् उपास्य का उपासक भी अनुगामी बना रहता है। इस दृष्टिकोण से उपास्य को 'अनुरोध्य' भी कहा जासकता है। उपासना द्वारा हम अपने अध्यात्म में उपास्यसम्पत्ति का आधान करते हैं। इसी दृष्टिकोण से उसे 'आराध्य' भी कहा जासकता है। उपासना द्वारा वही हमारे लिए ज्ञातव्य बनता है। अतएव उसे 'वेद्य' भी माना जासकता है। इसप्रकार उपास्य, ध्येय, लक्ष्य, प्रतीक्ष्य, अनुरोध्य, आराध्य, वेद्य, सब शब्द उक्त आंशिक सम दृष्टिकोणों के आधार पर परस्पर पर्य्याय माने जासकते हैं। इस आंशिक समत्व के आधार के पर ही श्रुतियों में उपास्ति, और वित्ति का अभेद व्यवहार प्रतिष्ठित हुआ है। इसी श्रौत अभेद व्यवहार के आधारों पर आचार्य्यों ने वित्ति को उपास्ति का सर्वात्मना पर्य्याय मानते हुए दोनों को अभिन्न मान लिया है, जबकि तत्त्वतः दोनों सर्वथा विभिन्न हैं। उपास्ति, और वित्ति के जिस आंशिक समत्व के आधार वित्ति को उपास्ति का पर्य्याय मानते हुए आचार्य्यों ने उपासना का ज्ञानयोग में अन्तर्भाव किया है, उसका आधारभूत श्रौत प्रकरण निम्न-लिखित है–

५–महर्षि प्राचीनशाल, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन और बुडिल का आत्मब्रह्मविमर्श विषयक सम्प्रश्न एवं तज्जिज्ञासाधिया पाँचों महर्षियों का उद्दालक और अश्वपति के पास उपस्थित होना—

महर्षि उपमन्यु के पुत्र प्राचीनशाल, पुलुष के पुत्र सत्ययज्ञ, भाल्लवि के पुत्र इन्द्रद्युम्न, शर्कराक्ष के पुत्र जन, अश्वतराश्व के पुत्र बुडिल, पाँचों ही महर्षि अपने समय के महाशाल, महाश्रोत्रिय, महाविद्वान् थे। उन्होंने एक बार सम्मिलित होकर आत्मस्वरूप के सम्बन्ध में यह विचार विमर्श आरम्भ

किया कि,-'आत्मा कौन है ?, ब्रह्म कौन है ?'। अपनी मीमांसा के बल पर ये पाँचों ही किसी निश्चत निर्णय पर न पहुँच सके। जिज्ञासा शान्त न हुई। अन्त में यह निश्चय हुआ कि, इस समय महर्षि अरुण के पुत्र उद्दालक ही आत्मस्वरूप के विशेष ज्ञाता है। अतः इन्हीं से आत्मस्वरूप का निर्णय कराना चाहिए। निश्चयानुसार पाँचों महाश्रोत्रियों ने गौतमाश्रम पहुँचने का संकल्प कर लिया।. महर्षि गौतम को यह विदित होगया कि, ये मुझ से अवश्य ही वैश्वानरात्मा का स्वरूप पूछेंगे। परन्तु खेद है कि, मैं भी वैश्वानरात्मा पूरा पूरा विश्लेषण नहीं कर सकता। अवश्य ही उनके परितोष के लिए किसी अन्य का आश्रय लिया जाएगा। गोतम ने यह निश्चय किया ही था कि, प्राचीनशालादि पाँचों महाश्रोत्रिद आपहुँचे और अपना संकल्प प्रकट कर दिया। गोतम ने उनके सम्मुख अपना यह विचार प्रकट किया कि, मैं स्वयं भी वैश्वानरात्मा जैसा चाहिए, वैसा स्वरूप बतलाने में असमर्थ हूँ। अश्वपति नामक महाराज कैकेय ही इस विद्या के इस समय परमाचार्य्य माने जाते हैं। वे ही आपका ठीक ठीक समाधान कर सकते हैं। अतः हम सबको वहीं चलना चाहिए।

६-औपमन्यवादि का कैकयराज अश्वपति द्वारा सत्कार, एवम् उपायन लेकर उपस्थित होना—

निश्चयानुसार सब मिल कर कैकेय-राजधानी पहुँचे। उस समय कैकेय बड़ी धूमधाम से यज्ञ के आयोजन में लगे हुए थे। जब उन्हें यह विदित हुआ कि, राजधानी में औपमन्यवादि महामर्हिष पधारे हैं, उन का बड़ा आतिथ्य किया, उन्हें स्वरूपानुसार पृथक् पृथक् अतिथिशालाओं में ठहराया, एवं भेंट लेकर स्वयं उपस्थित हुए। जब किसी ने भी राजा की भेंट स्वीकार न की, तो राजा को बड़ा खेद हुआ। कैकेय जानते थे कि, जो राजवर्ग किसी भी दृष्टि से दूषित होता था, उस समय के ब्राह्मणलोग उस राजवर्ग का अतिथ्य स्वीकार नहीं करते थे। अश्वपति के राज्य में कोई ऐसा अन्याय नहीं होता था, जिसके कारण ये इस की भेंट स्वीकार न करें। राजा चिन्तित हुआ, और अपनी निर्दोषता प्रमाणित करते हुए विनीत भाव से कहने लगा कि, महर्षियों। मेरे राज्य में कोई भी तस्कार [चोर] नहीं है। मेरे राज्य में एक भी कृपण नहीं है, एक भी द्विजाति ऐसा नहीं है, जो अग्निहोत्र न करता हो, एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं जो स्वानुरूपा विधासे अपरिचित हो। कोई व्यभिचारी नहीं है। जब व्यभिचारी ही नही है, तो व्यभिचारिणी कैसे मिल सकती है। इस प्रकार जब मेरे राज्य में धर्म्मदृष्टया किसी भी प्रकार की अव्यस्था नहीं है, तो उस दशा में मेरी भेंट क्यों स्वीकार नहीं की जाती ? मैं अपने इस अनुष्ठेय यज्ञ में सम्पूर्ण ऋत्विजों को जितनी दक्षिणा दूंगा, आप में से प्रत्येक को मैं उतनी उतनी दक्षिणा भेंट करूंगा।

७-आशासित प्राप्ति स्वीकारात्मक ऋषिगणों का उत्तर प्रतिपादन—

अश्वपति की उक्त विनय-प्रार्थना से प्रभावित होकर ऋषिगण कहने लगा, राजन्। मनुष्य का यह कर्त्तव्य है कि, वह जिस कामना से राजद्वार पर पहुँचे, उसी कामना-पूर्त्ति की आशा रक्खे। आप के राज्य में अणुमात्र भी अधर्म्माचरण नहीं है, यह हम जानते हैं। हम बिना किसी आपत्ति के आप का उपहार ले सकते हैं। परन्तु राजन्। किसी भौतिक उपहार कामना से हम यहाँ नहीं आए हैं।

हम तो आप से यही कामना रखते हैं कि, आप हमें वैश्वानरात्मा का स्वरूप बतलाने का अनुग्रह करें। 'कल प्रातः आप के सम्मुख वैश्वानात्मा का स्वरूप रक्खा जाएगा,' कह कर अश्वपति स्वभवन की ओर लौट गए।

८-शिष्य द्वारा प्रादेशमित समिधा ग्रहण, एवं प्रादेशमित समिधा के स्वरूप का निरूपण-

प्राचीनयुग में जब शिष्य विद्याध्ययन कामना में गुरु के आश्रम में जाता था, वह अपने हाथ में प्रादेशमित [१०॥ अङ्गुल की] समिधा [एतन्नामक काष्ठ] ले लेता था। विद्याद्वारा आध्यात्मिक प्राण का समिन्धन होता है। अध्यात्मिक प्राण-'प्रादेशनितो वै प्राणः'-'अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्' इत्यादि के अनुसार प्रादेशमित प्रदेश में व्याप्त रहता है। गायत्रपुरुषविज्ञान के अनुसार ब्रह्मरन्ध्र से आरम्भ कर पादतल पर्य्यन्त आठ प्रादेश व्यवस्थित हैं। एक एक प्रादेश एक एक - गायत्राक्षररूपप्राण की व्याप्ति का स्थान है। ब्रह्मरन्ध्र से कण्ठ पर्य्यन्त, कण्ठ से नाभि पर्य्यन्त, नाभि से हृदय पर्य्यन्त, हृदय में ब्रह्म-ग्रन्थि [मूलद्वार] पर्य्यन्त, इस प्रकार प्रादेश तो ऊर्ध्व भाग में व्यवस्थित हैं। चार प्रादेश अधोभाग में। शिष्य विद्याद्वारा अपने प्रादेशमित इस अष्टाक्षर गायत्रप्राण को ही प्रज्वलित करना चाहता है। इसे हाथ में लेकर सम्मुख उपस्थित होने मात्र में गुरु यह जान लेते हैं कि, यह विद्या-ग्रहण करने आया है। 'हमें पढ़ाइए'-'हम पढ़ना चाहते हैं' इत्यादि वाक्य प्रयोग करना अनुचित माना जाता था। समित्पाणि बनकर शिष्य सामने खड़ा होगया, गुरु ने पुरुष परीक्षा द्वारा उसकी योग्यता की परीक्षा की। यदि अधिकारी समझा तो, उसके हाथ से समिधा लेकर उसे उपनीय कर लिया, नहीं तो अधिकार-योग्यता सम्पादन के लिए आदेश देकर लौटा दिया। इसी आर्षमर्य्यादा के अनुसार आज ६ ओं ब्रह्मर्षि समित्पाणि बनकर राजर्षि कैकेय के सम्मुख विनम्रभाव से उपस्थित होते हैं।

९-उक्त पाँचों महर्षियों की समित्पाणि उपस्थिति और अश्वपति द्वारा वैश्वानर स्वरूप का उपदेश—

तत्समय के सुप्रसिद्ध विद्वान्, और आज वे समित्पाणि बनकर अश्वपति के सम्मुख शिष्यभाव से खड़े हैं। अश्वपति इन महाश्रोत्रियों के इस लोकोत्तर विनय से अतिशयरूपेण प्रभावित होजाते हैं। वर्णाश्रममर्य्यादा के अनन्य परिपोषक अश्वपति समिधा-ग्रहणन कर उन्हें अपने से पूज्य ही मानते हुए निवेदन करते हैं-'तान् ह अनुपनीयैव एतदुवाच'। अश्वपति ६ ओं से क्रमशः 'आप किस वैश्वानरात्म की उपासना करते हैं?' ये प्रश्न करते हैं। एवं ६ ओं श्रोत्रिय क्रमश द्यु-आदित्य-वायु-आकाश-आपः-पृथिवी इन अपने ज्ञात वैश्वानर स्वरूपों का विश्लेषण करते हैं। अन्त में अश्वपति निर्णय कर देते हैं कि, आपने पृथक् पृथक् रूप से जिसे वैश्वानरात्मा समझा है, वे ६ ओं स्वरूप एक ही वैश्वानरात्मा के विभिन्न ६ अङ्ग हैं। आप ने अङ्गों को अङ्गी मान लिया है। वस्तुतः ६ ओं की समष्टि ही वैश्वानरात्मा का कृत्स्न स्वरूप है। ऋषिमण्डल सन्तुष्ट होकर लौट जाता है-[देखिए छन्दोग्योपनिषत् ४ प्र०]।

१०–उक्त श्रौताख्यानाधारेण "उपास्ति" "वित्ति" अभेद निर्वचन एवम् शाङ्करभाष्य-प्रामाण्य का उपस्थापनं—

उक्त श्रौत आख्यान में उपास्ति, और वित्ति की अभिन्नता प्रतिपादित हुई है। 'औपमन्यव ! कं त्वमात्मानमुपास्से' ? [हे औपमन्यव ! तुम किस आत्मा की उपासना करते हो ?] इस वाक्य के अन्त में पठित 'उपास्से' से ज्ञान ही अभिप्रेत है। 'तुम किसे वैश्वानरात्मा समझ रहे हो ?' यही प्रश्न का तात्पर्य्यार्थ है। साथ ही–'दिवमेव भगवो राजन्निति होवाच' इस उत्तर श्रुति को भी यही तात्पर्य्यार्थ है कि–'मैं द्यु को ही वैश्वानरात्मा समझ रहा हूँ'। स्पष्ट ही प्रश्नोत्तरों से 'उपास्ति' द्वारा 'वित्ति' [ज्ञान] ही अभिप्रेत है। इसी आधार पर उक्त श्रुति का समन्वय करते हुए आचार्य्योंने कहा है।

"नन्वयमन्यायः–आचार्य्यः सच्छिष्यं पृच्छति–इति। नैष दोषः।
यद्वेत्थ, तेन मोपसीद, ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामि–इति न्यायदर्शनात्"।

—छान्दो० ५।११।१ शङ्कर भाष्य।

११–"औपमन्यव ! कं त्वमात्मान मुपास्से" आधारेण वित्ति-उपास्ति का अभेदान्वय निरूपण—

भाष्यकार की उक्ति का अभिप्राय स्पष्ट है। शिष्य अपनी जिज्ञासा शान्त करने के लिए गुरु समीप उपस्थित होता है। जिज्ञासा लेकर आए हुए शिष्य से आचार्य्य [गुरु यह प्रश्न करते है–'बतलाओ इस सम्बन्ध में तुम क्या जानते हो ?' क्या यह पूंछना अन्याय नहीं कर रहा। अपितु उस का इस प्रश्न से अभिप्राय यही है कि, इस से शिष्य योग्यता की भी परीक्षा होजाती है, साथ ही ज्ञातविषय के पुनरावर्त्तनदोष से भी आचार्य्य बच जाते हैं। अतः अश्वपति का–'औपमन्यव ! कं त्वमात्मानमुपास्से' प्रश्न अनुचित नहीं माना जासकता। इस प्रकार 'कं त्वम्०' इत्यादि प्रश्न श्रुति का समन्वय करते हुए भाष्यकार ने 'उपास्से' का 'यद्वेत्थ' अर्थ कहते हुए उपासि और वित्ति को अभिन्नार्थ ही बतलाया है। 'कं त्वमात्मानंजानासि' इस अभिप्राय को अपने गर्भ में रखते वाले–'कं त्वमात्मानमुपास्से' इस श्रौतवचन में, भाष्यकार के–'यद्वेत्थ, तेन मा उपासीद' इस समन्वय वचन से, उभयथा उपस्थित, वित्ति का अभेद ही प्रमाणित होरहा है। एक दूसरे उदाहरण से भी यही स्पष्ट होरहा है। 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' [ब्रह्म सू० ४।१।१।१।] इत्यादि सूत्र का भाष्य करते हुए भाष्यकारने बलपूर्वक दोनों की अभिन्नता प्रतिपादन का ही प्रयास किया है। देखिए !

"विद्युपास्त्योश्च वेदान्तेष्वव्यतिरेकेण प्रयोगो दृश्यते। क्वचिद्विदिना उपक्रम उपासिनोपसंहरति–यथा–'यस्तद्वेद यत् स वेद स मयैतदुक्तः' (छां ४।१४।) इति। अत्र–'अनु म एतां भगवो देवतां शाधि, यां देवतामुपास्से' (छां० ४।२।२।) इति। क्वचिच्चोपासिनोपक्रम्य विदिनोपसंहरति यथा–'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' (छां० ३।१८।१) इति। अत्र 'भाति च तपति कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन, य एवं वेद इति।"

—ब्र० शां० भाष्य ४।१।१।१।

* वेदान्तों में [उपनिषदों में] वित्ति और उपस्ति का पर्य्यायरूप से प्रयोग देखा जाता है। तात्पर्य्य दोनों को पर्य्याय समझा जाता है। कहीं विद धातु [विद ज्ञाने] उपक्रम कर उपास्ति से उपसंहार करते *। एवं कहीं उपास्ति से उपक्रम कर वित्ति पर उपसंहार करते हैं। अतएव मानना पड़ेगा कि, उपास्ति (उपासना), और वित्ति (ज्ञानयोग), दोनों एक ही वस्तुतत्त्व हैं। उदाहरणार्थ-'यस्तद्वेद, यत्-स वेद, स मयेतेदुक्तः' (जो उस वेध को जानता है, वह भी उस रैक्वफल का भोक्ता बन जाता है, इत्यादि श्रुति में 'वित्ति' से उपक्रम हुआ है। एवं आगे जाकर-'अनु मा एतां भगवो देवतां शाधियां देवतामुपास्से' (हे भगवन् आप जिस देवता की उपासना करते हैं, उसका स्वरूप मुझे बतलाइए !) इत्यादिरूप से उपास्ति पर उपसंहार हुआ है। एवमेव-'मनो ब्रह्मेत्युपास्व' (श्वोवसीयस् नामक अव्ययमनोब्रह्म की उपासना करो) इत्यादि श्रुति में उपास्ति से तो उपक्रम हुआ है, एवं-भातितपति च य एवं वेद' (वह प्रदीप्त होता है, तपता है, कीर्त्ति-यश-ब्रह्मवर्च्च से युक्त होता है, जो इसप्रकार उसे जानता है) इत्यादिरूप से 'वित्ति' पर उपसंहार हुआ है।

१२-ज्ञानयोगान्तर्भुक्त उपासना का निरूपण—

वित्ति (ज्ञान), किंवा वित्युपायक्रिया ही उपासना है। जबकि उपास्ति, और वित्ति दोनों अभिन्न हैं, तो 'उपास्य, एवं उपास्योपायक्रिया उपासना है'-यह कहिए, अथवा 'वित्ति, किंवा वित्युपायक्रिया उपासना है'-यह कहिए, कोई अन्तर नहीं होता। उपासना और भक्ति पर्य्याय हैं। भाग, अंश, का ही नाम भक्ति है। जिस उपाय से उपासक उपास्य की भक्ति (भाग) बनता है, दूसरे शब्दों में जिस प्रक्रिया विशेष से भक्ति प्राप्त होती है, वह प्रक्रिया विशेष की उपचारात् 'भक्ति' कहलाने लगी है। भक्ति, किंवा उपासना उपासना-कर्म्म का फल है। केवल उपचारभाव से यह उपासनाकर्म ही 'उपासना' कहलाने लगा है। जबकि उपास्ति, और वित्ति अभिन्न हैं, एक वस्तुतत्त्व है, तो वित्ति को भी उपासना कहा जासकता है, वित्युपायक्रिया को भी उपासना कहा जासकता है। निष्कर्षतः उपासना का ज्ञानयोग में अन्तर्भाव माना जासकता है।

१३-विशुद्धज्ञानघन निर्गुण ब्रह्म की "उपास्ति" नहीं, प्रत्युत "वित्ति" का सम्भवत्व, एतेन उपास्ति-वित्ति पार्थक्य-स्थापन—

उपक्रमोपसंहारात्मिका 'कं त्वमात्मानमुपास्से०' इत्यादि कतिपय वचनों के आधार पर प्रमाणित किए जाने वाले उपास्ति, और वित्ति के अभेद के सम्बन्ध में ही तटस्थ जिज्ञासु की ओर से-'क्या उपास्ति, और वित्ति अभिन्न हैं ?' यह प्रश्न उपस्थित होता है, जिस प्रश्न का फलितार्थ यही निकलता है कि,

---

* संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषत्, वेदशास्त्र के इन चार विभागों में उपनिषत्-भाग वेद का अन्तिम भाग होने से 'वेदान्त' कहलाया है। फलतः 'वेदान्तेषु' का तात्पर्य्य निकलता है-- 'उपनिषत्सु'। 'सर्ववेदान्तप्रत्यय, चोदनाद्यविशेषात्' (ब्र० सू० ३।१।१) इन सूत्र में भी उपनिषदभिप्राय से ही वेदान्त शब्द प्रयुक्त हुआ है।

क्या उपासना और ज्ञानयोग एक वस्तु है ?'। प्रश्न का तात्विक समाधान 'नेतिहोवाच' रूप से ही हमारे सम्मुख उपस्थित होता है। तत्वतः 'उपास्ति, और वित्ति, दोनों भिन्न हैं। 'य एवमुपास्ते, य उ चैनमेवं वेद' (जो उसकी इसप्रकार उपासना करता है, एवं इस प्रकार जानता है) इत्यादि श्रुति द्वारा उपास्ति, और वित्ति का सर्वथा पार्थक्य ही प्रतिपादित हुआ है। बात यथार्थ में है भी यही। उपासना का जहाँ कर्म्म समतुलित ज्ञान से सम्बन्ध है। निर्गुण आत्मा जहाँ ज्ञानयोग की प्रतिष्ठा है, वहाँ सगुण आत्मा उपासना की मूलभित्ति मानी गई है। कर्म्म-ज्ञानोभय समतुलित प्रजापति सगुणब्रह्म है, एवं कर्म्मगर्भित (बलगर्भित) ज्ञानैकघन आत्मतत्त्व निर्गुणब्रह्म है, दोनों आत्मा के अमायी, मायी विवर्त हैं। निर्गुणत्वेन आत्मा को लक्ष्य बनाने वाली विद्या निर्गुणविद्या है, यही 'वित्ति', किंवा 'ज्ञानयोग' है। निर्गुणब्रह्म अखण्ड है, एक रस है। इसकी वित्तिमात्र सम्भव है, न कि उपासना। क्योंकि उपासना-लक्षण निर्वचन प्रकरण में अनेकधा यह स्पष्ट किया जाचुका है कि, उपासना में आधिभौतिक [कर्म्म], आधिदैविक [ज्ञान], दोनों तत्त्वों का समन्वय है। उधर निर्गुण अद्वय ब्रह्म आधिभौतिक [कर्म्म] तत्त्वों को अपने गर्भ में विलीन करता हुआ विशुद्ध ज्ञान घन है, आधिदैविकमात्र है। अतएव उसका ज्ञानमात्र ही सम्भव है, न कि उपासना।

१४-प्रजापति-सान्निध्य-मूला "उपास्ति" एवम् ब्रह्मभावपरिणतिमूला "वित्ति" का निरूपण—

सगुणत्वेन प्रजापति को लक्ष्य बनाने वाली विद्या सगुणविद्या है, यही उपास्ति, किंवा भक्तियोग है। निर्गुणविद्यात्मिका वित्ति में जहाँ जीव की ब्रह्मभावपरिणति है, वहाँ सगुणविद्यात्मिका उपास्ति में जीव का प्रजापति-सान्निध्यमात्र है। ज्ञानैकतत्त्व जीव ज्ञानैकमात्र ब्रह्म में वित्ति द्वारा इसलिए अर्पित होजाता है कि, दोनों के मध्य में कोई अन्य [कर्म्मादि] व्यवधान नहीं रहता। उपास्ति द्वारा इसलिए जीव का ब्रह्म में अव्यय सम्भव नहीं है कि, दोनों के मध्य में अन्य [भौतिककर्म, और भौतिक माध्यम] व्यवधान रहता है। निर्गुणविद्यात्मका वित्ति, और वित्युपाय, दोनों वेदनात्मक ज्ञानयोग हैं। सगुणविद्यात्मिका उपास्ति, और उपास्त्युपाय, दोनों उपासनात्मक भक्तियोग हैं। इसप्रकार उपास्तिरूप भक्तियोग तथा वित्तिरूप ज्ञानयोग, दोनों के लक्ष्य आत्मा, अनुष्ठान प्रकार जब सर्वथा विभिन्न हैं, तो कैसे दोनों अभिन्न माने जासकते हैं।

१५-कर्म्म सम्पृक्त "उपास्ति" के लिए ज्ञानपरक अर्थ की (अल्पकालिक तात्पर्यावगम प्रयुक्त) स्वीकारोक्ति—

'कं त्वमात्मानमुपास्से' इस श्रुति का 'तुम किसे आत्मा समझ रहे हो ?' यही तात्पर्य्य है, न कि-'तुम किसे आत्मा समझ गए' यह। 'समझ रहे हो' में कर्म्म का समावेश है। विशुद्ध ज्ञान के लिए ही 'वित्ति' शब्द नियत है। यहाँ उसका अभाव है। अतएव श्रुति ने 'उपास्से' ही कहना उचित समझा है। थोड़ी देर के लिए हम यह भी मान लेते हैं कि, 'उपास्से' यहाँ ज्ञानपरक ही है। एतावता भी इससे ज्ञानयोग को उपासना से अभिन्न सिद्ध नहीं किया जासकता। 'उपास्य सगुण ब्रह्म का, वैश्वानरात्मा का तुमने क्या स्वरूप समझा है' यह अर्थ ही इसकी सगुणता का समर्थन कर रहा है। 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म, नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रौतसिद्धान्तानुसार ज्ञानैकघन निर्गुणब्रह्म सजातीय, विजातीय, स्वगत भेद शून्य है। उसके

सम्बन्ध में अङ्गाङ्गिभाव सर्वथा अनुपपन्न है। उधर 'कं त्वमात्मानमुपास्से' इत्यादि प्रकरण उस सगुण-देव-सत्यात्मक-स्वरूप द्यावापृथिव्य वैश्वानरात्मा से सम्बन्ध रखता है, जिसके द्यु--आदित्यादि ६ अङ्गों का उसी प्रकरण में आगे जाकर विश्लेषण हुआ है। तत्त्वतः तो यह वैश्वानरात्मा ज्ञानयोग की कौन कहे, उपासना की भी प्रतिष्ठा नहीं है। सम्वत्सरमूर्ति षडङ्ग इस वैश्वानरात्मा का तो यज्ञात्मककर्मकाण्ड से ही सम्बन्ध है।

१६-"निर्वचनीय सगुणेश्वर एवं अनिर्वचनीय निराकार ब्रह्म" आधार से उपास्ति-वित्ति पार्थक्य सङ्गमन—

इसी प्रकार उपक्रमोपसंहार के उपास्ति से भी न तो वित्ति का ही ग्रहण किया जासकता, एवं न वित्ति से ज्ञानयोग का ही संग्रह किया जासकता। 'यस्तद्वेद०' इत्यादि उपक्रमश्रुति का वही तात्पर्य्य है, जोकि—'वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' के 'वेत्थ' का है। उपसंहारश्रुति में "अनु य एतां देवता शाधि' इत्यादिरूप से 'उपास्से' पठित है। इसका भी यही स्पष्टार्थ है कि, जिसकी आप उपासना करते हैं, उसका स्वरूप बतलाइए !। अनुवचन सगुण ब्रह्म का ही सम्भव है। निर्गुणब्रह्म तो वाङ्मनस पथातीत बनता हुआ सर्वथा अनिर्वचनीय, अविज्ञेय, तटस्थ लक्षणमात्र से ज्ञेय ही है *। उसके लिए—अनु म एतां देवतां शाधि' यह कहा ही कैसे जासकता है। उसके सम्बन्ध में तो श्रुति सर्वथा तटस्थ बन जाती है। व्यावर्त्तक शब्द उस अव्यावर्त्तक का निर्वचन कर ही कैसे सकता है ÷। अतएव-'यस्तद्वेद स वेद मयैतदुक्तः' के-मया एतदुक्तः' इस वाक्याधार से सगुणब्रह्म का ही ग्रहण सम्भव है। 'मैंने तुम्हें वह स्वरूप बतला दिया' कथन स्पष्ट ही सगुणभाव का समर्थक बना हुआ है, क्योंकि निर्वचन सगुण का ही सम्भव है।

१७-विधेयपरक "उपास्ति" "वित्ति" ग्रहण एवं उभयशब्दगत अभेद का निराकरण—

'मनोब्रह्मेत्युपासीत' में उपास्ति से उपक्रम है, एवं 'भाति च तपति च य एवं वेद' इत्यादि रूप से वित्ति पर उपसंहार है। इस वित्ति का भी अर्थ अभीष्ट निगुर्णब्रह्मानुगत ज्ञानयोग नहीं है अपितु सरलता से यही तात्पर्य्य है कि, जो इस उपासना तत्त्व को जानता है, वह तेजस्वी होजाता है 'वेद' शब्द से औपासनिकतत्त्वज्ञान ही अभिप्रेत है। अतएव इस द्वितीय उपक्रमोपसंहार प्रकरण से भी उपास्ति-और वित्ति को अभिन्न नहीं माना जासकता। पहिले तो प्रकरण सगुणब्रह्मानुगत, दूसरे शब्दार्थ मर्य्यादा से पर्य्याय सम्बन्ध सिद्ध नहीं। यह सब कुछ होने पर भी यदि अभ्युपगमवाद से उपक्रमोपसंहारस्थलों के आधार पर उपास्ति-वित्ति का पर्य्याय सम्बन्ध मान भी लिया जाएगा, तो-'य एवमुपास्ते, य उ चैनमेवं वेद' का समन्वय कैसे

---

* सं विदन्ति न यं वेदाः, विष्णुर्वेद न वा विधिः।
यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥

÷ अतीतः पन्थानं तव च महिमा वाङ्मनसयोरतद्व्यावृत्या यं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि। स कस्य स्तोतव्यः कतिविध गुणः कस्य विषयः ॥

होगा ? 'त एव प्रकृत्या:' । अतएव मानना पड़ेगा कि, जिन वेदान्तप्रकरणों में उपास्ति-वित्ति से उपक्रमो-पसंहार हुआ है, वे विधेय परक ही हैं । पहिले तो-'मुझे उस देवता का स्वरूप बतलाइए, जिस देवता की आप उपासना करते हैं'-इस श्रुति से ही सगुणब्रह्मविषयिणी जिज्ञासा प्रकट होरही है । दूसरे इस का समन्वय भाव के आधार पर भी समाधान किया जासकता है । 'इङ्गितेन चेष्टितेन निमिषितेन' न्याय से महारम्भ श्रुति ज्ञानप्रकरण में उपासना का प्रकरण में ज्ञान का, दोनों का विधान करना चाहती है, और इस उभय-विधान से यही शिक्षा देना चाहती है कि, सगुणोपासनाकाण्ड में निर्गुण को मुख्य आलम्बन समझो, क्योंकि वही पारम्परिक अन्तिम लक्ष्यभूमि है । एवं निर्गुणब्रह्मानुगत ज्ञानयोग में सगुणब्रह्मानुगत लोकसंग्राहक उपा-सनाकाण्ड को भी लक्ष्य बनाए रहो । क्यों कि, कर्म्मयुक्तज्ञान ही वास्तविक ज्ञानयोग है, जो गीतापरिभाषा में 'बुद्धियोगात्मिका उपासना' कहलाई है । 'उसे जानो भी, और उपासना भी करो' इसप्रकार श्रुति उभय-विधान कर रही है । इसप्रकार उपक्रमोपसंहारविषयिणी यथयावत् श्रुतियों को उभयविधान परक मान कर भी समाधान किया जासकता है । ऐसे उपक्रमोपसंहार स्थलों से महर्षि दोनों का विधान कर रहे हैं, न कि दोनों की अभिन्नता बतला रहे हैं ।

१८-विशिष्टाद्वैतवादी एवं अद्वैतवादी दृष्टिकोण द्वारा प्रक्रान्त विषय का निरूपण—

विस्पष्टार्थक उपक्रमोपसंहार प्रकरणों के सम्बन्ध में यह संघर्ष क्यों उपस्थित हुआ ?, क्यों-अप्राकृतिक उपास्ति-वित्ति के पर्य्याय सम्बन्ध स्थापित करने के लिए व्याख्याताओं ने यह महाप्रयास किया ?, प्रश्न की भी दो शब्दों में मीमांसा कर लीजिए । विशिष्टाद्वैतवादी श्रीरामानुजाचार्य्य कहते हैं, जीव उपासना द्वारा ब्रह्म का अङ्ग (अवयव) अवश्य बन सकता है, किन्तु वह कभी ब्रह्मस्वरूप में परिणत नहीं होसकता । सालोक्य सामीप्य, सारूप्य, सायुज्यभेदभिन्ना अपरामुक्ति ही सम्भव है । समवलय लक्षणा परामुक्ति नहीं । उधर अद्वै-तवादी श्रीशङ्कराचार्य्य कहते हैं-ब्रह्म, और जीवात्मक द्वैतवाद सर्वथा कल्पित है । जीव की ब्रह्मभावपरिणति ही है, यह निर्विवाद है । परन्तु श्रुतिसिद्ध द्वैतस्वरूपों को विशुद्ध काल्पनिक मानना केवल मानना ही कहा जायगा । श्रीरामानुज विशुद्ध सगुण ब्रह्मानुयायी बनते हुए जहां विशुद्ध उपासनावादी हैं, वहां श्रीशङ्कराचार्य्य विशुद्ध-निर्गुणब्रह्मानुयायी बनते हुए विशुद्ध ज्ञानवादी हैं । कर्म्म-ज्ञानोभयात्मिका उपासना के विरोधी श्रीशङ्कर निर्गुणविद्यात्मक, कर्म्मात्यन्तविमोक लक्षण, विशुद्ध ज्ञान से ही मुक्ति मानते हैं । उधर श्रीरामानुज सगुणविद्यात्मक, कर्म्मसंग्रहलक्षण, ज्ञानकर्म्मोभयात्मक भक्तियोग को ही जीव का परमपुरुषार्थ बतला रहे हैं । अपने पक्ष समर्थन में वे-'मनोब्रह्मे त्युपासीत'-'वाचं ब्रह्मे त्युपासीत'-'विज्ञानं ब्रह्मे त्युपासीत'-'बलं ब्रह्मे त्युपासीत' इत्यादि औपासनिक वचन उद्धृत कर रहे हैं । श्रीरामानुजवत् श्रीवल्लभाचार्य्य उपासना की अपेक्षा से इसी उभयात्मक उस दृष्टिकोण का समर्थन कर रहे हैं, जो श्रीशङ्कराभिमत कर्म्मशून्य ज्ञानवाद के सर्वथा विरुद्ध जारहा है । उन का अपना इस सम्बन्ध में यह दृढ़ प्रत्यय है कि, मुक्ति का एकमात्र साधन विशुद्ध ज्ञान ही है । जबतक कर्म्म का लेश भी रहेगा, बन्धनविमोक न होगा । अपनी इसी कल्पना को सुर-क्षित रखने के लिए भाष्यकार को श्रौत औपासनिकवचनों को वित्ति परक लगाने के लिए उपास्ति और वित्ति को अभिन्न मानने का महाप्रयास करना पड़ा । कहना न होगा कि, सगुणब्रह्मानुगत उपासनाकाण्ड की दृष्टि से यह प्रयास केवल प्रयास ही बना रह जाता है । निश्चयेन उपास्ति के सम्बन्ध में श्रीरामानुज का ही सिद्धान्त जहां सर्वथा प्रामाणिक, एवं उपादेय है, वहां वित्ति के सम्बन्ध में श्रीशङ्कर का ही सिद्धान्त प्रमाणिक, एवं

उपादेय कहा जासकेगा। क्योंकि 'उपास्ति' शब्द जहां सगुणविद्या में निरूढ है, वहां 'वित्ति' शब्द निर्गुण-विद्या में निरूढ है। इसप्रकार विषय भेद मान लेने पर 'य एवमुपास्ते, य उ चैनमेवं वेद' इत्यादि सभी औपनिषद प्रकरणों का यथावत् समन्वय होजाता है। 'य उ सगुणत्त्वेन एनमुपाते, य उच्च च निर्गुणत्वेन एवं वेद' से 'उपास्ते'-वेद दोनों सुसमन्वित हो रहे हैं। परिच्छेद का निष्कर्ष यही है कि, 'वित्ति' ज्ञानकाण्ड है, 'उपास्ति' उपासनाकाण्ड है। दोनों अपनी अपनी तात्त्विक मर्य्यादा से सर्वथा विभिन्न हैं। अतएव 'क्या उपास्ति और वित्ति अभिन्न हैं?' इस प्रासङ्गिक परिशिष्ट-प्रश्न का यही तात्त्विक समाधान किया जासकता है कि,-'उपास्ति और वित्ति विषयभेद से परस्पर' सर्वथा विभिन्न हैं।"

ख

—— * * * ——

ग-उपासनात्रयीविवर्त्त—

१६-साक्षी एवं भोक्ता "सुपर्ण" का "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" निदर्शन द्वारा परिचय—

पूर्व के 'उपासना भेद निर्वचन' प्रकरण में आहार्य्यारोपविधा, प्रतिकृतिविधा, प्रतीकविधारूप से उपासना के जिन तीन विवर्त्तों का महता सम्भव से विश्लेषण हुआ है, उसी का एक विभिन्न दृष्टिकोण से प्रस्तुत परिच्छेद में समन्वय किया जारहा है। दृष्टि, और बुद्धि, दोनों के समन्वय से ही उपासना का स्वरूप निष्पन्न होता है। दोनों साधनों में प्रथम 'दृष्टि' साधन 'चाक्षुषी'-'मानसी' भेद से दोनों हीं संगृहीत है, जैसा कि 'उपासना लक्षण निर्वचन प्रकरणान्तर्गत त्रयोदश लक्षण समन्वय-परिच्छेद में स्पष्ट किया जा-चुका है (देखिए पृ० सं० २१६)। उपासना ही क्यों, कर्म्म, और ज्ञानकाण्डों की मूलप्रतिष्ठा भी ये ही दृष्टि-बुद्धियां बनती हैं। ज्ञानी, कर्म्मठ, उपासक, तीनों उपाधियों का वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञकृतमूर्त्ति भूतात्मा से सम्बन्ध है, जिसे 'जीवात्मा' कहा जाता है *। यही देहाभिमानी सप्तदशराशि युक्त + देही है, जिस का विद्याकर्म्मानुसार जन्म-मरण हुआ करता है। यही विज्ञान भाषा में 'मघ्वद'-भोक्तासुपर्ण आदि नामों से भी व्यवहृत हुआ है। देहस्थित इस भोक्ता सुपर्ण के साथ ही प्रतिष्ठित ज्ञानकर्म्मोभयात्मक वह साक्षी सुपर्ण प्रतिः

---

(१) * जीवसंज्ञोऽन्तरात्मान्यः सहजः सर्वदेहिनाम्।

मनुः.........

(२) ×-स सप्तदशकेनापि राशिना युज्यते पुनः" महाभारत....... ।५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्म्मेन्द्रिय, ४ प्राण, १ मन, १ बुद्धि,

ष्ठित है, जिसे आध्यात्मिक ईश्वर कहा जाता है ×। शरीराकाशान्तर्गत हृदयाकाश में प्रतिष्ठित दहराकाश में दोनों सुपर्ण प्रतिष्ठित हैं। दोनों सयुक् हैं, सखा हैं। एक (ईश्वर) साक्षी है, एक (जीव) भोक्ता है। इसी आध्यात्मिक सुपर्णद्वयी का, जो द्वैतमूलक उभयात्मक उपासना काण्ड की मूलप्रतिष्ठा है, निम्न लिखित शब्दों में विश्लेषण हुआ है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषष्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥···

२०–आध्यात्मिक कर्म्माधारेण लौकिक ज्ञानकर्म्मानुगतिकारिणी "अमृत सम्पत्ति" का श्रुति द्वारा स्पष्टीकरण—

पाञ्चभौतिक देह भोगायतन है, प्रज्ञा–प्राण–भूतमात्रायुक्त इन्द्रियवर्ग, और चान्द्र प्रज्ञानमन भोग-साधन हैं, सांसारिक पत्नी-प्रजा–वित्तादि भोग हैं, देही भूतात्मा भोक्ता है, कर्त्ता है। एवं बुद्धिकारयित्री है। बुद्धिरूप क्षेत्रज्ञात्मा ही 'योऽस्यात्मनः कारयिता तं क्षेत्रज्ञं·········' (मनु··············) के अनुसार कारयिता है इन्द्रिय द्वारा बहिर्मुख हैं। अतएव स्वभावतः जीवात्मा की प्रवृत्ति लौकिक ज्ञान–कर्म्मों की ओर रहती है, जो लौकिक ज्ञानकर्म्म मनोजनित आसक्ति के कारण उत्तरोत्तर मृत्युपाश को दृढमूल बनाने के कारण बनते हैं। अमृततत्त्व सम्पत्ति का एकमात्र उपाय यही है कि, देही जीवात्मा इन्हीं साधनों को अन्तर्मुख बनाता हुआ आध्यात्मिक ज्ञानकर्म्मों के आधार पर लौकिक ज्ञानकर्म्मों का अनुगमन करता है। इसी अमृत सम्पत्ति का निम्न लिखित श्रुति से स्पष्टीकरण हुआ है—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्त चक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥

२१–"अध्यात्म" के षड्विवर्त, एवं तद्गर्भस्थ अधिदैवात्मभूतात्मक त्रिविवर्तों का निरूपण—

आध्यात्मिक ईश्वर, जीवात्मा, बुद्धि, प्रज्ञानमन, इन्द्रियवर्ग, पाञ्चभौतिकशरीर, इन छः विवर्त्तों की समष्टि 'अध्यात्मम्' है, जिसके गर्भ में अधिदैवत–आध्यात्म–अधिभूत, तीनों विवर्त्त प्रतिष्ठित हैं। प्रथमस्थान अव्ययेश्वर का है, द्वितीयस्थान बुद्धि का है, तृतीयस्थान जीवात्मा का है, चतुर्थस्थान प्रज्ञानमन का है, पञ्चमस्थान इन्द्रियवर्ग का है, अन्तिमस्थान पाञ्चभौतिक शरीर का है। अव्ययेश्वर, और बुद्धि, इन दोनों की समष्टि एक स्वतन्त्र विभाग है, यही अध्यात्म संस्था गर्भित 'आधिदैविक संस्था' है। जीवात्मा, और प्रज्ञानमन, दोनों का एक स्वतन्त्र विभाग है, यही अध्यात्म संस्था गर्भित आध्यात्मिक संस्थागर्भित आधिभौतिकसंस्था है।

---

(३) × ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ गी० ·· ··· ।

१	(१)	१-अव्ययेश्वरः साक्षीसुपर्णः	—अधिदैवतम्	
	(२)	२-विज्ञानात्मा बुद्धिः		
२	(३)	१-भूतात्मा	—अध्यात्मम्	—अध्यात्मविवर्त्तत्रयी
	(४)	२-प्रज्ञानंमनः		
३	(५)	१-इन्द्रियाणि	—अधिभूतम्	
	(६)	२-पाञ्चभौतिकशरीरम्		

२२-लक्ष्य ईश्वर विवर्त को प्राप्त करनेवाला जीव विवर्त, सर्वज्ञ, हिरण्यगर्भ, विराट्-ईश्वरीय देवसत्य के तीन पर्व एवं "ईशावास्यमिदं सर्वम्" उक्ति का निर्वचन—

प्रकृत, विवर्त त्रयात्मक उक्त आध्यात्मिक विवर्त्त में युक्त अव्ययेश्वर, तथा भूतात्मा, इन दो पर्वों की ओर विशेषरूप से ध्यान आकर्षित किया जाता है। ईश्वरविवर्त्त लक्ष्य है, जीवविवर्त्त लक्ष्य पर पहुँचने वाला है। विज्ञानभाषा के अनुसार जीवानुगता देवसत्यत्रयी को ईश्वरानुगता देवसत्यत्रयी के साथ योग करना है। ईश्वरीयदेवसत्य के आधिदैविक प्रधान ज्ञानात्मक सर्वज्ञ, आध्यात्मिक प्रधान उभयात्मक हिरण्य-गर्भ, आधिभौतिक प्रधान कर्म्मात्मक विराट्, ये तीन पर्व हैं। भौतिक विराट्पर्व का पृथिवी से सम्बन्ध है, तदनुगत पार्थिव कर्म्मकलाप ही ईश्वरीय नित्ययज्ञात्मक प्राकृतिक कर्म्मकाण्ड है। आत्मिक हिरण्यगर्भ पर्व का अन्तरिक्ष से सम्बन्ध है, तदनुगत आन्तरिक्ष्य, अतएव उभयात्मक ज्ञानकर्म्मकलाप ईश्वरीय प्राकृतिक नित्यउपासनाकाण्ड है। दैविक सर्वज्ञ पर्व का द्युलोक से सम्बन्ध है, तदनुगत दिव्य ज्ञानकलाप का ईश्वरीय प्राकृतिक नित्य ज्ञानकाण्ड से सम्बन्ध है। इसप्रकार अपने सर्वज्ञ, हिरण्यगर्भ विराट्, इन तीन दिव्य, आन्तरिक्ष्य, पार्थिवरूपों से अधिदैवत-अध्यात्म-अधिभूतरूप में परिणत होता हुआ * त्रैलोक्याधिष्ठाता उत्तमपुरुष (अव्ययेश्वर) ज्ञान-उपासना-कर्म्मकाण्ड की मूलप्रतिष्ठा बन रहा है। ईश्वरसंस्था में आधि-दैवततत्त्व प्रधान है। अतएव ईश्वरीय देवसत्यत्रयीलक्षण इस नित्या काण्डत्रयी को 'आधिदैविक-योगत्रयी' ही कहा जाएगा। 'प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं, यदिदं, किञ्च'-'ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां-जगत्' इत्यादि ब्राह्मणोपनिषच्छ्रुतियों के अनुसार जङ्गम जीवप्रपञ्च, स्थावर जगत्प्रपञ्च, दोनों, विवर्त्त इसी अव्ययेश्वर के प्रवर्ग्यरूप हैं, उच्छिष्टभाग हैं। अतएव जो वस्तुतत्त्व उसमें प्रतिष्ठित हैं, वे ही उस के इन दोनों प्रवर्ग्यरूपों में मात्रातारतम्य से प्रतिष्ठित हैं। ईश्वर, जीव-जगत्, इस त्रिसंस्थान ईश्वरीय विवर्त्त का मूलकारण प्रधानतत्त्व (प्रकृति) ही माना गया है। अव्ययपुरुष से नित्ययुक्त पराप्रकृतिरूप अक्षर एवं अपराप्रकृतिरूपक्षर के समन्वय से ही विशिष्टाद्वैतमूलक त्रित्ववाद का जन्म हुआ है। अव्ययतत्त्व स्वयं

अव्ययप्राधान्य से आधिदैविक ईश्वरविवर्त्त है, अक्षरप्राधान्य से वही आध्यात्मिक जीवविवर्त्त है, एवं क्षर-सम्बन्ध से वही आधिभौतिक जगद्विवर्त्त है। सत्वानुगत अव्ययेश्वर, रजोऽनुगत अक्षरजीव, तमोऽनुगत क्षरजगत् ही क्रमशः प्राकृतिक आधिदैविक, आध्यात्मिकक, आधिभौतिक विवर्त्त हैं। त्रिवृद्भावानुगति से तीनों विवर्त्त (प्रत्येक) त्रिस्त्रिभावापन्न है। अन्तर यही है कि, आधिदैविक ईश्वरीयविवर्त्त में अधिदैवत अव्यय का प्राधान्य हैं। आध्यात्मिक जीवविवर्त्त में अध्यात्म अक्षर का प्राधान्य है। एवं आधिभौतिक जगद्विवर्त्त में अधिभूत क्षर का प्राधान्य है। आधिदैविक ईश्वरीय विवर्त्त के सर्वज्ञ, हिरण्यगर्भ, विराट्, तीनों देवसत्य क्रमशः अव्यय, अक्षर, क्षर से समतुलित हैं। आधिभौतिक जगत्-भूतसत्व विवर्त्त के चित्-प्राण-भूत, तीनों विवर्त्त क्रमशः अव्यय-अक्षर-क्षर से समतुलित है। आधिदैविक ईश्वरीय विवर्त्त के अव्ययानुगतसर्वज्ञ के साथ आधिदैविक ज्ञानयोग का, अक्षरानुगत हिरण्यगर्भ के साथ आधिदैविक उपासना का, क्षरानुगत विराट् के साथ आधिदैविक नित्ययज्ञात्मक कर्म्मयोग का सम्बन्ध है। यही सर्वाधारभूता नित्या प्राकृतिकी प्रथमा आधिदैविकी योगत्रयी है। आध्यात्मिक जीवविवर्त्त के अव्ययानुगत प्राज्ञ के साथ आध्यात्मिक कृत्रिम ज्ञानयोग का, अक्षरानुगत तैजस के साथ आध्यात्मिक उपासना का, क्षरानुगत वैश्वनर के साथ आध्यात्मिक कर्म्मयोग का सम्बन्ध है। यही जीवाधार भूता कृत्रिम द्वितीया आध्यात्मिकी योगत्रयी है जिसका ईश्वरीय योगत्रयी से योग होजाना जीव का परमपुरुषार्थ हैं, एवं जग रूपा योगत्रयी से योग होजाना जीव का अधः पतन है। आधिभौतिक जगद्विवर्त्त के अव्ययानुगत चित् के साथ आधिभौतिक लौकिक ज्ञानयोग का अक्षरानुगत प्राण के साथ आधिभौतिक उपासना का, क्षरानुगत भूत के साथ आधिभौतिक कर्म्मयोग का सम्बन्ध है। लौकिक व्यावहरिकज्ञान जीवात्मा का लौकिक ज्ञानयोग है। लौकिक स्वार्थवश लौकिक मनुष्यादि की सेवा लौकिक उपासना है। लौकिक ज्ञानाधार से लौकिक भूतसम्पत्तियों में संसक्त रहना जीवात्मा का लौकिक कर्म्मयोग है। एवमेव अलौकिक ईश्वरीय ज्ञानसम्पत्ति प्राप्त करना जीवात्मा का अलौकिक ज्ञानयोगानुगमन है, ईश्वरीय उभयसम्पत्ति प्राप्त करना जीवात्मा का अलौकिक भक्तियोगानुगमन है, एवं ईश्वरीयकर्म्म सम्पत्ति प्राप्त करना (यज्ञकर्म्म द्वारा) जीवात्मा का अलौकिक कर्म्मयोगानुगमन है। मध्यस्था जीवयोगत्रयी का यदि जगद्योगत्रयी (लौकिक योगत्रयी) से सम्बन्ध है, तो इसकी यह योगत्रयी लौकिक भावानुगता बनती हुई प्रत्यवाय का कारण बनी रह जाती है। यदि इसका अलौकिक ईश्वरीय योगत्रयी से सम्बन्ध होजाता है, तो यही प्राकृतिक ईश्वरीय योगत्रयी रूप में परिणत होजाती है। अधोऽनुगमन अधःपात का, ऊर्ध्वानुगमन ऊर्ध्वारोहण का कारण है, यही निष्कर्ष है। इन तीनों योगत्रयी-विवर्त्तों का भक्तिपरीक्षापूर्वखण्डान्तर्गत **योगत्रयी और भारतीयमहर्षि** नामक प्रकरण में विस्तार से विश्लेषण किया जाचुका हैं। प्रकृत में वक्तव्यांश यही हैं कि,-'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्' न्याय से एक ही अव्ययेश्वर अपने स्वभाविक त्रिवृद्भाव से त्रिसंस्थ बना हुआ है। जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है।

१—आधिदैविकयोगत्रयी—ईश्वरानुगता—

१—अव्ययानुगतः सर्वज्ञः——कर्म्मगर्भितज्ञानम्—[अधिदैवतम्—वित्तिः]
२—अक्षरानुगतो हिरण्यगर्भः—ज्ञानकर्म्मणी——[अध्यात्मम्—उपास्तिः]
३—क्षरानुगतो विराट्——ज्ञानगर्भितं कर्म्म—[अधिभूतम्—कर्म्म]

२—आध्यात्मिकयोगत्रयी स्वानुगता —एवं ईश्वरानुगता —एवं जगदनुगता

१—अव्ययानुगतः प्राज्ञः—कर्म्मगर्भितज्ञानम्—[अधिदैवतम्—वित्तिः]
२—अक्षरानुगतस्तैजसः—ज्ञानकर्म्मणी——[अध्यात्मम्—उपास्तिः]
३—क्षरानुगतो वैश्वानरः—ज्ञानगर्भितं कर्म्म—[अधिभूतम्—कर्म्म]

३—आधिभौतिकयोगत्रयी जगदनुगता—

१—अव्ययानुगताचित्—कर्म्मगर्भितं ज्ञानम—[अधिदैवतम्—वित्तिः]
२—अक्षरानुगतः प्राणः—ज्ञानकर्म्मणी——[अध्यात्मम्—उपास्तिः]
३—क्षरानुगतं भूतम्——ज्ञानगर्भितं कर्म्म—[अधिभूतम्—कर्म्म]

अव्ययप्रधान-मीश्वरविवर्त्तम् } अधिदैवतम्
अक्षरप्रधानं जीव-विवर्त्तम् } अध्यात्मम्
क्षरप्रधानं जगद्वि-वर्त्तम् } अधिभूत

} अध्यात्म-विवर्त्तत्रयी

२३-जीवात्मानुगत योग्यतातारतम्य से योगत्रयीयोग का सम्भवत्व, बुद्धि-प्रज्ञानमन-इन्द्रियवर्ग आध्यात्मिक विवर्तों का एतद्योग प्राप्ति में निमित्त कारणत्व, एवं बुद्धि-मन-इन्द्रिय-विवर्तों का प्राज्ञतैजस वैश्वानर द्वारा सर्वज्ञ हिरण्यगर्भ विराट् संग्राहकत्व—

अध्यात्मसंस्था में प्रतिष्ठित त्रिसंस्थात्मक ईश्वरीय आधिदैविक योगत्रयीके सर्वज्ञानुगत ज्ञानयोग, हिरण्यगर्भानुगत भक्तियोग, एवं विराडनुगत कर्मयोग योग के साथ स्वयोग्यता के तारतम्य से जीवात्मा की योगत्रयी का योग सम्भव है। इस योग के निमित्त बनते हैं, बुद्धि, प्रज्ञानमन, इन्द्रियवर्ग, ये तीन आध्यात्मिक विवर्त्त। पूर्व परिलेख [३३२ पृ०] में बुद्धि का आधिदैविक ईश्वर विवर्त्त में, प्रज्ञानमन का आध्यात्मिक भूतात्मविवर्त्त में, एवं इन्द्रियवर्ग का अधिभूत विवर्त्त में अन्तर्भाव बतलाया गया है। सूर्य्य आधिदैविक है, ईश्वरीय सर्वज्ञ से समतुलित है, क्योंकि द्युलोकस्थ आदित्योनि में आन्तरिक्ष्य वायु, एवं पार्थिव अग्नि रस की आहुति होने से आदित्य-वायु-अग्निमूर्त्ति आदित्यप्रधान सर्वज्ञ का विकास हुआ है। बुद्धि सूर्य्य का ही प्रवर्ग्य भाग है। अतएव इसे अवश्य अव्ययानुगत ईश्वरीय आधिदैविक विवर्त्त में अन्तर्भूत माना जासकता है। भूतात्मा (जीवात्मा) अक्षर प्रधान आध्यात्मिक विवर्त्त है। मध्यस्थ अक्षर मध्यस्थ अन्तरिक्ष से समतुलित रहता हुआ ईश्वरीय हिरण्यगर्भ से समतुलित है। क्योंकि आन्तरिक्ष्य वायुयोनि में दिव्य आदित्य, पार्थिव अग्निरेत की आहुति होने से ही आदित्य-वायु-अग्निमूर्त्ति वायुप्रधान आन्तरिक्ष्य हिरण्यगर्भ का उद्भव हुआ है। आन्तरिक्ष्य में वायु, इन्द्र सोम (चन्द्रमा) तीनों प्रतिष्ठित हैं। इधर प्रज्ञान मन में भी * प्रज्ञात्मक सोम, प्राणात्मक इन्द्र, दोनों के साथ साथ वायवीय क्रिया धर्म्म भी प्रतिष्ठित है। इसी सामान्य के कारण इसे अध्यात्म विवर्त्त में अन्तर्भूत माना जासकता है। मध्यस्थ हिरण्यगर्भ जैसे उभयात्मक है, एवमेव यह प्रज्ञानमन भी उभयात्मक ही माना गया है। इन्द्रियवर्ग भौतिक शरीरानुगत बनता हुआ आधिभौतिक विवर्त्त है। एवं यह आधिदैविक पार्थिव विराट् से समतुलित है। इस समतुलन के आधार पर ही यह कहा जासकता है कि, भूतात्मा के ज्ञानयोगानुगमन में बुद्धि का, उपासनानुगमन में प्रज्ञान मन का, एवं कर्मयोगानुगमन में इन्द्रियवर्ग का विशेष सम्बन्ध रहता है। बुद्धिगुक्त आधिदैविक पदार्थ बनता हुआ आधिदैविक ज्ञान ज्ञानयोग का, प्रज्ञानमन उभयात्मक बनता हुआ उभयात्मक भक्तियोग का, एवं इन्द्रियवर्ग आधिभौतिक बनता हुआ आधिभौतिक कर्मयोग का उपोद्बलक बनता है। बुद्ध्यनुगत भूतात्मा के आधिदैविक प्राज्ञ पर्व का आधिदैविक ईश्वर के सर्वज्ञपर्व से सम्बन्ध होजाता है, यही ज्ञानयोग का फल है। प्रज्ञानामनोऽनुगत भूतात्मा के उभयात्मक तैजस पर्व के उभयात्मक ईश्वरी के हिरण्यगर्भपर्व से सम्बन्ध होजाता है, यही भक्तियोग का फल है। इन्द्रियानुगत भूतात्मा के आधिभौतिक वैश्वानरपर्व का ईश्वर आधिभौतिक विराट्पर्व का सम्बन्ध होजाता है, यही कर्मयोग का फल है। इसप्रकार

---

*-"या वै प्रज्ञा, स प्राणः, । यः प्राणः सा प्रज्ञा । सहह्येतावस्मिन्-शरीरे वसतः, सहोत्क्रामतः।"

—कौ० उ०........।

आध्यात्मिक बुद्धि, मन, इन्द्रिय, तीनों पर्व प्राज्ञ-तैजस-वैश्वानर द्वारा सर्वज्ञ-हिरण्यगर्भ-विराट् के संग्राहक बनते हुए आध्यात्मिक योगत्रयी की प्रतिष्ठा बने हुए हैं।

१-ईश्वरानुगता बुद्धिः—ज्ञानम् (आधिदैविकम्)-ज्ञानकाण्डार्थः

२-भूतात्मानुगतं मनः—ज्ञानकर्म्मणी (अध्यात्मम्)-उपासनाकाण्डार्थः

३-शरीरानुगतानि इन्द्रियाणि-कर्म्म (अधिभूतम्)-कर्म्मकाण्डार्थः

* * *

१-ईश्वरः सर्वज्ञः (ज्ञानप्रधानः)-बुद्ध्यनुगतो जीवात्माप्राज्ञः——ज्ञानपथारूढः

२-ईश्वरो हिरण्यगर्भः (उभयात्मकः)-प्रज्ञानमनोऽनुगतोजीवात्मातैजस-उपासनपथारूढः

३-ईश्वरो विराट् (कर्म्मप्रधानः)-इन्द्रियानुगतो जीवात्मा वैश्वानरः—कर्म्मपथारूढः

* * *

२४-दृष्टि-बुद्धि-समन्वय प्रयुक्त उपासना, उपासना के दृष्टि बुद्धि संयोग-त्रैविध्यसमुत्पन्न त्रिविवर्त एवम् सत्य-अन्य-अङ्गवती उपासनाओं के निर्वचन का विनियोग –

काण्डत्रयी का लक्षण बतलाते हुए अनेकधा यह स्पष्ट किया जाचुका है कि, ज्ञानयोग में साधन-साध्य दोनों आधिदैविक हैं। उपासना में साधन आधिभौतिक है, साध्य आधिभौतिक है, आधिदैविक है। एवं कर्म्मयोग परीक्षा में, भक्तियोग का भक्तियोग परीक्षा पूर्वखण्ड में विस्तार से विश्लेषण किया जाचुका है। यहाँ परिशिष्टरूप से उपासनात्रयी का समन्वयमात्र करना है। जैसाकि परिच्छेदारम्भ में कहा जाचुका है, बुद्धि, दृष्टि, दोनों का समन्वय ही उपासना-निष्कर्ष है। प्राणोपासनादि में चाक्षुषी दृष्टि सम्भव हैं, अतएव वहाँ मानसी दृष्टि ही मध्यस्थ मानी जाती है। कहीं चाक्षुषीदृष्टि, कहीं मानसीदृष्टि, कहा उभयदृष्टि का समन्वय है। दृष्टि और संयोग मूला उपासना में दृष्टि बुद्धि के संयोगत्रैविध्य से उपासना के तीन विवर्त होजाते हैं। जिस पर दृष्टि हो, उसी पर भावना बुद्धि हो, यह भी सम्भव है। दृष्टि अङ्ग पर से, बुद्धि अङ्गी पर हो यह भी सम्भव है। दृष्टि अन्य पर हो, बुद्धि अन्य पर हो, यह भी सम्भव है। इस प्रकार दृष्टि-बुद्धि का समन्वय तीन प्रकार से सम्भव है। प्रथम सम्भावनानुगत उपासना सत्यवती द्वितीय सम्भावनानुगता उपासना अङ्गवती है, एवं तृतीय सम्भावनानुगता उपासना अन्यवती है। आगे के परिच्छेदों में क्रमशः तीनों का स्वरूप-दिग्दर्शन कराया जाता है।

ग

—* * *—

२५–सर्वव्यापक ईशतत्त्वानुगत व्यापकदृष्टिअनुगमन का "योग" त्व एवं सत्यवती उपासना का एतादृश "योग" तादात्म्य, अथ च "ध्यानावस्थित तद्गतेन मनसा" द्वारा तद्रूप संस्तवन—

दृष्टि, बुद्धि, दोनों के समानाधिकरण से ही यह उपासना 'सत्यवती' कहलाई। ज्ञानयोगसमनुलिता यह उपासना सर्वोच्च भूमिका में प्रतिष्ठित है। जिस पर उपासक की दृष्टि है, उसी पर उपासक की बुद्धि है। तत् में तद्भावना है, अतएव इसे 'सत्यवती' कहना अन्वर्थ बनता है। ईशतत्त्व सर्वव्यापक है। व्यापक ईश की भावना द्वारा व्यापक दृष्टि का अनुगमन करना ही 'योग' है। यह 'योग' ही सत्यवती उपासना है। सत्यवती उपासना में आरुढ उपासक ही 'युञ्जानयोगी' कहलाया युञ्जानयोगी उपासक आधिभौतिक माध्यम की कोई अपेक्षा न रखता हुआ केवल मानसी दृष्टिरूप मानसोपचार से ही उस आधिदैविक व्यापक (विश्व-व्यापक की आराधना किया करता आधिभौतिक माध्यम के अभाव से योगात्मिका विशुद्ध ध्यानात्मिका यह सत्यवती उपासना वहाँ ज्ञानयोग से समतुलित है, वहाँ मानसोपचारात्मिका मानसी दृष्टि सम्बन्ध से उभयात्मिका बनती हुई यह उपासना में भी अन्तर्भूत मान ली गई है मानसोपचार सम्बन्ध से ही, मानस भूतमात्रा सम्पर्क से ही यह ज्ञानयोगात्मिका उपासना उपासना बनी है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि, यह मानसोचार विशुद्ध मानसोपचार ही है। किसी भी स्थूल भूत का आश्रय नहीं है। मानसोपचार में संग्रहीत पत्र, पुष्प, फलादि सब कुछ माध्यम ईश्वरात्मक हैं। 'त्वदीयं वस्तुगोविन्द ! तुभ्यमेव समर्पये' भावना के आधार पर मानसभावों को व्यापक-ईश्वरात्मक समझते हुए भी उपचारधिया इन्हें साधन मान लिया जाता है उपचार यद्यपि मानसिक है, तथापि उपचार उपचार ही है। अतएव ज्ञानयोगात्मिका भी यह उपासना उपासना कोटि में ही अन्तर्भुक्त है। इस प्रकार मानसोपचार माध्यमधिया विशुद्ध ध्यान के आधार पर सत्यवती का समन्वय किया जासकता है—जिस के लिए प्रसिद्ध है कि—'ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनः'।

२६-सत्–चित्–आनन्द त्रिपर्वयुक्त सच्चिदानन्दघन ब्रह्म एवं दृश्य श्रव्य यच्चयावत् पदार्थों का "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" के अनुसार ब्रह्मरूपत्व—

दूसरे दृष्टिकोण से सत्यवती का समन्वय कीजिए। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'–'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' इत्यादि प्रतिसञ्चर-सञ्चरश्रुतियों के अनुसार जो कुछ हम देख-सुन रहे हैं, सब कुछ सच्चिदानन्दघन ब्रह्मात्मक ही है। वही अपने महामाया, योगमाया, आदि माया विवर्त्तों से सामान्य–विशेषभावों में परिणत होता हुआ अणोरणीयान्, महतोमहीयान् बना हुआ है। सत्ता उसका प्रथम पर्व है, चित् द्वितीय पर्व है, आनन्द अन्तिम-पर्व है। 'अयमस्ति' इत्याकारक सार्वजनीन अस्तिप्रत्यय ही उसका सत्तापर्व है। 'मनःप्राणवाचां संघातः सत्ता' न्याय से मनः–प्राण-वाक् की समष्टि ही सत्ता है। ये तीनों अमृतरूप हैं। तीनों से बलात्मक रूप-कर्म्म-नाम, इन तीन मर्त्यभावों का विकास हुआ है। नामरूपकर्म्मसमष्टि ही प्रत्यक्ष दृष्ट भौतिक पदार्थ हैं। प्रत्येक भौतिक पदार्थ (नामरूपकर्म्मसमष्टि) मनःप्राणवाङ्मयी सत्ता से अनुगृहीत रहता हुआ 'सत्' है। इस सदंशका हम अस्तिरूप से साक्षात् कार कर रहे हैं। यही त्रिपर्वा ब्रह्म के प्रथम सत् पर्व का प्रत्यक्ष-दर्शन है। 'अस्ति' इति ज्ञायते, घटोऽस्ति, तमहंजानामि, यह ज्ञानानुभव दूसरा चित्पर्व है। ज्ञान से आत्म–

तृप्ति होती है, तद्विषयिणी कामना इसी ज्ञान से शान्त होती है। यही तृप्तिभाव शान्तिलक्षण ब्रह्मानन्द है। इसप्रकार नामरूपकर्म्मात्मक यच्चयावत् भौतिक पदार्थ सच्चिदानन्दमयरूप से हमारे सम्मुख उपस्थित होरहे हैं। यही तत्त्वनुगता वैज्ञानिकी दृष्टि है। सर्वत्र, सब अवस्थाओं में तत् की दृष्टि-भावना करना ही दृष्टि-बुद्धि का समानाधिकरण है। यही सत्यवती उपासना का द्वितीय दृष्टिकोण है। प्रथमदृष्टिकोण में क्षीणोदर्क भावना का सम्बन्ध है, प्रस्तुत दृष्टिकोण में भूमोदर्क भावना का समावेश है। आधिभौतिक प्रपञ्च परित्यागपूर्वक मानसोपचार द्वारा मानसी दृष्टि, बुद्धि का एकत्र समन्वय करना क्षीणोदर्कलक्षण सत्यवती उपासना है। आधिभौतिक प्रपञ्च संग्रहपूर्वक ब्रह्मदृष्टि, बुद्धि का एकत्र समन्वय करना भूमोदर्कलक्षण सत्य-वती उपासना है। दोनों में द्वितीय दृष्टिकोण का ही विशेष महत्त्व माना गया हैं। क्यों कि, प्रथम में जहाँ लोकसंग्रह का अभाव है, वहाँ इसमें लोकसंग्रह भी समाविष्ट है।

२७-"एकं वा इदं विबभूव सर्वम्" उक्त्याधारेण अणु-महत्-गिरि-सर्षप मूर्त-अमूर्त-सर्वात्मरूपों में आत्मब्रह्म का व्यापकत्व—

अणोरणीयान् भी वही है, महतो महीयान् भी वही है। सामान्य भी वही है, विशेष भी वही है। वही अहः है, वही रात्रि है। वही सर्षप है, वही पर्वत है। वही सत् है, वही त्यं है। वही मूर्त्त है, निरुक्त है, अमृत है। यही अमूर्त्त है, अनिरुक्त है, अमृत है। जिसप्रकार एक बुहुरुपिया अपने लीलाचरित्र-विकास-के लिए राजा, ब्राह्मण, वैश्य, साधु, आदि विविधरूप धारण करता रहता है, एवमेव-'लोकवत्त्व लीला-कैवल्यम्' के अनुसार वही 'एकं वा इदं विबभूव सर्वम्' के अनुसार नानारूपों में परिणत होरहा है। सब उसी के विभिन्न रूप हैं, यच्चयावत् विभिन्नरूपों में वही व्याप्त है, यच्चयावत् विभिन्नरूप वही है। वही विभिन्न नामात्मक है, एवं वही विभिन्न कर्म्मात्मक है। वह एक ही आत्मब्रह्म सञ्चरदशा में त्रिधा विभक्त होरहा है, प्रतिसञ्चर दशा में एकरूप बन जाता है। देखिए।

१-'अयं वा इदं नाम-रूपं-कर्म्म। तेषां नाम्नां वागित्येतदेषामुक्थम्। अतो हिसर्वाणि नामान्युत्तिष्ठन्ति, एतदेषां साम, एतद्धिसर्वैर्नामभिः समम्। एतदेषां ब्रह्म। एतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्त्ति, रूपाणि बिभर्त्ति, कर्म्माणि बिभर्त्ति। तदेतत् त्रयं सदेक-मयमात्मा। आत्मा उ एकः सन्नेतत्त्रयम्। तदेतदमृतं सत्येन छन्नम्। प्राणो वा अमृतम्। नामरूपे सत्यम्। ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः (शत०१४।४।१ ब्रा०)।

२-"तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत्-रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शतादश"इति।
—बृ० आ० उ० २।५।१६।

*-पुरुरूपः-बहुरूपः-बहुरूपिया।

३–"वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ —कठोपनिषत् ५।१०।

४–"एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं ये ऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं, नेतरेषाम् ॥ ५।१२।

२८–पुरुरूप (बहुरूपिया) के नट विट ब्रह्म-क्षत्र रूपों के अनुसार उस बहुरूपधृक् ब्रह्म का स्वयमेव सृष्टिसर्ग के तत्तद्रूपों में स्फुटीभाव एवं "तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म, तदेवामृत मुच्यते" उपनिषद् श्रुति द्वारा तन् निर्वचन—

जिसप्रकार राजा, ब्राह्मण, वैश्य, साधु आदि रूप बहुरूपिया के अवयव नहीं है, अपितु वह स्वयं ही सर्वात्मना सत्ताविशेषरूपों में परिणत होकर हमारे सम्मुख उपस्थित होता है। एवमेव सांसारिक भौतिक पदार्थ उस बहुरूपधृक् के अवयव नहीं हैं, अपितु वह स्वयं ही तत्तद्विशेषरूपों में परिणत होकर हमारे सम्मुख उपस्थित होरहा है। 'तदेव शुक्रं, तद्ब्रह्म, तदेवामृतमुच्यते'-'यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चित्' –'पूर्णमदः पूर्णमिदम्'–'तमेवभान्तमनुभाति सर्वम्'–तदुनात्येति कश्चन'–'एतद्वै तत्' इत्यादि उपनिषच्छ्रुतियाँ उसकी इसी सर्वरूपता का समर्थन कर रही हैं। प्रत्येन भौतिक पदार्थ रसबलमूर्त्ति बनता हुआ सच्चिदानन्द है। रसभाग अमृत है, यही आधिभौतिक आधिदैविक तत्त्व है। बलभाग मृत्यु है, यही आधि-भौतिकतत्त्व है। वही अपने उभयरूप से महामाया द्वारा महतोमहीयान् मायी महेश्वर बना हुआ है, तो वही अपने उभयरूप से योगमाया द्वारा अणोरणीयात् बना हुआ है। इसके इन्हीं अवारपारीण उभयरूपों का निम्न लिखित वचन से स्पष्टीकरण हुआ है—

अणोरणीयान् महतो महीयान् आत्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः ।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम् ॥

२९–"दृष्टिबुद्ध्योः समानाधिकरण्येन पर्य्याप्ता उपासना सत्यवती" एतद् वैज्ञानिक लक्षण निदर्शिका तत्वात्मिक उपासना का निरूपण—

उक्त सर्वव्यापक ब्रह्मभावना के आधार, जो भावना सत्यात्मिका है, तत्त्वात्मिका है, यदि उपासक भौतिकपदार्थ में दृष्टि-बुद्धि का समानाधिकरणत्वेन समन्वय करने में समर्थ होजाता है, तो उसमें इस सत्य-वती उपासना के द्वारा सर्वत्र समरूप से व्याप्त 'समब्रह्म' के समत्त्व का आधान होजाता है। एवं ऐसा उपासक जीवन्मुक्त बन जाता है। यही सत्यवती उपासना दृष्टि-बुद्धि सामानाधिकरण्य से गीता के शब्दों में बुद्धियोग कहलाया है, जिसका तत्परीक्षाप्रकरण में ही विस्तार से निरूपण किया जाने वाला है। ज्ञानयोग समतुलिता, दृष्टि-बुद्धि समानाधिकरणात्मिका इस सत्यवती उपासना का वैज्ञानिक लक्षण करते हुए कहा है—

"दृष्टि-बुद्ध्योः सामानाधिकरण्येन पर्य्याप्ता उपासना सत्यवती"

—❀ घ ❀—

ङ-अङ्गवती उपासना—

३०-अद्वैतमूला सत्यवती एवं द्वैतमूला अङ्गवती उपासना, मायोपाधिक अङ्गाङ्गिभावों का अङ्गवती उपासना मूलप्रतिष्ठात्व, एवं तत्स्वरूप विश्लेषण पुरस्सर प्रतिरूप-प्रतीकात्मक भेदद्वय का नामग्रहणानुबन्धि निरूपण—

सत्यवती उपासना जहां अद्वैतमूला है, वहां अङ्गवती उपासना द्वैतमूला है। मायोपाधिक द्वैतभाव-अङ्गाङ्गिभाव ही इस अङ्गवती उपासना की मूलप्रतिष्ठा है भावनामात्र में अन्तर है। सूर्य्य, चन्द्र, पृथिवी, वैश्वानर, आदि को तद्रूप मान कर उपासना करना सत्यवती उपासना है, इन्हें ही तदङ्ग न कर इन के द्वारा अङ्गी को लक्ष्य बनाना अङ्गवती उपासना है। दृष्टि अङ्ग पर, बुद्धि अङ्गी पर यही अङ्गवती उपासना है। उदाहरण के लिए वैश्वानर को ही लक्ष्य बनाइए। द्यु, आदि वायु, आकाश, आपः, पृथिवी, रूप से वैश्वानर षडङ्ग है, षडवयव हैं। ६ ओं अवयवों की समष्टि कृत्स्न अङ्गी वैश्वानर है। ६ ओं अङ्गों की पृथक् पृथक् रूप से भी उपासना सम्भव है जैसा कि पूर्व के उपास्ति-विति रूप परिच्छेद में स्पष्ट किया जा चुका है। 'आ यो द्यां भात्या पृथिवीम्'-'वैश्वानरो यतते सूर्य्येण' के अनुसार षडङ्ग वैश्वानर सम्पूर्णरोदसी त्रैलोक्य में व्याप्त है। इस कृत्स्न-अङ्गीभूत वैश्वानर के द्यु-आदित्यादि ६ अकृत्स्न-अङ्ग हैं। इन अकृत्स्न अङ्गों में से किसी एक को दृष्टि का आलम्बन बना कर तद्द्वारा कृत्स्न-अङ्गी वैश्वानर की भावना की जासकती है। दृष्टि अकृत्स्न किसी एक अङ्ग पर है, बुद्धि कृत्स्न अङ्गी वैश्वानर पर है। अतएव इसे अवश्य ही अङ्गवती उपासना कहा जासकता है। दृष्टिकोण भेद से इस अङ्गवती उपासना के ही प्रतिरूपवती उपासना, प्रतीकवती उपासना ये, दो विवर्त हैं।

३१-अङ्गवती उपासना की अङ्गभूत प्रतिरूप-प्रतीक उपासना के स्वरूपों का निर्वचन एवं "पटैकदेशे दग्धे पटो दग्धः" न्यायानुसार अङ्गवती उपासना का सार्थक्य निरूपण—

अङ्ग को अङ्गी समझ कर उपासना करना प्रतिरूपवती उपासना है, एवं अङ्ग द्वारा अङ्गी की उपासना करना प्रतीकवती उपासना है। दोनों में ही अङ्ग माध्यम बनता है, अतएव दोनों को 'अङ्गवती' कहा जासकता है दोनों ही दृष्टिकोण तात्त्विक हैं। षडङ्ग वैश्वानर में जो धर्म्म हैं, उस के प्रत्येक अङ्ग में भी 'समुदाये ये धर्म्मास्ते अवयवेस्वपिवर्त्तन्ते' न्याय से विद्यमान हैं। इसी आधार पर 'समुदाये दृष्टः शब्दाः अवयवेष्वपि वर्त्तन्ते यथा पटैकदेशदग्धेऽपि पटोदग्धः' यह न्याय प्रतिष्ठित है। व्यापक ब्रह्म अङ्गी है, वैश्वानर अङ्ग है। अतएव वैश्वानर की ब्रह्मरूप से उपासना की जाती है। अङ्गभूत वैश्वानर अपने द्यु-आदित्यादि ६ अवान्तर अङ्गों की अपेक्षा से अङ्गी है। प्रत्येक अङ्ग उसी अङ्गी वैश्वानर के सर्व-धर्म्म समन्वय से उस का प्रतिरूप (प्रतिकृति) माना जासकता है। एवं इस प्रतिरूप भावना से युक्त अङ्गो-

---

※ एकस्य अशेषत्वं कार्त्स्न्यम् (कृत्स्नः)
अनेकेषामशेषत्व सार्व्वम् (सर्वः)

पासना प्रतिरूपवती उपासना बन रही है। जिस का पूर्व प्रकरण के–'प्रतिकृतिमूलक प्रत्ययालम्बन और उपासना' नामक परिच्छेद में सोदाहरण स्पष्टीकरण किया जाचुका है वैश्वानर के किसी भी एक अकृत्स्न अङ्ग को कृत्स्न अङ्गी वैश्वानर समझना ही प्रतिरूपात्मिका अङ्गवती उपासना है। दृष्टि अङ्ग पर है, बुद्धि अङ्गी पर है। व्यापक वैश्वानर पर बुद्धि नहीं है, अपितु इस अङ्ग को ही वैश्वानर प्रतिरूप से उपास्य बना लिया गया है। दृष्टि है उपासक की आदित्य पर, समझ रहा है वह इसे अङ्गी वैश्वानर। अकृत्स्न पर बुद्धि है। यही प्रतिरूप विधा है।

३२–अङ्गी का अङ्ग में प्रतिष्ठात्व, समुद्राभिमानी देवता का चुलुकभर समुद्रपानीय में भी अङ्गरूपेण अवस्थान, एवं अङ्गोपासना समर्थक प्रतिरूपात्मक उदाहरणों का दिग्दर्शन—

समुद्र में से अंशात्मक जल ग्रहण करने वाला मैंने समुद्रजल का ग्रहण कर लिया यह अभिमानता अवश्य ही प्रतिरूपात्मक अङ्गविधि से उस का यह अभिमान तात्त्विक है। उस की अवयवदृष्ट्यावयवी पर भावना है, जिस भावना का–'अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्' (.................) इत्यादि व्याससिद्धान्त से सम्बन्ध है। समुद्राभिमानी देवता समुद्रवत् उस के थोड़े से जल में भी प्रतिष्ठित है। थोड़े समुद्रजलग्रहण से भी वह गृहीत होजाता है। एवमेव वैश्वानर देवता व्यापक स्वरूपवत् प्रत्येक अवयव में भी यथापूर्व प्रतिष्ठित है। अतएव तत्त्वयोपासक की अवयवी भावना यथार्थ ही मानी जायगी। इसी अभिमानी देवता के सम्बन्ध से गङ्गा के यत्किञ्चित् प्रदेश में स्नान करने वाला भी–'मैंने गङ्गा में स्नान किया' यह भावना रखता है। घटजलावयवपान करने वाला –मैंने घट का पानी पीया है' यह भावना रखता है। राजसूय यज्ञ में दीक्षित राजा का १८ प्रकार पानियों से अभिषेक करने का विधान है। सर्वत्र अवयव का ही ग्रहण होता है, क्योंकि वही सम्भव है। परन्तु भावना सब अवयव जलों में अवयवी की है। इसप्रकार इन अवयवों पर चाक्षुषी दृष्टि है, इन में बुद्धिद्वारा अवयवी की भावना है। प्राण, वाक्, वायु, अग्नि, रुद्र, वरुण, सभी ब्रह्म के अवयव हैं। मानसीदृष्टिद्वारा इन में अवयवी भावना की जाती है। तत्त्वतः ये सब अङ्ग अङ्गी के धर्मों से युक्त हैं। अतएव इन्हें उस के प्रतिरूप माना जासकता है। इसी प्रतिरूपविधा के आधार पर रहस्यवेत्ताओं ने अवयवों को भी–'आदित्यो वै ब्रह्म'–'अग्निर्वै ब्रह्म' इत्यादि रूप से 'ब्रह्म' अभिधा से व्यवहृत किया है। अकृत्स्न को कृत्स्न समझना ही प्रतिरूपात्मिका अङ्गवती उपासना है।

३३–प्रतीकात्मिका अङ्गवती उपासना का उदाहरणों द्वारा निरूपण—

अवयव का ही नाम प्रतीक है। एवं प्रतीक माध्यम से अवयवी की उपासना करना ही प्रतीकरूपा अङ्गवती उपासना है। दृष्टि है वैश्वानर के किसी एक अङ्ग पर, बुद्धि है व्यापक षडङ्ग वैश्वानर पर। यही प्रतिकृतिविधा है, जिस का पूर्वप्रकरणान्तर्गत 'प्रतीकविधामूलक प्रत्ययालम्बन, और उपासना' नामक परिच्छेद में सोदाहरण स्पष्टी करण किया जाचुका है पूर्वदृष्टिकोण का–'अङ्ग में अङ्गी की भावना' यह निष्कर्ष था, इस दृष्टिकोण में–'अङ्गद्वारा अङ्गी की भावना निष्कर्ष है। दोनों में भावनामात्र का ही भेद है। एवं सुसूक्ष्म अणुमात्र भावनामात्र के भेद से ही दोनों के स्वरूप में महान् अन्तर है। गुरुचरणों को गुरु मान कर गुरु की उपासना प्रतिरूपात्मिका अङ्गवती उपासना है गुरुचरणों के माध्यम से गुरु की उपासना की भाव–

ना करना प्रतीकात्मिका अङ्गवती उपासना है । वैश्वानरावयवरूप आदित्य को षडङ्ग वैश्वानर मान कर वैश्वानरोपासना करना प्रतिरूपोपासना है । आदित्य के माध्यम से व्यापक षडङ्ग की भावना करना प्रतीकोपासना है । पहिले दृष्टिकोण में अवयवात्मक आदित्य वैश्वानर का प्रतिरूप बन रहा है, दूसरे दृष्टिकोण में यही षडङ्गव्यापक वैश्वानर का प्रतीक (अवयव) बन रहा है ।

३४–प्रतिरूप प्रतीकात्मिका अङ्गवती उपासना का अङ्गवत्त्व-सामान्यधर्म्म एवं तदुदाहरण—

'दृष्टि अङ्ग पर, भावना अङ्गी की' यह अङ्गवती उपासना का सामान्य लक्षण है । इसी के दो विभेद हैं । 'दृष्टि अङ्ग पर, उसी में भावना अङ्गी की' यह प्रतीकात्मिका अङ्गवती उपासना मानी जायगी । 'दृष्टि अङ्ग पर, तद्द्वारा भावना अङ्गी की' यह प्रतीकात्मिका अङ्गवती उपासना कही जायगी । घर में आनीत गाङ्गेय में गङ्गाभावना करना प्रतिरूपवती उपासना है । एवं इस के द्वारा वाराणसी गङ्गा की भावना करना प्रतीकवती उपासना है । इस में उस की भावना करो यह प्रतिरूप विधा है, इस के द्वारा उस की भावना करो' यह प्रतीकविधा है । अङ्गत्त्व दोनों में अक्षुण्ण है । अतएव अङ्गवती दोनों का सामान्य नाम है ।

३५–आहार्य्यारोप और अङ्गवती उपासना का पार्थक्य, दृष्टि-बुद्धि वैय्यधिकरण्येन अङ्गवती-आहार्य्यारोपा-उपासना के सामान्य समत्व पर भी "अङ्गे अङ्गिभावनम्" पार्थक्य का सत्तात्व—

इसमें उसे समझो'–'इसके द्वारा उसे समझो' इन निर्वचनों से इस उभयविध अङ्गवती उपासना में आहार्य्यारोप का सम्बन्ध नही समझ लेना चाहिए । 'अन्यत्रान्यभावना' ही आहार्य्यारोप का लक्षण हुआ है । वह यहाँ घटित अवश्य होरहा है । परन्तु तत्त्वतः यहाँ उस लक्षण का समन्वय नही होरहा । एक पाषाण को वैश्वानर समझना ही आहार्य्यारोप कहलाएगा । आरोप विशुद्ध कल्पना से सम्बन्ध रखता है । यहां तो आदित्य, गाङ्गेय, प्राण, अग्नि, आदि–वैश्वानर, गङ्गा, ब्रह्म के साक्षात् अवयय हैं । तत्तदङ्गियों के तत्तदङ्गो पर ही दृष्टि है । दृष्टि–बुद्धिवैय्यधिकरण्येन यद्यपि अङ्गवती, और आहार्य्यारोपवती में समानता है । तथापि–'पाषाण पर दृष्टि रखकर, तन्माध्यम से वैश्वानर पर बुद्धि रखना', इस वैय्यधिकरण्य में, एवं–आदित्य पर दृष्टि रखकर तद्द्वारा वैश्वानर पर बुद्धि रखना' इस वैय्यधिकरण्य में अहोरात्र का अन्तर है । दृष्टिवैय्यधिकरण्यमात्र की अपेक्षा से ही इस अङ्गवती उपासना का–'अन्यत्रान्यभावनाबुद्धिरुपासनम्' यह लक्षण किया जासकता है, जिसका तत्त्वतः यही निष्कर्ष निकलता है कि—'अङ्गे–अङ्गिभावनाबुद्धिरुपासनम्' । उधर आहार्य्यारोपात्मिका उपासना के–'अन्यत्रा०' इत्यादि लक्षण का–'अतद्भावे तद्भावनाबुद्धिरुपासनम्' यही निष्कर्ष निकलता है । केवल गाङ्गेय दृष्टान्त से दोनों का समन्वय कीजिए । गृहानीत गङ्गाजल पर दृष्टि रखते हुए इसीमें व्यापक गङ्गा की भावना करना प्रतिरूपात्मिका अङ्गवती उपासना है । गृहानीत गङ्गाजल पर दृष्टि रखते हुए तद्द्वारा वाराणसी गङ्गा की भावना करना प्रतीकात्मिका अङ्गवती उपासना है । एवं गृहानीत गङ्गाजल पर दृष्टि रखते हुए तद्द्वारा व्यापक परमेष्ठी विष्णु की उपासना आहार्य्यारोपात्मिका उपासना है । उभयविध अङ्गवती उपासनाओं में, एवं अन्तिम आरोपोपासना में दृष्टि–बुद्धि का वैय्यधिकरण्य समान हैं ।

परन्तु तत्त्व विभिन्न हैं। अङ्गवती में आरोप नहीं है, वस्तुतत्त्व लक्षीभूत है। अन्यत्र गङ्गा में पारमेष्ठ्य विष्णु का आरोप है।

३६–अकृत्स्न में कृत्स्नभावनात्मिका प्रतिरूपा, अकृत्स्न द्वारा कृत्स्नभावनात्मिका प्रतीका-उपासना, एवं "अकृत्स्नपर्य्याप्तदृष्टिसमर्पितायाः भावनाबुद्धेः पर्य्याप्तत्वे अङ्गवती" वैज्ञानिक लक्षण का निदर्शन—

परिच्छेद–निष्कर्ष यही है कि, अकृत्स्न में कृत्स्न भावना करना प्रतिरूपोपासना है, अकृत्स्न–द्वारा कृत्स्नभावना करना प्रतीकोपासना है। दोनों में दृष्टि अङ्ग पर है, बुद्धि अङ्गी पर है, अतएव दोनों को ही 'अङ्गवती' उपासना कहा जायगा। जिस प्रकार दृष्टि–बुद्धि वैय्यधिकरण्य की अपेक्षा से अङ्गवती, और आरोपवती में समानता रहने पर भी दोनों के स्वरूप में अहोरात्र का अन्तर है, एवमेव प्रतिरूपवती, प्रतीकवती, इन दोनों अङ्गवती उपासनाओं में अङ्गत्वेन समानता रहने पर भी परस्पर महान् अन्तर है। दोनों में प्रतिरूपात्मिका अङ्गवती उपासना अवरकक्षा में प्रतिष्ठित है। क्योंकि इसमें अङ्ग को ही अङ्गी माना जाता है। अङ्गी को ही अङ्गी मानना सीमित दृष्टिकोण है। दूसरी प्रतीकात्मिका अङ्गवती उपासना पर कक्षा में प्रतिष्ठित है। क्योंकि, इसमें अङ्ग को ही अङ्गी नहीं माना जाता। अपितु अङ्ग द्वारा व्यापक अङ्गी की भावना की जाती है। यही दोनों का विभेद है, जिसके आधार पर एक ही अङ्गवती के ऋषियों ने दो विभिन्न विवर्त मान लिए हैं। वैज्ञानिकों ने इसी उभयविध अङ्गवती उपासना का विश्लेषण करते हुए कहा है—

'अकृत्स्नपर्य्याप्तदृष्टिसमर्पिताया भावनाबुद्धेः पर्य्याप्तत्वे–अङ्गवती'

— इ —

ञ–अन्यवती उपासना—

३७–द्वैतमूलाऽपि तत्त्वानुगता अङ्गवती, द्वैतानुगतिकाऽपि कल्पनामूला अन्यवती-उपासना एवं दोनों की पार्थक्यकारिणी उक्तियों का दिग्दर्शन—

अङ्गवती उपासना जहाँ द्वैतमूल बनती हुई भी तत्त्वानुगता है, वहाँ अन्यवती उपासना द्वैतानुगति के साथ साथ कल्पनामूला ही मानी गई है। 'अतद्वस्तुनि तद्भावनाबुद्धि द्वारा तद्वस्तु भावनम्' ही अन्यवती उपासना है। दृष्टिस्थिरता पूर्वक मनःस्थैर्य्य के लिए किसी भी अभिलषित धातु–पाषाणादि बिम्बों पर दृष्टि निक्षेप करते हुए उसमें उपास्य की बुद्धि रखते हुए स्वप्रत्यय को प्रवाहित करना ही अन्यवती उपासना है। दृष्टि आधिभौतिक किसी भी माध्यम पर, बुद्धि तद्द्वारा आधिदैविक उपास्य पर, यही अन्यवती उपासना है, जिसका 'आहार्य्यारोपविधा' रूप से पूर्वप्रकरणान्तर्गत—'आहार्य्यारोपमूलक प्रत्ययालम्बन, और उपासना' नामक परिच्छेद में सोदाहरण स्पष्टीकरण किया जा चुका है।

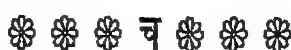
३८–प्राकृतिक-सम्वत्सर यज्ञमण्डलान्तर्गत पुराण-नूतन गार्हपत्य-धिष्ण्याहवनीय-अग्नि-यूप-होता-उद्गाता-यजमानादि का सर्वोत्पादक आधिदैविक संवत्सर यज्ञपुरुषत्व, एवं एतन्निदर्शन द्वारा आहार्य्यारोपमूला अन्यवती उपासना का वैदिकोदाहरण-धिया निरूपण—

प्राकृतिक सम्वत्सर यज्ञ मण्डल में भूपिण्ड पुराणगार्हपत्य है, त्रिवृत्स्तोमान्त (नवमं अहर्गणपर्य्यन्त) पार्थिवभाग नूतनगार्हपत्य है, पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न अष्टविध नाक्षत्रिक अग्नि अष्टविध धिष्ण्याग्नि, है, सप्तदशस्तोमवच्छिन्न दिव्याग्नि आहवनीय है, एकविंशस्तोमस्थ सूर्य्य 'यूप' है, पार्थिव अग्नि होता है, आन्तरिक्ष्य वायु अध्वर्यु है, दिव्य आदित्य उद्गाता है, अवनुगत चन्द्रमा ब्रह्मा है, भूकेन्द्र से २१ पर्य्यन्त व्याप्त समष्टिलक्षण प्राणाग्नि यजमान है। यही आधिदैविक वह सम्वत्सर यज्ञ पुरुष है, जिससे सब कुछ उत्पन्न हुआ है। तदनुरूप ही आध्यात्मिक यज्ञ पुरुष का स्वरूप निर्म्माण हुआ है। मूलग्रन्थ्यनुगत अपान पुराणगार्हपत्य है, नाभि–हृदयमध्यवर्त्ती समानाग्नि नूतनगार्हपत्य है, दक्षिणपार्श्वस्थ जठराग्नि दक्षिणाग्नि है, तेजोनाड़ी भुक्त दिव्य प्राणाग्नि आहवनीय है, ब्रह्मरन्ध्रावस्थिता इन्द्र स्वरूप रक्षिका शिखा यूप है, शारीर पार्थिव वैश्वानराग्नि होता है, तैजस वायु अध्वर्यु है, प्राज्ञ आदित्य उद्गाता है, प्रज्ञानमन ब्रह्मा है, आलोमभ्यः आनखाग्रेभ्य व्याप्त भूतात्मा यजमान है। इस प्रकार आधिदैविक यज्ञ इस आध्यात्मिक पुरुष यज्ञ से सर्वात्मना समतुलित है। इसी आधार पर 'यज्ञो वै पुरुषः' 'पुरुषो वै यज्ञः' इत्यादि निगमवचन प्रतिष्ठित हैं। इसी उभयात्मक यज्ञ धिया के आधार पर आहार्य्यारोपविधा के द्वारा आधिभौतिक मनुष्य–प्रयत्न साध्य वैध यज्ञ का वितान किया जाता है। नियत हविर्वेदे में आधिदैविक भूपिण्ड का, वर्त्तुलगार्हपत्यकुण्ड में प्राकृतिक पुराणगार्हपत्य का, दक्षिणभागस्थ अर्द्धचन्द्राकार दक्षिणाग्निकुण्ड में दक्षिणाग्नि का, हविर्यज्ञ के चतुष्कोण आहवनीय में नूतनगार्हपत्य का, आहवनीय से आरम्भ कर यूप पर्य्यन्त व्याप्त सोमवेदि में महिमापृथिवी का, अष्टविध मार्जालीयादि धिष्ण्याग्नि कुण्डों में नक्षत्राग्नि का, उत्तरावेदिमध्यस्थ चतुष्कोण आहवनीय में दिव्य आहवनीय का, यूप में सूर्य्य का, ऋग्वेदि होता में अग्नि का, यजुर्वेदी अध्वर्यु में वायु का, सामवेदी उद्गाता में आदित्य का, त्रैविध ब्रह्मा में चन्द्रमा का आहार्य्यारोप किया जाता है। इन आधिभौतिक यज्ञिय स्थावर–जङ्गम माध्यमों के द्वारा वे आधिदैविक तत्त्व संगृहीत होते हैं। यही-यज्ञकर्म्मात्मिका आहार्य्यारोपमूला अन्यवती उपासना का एक वैदिक उदाहरण माना जासकता है, जिसका उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका–प्रथमखण्ड के–'उपनिषच्छन्द रहस्य' नामक प्रकरण में विस्तार से विश्लेषण हुआ है।

३९–मनः स्थैर्यार्थ प्रयुक्त अन्यवती उपासना, झञ्झातालमृदङ्ग पुरस्सर क्रियमाण उपासनाओं का (सन्तमत का) भी अन्यवती उपासना में अन्तर्भाव एवं सर्वथा विलुप्त आर्षधर्म्मानुबन्धिनी उद्गीथ-वैश्वानर-हिङ्कार-प्रणवादि उपासनाओं के पुनः प्रतिष्ठापन के लिए विद्वत् समाज से आग्रहावेदन—

अतिशयरूपेण विषयासक्त लौकिक मनुष्य की दृष्टि भूतप्रधान बन जाती है। बिना अभिलषित भौतिक माध्यमों के उसका मन स्थिर नहीं होता। उसीके कल्याण के लिए यह अन्यवती उपासना विहित है। नृत्य,

गीत, वाद्य, शृङ्गार विविधाहार विहार-परायण व्यक्ति के मनोभावों को अधिदैवत लक्षणा ईश्वर सम्पत्ति से युक्त करने का एकमात्र ऋजु उपाय यही है कि, उसे इन्हीं के माध्यम से उस ओर आकर्षित किया जाय। आकर्षक बिम्ब [प्रतिमाएं] उसके सम्मुख रक्खें जाय। विशाल-भव्य-सुन्दर-मन्दिरों में उन्हें प्रतिष्ठित किया जाय। विविध व्यञ्जनोपकरणों से, नृत्य-गीत-वाद्यादि से महासमारम्भ द्वारा वाद्योपासना पद्धति का अनुगमन किया जाय। अवश्य ही इन आरोपित, आकर्षक माध्यमों से शनैः शनैः दर्शनभक्त उपासकों का मन अधि-दैवत सम्पत्ति की ओर आकर्षित होगा। इन अन्यभावनाओं के द्वारा भी तद्गर्भित तद्भावना के अनुस्यूत रहने से कालान्तर में उपासक तद्भावना का अधिकारी बन जायगा। यही अन्यवती उपासना कहलाएगी, जिसका वर्त्तमान भारत में अनन्य प्रभुत्त्व है, एवं जिस प्रभुत्व का परमश्रद्धेय श्री महाप्रभु की सम्प्रदाय में [वल्लभसम्प्रदाय में] सर्वात्मना समन्वय होरहा है। सर्वथा कल्पित भी यह अन्यवती उपासना तत्समाधि-कारियों के लिए अवश्य ही उपादेय मानी जासकती है, जिसका मूल रूपान्तर से पूर्वकथनानुसार स्वयं वेद में भी प्रतिष्ठित है। 'अन्य में अन्य का आरोप' यही इस अन्यवती उपासना का मूल है। एक दो स्थानों पर ही नहीं, अपितु शत-सहस्र स्थानों में पदे पदे, विशेषतः वेद के यज्ञकर्मात्मक ब्राह्मणभाग में इस मूल का समर्थन हुआ है। अतएव तन्मूला वैष्णवसम्प्रदायानुगता वर्त्तमानयुगीया अन्यवती उपासना की भी प्रामाणिकता, तथा उपादेय में कोई सन्देह नहीं रह जाता है। झञ्झा-ताल-मृदङ्ग वादन पुरस्सर होने वाला नामसंकीर्त्तन, रथयात्रा, जन्माष्टमी, रामजयन्ती, आदिमहोत्सव, आदि आदि यावयावत वर्त्तमानयुगीय भक्ति-मार्गों का जिसे हम अपनी परिभाषा में 'सन्तमत' कहा करते हैं, इसी अन्यवती उपासना में अन्तर्भूत है। सन्तमतानुगामिनी अन्यवती उपासना की प्रामाणिकता, तथा उपादेयता में अणुमात्र सन्देह न करते हुए भी इस सम्बन्ध में यह स्पष्ट कर देना भी प्रामाणिक, तथा उपादेय ही माना जायगा कि, आर्षधर्म सम्बन्ध रखने वाली सम्यवती' अङ्गवती-उपासनाओं की उपेक्षा कर केवल सन्तमतानुगामिनी अन्यवती उपासना पर ही उपासना-काण्ड का अवसान मान लेना कथमपि प्रामाणिक, तथा उपादेय नहीं कहा जासकता। जहां अन्यवती उपासना का आविर्भाव किसी अज्ञातयुग में शास्त्ररहस्यानभिज्ञ-लोकव्यवहारनिमग्न सर्वथा निम्न श्रेणि के व्यक्तियों के लिए हुआ था, आज के लक्ष्मीदास भारत में वहां सर्वत्र इसीका प्रचार-प्रसार होजाना यह प्रमाणित कर रहा है कि, वर्त्तमानयुग में आर्षधर्म्मानुगता तत्त्वोपासना सर्वथा विलुप्त होगई है। उपासना काण्ड का यही वह दुःखद इतिवृत्त है, जिसके प्रभाव से भारतीय तत्त्वोपासना आज उपहास का साधन बन रहा है। अथवातो बनता जारहा है। वेदशास्त्रोपवर्णिता आरण्यकोपासना से सम्बन्ध रखने वाली उद्गीथो पासना, वैश्वानरोपासना, हिङ्कारोपासना, प्रणवोपासना, प्राणोपासना, आदि तात्त्विक उपासनों की उपेक्षा कर केवल अन्यवती उपासना के अनुगमन से कथमपि उपासनाकाण्ड की मौलिक प्रतिष्ठा सुरक्षित नहीं रक्खी जाती। क्या हम आशा करें कि, देश का वह विद्वत्समाज-जो लक्ष्मीदासों का अनुगामी बन कर झञ्झा-ताल-मृदङ्गवाद्यनिरति का अनुगामी बना हुआ है-अपने इस विस्मृत तात्त्विक दृष्टिकोण का स्मरण कर विलुप्त आर्षधर्म्म का पुनः प्रतिष्ठापन करेगा ?



छ-सर्वसंग्रह—

४०-"श्रद्धामयोऽयं पुरुषः" उक्ति के अनुसार श्रद्धामयी भावना के आनुगत्य से तारतम्य से-सत्यवती-अङ्गवती-अन्यवती-उपासनाओं के त्रिविवर्त का सत्तात्त्व, एवं तत्समाधानकारक उदाहरण—

"तं यथा यथो पासते, तथैव भवति"-श्रद्धामयोऽयं पुरुषः, यो यच्छ्रद्धः स एव सः' इत्यादि श्रौतस्मार्त सिद्धान्तानुसार केवल आध्यात्मिकी श्रद्धामयी भावना के तारतम्य से ही उपासनाकाण्ड सत्यवती, अङ्गवती, अन्यवती भेद से त्रिधा विभक्त होरहा हैं। उदाहरण के लिए एक ही दृष्टान्त को लक्ष्य बनाकर इन तीनों का समन्वय किया जासकता है। षडङ्ग वैश्वानर के अवयवरूप आदित्य को 'सर्वंखल्विदंब्रह्म' इस ब्रह्मभावना से साक्षात् ब्रह्म समझ कर आदित्योपासना करना 'सत्यवती' उपासना है। यहाँ दृष्टि, और बुद्धि दोनों का लक्ष्य आदित्यब्रह्म ही है, दोनों का सामानाधिकरण्य है। रसबलात्मक ब्रह्मरूप आदित्य का रसभाग आधिदैविक है, बलभाग आधिभौतिक है। उभय समन्वय से ही यह ब्रह्मभावना उपासनालक्षण के अन्तर्भूत है। इस प्रकार ब्रह्मभावना से दृष्टि—बुद्धि को समानलक्ष्य बनाती हुई आदित्योपासना सत्यवती उपासना का उदाहरण बन रही है।

४१-प्रतीकात्मिका अङ्गवती उपासना का स्वरूप निर्वचन—

आदित्य साक्षात् ब्रह्म नहीं है, अपितु ब्रह्म का अवयव है, अङ्ग है, यह भावना है। इस भावना से आदित्यावयव को लक्ष्य बनाकर इसी में व्यापकब्रह्म की भावना करना, अकृत्स्न आदित्यावयव को कृत्स्न ब्रह्म समझना प्रतिरूपात्मिका अङ्गवती उपासना है। यहाँ दृष्टि का आधारभूत आदित्य आधिभौतिक है, बुद्धि का आधारभूत व्यापक ब्रह्म आधिदैविक है। उभयसमन्वयात्मिका यही आदित्योपासना 'तस्मिन् तद्भावना' रूपा प्रतिरूपोपासना है, जिसमें अवयवात्मक आदित्य पर दृष्टि रखते हुए अवयवी ब्रह्म पर बुद्धि की प्रतिष्ठा है। देखा जारहा है अवयव है, समझा जारहा है इसी अवयव को अवयवी ब्रह्म। यही इस अङ्गवती उपासना की प्रतिरूपता है। दृष्टि अङ्ग पर है, इसलिए तो यह अङ्गवती है, समझा जारहा है अवयव को ही ब्रह्म, अतएव यह प्रतिरूपवती है।

आदित्य ब्रह्म का अवयव है, इसे लक्ष्य बनाया गया, दृष्टि का आधार माना गया। एवं इसके द्वारा भावना की गई व्यापक ब्रह्म की। प्रतिरूपविद्या में अवयव को अवयवी समझना था, यहाँ अवयव द्वारा अवयवी की भावना करना है। प्रतिरूपविद्या में अवयव को ही अवयवी माना गया था, यहाँ अवयव का अवयवत्व सुरक्षित रखते हुए तद्द्वारा व्यापक अवयवी ब्रह्म की उपासना की जाती है। क्योंकि यहाँ अवयव (प्रतीक) भाव पूर्णरूपेण सुरक्षित है, अतएव इसे प्रतीकात्मिका अङ्गवती उपासना कहा जायगा।

४२–"अन्यस्मिन्नन्यभावनात्मिका" उपासना (दृष्टिबुद्धि-आत्यन्तिक-वैय्यधिकरण्य-सम्बद्धा कल्पिता) का निरूपण—

न तो आदित्य को व्यापक ब्रह्म समझा, न ब्रह्मावयव समझ कर इसमें अवयवी ब्रह्मभावना की, एवं न ब्रह्मावयव समझते हुए इसके द्वारा व्यापक अवयवीब्रह्म की भावना की। अपितु इसे साधारण भौतिक जड़पदार्थ समझा। जड़ समझ कर इसे दृष्टि का आलम्बन बनाया गया। एवं इस भौतिक माध्यम में आधिदैविक ब्रह्म का आहार्यारोप किया गया। यहाँ दृष्टि ब्रह्मातिरिक्त आधिभौतिक आदित्य पर है, भावनात्मिका बुद्धि आधिदैविक व्यापक ब्रह्म पर है। अतएव दृष्टिबुद्धि के आत्यन्तिक वैय्यधिकरण्य से सम्बन्ध रखने वाली-'अन्यस्मिन्नन्यभावनात्मिका' यह कल्पितोपासना अन्यवती उपासना कहलाई है।

४३–सत्यवती अङ्गवती अन्यवती उपासनाओं का लक्षण समन्वय—

उसी वस्तु में उसी वस्तु की भावना करना सत्यवती उपासना है। उसी वस्तु के अवयव में उसी वस्तु की भावना करना प्रतिरूपात्मिका अङ्गवती उपासना है। उसी वस्तु की भावना करना प्रतीकात्मिका अङ्गवती उपासना है। एवं अन्य वस्तु में अन्य वस्तु की भावना करना अन्यवती उपासना है, जैसाकि निम्नलिखित लक्षणों से स्पष्ट होरहा है—

१–यत्र दृष्टिः,	तत्रैव बुद्धिः	—सत्यवती
२–अवयवे दृष्टिः,	बुद्धिस्तत्रावयविनः	—प्रतिरूपात्मिका अङ्गवती
३–अवयवे दृष्टिः,	बुद्धिस्तद्द्वारावयविनः	—प्रतीकात्मिका अङ्गवती
४–अन्यत्र दृष्टिः,	अन्यत्र बुद्धिः	—आरोपात्मिका अन्यवती

* * *

१–दृष्टिबुद्धयोः समानाधिकरण्येन पर्य्याप्ता	—सत्यवती
२–अकृत्स्नपर्य्याप्तदृष्टिसमर्पिताया भावनाबुद्धेस्तत्रैवपर्य्याप्तत्त्वे	—प्रतिरूपात्मिका अङ्गवती
३–अकृत्स्नपर्य्याप्तदृष्टिसमर्पिताया भावनाबुद्धेरन्यत्रपर्य्याप्तत्त्वे	—प्रतीकात्मिका अङ्गवती
४–दृष्टिबुद्धयोः सर्वथा व्यधिकरणत्त्वेन	—आरोपात्मिका अन्यवती

* * *

१–तस्मिन् तद्भावना —सत्यवती

२–तदवयवे तद्भावना —प्रति० अङ्गवती

३–तदवयवद्वारा तद्भावना —प्रती० अङ्गवती

४–अतद्वस्तुनि तद्भावना —आरो० अन्यवती

* * *

१–तस्य तत्त्वेन बुद्धिः —सत्यवती

२–तदवयवेव तत्त्वेन बुद्धिः —प्रति० अङ्गवती

३–तदवयवद्वारा तत्त्वेन बुद्धिः —प्रती० अङ्गवती

४–अतद्वस्तुनि तत्त्वेन बुद्धिः —आरो० अन्यवती

* * *

* सत्यवती उपासना–ज्ञानयोग समतुलिता

१–प्रतिरूपात्मिका अङ्गवती उपासना —प्रतिकृतिमूला प्रत्ययालम्बनता (२३८–३१५)

२–प्रतीकात्मिका अङ्गवती उपासना —प्रतीकमूला प्रत्ययालम्बनता (३१६–३१६)

३–आहार्य्यारोपात्मिका अन्यवती उपासना —आहार्य्यारोपमूला प्रत्ययालम्बनता (२२१–२३७)

———* * * छ * * *———

ज–योगत्रयी का तारतम्य—

४४–उक्त तीनों विवर्तों का भक्तियोग साधर्म्य निरूपण—

ज्ञान, उपासना, कर्म्म इन तीन योगों के जो लक्षण हुए हैं, उन के अनुसार सत्यवती, उभयाङ्गवती, अन्यवती, तीनों उपासनाविवर्त्तों को 'आधिभौतिकसाधनत्त्वे सति, आधिदैविक साध्यत्त्वमुपासनत्त्वम्' इस लक्षणानुसार 'उपासना' कहा जासकता है। 'उपासना', और 'भक्ति' दोनों में आंशिक समानता के कारण पर्य्याय सम्बन्ध है। इस दृष्टि से तीनों हीं उपासनाविवर्त्तों को भक्तियोग भी कहा जासकता है। परन्तु तत्त्वतः तीनों में से मध्यस्थ अङ्गवती उपासना को ही (जिस के प्रतिरूप, प्रतीक-नामक दो अवान्तर विवर्त्तों का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है) वास्तविक उपासना, किंवा भक्तियोग कहा गया जायगा। क्योंकि 'भाग' भावात्मिका अंशोपासना का अङ्गवती उपासना से ही सम्बन्ध है। दृष्टि-बुद्धि-सामानाधिकरण्यलक्षणा प्रथमा सत्यवती उपासना, एवं दृष्टि-बुद्धिरात्यन्तिक व्यधिकरणलक्षणा अन्यवती उपासना, ये दोनों क्रमशः ज्ञानयोग, भक्तियोग, एवं भक्तियोग, कर्म्मयोग से ही समतुलित हैं।

४५–ज्ञानयोग–समतुलिता "उपासना" नामाधिकारिणी "सत्यवती" उपासना—

'आधिदैविकसाधनसाध्यत्वं ज्ञानयोगत्त्वम्' लक्षण से सम्बन्ध रखने वाले ज्ञानयोग से सत्यवती उपासना समतुलित है। एवं–'आधिभौतिकसाधनसाध्यत्वं कर्म्मयोगत्त्वम्' लक्षण से सम्बन्ध रखने वाले कर्म्मयोग से अन्यवती उपासना समतुलित है। पहिले सत्यवती उपासना को ही लीजिए। सत्यवती उपासना में दृष्टि–बुद्धि समानाधिकरण लक्षण ब्रह्मभाव का समावेश है। युञ्जानयोगी से सम्बन्ध रखने वाली मानसोपचारात्मिका ध्यानात्मिका इस उपासना में आधिभौतिक साधन की प्रतिच्छायामात्र है। यदि भौतिक साधन हैं–भी, तो 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' से उन में आधिदैविक ब्रह्मभावना ही है। मानसोपचारात्मिका क्रिया के सम्बन्ध से तो इसे विशुद्ध ज्ञानयोग नहीं कहा जासकता, साथ ही आधिभौतिक के प्रत्यक्ष सम्बन्ध न होने से इसे भक्तियोग भी नहीं कहा जासकता। अतएव इसे ज्ञानयोग, और भक्तियोग, दोनों के मध्य की वस्तु मानलिया जाता है। यही उपासना 'उपासना' नामाधिकारिणी है। एवं उपासना, और भक्तियोग में यही सुसूक्ष्म विभेद है। तन्मध्यन्याय से इसे ज्ञानयोग में भी अन्तर्भूत माना जासकता है, अतएव इस दृष्टि से इसे ज्ञानयोग से समतुलित कहा जासकता है। एवं भक्तियोग में भी अन्तर्भूत माना जासकता है, एवं इसी दृष्टि से भक्तियोग से समतुलित कहा जासकता है।

४६–भक्तियोग–ज्ञानयोग मध्यभुक्त "सत्यवती" उपासना का उभयनिष्ठ आंशिकधर्म्म युक्तत्व —

सर्वविध लौकिक कर्म्म परित्याग पूर्वक व्यापकबुद्ध्या मानसभावाश्रयद्वारा युञ्जानावस्था में अवस्थित योगियों के द्वारा उपास्य तत्त्व से सम्बन्धन रखने वाली उपासना ही 'सत्यवती' उपासना है। इस साध्य युञ्जानावस्था से जब युञ्जानयोगि सिद्धावस्था में पहुँच कर युक्त योगी बन जाते हैं, तो उस समय मानस–भौतिक प्रतिच्छाया का एकान्ततः अभाव होजाता है। यही ज्ञानयोगावस्था है, जिस का प्रथम सोपान ध्यानात्मिका सत्यवती उपासना ही बनती है। मानस क्रिया में ध्येय–ध्यातारूप से सत्यवती में द्वैत है, इसलिए तो यह उपासनात्मिका है, साथ ही भावदृष्ट्या अद्वैत है, अतवए यह ज्ञानात्मिका उपासना है। इस प्रकार अङ्गवतीनामक भक्तियोग, एवं विशुद्ध ज्ञानयोग, दोनों में मध्यमें भुक्त सत्यवती उपासना दोनों के आंशिक धर्म्मों से युक्त रहती हुई दोनों से समतुलित मानी जासकती है।

४७–"सेवा" नाम्ना व्यवहृता "अन्यवती" उपासना का सम्प्रदायभाषा में "भगवत् सेवा" नाम्ना व्याहरण, एवं इसका भक्तियोगान्तर्भुक्तत्व—

यही अवस्था अन्यवती उपासना की है। जिस प्रकार 'सत्यवती' नामक भक्तियोग को 'उपासना' नाम से व्यवहृत करना अन्वर्थ बनता है, एवमेव इस 'अङ्गवती' उपासना को 'सेवा' नाम से व्यवहृत करना अन्वर्थ माना जायगा। सम्प्रदायभाषा में भी यह भौतिक–कल्पित–अन्यवती उपासना 'भगवत्सेवा' इस रूप से 'सेवा' नाम से ही व्यवहृत हुई है। जिस प्रकार सत्यवती उपासना अङ्गवती नामक अभिलक्षणा उपासना से उच्चश्रेणि में प्रतिष्ठित है, एवमेव अन्यवती नामक सेवायावात्मिका उपासना अङ्गवती से निम्न कोटि में प्रतिष्ठित है। भगवन्नाम, प्रतिम्बिम्बात्मकरूप का स्मरण–दर्शन, षोडशोपचारात्मिका परिचर्य्या, ये ही अन्यवती के प्रधान अलम्बन हैं। इन सब में भौतिकभाव का ही प्राधान्य है। साधन तो सर्वात्मना भौतिक हैं हीं,

साध्य आधिदैविक उपास्य भी भूतभावों से ही आक्रान्त है। अतएव इस दृष्टिकोण से इसे हम 'आधिभौतिक साधनसाध्यत्वं कर्म्मयोगत्त्वम्' लक्षणानुसार कर्म्मयोग से भी समतुलित मान सकते हैं। फल क्योंकि इस का आधिदैविक ही (जोकि फल सम्प्रदाय भाषा में भगवच्छरणागति कहलाया है), अतवए इसे भक्तियोग से भी समतुलित माना जासकता है।

४८–आधिभौतिक-आधिदैविक-समसमन्वयात्मिका "अङ्गवती" उपासना एवं इसका वास्तविक "भक्तियोगात्मकता" निरूपण–

आधिदैविक–आधिभौतिक, दोनों का सम समन्वय तो एकमात्र मध्यस्थ अङ्गवती उपासना के साथ ही घटित होता है। अतएव 'भाग' लक्षणा भक्तिमर्य्यादा का पूर्ण समन्वय यहीं सम्भव है। यही वास्तविक वैदिक भक्तियोग है, जिस का–'आदित्यं ब्रह्मेत्युपासीत'-'वाग्ब्रह्मेत्युपासीत'–'उद्गीथमुपासीत' इत्यादि प्रतिरूप, एवं प्रतीकविधाओं से विश्लेषण हुआ है। सत्यवती उपासना वस्तुतः ज्ञानयोग ही माना जायगा। एवमेव अन्यवती उपासना वस्तुतः कर्म्म–योगही माना जायगा। संदंशपतित होने से इन्हें उपासना, सेवानामों से भी व्यवहृत किया जासकेगा।

४९–आधिदैविक–आधिभौतिक–आधिदैविकाधिभौतिक (उभय) समभावापन्न योगत्रयी, एवं इनकी व्याख्या का उपसंहार–

आरम्भ में विशुद्ध आधिदैविक ज्ञानयोग, अन्त में विशुद्ध आधिभौतिक कर्म्मयोग, मध्य में आधिदैविक-आधिभौतिकसमभावापन्न भक्तियोग (अङ्गवती उपासना), इस प्रकार तीन हीं मुख्य योग हैं, यही सुप्रसिद्धा योगत्रयी है। कर्म्मयोगनिष्ठ की प्रारम्भिक उपासना अन्यवती है, इस की युञ्जानावस्था है। इस अभ्यास से कालान्तर में यह युक्तावस्था में परिणत होजाता है। अन्यवती उपासक की युक्तावस्था ही अङ्गवती उपासना है। अङ्गवती उपासना के अनन्तर (भक्तियोगानन्तर) जिस युञ्जान भूमिका में उपासक आरूढ होता है, वही युञ्जानावस्था सत्यवती उपासना है। इस की युक्तावस्था ज्ञानयोग है। तात्पर्य्य इस परम्परा से यही निकलता है कि, कर्म्म और भक्ति की मध्यस्था भूमिका का नाम अन्यवती रख दिया गया है, जिसके द्वारा कर्म्मठ भक्तियोग का अधिकारी बनने में समर्थ होजाता है। एवं भक्ति और ज्ञानयोग की मध्यम भूमिका नाम सत्यवती रखदिया गया है, जिस के द्वारा भक्त ज्ञानयोग का अधिकारी बनने में समर्थ हो जाता है। अधिकारी भेद से तीनों योगों की व्यवस्था क्रमशः व्यवस्थित है। जो जन्मान्तर में पूर्व सोपान समाप्त कर चुके हैं, शुक–व्यास-पराशरादि अवश्य ही जन्म से ही युक्तावस्था में परिणत रह सकते हैं। परन्तु अस्मदादि साधारण लौकिक मनुष्यों का कल्याण तो क्रमधारावलम्बन पर ही निर्भर है।

५०–मनः–प्राण–वाक्–प्रधान ज्ञान–भक्ति–कर्म्म त्रिकाण्ड का निष्कर्ष--स्तवन–

योगत्रयी के उक्त प्रासङ्गिक तारतम्य से हमें इसी निष्कर्ष पर पहुंचना पड़ता है कि, वस्तुतः मनःप्रधान ज्ञानकाण्ड, प्राणप्रधान भक्तिकाण्ड, वाक्प्रधान कर्म्मकाण्ड, भेद से काण्डतीन ही हैं। केवल उभयतारतम्य से मध्यस्थ भक्तिकाण्ड के पराक्–अर्वाक् पार्श्वों में दो सांयोगिक काण्ड और उत्पन्न हो जाते हैं, जिन का दोनों से समतुलन सम्भव है। इन्हीं उभय सांयोगिक भावों से भक्तिकाण्ड के तीनविवर्त्त होजाते है। सम्भूय तीन के अवान्तर पाँच विवर्त्त होजाते हैं, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है—

ज्ञानम्

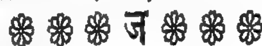
१–आधिदैविक साधनसाध्यत्वं ज्ञानयोगत्वम् ज्ञानयोगः
(*) भावाद्वैत–क्रिया–द्वैतरूपत्वं–उपास्तित्वम् उपासना (सत्यवती उपासना) (१)
२–आधिदैविकाधिभौतिक समत्वं भक्तियोगत्वम् भक्तियोगः (अङ्गवती उपासना) (२) —भक्तिः
(*) ईश्वर भावानुगत द्वैतभावत्वं–सेवात्वम् सेवा (अन्यवती उपासना) (३)
३–आधिभौतिक साधन साध्यत्वं कर्म्मयोगत्वम् कर्म्मयोगः

कर्म

१– १–ज्ञानयोग——शुद्धज्ञानयोगः–युक्तावस्था (ज्ञानी)

२– २–सत्यवतीउपासना—भक्तिज्ञानयोर्मध्यावस्था युञ्जाना (ज्ञाने-आरूढः)
३–अङ्गवतीउपासना—शुद्धभक्तियोगः–युक्तावस्था (भक्तः)
४–अन्यवतीउपासना–भक्तिकर्म्मणोर्मध्यवस्था युञ्जाना (भक्तौ-आरूढः)

३– ५–कर्म्मयोगः——शुद्धकर्म्मयोगः (कर्म्मठः)



भ- उपासनाफलदिग्दर्शन—

एकविध सत्यवती उपासना, द्विविध अङ्गवती उपासना, एकविध अन्यवती उपासना, इस प्रकार उपासनात्रयी के चार विवर्त्त हो जाते हैं। साम्प्रदायिक भाषा में उपासना के फल सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य, भेद से चार भागों में विभक्त माने गए हैं। कर्म्म, उपास्ति, ज्ञान, तीनों योग अदृष्ट आमुष्मिक फल के जनक हैं। तीनों के अदृष्ट फल क्रमशः स्वर्ग, अपरामुक्ति, परामुक्ति, माने गए हैं। कर्म्मफल (यज्ञफल) स्वर्गावाप्ति है, उपासनाफल अपरामुक्ति है, ज्ञानफल परामुक्ति है। अपरामुक्ति ही उपासना चातुर्विध्य से सालोक्यादि चार भागों में विभक्त हुई है। 'अन्यस्मिन्नन्य भावनात्मिका' अन्यवती उपासना से उपासक सालोक्यभाव का अधिकारी बनता है। 'तदवयवद्वारा तद्भावात्मिका' प्रतीकात्मिका अङ्गवती उपासना से सामीप्य भाव का अधिकारी बनता है। 'तदवयेव तद्भावात्मिका' प्रतिरूपात्मिका अङ्गवती उपासना से सारूप्यभाव का अधिकारी बनता है। एवं 'तस्मिन् तद्भावनात्मिका' सत्यवती उपासना से 'सायुज्यभाव' का अधिकारी बनता है। सायुज्यभाव समवलय भाव से सन्निकट है, समवलय की प्रतिच्छाया से युक्त है। एतावता ही ज्ञानयोग समतुलिता सत्यवती उपासना को हमने पूर्व में समवलयात्मिका परामुक्ति की प्रवर्त्तिका बतला दिया है। परन्तु वस्तुतः यह है सायुज्यभावात्मिका अपरामुक्ति की ही प्रवर्त्तिका उपासना। कोई सी भी हो, उन के द्वारा द्वैतभाव का आत्यन्तिकरूप से उच्छेद नहीं होता। एवं जब तक द्वैत का आत्यन्तिक उन्मूलन नहीं होजाता, तबतक समवलयात्मिका परामुक्ति की प्रवृत्ति नहीं होसकती। वक्तव्य इस फलमीमांसा से प्रकृत में यही है कि, उपासना के अनन्तर चार विवर्त्त ही औपासनिक अपरामुक्ति फल के चातुर्विध्य की मूलप्रतिष्ठा है। एक ही उपासनाकाण्ड के चार विभिन्न फल कैसे होगए ?, प्रश्न की यही संक्षिप्त उपपत्ति है। उपासनात्वेन अपरामुक्ति फल एक है। उपासनावान्तरभेद चातुर्विध्य से सालोक्यादि विभिन्न चार फल हैं, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है।

ज्ञानम् [१–ज्ञानयोगः —तत्फलं परामुक्तिः समबलयभावः]—परामुक्तिः

उपास्तिः	१–सत्यवती उपासना	—तत्फलं–सायुज्यभाव	—अपरामुक्तिः
	२–प्रतिरूपात्मिका अङ्गवती उपासना	—तत्फलं–सारूप्यभावः	
	३–प्रतीकात्मिका अङ्गवती उपासना	—तत्फलं–सामीप्यभावः	
	४–आरोपात्मिका अन्यवती उपासना	—तत्फलं–सालोक्यभावः	

कर्म [१–कर्मयोगः —तत्फलं–स्वर्गावाप्तिः]—स्वर्गः

—* * * 卐 * * *—

आ–उपासना, और द्वैताद्वैतमीमांसा—

५२–द्वैताद्वैतमूलसम्प्रतिष्ठित कर्म्म-ज्ञान-काण्ड, कर्म-ज्ञानोभयकाण्डमध्यवर्ती उपासना काण्ड, एवम् सत्यवती-अन्यवती-अङ्गवती-उपासनाभुक्त द्वैतादि का निरूपण—

ज्ञानकाण्ड अद्वैतभाव की, कर्म्मकाण्ड द्वैतभाव की मूलप्रतिष्ठा माना गया है। उपासनाकाण्ड अद्वैतलक्षण ज्ञानकाण्ड, एवं द्वैतलक्षण कर्मकाण्ड, दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित है। अतएव इसे उभयात्मक माना जासकता है। और कहा जासकता है कि, उपासनाकाण्ड की प्रथम अन्यवती भूमिका में कर्म्मद्वैत से उठकर उपासक द्रव्याद्वैत की ओर उन्मुख होता है, उभयविध अङ्गवती उपासना में द्रव्याद्वैत से उठकर क्रिया द्वैत की ओर अग्रेसर होता है। सत्यवती उपासना में क्रियाद्वैत से उठकर भावाद्वैत की ओर अग्रेसर होता हुआ ज्ञानभूमिका का आश्रय लेकर परमाद्वैतसम्पत्ति का अधिकारी बन जाता है। इसप्रकार उपासक द्वैतभाव से क्रमशः आगे बढता हुआ सत्यवती द्वारा अन्ततोगत्वा अद्वैत का अनुगामी बन जाता है। अतएव उपासनाकाण्ड द्वैताद्वैतोभयलक्षण माना जासकता है। प्रकृत परिच्छेद में उपासनाकाण्ड से सम्बन्ध रखने वाले इसी द्वैताद्वैत की संक्षिप्त मीमांसा मुख्य लक्ष्य है।

५३-आहार्य्यारोपमूला अन्यवती उपासना के स्वरूप का सोदाहरण निरूपण—

क्रमप्राप्त पहिले आहार्य्यारोपमूला, आलोक्यफलानुगता अन्यवती उपासना को ही लक्ष्य बनाइए। जिसप्रकार एक मनुष्य अर्थदासतोन्मुख बनता हुआ अपने स्वामी की परिचर्य्या में संलग्न रहता है, उसे स्नान कराता है, वस्त्र पहिनाता है, भोजन कराता है, पैर दबाता है, तथैव अन्यवती उपासना में आरूढ उपासक एक पाषाणमयी प्रतिमा में उपास्यभावना द्वारा परिचर्य्यात्मक उन सब सेवाभावों का आधान करता है। एक भयत्रस्त सेवक की भांति यह उपासक बड़े नियम से, सतर्कता से भौतिक द्रव्यात्मक साधनों के द्वारा भौतिक द्रव्यात्मक बिम्ब की सेवामें रत रहता है। यहां द्वैतका यद्यपि आत्यन्तिक साम्राज्य है, तथापि

जिसकी यह परिचर्य्या करता है, वह क्यों कि अद्वैतमावापन्न है, अतएव द्वैतमूला भी इस अन्यवती उपासना से (जिसमें भूत सम्बन्ध से प्रव्याद्वैत का ही प्राधान्य है) कालान्तर में उपासक द्रव्याद्वैत भावनिष्ठ बना जाता है। यही इसकी सालोक्य सम्पत्ति है।

५४-द्रव्याद्वैतनिष्ठ अन्यवती उपासक का अङ्गवती-आनुगत्य-निरूपण एवम् "योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽहम्" मूलक क्रियाद्वैतभावना का उपासक में उदय—

द्रव्याद्वैतनिष्ठ अन्यवती का उपासक आगे चलकर अङ्गवती का अनुगामी बनता है। अन्यवती में जहाँ वह अपने आपको उस उपास्य से पृथक् उसका एक लघुसेवक समझता था, वहाँ अङ्गवती में वह अपने आपको उसी का एक अवयव समझने लगता है। इसकी सम्पूर्ण क्रियाएँ अङ्गबुद्धया सम्पन्न होती है। 'योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽहम्' इस क्रियाद्वैतभावना का उदय होजाता है। प्रतीकात्मिका अङ्गवती उपासना द्वारा क्रियाद्वैतात्मक सामीप्यभाव का पात्र बनता हुआ प्रतिरूपात्मिका अङ्गवती उपासना में आरुढ होकर सर्वात्मना क्रियाद्वैतवादी बन जाता है। यही इस अङ्गवती उपासक की सारूप्य सम्पत्ति है।

५५-क्रमशः द्रव्याद्वैत-क्रियाद्वैतनिष्ठा-परम्परान्तरित उपासक द्वारा अन्यवती-अङ्गवती-उपासनाऽनन्तर प्राप्त सत्यवती-उपासनाक्षेत्र प्रवेश, तद्द्वारा "योऽहं सोऽसौ, योऽसौ सोऽहम्" इत्याकारक भावाद्वैतानुगत सायुज्य सम्पत्ति-मोक्तृत्व एवम् उपनिषद् वचनों द्वारा एतादृश शाश्वत "अमृत-सम्पत्ति" का दिग्दर्शन—

क्रियाद्वैतनिष्ठ उपासक आगे चलकर सत्यवती उपासना क्षेत्र में आरूढ होता है। अङ्गवती में जहाँ-अङ्गभावना थी, वहाँ इस सत्यवती में-'योऽहं सोऽसौ, योऽसौ, सोऽहम्' इत्याकारक भावाद्वैत का अनुगामी बनता हुआ सायुज्य सम्पत्ति का भोक्ता बन जाता है। यहाँ आकर भूतसम्बन्ध का आत्यतिक रूप से उच्छेद होजाता है। केवल मानसोपचार रहता है। इसके आध्यात्मिक प्रत्यय (ध्यान) का उस आधिदैविक प्रत्यय (ध्येय) के साथ समान-प्रवाह होजाता है, ध्याता (उपासक), ध्यान (मानसोपचार), ध्येय (उपास्य) तीनों एक रेखा से संयुक्त होजाते है। यही द्वैत है। यही इस युञ्जनयोगी की युञ्जानावस्था (साध्यावस्था) है। आगे चलकर इस ध्यानयोगात्मिका, समानप्रत्यय प्रवाहलक्षणा सत्यवती उपासना से जिस दिन ध्याता-ध्यान-ध्येय, तीनों का एक ही बिन्दु में समन्वय होजाता है, मानसोपचार का भी आत्यान्तिक उन्मूलन होजाता है, रहजाता है केवल ज्ञान। यही अद्वैतत्रयी से परे की शुद्धाद्वैतावस्था है। यही युञ्जानयोगी की युक्तावस्था (सिद्धावस्था) है, यही विदेहमुक्तिलक्षण समबलयात्मिका निष्काम-अकाम-आत्मकाम भावात्मिका वह शाश्वत अमृतसम्पत्ति है, जिसका निम्न लिखित शब्दों में विश्लेषण हुआ है-

> यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ॥
> बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमांगतिम् ॥१॥

तां, योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रिय धारणाम् ॥
अप्रमत्तस्तदा भवति योगोहि प्रभवाप्ययौ ॥२ ॥ (कठोपनिषत् ६।१०,११, ।)

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा ये ऽस्य हृदि स्थिताः ॥
अथ मर्त्योऽमृतो भवति, अत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ बृ० आ० उप० ४।४।७।

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ । मनोगतान् ॥
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ १॥ गी० २।५५।

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्म्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधि गच्छति ॥ गी० २७१

५६—कर्म्मयोग एवं त्रिविधोपासनाकाण्ड में येन-केन-रूपेण सम्बद्ध "काम", एवं औपनिषद्निरुक्ति द्वारा तत् स्पष्टीकरण—

विशुद्धाद्वैतनात्मक कर्म्मयोग एक प्रकार का कामयोग है। द्रव्याद्वैतात्म, अन्य वती उपासनारूप मैत्रभाव लोकात्मक कामयोग है। क्रियाद्वैतात्मक, श्रद्धवती उपासनारूप भक्तिभाव क्रतु'मक्रतु'-फलभावलक्षण सर्वकामयोग है। भावाद्वैतात्मक, सत्यवती उपासनारूप उपास्तिभाव आत्मकामयोग है। इसप्रकार कर्म्मयोग, तथा त्रिविध उपासनाकाण्ड, चारों में काम का येन केन रूपेण सम्बन्ध बना रहता है। अतएव सत्यवती उपासना पर्य्यन्त काममूलक द्वैत का आत्यन्तिक उन्मूलन नहीं हो पाता। आत्यन्तिक निष्कामभाव तो विशुद्ध ज्ञानयोग पर ही निर्भर है, एवं वह सत्यवती उपासना से आगे का ज्ञानयोगक्षेत्र ही है। उक्त वचनों द्वारा इसी का विश्लेषण हुआ है। निम्न लिखित वचन इन्हीं योगों के काम भाव-निष्कामभाव पक्षों का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

१—विशुद्धाद्वैतमूलः कर्म्मयोगः—कामयोगः—

१—"तथा ह यजमानः (यज्ञकर्म्मठः) सर्वमायुरस्मिँल्लोके—एति, आप्नोति—अमृतत्वमक्षितिं स्वर्गे लोके" (कौ० ब्रा० १३।५, ६,)।

२—कामात्मनः स्वर्गपरा जन्मकर्म्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेष बहुलां भोगैश्वर्य्यगतिं प्रति ॥ गी० २।४३।

* * *

२–द्रव्याद्वैतमूलः सेवाभावः (अन्यवती उपासना)–लोकात्मक कामयोगः

१–"स एष परोवरीयानुद्गीथः । स एषोऽनन्तः × परोवरीयो हास्य भवति । परोवरीयसो लोकाञ्जयति, य एवं विद्वानुपास्ते" (छां० १।९।२)

२–यो मामजमनादिञ्च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ॥
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ गी०।३॥

* * *

३–क्रियाद्वैतमूलः भक्तिभावः (अङ्गवती उपासना)–सर्वकामयोगः–

१–"सर्वे च लोका आप्ताः, सर्वेच कामाः । स सर्वांश्च लोकानाप्नोति, सर्वांश्च कामान्–यस्तमात्मानमनुविध विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच"

((छां० उ० ८।१२।६) ।

२–स तया श्रद्धया युक्त स्तस्याराधनमीहते ॥
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान् ॥ गी० ७ २२।

* * *

४–भावाद्वैतमूलः–उपास्तिभावः (सत्यवती उपासना)–आत्म-कामयोगः—

१–"अथात आत्मादेश एव । × × × आत्मैवेदं सर्वम् । स वा एष एवं-पश्य-न्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड़ आत्ममिथुन आत्मानन्दः, स स्वराड् भवति, तस्य सर्वेषु लोकेषुकामचारो भवति" ।

—छां० उप० ७।२५। २।

२–"यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्, आत्मतृप्तश्च मानवः ॥
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्य्यं न विद्यते ॥ गी० ३।१७।

* * *

५–त्रिविधसोपाधिकाद्वैतातीतः—

विशुद्धद्वैतमूलः–ज्ञानयोगः–निष्कामयोगः—

१–"पर्य्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामा" ।

—मुण्डक ।३।२।

२–"यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्म्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ॥ गी० ३७।

* * *

५७–भौतिकप्रपञ्चानुबन्धी द्वैत, आध्यात्मिकप्रपञ्चानुगत अद्वैत-इत्युभय समन्विता उपासना के त्रिविधविवर्तों का "द्वैताद्वैत" उभय सम्पत्ति युक्तत्व एवम् द्रव्य-क्रिया-भावाद्वैतादि का निर्वचन—

द्वैतभाव जहाँ भौतिकप्रपञ्च से सम्बन्ध रखता है, वहाँ अद्वैतभाव आध्यात्मिक प्रपञ्च का अनुगामी माना गया है । आत्मदृष्टि अद्वैतदृष्टि है, भूतदृष्टि, किंवा शरीरदृष्टि द्वैतदृष्टि है । अद्वैतात्मिका आत्मदृष्टि बुद्धयनुगता अन्तर्दृष्टि है, द्वैतात्मिका भूतदृष्टि मनोऽनुगता बाह्यदृष्टि है । अन्तर्दृष्टि बुद्धिक्षेत्र है, बाह्यदृष्टि दृष्टिक्षेत्र है । उपासना में दोनों का समन्वय है, जैसाकि पूर्वपरिच्छेदों में स्पष्ट किया जाचुका है । अतएव त्रिविध उपासनाविवर्त्तों को 'द्वैताद्वैत' रूप से उभय सम्पत्ति से ही युक्त माना जाएगा । सेवात्मिका अन्यवती उपासना में द्वैत के आधार पर अद्वैतारोहण का उपक्रम है, भक्त्यात्मिका अङ्गवती उपासना में अद्वैत द्वैत का सम--साम्मुख्य है । उपास्तिरूपा सत्यवती उपासना में द्वैताभिभव द्वारा अद्वैतानुगति का प्राधान्य है । उपक्रमक्रमात्मक प्राथमिक अद्वैत द्रव्याद्वैत है, मध्यस्थात्मक द्वितीय अद्वैत क्रियाद्वैत है, अन्तिम उपसंहा–रात्मक तृतीय अद्वैत भावाद्वैत है । सर्वोपरिज्ञानयोगात्मक विशुद्ध अद्वैत का साम्राज्य है । उपासनात्रयी से सम्बन्ध रखने वाली अद्वैतत्रयी वादात्मिका है, सोपाधिका है । ज्ञानयोगानुगत अद्वैत निर्विवाद अद्वैत है, निरुपाधिक अद्वैत है । निरुपाधिक अद्वैत सम्पत्ति में समवेत होजाने के अनन्तर सोपाधिक तीनों अद्वैत उसी प्रकार विलीन होजाते हैं, जैसे कि, जाग्रदवस्था के उदय पर स्वप्न जगत् अभिभूत होजाता है ।

५८–सर्वबल विशिष्ट-मायातिग-परात्पर "अद्वयब्रह्म" का द्वैताद्वैत मीमांसाधारेण वैज्ञानिक (आर्ष) दृष्टिकोणानुगत समन्वय—

वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इसी द्वैताद्वैत मीमांसा का यों भी समन्वय किया जासकता है । सर्वबल विशिष्ट, सर्वबलगर्भित मायातीत अखण्ड परात्पर ही विशुद्ध अद्वयब्रह्म है । इस विशुद्ध अद्वय ब्रह्म का प्रथमावतार तद्रूप, अक्षरदृष्टया महामायावच्छिन्न स्वस्वरूप से अनवच्छिन्न अद्वय अव्यय ब्रह्म है । यही

विश्व का मुख्य अधिष्ठान है, प्रधान आलम्बन है, सर्वालम्बन है। बलरसविशिष्ट इस अव्यय ब्रह्म के निरुपाधिक, सोपाधिक, ये दो मुख्य विवर्त्त हैं। निरुपाधिक अव्ययव्यय बलगर्भित विशुद्धरसात्मक, परात्परों समतुलित ज्ञानैकघन है। इसका न कर्म्म से सम्बन्ध है, न ज्ञान से, न उपासना से। योगत्रयी से अतीत यह निरूपाधिक अव्ययब्रह्म ही सुप्रसिद्ध गीताराद्धान्त बुद्धियोग की मूलप्रतिष्ठा है, जैसा कि तत्परीक्षा प्रकरण में स्पष्ट होने वाला है। सोपाधिक अव्यय ब्रह्म ही विश्व का आत्मा है, जिसका 'स वा एष आत्म वाङ्मयः, प्राणमयो, मनोमयः' यह लक्षण किया जाता है। बलभाग की चिति के तारतम्य से इस सोपाधिक अव्यय ब्रह्म की 'निर्गुण, सगुण, सविकार,' ये तीन संस्था होजाती हैं। बलगर्भितरसप्रधान क्षराक्षरगर्भित मनोमय * अव्ययात्मा निर्गुणब्रह्म है। यह सृष्टि का आलम्बन मात्र है। बल-रसभावापन्न, अक्षरप्रधान क्षरगर्भित वही अव्ययात्मा सगुण ब्रह्म है। यह सृष्टि का निमित कारण है। रसगर्भित बलप्रधान, क्षरप्रधान अक्षरगर्भित वही अव्ययात्मा सविकार ब्रह्म है। यही सृष्टि का उपादान कारण है। क्षरप्रधान अपने सविकाररुप से वही विश्व है, अक्षरप्रधान अपने सगुणरूप से वही विश्वकर्त्ता है, अव्ययप्रधान अपने निर्गुणरूप से वही न कर्त्ता है, न कारण है। इसप्रकार अपने तीन सोपाधिक विवर्त्तों में वही सब कुछ कहा--माना--सुना--जाता है। अक्षर पराप्रकृतिक है, इसका गुणभाव से सम्बन्ध है। क्षर अपराप्रकृति है, इसका विकारभाव से सम्बन्ध है। जैसाकि-'विकारांश्च गुणांश्चैतान विधि प्रकृति सम्भवान्' (गी०···) इत्यादि वचन से प्रमाणित है। इसी रूपत्रयी का यों भी अभिनय किया जासकता है कि, क्षराक्षरगर्भिता मनःप्रधान ज्ञानमूर्ति अव्यय निर्गुण ब्रह्म है। अव्यय--क्षरगर्भित, प्राणप्रधान, क्रियामूर्ति अक्षर सगुणब्रह्म है। एवं अव्ययाक्षरगर्भित वाक्प्रधान अर्थमूर्ति क्षर सविकार ब्रह्म है। ज्ञानप्रधान मनोमय निर्गुण ब्रह्म ही विशुद्धाद्वैत मूलक ज्ञानयोग की, क्रियाप्रधान प्राणमय सगुणब्रह्म ही द्वैताद्वैतमूलक भक्तियोग की (अङ्गवती उपासना की), एवं अर्थप्रधान वाङ्मय सविकार ब्रह्म ही विशुद्ध द्वैतमूलक कर्म्मयोग की प्रतिष्ठा है। इन तीनों, सोपाधिक ब्रह्म विवर्तों का निम्न लिखित गीता वचनों से विश्लेषण हुआ है—

१—निर्गुणब्रह्म --अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय! न करोति न लिप्यते ॥

२—सगुणब्रह्म—यतः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥

३—सविकारब्रह्म—अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः : ॥ गी० १०।८।

सोपाधिक ब्रह्मविवर्त्तों का निम्न लिखित गीता वचनों से विश्लेषण हुआ है—

*--सर्वबलविशिष्टरसैकमूर्त्तिः, मायातीतः, निरुपाधिकः-परात्परः————— बुद्धियोगानुगतः
१--बलगर्भितरसमूर्त्तिः, मायी, अप्यमायी, निर्गुणः--सोपाधिकः--अव्ययोमनोमयः----ज्ञानयोगानुगतः
२--बलरस सममूर्त्तिः, योगमायी--सगुणः सोपाधिकः--अक्षरः प्राणमयः—— ——भक्तियोगानुगतः
३--रसगर्भितबलमूर्त्तिः--योगमायी--सविकारः--सोपाधिकः--क्षरो वाङ्मयः——·——कर्म्मयोगानुगतः

* * *

५९–सोपाधिक-त्रिविवर्त मध्यस्थ "सगुणविवर्त" का प्रतिरूप-प्रतीकाङ्गवती-उपासनात्मक "भक्तियोग" से सम्बन्ध, एवम् एतत् स्वरूपोपवृंहण—

सोपाधिक तीन विवर्त्तों में से मध्यस्थ सगुणविवर्त का उस भक्तियोग से सम्बन्ध है, जिसे हमने पूर्व में प्रतिरूप-प्रतीकात्मिका अङ्गवती-उपासना कहा है। वहीं यह भी स्पष्ट किया जाचुका है कि, भक्तिभावात्मिका इस मध्यस्था अङ्गवती उपासना के उपक्रम, उपसंहार स्थलों में अन्ययवती, सत्यवती, दो क्षेत्र प्रतिष्ठित हैं। द्वैतात्मक कर्म्मयोग द्वैताद्वैतात्मक भक्तियोग (अङ्गवती), दोनों के मध्य की उपासना ही सेवालक्षणा अन्ययवती उपासना है। इसमें सविकार-वाङ्मय ब्रह्म के वाङ्मय अर्थाद्वैत का समन्वय है। अतएव अन्ययवती को द्रव्याद्वैतात्मिका वाङ्मयी उपासना कहा जासकता है। इससे आगे की अङ्गवती उपासना प्राणात्मक क्रियामूर्ति सगुणाक्षर सम्बन्ध से क्रियाद्वैतात्मिका प्राणमयी उपासना है। निर्गुण ज्ञानयोग, सगुण भक्तियोग, दोनों के मध्य में उपासनोपसंहारात्मिका सत्यवती उपासना प्रतिष्ठित है। इसमें निर्गुण-मनोमय ब्रह्म के मनोमय भावाद्वैत का समन्वय है। अतएव सत्यवती को भावाद्वैतात्मिका मनोमयी उपासना कहा जासकता है। निर्गुण ब्रह्म यद्यपि मायोपाधि से सोपाधिक है, तथापि निरुपाधिक परात्पर से समतुलित रहने के कारण, यह मायी भी अमायी है। अतएव इसे निरुपाधिक भी कहा जासकता है। अतएव च तदनुगत अद्वैत को निरुपाधिक अद्वैत, एवं उपासनात्रयी से सम्बन्ध रखने वाली अद्वैतत्रयी को सोपाधिक कहा जासकता है। इसप्रकार मध्यस्थ प्राणमय भक्तियोग के उभयपार्श्वों में मनोमय उपासितयोग, वाङ्मय सेवायोग, इन दो उपासना विवर्त्तों का समन्वय होरहा है।

१ | १–मनोमयआत्मा–तदनुगतो ज्ञानयोगः–निरुपाधिकाद्वैतप्रवर्त्तकः } —ज्ञानम्

२ | १–(मनोमयआत्मा)–तदनुगता सत्यवती उपासना (भावाद्वैतमूला) १ उपासितः
२–प्राणमय आत्मा–तदनुगता अङ्गवती उपासना (क्रियाद्वैतमूला) २ भक्तिः
३–(वाङ्मय आत्मा)–तदनुगता अन्ययवती उपासना (द्रव्याद्वैतमूला) ३ सेवा } —भक्तिः

३ | ३–वाङ्मय आत्मा–तदनुगतःसविकारः–कर्म्मयोगः–द्वैतप्रवर्त्तकः } —कर्म्म

६०–उपासनाकाण्डत्रयी-निर्वचन-प्रयोजन एवम् उपासक के लिए त्रिविधोपासना द्वारा निर्गुण ब्रह्मानुगति समकाल ही अद्वैत के उपाधिभाव की स्वप्नजगद्वन्निवृत्ति—

उपासनाकाण्ड से सम्बन्ध रखने वाली द्वैताद्वैतमीमांसा का निष्कर्ष यही निकलता है कि, मनः प्राणवाङ्मय विश्वेश्वर ज्ञान-क्रिया-र्थमय है। जीवात्मा भी तदंश बनता हुआ ज्ञानक्रियार्थमय ही है। अपने

अंशात्मक अर्थ, क्रिया, ज्ञानभावों का यह जीवात्मा अंशी विश्वेश्वर के ज्ञान-क्रिया-अर्थभावों के उप-भाव का अधिकारी बन जाय, इसीलिए उपासनाकाण्डत्रयी विहित हुई है। अन्यवती उपासना से यह उपासक जीव-उपास्य ईश की वङ्मयी अर्थकला के साथ युक्त होजाता है, यही इस की द्रव्याद्वैत सम्पत्ति है। अङ्गवत्ती उपासना से ईश की प्राणमयी क्रिया कला के साथ इस का सम्बन्ध होजाता है, यही इस की क्रियाद्वैतसम्पत्ति है। सत्यवती उपासना से ईश की मनोमयी ज्ञानकला के सन्निकट पहुँच जाता है, यही इसकी भावाद्वैतसम्पत्ति है। त्रिविधोपासनाद्वारा सोपाधिक अद्वैतसम्पत्तित्रयी से युक्त होकर जिस दिन उपासना निर्गुण अव्ययब्रह्म अनुगामी बन जाता है, उस दिन इन तीनों सोपाधिक अद्वैतों की दूसरे शब्दों में अद्वैत के उपाधिभाव की स्वप्नजगत्वत् निवृत्ति होजाती है। यही इस जीवात्मा की निष्कैवल्यावस्था मानी गई है। निम्न लिखित व्यासवचन इसी औपासनिक अद्वैतत्रयी का, एवं तदनन्तर प्राप्त होने वाली विशुद्ध निरुपाधिक अद्वैत सम्पत्ति का विश्लेषण कर रहा है—

> भावाद्वैतं, क्रियाद्वैतं, द्रव्याद्वैतं तथात्मनः।
> वर्त्तयन् स्वानुभूत्येह त्रीन् स्वप्नान् धुनुते मुनिः॥
>
> —श्रीमद्भागवत ७ स्कन्ध १५ अ०, ६२ श्लो०।

६१-पूर्व प्रतिज्ञात एवं प्रसङ्गोपात्त सोपाधिक अद्वैतत्रयी अन्तवर्ती "भावाद्वैत" के स्वरूप का उपबृंहण—

प्रसङ्गोपात्त एवं पूर्व प्रतिज्ञात (३१८ पृ०) तीनों सोपाधिक अद्वैतभावों की स्वरूप-मीमांसा भी कर लेनी चाहिए। क्रमप्राप्त पहिले भावाद्वैत को ही लक्ष्य बनाइए। अनेकविध कार्य्यकारण भावों में से एक अन्यतम कार्य्यकारण भाव 'अभिन्नसत्ताक कार्य्यकारण भाव' कहलाया है। तन्तु पट का, सुवर्ण कटक-कुण्डलादिका, लौह कृपाण का, मृत्तिका घट का कारण है, पटादि कार्य्य हैं। ये सब कार्य्य भाव 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं, मृत्तिकेत्येव सत्यम्' के अनुसार अभिन्नसत्ताक हैं, कार्य्यरूप पट, में कारणरूप तन्तुओं में अन्य कुछ भी नहीं है। तन्तु ही पटरूप से भासमान है। इसप्रकार पट, कटककुण्डल, कृपाण, घटादि पदार्थ तन्तु-सुवर्ण-लौह-मृत्तिकादि से विभिन्न नहीं हैं। केवल धिया विकल्पित भातिसिद्ध पदार्थ हैं। केवल नाममात्र की नवीन कल्पना है। इसी शब्द कल्पना के आधार पर ही ये घटादि अपदार्थ भी पदार्थ बन रहे हैं। अतएव अभिन्नसत्तात्मक यह कार्य्यकारण भाव कल्पित कहलाया है। भावनामात्र से सम्बन्ध रखने वाले इसी का० भाव को विकल्प कहा जाता है, जिस का महर्षिपतञ्जलि शब्दों में-'शब्द-ज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः' यह लक्षण हुआ है। भगवान् राम, कृष्ण, परशुराम, व्यासादि का भौतिक बाह्यकार हमारे लिए सर्वथा अदृष्ट है। केवल इन के शब्दोपवर्णन के आधार पर इन के बाह्यकार (चित्रों, प्रतिमाओं) की हम भावना कर लेते है। यही वस्तुशून्य भावनात्मक विकल्प है। इसी भावनात्मक विकल्प के आधार पर घट-पटादि वस्तुशून्यभावों की कल्पना करली जाती है। हमारी भावनामात्र में घट-मृत् का विभेद है। वस्तुतः सत्तादृष्टया मृद्घट अभिन्न हैं। यही वेदान्तवादियों का 'अविकृतपरिणाम वाद' है। जिस प्रकार मृद्घट में तत्त्वतः अभेद है, एवमेव जीवात्मा का परमात्मा से अभेद है। जैसे घट मृत्ति

का से अभिन्न है, तथैव कारणरूप ईश्वर से उत्पन्न कार्य्यरूप जीव ईश्वर से अभिन्न है। यह भावाद्वैत है। ईश्वर-अन्य भाव है, जीव अन्य भाव है, दोनों का पटतन्तुवत् ऐक्य ही भावाद्वैत है। निम्न लिखित सूक्तियाँ इसी भावाद्वैत का समर्थन कर रही हैं—

※ विकल्पिताऽवस्तुतया विलोकयत्यैक्यं यदा कारणकार्य्य वस्तुनः।
यदीश्वरे मृद्घटयोरिवात्मनोऽप्यैक्यं तदद्वैतमुपैति 'भावतः' ॥

१-भावाद्वैतः 'कार्य्यकारणवस्त्वैक्यमर्शनं पटतन्तुवत्।
अवस्तुत्वाद्विकल्पस्य भावाद्वैतं तदुच्यते ॥ श्रीमद्भागवत ७।१५।६३।

* * *

६२-शयन-जागरण-हसन-चलनादि क्रियाभाव सम्पृक्त क्रियाद्वैत, मानस-शारीर क्रिया-भेदेन क्रियाद्वैत की द्विधा विभक्ति, एवम् इसके स्वरूपोदाहरणों का दिग्दर्शन—

दूसरा क्रमप्राप्त क्रियाद्वैत है। शयन, जागरण, चलन, पठन, हसन, आदि क्रियाभाव प्रसिद्ध हैं। मानसक्रिया, शारीरक्रिया, भेद से क्रियाभाव दो भागों में विभक्त हैं। दोनों का अधिष्ठाता देहाभिमानी 'अहं' पदार्थ है। अतएव उभयक्रियाओं में-'अहंकरोमि' यह भाव अनुस्यूत रहता है। हस्त, पाद, उदर, नेत्र, नासा, श्रोत्र, आदि शरीरी, अहं अवयवी के अवयव हैं। अवयवों की जितनी भी क्रिया है, वे सब 'अहं' की क्रिया मानी गई हैं। मैं लेता हूँ, मैं चलता हूँ, मैं देखता हूँ, इत्यादि सभी अवयव क्रियाओं में अवयवी-बुद्धि का समावेश होरहा है। सम्पूर्ण मानस-शारीर अवयव क्रियाएं आध्यात्मिक मत्पदार्थ अभिन्न हैं। जिस प्रकार हस्तपादादि 'अहं' (जीव) के अवयव हैं, एवमेव स्वयं अहं तत्त्व उस व्यापक ईश्वरावयवी का अवयव है। अतएव सिद्ध विषय है कि, हमारी सम्पूर्ण ऐन्द्रियक क्रियाओं का परम्परया वही मूलाधार है। अहं का सम्पूर्ण क्रिया कलाप है। इसी भावना को क्रियाद्वैत कहा गया है। उपासक लौकिक-ऐहिक-आमुष्मिक जो भी मानस-वाङ्मय-शारीरकर्म्म करता है, यदि उन सब कर्म्मों के सम्बन्ध में इन की यह भावना है कि,—'नाहं किञ्चित् करोमि। स एव करोति, कारयति वा' तो इस सर्वकर्म्मसमर्पण से इसे ईश्वरीय क्रियाद्वैत सम्पत्ति प्राप्त होजाती है, जिस का निम्न लिखित शब्दों में विश्लेषण हुआ है—

※-ददाति भुङ्क्ते, स्वपिति प्रबुद्ध्यते, यद्यन्मनो-वाक्-तनुभिः करोत्ययम्।
'नाहं करोमी' ति यदीश्वरेऽखिलं पश्येत् 'क्रियाद्वैत' मिदं स पश्यति ॥

२-क्रियाद्वैतः-यद् ब्रह्मणि परे साक्षात् सर्वकर्म्मसमर्पणम्।
मनोवाक्तनुभिः पार्थ ! क्रियाद्वैतं तदुच्यते ॥

—श्री० भा० ७।१५।६४।

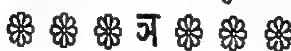
* * *

६३–द्रव्यात्मक वाक्–प्राण–चक्षुः–श्रोत्र आदि अवयवों का प्रज्ञा-प्राण-भूतमात्रानुगत वैभिन्य, अवयवी "अहम्" के लिए समस्त अवयवों का आत्मसमर्पण, एवं प्राणयज्ञों द्वारा आचरित अन्यतम प्राणयज्ञ किंमुत प्राणिविरोध का ईश्वर प्रतीपत्व–

तीसरा है क्रमप्राप्त द्रव्याद्वैत। वाक्, प्राण, चक्षुः, श्रोत्र, हस्त, पाद, उर, उदर, आदि आदि पृथक् पृथक् अवयव हैं। 'नियतविषयत्वमिन्द्रियत्त्वम्' लक्षणानुसार सबकी प्रज्ञामात्रा, प्राणमात्रा, भूत मात्रा विभिन्न हैं। प्रज्ञामात्रानुगत मनोमय रूप, प्राणमात्रानुगत प्राणमय कर्म्म, भूतमात्रानुगत वाङ्मय कर्म्म, सबके विभिन्न हैं। नामरूप कर्म्मात्मक द्रव्यरूप सभी अवयव 'गुणानां च परार्थत्वाद सम्बन्धः समत्वात्' न्याय से एक दूसरे से भी एक दूसरा असम्बद्ध है, विभिन्न है। सर्वथा विभिन्न इन अवयवों के लिए 'अहं' पदार्थ अभिन्न है। अवयव नाना हैं, अवयवी 'अहं' एक है, साथ ही सब भिन्नों के लिए अभिन्न है। भौतिक द्रव्यों की विभिन्नता का अहं की अभिन्नता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ने पाता। द्रव्यात्मक अवयव इस अहंभाव में समवेत होकर अभिन्न हैं। सबने अविभिन्न अहं के लिए अपना आत्मसमर्पण कर रक्खा है। यदि एक हाथ पर कण्डू चलती है, तो दूसरा हाथ उसे शान्त करने के लिए अग्रेसर होजाता है। उदर बुभुक्षाशान्त करने लिए मुख–हस्तादि अपना अन्न भक्षण व्यापार आरम्भ कर देते हैं। मानस अमृतपानेच्छा से पाद गङ्गा की ओर अग्रेसर होपड़ते हैं, और अमृत से भी विशेषगुणक गाङ्गेय पान कराने के साधक बन जाते हैं। इस प्रकार परस्पर अपने विभिन्न नाम–रूप–कर्म्म रखते हुए भी शरीरावयव रागद्वेष परित्यागपूर्वक उस अविभिन्न अहं को लक्ष्य बना कर परस्पर एक दूसरे के उपकार्य्य उपकारक बने रहते हैं। अपने अपने कर्त्तव्य-कर्म्मों में नियुक्त रहते हुए सब द्रव्यात्मक, शरीरावय एक दूसरे के कर्त्तव्य–कर्म्मों में सहायक बनते हुए उस अविभिन्न अहं की दृष्टि से अविभिन्न बने हुए हैं, यही निष्कर्ष है। जिस प्रकार हस्त पादादि अहं (जीवात्मा) के अवयव हैं, एवमेव विश्वगर्भ में प्रतिष्ठित सशरीर अहंभाव (प्राणी) उस व्यापक विश्वेश्वर के हस्त–पादादिरूप अवयव हैं। यदि कोई प्राणी किसी प्राणी से विरोध करता है, यदि कोई प्राणी किसी प्राणी के कर्त्तव्य–कर्म्म में विघ्न उपस्थित करता है, तो उसका यह विरोध ईश्वर का विरोध करना है। जैसे हम अपने शरीरावयवों में परस्पर अभिन्न उपकार्य्योपकारकता देखते हैं, तद्वत् जो मनुष्य इतर मनुष्यों को, प्राणियों को ईश्वरावयवबुद्धया अभिन्न समझकर परस्पर कर्त्तव्य–कर्म्मों का सहायक बनता है, वही द्रव्याद्वैत का अधिकारी माना गया है। सम्पूर्ण विश्व को एकेश्वर का एक शरीर मान कर सम्पूर्ण प्राणियों के स्वार्थों को, कामनाओं को अपना स्वार्थ, अपनी कामना मान कर उनमें सहयोग देना ही द्रव्याद्वैतभावना है। सम्पूर्ण प्राणियों को अपना सम सम्बन्धी मानिए, सबके कर्त्तव्य–कर्म्मों को अपना स्वार्थ समझते हुए उन्हें सहयोग प्रदान कीजिए। जिस दिन आप इस भावना में उत्तीर्ण होजायँगे, द्रव्याद्वैतसम्पत् प्राप्त होजायगी, जिसका यों विश्लेषण हुआ है—

*–सर्वात्मकेशैक्यधिया यथात्मनस्तथेतरेषामपिसर्वदेहिनाम्
स्वार्थांश्च कामांश्च समानमीप्सति द्रव्याश्रिताद्वैतमिदं स पश्यति ॥

३-द्रव्याद्वैतः—आत्मा-जाया-सुतादीनामन्येषां सर्वदेहिनाम्।
यत् स्वार्थकामयोरैक्यं द्रव्याद्वैतं तदुच्यते ॥ श्री० भा० ७।१५।६५।



८-उत्तममध्यमप्रथमोपासनात्रयी, द्वैताद्वैतसमन्वय—एवंप्रणवोपासना—

६४—अन्यवती-अङ्गवती-सत्यवती उपासनाओं का अवरोत्तमत्व, एवं तत्तद् वैशिष्ट्य निरूपण—

भावाद्वैतानुगामिनी सत्यवती उपासना उत्तमोपासना है, क्रियाद्वैतानुगामिनी अङ्गवती उपासना मध्यमोपासना है, एवं द्रव्याद्वैतानुगामिनी अन्यवती उपासना प्रथमोपासना है। कार्य्यकारणानुगत विकल्प-सम्बन्ध, मानस-वाचिक-कायिक कर्म्म, द्रव्यात्मक विभिन्न अवयव, तीनों को क्रमशः भाव, क्रिया, द्रव्य नाम से व्यवहृत किया गया है। तीनों ही तत्त्वतः द्वैतात्मक हैं। इन द्वैतभावों को अद्वैतभावना से युक्त कर अद्वैतत्रयी की प्रतिष्ठा हुई है। अतएव इन तीनों अद्वैतभावों को द्वैतगर्भित अद्वैतभाव ही माना जायगा। दूसरे शब्दों में इस अद्वैतत्रयी को द्वैताद्वैतत्रयी कहा जायगा। इसी द्वैतभावना के कारण इस अद्वैतत्रयी को सोपाधिक अद्वैत माना भी गया है। इसी दृष्टिकोण के आधार पर कहा जासकता है कि, इस द्वैताद्वैतत्रयी का वस्तुतः मध्यस्था अङ्गवती उपासना से ही सम्बन्ध है। क्योंकि, अन्यवती उपासना में जहां द्वैत का प्राधान्य है, सत्यवती उपासना में जहाँ अद्वैत का प्राधान्य है, वहां मध्यस्था अङ्गवती उपासना में द्वैत-अद्वैत, दोनों का सम समन्वय है। अन्यवती को द्रव्याद्वैत से, सत्यवती को भावाद्वैत से, एवं अङ्गवती को क्रियाद्वैत से युक्त बतलाने का एकमात्र कारण यही है कि, द्रव्यात्मिका (भूतात्मिका-कर्म्मात्मिका) अन्यवती में मध्यस्थ अङ्गवती के सोपाधिक अद्वैतभाव की प्रतिच्छाया का भी समावेश रहता है। एवमेव भावात्मिका (ज्ञानात्मिका) सत्यवती में मध्यस्थ अङ्गवती के सोपाधिक अद्वैतभाव की प्रतिच्छाया का भी समावेश रहता है। एकमात्र इसी दृष्टि से अन्यवती सत्यवती का द्रव्य-भावाद्वैतों का पूर्व में सम्बन्ध बतला दिया गया है। वस्तुतः ये तीनों सोपाधिक अद्वैतसम्पत्तियाँ जो स्वाभाविक द्वैतभावों के सम सम्बन्ध से द्वैताद्वैतलक्षण हैं, मध्यस्थ द्वैताद्वैतालक्षणा अङ्गवती उपासना से ही सम्बन्ध रखती हैं।

६५—सेव्य-सेवक भावात्मिका आधिदैविक सम्पत्तियुक्त-उभयात्मक उपासनाकाण्डान्तर्भूत-सेवात्मिका द्वैतप्रधाना प्रथमा "अन्यवती" उपासना का निरूपण—

सेव्य-सेवक भावात्मिका, द्रव्यमयी, मूर्त्ता, भूतप्रधाना अन्यवती उपासना ही प्रथमोपासना है। यहाँ द्वैत का ही साम्राज्य है। अतएव यह विशुद्धद्वैतात्मक कर्मयोग से समतुलित मानी गई है। द्वैतभाव के रहने पर भी अङ्गवती के अद्वैतभाव की इसमें प्रतिच्छाया रहती है, अतएव इसे आधिदैविक सम्पत्ति से युक्त मानते हुए उभयात्मक उपासनाकाण्ड में अन्तर्भूत मान लिया जाता है। क्योंकि प्राधान्य भूतका है, इसलिए तो इसे उपासना नहीं कहा जासकता, भूत-देव के समसमन्वय न रहने से इसे भक्ति भी नहीं कहा जासकता, इन्हीं सब परिस्थितियों के कारण इसका अङ्गवती, और कर्मयोग, दोनों के मध्य में अवस्थान मान लिया गया है। अतएव इसे उपासना, भक्ति, कर्म्म इनमें से किसी भी नाम से व्यवहृत न कर हमने 'सेवा' कहना समीचीन समझा है। सामान्य लौकिक मनुष्य ही इस मूर्त्तोपासना के अधिकारी माने गए हैं, जोकि सेवात्मिका उपासना द्वैतप्रधाना है।

६६–भजनीय-भक्त भावात्मिका-ज्ञान क्रियासमतुलिता-उभयात्मिका मध्यमा अङ्गवती उपासना का निरूपण—

भजनीय–भक्तभावात्मिका, ज्ञानक्रियासमतुलनेनोभयात्मिका, मूर्त्तामूर्त्ता, उभयप्रधाना, अङ्गवती उपासना मध्यमोपासना है। यहां द्वैत–अद्वैत, दोनों का समन्वय है। अन्यवती से सम्बन्ध रखने वाले द्रव्यात्मक कर्म-द्वैत का भी यहाँ समन्वय है, सत्यवती से सम्बन्ध रखने वाले भावात्मक ज्ञानाद्वैत का भी यहाँ समन्वय है। अतएव यह उभयात्मक बन रही है। यही इसका अङ्गभाव है, अतएव इसे अङ्गवती कहना अन्वर्थ बनता है। स्वगत क्रियात्मक द्वैत, अन्यवत्यनुगत द्रव्यात्मद्वैत, कार्य्यकारणात्मक भावलक्षण द्वैत, तीनों द्वैत यहां अद्वैतभावना से युक्त होजाते हैं। अतएव इसे त्रिविध सोपाधिक अद्वैतभावनामयी माना जासकता है। लोक-व्यवहार के साथ साथ पारलौकिक चिन्ता करने वाले अध्यात्मप्रेमी मध्यमाधिकारी ही इस भक्तिरूपा, त्रिविधा द्वैतात्मिका, मूर्त्तामूर्त्ता, उभयात्मिका मध्यमा, अङ्गवती–उपासना के अधिकारी माने गये हैं।

६७–उपास्य–उपासक भावात्मिका अमूर्त्ता देवप्रधाना उत्तमा सत्यवती उपासना के स्वरूप का निर्वचन—

उपास्य–उपासक भावात्मिका, भावमयी (ज्ञानमयी), अमूर्त्ता, देवप्रधाना सत्यवती उपासना ही उत्तमोपासना है। यहाँ अद्वैत का ही साम्राज्य है। अतएव इसे विशुद्ध निरुपाधिक अद्वैतात्मक ज्ञानयोग से समतुलित माना गया है। क्योंकि, इसमें प्राधान्य आधिदैविक ज्ञानसम्पत्ति का है, इसलिए तो इसे मननमन्त्रा-त्मिका भक्ति नहीं कहा जासकता साथ ही अङ्गवती के सम्पर्क से इसमें मानसोपचारात्मक भौतिककर्म सम्पत्ति का भी समावेश है, इसलिए इसे ज्ञानयोग भी नहीं माना जासकता। इसी दृष्टिकोण के आधार पर इसका ज्ञानयोग, और अङ्गवती उपासना परपर्य्यायक भक्तियोग, दोनों के मध्य में अवस्थान माना गया है। क्योंकि यह अद्वैतमूला उपासना ज्ञानाद्वैतलक्षण ब्रह्म के 'उप' है, अतएव इसे हमने 'उपासित' नाम से व्यवहृत करना समीचीन माना है। लोकव्यवहार में उदासीनवदासीन तटस्थ अलौकिक महापुरुष ही इस अमूर्त्ता, अद्वैतभाव प्रधाना, उत्तमोपासना के अधिकारी माने गए हैं, जो उत्तमोपासना उपनिषत् परिभाषा में इन्द्रिय-धारणलक्षण 'योग' नाम से, 'अक्षरोपासना' नाम से, 'प्रणवोपासना' नाम से, 'आत्मोपासना' नाम से, एवं पतञ्जलि के शब्दों में 'संयम' नाम से व्यवहृत हुई है, एवं जिसका निम्नलिखित शब्दों में विश्लेषण किया जासकता है।

६८–क्षीणोदर्क-भूमोदर्क भावात्मक सत्यवती के दो दृष्टिकोणों का विश्लेषण—

'सत्यवती उपासना' नामक पूर्वपरिच्छेदों में—(३३६ पृ०) सत्यवती उपासना के दो दृष्टिकोणों का विश्लेषण हुआ है। वहाँ बतलाया गया है कि, क्षीणोदर्क भावात्मक इन्द्रियधारणलक्षण अव्यक्तयोग एक दृष्टिकोण है। एवं भूमोदर्कभावात्मक–व्यक्तयोग एक दृष्टिकोण है। अव्यक्तयोगात्मिका सत्यवती उपासना उपासना है, इसका हृद्ग्रन्थिविमोचक अव्यक्त अक्षरब्रह्म से सम्बन्ध है। व्यक्त योगात्मिका सत्यवती उपासना 'बुद्धियोग' है, इसका सर्वग्रन्थि विमोचक, भूमाणिमालक्षण–परात्परब्रह्म से समतुलित अव्ययब्रह्म से सम्बन्ध

है। 'अव्यक्तयोगात्मिका उपासना में-'अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं-क्लेशवद्भिरवाप्यते' (   ) सिद्धान्तानुसार क्रमक्लेशात्मकः जटिलपथ है। हठयोग, लययोग, धारणा-ध्यान-समाधिभावों का संयम, लोकसंग्राहक व्यावहारिककर्म्मों का एकान्ततः परित्याग, यम-नियमानुगमन, आदि दुस्तर-दुःसाध्य-प्रक्रियाओं का इसी अव्यक्ताक्षरोपासना में अन्तर्भाव है। 'एतेनयोगः प्रत्युक्तः' इत्यादिरूप से भगवान् व्यास ने इसी लिए इसके प्रति अस्वारस्य प्रकट किया है। बड़ा ही जटिल पथ है, साथ ही लोकसंग्रह का उच्छेदक। अतएव गीताचार्य्य ने भी इसकी उपादेयता को विशेष महत्त्व नहीं दिया है। गीताचार्य्य अव्ययमूला, बुद्धियोगात्मिका उस सत्यवती उपासना को ही अपना राद्धान्त मानते हैं, जिसमें ब्रह्माद्वैत-भावव्याप्ति के साथ साथ लोकसंग्रह भी सुरक्षित है। सत्यवती उपासना के अव्ययानुगत बुद्धियोगात्मक इसी दूसरे दृष्टिकोण का-'बुद्धियोगपरीक्षा' नामक स्वतन्त्रखण्ड में विश्लेषण हुआ है। प्रकृत में हमें सत्यवती उपासना के अव्यक्तोपासनात्मक-इन्द्रिय-भाग्य लक्षण प्रथम दृष्टिकोण का ही दो शब्दों में अभिनय कर देना है। 'अभिनय' शब्द का प्रयोग इसलिए किया गया है कि, इस विषय का (योग का) प्रतिपादन अनुभव से सम्बन्ध रखता है। अनुभव की कौन कहे, यहां तो इसके शृङ्खलाबद्ध-तात्त्विकस्वरूप का भी बोध नहीं है। ऐसी अवस्था में जो कुछ इस सम्बन्ध में कहा जायगा, केवल अभिनय ही माना जायगा। और हमारे इस स्पष्टीकरण से योगियों का आत्मा हमें हमारी इस अनधिकार चेष्टा के लिए क्षमा कर देगा।

६६-उत्तमोपासनात्मिका सत्यवती के स्वरूप का औपनिषद निरुक्तियों द्वारा स्पष्टीकरण-

उत्तमोपासनात्मिका सत्यवती उपासना के उक्त दोनों ही दृष्टिकोणों में आत्मभाव का प्राधान्य है, चाहे वह आत्मा अव्यक्त योगदृष्ट्या अक्षरब्रह्म हो, अथवा बुद्धियोगात्मक व्यक्तयोगदृष्ट्या अव्यय ब्रह्मात्मक हो। अन्यवती में सर्वथा द्वैत है, अङ्गवती में द्वैतपूर्वक अद्वैत है, परन्तु सत्यवती में उभयथा अद्वैत है। 'देवो भूत्वा देवं भावयेत्' इस आत्मभावना का ही प्राधान्य है। 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक अहंता-भिमान ही इस उपासना की मूल प्रतिष्ठा है। 'जो वह है, सो मैं हूँ जो मैं सो वह है' यही भाव यहां मुख्य है, जो भाव अतिमानभाव से सर्वथा विमुक्त रह कर ही उपादेय बनता है। आत्मभावनाभिमान, आत्म-भावनातिमान, भेद से ब्रह्मभावना के दो विवर्त्त मानें गए हैं। ज्ञानात्मिका ब्रह्मभावना ब्रह्माभिमान है, कर्म्मात्मिका ब्रह्मभावना ब्रह्मातिमान है। अपने अन्तर्जगत् में उपासक अहं-(जीवात्मा) उपास्य ओम् (परमात्मा) के प्रति ऐक्यभावना द्वारा अद्वयभाव की उपासना करता हुआ ब्रह्माभिमान का अनुगामी है। बाह्यजगत् में इस आत्माभिमान को अपनी शरीर चेष्टाओं, शब्दोंद्वारा प्रकट करना ब्रह्मातिमान का अनुगमन है। बाह्यवृत्तिमें, शब्दप्रयोग में आत्यन्तिकरूप से ऋजुभाव, अभिमान का एकान्ततः निराकरण, एवं अन्तर्जगत् में ब्रह्माभिमान की सतत चर्वणा, यही ब्रह्माभिमान है। कर्म्मानुगत, किंवा शब्दानुगत ब्रह्माभि-मान अतिमान रूप में परिणत होता हुआ 'ते असुरा अतिमानेनैव पराबभूवः' (शत०..........) के अनुसार जहां पराभव का, आत्मपतन का कारण है, वहां ज्ञानानुगत, किंवा आत्मभावनानुगत ब्रह्माभि-मान अन्तर्मुख-आध्यात्मिक सम्पत्ति बनता हुआ-विजय का, आत्माभ्युदय का, अद्वयभावप्रवृत्ति का कारण माना गया है, जिस का ऋषि ने 'अहं ब्रह्मास्मि' शब्दों में अभिनय किया है। वह ब्रह्मातिमानी अपनी सम्पूर्ण आध्यात्मिक सम्पत्ति का उच्छेद कर देता है, जो ज्ञानैकघनं अन्तर्मुख आत्मसम्पत्ति से विरुद्ध

शब्दादि द्वारा बहिर्मुख बना रहता है । 'हम ब्रह्म हैं, हम क्षत्र हैं, हम सर्वस्व हैं' इसप्रकार का अतिमानात्मक शब्दाभिनय शब्दातीत आत्मसम्पत्ति के विनिर्गम का कारण बन जाता है, जैसा कि निम्न लिखित श्रुति से स्पष्ट है—

"ब्रह्म तं परादात्-योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद, क्षत्रं तं परादात्-योऽन्यत्रात्मनः-क्षत्रंवेद, लोकास्तं परादुः-योऽन्यत्रात्मनो लोकान्वेद, देवास्तं परादुः—योऽन्यत्रात्मनो देवान् वेद, भूतानि तं परादुः-योऽन्यत्रात्मनोभूतानि वेद, सर्वं तं परादात्-योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद । इदं ब्रह्म, इदं क्षत्रम् इमे लोकाः, इमे देवाः, इमानि भूतानि, इदं सर्वं-यदयमात्मा" ।

—बृ० भा० उ० २।४।६

७०—सत्यवती के अव्यक्ताक्षरानुगत इन्द्रियधारण लक्षण अव्यक्तयोगात्मक दृष्टिकोण-मीमांसा का उपक्रम—

उक्त ब्रह्माभिमान भावना को, जिस का बाह्यवृत्तियों से अणुमात्र भी सम्पर्क नहीं है, लक्ष्य में रख कर ही सत्यवती उपासना में प्रवृत्त होना चाहिए, जिस उपासना का अव्यक्ताक्षरानुगत-इन्द्रिय धारण लक्षण-अव्यक्तयोगात्मक दृष्टिकोण ही प्रकृत में मीमांस्य है । उपास्य, उपासक, उपासनासाधन, इन तीन विवर्तों के स्वरूपबोध पर प्रकृत मीमांसा अवलम्बित है । अतएव पहिले दो शब्दों में इन का स्वरूपपरिचय प्राप्त कर लेना चाहिए ।

"भूतं-भविष्यत् प्रस्तौमि, महद्ब्रह्मैकमक्षरम् ।
महद्ब्रह्मैकमक्षरम्" शत०............

७१—"महदक्षर" संज्ञ आध्यात्मिक अक्षरब्रह्म, शरीर-इन्द्रियवर्ग-इन्द्रियार्थ-प्रज्ञानमन-बुद्धि-महान्-शान्तात्मा-पुरुष-अष्टाक्षरा गायत्र-सम्पत्, एवम् तत्तदन्तर्वर्ति-स्थूल-सूक्ष्मशरीर-विभागों का निरूपण—

उक्त श्रुति के अनुसार आध्यात्मिक अक्षर ब्रह्म की संज्ञा है-'महदक्षर' । पाञ्चभौतिक स्थूल शरीर, इन्द्रियवर्ग, भूतमात्रारूप सांस्कारिक इन्द्रियार्थ, इन्द्रियाधिष्ठाता सर्वेन्द्रिय नामक प्रज्ञानमन, मनःसंचालिका विज्ञानात्मिका बुद्धि, चिद्गर्भाधिष्ठाता महान्, अव्यक्त लक्षण शान्तात्मा, पुरुष, इसप्रकार आध्यात्मिक संस्था में इन आठ पर्वों का समन्वय होरहा है । यही अष्टाक्षरा गायत्रसम्पत् है । इन आठों में स्थूल-शरीर का एक स्वतन्त्र विभाग है । इन्द्रियवर्ग, इन्द्रियार्थ, प्रज्ञानमन, इन तीनों का एक स्वतन्त्र विभाग है । बुद्धि, महान्, अव्यक्त, इन तीनों का एक स्वतन्त्र विभाग है । एवं पुरुष का एक स्वतन्त्र विभाग है । इन चारों विभागों में प्रथम विभाग विकार क्षर प्रधान है, द्वितीय विभाग आत्मक्षर प्रधान है, तृतीय विभाग अक्षर प्रधान है, चतुर्थ विभाग अव्ययप्रधान है । विकारक्षर प्रधान प्रथम विभाग स्थूल शरीर है, आत्मक्षर प्रधान द्वितीय विभाग सूक्ष्म शरीर है, अक्षर प्रधान तृतीय विभाग कारण शरीर है, अव्यय प्रधान चतुर्थ विभाग कारणातीत है, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है—

१-	१-अव्ययपुरुषः (पुरुषः)—विश्वेश्वरः		अव्ययसंस्था कार्य्यकारणातीता १ (४)
२-	१-अव्यक्तात्मा स्वायम्भुवः (अव्यक्तः)—स्वयम्भूः		अक्षरसंस्था-कारणशरीरम् २ (३)
३-	२-महानात्मा पारमेष्ठ्यः (महान्)—परमेष्ठी		
४-	३-विज्ञानात्मा सौरः (बुद्धिः)—सूर्य्यः		
५-	१-प्रज्ञानात्मा चान्द्रः (मनः)—चन्द्रमाः		आत्मक्षरसंस्था-सूक्ष्मशरीरम् ३ (२)
६-	२-इन्द्रियार्थाः पार्थिवाः (अर्थाः)	चितेनिधेयापृथिवी	
७-	३-इन्द्रियाणि पञ्चप्राणाः इन्द्रियाणि		
८-	१-भौतिकशरीर भौमम् (शरीरम्)— चित्यो भूपिण्डः		विकारक्षर संस्था-स्थूलशरीरम् ४ (१)

७२-अर्द्धमात्रा-अ-उ-म-समष्टि ओङ्कार-कोदण्डारूढ आत्म-शर-(लक्ष्यीभूत)-ब्रह्म-(देवसत्य) एवं कठोपनिषच्छ्रुति संस्मरण—

कार्य्यकारणातीत अव्ययपुरुष तुरीय अर्द्धमात्रा है, कारणशरीरात्मिका अक्षर संस्था अकार है, सूक्ष्म-शरीरात्मिका आत्मक्षर संस्था उकार है, स्थूलशरीरात्मिका विकारक्षर संस्था मकार है, चारों की समष्टि प्रणव लक्षण ओङ्कार है। यही वह धनुष है, जिस पर आरूढ शर वह आत्मा है, जिसे भूतात्मा कहा जाता है, एवं जिस का देवसत्य से सम्बन्ध है। अर्थप्रधान अग्निमय वैश्वानर, क्रियाप्रधान वायुमय तैजस, ज्ञान-प्रधान आदित्यमयप्राज्ञ, तीनों की समष्टि ही भूतात्मा है, जोकि चान्द्रप्रज्ञानामा (मन), भौम शरीर दोनों के मध्यमें प्रतिष्ठित होरहा है। महिमा पृथिवी में व्याप्त, विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञमूर्त्ति ईश्वरीय देवसत्य का प्रवर्ग्यरूप यही भूतात्मा इन्द्रिय, चान्द्रमन सम्बन्ध से भोक्तात्मा नाम से प्रसिद्ध है। 'भोक्ता'-भोगसाधन-भोग-भोगायतन ये चार पर्व अपेक्षित हैं। भौतिक चित्य शरीर भोगायतन है, इन्द्रियार्थ भोग हैं, इन्द्रिय-मन-भोग साधन हैं, एवं वैश्वानर-तैजस प्राज्ञमूर्त्ति भूतात्मा भोक्ता है। भोगायतन रूप शरीर रथ है, वै० तै० प्रा० मूर्त्ति भूतात्मा रथी है, प्रज्ञानमन से नित्य संश्लिष्ट (अविनाभूत) बुद्धि (जिसे मनः सम्बन्ध से भोगसाधन ही कहा जायगा) बुद्धि सारथी है, स्वयंप्रज्ञान मनोरूप भोगसाधन प्रग्रह (लगाम) है, भोग-साधनरूप इन्द्रियवर्ग अश्व हैं, भोगरूप इन्द्रियार्थ (सांसारिक भोग) रथी (भोक्ता) का विहारस्थल है। यही सपरिग्रह भोक्तात्मा का वास्तविक स्वरूप है, जिस का निम्न लिखित शब्दों में विश्लेषण हुआ है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ॥
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि, मनः प्रग्रहमेव च ॥१॥
इन्द्रियाणि हयानाहु, विषयाँस्तेषु गोचरान् ॥
आत्मे-न्द्रिय-मनो-युक्तं 'भोक्ते' त्याहुर्मनीषिणः ॥२॥
—कठोपनिषत् १।३।३,४।

७३–प्रणवधनुरारूढ आत्म-शर का "उ" कारात्मक द्वितीयाक्षर गर्भ में अवस्थान—

भोक्तात्मरूप शर पूर्वोक्त प्रणवरूप धनुष के ऊपर आयत है। प्रवण धनुष की तुरीय अव्यय मात्रा तृतीय अक्षरमात्रा, द्वितीय आत्मक्षरमात्रा, प्रथम विकारक्षरमात्रा, से चार मात्रा हैं। इन चारों में से, उकारात्मिका द्वितीय आत्मक्षरमात्रा के गर्भ में भोक्तात्मरूप 'शर' प्रतिष्ठित है। इस गर्भीभाव के सम्बन्ध में अनुपद में ही कुछ विशेष वक्तव्य है, अतएव इस स्थिति को अवधान पूर्वक लक्ष्य बनाना आवश्यक होगा—

१	१–अव्ययपुरुषः-अश्वत्थांशः (विश्वेश्वरः)		तुरीया अव्ययमात्रा (अर्द्धमात्रा)	प्रणवो—धनुः
२	१–अव्यक्तात्मा-स्वयम्भुवः (स्वयम्भूः) २–महानात्मा–परमेष्ठ्यंशः (परमेष्ठी) ३–बुद्धिः——सूर्य्यांशः (सूर्य्यः)		तृतीया अक्षरमात्रा (अकारः)	
३	१–प्रज्ञानात्मा-चन्द्रमाः (चन्द्रमाः) *–प्राज्ञः (१) सर्वज्ञांशः (एकविंशः-आदित्यः *–तैजसः (२) हिरण्यगर्भांशः (पञ्चदशः-वायुः *–वैश्वानर(३) विराडंशः (त्रिवृत्-अग्निः २–इन्द्रियार्थाः-पार्थिवाः (पार्थिवाः) ३–इन्द्रियाणि–पार्थिवाग्निः (अग्निवाय्वादित्यदिक्भास्वरसोमाः)	भूतात्मगर्भितः शरीरात्मा—	द्वितीया आत्माक्षर मात्रा (उकारः)	
४	१–भौतिकशरीरम् (भौमम्)-(भूपिण्डः)		प्रथमविकारक्षरमात्रा (मकारः)	

७४-उकारात्मिका द्वितीया आत्मक्षरमात्रा के त्रिविवर्त्तान्तर्गत भोगात्मक अन्यतम विवर्त्त "इन्द्रियार्थ", एवं तदनुगत व्याख्योपबृंहण—

उकारात्मिका द्वितीया आत्मक्षरमात्रा के प्रज्ञानमन, इन्द्रियार्थ, इन्द्रिय, ये तीन विवर्त्त बतलाए गए हैं-(देखिए पृ० ३६१ तालिका)। इन में इन्द्रियार्थ गर्भीभूत हैं! इन इन्द्रियार्थों का नाम ही भोग है। इस भोगतन्त्र में ही वै० तै० प्रा० लक्षण भूतात्मा स्वभावतः प्रतिष्ठित है। इस गर्भीभाव से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि भूतात्मा के उस ओर क्रमशः प्रज्ञानमन, बुद्धि, महान् अव्यक्त, अव्यय, ये पांच आध्यात्मिक पर्व प्रतिष्ठित हैं, इन्द्रियार्थ नामक ६ ठा पर्व स्वयं भूतात्मधरातल से समतुलित है, तत्स्थान में ही प्रतिष्ठित है, अतएव यह 'मध्वद' कहलाया है *। इन्द्रियार्थरूप मधु (भोग) के भोक्ता मध्वद भूतात्मा के इस ओर इन्द्रियवर्ग प्रतिष्ठित है। अन्तिम आठवां भौतिक शरीरपर्व त्रिकल भूतात्मा से उस ओर प्रतिष्ठित पांचो पर्वों का, इस ओर प्रतिष्ठित इन्द्रियों का आयतन है। यही आध्यात्मिक-संस्था है, जिस के साथ हमें उपासनाकाण्ड का, कर्म्मकाण्ड का, एवं ज्ञानकाण्ड का समन्वय करना है। कर्म्मकाण्ड में कर्त्ता, कर्म्मसाधन, कर्म्म-लक्ष्य (कर्म्मफल), ये तीन पर्व हैं। उपासनाकाण्ड में उपासक, उपासनासाधन, उपास्य (उपासनाफल), ये तीन पर्व है। एवं ज्ञानकाण्ड में ज्ञाता, ज्ञानसाधन, ज्ञेय (ज्ञानफल', ये तीन पर्व है। तीनों का क्रमिक समन्वय कीजिए।

७५-तैजस-प्राज्ञ-कलागर्भित वैश्वानरात्मक अर्थप्रधान भूतात्मा का कर्म्मयोगाधिकारित्व, एवं कर्त्ता-उपासक-ज्ञाता-शब्दों का स्वारस्य-समन्वय—

वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञमूर्त्ति भूतात्मा ही कर्म्मकर्त्ता है, यही उपासक है, यही ज्ञाता है। तात्पर्य्य-कर्म्मफल, उपासनाफल, ज्ञानफल, तीनों फलातिशयों का इसी के साथ सम्बन्ध होता है। वैश्वानरकला अर्थप्रधान है, तैजसकला क्रियाप्रधान है, प्राज्ञकला ज्ञानप्रधान है। अतएव कर्म्मकाल में भूतात्मा की अर्थप्रधान-वैश्वानरकला का, उपासनाकाल में क्रियाप्रधान-तैजसकला का, ज्ञानकाल में ज्ञानप्रधान-प्राज्ञकला का प्राधान्य रहता है। इस स्थिति का विज्ञानभाषा में यों भी अभिनय किया जासकता है कि, तैजस-प्राज्ञ-कला-गर्भित वैश्वानरात्मक अर्थप्रधान वही भूतात्मा भूतात्मा है, यही कर्म्मकर्त्ता है, यही भौतिक कर्म्मयोग का अधिकारी है। वैश्वानर-प्राज्ञ-कलागर्भित, तैजसात्मक, क्रियाप्रधान वही भूतात्मा प्राणात्मा, है, यही उपासक है। यही उभयात्मक भक्तियोग का अधिकारी है। वैश्वानर-तैजस-कलागर्भित, प्राज्ञात्मक, ज्ञानप्रधान वही भूतात्मा, चिदात्मा है, यही ज्ञाता है, यही आधिदैविक ज्ञानयोग का अधिकारी है। इसप्रकार योगत्रयी के संस्थान-भेद से एक ही भूतात्मा क्रमशः अर्थ-क्रिया-ज्ञान-प्रधान बनता हुआ कर्म्मठ, उपासक, ज्ञानी, इन तीन क्षेत्रों में, तीन स्वरूपों से विभक्त होरहा है। अध्यात्मसंस्था में कौन कर्त्ता, उपासक, ज्ञाता है?, प्रश्न का यही वैज्ञानिक समाधान है—

१-वैश्वानर-तैजस-गर्भितः प्राज्ञः-ज्ञानप्रधानः-चिदात्मा-ज्ञाता

२-वैश्वानर-प्राज्ञ-गर्भितः तैजसः-उभयात्मकः-प्राणात्मा-उपासकः

३-प्राज्ञ—तैजस-गर्भितः-वैश्वानरः-अर्थप्रधानः भूतात्मा-कर्म्मकर्त्ता

* * *

---

* भोग का ही नाम 'मधु' है। यह मधुरूप भोग भोक्ता भूतात्मा से अभिन्न है। अतएव-'य इमं मध्वदं वेद' (उपनिषत्) के अनुसार इसे 'मध्वद' भी कहा गया है।

७६–योगत्रयी से अनुप्राणित विशेष भावों का सोपाधिकत्व, तन्निबन्धन एक ही व्यक्ति का पार्थक्य, एवं कर्म्मकर्त्ता, तथा कर्म्मलक्ष्य का स्वरूप-समन्वय—

एक ही व्यक्ति पिता के समीप पुत्रभाव से, पत्नी के समीप पतिभाव से, सेवक के सम्मुख स्वामीभाव से, मित्र के सम्मुख मित्रभाव से विभिन्न मनोभावों के साथ उपस्थित होता है। तत्तद्विशेष संसर्गों से इस व्यक्ति की आध्यात्मिक-संस्था में, बैठने-बोलने-हँसने-आदि भावों में तत्तद्विशेष संसर्गों की आध्यात्मिकसंस्था के अनुरूप परिवर्त्तन होता रहता है। ठीक यही स्थिति प्रस्तुत योगत्रयी में घटित होती है। आधिभौतिकी महिमा-पृथिवी में विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञरूप, सम्वत्सरात्मक भूतप्रधान, देवप्रधान, सर्वभूतान्तरात्मा प्रतिष्ठित है। यही त्रिमूर्त्ति सम्वत्सरप्रजापति यज्ञप्रजापति है, जिसका त्रिणाचिकेतस्वर्ग से सम्बन्ध है। यज्ञात्मक भौतिक कर्म्मयोग का, जिसमें समस्त साधन आधिभौतिक ही माने गए हैं—यही स्वर्ग्य सम्वत्सरप्रजापति लक्ष्य [कर्म्मफल] माना गया है, जैसाकि—'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि आम्नायवचन से प्रमाणित है। सम्वत्सरप्रजापति भौतिक पार्थिव विवर्त्तों की प्रधानता से आधिभौतिक है। इसके सम्मुख उपस्थित रहने वाले वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ-मूर्त्ति भूतात्मा को अपने भौतिक वैश्वानररूप से ही अपना प्राधान्य सुरक्षित रखना पड़ता है। इसप्रकार कर्म्मयोग में कर्म्मठ बनता है तैजस-प्राज्ञ-गर्भित वैश्वानरप्रधान भूतात्मा, एवं कर्म्मलक्ष्य बनता है—सर्वज्ञ हिरण्यगर्भगर्भित अर्थप्रधान आधिभौतिक विराडात्मा। भूतात्मा कर्म्मकर्त्ता है, तो विराडात्मा कर्म्म का लक्ष्य है।

७७–भूतप्रधान भौतिक शरीर-इन्द्रियवर्ग-इन्द्रियार्थ, उभयात्मक प्रज्ञानमन, देवप्रधाना बुद्धि, महान्-अव्यक्त, एवं सर्वप्रधानाप्रधान अव्ययपर्व का स्वरूप-समन्वय—

अव्यय, अव्यक्त, महान्, बुद्धि, प्रज्ञान, इन्द्रियार्थ, इन्द्रियवर्ग, भौतिक शरीर, इन पूर्वोक्त आध्यात्मिक आठ पर्वों में से भौतिक शरीर, इन्द्रियवर्ग, इन्द्रियार्थ, ये तीन पर्व तो भूतप्रधान हैं, प्रज्ञानमन उभयात्मक है, बुद्धि-महान्-अव्यक्त, ये तीन पर्व देवप्रधान हैं, अव्ययपर्व सर्वप्रधानाप्रधान है। भूतप्रधाना पर्वत्रयी भूतप्रधान भूतात्मा से समतुलित है। जिसका निष्कर्ष यही निकलता है कि, भूतप्रधान विराडात्मा के प्रधान सहयोगी ये ही तीनों भौतिक पर्व बनते हैं। दूसरे शब्दों में सर्वज्ञ-हिरण्यगर्भ-गर्भित विराट्-मूर्त्ति सम्वत्सरप्रजापति को लक्ष्य बनाने वाला प्राज्ञ-तैजस-गर्भित वैश्वानरमूर्त्ति कर्म्मकर्त्ता भौतिक शरीर, इन्द्रियार्थ, इन्द्रियवर्ग, इन तीन भौतिक सहयोगियों की ही प्रधानतया अपेक्षा रखता है, जिन्हें हम कर्म्मसाधन कह सकते हैं।

७८–"उभयात्मकं मनः" से अनुप्राणित उभयात्मक प्रज्ञानमन का प्रधानतः उपासना-साधकत्व—

वैश्वानर-प्राज्ञ-गर्भित तैजसात्मा प्राणात्मा नामक भूतात्मा है। पराग्गतिस्थित आधिदैविक प्राज्ञानुगत ज्ञान से, अर्वाग्गतिस्थित आधिभौतिक वैश्वानरानुगत अर्थ से युक्त बनता हुआ मध्यस्थ तैजसात्मा उभयात्मक बनता हुआ उपासक बन रहा है। उधर 'उभयात्मकं मनः' के अनुसार प्रज्ञानमन भी उभयात्मक ही है। अतएव इसी पर्व को प्रधानतः उपासना-साधन माना जायगा। एवं सर्वज्ञ-विराड्गर्भित हिरण्यगर्भप्रजापति को इस उपासनाकाण्ड का लक्ष्य माना जायगा।

७९-चतुर्द्धा विभक्तिभावानुबन्धी आध्यात्मिक पर्वाष्टक से अनुप्राणित ज्ञान-कर्म्म-उपासना-तत्त्वों का तालिका-माध्यम से स्वरूप-समन्वय—

वैश्वानर-तैजस-गर्भित प्राज्ञ आत्मा चिदात्मा नामक भूतात्मा है। स्वज्ञानसम्पत्ति से ज्ञानप्रधान बनता हुआ यह आधिदैविक ज्ञाता है। उधर बुद्धि, महान्, अव्यक्त, तीनों पर्व ज्ञानप्रधान बनते हुए आधिदैविक हैं, ये ही इस ज्ञानयोग के सहयोगी हैं, साधन हैं। एवं विराट्-हिरण्यगर्भ-गर्भित ज्ञानप्रधान सर्वज्ञप्रजापति ज्ञानयोग का लक्ष्य बन रहा है। शेष रह जाता है— कार्य्यकारणातीत अव्ययपर्व। वही बुद्धियोग का अधिष्ठाता है, जिसमें भौतिक-दैविक, सबका समसमन्वय होरहा है, अतएव जो बुद्धियोग 'समत्त्वयोग' नाम से व्यवहृत हुआ है। इसप्रकार आध्यात्मिक पर्वाष्टक के चतुर्द्धा विभक्तिकरण से त्रिकाण्ड यथानुरूप व्यवस्थित होरहे हैं, जैसाकि निम्नलिखित परिलेखों से स्पष्ट है—

*—विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञरूपः-सर्वप्रजापतिः—'समंब्रह्म'——अव्यय[1]ानुगतः—बुद्धियोगलक्ष्यः

१—विराट्-हिरण्यगर्भगर्भितः——सर्वज्ञप्रधानः—'ज्ञानात्मा—अव्यक्त[2]महद्[3]बुद्ध्य[4]नुगतः———ज्ञानयोगलक्ष्यः

२—विराट्-सर्वज्ञगर्भितः—हिरण्यगर्भप्रधानः——प्राणात्मा—प्रज्ञान[5]ानुगतः——————भक्तियोगलक्ष्यः

३—सर्वज्ञ-हिरण्यगर्भगर्भितः— विराट्प्रधानः— भूतात्मा—इन्द्रिय[6]-इन्द्रियार्थ[7]-शरीर[8]ानुगतः—कर्म्मयोगलक्ष्यः

१	१-	१-अव्ययपुरुषः	न भौतिकः, न दैविकः, नोभयात्मकः, सर्वातीतः, सर्वरूपः, समः, (बुद्धियोगसाधनम्)
२	२-	१-अव्यक्तः	—आधिदैविकविवर्त्तत्रयी—ज्ञानप्रधाना (ज्ञानयोगसाधनानि)
	३-	२-महान्	
	४-	३-बुद्धिः	
३	५-	१-प्रज्ञानम्	—उभयात्मकं विवर्त्तम्—उभयप्रधानम् (भक्तियोगसाधनम्)
४	६-	१-इन्द्रियार्थाः	—आधिभौतिकविवर्त्तत्रयी—भूतप्रधाना (कर्म्मयोगसाधनानि)
	७-	२-इन्द्रियाणि	
	८-	३-शरीरम्	

*—वैश्वानर—तैजस—प्राज्ञरूपः—सर्वप्रजापतिः—समंब्रह्म—अव्ययानुगतः—बुद्धियोगी (योगी)

१—वैश्वानर—तैजसगर्भितः—प्राज्ञप्रधानः—चिदात्मा—अव्यक्तमहद्बुद्ध्यनुगतः—ज्ञानयोगी (ज्ञानी)

२—वैश्वानर—प्राज्ञगर्भितः—तैजसप्रधानः—प्राणात्मा—प्रज्ञानानुगतः—भक्तः (उपासकः)

३—प्राज्ञतैजसगर्भितः—वैश्वानरप्रधानः—भूतात्मा—इन्द्रियार्थेन्द्रियशरीरानुगतः—कर्म्मयोगी (कर्म्मठः)

* * *

१—भगवन्मतानुगता बुद्धियोगसंस्था—(बुद्धियोगः)

१

१—वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञमूर्त्तिः—भूतात्मा—बुद्धियोगी
२—विराट्—हिरण्यगर्भमूर्त्तिः—सर्वात्मा—योगलक्ष्यः
३—सर्वत्र समरूपेणावस्थितोऽव्ययपुरुषः—योगसाधकः

—सैषा बुद्धियोगनिष्ठा—बुद्धियोगिनाम् राजर्षीणाम्

* * *

२—प्राधानिकमतानुगता—ज्ञानयोगसंस्था—(ज्ञानयोगः)

२

१—वैश्वानर—तैजसगर्भितः—प्राज्ञप्रधानः—चिदात्मा——ज्ञानयोगी
२—विराट्—हिरण्यगर्भगर्भितः—सर्वज्ञप्रधानः—ज्ञानात्मा——ज्ञानयोगलक्ष्यः
३—अव्यक्त—महत्—बुद्धिभावाः ——ज्ञानयोगसाधनानि

—सैषा सांख्ययोगनिष्ठा—सिद्धानाम्

* * *

३—हिरण्यगर्भमतानुगता—भक्तियोगसंस्था—(भक्तियोगः)

३

१—वैश्वानर—प्राज्ञगर्भितः—तैजसप्रधानः—प्राणात्मा—भक्तियोगी
२—विराट्—सर्वगर्भितः—हिरण्यगर्भप्र०—प्राणात्मा—भक्तियोगलक्ष्यः
३—प्रशान्तं मनः —भक्तियोगसाधनम्

—सैषा भक्तियोगनिष्ठा राज्ञाम्

* * *

४–स्वयम्भुमतानुगता–कर्म्मयोगसंस्था—(कर्म्मयोगः)

४	१–प्राज्ञ–तैजसगर्भितः–वैश्वानरप्रधानः–भूतात्मा——कर्म्मयोगी	सैषा कर्म्मयोगनिष्ठा ब्राह्मणानाम्
	२–सर्वज्ञ–हिरण्यगर्भगं०-विराट्प्रधानः—सम्वत्सरात्मा—कर्म्मयोगलक्ष्यः	
	३–इन्द्रियार्थेन्द्रियवर्गशरीरभावाः —कर्म्मयोगसाधनानि	

* * *

८०–स्थितितारतम्येन भूतात्मा के चार संस्थान, चतुर्द्धा विभक्त प्रजापति, एवं उपासना-परपर्य्यायक "भक्तियोग" का स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

वही अध्यात्मसंस्था, वही भूतात्मा, वे ही साधन। केवल स्थिति–तारतम्य से भूतात्मा के चार संस्थान होरहे हैं। फलतः इसका प्रजापति से सम्बद्ध योग, योगलक्ष्य प्रजापति भी चतुर्द्धा विभक्त होरहा है। चारों योगों में से प्रकृत में उपासनापरपर्य्यायक भक्तियोग ही मीमांस्य है। भक्तियोग में भी सत्यवती उपासना, इसमें भी अव्यक्ताक्षरानुगामिनी इन्द्रियधारणलक्षणा योगोपासना। एक प्रासङ्गिक प्रश्न। एक ही भूतात्मा, एक ही अष्टपर्वात्मिका अध्यात्मसंस्था में प्रतिष्ठित होता हुआ चार योगों का प्रवर्त्तक कैसे बन गया ?, 'जीवात्मनोरीश्वरात्मनि योगो योगः' लक्षण एक ही योग चार मार्गों में कैसे विभक्त होगया ?, इत्यादि प्रश्नों का तो योगानुगत भूतात्मा के वैश्वानर–तैजस-प्राज्ञावयवों के समत्व, प्राधान्याप्राधान्यरूप से समाधान होजाता है। पर एक ही भक्तियोग के अवान्तर तीन विवर्त्त कैसे होगए ?, यह प्रश्न अभीतक सुरक्षित है। प्रश्न का प्रासङ्गिक समाधान पूर्व समाधान से ही गतार्थ है। तीन ही क्यों, इस दृष्टिकोण से तो भक्तियोग के चार विवर्त्त माने जाएँगे। केवल भक्तियोग के ही· क्यों, शेष बुद्धि ज्ञान–कर्म्मयोगों के भी प्रत्येक के चार चार योग माने जाएँगे, जिस चतुर्द्धा चतुर्द्धा विभक्ता योगचतुष्टयी के चातुर्विध्य का मूलकारण भूतात्मा की भावना से सम्बन्ध रखने वाले साधन-लक्ष्यों का तारतम्य ही है। क्रमप्राप्त पहिले बुद्धियोग को ही लीजिए।

८१–गीतासम्मत कर्म्मयोगात्मक बुद्धियोग, एवं बुद्धियोग के अव्यय-भक्ति-ज्ञानादि चार विवर्त्त—

यदि एक बुद्धियोगी भूतात्मा समब्रह्मात्मक अव्ययानुगति के साथ साथ लोकसंग्रहदृष्टि से इन्द्रिय–इन्द्रियार्थ-शरीरानुगति का अनुगमन करता हुआ लोकसंग्रहबुद्ध्या कर्म्मयोग में भी प्रवृत्त रहता है, तो उसका यह अव्ययानुगत बुद्धियोग इन्द्रियानुगति से कर्म्मयोगात्मक बुद्धियोग कहलाएगा, जो गीता का सर्व्वोच्च धरातल माना गया है। इसीप्रकार प्रज्ञानानुगतियुक्त अव्ययानुगत–बुद्धियोग भक्तियोगात्मक बुद्धियोग, अव्यक्त-महत्–बुद्ध्यनुगतियुक्त अव्ययानुगत बुद्धियोग, ज्ञानात्मक बुद्धियोग, एवं विशुद्ध अव्ययानुगत बुद्धि-योग बुद्धियोगात्मक बुद्धियोग बन जायगा।

८२-कर्म्मयोगात्मक ज्ञानयोग, एवं इसके अव्यय-भक्ति-बुद्धि आदि विभिन्न विवर्त्तों का दिग्दर्शन—

यदि एक ज्ञानयोगी भूतात्मा अव्यक्त-महत्-बुद्ध्यनुगति के साथ साथ लोकसंग्रहदृष्ट्या इन्द्रिय-इन्द्रियार्थ-शरीरानुगति का अनुगमन करता हुआ कर्म्मयोग में भी प्रवृत्त रहता है, तो इसका यह अव्यक्ता-द्यनुगत ज्ञानयोग इन्द्रियाद्यनुगति से कर्म्मयोगात्मक ज्ञानयोग कहलाएगा। एवमेव प्रज्ञानानुगतियुक्त अव्य-क्ताद्यनुगत ज्ञानयोग भक्तियोगात्मक ज्ञानयोग कहलाएगा। अव्ययानुगति से युक्त अव्यक्ताद्यनुगत ज्ञानयोग बुद्धियो-गात्मक ज्ञानयोग माना जाएगा। एवं विशुद्ध अव्यक्त-महत्-बुद्ध्यनुगत ज्ञानयोग को ज्ञानयोगात्मक ज्ञानयोग कहा जायगा।

८३-कर्म्मयोगात्मक भक्तियोग, एवं उसके विभिन्न विवर्त्तों का स्वरूप-संस्मरण—

यदि एक उपासक भूतात्मा प्रज्ञानानुगति के साथ साथ लोकसंग्रहदृष्ट्या इन्द्रियादि का अनुगमन करता हुआ कर्म्मयोग में भी प्रवृत्त रहता है, तो इसका यह इन्द्रियाद्यनुगतियुक्त प्रज्ञानानुगत भक्तियोग कर्म्मयोगात्मक भक्तियोग कहलाएगा। एवमेव अव्यक्त-महत्-बुद्ध्यनुगतियुक्त प्रज्ञानानुगत भक्तियोग ज्ञानयोगा-त्मक भक्तियोग माना जायगा। अव्ययानुगतियुक्त प्रज्ञानानुगत भक्तियोग बुद्धियोगात्मक भक्तियोग कहा जाएगा। एवं विशुद्ध प्रज्ञानानुगत भक्तियोग भक्तियोगात्मक भक्तियोग कहलाएगा।

८४-अव्ययानुगति से समन्वित इन्द्रियानुगत कर्म्मयोग का बुद्धियोगात्मक कर्म्मयोगत्व, प्रज्ञानगतिमत् इन्द्रियानुगत कर्म्मयोग का भक्तियोगात्मक कर्म्मयोगत्व, अव्यक्त-महद्-बुद्ध्यनुगत कर्म्मयोग का ज्ञानयोगात्मक कर्म्मयोगत्व, विशुद्ध इन्द्रियेन्द्रिया-र्थशरीरानुगत कर्म्मयोग का कर्म्मयोगात्मक कर्म्मयोगत्व समन्वय, एवं परिलेखों-के माध्यम से स्थिति का स्पष्टीकरण-प्रयास—

यदि एक कर्म्मठ उपासक इन्द्रिय-इन्द्रियार्थ-शरीरानुगति के साथ साथ अव्ययात्मा को स्वकर्म्म की मूलप्रतिष्ठा मानेगा, स्वकर्म्म में आत्मसमर्पणबुद्ध्या प्रवृत्त होगा, तो उसका यह अव्ययानुगतियुक्त इन्द्रियाद्यनुगत कर्म्मयोग बुद्धियोगात्मक कर्म्मयोग माना जाएगा। एवमेव प्रज्ञानानुगतियुक्त इन्द्रियाद्यनुगत कर्म्मयोग भक्तियोगात्मक कर्म्मयोग माना जाएगा। अव्यक्त-महत्-बुद्ध्यनुगतियुक्त इन्द्रियानुगत कर्म्मयोग ज्ञानयोगात्मक कर्म्मयोग माना जाएगा। एवं विशुद्ध इन्द्रिय-इन्द्रियार्थ-शरीरानुगत कर्म्मयोग को कर्म्म-योगात्मक कर्म्मयोग कहा जाएगा। इसप्रकार भावना-साधन-स्थिति-तारतम्य से चारों योगों का समन्वय होजाएगा, जो कि समन्वय-'चतुष्टयं वा इदं सर्व्वम्' इस अनुगमवचन पर प्रतिष्ठित माना गया है, एवं जिस का निम्नलिखित परिलेखों से स्पष्टीकरण होरहा है—

१–बुद्धियोगानुगता योगचतुष्टयी (चतुर्विधो बुद्धियोगः)—

१

१–वैश्वानरतैजसप्राज्ञमूर्त्तिर्भूतात्मा——बुद्ध्यनुगत-बुद्धियोगी भूतात्मा

२–विराट्–हिरण्यगर्भसर्वज्ञमूर्तिः सर्वात्मा-बुद्ध्यनुगत–बुद्धियोगलक्ष्यः

३–समरूपेणावस्थितोऽव्ययपुरुषः——बुद्धियोगसाधनम्

बुद्धियोगात्मको बुद्धियोगः
'वैराग्यबुद्धियोगः'
राजर्षिविद्यानुगतः

* * * *

२

१–वैश्वानरतैजसगर्भितः प्राज्ञप्रधानश्चिदात्मा–ज्ञानानुगतबुद्धियोगी भूतात्मा

२–विराड्हिरण्यगर्भगर्भितः सर्वज्ञप्रधानः प्राणात्मा-ज्ञानानुगतबुद्धियोगलक्ष्यः

३–अव्यक्तमहद्बुद्ध्यनुगतियुक्तोऽव्ययपुरुषः——ज्ञानानुगतबुद्धियोगसाधनम्

ज्ञानयोगात्मको बुद्धियोगः
'ज्ञानबुद्धियोगः'
सिद्धविद्यानुगतः

* * * *

३

१–वैश्वानरप्राज्ञगर्भितस्तैजसप्रधानः प्राणात्मा—भक्त्यनुगतबुद्धियोगी भूतात्मा

२–विराट्सर्वज्ञगर्भितो हिरण्यगर्भप्रधानः प्राणात्मा–भक्त्यनुगतबुद्धियोगलक्ष्यः

३–प्रज्ञानमनोऽनुगतियुक्तोऽव्ययपुरुषः ———भक्त्यनुगतबुद्धियोगसाधनम्

भक्तियोगात्मको बुद्धियोगः
'ऐश्वर्य्यबुद्धियोगः'
'राजविद्यानुगतः'

* * * *

४

१–प्राज्ञतैजसगर्भितवैश्वानरप्रधानो भूतात्मा–कर्म्मानुगतबुद्धियोगी भूतात्मा

२–सर्वज्ञहिरण्यगर्भितो विराट्प्रधानः सम्वत्सर-कर्म्मानुगतबुद्धियोगलक्ष्यः

३–इन्द्रियेन्द्रियार्थशरीरानुगतियुक्तोऽव्ययपुरुषः-कर्म्मानुगतबुद्धियोगसाधनम्

कर्म्मयोगात्मको बुद्धियोगः
'धर्म्मबुद्धियोगः'
आर्षविद्यानुगतः

* * * *

१

—*—

२–ज्ञानयोगानुगता योगचतुष्टयी–(चतुर्विधो ज्ञानयोगः)—

१ — बुद्धियोगात्मको ज्ञानयोगः
- १–वैश्वानरतैजसगर्भितः प्राज्ञप्रधानश्चिदात्मा—बुद्ध्यनुगतज्ञानयोगी भूतात्मा
- २–विराड्हिरण्यगर्भगर्भितः सर्वज्ञप्रधानो ज्ञानात्म-बुद्ध्यनुगतज्ञानयोगलक्ष्यः
- ३–अव्ययानुगतियुक्ताः-अव्यक्त-महत्-बुद्धिभावाः–बुद्ध्यनुगतज्ञानयोगसाधनानि

* * * *

२ — ज्ञानयोगात्मको ज्ञानयोगः
- १–वैश्वानरतैजसगर्भितः प्रा० चिदात्मा–ज्ञानानुगतज्ञानयोगी भूतात्मा
- २–वि० हि० ग० सर्व० ज्ञानात्मा—ज्ञानानुगतज्ञानयोगलक्ष्यः
- ३–विशुद्ध-अव्यक्त-महद्-बुद्धिभावाः—ज्ञानानुगतज्ञानयोगसाधनानि

* * * *

३ — भक्तियोगात्मको ज्ञानयोगः
- १–वै० तै० ग० प्रा० चिदात्मा—भक्त्यनुगतज्ञानयोगी भूतात्मा
- २–वि० हि० ग० स० ज्ञानात्मा—भक्त्यनुगतज्ञानयोगलक्ष्यः
- ३–प्रज्ञानानुगतियुक्ताः-अव्यक्तमहद्-बुद्धिभावा-भक्त्यनुगतज्ञानयोगसाधनानि

* * * *

४ — कर्म्मयोगात्मको ज्ञानयोगः
- १–वै० तै० ग० प्रा० चिदात्मा—कर्म्मानुगतज्ञानयोगी भूतात्मा
- २–वि० हि० ग० स० ज्ञानात्मा—कर्म्मानुगतज्ञानयोगलक्ष्यः
- ३–इन्द्रियेन्द्रियार्थशरीरानुगतियुक्ता अ० म० बु० भावाः—कर्म्मानुगतज्ञानयोगसाधनानि

*

२

—*—

३-भक्तियोगानुगता योगचतुष्टयी (चतुर्विधो भक्तियोगः)—

१
1. १-वैश्वानरप्राज्ञगर्भितस्तैजसप्रधानः प्राणात्मा——बुद्ध्यनुगतभक्तियोगी भूतात्मा
2. २-विराट्सर्वज्ञगर्भितो हिरण्यगर्भप्रधानः प्राणात्मा—बुद्ध्यनुगतभक्तियोगलक्ष्यः
3. ३-अव्ययानुगतियुक्तं प्रज्ञानं मनः————बुद्ध्यनुगतभक्तियोगसाधने

—बुद्धियोगात्मको भक्तियोगः

* * * *

२
1. १-वैश्वानरप्राज्ञगर्भितस्तैजसप्रधानः प्राणात्मा—ज्ञानानुगतभक्तियोगी भूतात्मा
2. २-विराट्सर्वज्ञगर्भितो हिरण्यगर्भप्रधानः प्राणात्मा-ज्ञानानुगतभक्तियोगलक्ष्यः
3. ३-अव्यक्यमहद्बुद्ध्यनुगतियुक्तं प्रज्ञानं मनः-ज्ञानानुगतभक्तियोगसाधनानि

—ज्ञानयोगात्मको भक्तियोगः

३
1. १-वैश्वानरप्राज्ञगर्भितस्तैजसप्रधानः प्राणात्मा—भक्त्यनुगतभक्तियोगी भूतात्मा
2. २-विराट्सर्वज्ञगर्भितो हिरण्यगर्भप्रधानः प्राणात्मा-भक्त्यनुगतभक्तियोगलक्ष्यः
3. ३-विशुद्धं प्रज्ञानं मनः —भक्त्यनुगतभक्तियोगसाधनम्

—भक्तियोगात्मको भक्तियोगः

* * * *

४
1. १-वैश्वानरप्राज्ञगर्भितस्तैजसप्रधानः प्राणात्मा——कर्म्मानुगतभक्तियोगी भूतात्मा
2. २-विराट्सर्वज्ञगर्भितो हिरण्यगर्भप्रधानः प्राणात्मा—कर्म्मानुगतभक्तियोगलक्ष्यः
3. ३-इन्द्रियेन्द्रियार्थशरीरानुगतियुक्तं प्रज्ञानंमनः——कर्म्मानुगतभक्तियोगसाधनानि

—कर्म्मयोगात्मको भक्तियोगः

—३—

४–कर्म्मयोगानुगता योगचतुष्टयी (चतुर्विधः कर्म्मयोगः)

१ — बुद्धियोगात्मकः कर्म्मयोगः

१–प्राज्ञतैजसगर्भितो वैश्वानरप्रधानो भूतात्मा—बुद्ध्यनुगतकर्म्मयोगी भूतात्मा

२–सर्वज्ञहिरण्यगर्भगर्भितो विराट्प्रधानः सम्वत्सरः-बुद्ध्यनुगतकर्म्मयोगलक्षणः

३–अव्ययानुगतियुक्ता इन्द्रियेन्द्रियार्थशरीरभावाः-बुद्ध्यनुगतकर्म्मयोगसाधनानि

२ — ज्ञानयोगात्मकः कर्म्मयोगः

१–प्राज्ञतैजसगर्भितो वैश्वानरप्रधानो भूतात्मा–ज्ञानानुगतकर्म्मयोगी भूतात्मा

२–सर्वज्ञहिरण्यगर्भगर्भितो विराट्प्रधानः सम्वत्सरः-ज्ञानानुगतकर्म्मयोगलक्षणः

३-अव्यक्तमहद्बुद्ध्यनुगतियुक्ता इन्द्रियेन्द्रियार्थशरीरभावाः-ज्ञानानुगतकर्म्मयोगसाधनानि

३ — भक्तियोगात्मकः कर्म्मयोगः

१-प्राज्ञतैजसगर्भितो वैश्वानरप्रधानो भूतात्मा—भक्त्यनुगतकर्म्मयोगी भूतात्मा

२–सर्वज्ञहिरण्यगर्भगर्भितो विराट्प्रधानः सम्वत्सरः-भक्त्यनुगतकर्म्मयोगलक्षणः

३–प्रज्ञानमनोऽनुगतियुक्ता इन्द्रियेन्द्रियार्थशरीरभावाः—भक्त्यनुगतकर्म्मयोगसाधनानि

४ — कर्म्मयोगात्मकः कर्म्मयोगः

१-प्राज्ञतैजसगर्भितो वैश्वानरप्रधानो भूतात्मा—कर्म्मानुगतकर्म्मयोगी भूतात्मा

२–सर्वज्ञहिरण्यगर्भगर्भितो विराट्प्रधानः सम्वत्सरः-कर्म्मानुगतः कर्म्मयोगलक्षणः

३–विशुद्धेन्द्रियेन्द्रियार्थशरीरभावाः————कर्म्मानुगतकर्म्मयोगसाधनानि

४

८५-उपासनाकाण्डानुप्राणिता, सर्वोत्तम दृष्टिकोण से अनुगता, बुद्धियोगान्विता-समब्रह्मात्मिका अव्ययोपासनात्मिका-सत्यवती-उपासना का स्वरूप-दिग्दर्शन—

यही क्यों, यदि इनके अवान्तर भेदों की मीमांसा की जाती है, तो प्रत्येक के अनेक विवर्त्त होजाते हैं, जो विभिन्न विवर्त्त विभिन्न आध्यात्मिक-दृष्टिकोणों की अपेक्षा यथास्थान सर्वथा व्यवस्थित हैं। प्रकृत में चारों में से केवल चतुर्विध भक्तियोग ही मीमांस्य है। भक्तियोग में उपासक प्राणात्मा यदि अव्ययानुगति-युक्त प्रज्ञानमन को साधन बनाकर हिरण्यगर्भोपासना करता है, तो इसकी यह उपासना बुद्धियोगान्विता बन जाती है, जिसका 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादिरूप से पूर्व के 'सत्यवती–उपासना' नामक परिच्छेद में स्पष्टीकरण किया जाचुका है। व्यापक ब्रह्मभावानुगता (अव्ययानुगता) यही सत्यवती–उपासना बुद्धियोग-लक्षणा अव्ययोपासना है। एवं यही उपासनाकाण्ड का सर्वोत्तम दृष्टिकोण है।

८६- उपासना के सत्य–अङ्ग–अन्यात्मक त्रिविध वितानभावों का परिलेख–माध्यम से स्वरूप–समन्वय—

अव्यय के अनन्तर अव्यक्त, महत्–बुद्धिरूप अक्षरसंस्था का साम्राज्य है। इन तीनों आध्यात्मिक पर्वों के, तथा प्रज्ञानमन, इन्द्रियार्थ, इन्द्रियवर्ग, शरीर, इन चारों आध्यात्मिक पर्वों के सहयोगतारतम्य से उपासना के सत्यवती उपासना, अङ्गवती उपासना, अन्यवती उपासना, ये तीन विवर्त्त सम्पन्न होजाते हैं। ये ही तीनों क्रमशः ज्ञानयोगात्मक भक्तियोग (उपास्ति), भक्तियोगात्मक भक्तियोग (भक्ति), कर्म्मयोगात्मक भक्तियोग (सेवा) इन नामों से व्यवहृत हुए हैं। भक्तियोगानुगता योगचतुष्टयी नामक तृतीय परिलेख में—जिसे बुद्धियोगात्मक भक्तियोग कहा है, वही बुद्धियोगलक्षणा सर्वोत्तमा अव्ययोपासना है। ज्ञानयोगात्मक भक्तियोग ही मध्यमा अङ्गवती (प्रतिरूपविधा, एवं प्रतीकविधा भेदेन द्विविधा) उपासना है। कर्म्मयोगात्मक भक्तियोग ही प्रथमा (अवरा) अन्यवती उपासना है। परिलेख में इन चारों भक्तिविवर्त्तों के साथ क्रमशः अव्ययसंस्था, अव्यक्त–महद्–बुद्धिलक्षणा–महदक्षरसंस्था, प्रज्ञानमनोलक्षणा–आत्मक्षर संस्था, इन्द्रियार्थ, इन्द्रियरूपा–आत्मक्षरसंस्था के दो पर्व, एवं शरीररूप विकारक्षरसंस्था का सम्बन्ध बतलाया गया है। इससे यह भी सिद्ध होजाता है कि, अव्ययानुगता व्यापक ब्रह्मभावनात्मिका सर्वोत्तमा बुद्धियोगलक्षणा उपासना (वित्ति) विशुद्ध अद्वैतभावात्मिका है। अव्यक्त–महत्–बुद्ध्यनुगता अक्षरब्रह्मभावनात्मिका ज्ञानयोगसमतुलिता, उत्तमा इन्द्रियधारणयोगलक्षणा सत्यवती उपासना (उपास्ति) अद्वैतभावात्मिका है। प्रज्ञानमनोऽनुगता, आत्मक्षरब्रह्मभावनात्मिका, भक्तियोगसमतुलिता, मध्यमा अङ्गवती उपासना (भक्ति) द्वैतसहयोगानुगता भाव–क्रिया–द्रव्याद्वैतलक्षणा सोपाधिक–अद्वैतभावात्मिका है। एवं इन्द्रियार्थ, इन्द्रिय, शरीरानुगता, आत्मक्षर–विकारक्षरब्रह्मभावनात्मिका, कर्म्मयोगसमतुलिता, प्रथमा अन्यवती उपासना (सेवा) द्वैतभावात्मिका है। निम्न लिखित परिलेख इसी दृष्टिकोण का समर्थन कर रहे हैं—

१ {
- १ अव्ययपुरुषः (१) —— अव्ययोपासना-सत्यवती-उपासना-समब्रह्मात्मिका (वित्तिः)-बुद्धियोगलक्षणा
- *———*
- २ अव्यक्तात्मा (१)

२ {
- ३ महानात्मा (२)
- ४ विज्ञानात्मा (३)
- } महदक्षरसंस्था —अक्षरोपासना–सत्यवती-उपासना–योगात्मिका (उपास्तिः) ज्ञानयोगलक्षणा

———

३ {
- ५ प्रज्ञात्मा(१) —आत्मक्षरोपासना–अङ्गवती-उपासना-भावक्रियाद्रव्यात्मिका (भक्तिः) भक्तियोगलक्षणा

———

४ {
- —} —आत्मक्षरसंस्था
- ६ इन्द्रियार्थाः (१)
- ७ इन्द्रियाणि (२) —विकारक्षरोपासना–अन्यवती-उपासना–द्रव्यात्मिका(सेवा) कर्म्मयोगलक्षणा
- ८ भौतिकशरीरम्(३) } विकारः

* * * *

१ | १–अव्ययपुरुषः–न दैवः, न भूतः, दैवोऽपि, भूतोऽपि, सर्वरूपः———सत्यवती

२ | १–अव्यक्तात्मा (अव्यक्तः)
२–महानात्मा (महान्)
३–विज्ञानात्मा (बुद्धिः) } —अधिदैवतम्–अद्वैतभावापन्नम्———सत्यवती

३ | १–प्रज्ञानात्मा (मनः)———उभयात्मकम्–द्वैतानुगतभावक्रियाद्रव्याद्वैतभावापन्नम्—अक्षरवती

४ | १–इन्द्रियार्थाः
२–इन्द्रियाणि
३–शरीरम् } —अधिभूतम्–द्वैतभावापन्नम्———अन्यवती

* * * *

१–सर्वात्मिका अव्ययब्रह्मोपासना—सत्यवती-उपासना–बुद्धियोगः
२–अद्वैतात्मिका अक्षरब्रह्मोपासना—सत्यवती-उपासना–ज्ञानयोगः } –उत्तमोपासना सत्यवती (१)
३–द्वैतानुगता द्वैतात्मिका आत्मक्षरोपासना-अक्षरवती-उपासना-भक्तियोगः } –मध्यमोपासना अक्षरवती (२)
४–द्वैतात्मिका विकारक्षरोपासना—अन्यवती-उपासना कर्मयोगः } –प्रथमोपासना अन्यवती (३)

* * *

८७–प्रज्ञानमनोऽनुगत संस्कारों के आभ्यन्तर-बाह्य-भावानुबन्धी द्विविध विवर्त, एवं तन्निबन्धना सांस्कारिकी स्वरूप-स्थिति का समन्वय—

अबतक जिन अव्ययादि, शरीरान्त आठ पर्वों के आधार पर योगविवर्त्तों का समन्वय किया गया है, उन आठों ही आध्यात्मिक पर्वों का व्यष्टि, समष्टिरूप से उपनिषदों में यत्र तत्र विस्तार से निरूपण हुआ है। आत्मतृप्ति के लिए प्रकृत में समष्ट्यात्मक आध्यात्मिक आठों पर्वों के सम्बन्ध में कुछ एक औपनिषद वचन उद्धृत कर देना अनावश्यक न माना जायगा। भौतिकशरीर इतर सातों आध्यात्मिक पर्वों का 'पुर' रूप बाह्य वेष्टन है। इसी पुर के सम्बन्ध से आध्यात्मिक आत्मा 'पुरुष' कहलाया है। इस पुररूप भौतिक शरीर में पहिला स्थान भौतिक इन्द्रियवर्ग का है। दूसरा स्थान रूप–रस–गन्ध–स्पर्श-शब्दादि इन्द्रियार्थों का है।

इन्द्रियार्थ बाह्य, आभ्यन्तर, भेद से दो भागों में विभक्त हैं। सांसारिक भौतिक विषय बाह्य इन्द्रियार्थ हैं। स्वभावतः सांसारिक विषयों की ओर प्रवृत्त रहने वाले कामनामय प्रज्ञानमन के सहयोग से पराग्गतिलक्षणा इन्द्रियाँ बाह्य इन्द्रियार्थों से सम्बन्ध करती है। इन्द्रियद्वारा बाह्य अर्थों के वासनात्मक संस्कार सोममय, अतएव स्नेहगुणक प्रज्ञानमनोधरातल पर अन्तर्य्याम सम्बन्ध से खचित होजाते हैं। इन्द्रियद्वारा आगत, मन पर खचित संस्काररूप ये ही इन्द्रियार्थ आभ्यन्तर इन्द्रियार्थ हैं। बाह्य इन्द्रियार्थदृष्टि से प्रथम स्थान इन्द्रियार्थों का है, आभ्यन्तर सांस्कारिक इन्द्रियार्थों की दृष्टि से प्रथम स्थान इन्द्रियवर्ग का है। आध्यात्मिक इन्द्रियार्थपर्व आभ्यन्तर ही है। अतएव उपनिषत् ने पहिला स्थान इन्द्रियवर्ग का माना है, दूसरा स्थान इन्द्रियार्थों का माना है। प्रज्ञानमन, इन्द्रियवर्ग, दोनों के मध्य में सांस्कारिक आभ्यन्तर इन्द्रियार्थ प्रतिष्ठित हैं, यही निष्कर्ष है। इन्द्रियों का प्रथम स्थान, अनन्तर इन्द्रियसञ्चालक प्रज्ञानमन, दोनो के मध्य में सांस्कारिक इन्द्रियार्थ प्रतिष्ठित हैं।

८८–विज्ञानात्मा से सम्परिष्वक्त प्रज्ञानात्मा, एवं आध्यात्मिक सूर्य्य, तथा चन्द्रमा का अन्तर्य्याम-सम्बन्ध, और सर्वप्रतिष्ठात्मक महानात्मा—

'स वा एष प्रज्ञानात्मा विज्ञानात्मना सम्परिष्वक्तः' सिद्धान्तानुसार प्रज्ञानात्मा नामक मन विज्ञानात्मा नामकी बुद्धि से संश्लिष्ट है। विज्ञानसम्परिष्वक्ति से ही प्रज्ञान प्रकाशित है। सौर तेज से ही चन्द्रमा प्रकाशित है। विज्ञानात्मिका बुद्धि आध्यात्मिक सूर्य्य है, प्रज्ञानात्मक मन आध्यात्मिक चन्द्रमा है। अतएव कहा जासकता है कि, प्रज्ञान मन से अगला स्थान विज्ञानात्मिका बुद्धि का है। 'अहं' भाव की मूलप्रतिष्ठा पारमेष्ठ्य सोममय आत्मपर्व ही 'महानात्मा' है, जिसे 'चिद्योनि' भी कहा जाता है। यही महान् जीवन की प्रतिष्ठा है। महान्–विज्ञान–प्रज्ञान, तीनों की जाग्रदवस्था जाग्रदवस्था है, महान्–विज्ञान, दोनों की जाग्रदवस्था स्वप्नावस्था है, महान् की जाग्रदवस्था सुषुप्ति है। महान् की सुषुप्ति मृत्यु है। महान् ही आध्यात्मिकसंस्था की मूलप्रतिष्ठा है, जैसाकि ईशादि–विज्ञानभाष्यों में विस्तार से प्रतिपादित हुआ है। निम्नलिखित ब्राह्मण-श्रुति महान् की इसी महत्ता का दिग्दर्शन करा रही है—

"तदेष श्लोकः–तद्धै स प्राणोऽभवन् महान् भूत्वा प्रजापतिः।
भुजो भुजिष्यावित्वा यत् प्राणान् प्राणयत्पुरि"॥
—शत० ७।५।१।२१।

८९–महानात्म–निबन्धन इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ, मन, बुद्धि, महान्, अव्यक्त, पुरुष, निबन्धना क्रमधारा का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय—

विज्ञानात्मा बुद्धि है, इसी को उपनिषदों में 'सत्त्व' भी कहा है। इस सत्त्वात्मिका बुद्धि का प्रभव उसी प्रकार महान् बनता है, जैसे कि आधिदैविक महान्रूप परमेष्ठी आधिदैविक बुद्धिरूप सूर्य्य का प्रभव बनता है *। अतएव बुद्धि से परे महान् का स्थान माना जासकता है। महान् से परे अव्यक्तात्मा है। सर्वोपरि

* महान् प्रभुर्वै पुरुषः सत्त्वस्यैषः प्रवर्त्तकः।
सुनिर्म्मलामिमां प्राप्तिमीशानो ज्योतिरव्ययः॥
—श्वे० उ० ३।१२।

सर्वव्यापक अव्ययपुरुष है। यही परा काष्ठा है, परा गति है। इसप्रकार भौतिक शरीराधारेण इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ, मन, बुद्धि, महान्, अव्यक्त, अव्यय; पुरुष, यह क्रम व्यवस्थित है।

पाञ्चभौतिकं — शरीरम्—पुरम्

व्यापकोऽलिङ्ग एव च

-अव्यक्तात्तु परः पुरुषः———अव्ययः

-महतोऽव्यक्तमुत्तमम्———अव्यक्तः

-सत्त्वादधि महानात्मा———महान्

-मनसः सत्त्वमुत्तमम् (बुद्धिः)-बुद्धिः

-इन्द्रियेभ्यः परं मनः———मनः

-(इन्द्रियाणि)———इन्द्रियाणि

इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत् ॥
पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति ॥१॥

इन्द्रियेभ्यः परं मनः, मनसः सत्त्वमुत्तमम् ॥
सत्त्वादधि महानात्मा, महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥२॥
अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च ॥
यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥३॥
—कठोपनिषत् ६।६,७,८,।

तस्यामेतस्यां ८ पर्वात्मिकायामध्यात्म-
संस्थायां—वैश्वारतैजसप्राज्ञमूर्त्तिरिन्द्रिय-
मनोयुक्तो भूतात्मा—भोक्ता प्रतिष्ठितः
'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः'
कठो० १।३।४।

अव्यक्तात् पुरुषः परः———अव्ययः (८)

महतः परमव्यक्तम्———अव्यक्तः (७)

बुद्धेरात्मा महान परः———महान् (६)

मनसस्तु परा बुद्धिः———बुद्धिः (५)

अर्थेभ्यश्च परं मनः———मनः (४)

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था:———इन्द्रियार्थाः (३)

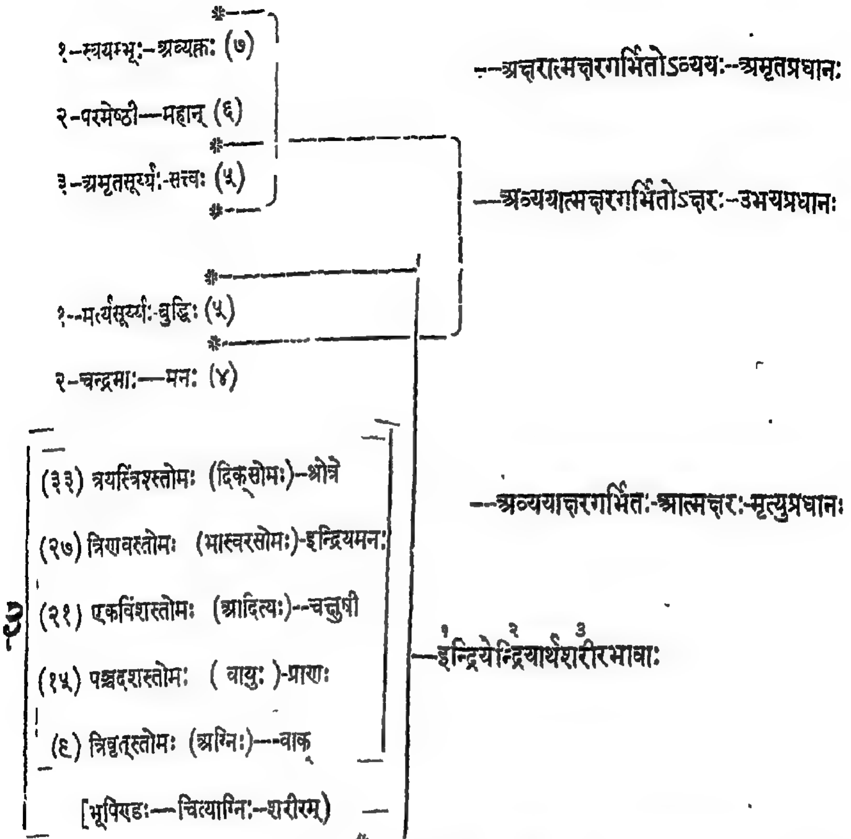
(इन्द्रियाणि) इन्द्रियाणि (२)

भौतिकं शरीरम् (१)

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः, अर्थेभ्यश्च परं मनः ॥
मनसस्तु परा बुद्धिर्, बुद्धेरात्मा महान् परः ॥१॥
महतः परमव्यक्तं, अव्यक्तात् पुरुषः परः ॥
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः ॥२॥
कठोपनिषत् १।३।१०,११,।

९०-ईश्वरीय आधिदैविक अष्टपर्वों के साथ जीवानुगत (मानवीय) आध्यात्मिक आठ पर्वों का रहस्यात्मक स्वरूप-समतुलन, एवं परिलेख के द्वारा तत्स्पष्टीकरण—

उक्त आठों आध्यात्मिक पर्वों का गीतादृष्टि से समन्वय कीजिए। अव्ययपुरुष, अव्यक्त, महान्, बुद्धि, इन चारों क एक विभाग है। बुद्धि, मन, इन्द्रियार्थ, इन्द्रिवर्ग, शरीर, इन पाँच पर्वों का एक विभाग है। मध्यस्था बुद्धि का उभय विभागों में समन्वय है, अतएव पर्व वस्तुतः ८ ही रह जाते हैं। आधिदैविक ईश्वराव्यय जिस भौतिक विश्व में प्रतिष्ठित है, उस के स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी, ये पांचों पर्वों है। पांचों पर्वों की समष्टिरूप ईश्वरप्रजापति-'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन !' (गीता) 'अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्' (शत० १०। काण्ड) इत्यादि स्मृति-श्रुति के अनुसार अमृत-मृत्यूमयमूर्त्ति है। मध्यस्थ सूर्य्य ही इन अमृत-मृत्यु-भावों का विभाजक है। सूर्य्योपरि अवस्थित परमेष्ठी, स्वयम्भू, दोनों अमृतप्रधान हैं। सूर्य्याधः-अर्वास्थित चन्द्रमा, पृथिवी, दोनों मृत्युप्रधान हैं। मध्यस्थ सूर्य्य-'निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च' के अनुसार उभयात्मक है। अमृतसूर्य्य का ऊर्ध्वसंस्था में अन्तर्भाव है, मर्त्यसूर्य्य का अधःसंस्था में अन्तर्भाव है। इन तीनों विश्वसंस्थाओं में व्याप्त विश्वेश्वर अपने अव्यय-अक्षर-आत्मक्षररूप से प्रतिष्ठित है। अक्षरक्षरगर्भित अव्यय अमृतात्मा है, इस का अमृतप्रधान स्व० प० अमृतसूर्य्यात्मिका अमृतविश्वसंस्था में प्राधान्य है। अव्यय-क्षरगर्भित अक्षर उभयात्मा है, इस का उभयप्रधाना मध्यस्था सूर्य्यसंस्था में प्राधान्य है। अव्ययाक्षर-गर्भित आत्मक्षर मृत्युप्रधान है, इस का मृत्युप्रधाना चन्द्रमा-पृथिव्यात्मक मर्त्यविश्वसंस्था में प्राधान्य है। स्वयम्भू का अंश अव्यक्त है, परमेष्ठी का अंश महान् है, सूर्य्यांश बुद्धि-है, चन्द्रमांश मन है, पृथिव्यांश शरीर है। इसप्रकार अध्यात्मसंस्था अधिदैवतसंस्था से सर्वात्मना समतुलित है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है—



६१-आधिदैविक-ईश्वरतन्त्र, तथा आध्यात्मिक जीवतन्त्र के पर्वसाम्य से अनुप्राणिता गीता की रहस्यात्मिका दृष्टि का स्वरूप-समन्वय—

अव्यक्त, महान्, सत्त्वबुद्धिरूप अमृतभाग से युक्त अमृतप्रधान अव्यय अध्यात्मसंस्था का ईश्वरतन्त्र है। बुद्धि, मन, इन्द्रिय, इन मर्त्यभावों से युक्ता मृत्युप्रधाना आत्मक्षरसंस्था जीवतन्त्र है। मध्यस्थ अक्षर-संस्था उभय-समन्विता है। इन्द्रिय-मन-बुद्धि के आधार पर स्वभोक्तृस्वरूप में प्रतिष्ठित देहाभिमानी जीवात्मा का मनोमय ऐन्द्रियक विषयकामना-संस्कारों से विमोहन होता रहता है। रजोगुण से समुद्भूत काम, और क्रोध (अनुकूल राग से उत्पन्न कामात्मिका मनोवृत्ति, एवं प्रतिकूलराग से क्रोधात्मिका मनोवृत्ति) ही देही के स्वाभाविक सत्त्वज्ञान को आवृत करने वाले महा वैरी हैं—(गी० ३।३७)। प्रकृत में वक्तव्यांश केवल यही है कि, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, तीनों की समष्टि काम की अधिष्ठानभूमि है। तीनों की समष्टि ही काममय देही के बन्धन का कारण है। अव्यक्त-महान्-सत्त्व-त्रयी का निष्कामरूप अव्यय से सम्बन्ध है। इसी आधार पर बुद्धि से परे रहने वाले अव्यक्त-महान्-सत्त्व का अव्ययपुरुषात्मक एक स्वतन्त्र विभाग मानते हुए गीताचार्य्य ने अष्टपर्वात्मिका अध्यात्मसंस्था का चार ही विभागों में पर्य्यवसान मान लिया है। अपि च गीता का प्रधान प्रतिपाद्य विषय बुद्धियोग है। बुद्धि का अव्यय के साथ योग होजाना ही बुद्धियोग है। तृतीय बुद्धिपर्व से

आगे ईश्वरतन्त्रानुगत अमृताव्यय का प्राधान्य है। अतएव भगवान् ने बुद्धि से आगे के पर्वों का अव्यय-रूप से ही संग्रह कर लिया है, जैसा कि निम्न लिखित वचनों से स्पष्ट है—

१-इन्द्रियाणि-मनो-बुद्धि-रस्याधिष्ठानमुच्यते ॥
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ गी० ३।४०।

२-इन्द्रियाणि पराण्याहु, रिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धि, र्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ गी० ३।४२।

३-एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मा ।
जहि शत्रुं महाबाहो ! कामरूपं दुरासदम् ॥ गी० ३।४३।

१	१-अव्यक्तः, २-महान्	यो बुद्धेः परतस्तु सः	अव्ययानुगतं ईश्वरतन्त्रम्	स एष गीताहृदयानुगतः समन्वयः- आध्यात्मिकपर्व्वाणाम्
२	३-बुद्धिः, १-बुद्धिः	मनसस्तु परा बुद्धिः	अक्षरानुगतं बुद्धितन्त्रम्	
३	२-मनः	इन्द्रियेभ्यः परं मनः	क्षरानुगतं जीवतन्त्रम्	
	(इन्द्रियार्थाः * * *			
	इन्द्रियाणि	इन्द्रियाणि पराण्याहुः		
	* शरीरम् * * * *			

६२—आध्यात्मिक-दृष्टिकोण-निबन्धना एक नवीना स्थिति का स्वरूप-समन्वय, एवं परिलेख के द्वारा तत्स्वरूप-स्पष्टीकरण-प्रयास—

जैसा कि पूर्व में बतलाया गया है, आध्यात्मिक-पर्वों के तारतम्य से उपासनाकाण्ड के तीन विवर्त्त हो जाता हैं। इसी उपासनाविवर्त्तत्रयी का अत्र एक दूसरे ही दृष्टिकोण से समन्वय किया जाता है। इस नवीन दृष्टिकोण के अनुसार अव्ययपुरुष का एक स्वतन्त्र विभाग है। अव्यक्त-महान्, बुद्धि, तीनों का एक स्वतन्त्र विभाग है। बुद्धि, प्रज्ञानमन, दोनों का एक स्वतन्त्र विभाग है। प्रज्ञानमन, इन्द्रियार्थ, इन्द्रियवर्ग, शरीर, चारों का एक स्वतन्त्र विभाग है। चारों विभाग क्रमशः अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर-विकारक्षर-प्रधान हैं। ये हीं चारों क्रमशः समब्रह्मात्मिका सत्यवती, योगात्मिका सत्यवती, श्रद्धवती, अन्यवती, इन चार उपासना-विवर्त्तों की मूलप्रतिष्ठा हैं, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है।

१	१–अव्ययः	—अव्ययानुगता समब्रह्मात्मिका सत्यवती (वित्तिः–बुद्धियोगः)	—सत्यवती (१)
२	१–अव्यक्तः २–महान् ३–बुद्धिः	—अक्षरानुगता योगात्मिका सत्यवती (उपास्तिः–ज्ञानयोगः)	
३	१–बुद्धिः २–मनः	—आत्मक्षरानुगता भक्त्यात्मिका अङ्गवती (भक्तिः–भक्तियोगः)	—अङ्गवती (२)
४	१–मनः २–इन्द्रियार्थाः ३–इन्द्रियाणि ४–शरीरम्	—विकारक्षरानुगता सेवात्मिका अन्यवती (सेवा-कर्म्मयोगः)	--अन्यवती (३)

६३–अक्षर–आत्मक्षर–विकारक्षर-भावानुबन्धी पूर्वोपवर्णित अनुबन्धों के सम्बन्ध में विरोधाभासप्रतीति, एवं व्यवच्छेदबुद्ध्या तन्निराकरण-प्रयास—

पहिले एक परिलेखविशेष में अव्यक्त-महान्-बुद्धि–विवर्त्त को अक्षरात्मक मन, इन्द्रियार्थ, इन्द्रिय, तीनों की समष्टि को आत्मक्षरात्मक, एवं शरीर को विकारक्षरात्मक बतलाया गया है। प्रकृत में मन के साथ बुद्धि का सम्बन्ध मान कर इन दोनों को तो आत्मक्षरात्मक माना गया है। एवं इन्द्रियार्थद्वयी में मन, और शरीर का अन्तर्भाव मान कर इन चारों को विकारक्षरात्मक बतलाया जारहा है। इसमें पूर्वापरविरोध नहीं समझना चाहिए। प्रज्ञानमन विज्ञानात्मिका बुद्धि से अविनाभूत है, अतएव बुद्धि-मन का एक स्वतन्त्र विभाग माना जासकता है। एवं अव्यक्त-महान्-बुद्धिरूप अक्षर–त्रिवर्त्त की दृष्टि से इसे अवश्य ही आत्मक्षरत्रिवर्त्त कहा जासकता है। इन्द्रियार्थ, इन्द्रियवर्ग, दोनों का अध्यक्ष सर्वेन्द्रियमन है। अतएव इसका इन्द्रिय–विभाग में अन्तर्भाव माना जासकता है। भौतिक वैकारिक शरीर के सम्बन्ध से ही मन–

इन्द्रिय के द्वारा इन्द्रियार्थ-संग्रह में समर्थ होता है। अतएव इस भौतिक शरीर का भी इसी विभाग में अन्तर्भाव माना जासकता है। बुद्धि-मनोरूप आत्मक्षरविवर्त्त की अपेक्षा इसका विकार-स्थान ही शेष रहता है। अतएव इसे विकारक्षरसंस्था कहना भी अन्वर्थ बन जाता है।

६४--ब्राह्मण-आरण्यक, उपनिषत्-अनुबन्ध से कर्म्म-भक्ति ज्ञानयोग का स्वरूप-समन्वय, एवं कठश्रुति का संस्मरण—

एक रहस्यपूर्ण विश्लेषण और। त्रिपुरुष-पुरुषात्मक विश्वेश्वर की अव्ययसंस्था ज्ञानयोग की, अक्षरसंस्था भक्तियोग की, एवं आत्मक्षरसंस्था कर्म्मयोग की मूलप्रतिष्ठा मानी गई है। इन्हीं तीनों के गौण-प्रधानानुगत तारतम्य से तीनों योगों के तीन तीन विवर्त्त होजाते हैं। ज्ञानयोगदृष्टि से सम्पूर्ण अध्यात्मसंस्था अव्ययप्रधाना है। भक्तियोगदृष्टि से अक्षरप्रधाना है, कर्म्मयोगदृष्ट्या क्षरप्रधाना है। इसप्रकार अव्यय से शरीरपर्य्यन्त व्याप्त आध्यात्मिक प्रणव ही क्षरप्रधान प्रणव, अक्षरप्रधान प्रणव, अव्ययप्रधान प्रणव, इन तीन विवर्त्त-भावों में परिणत होता हुआ वेदानुगत कर्म्मयोग, आरण्यकानुगत-भक्तियोग, एवं उपनिषदनुगत ब्रह्मयोग (ज्ञानयोग), तीनों का आधार बना हुआ है, जैसाकि निम्नलिखित श्रुति से प्रमाणित है।

> सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति, तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
> यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति, तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि॥
> "ओम्' इत्येतत्"—(कठोपनिषत्)।

१--सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति—कर्मयोगः—क्षरप्राणानुगतः—मकारप्रधानः

२--तपांसि सर्वाणि च— — —भक्तियोगः—अक्षरप्राणानुगतः—उकारप्रधानः

३--यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यम्—ज्ञानयोगः—अव्ययप्राणानुगतः-अकारप्रधानः

* * *

६५--लक्षीभूत उपास्य अक्षर के माध्यम से उपासना के रहस्यपूर्ण चतुर्विध संस्थानों का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय, एवं तदनुबन्धिनी उपासना-चतुष्ट्यी का तालिका-माध्यम से स्पष्टीकरण—

उपासना का प्रधान लक्ष्य अक्षरात्मा है। अतएव इसी दृष्टि से हमें अष्टपर्वात्मिका अध्यात्मसंस्था का समन्वय करना है। पारमेष्ठ्य महान् ही वह प्रधान लक्ष्य है, जिसके गर्भ में इतर सम्पूर्ण आध्यात्मिक पर्व समाविष्ट हैं। सबसे पहिले अव्यय को ही लीजिए। 'मम योनिर्महद्ब्रह्म-तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्' (गीता०) के अनुसार सौम्य-वीप्र-महान् ही चिदव्यय की योनि बनता है। स्वायम्भुव अव्यक्त भी-'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' न्याय से इसी महद्गर्भ में लीन है। भृग्वङ्गिरोमय महत्तत्त्व के आङ्गिरस आदित्य से ही सूर्य्यात्मिका बुद्धि का प्रादुर्भाव हुआ है। अवर्ण्य भार्गव सोम से चान्द्रमन का, आङ्गिरस अग्नि से पार्थिव शरीर का विकास हुआ है। इसप्रकार अव्ययादि, शरीरान्त-आध्यात्मिक पर्व महद्गर्भ में प्रतिष्ठित

हैं। यही इस महान् की महत्ता है। अव्यय, अव्यक्ताक्षर, व्यक्ताक्षरात्मक बुद्धिभाव, मन, इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ, शरीर, सबकुछ इसी महद्विभूति में अन्तर्भूत है। अतएव इसे हमने परिच्छेदारम्भ में 'महद्ब्रह्मैकमक्षर-बहुब्रह्मैकमक्षरम्' उपाधि से विभूषित किया है। यह महदक्षरतत्त्व औपासनिक दृष्टिकोण से विकारक्षरा-त्मक महदक्षर, आत्मक्षरात्मक महदक्षर, अक्षरात्मक महदक्षर, अव्ययात्मक महदक्षर, इन चार भावों में परि-णत होरहा है। शरीर-इन्द्रिय-इन्द्रियार्थ-मनोरूप विकारक्षरात्मक महदक्षर द्वैताभावात्मिका प्रथमा अन्य-वती-उपासना का लक्ष्य है मनो-बुद्धिरूप आत्मक्षरात्मक महदक्षर द्रव्य-क्रिया-भावाद्वैतभावात्मिका मध्यमा अङ्गवती-उपासना का लक्ष्य है। बुद्धि-महान्-अव्यक्तरूप अक्षरात्मक महदक्षर अद्वैतात्मिका उत्तमा योगा-त्मिका सत्यवती-उपासना का लक्ष्य है। एवं अव्ययरूप महदक्षर सर्वात्मिका सर्वोत्तमा समत्वात्मिका सत्यवती-उपासना का लक्ष्य है। इसप्रकार चारों हीं उपासनाओं में—'लक्ष्यं तदेवाक्षरं विद्धि'। यदि लक्ष्य क्षर है, तो कर्म्मकाण्ड है। यदि लक्ष्य अव्यय है, तो ज्ञानकाण्ड है। यदि लक्ष्य अक्षर है, तो उपासनाकाण्ड है। इसी नवीन दृष्टिकोण को लक्ष्य में रखते हुए हमें अव्यक्त-महान्-बुद्धिरूप महदक्षरात्मक अक्षर से सम्बन्ध रखने वाली इन्द्रियधारणलक्षणा योगात्मिका उस कायक्लेशात्मिका सत्यवती-उपासना का दिग्दर्शन कराना हैं, जिस दिग्दर्शन के स्पष्टीकरण के लिए उक्त योगविवर्त्तों का अबतक उपबृंहण हुआ है, एवं जिस उपबृं-हण का फलितार्थ निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट होरहा है—

१	१—अव्ययः	—तदनुगतोऽव्ययात्मको महदक्षरः (सैषा अव्ययलक्षणा सत्यवती-उपासना)।
२	१—अव्यक्तम् २—महान् ३—सत्त्वः	—तदनुगतोऽक्षरात्मको महदक्षरः (सैषा अक्षरलक्षणा सत्यवती-उपासना)।
३	१—बुद्धिः २—मनः	—तदनुगतः-आत्मक्षरात्मको महदक्षरः (सैषा आत्मक्षरलक्षणा अङ्गवती-उपासना)।
४	१—मनः २—इन्द्रियार्थाः ३—इन्द्रियाणि ४—शरीरम्	—तदनुगतो विकारक्षरात्मको महदक्षरः (सैषा विकारक्षरलक्षणा अन्यवती-उपासना)।

६६--उपासना-चतुष्टयी से अनुप्राणिता आध्यात्मिक-संस्था, तन्निबन्धना उपासना का लक्षण-समन्वय, एवं परिलेख-माध्यम से उपासनातत्त्व के विभिन्न-विवर्त्तों का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय—

एक बात और। चारों ही उपासनाविवर्त्तों में सम्पूर्ण अध्यात्मसंस्था का उपयोग होता है। प्रधान लक्ष्यीभूत अव्ययादि चारों पर्व आधिदैविक बनते हैं, शेष पर्व चारों में आधिभौतिक बनते हैं। इसी उभय-समन्वय से चारों में उपासनालक्षण का समन्वय होजाता है। लक्ष्य साध्य बनता है, यही उपास्य है। भौतिकपर्व साधन बनते हैं, ये ही उपासनासाधन बनते हैं। स्वयं भूतात्मा उपासक बनता है, जैसाकि पूर्व परिलेखों में स्पष्ट किया जाचुका है। चारों के विभिन्न दृष्टिकोणों के अनुसार चारों का संस्थानक्रम परिवर्त्तित होजाता है। अव्ययलक्षणा सत्यवती-उपासना में अव्ययात्मक महदक्षर उपास्य है, वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ-सममूर्त्ति भूतात्मा उपासक है, शेष सातों पर्व उपासनासाधन हैं। अक्षरलक्षणा सत्यवती-उपासना में अव्यक्त–महान्–सत्त्वानुगत अक्षरात्मक महदक्षर उपास्य है, शेष पाँचों पर्व उपासनासाधन हैं, वैश्वानर–तैजसगर्भित प्राज्ञ प्रधान भूतात्मा उपासक है। आत्मक्षरलक्षणा श्रद्धावती-उपासना में बुद्धि–मनोऽनुगत आत्मक्षरात्मक महदक्षर उपास्य है, शेष ६ पर्व उपासनासाधन हैं, वैश्वानरप्राज्ञ-गर्भित तैजसप्रधान भूतात्मा उपासक है। विकारक्षरलक्षणा श्रन्यवती-उपासना में मन–इन्द्रिय–इन्द्रियार्थ शरीरानुगत विकारक्षरात्मक महदक्षर उपास्य हैं, शेष चार पर्व उपासनासाधन हैं, प्राज्ञतैजसगर्भित वैश्वानरप्रधान भूतात्मा उपासक हैं। इसप्रकार महदक्षरभेद से चारों के उपास्य–उपासनासाधन–उपासक–स्वरूपों में विभिन्नता समाविष्ट है। इसी विभिन्नता से चारों के फलातिशयों में विभिन्नता है। निम्नलिखित परिलेख इन्हीं चारों विभिन्न दृष्टिकोणों का स्पष्टीकरण कर रहे हैं।

१-अव्ययानुगता-महदक्षरोपासना(सर्वोत्तमोपासनानुगता-अध्यात्मसंस्था)

१–अव्ययानुगतो महदक्षरः }——उपास्यः (अधिदैवतम्)

२–वैश्वानरतैजसप्राज्ञसममूर्त्तिर्भूतात्मा }–उपासकः (अध्यात्मम्)

३ –
- अव्यक्तः (१)
- महान् (२)
- बुद्धिः (३)
- मनः (४)
- इन्द्रियार्थाः (५)
- इन्द्रियाणि (६)
- शरीरम् (७)

——उपासनासाधनानि (अधिभूतम्)

} —ब्रह्मभावात्मिका— सत्यवती उपासना

२-अक्षरानुगता महदक्षरोपासना (उत्तमोपासनानुगता-अध्यात्मसंस्था)

१—अव्यक्तमहद्बुद्ध्यनुगतो महदक्षरः —उपास्यः (अधिदैवतम्)

२—वैश्वानरतैजसगर्भितः प्राज्ञप्रधानो भूतात्मा —उपासकः (अध्यात्मम्) —योगात्मिका— सत्यवती उपासना

३—
- अव्ययः (१)
- मनः (२)
- इन्द्रियार्थाः (३)
- इन्द्रियाणि (४)
- शरीरम् (५)

—उपासनासाधनानि (अधिभूतम्)

३-आत्मक्षरानुगतामहदक्षरोपासना(मध्यमोपासनानुगता-अध्यात्मसंस्था)

१—बुद्धिमनोऽनुगतो महदक्षरः —उपास्यः (अधिदैवतम्)

२—वैश्वानरप्राज्ञगर्भितस्तैजसप्रधानो भूतात्मा—उपासकः (अध्यात्मम्) —भक्त्यात्मिका श्रद्धावती उपासना

३—
- अव्ययः (१)
- अव्यक्तः (२)
- महान् (३)
- इन्द्रियार्थाः (४)
- इन्द्रियाणि (५)
- शरीरम् (६)

—उपासनासाधनानि (अधिभूतम्)

४-विकारक्षरानुगता महदक्षरोपासना (प्रथमोपासनानुगता-अध्यात्मसंस्था)

१-मन-इन्द्रिय-इन्द्रियार्थ-शरीरानुगतो महदक्षरः	-उपास्यः (अधिदैवतम्)	—सेवात्मिका अन्यवर्ती-उपासना
२-प्राज्ञतैजसगर्भितो वैश्वानरप्रधानो भूतात्मा	-उपासकः (अध्यात्मम्)	
३ अव्ययः (१), अव्यक्तः (२), महान् (३), बुद्धिः (४)	—उपासनासाधनानि (अधिभूतम्)	

६७-उपासना का प्रधान लक्ष्य अक्षर, तदनुबन्धिनी उपासना-प्रकार-चतुष्टयी, एवं योगात्मिका उपासना का स्वरूप-निष्कर्ष—

महदक्षरसामान्यत्त्वेन यद्यपि चारों ही उपासनाओं का लक्ष्य अक्षर है। तथापि चारों में से द्वितीया अक्षरात्मिका महदक्षरोपासना ही प्रधानरूपेण अक्षरोपासना कहलाएगी। एवं इसी योगात्मिका उपासना के सम्बन्ध में-'लक्ष्यं तदेवाक्षरं विद्धि' कहना अन्वर्थ माना जाएगा। अक्षरात्मिका महदक्षरानुगता अध्यात्मसंस्था प्रणवात्मक धनुष है। वैश्वानर-तैजस-गर्भित प्राज्ञ-प्रधान भूतात्मा शर है, इस आत्मशर का लक्ष्य है-अव्यक्त-महान्-बुद्ध्यनुगत अक्षरात्मक महदक्षर। आत्मशररूप उपासक को इसी आत्मशर से इन्द्रियादि साधनों के द्वारा महदक्षरलक्ष्य पर शरप्रयोग करना है। यही इस योगात्मिका उपासना का निष्कर्ष है, जिसका पहिले पौराणिक दृष्टिकोण से समन्वय किया जारहा है।

६८-वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ-लक्षण-भूतात्मा के भोगसाधन, भोगानुगत प्रज्ञान-मन का विषयानुधावन, तदनुबन्धी चाञ्चल्य, तद्युक्ता बुद्धि का विकम्पन, तत्परिणाम में बुद्धि का सर्वनाश, एवं इत्थंभूता नाशस्थिति से आत्मपरित्राण करने के साधनोपायों का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं इन्द्रियवर्ग की अन्तर्मुखता के सम्बन्ध में एक रहस्यपूर्ण तथ्य का स्पष्टीकरण—

वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ-लक्षण भूतात्मा के भोगसाधन प्रधानतः मनोऽनुगत इन्द्रियवर्ग है। मन प्रज्ञाप्राणात्मक धर्म्म से युक्त ज्ञान-कर्म्ममय बना हुआ इन्द्रियवर्ग स्वभावतः बाह्य विषयों की ओर अनुधावन

करता रहता है । आनन्दांशभूत भोक्ता जीवात्मा आनन्दलालसा करता रहता है । मनोऽनुगत इन्द्रियाँ अपने स्वाभाविक पार्थिवाकर्षण से इसे बहिर्मुख बना देतीं हैं । परिणाम यह होता है कि, अभिलषित भूमानन्द तो इसे मिलता नहीं । मिलता है क्षणिक विषयानन्द । इसीलिए अन्ततोगत्वा इसमें चाञ्चल्य का उदय होजाता है । इन्द्रियों के द्वारा आगत भौतिक संस्कार (इन्द्रियार्थ) पहले मन को चञ्चल बनाते हैं । चञ्चल मन से मनोयुक्ता बुद्धि चञ्चल होपड़ती है । * विषयसंसर्ग से काम, काम से क्रोध, क्रोध से संमोह, संमोह से स्मृतिविभ्रम, स्मृतिविभ्रम से बुद्धिविनाश, ततः सर्वनाश, यही इन्द्रियारामता का चरम फल है । मन क्यों विषयानुगति का, इन्द्रियानुगति (पारवश्य) का कारण बना ?, इस प्रश्न का उत्तर है—अपने सारथि की उपेक्षा कर देना । अव्यययोग से युक्ता बुद्धि सारथि है, मन प्रग्रह (लगाम) है, इन्द्रियवर्ग अश्व है । यदि मन बुद्धि का अनुगामी बनकर ऐन्द्रियक विषयों में प्रवृत्त होता है, तो इस बुद्ध्योगसम्पत्ति से इसकी युक्तता में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती । सहजभाषानुसार यदि बुद्धिपूर्वक मन विषयो में प्रवृत्त होता है, तो बुद्धिप्राधान्य से संस्कारलेप--बन्धन नहीं होने पाता । 'कुर्वन्नपि न लिप्यते' चरितार्थ होजाता है । ऐसा विज्ञानवान् मन (बुद्धियुक्त मन) ही संसारयात्रा निर्विघ्न समाप्त कर भोक्ता रथी आत्मा के लक्ष्यप्राप्ति का कारण बनता है ÷ । यदि बुद्धि मन के आधीन होजाती है, तो बुद्धि का स्वाभाविक सौरतेजोऽनुगत असङ्गधर्म्म मन के स्वाभाविक चान्द्रस्नेह (सोम) से अभिभूत होजाता है । मन में आत्मसमर्पण करने वाली बुद्धि अपना असङ्गधर्म्म खो बैठती है । मनका प्राधान्य होजाता है । स्नेहगुणक, बुद्धि के स्वाभाविक योगधर्म्म से वञ्चित, बुद्धि को अपने अधिकार में कर लेने वाला ऐसा अविज्ञानवान् अयुक्त मन ही आत्यन्तिकरूप से कामभोग-परायण बनता हुआ इन्द्रियार्थरूप संस्कारलेप-प्रवृत्ति का कारण बनजाता है । ऐसे लोलुप मन के अनुग्रह

---

* ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ॥
सङ्गात् सञ्जायते कामः, कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥१॥
क्रोधाद् भवति संमोहः, संमोहात् स्मृतिविभ्रमः ॥
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥२॥

—गीता

÷ यस्तु विज्ञानवान् भवति, युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥१॥
यस्तु विज्ञानवान् भवति, समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत् पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ॥२॥
विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥३॥

—कठोपनिषत् १।३।६,८,९, ।

से ही रथी आत्मा लक्ष्यच्युत बनता है +। भगवान् ने कहा है कि, जिसका मन प्रधान बन जाता है, जो अपनी बुद्धि मन के प्रति समर्पित कर देता है, उसकी बुद्धि बुद्धि ही नहीं रहती। जब बुद्धि नहीं रहती, तो विवेकभावना कहाँ रह सकती है। विवेकाभाव में शान्ति कहाँ, शान्त्यभाव में सुख कहाँ =। इसप्रकार यह सिद्ध विषय है कि, जबतक बाह्यविषयों की ओर इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, मन जबतक इन्द्रिय-परवश बना हुआ है, तबतक आत्मशान्ति असम्भव है। मन क्यों इन्द्रियों के द्वारा बाह्य विषयों की ओर प्रवृत्त होता है?, इसका कारण मन की अयुक्तता तो है ही। इसके साथ ही स्वयं इन्द्रियाँ भी इस कारणता में सहयोग प्रदान कर रही हैं। इन्द्रियों का स्वभावतः बाह्य जगत् की ओर ही विकास है। अतएव तदनुगत मन स्वभावतः बहिर्मुख बनता हुआ विषयासक्त बन जाता है। अतएव कहा जासकता है कि, यदि मन का संयम अपेक्षित है, तो इन्द्रियों को अन्तर्मुख बनाना चाहिए। प्रयासपूर्वक इन्द्रिय-निरोध करना चाहिए। इसी प्रथम निमित्त का स्पष्टीकरण करते हुए श्रुति ने कहा है—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥

—कठोपनिषत् २।४।१।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ!।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञान-विज्ञाननाशनम्॥

—गीता३।४१।

+—यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः॥१॥
यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति॥२॥

—कठोपनिषत् १।३।५,७।

=-नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्ति, रशान्तस्य कुतः सुखम्॥

—गीता

९९–प्रात्मभावों से संस्पृष्ट विषयों के सम्बन्ध में अर्जुन की प्रश्नात्मिका जिज्ञासा, एवं तत्समाधान-प्रयास, तथा इन्द्रियसंयम से भी पूर्व अपेक्षित एकान्तनिवास की प्रथम-साधन-रूपता का दिग्दर्शन—

* अर्जुन के यह प्रश्न करने पर कि–'इच्छा न रहते हुए भी मन क्यों पापात्मक विषयों में संसक्त होजाता है ?, भगवान् ने आरम्भ में यह समाधान किया है कि, रजोगुण से उत्पन्न अनुकूल रागात्मक काम, प्रतिकूलरागा (द्वेषा) त्मक क्रोध ही मन की भूतप्रवृत्ति का कारण है। काम-क्रोधरूप विषयसंस्कार वासनारूप से मनोधरातल पर खचित रहते हैं। ये ही उक्थात्मक वासनासंस्कार स्मृति–के जनक बनते हुए स्मृत विषयों की ओर मनःप्रवृत्ति के कारण बनते हैं। इस से यह निष्कर्ष–निकलता है कि, इन्द्रियों के द्वारा जो भौतिक संस्कार मन पर आए हैं, वे ही पापवृत्ति के कारण बनते हैं। भविष्य में मन पर और अधिक वासनासंस्कार खचित न हों, इस के लिए यह आवश्यक है कि, बलपूर्वक इन्द्रियों का संयम किया जाय, इन्हें भूतानुगति से रोका जाय। अवश्य ही इस इन्द्रियसंयम से संस्कारागमन अवरुद्ध होजायगा। जबतक हम–सांसारिक–गृहस्थ–व्यवहारकाण्ड में निमग्न रहेंगे, तबतक इन्द्रियसंयम करना कठिन होगा। भौतिक परिग्रहों की समुपस्थिति में इन्द्रियाकर्षण से त्राण पालेना असम्भव नहीं, तो दुःसाध्य अवश्य है। अतएव इन्द्रियसंयम के लिए विविक्तदेश–सेवित्व, जनसंसद् में अरति, अरण्यनिवास (एकान्तवास) अपेक्षित है। तात्पर्य्य–जहांतक सम्भव हो, इन्द्रियों के सम्मुख उन भौतिक–परिग्रहों का साम्मुख्य अवरुद्ध कर देना चाहिए, जिन से इन्द्रियों का व्यामोहन सम्भव होजाता है। इसप्रकार इन्द्रियसंयम से भी पहिले एकान्तनिवास इस योगात्मिका सत्यवती-उपासना में प्रथम साधन बन जाता है।.

१००–एकान्तनिवास की कठिनता, मानव की ग्राम्यपशुता, मानव की समष्ट्यात्मिका जीवनपद्धति, एवं 'एकान्तरतिप्राप्ति' के सम्बन्ध में अपेक्षिता कायशुद्धि, तत्-प्रतिष्ठा–लक्षणा प्राणशुद्धि, और प्राणप्रतिष्ठा का प्राथम्य–स्थापन—

एकान्तनिवास करना कठिन है। मनुष्य जन्मतः ग्राम्यपशु है। समष्टि ही इस का जीवन है। वह व्यावहारिकी समष्टि, जो रागद्वेषात्मक कामक्रोध की अनुगामिनी बनी रहती है। कायिक, वाचिक, मानसिक–शुद्धि के बिना अध्यात्मसंस्था में वह बल उदित नहीं होता, जो आत्मबल, आत्मशुद्धि कामभोगपरायण व्यावहारिक समाज के प्रति आत्मा को उदासीन बना देता है। अतएव एकान्तरति की प्राप्ति के लिए कायशुद्धि अपेक्षित है, जो सर्वशुद्धियों की मूलप्रतिष्ठा मानी गई है। दशविध बाह्य मल-विशोधन–पूर्वक नित्यस्नान शरीर की बाह्यशुद्धि है। योगशास्त्रोपवर्णित यम–नियम–उपवासादि विविध क्रियाकलाप शरीर की आभ्यन्तरशुद्धि के प्रवर्त्तक हैं। उभयशुद्धि ही भूतशुद्धि है। वाङ्मय भूतात्मक स्थूलशरीर की

---

*–अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय! बलादिव नियोजितः॥

—गीता ३।३६

शुद्धि के साथ साथ ही प्राणात्मक सूक्ष्मशरीर की शुद्धि भी अपेक्षित है। तदर्थ-पूरक-रेचक-कुम्भकादि प्राणायाम अपेक्षित हैं। भूतशुद्धि, प्राणशुद्धि से जब मनोमय आत्मा सुस्थिर होजाता है, तभी अरण्यानुगमन की ओर प्रवृत्ति होती है। अतएव एकान्तनिवास से भी पहिले इस भूतशुद्धि, और प्राणप्रतिष्ठा को प्रथम स्थान दिया जायगा।

१०१-भूतशुद्धि से समन्विता प्राणप्रतिष्ठा के द्वारा मनःप्राण-वाङ्मय भूतात्मा में बलाधान, ब्रह्मचर्य्य-तपः-सत्य-अस्तेय-मितभाषण-जनसंसद में अरति, आदि संयमानुगत साधनों का अनुगमन, एवं उक्थसंस्कार-निरोध के लिए अशीति के आगमन पर नियन्त्रण, और तन्निबन्धन सञ्चित-संस्कार के क्षय का स्वरूप-विश्लेषण –

भूतशुद्धि, एवंप्राणप्रतिष्ठा के द्वारा मनःप्राणवाङ्मय आत्मा को सबल बनाया गया। ब्रह्मचर्य्य, तपः, सत्य-अस्तेय, मितभाषण, जनसंसद में अरति, आदि साधनों के अनुगमन से आत्मबल विकसित किया गया। फलस्वरूप उपासक (युञ्जानयोगी) में इन्द्रिसंयम के भाव उदित हुए। इन्द्रियसंयम के साफल्य से बाह्य विषय-संसर्ग से शनैः शनैः मुक्ति मिलने लगी। वासनाओं के आगमन का द्वार अवरुद्ध हुआ। अब शेष रह गए वे उक्थात्मक वासनासंस्कार, जो इन्द्रियसंयम से पहिले इन्द्रियों के द्वारा मन में सञ्चित होचुके हैं। उन्हें कैसे निवृत्त किया जाय ?, यह प्रश्न है। इसी प्रश्न के समाधान को लक्ष्य में रखते हुए वेदभगवान् ने कहा है-'अशीतिभिर्महदुक्थमाप्यायते'। अशीतिरूप भूतान्नों से ही महदुक्थ का आप्यायन होता हैं। मन में जो वासना-भावनात्मक कर्म्म-ज्ञानमय संस्कारपुञ्ज प्रतिष्ठित है, उसे ही 'महदुक्थ' कहा गया है। जबतक इन्द्रियों के द्वारा बाह्य विषयों का आगमन होता रहता है, तबतक ही यह महदुक्थ सबल बना रहता है। बाह्य भूतागमन ही सांस्कारिक महदुक्थ की स्वरूपरक्षा का कारण माना गया है। यह अनुभूत विषय है कि, ऐन्द्रिक बाह्य विषय पर किसी भी साधन से यदि नियन्त्रण लगा दिया जाता है, तो कालान्तर में तद्विषयिणी मानसेच्छा भी स्वतः एव निवृत्त होजाती है। कारण स्पष्ट है। बाह्य-विषय-निरोध से वासनासंस्कार को बल मिलना अवरुद्ध होजाता है। तदनुगता रसचर्वणा कालान्तर में निवृत्त होजाती है। इसप्रकार निराहारात्मक विषय के निरोध से सञ्चित विषयों की रसानुभूति स्वतः एव निवृत्त होजाती है। बाह्य-रसनिरोध से सञ्चित रसरूप उक्थ निर्बल होता हुआ स्वतः पलायित होजाता है। बाह्य-विषय-निरोध से इन्द्रियाँ अन्तर्मुख बन जातीं हैं। परात्पर की अनुगति होजाती है। इस आत्मरसानुभूति के बलवत्-आक्रमण से, एवं निराहार से सञ्चित संस्काररूप मानसरस भी कालान्तर में क्षीण होजाता है। इसी सञ्चित-संस्कारक्षय का विश्लेषण करते हुए भगवान् ने कहा है –

> विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
> रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते॥
>
> —गीता

१०२–इन्द्रियधारणात्मिका-योगात्मिका सत्यवती उपासना के पाँच आध्यात्मिक पर्व, तन्निबन्धना साधनपरम्परा का स्वरूप-समन्वय, इन्द्रियार्थ–निवृत्ति-प्रकार-प्रदर्शन, इन्द्रियसमर्पणानुबन्धी निष्कर्ष, तदनुगता संयमावस्था, तन्निबन्धना योगात्मिका उपासना की सफलता, एवं अव्यक्त-महान्-तथा बुद्ध्यनुगत अक्षरात्मक महद्-क्षरूप उपास्य से अनुगता प्रवृत्ति का स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

इन्द्रियधारणात्मिका योगात्मिका प्रक्रान्ता इस सत्यवती-उपासना के अव्यय, मन, इन्द्रियार्थ, इन्द्रियवर्ग शरीर, ये पाँच आधिभौतिक पर्व बतलाए गए हैं। एवं इन्हें ही उपासना–साधन कहा गया हैं। प्रथम स्थान शरीरसाधन का है। भूतशुद्धि का इसी से सम्बन्ध है। द्वितीय स्थान–इन्द्रियवर्ग का है। भूतशुद्ध्यनन्तर प्राप्त एकान्तसेवन के द्वारा होने वाले इन्द्रियसंयम का इसी से सम्बन्ध है। इन्द्रियार्थों का तृतीय स्थान है। पर वासनोक्थरूप से प्रतिष्ठित आभ्यन्तर संस्कार ही यहाँ इन्द्रियार्थों से गृहीत हैं। पर अव्यय है, मन के इस ओर इन्द्रियार्थ प्रतिष्ठित हैं। इन्द्रियद्वारावरोध से मन पर प्रतिष्ठित संस्काररूप इन्द्रियार्थ ज्यों ज्यों शिथिल होने लगते हैं, त्यों त्यों मन अपनी रिक्तातापूर्ति के लिए पर (अव्यय) का अनुगामी बनने लगता है। इसप्रकार कालान्तर में उस अन्तिम साधनरूपा परानुभूति से इन्द्रियार्थ–निवृत्त होजाते हैं। मन अपने स्वाभाविक स्वरूप में आजाता है। यही मन की वह अवस्था है, जिस अवस्था में आकर वह अक्षरात्मक महदक्षर की उपासना में प्रवृत्त होने के लिए अपने आपको समर्थ पाता है। इस स्थिति से यह भी निष्कर्ष निकल आता है कि, अक्षरोपासक भूतात्मा को सर्वप्रथम इन्द्रियसंयम के द्वारा इन्द्रियों को मन में समर्पित करना पड़ता है। इस इन्द्रियसमर्पण का निष्कर्ष यही निकलता है कि, बाह्यविषयनिरोध से इन्द्रियों की स्वाभाविक बाह्यवृत्ति अन्तर्वृत्तिरूप में परिणत होजाती है। बहिर्मुख इन्द्रियवर्ग अन्तर्मुख बन जाता है। अन्तर्मुख बने हुए इन्द्रियवर्ग का अधिष्ठान मन ही बनता है। यहाँ आकर इन्द्रियसंयम सफल होजाता है—'इन्द्रियाणि मनस्यूर्म्मौ' से इसी प्रथम सोपान का विश्लेषण हुआ है। इसी इन्द्रियसंयम से भूतसंसर्ग छूट जाता है, परिणामतः ज्ञानकला विकसित होपड़ती है। अतएव इस संयमावस्था में आकर वैश्वानर–तैजस–प्राज्ञरूप–उपासक भूतात्मा की अर्थप्रधान–वैश्वानरकला, क्रियाप्रधान तैजसकला, दोनों तो गर्भीभूत होजातीं हैं। एवं ज्ञानप्रधान प्राज्ञकला विकसित होजाती है। अतएव इस उपासना के उपासक भूतात्मा को पूर्व परिलेख में–'वैश्वानर–तैजसगर्भित–प्राज्ञप्रधान भूतात्मा' कहा गया है। इस प्राज्ञप्रधान उपासक को इन्द्रियगर्भित प्रज्ञानमन (सुस्थिर मन) के द्वारा अव्यक्त-महान्–बुद्ध्यनुगत अक्षरात्मक महादक्षररूप उपास्य की ओर प्रवृत्त होना है।

१०३–स्वायम्भुव-अव्यक्ततत्त्व का महद्गर्भ में विलयन, बुद्धि का महद्गर्भ में अप्यय, उपासना का मुख्य लक्ष्य, मनःसंयमदशानुगता भूतात्मानुगता स्थिति का संस्मरण, एवं उपासनालक्ष्य-प्रसङ्ग से ब्रह्म के 'शब्द' तथा 'पर' नामक सुप्रसिद्ध दो विवर्त्तों का दिग्दर्शन—

स्वायम्भुव अव्यक्ततत्त्व महद्गर्भ में विलीन है। सौरप्राणात्मिका बुद्धि भी महद्गर्भ में विलीन है। इसप्रकार अव्यक्त, प्राणगर्भित, महदक्षर ही इस उपासना का मुख्य लक्ष्य बना हुआ है, जिसे प्रणवात्मक

अनुग बतलाया गया है। प्राज्ञप्रधान जीवात्मारूप शर का सुस्थिर मन के द्वारा पहिले इस महदक्षर में प्राणात्मक बुद्धिक्षेत्र में प्रविष्ट होना आवश्यक है। तदनन्तर स्वयं महदक्षर में। महदक्षर में पहुँचने पर अव्यक्तप्राप्ति स्वतःसिद्ध है। यही इस योगात्मिका उपासना का चरम साफल्य है। निष्कर्ष यह निकला कि, मनःसंगमदशा में पहुँचे हुए प्राज्ञ भूतात्मा को प्राणमय महदक्षर को लक्ष्य बनाना है। इसे कैसे लक्ष्य बनाया जाय ?, इस प्रश्न के समाधान के लिए ब्रह्म के सुप्रसिद्ध पर, एवं शब्द-विवर्तों का दो शब्दों में दिग्दर्शन करा दिया जाता है।

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे शब्दब्रह्म, परं च यत्।
शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

१०४–उपनिषच्छ्रुतिसम्मत ब्रह्म के दो विवर्त्त, परब्रह्म, और शब्दब्रह्म, के कलात्मक पर्वभावों का स्वरूप-समतुलन, उपास्य अक्षर–ब्रह्मात्मक परब्रह्म की प्रतिकृतिभूत प्रतिरूपात्मक शब्दब्रह्म, एवं उपासनालक्ष्य-सिद्धि में तन्मध्यस्थता—

उक्त औपनिषद सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म के परब्रह्म, शब्दब्रह्म रूप से दो प्रधान विवर्त्त माने गए हैं। अव्यय, अक्षर, क्षररूप-ब्रह्म परब्रह्म है। स्फोट, स्वर, वर्ण-रूप ब्रह्म शब्दब्रह्म है। स्फोट (अखण्डस्फोट) अव्यय से, अ–इ–उ–ऋ–लृ– ये पांच स्वर ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि, सोम, इन पांच अक्षरों से, क–च–ट–त–पादि वर्ण (व्यञ्जन) क्षर से समतुलित हैं। जो अवयव–विभाग, जो-संस्थानक्रम परब्रह्म का है, वही क्रम शब्दब्रह्म का है। सम्पूर्ण वैदिक कर्मकाण्ड इसी शब्दब्रह्म के आधार पर प्रतिष्ठित है। आधिदैविक परतत्त्व के अनुरूप समतुलित शब्दवाङ्मय मन्त्र ही यज्ञसाफल्य का मूल है। तथैव वैदिक उपासनाकाण्ड में भी इस शब्दब्रह्म की माध्यमरूप से उपादेयता स्वीकृत हुई है। शब्दब्रह्म उसी उपास्य अक्षरब्रह्म का प्रतिरूप है, प्रतिकृति है। अवश्य ही इसके माध्यम से तत्प्राप्ति निश्चित है।

१०५–शब्दब्रह्माश्रयापेक्षानुगता जिज्ञासा का समाधान-प्रयास, आधिदैविक शब्दब्रह्म के साथ आध्यात्मिक शब्दब्रह्म का समतुलन, एवं शब्दब्रह्मात्मिका वाग्देवी के परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी-नामक सुप्रसिद्ध विवर्त्तों का नाम-संस्मरण—

शब्दब्रह्माश्रय अपेक्षित क्यों हुआ ?, प्रश्न का उत्तर सहज है। उभयात्मक मन स्वभावतः भूतप्रेमी है। उधर इन्द्रियवर्ग भी स्वभावतः विषयपरायण है। इन्द्रियसंयम के द्वारा इन्द्रियों को बाह्यविषयानुगति से रोक दिया। मनके उपशरूप सांस्कारिक विषय भी परानुभूति से, एवं अशीति–आगमन–निरोध से कालान्तर में निवृत्त होगए। मन अपूर्ण बन गया। इसकी पूर्णता-अक्षरलक्ष्यवेधन पर निर्भर है। परन्तु स्वभावतः विषयप्रेमी मन के सम्मुख जबतक कोई आधिभौतिक प्रलोभन नहीं रख दिया जाता, तबतक इसकी चञ्चलवृत्ति एकान्ततः उपरत नहीं होसकती। बाह्य भौतिक अर्थ यहाँ माध्यम बन नहीं सकते। आभ्यन्तर सांस्कारिक इन्द्रियार्थों का उच्छेद होगया। अब वैसे कौन से साधन को माध्यम बनाया जाय, जो आधिभौतिक हो, अध्यात्मसंस्था

में युक्त भी हो, साथ ही उपास्य परब्रह्मात्मक प्रणवमूर्त्ति अक्षरब्रह्म से समतुलित भी हो। आध्यात्मिक शब्द-ब्रह्म ही इसका समाधान है, जो परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी-वाग्रूप से अध्यात्मसंस्था में ही प्रतिष्ठित है।

१०६-आध्यात्मिक-शब्दब्रह्म से अनुप्राणिता व्यष्टि, और समष्टि का स्वरूप-दिग्दर्शन, अक्षरब्रह्मात्मक परब्रह्म के अग्नि-सोम-निबन्धन ऊष्मा-स्पर्श-भावों का समतुलन, एवं 'अकारो वै सर्वावाक्' मूलक शब्दब्रह्म के विस्तार का पावन-संस्मरण—

आध्यात्मिक शब्दब्रह्म को व्यष्टि, समष्टि, रूप से दो भागों में विभक्त किया जासकता है। वर्ण-समाम्नाय व्यष्टिलक्षण शब्दब्रह्म है, ओङ्कार समष्टिलक्षण शब्दब्रह्म है। जिसप्रकार एक ही अक्षरब्रह्म (परब्रह्म) ऊष्मालक्षण अग्नि, स्पर्शलक्षण सोम, के साम्य-तारतम्य से विविध-क्षरभावों का स्वरूप-समर्पक बन रहा है, एवमेव अक्षर से समतुलित एक ही स्वर (अकार) स्पर्श-ऊष्मा के तारतम्य से २८८ वर्णों के स्वरूप में परिणत होरहा है। अग्नीषोम अर्थसृष्टि का प्रभव है, तो अग्निरूप ऊष्मा, एवं सोमरूप स्पर्श शब्दसृष्टि का प्रभव है। भगवान् ऐतरेय ने निम्न लिखित शब्दों में इसी रहस्य का विश्लेषण किया है—

"अकारो वै सर्वा वाक्। सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति"।

—ऐत० आरण्यक।

१०७-शरीराकाशानुगत हृदयाकाश, तत्र प्रतिष्ठित दभ्राकाश, एवं तत्र प्रतिष्ठित सत्य-संकल्प-मनोमय-भारूप-उक्थात्मक आत्मतत्त्व की उपास्यरूपता, तथा आत्मदेवता की प्रेरणा से शरीराग्नि-संक्षोभ के द्वारा अभिव्यक्त आध्यात्मिक शब्दब्रह्म का रहस्यपूर्ण-समन्वय, एवं शब्दब्रह्मात्मक प्रणवोङ्कार के गर्भ में प्रतिष्ठित वर्ण-समाम्नाय की स्थिति का स्वरूप विश्लेषण—

शरीराकाश के गर्भ अवस्थित हृदयाकाश में दहराकाश प्रतिष्ठित है। यहीं सत्यसंकल्प, मनोमय, भारूप आत्मतत्त्व उक्थरूप से प्रतिष्ठित है। आत्मदेवता बुद्धि को अग्रणी बनाकर शारीरिक अर्थों की कामना किया करते हैं। इस कामना का द्वार बनता है मन, मन की कामना पूर्ण होती है इन्द्रियों के द्वारा। इन्द्रियुक्त मन आत्मा-बुद्धि से युक्त होकर कामनामय बनता हुआ क्षुब्ध होपड़ता है। इस मानस क्षोभ से शारीराग्नि क्षुब्ध होपड़ता है। शारीराग्नि के क्षोभ से शारीरवायु क्षुब्ध होजाता है। कायाग्निक्षोभ से प्रेरित यह वायु ही-'वायुः खात्, शब्दस्तत' इस प्रातिशाख्य-सिद्धान्तानुसार शिरःकपाल से संहत होकर मुखविवर में आता हुआ वर्णमातृका का जनक बनता है *। कण्ठस्थान से आरम्भ कर ओष्ठपर्य्यन्त व्यष्ट्यात्मिका

* आत्मा बुद्धया समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया ॥
मनः कायाग्निमाहन्ति, स प्रेरयति मारुतम् ॥१॥
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतम् ॥
वर्णाञ्जनयते,—तेषां विभागः पञ्चधा स्मृतः ॥२॥

—पाणिनीयशिक्षा

वह वर्णमातृका व्याप्त है, जिस का भौतिक प्रभव कायाग्नि है X, उभयात्मक प्रभव मन है, दैविकप्रभव बुद्धियुक्त आत्मा है। 'कादयो मावसानाः स्पर्शाः' के अनुसार कण्ठस्थानीय ककार से आरम्भ कर ओष्ठस्थानीय मकार पर्यन्त स्पर्शवर्ण माने गए हैं। मकार अवसारभूमि है। अकार उपक्रमभूमि है। दोनों की मध्यस्थिति उकार है। अकारोच्चारण में कण्ठविवर सर्वथा खुला रहता है, मकारोच्चारण में ओष्ठपुट सर्वथा अवरुद्ध होजाते हैं। उकारोच्चारण में ओष्ठपुट न तो सर्वात्मना खुले ही रहते, न अवरुद्ध ही। अपितु मध्यम-स्थिति रहती है। अकार अस्पृष्ट है, उकार अर्द्धस्पृष्ट है, मकार स्पृष्ट है। इसी आधार पर सम्पूर्ण वर्णमातृका-क्रमका 'अ-उ-म्' इन तीन वर्णों से संकेतानुगता निदानविद्या के आधार पर संग्रह कर लिया गया है। 'ओङ्कारात्मक' समष्टिरूप शब्दब्रह्म है, जिस के लिए यह कहा जासकता है कि, ओङ्कार के गर्भ में सम्पूर्ण वर्णसमाम्नाय प्रतिष्ठित है।

१०८–वर्णमातृका से युक्त ओङ्कारात्मक शब्दब्रह्म के तीन पर्वों के साथ परब्रह्म के तीन पर्वों का समतुलन, एवं तन्निबन्धन-'वौक्' शब्द का रहस्यात्मक-समन्वय, तथा वागब्रह्म के गौरी, बृहती, आदि विभिन्न महिमाविवर्तों का माङ्गलिक-संस्मरण—

वर्णमातृका को स्वगर्भ में रखने वाला ओङ्कार अपने तीनों रूपों से मनःप्राणवाङ्मय आत्मा से सर्वात्मना समतुलित है। असङ्ग मन से अकार, ससङ्गासङ्ग प्राण से उकार, एवं ससङ्गा वाक् से मकार समतुलित है। इस समतुलन के आधार पर मनःप्राणगर्भिता वाक् (अ मन) उ (प्राण)-वा-उ-ओ-क्) वौक् कहलाई हैं। इसप्रकार वर्णसमाम्नाय-गर्भित प्रणव को (ओम्) उस परब्रह्म का अवश्यमेव माध्यम माना जासकता है। परब्रह्म से समतुलित इस शब्दब्रह्म के यदि अवान्तर विभागों का विचार किया जाता है, तो हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, सर्वथा व्यष्टिरूप अ-क-च-ट-त-पादि वर्ण 'वर्णवाक्' नामक पहिला विभाग है। सम्पूर्ण वर्णवाक्-समष्टि का 'वर्णमातृका' का नामक दूसरे विभाग में ही अन्तर्भाव है। समष्टिरूप 'ओम्'-कार 'स्वर' नामक चौथा, किंवा तीसरा विभाग है। 'ओम्' यह अक्षर (स्वर) एक है, वर्ण तीन हैं। वर्ण का ध्वनि से सम्बन्ध है, यही आक्रोशात्मक शब्द है, जिस की भगवान् पतञ्जलि ने-'तस्माद्ध्वनिः शब्दः' यही परिभाषा की है। पशु-पक्षियों में इसी ध्वनिवाक् की प्रतिष्ठा हैं। मानस * प्राज्ञेन्द्र ही ज्ञानरूप से इस में प्रतिष्ठित होकर इस के ज्ञानात्मक विभाग करते हैं। मनोमात्रा की व्यवच्छेदात्मिका अभिव्यक्ति का मानवेतर पश्वादि प्राणियों में अविकास है। अतएव उन की वाक् केवल प्राणात्मिका बनती हुई ध्वन्यात्मिका है। 'अ-उ-म्' इन तीन वर्णों में 'ओम्' यह एक अक्षर व्याप्त है, यही स्वर है।

X–'अग्निरुवै वाक्। अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्'।

*–बीभत्सूनां सयुजं हंसमाहुरपां दिव्यानां सख्ये चरन्तम्।
अनुष्टुभमनु चर्चूर्यमाणमिन्द्रं निचिक्युः कवयो मनीषा॥

—ऋक्संहिता १०।१२४।९

वर्णवाक् का पृथिवी से सम्बन्ध है, स्वर का सूर्य से सम्बन्ध है। वर्णात्मिका पार्थिवी वाक् (व्यञ्जनवाक्) अनुष्टुप् कहलाई है, स्वरात्मिका सौरीवाक् बृहती कहलाई है। यही ऐन्द्री वाक् है जिसे 'गौरिवीता', किंवा 'गौरीविता' भी कहा गया है। सौर इन्द्र रूपाधिष्ठाता है, यह सोमामाहुति के सम्बन्ध से शुक्ल है। अतएव नासदीयसूक्त में यही X 'गौरी' नाम से भी व्यवहृत हुई है।

१०६—वाग्ब्रह्मानुगता-'वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता' का संस्मरण, वागदेवी के आग्नेयी-सौम्या-ऐन्द्री—आम्भृणी, एवं सत्या नामक पाँच विवर्त्तों का पञ्चलोकनिबन्धन रहस्यात्मक समन्वय, तथा परिलेख के माध्यम से वाग्ब्रह्म का स्वरूप-दिग्दर्शन-प्रयास—

विषय को थोड़ा और स्पष्ट कर लीजिए। पृथिवी, चन्द्रमा, सूर्य्य, परमेष्ठी, स्वयम्भू, ये पाँचों पर्व वाङ्मय हैं—'वाचीमा विश्वभुवनान्यर्पिता'। पाँचों क्रमशः 'आग्नेयी, सौम्या, ऐन्द्री, आम्भृणी, सत्या, नाम से प्रसिद्ध हैं। पार्थिवी विशुद्धा आग्नेयी वाक् ध्वनिवाक् है, चान्द्रमसी सौम्या वाक् (चान्द्र-प्राज्ञेन्द्र) के समन्वय से यही ध्वनिवाक् वर्णवाक् बनजाती है। सौरी ऐन्द्री वाक् के समन्वय से यही स्वरवाक् बन जाती है। पारमेष्ठिनी आम्भृणीवाक् के समन्वय से यही श्रुतिवाक् बन जाती है। एवं स्वायम्भुवी सत्यावाक् के समन्वय से यही नादवाक् बन जाती है। स्वयम्भुब्रह्मात्मिका सत्यावाक् नादवाक् का अन्तिम पर्व है, पार्थिव-अग्न्यात्मिका ध्वनिवाक् वाक् का प्रथम पर्व है। इसप्रकार इन पाच विश्वपर्वों के सम्बन्ध से वागदेवी के-'ध्वनि, वर्ण, स्वर, श्रुति, नाद' ये पाँच विवर्त्त होजाते हैं। नादवाक् परावाक् है, श्रुतिवाक् पश्यन्तीवाक् है। विश्वमध्या स्थसूर्य्यानुगता स्वरवाक् मध्यमावाक् है, वर्ण और ध्वनिवाक् की समष्टि 'वैखरीवाक्' है। इस दृष्टि से वाक् के चार ही विवर्त्त रह जाते हैं *। *निम्न लिखित परिलेख से उक्त वाग्विवर्त्त का भलीभाँति स्पष्टीकरण होरहा है—*

१-स्वयम्भूः-ब्राह्मी-सत्यावाक्-नादवाक् (नादः)	—परावाक्
२-परमेष्ठी-आप्या-आम्भृणीवाक्-श्रुतिवाक् (श्रुतिः)	—पश्यन्तीवाक्
३-सूर्य्यः-ऐन्द्री-बृहतीवाक्—स्वरवाक् (स्वरः)	—मध्यमावाक्
४-चन्द्रमाः-सौम्या-सुब्रह्मण्यावाक्—वर्णवाक् (वर्णः)	—वैखरीवाक्
५-पृथिवी-आग्नेयी अनुष्टुब्वाक्—ध्वनिवाक् (ध्वनिः)	

X—गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन्॥
—ऋक् सं० १।१६४।४१

* चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥
—ऋक् सं० १।१।६४।४५।

११०-परालक्षणा वाक् की नादरूपता, एवं तन्निबन्धना अनुच्चार्य्या वाग्देवी, और श्रुतिवाक्-स्वरवाक्-वर्णवाक्-ध्वनिवाक्-आदि भेदनिबन्धन वाग्विवर्त्तों का स्वरूप-समन्वय-प्रयास —

परालक्षणा वाक् नादवाक् वाक् बनती हुई भी अवाक् है, अनुच्चार्य्या है, स्वानुभवैकगम्या है। पश्यन्ती-लक्षणा श्रुतिवाक् भी तत्समतुलिता ही है। संगीतशास्त्र में उपवर्णिता विविध श्रुतियाँ इस श्रुतवाक् के भौतिक प्रतिरूपमात्र हैं। स्वरवाक् वह है— जिसका सङ्गीतज्ञ वितान करते हैं। वर्ण-ध्वनि-वाक् प्रसिद्ध है, प्रकट है। हमारे आध्यात्मिक ओङ्काररूप शब्दब्रह्म में पाँचों का समन्वय होरहा है। ध्वनि स्पष्ट है। 'अ-उ-म्' रूपा वर्णत्रयी भी स्पष्ट है। 'ओम्' इत्याकारक स्वर भी स्पष्ट है। श्रुति, और नाद भावैकगम्य हैं। अतएव दोनों का केवल 'नाद' शब्द से ग्रहण कर लिया जाता है।

१११-पञ्चविध वाग्विवर्त्तों की मूलप्रतिष्ठारूप नादब्रह्म, अव्यक्तनाद-व्यक्तनाद-भेदेन नादब्रह्म के महिमात्मक दो विवर्त्तों का स्वरूप-समन्वय, भवभञ्जक अव्यक्तनाद, और भवरञ्जक व्यक्तनाद के आधार पर वितायमाना शब्दसृष्टि का तात्त्विक-स्वरूप-समतुलन-प्रयास, और तत्सम्बन्ध में रहस्यात्मक आर्ष-वचनों का संस्मरण—

पाँचों वाग्विवर्त्तों में नादवाक् ही सब की मूलप्रतिष्ठा है। इस नादब्रह्म के अव्यक्तनाद, व्यक्तनाद भेद से दो विवर्त्त हैं। अव्यक्तनाद 'अनाहत-नाद' है, व्यक्तनाद 'आहतनाद' है। अनाहतनाद आकाशात्मक है, आहतनाद पृथिव्यात्मक है। पार्थिवीवाक् ध्वनिवाक् है। यही व्यक्तलक्षण आहतनाद की प्रतिकृति है। दूसरे शब्दों में ध्वनि ही आहतनाद है। अव्यक्तलक्षण अनाहतनाद जहाँ मुक्ति का प्रभव है, वहाँ व्यक्तलक्षण ध्वन्यात्मक आहतनाद सृष्टि का प्रवर्त्तक माना गया है। एक भवभञ्जक है, तो दूसरा भवरञ्जक है। भुशुण्डी, घटिकायन्त्र, शङ्ख, भेरी, मृदङ्ग, आदि से समुत्थिता गुञ्जायमाना गभीरा ध्वनि ही व्यक्तनाद के प्रत्यक्ष दर्शन हैं। उस ओर आकाशात्मक अव्यक्त-अनाहतनाद है, इस ओर पार्थिव पृथिव्यात्मक-व्यक्त आहतनाद है, मध्य में वर्ण, स्वर, श्रुति-विवर्त्तत्रयी प्रतिष्ठित है। अतएव पाञ्चभौतिक विश्व नादात्मक कहलाया है। ध्वन्यात्मक व्यक्तनाद के ही हृत्-कण्ठ-शीर्षादि स्थानभेद से विविध विवर्त्त होजाते हैं। हृदय, उरोगुहा, कण्ठ, तालु, मुखविवर, भेद से इस ध्वन्यात्मक व्यक्तनाद के अतिसूक्ष्म, सूक्ष्म, पुष्ट, (व्यक्त) अपुष्ट (अव्यक्त), कृत्रिम, ये पाँच विवर्त्त होजाते हैं। वायव्य-प्राण की संकेतसंज्ञा 'न' कार है, शारीराग्निसंज्ञा 'द' कार है। प्राणाग्निसंयोग से अभिव्यक्त होने के कारण ही यह व्यक्त-ध्वन्यात्मक नाद-'नकार-दकाराभ्यां-प्राणाग्निभ्यां-जातः' निर्वचन से नाद कहलाया है। हृदयस्थान में मन्द्रनाद है, शिरःकपाल में तारनाद है। व्यक्तनाद-के इसी लौकिकरूप का स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य्योंने कहा है—

अव्यक्तनादोऽनाहतः— चैतन्यं सर्वभूतानां विवृत्तं जगदात्मना ॥
आकाशात्मकः
नादब्रह्म तदानन्दमद्वितीयमुपास्महे ॥१॥

नादोपासनया देवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ॥
भवन्त्युपासिता नूनं यस्मादेते तदात्मकाः ॥२॥

* * *

व्यक्तनादः-आहतः — पृथिव्यात्मकः

आत्मा विवक्षमाणोऽयं मनः प्रेरयते, मनो—
देहस्थं वह्निमाहन्ति, स प्रेरयति मारुतम् ॥१॥
ब्रह्मग्रन्थिस्थितः सोऽथ क्रमादूर्ध्वपथे चरन् ।
नाभि–हृत्–कण्ठ–मूर्द्धा–स्ये–ष्वाभिर्भावयते ध्वनिम् ॥२॥
नादोऽतिसूक्ष्मः सूक्ष्मश्च पुष्टोऽपुष्टश्च कृत्रिमः ॥
इति पञ्चभिधां धत्ते पञ्चस्थानस्थितः क्रमात् ॥३॥
न–कारं प्राणनामानं, द–कारमनलं विदुः ॥
जातः प्राणाग्निसंयोगात्तेन नादोऽभिधीयते ॥४॥
व्यवहारे त्वसौ त्रेधा हृदि, मन्द्रोऽभिधीयते ॥
कण्ठे मध्यो, मूर्ध्नि तारो, द्विगुणश्चोत्तरोत्तरः ॥५॥

सङ्गीतरत्नाकरः-स्वराध्यायः १-७-

* * *

उभयनादसमष्टिः——

आकाशसम्भवो नादस्तथानाहत उच्यते ॥
आहतो नादमाकृष्य तथानाहत-संज्ञकात् ॥१॥
आहतो रञ्जकः प्रोक्तोऽनाहतो मुक्तिदायकः ॥
सोऽयं प्रकाशते पिण्डे तस्मात् पिण्डोऽभिधीयते ॥२॥

नारदसंहिता-(संगीतदर्पण १।१४।१७)

आहतोऽनाहश्चेति द्विधा नादो निगद्यते ॥
प्रकाशते पिण्डे तस्मात् पिण्डोऽभिधीयते ॥१॥
तत्रानाहतनादन्तु मुनयः समुपासते ॥
गुरूपदिष्टमार्गेण मुक्तिदं, न तु रञ्जकम् ॥२॥
स नादस्त्वाहतो लोके रञ्जको भवरञ्जकः ॥
नादो ब्रह्म समाख्यातं चतुर्वर्गफलप्रदम् ॥३॥

आकाश-ग्नि-मरु-ज्जीवो-नामेरूर्ध्वं समुच्चरन् ॥
मुखेऽभिव्यक्तिमायाति यः, स नादः प्रकीर्त्तितः ॥४॥
—सङ्गीतदर्पणे-१।३२

* *

११२-नादानन्तरभाविनी 'श्रुति' का पावन संस्मरण, तन्निबन्धन अनाहतनादानुबन्धी विन्दुभाव, सङ्गीतशास्त्रानुगता द्वाविंशतिधा (२२) श्रुतियाँ, एवं ग्राम-मूर्च्छना-क्रम-तान-आदि स्वरभावों की मूलप्रतिष्ठा का संस्मरण—

नादानन्तर 'श्रुति' का स्थान है। नादवत् श्रुति के भी अव्यक्तश्रुति, व्यक्तश्रुति भेद से दो ही विवर्त्त हैं। अव्यक्तश्रुति का अनाहतनाद से सम्बन्ध है, यही 'विन्दु' नाम से प्रसिद्ध है। व्यक्तश्रुति का आहतनाद से सम्बन्ध है। ये ही सङ्गीतशास्त्रोपवर्णिता सुप्रसिद्धा * २२ श्रुतियाँ हैं। ग्राम, मूर्च्छना, क्रम, तान, आदि स्वरभावों की प्रतिष्ठा ये ही श्रुतियाँ बनती हैं। हृदयोत्थिता व्यक्तनादात्मिका ध्वनि सुषुम्णानाड़ी से संलग्न २२ नाड़ियों के सम्बन्ध से २२ विभागों में परिणत होकर बाहिर निकलती है। ये ही श्रुतियाँ हैं, जैसाकि आगे के वचनों से प्रमाणित है—

---

* श्रुतिसंख्या	श्रुतिजातयः	श्रुतिसंख्या	श्रुतिजातयः
१ तीव्रा	दीप्ता ······ नि	१२ प्रीतिः	मृदुः ··········
२ कुमुद्वती	आयता ·········	१३ मार्जनी	मध्या म म म
३ मन्दा	मृदुः ······ ····	१४ क्षितिः	मृदुः ··········
४ छन्दोवती	मध्या स स स	१५ रक्ता	मध्या ·········
५ दयावती	करुणा ·········	१६ सन्दिपिनी	आयता ···· प प
६ रञ्जनी	मध्या ······ रि	१७ आलपिनी	करुणा प ······
७ रतिका	मृदुः रि रि ····	१८ मदन्ती	करुणा ·········
८ रौद्री	दीप्ता ······	१९ रोहिणी	आयता ···· ध
९ क्रोधा	आयता ग ग ····	२० रम्या	मध्या ध ध ····
१० वज्रिका	दीप्ता ······ ग	२१ उग्रा	दीप्ता ·········
११ प्रसारिणी	आयता ·········	२२ क्षोभिनी	मध्या नि नि ···

तस्य (नादस्य) द्वाविंशतिर्भेदाः श्रवणात्--श्रुतयो मता ॥
हृद्यूर्ध्वनाडीसंलग्ना नाड्यो द्वाविंशतिर्मताः ॥१॥
तिरश्च्यस्तासु तावत्यः श्रुतयो मारुताहते ॥
उच्चोच्चतरतायुक्ता प्रभवन्त्युत्तरोत्तरम् ॥२॥

--सङ्गीतरत्नाकरे: स्वराध्याये ८, ६, ।

११३-बिन्दुस्वरूप-समतुलिता अव्यक्तश्रुति से अनुप्राणिता उपासना, नाद, और श्रुति-तत्त्वों की भावात्मकता, ध्वनि-वर्ण-स्वर-भावत्रयी की व्यक्तरूपता, एवं नाद-स्थानीय आकाशात्मक अव्यक्त स्वयम्भू के आधार पर महिमारूप से वितायमान श्रुति-स्वर-वर्ण-ध्वनि-आदि वाग्भावों का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

जिसप्रकार उपासनाकाण्ड में उभयविध नादब्रह्म में से अव्यक्तलक्षण अनाहत—नादब्रह्म का ग्रहण है, एवमेव उभयविध श्रुतियों में से बिन्दुरूपा अव्यक्तश्रुति ही उपासना में गृहीत हुई है। अतएव हमने पूर्व में नाद, श्रुदि, दोनों को भावात्मक कहा है। ध्वनि, वर्ण, स्वर, तीनों व्यक्त हैं। श्रुति, नाद, दोनों अव्यक्त हैं। इनमें भी नाद आत्यन्तिकरूप से अव्यक्त है। बिन्दु का तो कल्पित आकार बनाया भी जासकता है। परन्तु अव्यक्तनाद तो सर्वथा नीरूप ही है। इसकी तो केवल भावात्मिका (ज्ञानीय) प्रतिमा ही बनती है। ध्वनिस्थानीया पृथिवी, वर्णस्थानीय चन्द्रमा, स्वरस्थानीय सूर्य्य, तीनों सर्वधारण के लिए प्रत्यक्ष हैं। श्रुति-स्थानीय परमेष्ठी सर्वसाधारण के लिए अप्रत्यक्ष (अव्यक्त) है, किन्तु वैज्ञानिकों के लिए कल्पित बिन्दुरूप से प्रत्यक्ष (व्यक्त) है। नादस्थानीय आकाशात्मक स्वयम्भू सब के लिए अव्यक्त है, यही स्थिति है। श्रुतिलक्षणा बिन्दु अव्यक्त के समीपतम है, अतएव इसके कल्पित आकार पर नियमतः दृष्टिसंयम करने से भी कालान्तर में मनःसंयम उत्पन्न होता देखा गया है। परमेष्ठी वर्णतः कृष्ण (अनिरुक्त कृष्ण) माने गए हैं। अतएव निरुक्त कृष्णबिन्दु के आधार पर सत्वर ही संयम उदित होजाता है। तात्पर्य्य, इस पूर्व वक्तव्य का यही है कि, वाक्प्रपञ्च नाद, श्रुति (बिन्दु), स्वर, वर्ण, ध्वनि, भेद से पाँच भागों में विभक्त है। यही मनः-प्राणवाङ्मय आत्मा का वाङ्मय प्रथमपर्व है। यह वाक्-प्रपञ्च प्राण पर प्रतिष्ठित है। प्राण महदक्षर से अनुगृहीत है। इसप्रकार महदक्षर, तद्रूप प्राण, आकाशात्मक नाद, पारमेष्ठ्य बिन्दुभाव, सौर स्वरभाव, चान्द्र वर्णभाव, पार्थिव ध्वनिभाव (व्यक्तनाद), भेद से अक्षरब्रह्म सात पर्वों में भिक्त होरहा है। यही आधिदैविकी-स्थिति का दिग्दर्शन है, जिसका परिलेख से स्पष्टीकरण होरहा है।

१—महदक्षरः (अव्यक्तः)—तत्समतुलितः—आध्यात्मिकः- महदक्षरः—लक्ष्यः—उपास्यः

२—प्राणः (अव्यक्तः)——तत्समतुलितः—आध्यात्मिकः—प्राणः

३—नादः (स्वयम्भूः)——तत्समतुलितः—हृदयस्थः—नादः

४-बिन्दुः (परमेष्ठी)——तत्समतुलितः-भावात्मकः-श्रुतिभावः

५-स्वरः (सूर्य्यः)——तत्समतुलितः-स्वरभावः

६-वर्णः (चन्द्रमाः)——तत्समतुलितः-वर्णभावः

७-ध्वनिः (पृथिवी)——तत्समतुलितः-ध्वनिभावः

* * *

११४-इन्द्रियवर्ग का मन में संयम, मनस्तन्त्र के लिए अपेक्षित भौतिक विषय, तद्-पेक्षा के उपशम के लिए अनिवार्य्यरूपेण अपेक्षित पारम्परिक माध्यमों का स्वरूप-समन्वय, एवं अत्यन्त दुरधिगम्या महदक्षर-उपासना के रहस्यात्मक-स्वरूप-विश्लेषण के लिए प्रवृत्त पुराणशास्त्र—

सर्वप्रथम इन्द्रियों का मन में संयम किया। मन को विषय अपेक्षित हैं। अतएव इसके सम्मुख शब्द-प्रपञ्च रक्खा गया। जिसका तात्पर्य्य यही है कि, अव्यक्तोपासक को इन्द्रिय-संयमपूर्वक, अधिकाधिक स्वाध्याय में ही समय लगाना चाहिए। सच्छास्त्र-व्यासङ्ग से स्वतः एव मन विषयों से विमुख होजाता है। स्वाध्याय-शील व्यक्ति का मन स्वाध्यायातिरिक्त अन्य-लौकिक विषयों की ओर से प्रायः उदासीन होजाता है। इसप्रकार उपासक का मन कालान्तर में केवल वाक्प्रपञ्च (शब्दप्रपञ्च) का ही अनुगामी बना रह जाता है। अब यहाँ से उपासक को आगे बढ़ना है। सम्पूर्ण शब्दशास्त्र एकमात्र वर्णसमाम्नाय का ही रूपविशेष है। क-च-ट-त-पादि वर्ण हीं शास्त्ररूप में परिणत हुए हैं। अतएव अपने वाक्प्रपञ्च का उपासक को केवल वर्णसमाम्नाय (ध्वनिवाक्, और वर्णवाक्) पर पर्य्यवसान कर देना चाहिए। केवल वर्णमातृका की ओर अपना लक्ष्य ले आना चाहिए। ध्वनिगर्भिता वर्णवाक् की प्रतिष्ठा स्वरवाक् है, जिसका नैदानिकरूप 'ओम्' है। अतएव वर्णसंयमानन्तर स्वरवाक्रूप केवल 'ओम्' इस एकाक्षर की ओर मनः संयम का अभ्यास आरम्भ कर देना चाहिए। प्रणवसंयमानन्तर बिन्दुरूपा अव्यक्तश्रुति में, तदनन्तर अव्यक्तप्राण में, सर्वान्त में महदक्षर में संयम प्राप्त होजाता है। यहाँ आकर अव्यक्तोपासक की इन्द्रियधारणा-लक्षणा योगात्मिका सत्यवती उपासना सफल होजाती है, जिसका अनुष्ठान-प्रकार एकमात्र गुरुगम्य ही माना गया है। एवं जिसके वाचिक स्वरूप विश्लेषण के भी हम अपने आपको सर्वथा अनधिकारी मान रहे हैं। भगवान् व्यास ने निम्न लिखित शब्दों में इसी महदक्षरोपासना का स्पष्टीकरण किया है, जो पुराणशास्त्र की अवहेलना करने वाले वेदभक्तों के उद्बोधन का पर्य्याप्त कारण मान लिया जायगा—

(समष्टिः)—१—आहुः शरीरं रथ, मिन्द्रियाणि हयान, भीषून्मन इन्द्रियेशम्।
वर्त्मानि मात्रा, धिषणां च सूतं, सत्त्वं बृहद्बन्धुरमीशसृष्टम्॥
२—अक्षं दशप्राणमधर्म्मधर्म्मौ चक्रेऽभिमानं रथिनं तु जीवम्।

धनुर्हि तस्य प्रणवं पठन्ति, शरं तु जीवं, परमेव लक्ष्यम् ॥

* * *

(अधिकारी)- ३-निषेकादि--श्मशानान्तैः संस्कारैः सस्कृतो द्विजः ।
इन्द्रियेषु क्रियायज्ञान् ज्ञानदीपेषु जुह्वति ॥

* * *

(उपासनाप्रकारः) इन्द्रियाणि मनस्यूर्म्मौ (इन्द्रियाणां मनसि संयमः) ।
वाचि वैकारिकं मनः (वाक्प्रपञ्चे मनसः संयमः)
वाचं वर्णसमाम्नाये (वाक्प्रपञ्चस्य वर्णमातृकायां संयमः)
तमोङ्कारे स्वरं न्यसेत् (वर्णमातृकायाः–ओङ्कारे संयमः)
ओङ्कारं विन्दौ (ओङ्कारस्य विन्दौ संयमः) ।
नादे तं (विन्दुभावस्य नादे संयमः) ।
तं तु प्राणे (विन्दुभावस्य नादे संयमः) ।
महत्यमुम्, (प्राणस्य महदात्मनि अक्षरे संयमः)

* * *

(फलश्रुतिः)
अग्निः सूर्य्यो दिवा प्राह्णः शुक्लो राकोत्तरं स्वराट् ।
विश्वश्च–तैजसः–प्राज्ञ–स्तुर्य्य आत्मा समन्वयात् ॥
देवयानमिदं प्राहुर्भूत्वा भूत्वानुपूर्वशः ।
आत्मयाज्युपशान्तात्मा ह्यात्मस्थो न निवर्त्तते ॥

* * *

श्रीमद्भगवतपुराणे ७ स्कन्धे । १५ अध्याये ।
४१, ४२, ५२, ५३, ५४, ५५, श्लोकाः

—–*—–

११५–ज्ञानकाण्डप्रधान-उपनिषच्छास्त्र की गभीरार्थगर्भिणी रहस्यात्मिका संक्षिप्ता भाषा, महदक्षरोपास्य के आविःपद, सन्निहितपद, गुहापद, महत्पद, नामक सुप्रसिद्ध चार महिमा–विवर्त्तों का स्वरूप-संस्मरण, एवं तत्र मुण्डकोपनिषद्वचनद्वयी का समन्वय प्रयास—

ज्ञानकाण्डप्रधान उपनिषदों की भाषा गभीरतमार्थगर्भिणी, एवं संक्षिप्ता है । यही कारण है कि, पुराणने जिस सत्यवंती उपासना का विस्तार से निरूपण किया है, उपनिषत् ने थोड़े में उसका दिग्दर्शन

करा दिया है। हिरण्य-गर्भविद्यात्मिका अक्षरात्मप्रधाना 'मुण्डकोपनिषत्' में इसी उपासना का विश्लेषण हुआ है। सर्वप्रथम वहाँ 'महदक्षर' रूप लक्ष्य (उपास्य) का विश्लेषण हुआ है। स्थूलशरीरात्मक आविःपद, सूक्ष्मशरीरात्मक सन्निहितपद, कारणशरीरात्मक गुहापद, आत्मलक्षण महत्पद, इन चारों आध्यात्मिक पदों की समष्टि की मूलप्रतिष्ठा ही अक्षर है। एजल्लक्षण ससंज्ञजीव, प्राणल्लक्षण अन्तःसंज्ञजीव, निमिष-ल्लक्षण असंज्ञजीव, भेदेन त्रिधा विभिक्त सम्पूर्ण जीववर्ग इसी महद्गर्भ में प्रतिष्ठित है। महद् ही जीवसृष्टि की योनि है। वही सदसद्भावों में वरेण्य है। ऐसा वह महानात्मा विज्ञान से (बुद्धि से) परे प्रतिष्ठित है- 'बुद्धेरात्मा महान् परः'। वह अपनी प्राणात्मिका रश्मियों से सर्वत्र व्याप्त है, वह ज्योतिर्घन है, वह सुसूक्ष्म है, इसी आपोमय महद्गर्भ में आपोमय लोक, और आपोमय लोकी प्रतिष्ठित हैं। अक्षरमूर्ति यही महद्-ब्रह्म प्राणमय है, मनोमय है, वाङ्मय है। यही सत्य है, यही अमृत है, इसी को लक्ष्य बनाना चाहिए। निम्न लिखित दो मन्त्रों से इसी उपास्य महदक्षर का स्पष्टीकरण हुआ है, जिसका 'मुण्डकोपनिषद्विज्ञानभाष्य' में विस्तार से प्रतिपादन हुआ है—

उपास्यः-आविः, सन्निहितं, गुहाचरं, नाम महत्पदम् अत्रैतत् समर्पितम्॥
एजत्-प्राणत्-निमिषच्च यदेतज्जानथ सदसद्वरेण्यं परं विज्ञानात्, वरिष्ठं प्रजानाम्॥१॥
यदर्चिमवदणुभ्योऽणु यस्मिन् लोका निहिता लोकिनश्च।
तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनः।
तदेतत् सत्यं तदमृतं तद्वेद्धव्यं-सोम्य! विद्धि॥२॥

—मुण्डकोपनिषत् २।२।१,२,।

११६-ज्ञान-कर्म्म-उपास्ति के तारतम्य से प्राज्ञ-तैजस-वैश्वानर-समष्टिरूप भूतात्मा की स्वरूप-स्थिति का तारतम्य, तदनुबन्धी आध्यात्मिक-प्रणव का स्वरूप-समन्वय, एवं आध्यात्मिक-उपासक-भूतात्मा के विभिन्न पर्वों का आध्यात्मिक उपास्य के विभिन्न पर्वों में सोपानपरम्परया समन्वय-प्रयास, तथा औपनिषद-उपासना-प्रकार का रहस्यात्मक स्वरूप-दिग्दर्शन—

जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है, ज्ञान-कर्म्म-उपास्ति-काण्डों के तारतम्य से वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ-लक्षण भूतात्मा की स्वरूप-स्थिति में भी तारतम्य होजाता है, साथ ही अष्टपर्वात्मिका अध्यात्मसंस्थारूप से अनुगत प्रणव के संस्थानक्रम में भी तारतम्य होजाता है, जिन आध्यात्मिक विविध प्रणवों का मुण्डकविज्ञानभाष्य में सोपपत्तिक निरूपण हुआ है। इसी आधार पर पूर्व में आध्यात्मिक प्रणव के तीन विवर्त्तों का उल्लेख हुआ है। उन तीनों विवर्त्तों में अक्षरप्रधान आध्यात्मिक विवर्त्त ही उकारप्रधान प्रणव कहलाया है। यही औपनिषद प्रणव है। कर्म्मयोग में जहाँ क्षरप्रधान ब्राह्मणानुगत आध्यत्मिक प्रणव धनुष बनता है, वहाँ ज्ञानयोग से समतुलिता प्रत्युत योगात्मिका सत्यवती उपासना में अक्षरप्रधान उपनिषदनुगत आध्यात्मिक प्रणव धनुष बनता है। इन्द्रियों का मन में, मन का वाक् में वाक् का वर्णमातृका में, इसका ओङ्कार में,

ओङ्कार का बिन्दु में, इसका नाद में, नाद का प्राण में, इसका महदक्षर में संयम करना ही औपासनिक तीक्ष्ण शर है। इसप्रकार औपनिषद धनुः रूप महास्त्र पर इस उपासनाप्रकाररूप तीक्ष्ण शर-संधान से अनन्यनिष्ठा से अवधानपूर्वक यदि लक्ष्यवेध किया जाता है, तो निश्चयेन इस उपासक की यह उपासना सफल होजाती है। आध्यात्मिक प्रणवरूप धनुष पर लगा हुआ शररूप आत्मा महदक्षररूप लक्ष्य का अवधानपूर्वक वेध करता हुआ लक्ष्य के साथ अभिन्न होजाता है। निम्नलिखित मन्त्र इसी उपासनाप्रकार का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासा निशितं संधयीत ॥
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य! विद्धि ॥१॥
प्रणवो धनुः, शरो ह्यात्मा, ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ॥
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥२॥
—मुण्डके २।२।३,४।

११७–मुण्डकोपनिषत्, तथा श्रीमद्भागवत के द्वारा महदक्षरोपास्यनिबन्धना रहस्यपूर्णा-अक्षरोपासना का रहस्यात्मक-संस्मरण—

पूर्वोपवर्णित इसी उपासना-प्रकार का निम्न लिखित शब्दों में स्पष्टीकरण किया जासकता है—

१–विज्ञानमेतद्धनुरस्त्युपासनाशरोऽथ लक्ष्यं तु तदक्षरं परम्।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा संधाय विध्येत् स हि तन्मयो भवेत्।
२–आत्मा शरो वा प्रणवो धनुः कृतस्तदक्षरं लक्ष्यमुदीक्ष्य शिक्षितः।
यद्यप्रमत्तः कुशलं प्रवेधयेत् शरो यथैव स हि तन्मयो भवेत् ॥
(मुण्डके)।
३–अक्षाणि चित्ते, तदु वाचि, मातृकाक्रमेतु तां, तं प्रणवे स्वरेऽथ तं-
बिन्दौ, च नादे तमिमं लिनात्यपि प्राणे, महत्यात्मनि तं, तमीश्वरे॥
(भागवते)।

११८–अन्यवती-उपासना का प्राथम्य, अङ्गवती उपासना कामध्यस्थत्व, एवं सत्यवती-उपासना का उत्तमत्त्व-संस्थापन, तथा तदनुप्राणिता उपासना के त्रिविध महिमा-विवर्त्तों का रहस्यात्मक-स्वरूप-समन्वय—

परिच्छेद-निष्कर्ष यही है कि, विकारक्षरानुगता अन्यवती–उपासना प्रथमोपासना है, एवं यह द्वैतभावापन्ना है। आत्मक्षरानुगता प्रतिरूप–प्रतीक–भेदभिन्ना अङ्गवती उपासना मध्यमोपासना है, एवं यह द्वैतगर्भिता

भाव-क्रिया-द्रव्याद्वैतभावापन्ना है। महदक्षरानुगता योगात्मिका सत्यवती-उपासना उत्तमोपासना है, एवं यह अद्वैतभावापन्ना है। सर्वान्ते प्रतिष्ठिता अव्ययानुगता सम-ब्रह्मभावात्मिका सत्यवती-उपासना सर्वोत्तमोपासना है, एवं यह सर्वभावात्मिका है। यदि इस का उत्तमोपासना में अन्तर्भाव मान लिया जाता है, तो तीन ही विवर्त्त रह जाते हैं। तीनों हीं उपासना-प्रकार अधिकारी के भेद से व्यवस्थित हैं। यहीं उपासनात्रयी की द्वैताद्वैतभाव-निबन्धना संक्षिप्ता मीमांसा है।

१-अव्ययानुगता – सत्यवती – सर्वोत्तमा – सर्वमूला } सत्यवती-अद्वैतोपासना (१)
२-महदक्षरानुगता- सत्यवती- उत्तमा – अद्वैतमूला }

३-आत्मक्षरानुगता- अङ्गवती- मध्यमा – द्वैताद्वैतमूला-अङ्गवती-उभयोपासना (२)

४-विकारक्षरानुगता-अन्यवती-प्रथमा – द्वैतमूला -अन्यवती-द्वैतोपासना (३)

११६-समब्रह्मभावात्मिका सत्यवती-उपासना-और वित्तितत्त्व, योगात्मिका सत्यवती-उपासना-और उपास्तितत्त्व, अङ्गवती-उपासना-और भक्तितत्त्व, अन्यवती-उपासना-और सेवातत्त्व, तथा उपासना-चतुष्टयी से अनुप्राणिता दृष्टि-श्रुति का समत्व-विषमत्व-निर्णय-प्रयास, और तदनुगत प्रथमोपास्य-परमोपास्य, तथा भावालम्बन-आदि से अनुप्राणिता रहस्यपूर्णा-स्थिति का-स्वरूप-समन्वय—

समब्रह्मभावात्मिका सत्यवती-उपासना वित्ति है, योगात्मिका सत्यवती उपासना उपास्ति है, अङ्गवती-उपासना-भक्ति है, अन्यवती उपासना सेवा है, यह पूर्वपरिच्छेद में स्पष्ट किया जाचुका है। अब इन चार विवर्त्तों के उपासना, भक्ति, ये दो विवर्त्त मानते हुए हमें प्रथमोपास्य, परमोपास्यभावों का समन्वय करना है। वित्तिलक्षणा सत्यवती उपासना में, एवं उपास्तिलक्षणा सत्यवती उपासना में दृष्टि-बुद्धि-का सामानाधिकरण्य है। जिस पर दृष्टि (मानसी) है, उसी पर बुद्धि है। अतएव इन दोनों उपासना-विवर्त्तों में उपासक, और उपास्य, इन दोनों के मध्य में किसी अन्य माध्यम की अपेक्षा नहीं रहती। अतएव ये दोनों हीं उपासनामार्ग अद्वैतमूलक ज्ञानयोग से समतुलित होते हुए द्वैतमूलक-भागानुगत-भक्तिभाव से परे की वस्तु बन जाते हैं। अतएव इन दोनों की समष्टि को हम 'उपासना' कह सकते हैं। अङ्गवती, और अन्यवती, इन दोनों उपासनाओं में-दृष्टि-बुद्धि का वैयधिकरण्य है। दृष्टि (चाक्षुषी, अथवा मानसी) अन्य पर है, बुद्धि (भावना) अन्य पर है। जिस पर दृष्टि है, वह अन्य है। जिस पर भावना है, वह अन्य है। यही इन दोनों का द्वैतात्मक भागभाव है। इसी भागसम्बन्ध से इन दोनों को हम 'भक्ति' कह सकते हैं। दृष्टिबुद्धि के व्यधिकरण से ही इन दोनों उपासनाप्रकारों में उपासक, माध्यम, उपास्य, ये तीन विवर्त्त स्वतएव उत्पन्न होजाते हैं। दृष्टि-बुद्धि का अधिष्ठाता जीवात्मा उपासक है। दृष्टयालम्बन माध्यम प्रथमोपास्य है, बुद्ध्यालम्बन उपास्य परमोपास्य है। दूसरे शब्दों-में दृष्टिविषयक पदार्थ का द्रष्टा, दृष्टपदार्थाधारेण लक्षीभूत उपास्य का भावयिता ही उपासक है। दृष्टि का आलम्बन प्रथमोपास्य है, भावनाबुद्धि का आलम्बन परमोपास्य है। पहिले उपासक द्रष्टारूप से दृष्टयालम्बन की उपासना करता है, अतएव इस दृष्ट्यालम्बन को 'प्रथमोपास्य' कहना अन्वर्थ बनता है।

अनन्तर प्रथमोपास्य के द्वारा उपासक भावयितारूप से भावनालम्बन की उपासना करता है, अतएव इस भावना-लम्बन को 'परमोपास्य' कहना अन्वर्थ बनता है।

१२०–लौकिक-उदाहरणों के माध्यम से प्रथमोपास्य, तथा परमोपास्यात्मक भावा-लम्बन-तत्त्व का रहस्यात्मक-स्वरूप-दिग्दर्शन, तथा उपासना, और भक्ति से अनुप्राणित भेदों का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

लौकिक उदाहरण देखिए। यात्री उपासक है, धूमशकट प्रथमोपास्य है, वाराणसी परमोपास्य है। भोक्ता उपासक है, सामग्री-सम्भार प्रथमोपास्य है, परिपक्व अन्न परमोपास्य है। शिष्य उपासक है, गुरु प्रथमो-पास्य है, विद्या परमोपास्य है। प्रजा उपासक है, अमात्य प्रथमोपास्य है। राजा परमोपास्य है। तृषा उपासक है, घट प्रथमोपास्य है, जल परमोपास्य है। वैश्य उपासक है, व्यवसाय प्रथमोपास्य है, द्रव्य परमोपास्य है। रुग्ण उपासक है, चिकित्सक प्रथमोपास्य है, औषधि परमोपास्य है। उपास्यप्राप्तिसाधन प्रथमोपास्य है, उपास्य-परमोपास्य है, उपास्यप्राप्तकर्त्ता उपासक है। इसप्रकार द्वैतमूलक यच्चयावत् लौकिक कर्म्मों में त्रिपुटी-प्रतिष्ठित रहती हैं। कर्म्मयोग से समतुलिता भक्त्यात्मिका अङ्गवती, अन्यवती-उपासनाओं में भी इस त्रिपुटी की सत्ता अनिवार्य्य है। आदित्य प्रथमोपास्य है, ब्रह्म परमोपास्य है। प्रतिमा प्रथमोपास्य है, प्रतिमान परमोपास्य है। इसप्रकार भक्तिलक्षणा उपासना में उपासक, और उपास्य के मध्य में एक माध्यमिक उपास्य का समन्वय और मान लेना पड़ता है, जोकि स्वयं तो उपास्य की दृष्टि से प्रथमोपास्य कहलाया है, एवं जिस माध्यम की दृष्टि से अन्तिम लक्षीभूत उपास्य परमोपास्य कहलाया है—

१ {
१–ब्रह्मभावात्मिका—सत्यवती–उपासना—वित्तिः
२–योगात्मिका— —सत्यवती–उपासना—उपास्तिः
} दृष्टिबुद्धिसमानाधिकरणलक्षणा–'उपासना' –उपासकोपास्यरूपा'

२ {
३–भक्त्यात्मिका——अङ्गवती–उपासना—भक्तिः
४–सेवात्मिका———अन्यवती–उपासना—सेवा
} दृष्टिबुद्धिव्यधिकरणलक्षणा 'भक्तिः' प्रथमो-पास्य–उपासकस्वरूपा

१२१–उपासक का प्रधान लक्ष्य-परमोपास्य, एवं परमोपास्य के उपासना-सिद्धि के लिए आर्ष-महर्षियों के द्वारा क्रमशः प्रत्यक्ष परमोपास्य, परोक्ष परमोपास्य, एवं अतीन्द्रिय परमोपास्य, नामक रहस्यपूर्ण तीन महिमा-त्रिवर्त्तों का स्वरूप-समन्वय—

उपासक का प्रधान लक्ष्य है एकमात्र परमोपास्य। प्रश्न स्वाभाविक है कि, जब लक्ष्य परमोपास्य है, तो एक सर्वथा नवीन माध्यम का आश्रय क्यों लिया जाता है ?, क्यों उस माध्यम को प्रथमोपास्य बनाया जाता है ?। प्रश्न का समाधान दृष्टि–बुद्धि के व्यधिकरण के द्वारा यद्यपि किया जाचुका है। तथापि एक विशेष

दृष्टिकोण के स्पष्टीकरण के लिए इसका एक अन्य समाधान भी कर दिया जाता है। प्रत्यक्षपरमोपास्य, परोक्षपरमोपास्य, अतीन्द्रियपरमोपास्य, भेद से वैज्ञानिकोंने परमोपास्य के तीन विभाग माने हैं। सम्मुख उपस्थित इन्द्रियग्राह्य परमोपास्य 'प्रत्यक्षपरमोपास्य' है। सम्मुखानुपस्थित इन्द्रियग्राह्य परमोपास्य 'परोक्षपरमोपास्य' है। एवं सर्वव्यापक, किन्तु अनिन्द्रियग्राह्य, भावग्राह्य परमोपास्य 'अनिन्द्रियपरमोपास्य है।

१२२-त्रिविध-महिमा-विवर्त्तों के स्वरूप-लक्षणों का समन्वय, एवं उदाहरणों के माध्यम से लक्षणों का स्वरूप-समतुलन-प्रयास—

गुरूपासना 'प्रत्यक्षपरमोपास्य' का उदाहरण माना जासकता है। हमने गुरु को ही साक्षाद्ब्रह्म मान लिया है। इस दृष्टि से गुरु ही हमारे परमोपास्य (प्रधानलक्ष्य) बन रहे हैं। सम्मुखावस्थित इन्द्रियग्राह्य गुरु प्रत्यक्षात्मक परमोपास्य हैं। 'सन्निहितेन्द्रियग्राह्यः ÷ परोक्षपरमोपास्यः' लक्षण का यहाँ सर्वात्मना समन्वय होरहा है। गुरुभक्त एकलव्य की गुरूपासना का 'परोक्षपरमोपास्यः' से सम्बन्ध माना जायगा। क्योंकि 'असंन्निहितेन्द्रियग्राह्यः प्रत्यक्षपरमोपास्यः' लक्षण का यहाँ भलीभाँति समन्वय होरहा है। गुरुद्रोण उसी युग में इन्द्रियग्राह्य अवश्य थे। परन्तु एकलव्य के सम्मुख नहीं थे। एकलव्यने इनकी मृण्मयी प्रतिमा के माध्यम से ही इनका अनुग्रह प्राप्त किया था। 'अनिन्द्रियग्राह्यः-अतीन्द्रियपरमोपास्यः' लक्षण का अमूर्त्तोपासना से सम्बन्ध माना जायगा। उद्गीथ, प्राण, ब्रह्म, आदि उपासनाएँ अनीन्द्रियपरमोपास्य से ही सम्बन्ध रखतीं हैं।

१२३-प्रत्यक्षपरमोस्य-क्षेत्र, और दृष्टि, तथा बुद्धि का सामानाधिकरण्य, एवं उपासना-क्षेत्रानुबन्धी 'मध्यस्थ' आलम्बन की स्वरूप-स्थिति का तात्त्विक-समन्वय प्रयास, और आगन्तुक प्रथमोपास्य के सम्बन्ध में उपस्थित एक प्रश्न का समाधान—

उक्त तीनों परमोपास्यों में से प्रत्यक्षपरमोपास्य की उपासना में सत्यवती-उपासना की भाँति क्योंकि दृष्टि-बुद्धि का सामानाधिकरण्य है, अतएव इसमें अवश्य ही किसी अन्य माध्यम की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु परोक्ष, अनीन्द्रियोपास्यों की उपासना में अवश्य ही मध्यमोपास्य अपेक्षित है। गुरुद्रोण गजाह्वय (हस्तिनां पुर-हस्तिनापुर) में हैं। एकलव्य-सुदूर अरण्य में है। बिना मध्यालम्बन के कैसे वह दृष्टिनिरोध कर सकता है। इसे भावना करनी है हस्तिनापुर में रहने वाले गुरुद्रोण की, परन्तु बिना माध्यम के उसकी दृष्टि स्थिर ही नहीं हो सकती। अतएव उसे अगत्या गुरुद्रोण की मृण्मयी प्रतिमा को प्रथमोपास्य बनाना पड़ता है। एवमेव प्राण, ब्रह्म, आदि अमूर्त्त अतीन्द्रिय परमोपास्यों की उपासना में भी किसी न किसी मूर्त्त द्रव्य को मध्यस्थ

÷ यदि केवल 'इन्द्रियग्राह्यः प्रत्यक्षपरमोपास्यः' यह लक्षण किया जायगा, तो देशान्तर में प्रतिष्ठित इन्द्रियग्राह्य में लक्षण अव्याप्त होजायगा। क्योंकि वह इन्द्रिग्राह्य तो अवश्य है, परन्तु सन्निहित नहीं है। यदि 'सन्निहितः प्रत्यक्षपरमोपास्यः' लक्षण किया जायगा, तो अनीन्द्रिय ईश्वर में लक्षण अव्याप्त होजायगा। क्योंकि, सर्वव्यापक ईश्वर सन्निहित तो अवश्य है, परन्तु इन्द्रिग्राह्य नहीं हैं। अतएव सन्निहितेन्द्रियग्राह्यः प्रत्यक्षपरमोपास्य': लक्षण किया गया है।

बनाना अनिवार्य्य होजाता है। निराकार अनीन्द्रिय परमोपास्य की भावना के लिए साकार-मूर्त्त-भौतिक-प्रत्यक्ष-दृष्ट पदार्थ का आश्रय लिया जाता है। इसी द्वार से बुद्धि अनीन्द्रियपरमोपास्य की ओर आकर्षित होजाती है। इसप्रकार इन्द्रियग्राह्य परोक्षपरमोपास्य, अनीन्द्रियग्राह्य परोक्षपरमोपास्य, दोनों उपास्यों के प्रति स्व-आध्यात्मिक प्रत्यय प्रवाहित करने के लिए अवश्य ही किसी न किसी इन्द्रियग्राह्य-इन्द्रियदृष्ट पदार्थ का आलम्बन करना पड़ता है। परमोपास्य का द्वारभूत यही मध्यमोपास्य 'प्रथमोपास्य' कहलाया है। लक्ष्यीभूत परमोपास्य में आगन्तुक प्रथमोपास्य क्यों अपेक्षित है ?, प्रश्न का यही समाधान है।

१२४-व्यवहारकाण्डानुगत प्रथमोपास्य का लौकिक-उदाहरणों के माध्यम से स्वरूप-समन्वय, और इन्द्रियसापेक्ष परोक्षपरमोस्य से सम्बन्ध रखने वाले द्वारभूत प्रथमोपास्य का स्वरूप-दिग्दर्शन—

व्यवहारकाण्ड में पदे पदे प्रथमोपास्यों का आश्रय लिया जाता है। हाथी कैसा होता है ?, सिंह, मृग, अश्व, आदि किमाकार हैं ?, जिज्ञासु शिशु की इस प्रश्नावली से पिता उसे किसी शिल्पी के आपण पर लेजाता है, और मृण्मय हाथी-सिंहादि की ओर अङ्गुली-निर्देश कर-'यह हाथी है, यह सिंह है', हाथी ऐसा होता है, सिंह का ऐसा आकार है, रूप से जिज्ञासा शान्त कर देता है। इन कल्पित आकारों पर शिशु का दृष्टि-निरोध होजाता है। इसी आधार पर वह गजादि की समुपस्थिति पर उनका बोध प्राप्त करलेता है। इसप्रकार निरुक्त-अचेतन सिंहादि लक्षणा दृष्टि के द्वारा इसका प्रत्यय अनिरुक्त (अनुक्त) चेतन सिंहादि की ओर प्रवाहित होजाता है। इन्द्रियसापेक्ष परोक्ष परमोपास्य से सम्बन्ध रखने वाले द्वारभूत प्रथमोपास्य का यही लौकिक उदाहरण है।

१२५-इन्द्रियनिरपेक्ष, अतीन्द्रिय, अनिन्द्रिय-ग्राह्य-परमोस्य का समन्वय-प्रयास, सर्व-सुसूक्ष्मा शून्यबिन्दु, तन्निबन्धन हृदयभाव, एवं बिन्दुभाव का उपासना-सिद्धि में महत्त्वपूर्ण स्थान, तथा भक्तिपथानुबन्धी-"उपासक-प्रथमोपास्य-परमोस्य-विवर्त्त-त्रयी का स्वरूप-समन्वय—

अब इन्द्रियनिरपेक्ष अतीन्द्रिय अनिन्द्रियग्राह्य परोक्ष परमोपास्य का समन्वय कीजिए। सर्वतः सूक्ष्म, सूक्ष्मात् सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतरात् सूक्ष्मतम, जिससे अन्य कोई सूक्ष्म नहीं है, ऐसी बिन्दु * 'शून्य' कहलाई है। यही विज्ञानभाषा में 'हृदय' नाम से व्यवहृत हुई है। यह हृद्बिन्दु सर्वथा अमूर्त्त है, निराकार है, भावैकग्राह्या है, अतीन्द्रिया है, अनिन्द्रियग्राह्या है। इसी निराकारभाव को सूचित करने के लिए इसे 'शून्य' कहा जाता है। सूक्ष्मतमा लेखिनी से भी जो सूक्ष्मतम बिन्दु बनाई जायगी, उस में भी केन्द्र होगा। इसप्रकार किसी भी भौतिकसाधन से उसका आकार नहीं बनाया जासकेगा। वैज्ञानिक शिक्षक जानता है कि, शून्यबिन्दु का कोई आकार नहीं होता। किन्तु पत्र पर आकार अङ्कन-द्वारा वह शिष्यों के सामने अभिनय करता है कि,-देखो ! यह शून्य-बिन्दु है ! विद्यार्थी भी यह समझ रहे हैं कि, यह तो स्तोकबिन्दु है। परन्तु इस माध्यम से, दृष्ट्या-लम्बन से उनका लक्ष्य उस अतीन्द्रिय शून्य की ओर अवश्य आकर्षित होजाता है। तात्पर्य्य कहने का यही है कि, अङ्कवती, अन्यवती, नाम की दृष्टि-बुद्धि-व्याधिकरणलक्षणा भक्तिरूपा उपासनाओं में परमोपास्य से

अतिरिक्त साधनत्वेन प्रथमोपास्य का समाश्रय अनिवार्य्य बन जाता है। भक्ति वही मानी जायगी, जिस में 'उपासक-प्रथमोपास्य-परमोपास्य', ये तीन विवर्त्त होंगे। उपासक आध्यात्मिक ही होगा, प्रथमोपास्य आधिभौतिक ही होगा, एवं परोपास्य आधिदैविक ही होगा।



१२६-'सा परानुरक्तिरीश्वरे' इत्यादि शाण्डिल्यदर्शनानुगता परानुरक्ति-रूपा उपासना का स्वरूप-समन्वय, एवं समब्रह्मभावात्मिका, तथा योगात्मिका, भेद से आत्म-सायुज्य-निबन्धना उपासना के द्विविध महिमा-भावों का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

'सा परानुरक्तिरीश्वरे' इस शाण्डिल्य-सिद्धान्तानुसार परानुरक्ति ही उपासना है। यह परानुरक्ति समब्रह्मभावात्मिका (अव्ययात्मिका), एवं योगात्मिका (महदक्षरात्मिका) भेद से द्विविधा मानी गई है। पहिली का सर्वोत्तमा वित्तिलक्षणा सत्यवती उपासना से, दूसरी का उत्तमा उपास्तिलक्षणा सत्यवती उपासना से सम्बन्ध है। परानुरक्तिलक्षण यह द्विविधोपासना निष्कामभावात्मिका है, जिसका-'आत्मयाज्युपशान्तात्मा ह्यात्मस्थो न निवर्त्तते' इत्यादिरूप से पूर्व में विश्लेषण हुआ है। आत्मसायुज्यभाव ही इस 'उपास्ति'-लक्षणा उपासना का फल माना गया है।

१२७-भक्तिलक्षणा, तथा सेवालक्षणा उपासनाद्वयी से अनुप्राणित उपासना-फलों का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय, एवं बुद्धियोग की प्रतिच्छाया से समन्विता, अतएव संग्राह्या उपासना का संस्मरण—

दूसरी भक्तिलक्षणा उपासना है, जिसके अङ्गवती, अन्यवती, नामक दो भेद बतलाए गए हैं। अङ्गवती भक्तिलक्षणा भक्ति है, अन्यवती सेवा लक्षणा भक्ति है। सेवात्मिका भक्ति का फल कर्म्मयोगफल से समतुलित सालोक्यभाव है। भक्त्यात्मिका भक्ति का फल सामीप्य-सारूप्य-भाव है। अवश्य ही गीतादृष्टि से कामकामात्मिका यह सकामभक्ति अवरश्रेणि में प्रतिष्ठित है। गीता का दृष्टिकोण प्रधानतः निष्कामभावलक्षण बुद्धियोग है। एवं चारों उपासनाविवर्त्तों में से सर्वोत्तमा सत्यवती उपासना ही प्रधानतया, एवं उत्तमा सत्यवती उपासना गौणरूपेण इस बुद्धियोग की प्रतिच्छाया से युक्त होती हुई संग्राह्या है।

१—सत्यवती-उपासना—परानुरक्तिलक्षणा वित्तिः	सायुज्यम्	उपासनाफलम्	
२—सत्यवती-उपासना—परानुरक्तिलक्षणा उपास्ति			
३—अङ्गवती-उपासना—देवानुरक्तिलक्षणा भक्तिः	सामीप्यं, सारूप्यम्		भक्तिफलानि
४—अन्यवती-उपासना—भूतानुरक्तिलक्षणा सेवा	सालोक्यम्		

—:: —

१२८-उपासना-स्वरूप के सम्बन्ध में एक प्रासङ्गिक-प्रश्न, एवं तन्निराकरण-प्रयास, और आधिदैविक-फलानुबन्धी निष्काम, सकाम-भावों का तारतम्य, तथा तन्निबन्धना स्वरूप-स्थिति का रहस्यात्मक-समन्वय—

एक प्रासङ्गिक प्रश्न, एवं उसका निराकरण। उपासना के सामान्य लक्षणानुसार उपासनाकाण्ड में आधिदैविक, आधिभौतिक, दोनों का साध्य-साधनरूप से समन्वय अपेक्षित माना गया है। 'आधिदैविकफल' उपासना का स्वाभाविक फल है। फल का कामना से सम्बन्ध है। ऐसी स्थिति में सत्यवती-उपासना हो, अथवा तो अङ्गवती-अन्यवती। किसी भी उपासना को कामनामय फलभाव से एकान्ततः बहिर्भूत नहीं माना जासकता। जब फल का सम्बन्ध है, तो उपासनाकाण्ड में निष्कामभाव कैसा ?। जब निष्कामभाव नहीं, तो उपासना का उस गीताशास्त्र से समर्थन किस आधार पर सम्भव है ?, जो-'मा फलेषु कदाचन' उद्घोष के द्वारा फल-कामना का आत्यन्तिकरूप से विरोध कर रहा है।

१२९-प्रश्नोत्थान की आधारभूमि-'फल' शब्द, एवं आधिदैविक फल, और आधिभौतिक-साधन-निबन्धना विप्रतिपत्ति, तथा-'फल'-शब्दानुगता आधिदैविकी स्वरूपस्थिति के माध्यम से भक्तियोगात्मिका उपासना से अनुप्राणिता स्थिति का समन्वय-प्रयास—

प्रश्नोत्थान का कारण केवल 'फल' शब्द ही बन रहा है। 'आधिदैविकफल, आधिभौतिक साधन' इन वाक्यने ही उक्त प्रश्न को अवसर प्रदान किया है। फल का अर्थ कामना से उत्पन्न फल अभिप्रेत नहीं है। अपितु औपासनिक 'आधिदैविकफल' से लक्ष्य-ध्येय-आराध्य-उपास्य ही अभिप्रेत है। यदि लक्ष्य कामफलात्मक है, तो अवश्य ही वैसी उपासना उपासना नहीं, अपितु भक्ति है। एवं वैसी फलकामनामयी भक्ति अवश्यमेव गीतासिद्धान्त के प्रतिकूल है। यदि 'फल' शब्द से केवल 'आधिदैविकलक्ष्य' अर्थ अभिप्रेत है, तो वैसी उपासना-फिर वह भक्ति-सेवा-लक्षणा उपासना हीं क्यों न हो, निष्काम भक्ति ही मानी गई है। उपासना, और कर्म्म में यही थोड़ा सा अन्तर है। एक सेवक अपने अधिकृत कर्म्म के द्वारा निष्ठा से यदि स्वामी की सेवा करता है, तो उसकी यह सेवा निष्कामोपासना है। यदि वही सेवक किसी आधिक-भौतिक-फलैषणा से स्वामी की सेवा में प्रवृत्त होता है, तो उसकी यह उपासना सेवात्मिका भक्ति है, कामनय कर्म्म है। दृष्टि स्वामी पर, बुद्धि भी स्वामी पर, यह कर्म्म योगात्मिका भक्ति है। दृष्टि स्वामी पर, बुद्धि आत्मा पर, यह भक्तियोगात्मिका उपासना है।

१३०-फलार्थत्वेन फल की कामभावजनकता, एवं लक्ष्यार्थत्वेन फल का निष्कामभावत्त्व-समन्वय, और सकाम, तथा निष्काम-भावों से अनुप्राणिता उपासना के विविध महिमा-विवर्त्तों का तात्त्विक-स्वरूप-दिग्दर्शन—

तात्पर्य्य यही है कि, फल फलार्थत्वेन सकामभाव का जनक है, एवं लक्ष्यार्थत्वेन निष्कामभाव का प्रवर्त्तक है। उपासनाकाण्ड में पदे पदे जिस आधिदैविक फल का उद्घोष हुआ है, उस फल शब्द से

केवल लक्ष्यार्थ ही अभिप्रेत है। ऐसी उपासना निष्कामोपासना है, ऐसी भक्ति निष्कामभक्ति है, ऐसी सेवा निष्कामसेवा है। एवं ऐसी निष्कामोपासनात्रयी का फल प्रत्येक दशा में सायुज्य ही है। साधन-दशा में अङ्गवती और अन्यवती में भौतिक माध्यम रहता है, सत्यवती में मानसोपचारात्मक भौतिक साधन रहता है। अतएव उपासना से वह समवलयभाव प्राप्त नहीं किया जासकता, जो समवलयभाव बुद्धियोगनिष्ठात्मिका ज्ञानयोगनिष्ठा की, एवं वैराग्यबुद्धियोगनिष्ठा की प्रातिस्विक सम्पत्ति मानी गई है।



१३१· त्रिपर्वात्मिका उपासना से अनुप्राणित 'प्रथमोपास्य' के चार-महिमा विवर्त्त, एवं प्रतीकप्रथमोपास्य, प्रतिरूपप्रथमोपास्य, भावप्रथमोपास्य, तथा निदानप्रथमोपास्य-रूप से तत्समन्वय-प्रयास—

निवेदन किया गया है कि, अङ्गवती, अन्यवती, नामक भक्तियोग-लक्षणा उपासना में उपासक, प्रथमोपास्य, परमोपास्य, भेद से तीन पर्व प्रतिष्ठित रहते हैं। साधनरूप माध्यम ही प्रथमोपास्य है। वह प्रथमोपास्य चार प्रकार से उपासक की बुद्धि को परमोपास्य की ओर आकर्षित करता है। प्रकारभेद से प्रथमोपास्य के चार भेद होजाते हैं। वे ही चारों विभेद प्रतीकप्रथमोपास्य, प्रतिरूपप्रथमोपास्य, भावप्रथमोपास्य, निदान-प्रथमोपास्य, नामों से व्यवहृत हुए हैं। भक्तिलक्षणा उपासना के प्रथमोपास्य-चातुर्विध्य से ये ही चार विवर्त्त सम्भव हैं। अन्य यच्चयावत् भक्तिप्रकारों का इन्हीं चारों में से किसी न किसी में अन्तर्भाव होजाता है।

१३२—श्रीवासुदेवकृष्ण के माध्यम से प्रथमोपास्य के चतुर्विध महिमा-विवर्त्तों का सोदाहरण समन्वय, एवं वासुदेवकृष्ण की पूर्णावतारत्त्व से अनुप्राणिता उपास्यरूपता का स्वरूप-दिग्दर्शन, और जाग्रत्-स्वप्नादि-षडवस्थाओं से, क्षुत्पिपासादि षड्र्मियों से, अविद्या-अस्मितादि पञ्चक्लेशों से, तथा अर्द्धेन्द्रत्वलक्षणा अपूर्णता से समन्वित 'जीव' की ईश्वरीय-पूर्णता से पृथक्ता का दिग्दर्शन, एवं तदीश्वरभाव-परिणति के सम्बन्ध में उपाय-प्रदर्शन—

उपर्युक्त चारों ही उपासनाप्रकारों का अधिकारी की योग्यता के भेद से यथास्थान समन्वय किया जासकता है। उपासनातत्त्व-विश्लेषक स्वयं गीताचार्य्य भी इस भक्तिप्रकार से उपास्य बनाए जाते हैं, बनाए गए हैं। वासुदेव-कृष्णोपासना के सम्बन्ध में चारों प्रकारों का समन्वय किया जासकता है। वासुदेवतत्त्व को 'आत्मा'-'शरीर', इन दो भागों में विभक्त कीजिए। आत्मतत्त्व-धर्म्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य्य-युक्त, व्यापक महामाया-वच्छिन्न विश्वात्मा का योगमायावच्छिन्न अंश है। यद्यपि सभी जीवात्मा 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' (गीता) सिद्धान्तानुसार उसी अस्मच्छब्दवाच्य व्यापक अव्ययात्मा के अंश हैं। तथापि अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेशादि अविद्यावरणों से जीवों का आत्मत्त्व अभिभूत होरहा है। फलतः सामान्य जीव तदंश बनते हुए भी अव्ययेश्वरानुगता ईश्वरता से वञ्चित हैं। उधर वासुदेव कृष्ण नामक आधि-

कारिक पुरुष जन्मत: अविद्यावरणों से उन्मुक्त रहते हुए स्वाभाविकी ईश्वरता से विकसित हैं। अतएव इन्हें अवश्य ही–'क्लेशकर्म्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' (पा० यो० सू०) इस आर्ष सिद्धान्तानुसार 'ईश्वर' कहा जासकता है। अर्द्धवृगलात्मिका अर्द्धेन्द्रसम्पत् ही जीवभाव की प्रवर्तिका है, जिसका वासुदेवकृष्ण में अभाव है। अतएव–'योगमायासमावृतः' (गीता) के अनुसार जीवस्वरूप–समर्पिका योगमाया से युक्त रहने पर भी वासुदेव कृष्ण स्वाभाविकी पूर्णेन्द्रसम्पत् के कारण पूर्णेश्वर कहलाए हैं। अर्द्धेन्द्रसम्पत्ति के प्रवर्त्तक पाप्माओं का आवरण ही जीव का जीवत्त्व है। पाप्मा-निवृत्त्यनन्तर-'यथोदकं शुद्धे शुद्धं तादृगेव भवति' (उप०) के अनुसार उस पूर्णेश्वर की भाँति जीव भी पूर्ण ही हैं। सरोवर जल से परिपूर्ण है। उसमें वायु प्रविष्ट होता है। यदवच्छिन्न जलीय प्रदेश में वायु प्रविष्ट होता है, तदवच्छिन्न जलीय प्रदेश बुद्बुद्रूप में परिणत होजाता है। बुद्बुद् जल का ही अवयव है। परन्तु विजातीय वायुसंसर्ग से वह अपने स्वाभाविक--व्यापक स्वरूप को छोड़कर एक परिच्छिन्न नवीन स्वरूप में परिणत होरहा है। पाप्मारूप वायुसंसर्ग से ही अखण्ड आत्माकाश पृथक्–पृथक् योगमायाओं के सम्बन्ध से पृथक्–पृथक् नाम–रूप–कर्म्मों का प्रवर्त्तक बना हुआ है। एवमेव जाग्रत्स्वप्नादि षडवस्थाओं से, क्षुत्पिपासादि षड्–र्म्मियों से, अविद्यास्मितादि पञ्चक्लेशों से, सर्वोपरि अर्द्ध बृहत्–आकाशात्मक अर्द्धेन्द्रत्व से जीवात्मा अपने प्रभव से विभिन्नवत् होरहा है। 'ममेदम्'–'अहमस्मि' इत्याकारक अभिमान पाप्मा--जनित है। इसप्रकार जीवमात्र तत्वत: परमात्मा के प्रतीक होते हुए भी पाप्मावरण से प्रतीकसम्पत्ति से वञ्चित होरहे हैं। जिस-प्रकार वायुविनिर्गम से बुद्बुद् का स्वातन्त्र्य विलीन होजाता है, एवमेव पाप्मा की निवृत्ति से जीव का जीवत्त्व ईश्वरभाव में परिणत होजाता है। ऐसे विशुद्ध आत्मा ही 'अवतारपुरुष' कहलाए हैं। अतएव इन्हें ही ईश्वराव्यय के प्रतीक माना जासकता है।

१३३–'शब्दज्ञानानुपाती–वस्तुशून्यो विकल्पः' सिद्धान्त से अनुप्राणित भावप्रतिमान का सोदाहरण समन्वय, तथा आत्मलक्षणा प्रतीकात्मिका प्रथमोपास्यविधा, एवं विशिष्टलक्षणा भावप्रतिमानात्मिका प्रथमोपास्यविधा का सोदाहरण स्पष्टीकरण–

इसप्रकार वासुदेवकृष्ण की आत्मदृष्ट्या प्रतीकविधा से प्रथमोपास्यता सिद्ध होजाती है। वासुदेवकृष्णाव्ययरूप प्रतीक प्रतीकात्मक प्रथमोपास्य है। इस पर मानसी दृष्टि का संयम कर तद्द्वारा सर्वव्यापक परमात्माव्ययलक्षण परमोपास्य की उपासना की जासकती है। शरीरविशिष्ट आत्मदृष्टि से वासुदेव कृष्ण को भावप्रथमोपास्य भी माना जासकता है। अतीन्द्रिय तत्त्वों की भौतिक-प्रतिमा नहीं बन सकती। इन्द्रियग्राह्य, किन्तु असंनिहित परोक्ष परमोपास्य की ही प्रतिमा बनाई जासकती है। जो एकान्ततः इन्द्रियातीत है, वह प्रतिमासम्बन्ध से सर्वथा असंस्पृष्ट है। उस अतीन्द्रिय परमोपास्य की उपासना के लिए अपने अन्तर्जगत् में भावमयी प्रतीमा बनाई जासकती है, जिसका आधार शब्दोपवर्णन है, एवं जिस भावप्रतिमान के लिए–'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः' कहा जाता है। वासुदेवकृष्ण को सर्वव्यापक निराकार अनुपाख्य–कृष्ण की भावमयी प्रतिमा मानकर इसके द्वारा उसके प्रति स्वप्रत्यय प्रवाहित किया जासकता है। यह वासुदेवकृष्णात्मिका प्रतिकृति उस व्यापक की वास्तविक प्रतिकृति नहीं है। उसकी वास्तविक प्रतिकृति सम्भव भी नहीं है। अतएव वासुदेव कृष्ण को प्रतिकृति न कह कर 'भावप्रतिमा' कहा जाएगा। भावप्रतिमाभाव अतद् में तद्बुद्धि है, अतएव इसे अन्यवती उपासना का उदाहरण माना जाएगा। एवं प्रतीकभाव 'तदवयवे

तद्बुद्धिः है। अतएव इसे अङ्गवती उपासना का उदाहरण कहा जाएगा। इसप्रकार वासुदेवकृष्णरूप प्रथमोपास्य में आत्मलक्षणा प्रतीकात्मिका प्रथमोपास्यविधा, विशिष्टलक्षणा भावप्रतिमात्मिका प्रथमोपास्य--विधा, दो विधाओं का समन्वय माना जासकेगा।

१३४-यादव-सात्वत-माधव-वार्ष्णेय-शौरि--वासुदेव-आदि विविध अभिधाओं से प्रसिद्ध पुरुषविशेष का श्रीकृष्णत्व, तद्रूप उपास्यभाव, तदभिन्न परमाव्ययेश्वर--तत्त्व, एवं तदाधारेण वासुदेवकृष्ण के ईश्वरकृष्ण, परमेष्ठीकृष्ण, चाक्षुपकृष्ण, वैहायसकृष्ण, पार्थिवकृष्ण, प्रतिष्ठाकृष्ण, ज्योतिःकृष्ण, यज्ञकृष्ण, मानुपोत्तम-कृष्ण नामक नवविध (९) महिमा--विवर्त्तों का नाम-संस्मरण—

यादव, सात्वत, माधव, वार्ष्णेय, शौरि, वासुदेव, आदि विविध नामों से प्रसिद्ध वसुदेवपुत्रात्मक पुरुषविशेष ही 'श्रीकृष्ण' नाम से प्रसिद्ध हैं। इस श्रीकृष्ण का आत्मा पाप्माओं के आत्यन्तिक अभाव से जिस परमाव्यय कृष्णतत्त्व का प्रतीक है, एवं जिस परमाव्यय की यह शरीरविशिष्ट वासुदेवकृष्ण भावमयी प्रतीमा है, उस नित्यविज्ञानघन सर्वजगद्व्यापक कृष्णतत्त्व के सोपाधिक ९ प्रतीकों का वैज्ञानिकोंनें विश्लेषण किया है। वह व्यापक सत्यकृष्ण ९ रूपों से ९ स्थानों में विभूति--सम्बन्ध से विभक्त होरहा है। एक ही अव्ययात्मतत्त्व के सोपाधिक वे ९ ओं विभूतिरूप ईश्वरकृष्ण, परमेष्ठीकृष्ण, चाक्षुपकृष्ण, वैहाय--सकृष्ण, पार्थिवकृष्ण, प्रतिष्ठाकृष्ण, ज्योतिःकृष्ण, यज्ञकृष्ण, मानुपोत्तमकृष्ण, इन नामों से प्रसिद्ध हुए हैं, जिनका विशद वैज्ञानिक विवेचन 'गीताचार्य्य--श्रीकृष्ण' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ में हुआ है। इन नवों में से सर्वान्त के मानुपोत्तम वासुदेव कृष्ण में तत्पूर्ववर्त्ती शेष आठों प्रतीक कृष्णों का समन्वय है। एकमात्र इसी आधार पर भगवान् व्यासने इन्हें पूर्णावतार माना है।

१३५-अवतारी ईश्वरकृष्ण, एवं तद्रूप अव्यक्त स्वयम्भूतत्त्व, तथा शेष आठ विवर्त्तों से अनुप्राणिता विभिन्ना अवस्थाओं का अश्वत्थेश्वर के विभिन्न--विश्वपर्वों के साथ रहस्यात्मक समन्वय, और लोक, तथा लोकात्मा का स्वरूप-समन्वय—

उक्त नवों कृष्णविवर्त्तों में से प्रारम्भ का ईश्वरकृष्ण अवतार नहीं, अपितु अवतारी है। अतएव यह 'स्वयम्भू' नाम से व्यवहृत हुआ है। शेष आठों विवर्त्त उसी सत्यकृष्णमूर्त्ति स्वयम्भू कृष्ण के अवतार हैं। इन आठ कृष्णावतारों में से प्रतिष्ठा, ज्योति, यज्ञ, मानुप, ये चार अवतार सुसूक्ष्म हैं, अतएव इन का परिज्ञान विज्ञानदृष्टि-सापेक्ष है। शेष रह जाते हैं-परमेष्ठी, चाक्षुप, वैहायस, पार्थिव, ये चार अवतार। इन चारों कृष्णात्माओं के शरीररूप आपोमय परमेष्ठी, स्वज्योतिर्म्मय सूर्य्यपिण्ड, परज्योतिर्म्मय चन्द्रपिण्ड, रूपज्योतिर्म्मय भूपिण्ड का सर्वसाधारण को प्रत्यक्ष है। सौरमण्डल के चारों ओर जो नीलिमा प्रतीत होरही है, वह गोलोकनाम पारमेष्ठ्य कृष्ण का शरीर है। सूर्य्य, और सूर्य्यविनिर्मित प्रत्यक्षदृष्ट एकविंशतिधा प्रतीयमान चाक्षुपबिम्ब चाक्षुपकृष्ण का शरीर है। कृष्णवर्णात्मक चन्द्रमा वैहायसकृष्णाव्यय का शरीर है। भूपिण्ड पार्थिव कृष्णाव्यय का शरीर है। इसप्रकार वह परोरजा स्वयम्भूसत्य (ईश्वरकृष्ण), परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी, इन चारों शरीरात्मक लोकों से लोक, एवं आत्मभावों से लोकात्मा बना हुआ है।

१३६-पार्थिव कृष्णतत्त्व की विश्वम्भररूपता का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय, पार्थिव अष्टपर्वा कृष्ण-मृगाग्नि का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं विश्वम्भर-अग्नि-अन्नाद-त्रयी, वैहायस-सोम-अन्न-त्रयी, चाक्षुप-इन्द्र-वाक्-त्रयी, गोविन्द-विष्णु-आपः-त्रयी, सत्य-ब्रह्मा-प्राण-त्रयी-विवर्त्तों का नाम संस्मरण —

जिस पार्थिवाव्ययकृष्ण से पार्थिवाग्नि-स्वस्वरूप में अवस्थित है, वही इस कृष्ण का पार्थिवरूप है, एवं वही पार्थिवरूप 'विश्वम्भर' कहलाया है। पार्थिव अग्नि क्षरात्मक है। क्षर अक्षर से अविनाभूत है, अक्षर अव्यय से अविनाभूत है। इसप्रकार परम्परया पार्थिव अव्यय ही अक्षरानुगत [अग्न्यक्षरानुगत] पार्थिव क्षराग्नि [अन्नाद] की प्रतिष्ठा बन रहा है। पार्थिव अग्नि ही स्व-रोदसीविश्व में प्रतिष्ठित-चतुर्दशविध भूतप्रजा का भरणपोषण करते हैं, अतएव ये 'अग्ने! महाँ असि ब्राह्मण भारतेति'-'तस्माद्-भरतोऽग्निरित्याहु:' इत्यादि रूप से भारत, भरत, नामों से व्यवहृत हुए हैं। अतएव पृथिवी 'विश्म्भरा' कहलाई है। भूपिण्ड चित्याग्निमय है, यही क्षराग्नि है। भूमहिमा चितेनिधेयाग्निमयी है, यही अक्षराग्नि है। भूपिण्डरूप चित्याग्नि अन्नाद है, चितेनिधेयाग्नि गायत्र है। अन्नादाग्निरूपा पृथिवी का विश्वरत्त्व गायत्राक्षराग्नि पर अवलम्बित है। इसका विश्म्भरत्त्व पार्थिवाव्ययकृष्ण पर अवलम्बित है। अतएव पार्थिव विष्णु (कृष्ण) तत्त्व ही विज्ञानभाषा में 'विश्वम्भर' नाम से व्यवहृत हुए हैं। तात्पर्य्य यही है कि, स्वयम्भू के अवतारभूत चारों विवर्त्तों में 'अव्ययाक्षरात्मक्षर' 'तीनों आत्मपर्व प्रतिष्ठित हैं। एवं तीनों के नाम-रूप-कर्म्म संस्थानभेद से पृथक् पृथक् रूप से व्यवस्थित हैं। विश्वम्भर, अग्नि, अन्नाद, तीन विवर्त्त पार्थिव है। वैहायस, सोम, अन्न, ये तीन विवर्त्त चान्द्र हैं। चाक्षुप, इन्द्र, वाक्, ये तीन विवर्त्त सौर है। गोविन्द, विष्णु, आपः, ये तीन विवर्त्त पारमेष्ठ्य हैं। एवं सत्य, ब्रह्मा, प्राणः, ये तीन ही विवर्त्त मूल-पुरुष के है। चारों अवतारपुरुष उस सत्यावतारी से अभिन्न हैं। वह एक ही इन चार भावों में परिणत होरहा है।

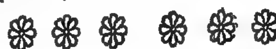
१३७-अन्तर्य्यामी स्वयम्भू-सत्येश्वर की विभूति-सम्बन्ध से अंशात्मना अवताररूप में परिणति, उपासक का उपास्य के साथ सायुज्य, परमोपास्य श्रीकृष्ण की उपासना का रहस्यात्मक समन्वय, तथा परमभागवत महात्मा भीष्म, पुराणपुरुष भगवान् व्यास आदि के द्वारा तत्समर्थन—

वह एक ही अन्तर्य्यामी स्वयम्भूसत्य चारों स्थानों में विभूति-सम्बन्ध से अंशात्मना अवतीर्ण होता हुआ विभिन्न रूपों से प्रतीत होरहा है। इन चारों में से किसी भी एक की उपासना करता हुआ उपासक परमोपास्य के साथ सायुज्यभाव को प्राप्त होजाता है। विज्ञानचक्षु के अभाव से जो उपासक इन चारों तात्त्विकरूपों का साक्षात्काररूप से संनिधान प्राप्त नहीं कर सकता, वह प्रतीक, किंवा भावप्रतिमान, दोनों में से किसी को भी प्रथमोपास्य बनाकर तद्द्वारा लक्ष्य पर पहुँच सकता है। उस स्थिति में वासुदेव कृष्ण को ही मध्यमोपास्य बनाना समीचीन होता है। चित्र, बिम्ब, आदि के माध्यम से भी वह उपासस्य बनाया जासकता है। तात्पर्य्य यही है कि, मानवकृष्ण भी उसी सत्याव्यय के

मानवावतार हैं । अतः इन्हें लक्ष्य बनाकर भी परमोपास्य कृष्ण की उपासना सम्भव है । पूर्व-प्रकरणोक्तवर्णित अन्यान्य प्रतीकों की अपेक्षा मानवकृष्ण की प्रतीकता में विशेष महत्त्व माना जाएगा । क्यों कि, इस वासुदेव कृष्ण के द्वारा आठों परमोपास्य उपासित बन सकते हैं । कारण यही है कि, वासुदेव कृष्ण में इतर ८ ठों का समन्वय हुआ है । न केवल वासुदेवकृष्ण उन के प्रतीक ही हैं, अपितु उन सब के सम्पूर्ण सामान्य-विशेष धर्मों का भी यथानुरूप इन में समन्वय हुआ है । स्वयम्भूकृष्णवत् ये भी सत्य-निष्ठ हैं । परमेष्ठीकृष्ण यदि गोतत्त्व के प्रवर्त्तक-संरक्ष हैं, तो ये भी तद्धर्म्म से युक्त हैं । सौरचाक्षुष कृष्ण यदि हिरण्मयवासा हैं, तो ये भी पीताम्बरधारी हैं । चान्द्रकृष्ण यदि अयन, साम्वत्सरिक, दैनिक रासाधिष्ठाता हैं, तो ये भी रासविहारी हैं । वासुदेव कृष्ण के जितने भी लीलाचरित्र हैं, वे सब वैज्ञानिक तत्त्वात्मक कृष्णभावों से समतुलित हैं । यही कारण है कि, परमभागवत भीष्म, व्यासादिने वासुदेवकृष्ण की प्रथमोपास्यता को ही प्राधान्य दिया है ।

१३८- वासुदेव कृष्ण के साथ चतुर्विध प्रथमोपास्यों का स्वरूप-समतुलन, कृष्णात्मा की शाश्वतता, वासुदेवस्वरूप से अद्यापि कृष्णतत्त्व का सम्भावित साक्षात्कार, तथा उपासनाप्रकारों से अनुप्राणित विभिन्न उपाय-प्रकार-माध्यमों से श्रीकृष्ण की उपासना का-रहस्यात्मक समन्वय-प्रयास—

कहा गया है कि, वासुदेव कृष्ण से साथ चारों प्रथमोपास्यों का समन्वय किया जासकता है । एक प्रकार की प्रथमोपास्यता का तदवच्छिन्नशरीरी कृष्णयुग से ही सम्बन्ध था । भगवान् वासुदेव को लीला-संवरण किए आज लगभग पाँच सहस्र वर्ष व्यतीत होचुके । अतएव आज उन की भावप्रतिमा का साम्मुख्य हमें नहीं प्राप्त होसकता । तद्युग में भीष्मपितामह, अर्जुन, विदुर, वृजगोपियाँ, आदि इसी भावप्रतिमा के उपासक थे । कृष्णात्मा शाश्वत है । अतएव तदाधारेण आज भी प्रतीकविधा से उस की उपासना की जासकती है । प्रतिरूप प्रतिमाभाव हैं । यमुना, यमुनातट, यमुनारज, गोकुल, मथुरा, वृन्दावन, गिरिराज, कामवन, आदि तत्तत् लीलाविहारस्थानों में निदानेन कृष्णभावना का आरोप कर तद्द्वारा भी उसे उपास्य बनाया जासकता है । इसप्रकार वर्त्तमान में प्रतिकृतिप्रथमोपास्य, प्रतीकप्रथमोपास्य, निदानप्रथमोपास्य, तीनों का समन्वय सम्भव है । तत्त्वाधिकारियों के लिए तो भावप्रतिमानलक्षण प्रथमोपास्य आज भी सुलभ है । उसी शरीर से आज भी वासुदेव का साक्षात् कार सम्भव है । सन्त तुकाराम, सन्त सखूबाई, मीरा, नरसी, सूर, भक्त-प्रवरोंने वर्त्तमानयुग में भी भावप्रतिमान-लक्षण प्रथमोपास्यविधा को चरितार्थ कर दिया है । प्रतीकप्रथमोपास्य, एवं भावप्रतिमाप्रथमोपास्य, दोनों में वासुदेवकृष्ण आत्मा, एवं आत्मविशिष्ट शरीररूप से केवल प्रथमोपास्य, प्रतिकृतिप्रथमोपास्य, एवं निदानप्रथमोपास्य, इन दो प्रकारों में वासुदेव कृष्ण परमोपास्य भी बन रहे हैं । कृष्णविग्रह (प्रतिमा) प्रतिकृतिरूप प्रथमोपास्य है । इस बिम्बाधारेण पहिले वासुदेवकृष्ण की ओर लक्ष्य जाता है । इस दृष्टि से वासुदेवकृष्ण परमोपास्य भी बन रहे हैं । प्रतिमोपासकों के लिए तो वस्तुतः वासुदेवकृष्ण ही परमोपास्य बनते हैं । यही अवस्था निदानभाव की है । नैदानिक माध्यम प्रथमोपास्य है । तद्द्वारा स्मृत वासुदेव परमोपास्य हैं । इसप्रकार कृष्णोपासना में प्रथमोपास्य-चतुष्टयी का भलीभाँति समन्वय होजाता है ।



१३९-प्रतीकप्रत्ययालम्बनता, प्रतिरूपप्रत्ययालम्बनता, आहार्य्यारोपप्रत्ययालम्बनता, भेद से उपासना के सम्बन्ध में त्रिविध प्रमुख प्रकारों का प्रासङ्गिक-स्पष्टीकरण. एवं तदनुबन्धी क्रमिक-उदाहरणों का क्रमरूपेण स्पष्टीकरण-प्रयास—

अङ्गवती, अन्यवती, इन दो उपासनाओं के तीन विवर्त्त होजाते हैं। अङ्गवती के प्रतीक, एवं प्रतिरूप-भेद से दो विवर्त्त हैं, अन्यवती का एक विवर्त्त है। ये ही तीनों उपासनाएँ पूर्व प्रकरण में क्रमशः प्रतीकप्रत्ययालम्बनता, प्रतिरूपप्रत्ययालम्बनता, आहार्य्यारोपप्रत्ययालम्बनता, इन नामों से व्यवहृत हुई हैं। एवं उसी प्रकरण के तत्परिच्छेदों में तीनों का सोदाहरण विश्लेषण किया जाचुका है। त्रिपर्वात्मिका यह उपासनात्रयी ही 'भक्ति' कहलाई है। इस भक्तिलक्षणा उपासना में ही प्रथमोपास्य संगृहीत हुआ है। प्रतीकतः, प्रतिरूपतः, भावतः, निदानतः, चार प्रकार से प्रथमोपास्य का समन्वय हुआ है। प्रतीकतः प्रतीक प्रत्ययालम्बन है, प्रतिरूपतः प्रतिरूप प्रत्ययालम्ब है, दोनों प्रकार अङ्गवती उपासना में अन्तर्भूत हैं। निदानतः आहार्य्यारोप प्रत्ययालम्बन है, इस का अन्यवती उपासना से सम्बन्ध है। इसप्रकार इन तीन प्रथमोपास्यों का तो पूर्वप्रकरण में निरूपित तीनों प्रत्ययालम्बनताओं से सम्बन्ध है। एवं भावप्रतिमानात्मक तृतीय प्रथमोपास्य-प्रकार का अङ्गवती, अन्यवती, दोनों से सम्बन्ध है। पुनरुक्तिदोष का विषयगाम्भीर्य्य की दृष्टि से समाचार करते हुए इन चारों प्रथमोपास्यों के क्रमिक उदाहरण पाठकों के सम्मुख उपस्थित किये जाते हैं। सर्वप्रथम क्रमप्राप्त प्रतीकोपासनात्मक प्रथम प्रथमोपास्य का ही दिग्दर्शन कराया जाता है।

१४०-कृत्स्नपदार्थ से अनुगत प्रतीकभाव, कृत्स्न, और सर्व--शब्दों का लक्षणात्मक स्वरूप-निर्वचन; कृत्स्न, और सर्व-भाव से अनुप्राणित प्राजापत्य-अग्नि का स्वरूप-समन्वय, एवं तदनुबन्धी--"अत्रैप-अग्निः-सर्वः-कृत्स्नः-सम्पद्यते" आर्प-वचन का स्पष्टीकरण-प्रयास, और तदनुगत कृत्स्न-परमोपास्य--

कृत्स्नवस्तु का एकदेशोपग्रह ही प्रतीक है। 'एकस्याशेपत्वं कृत्स्नत्वम् है, 'अनेकेषामशेपत्वं सर्वत्वम्' है। एक पुस्तक कृत्स्न है, १० पुस्तकों की समष्टि सर्व है। एक वस्तु की अशेषता कृत्स्नभाव है, अनेक पदार्थों की समष्टि सर्वभाव है। कृत्स्नत्व एक वस्तु से सम्बन्ध रखता है। सर्वत्व अनेक वस्तुओं से सम्बन्ध रहता है। केवल पार्थिव अग्नि में दोनों भावों का समन्वय किया जासकता है। भूकेन्द्र से आरम्भ कर भूमहिमा के २१ वें अहर्गण पर्य्यन्त व्याप्त वाङ्मय प्रजापति-अग्नि की अशेषता कृत्स्न-भावानुगता है। इस प्रजापति-अग्नि के ६-१५-२१ स्तोमभेद से अग्नि-वायु-आदित्य-भेदेन तीन विभिन्न विवर्त्त हैं। आगे जाकर तीनों के प्रत्येक के ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, इतने अवान्तर विवर्त्त होजाते इन हैं। सब अग्नियों की समष्टि सर्वाग्नि है। इसी कृत्स्नात्मक प्रजापति-अग्नि, सर्वात्मक देवाग्नि, दोनों का संग्रह करते हुए श्रुति ने प्रजापति-अग्नि की दृष्टि से 'कृत्स्न' शब्द का प्रयोग किया है, एवं अनेकधा विभक्त देवाग्नि की दृष्टि से 'सर्व' शब्द का प्रयोग किया है, जैसाकि-अत्रैप अग्निः सर्वः कृत्स्नः सम्पते' (शत० ब्राह्मण) इत्यादि चयनश्रुति से प्रमाणित है। इन दोनों भावों में से कृत्स्नभाव का एक प्रदेश ही 'प्रतीक' कहलाया है। कृत्स्नभाव अवयव है, अङ्गी है। प्रतीकभाव अवयव है, अङ्ग है। अअङ्गात्मक प्रतीक के द्वारा अङ्गीरूप कृत्स्नतत्त्व की उपासना की जाती है प्रतीक प्रथमोपास्य है, एवं कृत्स्न परमोपास्य है।

१४१–अशेष--अध्यात्मसंस्था की कृत्स्नता, एवं आध्यात्मिक वाक्--प्राणादि--अवयवों की प्रतीकता, तथा कृत्स्न, और प्रतीक--भावों से अनुप्राणित कृत्स्न--प्रतीक--भावों का सोदाहरण--दिग्दर्शन, और परमसामान्य, परमविशेष, तथा अपेक्षया सामान्य-विशेष--भावों का प्रासङ्गिक--समन्वय-प्रयास—

सम्पूर्ण (एक) अध्यात्मसंस्था 'कृत्स्न' है। वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन, पाद, हस्त, उर, उदर, शिर, आदि अवयव इस कृत्स्न के प्रतीक हैं। राष्ट्र कृत्स्न है, उस में प्रतिष्ठित अनेक जनपद प्रतीक हैं। क्यों कि अनेक जनपदों के समन्वय से ही एक राष्ट्र का स्वरूप निष्पन्न होता है। वन कृत्स्न है, वृक्ष प्रतीक हैं। आगे जाकर अपेक्षया प्रतीकों में भी कृत्स्न-प्रतीक, दोनों भावों का समावेश होजाता है। उदाहरण के लिए–सम्पूर्ण भूमण्डल एक राष्ट्र है, इस में प्रतिष्ठित एशिया, योरोप, अफ्रीका, आदि इस एक राष्ट्र के प्रतीक हैं। एशिया एक राष्ट्र है, भारत, चीन, जापान, आदि प्रतीक हैं। भारत एक राष्ट्र है, कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, आदि प्रतीक हैं। जयपुरराज्य कृत्स्न है, शेखावाटी, तोरावाटी, आदि प्रतीक हैं। जयनगर कृत्स्न है, तत्र प्रतिष्ठित विभिन्न गृहसंस्थाएँ प्रतीक हैं। एक गृहसंस्था कृत्स्न है, गृह के अवान्तर आगार प्रतीक हैं। एक आगार (कमरा) कृत्स्न है, छत, धरातल, ईंट–आदि प्रतीक हैं। इसप्रकार महादशा, दशा, अन्तर्दशा, प्रत्यन्तरदशा, अवान्तरदशा, सूक्ष्मान्तरदशा, प्राणदशा, आदि दशाक्रमानुसार कृत्स्नभाव, एवं प्रतीकभाव अपेक्षया व्यवस्थित हैं। इन दोनों की महतोमहीयान्, अणोरणीयान्, ये दो विश्रामभूमि हैं। जिस से बड़ा और कोई नहीं है, वह परमेश्वर महतोमहीयान् है, वही परमसामान्य है, वह कृत्स्न ही है। जिस से छोटा और कोई नहीं है, वह अणु परमविशेष ही है, वह प्रतीक ही है। परमसामान्यरूप कृत्स्न, एवं परमविशेषरूप प्रतीक, दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित सम्पूर्ण बड़े–छोटे पदार्थ अपेक्षया कृत्स्न भी हैं, प्रतीक भी हैं। यदि मनुष्य का हाथ कृत्स्नशरीरदृष्टि से प्रतीक है, तो वही हाथ अङ्गुलि की दृष्टि से कृत्स्न भी है। इसप्रकार मध्यस्थ पदार्थों में उभयभावों का समन्वय होरहा है।

१४२–प्रतीकालम्बन के माध्यम से कृत्स्न--उपास्य की ओर मानस--प्रत्यय का प्रवाह, उदाहरण के द्वारा तत्स्पष्टीकरण, एवं तन्निबन्धन बुद्ध्यालम्बन परमोपास्य का, तथा दृष्ट्यालम्बन प्रथमोपास्य का स्वरूप--समन्वय, और तत्सम्बन्ध में-'इन्द्रं'-मित्रं--अग्निमाहुः' इत्यादि मन्त्रश्रुति का संस्मरण—

प्रतीकालम्बन से कृत्स्न की ओर हमारा प्रत्यय प्रवाहित होजाता है। पाञ्चाल (कन्नौज) एक जनपद है, अहिच्छत्रा इस जनपद (राष्ट्र) की राजधानी है। राजधानी के किसी एक गृह में जाने वाले यात्री के लिए–'वह कन्नौज गया है' यह व्यवहार होता है। तत्त्वतः न वह कन्नौज गया, न अहिच्छत्रा गया। गया केवल एक गृह में। इस प्रतीकगमन से कृत्स्नगमन–व्यवहार होजाता है। करग्रहण से कृत्स्न मनुष्य का ग्रहण गतार्थ बन जाता है। चरणसेवा से कृत्स्नगुरु की सेवा गतार्थ मान ली जाती है। गौपुच्छस्पर्श से 'गां स्पृशामि' का अभिमान किया जाता है। प्रतीकग्रहण से होने वाली यह कृत्स्नग्रहणभावना क्या कल्पित है, मिथ्या है?, नहीं। उत्तर वही सामान्यभाव है, जिसे दार्शनिक 'जाति' नाम से व्यवहृत किया करते हैं। सम्पूर्ण गौ में

प्रतिष्ठित गोत्व ही 'सामान्य' नामक जातिभाव है । यह व्यासज्यवृत्त्या अखण्डरूपेण गोमात्र में व्याप्त है । इस में अवयव नहीं होते । यह सम्पूर्ण अवयवों में सामान्यरूपेण व्याप्त है । इसीलिए तो इसे 'सामान्य' कहना अन्वर्थ बनता है । किसी भी अवयव का ग्रहण कर लीजिए, सामान्य गृहीत होजायगा । मूलग्रहण यद्यपि प्रतीक से ही सम्बद्ध रहेगा, तथापि भावना के द्वारा अवयवी गृहीत हो जायगा । इसी जातिभाव के कारण अङ्गदृष्टि अङ्गी की ओर बुद्धि को आकर्षित करने का निमित्त बन जाती है । भक्ति (अवयव-प्रतीक) से भक्तिमान् (अवयवी-कृत्स्न) जात्या अभिन्न है । अतएव अवयवदृष्ट्या बुद्धि का अवयवी में अवश्य ही स्थिरीकरण होजाता है । एकदेश (प्रतीक) में प्रतिष्ठिता दृष्टि अवश्यमेव कृत्स्न-बुद्धि की प्रवर्त्तिका बन जाती है । बुद्ध्यालम्बन परमोपास्य है, दृष्ट्यालम्बन एकदेश (प्रतीकभाव) प्रथमोपास्य है । यही प्रतीकात्मक-प्रथमोपास्य का संक्षिप्त स्वरूप-विश्लेषण है । निम्न लिखित मन्त्रश्रुति इसी प्रतीकात्मक प्रथमोपास्य का स्पष्टीकरण कर रही है—

इन्द्रं, मित्रं, वरुण, मग्नि-माहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति-अग्निं, यमं, मातरिश्वानमाहुः ॥

—ऋक्० मं० १।१६४।४६।

१४३-अनुगम-भावात्मक रहस्यपूर्ण तथ्य से अनुगता मन्त्र-श्रुतियाँ, एवं -पञ्चपुण्डीरा-प्राजापत्या-वल्शा से अनुप्राणित विश्वेश्वर के सुप्रसिद्ध पाँच अवयवों के माध्यम से-'इन्द्रं'-मित्रं०' इत्यादि अनुगमन-मन्त्र का अर्थसमन्वय-प्रयास—

'अस्यवामीयसूक्त' में पठित 'इन्द्रं मित्रं०' इत्यादि मन्त्र का अनुगमभाव से सम्बन्ध है । अतएव इस का अन्वर्थदृष्टि से अनेकधा समन्वय किया जासकता है । इस से पहिला ही मन्त्र 'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि' (१।१६४।४५) यह अनुगममन्त्र है, जिस के अनेक अर्थों का उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-द्वितीयखण्ड में स्पष्टीकरण हुआ है । प्रकृत प्रतीकविधा-प्रतिपादकमन्त्र भी इसी अनुगमभाव से अनेक भावों से सम्बन्ध रखता है । यही कारण है कि, स्वयं सायणाचार्य्यने जहाँ इसे आदित्यपरक बतलाया है, वहाँ निरुक्तकारने अग्निपरक मानते हुए इस का समन्वय किया है । सर्वप्रथम उस पञ्चपुण्डीरा प्राजापत्यवल्शा की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है, जिस के स्वयम्भू प्रजापति अध्यक्ष माने गए हैं । स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी, इन पांचों पर्वों की समष्टि वल्शात्मक सर्वविश्व है । स्वयम्भू इस विश्व के परमप्रजापति हैं, जो परोरजा-सत्य-विश्वकर्मा-आदि नामों से व्यवहृत हुए हैं । इसी संस्था को लक्ष्य बना कर मन्त्रार्थ-समन्वय अपेक्षित है ।

१४४-रोदसी-क्रन्दसी-संयती-भेदभिन्ना विश्वपर्वत्रयी का स्वयम्भू-शरीरत्व, सप्त-वितस्तिकायात्मक-स्वयम्भू-प्रजापति के गायत्राक्षर-निबन्धन सप्तपर्वों का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय, एवं सप्तवितस्तिकायात्मक पूर्णेश्वर के साथ अष्टाक्षरगायत्रीछन्द से छन्दित-अष्टप्रादेशात्मक-चतुरशीतिरङ्गुलात्मक-पुरुष (मानव) की नेदिष्ठता का प्रासङ्गिक-संस्मरण, तथा परिलेख के माध्यम से वस्तुस्थिति का स्पष्टीकरण-प्रयास –

रोदसीब्रह्माण्ड, क्रन्दसीब्रह्माण्ड, संयतीब्रह्माण्ड, तीनों स्वयम्भू के शरीर हैं। संयती मस्तक है, क्रन्दसी हृदय है, रोदसी पाद है। मस्तकावच्छिन्ना संयती स्वः है, हृदयावच्छिन्ना क्रन्दसी भुवः है, पादावच्छिन्ना रोदसी भूः है। स्वः नामक महाव्याहृति के गर्भ में स्वयम्भू स्वः है, परमेष्ठी भूः है, दोनों का अन्तरालप्रदेश भुवः है, यही द्यौः रूपा प्रथमा संयतीत्रिलोकी है। भुवः नामक महाव्याहृति के गर्भ में परमेष्ठी स्वः है, सूर्य्य भूः है, दोनों का अन्तराल प्रदेश भुवः है, यही अन्तरिक्षरूपा द्वितीया क्रन्दसी त्रिलोकी है। भूः नामक महाव्याहृति के गर्भ में सूर्य्य-स्वः है, पृथिवी भूः है, दोनों का अन्तराल प्रदेश भुवः है, यही पृथिवीरूपा तृतीया रोदसी त्रिलोकी है। संयती का भूरूप परमेष्ठी क्रन्दसी का स्वः है, क्रन्दसी का भूरूप सूर्य्य रोदसी का स्वः है। इस प्रकार ६ के सात ही लोक रह जाते हैं, जो क्रमशः भूः, भुवः, स्वः, महः, जनत्, तपः, सत्यम्, नामों से प्रसिद्ध हैं। ये ही विश्वेश्वरशरीर की सात वितस्तियाँ हैं। इन्हीं के सम्बन्ध से वह * सप्तवितस्तिकाय कहलाया है। ईश्वरांशभूत पुरुष का शरीर यदि अष्टाक्षर-अष्ट-पाशात्मक गायत्रप्राण से युक्त रहता हुआ अष्ट प्रादेशात्मक (८४ अङ्गुल) है, तो ईश्वरप्रजापति भी सप्तवितस्तिरूप से ८४ अङ्गुल का ही है। इसी आधार पर-'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्टम्' (शतपथब्राह्मण) निगम प्रतिष्ठित है। इसप्रकार संयती, क्रन्दसी, रोदसी, इन त्रैलोक्यात्मक त्रिलोकों में वह सप्तवितस्तिकाय विश्वेश्वर व्याप्त होरहा है। यही इस विश्वेश्वर का कृत्स्नरूप है, जिस के गर्भ में परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी ये चार प्रधान प्रतीक प्रतिष्ठित हैं। स्वयं स्वयम्भू सत्यप्रजापति अवयवी है, अङ्गी है। तद्गर्भीभूत चारों प्रतिमान अवयव हैं, अङ्ग हैं, प्रतीक हैं। प्रकृत मन्त्र का इस दृष्टिकोण से भी समन्वय किया जासकता है। परिलेख के द्वारा विश्वेश्वर-संस्था को लक्ष्य बना कर इसी दृष्टि से मन्त्रार्थ का समन्वय कीजिए!

---

*-क्वाहं तमो महदहं खचराग्निवार्भूसंवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः ।
क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्य्या वाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम् ॥
—श्रीमद्भागवते

सप्तवितस्तिकायात्माको विश्वेश्वरो विश्वकर्म्मा—

- ३-द्यौः-स्वः
  - १-स्वयम्भूः (स्वः) .... सत्यम् (७)
  - २-अन्तरालप्रदेशः (भुवः) .... नरः (६)
  - ३-परमेष्ठी (भूः)
- २-अन्तरिक्षं-भुवः
  - १-परमेष्ठी (स्वः) .... जनत् (५)
  - २-अन्तरालप्रदेशः (भुवः) .... महः (४)
  - ३-सूर्य्यः (भूः)
- १-पृथिवी-भूः
  - १-सूर्य्यः (स्वः) .... स्वः (३)
  - २-अन्तरालप्रदेशः (भुवः) भुवः (२)
  - ३-पृथिवी (भूः) .... भूः (१)

(सत्यम्, नरः, जनत् — संयती स्वः; महः, स्वः — क्रन्दसी भुवः; भुवः, भूः — रोदसी भूः)

* * *

- १-स्वयम्भूः, *-अन्तरालप्रदेशः — स्वयम्भूः (१)—कृत्स्नः प्रजापतिरीश्वरः
- २-परमेष्ठी, *-अन्तरालप्रदेशः — परमेष्ठी (१)
- ३-सूर्य्यः — सूर्य्यः (२)
- *-अन्तरालप्रदेशः — चन्द्रमाः (३)
- ४-पृथिवी — पृथिवी (४)

(परमेष्ठी, सूर्य्यः, चन्द्रमाः, पृथिवी — कृत्स्नस्य प्रजापतेः प्रतीकाः)

(सर्व्वेश्वरः–सप्तवितस्तिकायः)

* * *

१४५--'एकैको वै जनतायामिन्द्रः' इत्यादि सुप्रसिद्धा अनुगमभावापन्ना श्रुति से अनुप्राणिता 'जनता' तत्त्व, और तन्नायक 'इन्द्र' तत्त्व का तात्त्विक-स्वरूप--समन्वय, एवं विभिन्न लौकिक, तथा शास्त्रीय उदाहरणों के माध्यम से "जनता", और-"इन्द्र" शब्द की रहस्यपूर्ण व्याप्ति का स्पष्टीकरण-प्रयास—

'एकैको वै जनतायामिन्द्रः' (श्रुतिः) इस निगमश्रुति के अनुसार प्रतीकात्म अनेक अवयवों में, एवं अनेक पदार्थों के समुच्चय में जो एक मुख्य अवयवी, एवं मुख्याधिष्ठाता है, उस का पारिभाषिक नाम 'इन्द्र' रक्खा गया है। किसी देवताविशेष में 'इन्द्र' शब्द रूढ नहीं है। अपितु अवयवसमष्टि, पदार्थसमष्टि, का अधिष्ठाता मध्यस्थ (मुखिया) ही इन्द्र कहलाया है। 'यन्मध्यत ऐन्ध, तस्मादिन्धः। इन्धो वै तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षम्' (शतपथब्राह्मण। ६।१।१) निर्वचन भी इन्द्र शब्द के इस यौगिकार्थ का ही समर्थन कर रहा है। शरीरसंस्था में मध्यस्थभाव आत्मा है। वाक प्राणादि जनता हैं। इस का एक इन्द्र आत्मा है। रोदसी-ब्रह्माण्ड में प्रतिष्ठित जनता (पदार्थ) का अधिष्ठाता सौरप्राण है, अतएव इसे भी 'इन्द्र' कह दिया गया है। 'इन्द्र' इस विशेष नाम से प्रसिद्ध देवता-विशेष का प्रातिस्विक नाम वस्तुतः 'अर्जुन' है। परन्तु यह अपने यौगिक 'इन्द्र' नाम से प्रसिद्ध होरहा है। राजा प्रजा का इन्द्र है, स्वामी सेवकवर्ग का इन्द्र है, पिता अपने सन्ततिवर्ग का इन्द्र है। यह एक प्राकृतिक नियम है कि, प्रत्येक चेतन जड़-पदार्थों की समष्टि में कोई न कोई एक मुख्य रहता ही है।

१४६ मक्षिकासमूह का जनतात्त्व, एवं मधुकरराजा का इन्द्रत्व, और उदाहरण--विधि के माध्यम से पञ्च--पुण्डीरा--प्राजापत्या--वल्शा के अध्यक्ष विश्वेश्वर के विभिन्न विश्वपर्वों के अनुपात से जनता, और इन्द्र--भावों का स्वरूप-समतुलन-प्रयास, एवं तदनुबन्धी सापेक्ष-कृत्स्न, और प्रतीक-भावों का दिग्-दर्शन—

मक्षिकासमूह का अध्यक्ष मधुकरराजा कहलाया है। यही इस मण्डली का इन्द्र है। शिष्यमण्डली का इन्द्र गुरु है। सभा का इन्द्र सभापति है। इस सामान्य-परिभाषा के अनुसार सर्वलोकाधिनायक स्वयम्भू विश्वकर्मा को अवश्य ही 'इन्द्र' कहा जासकता है। संयती-लोकाधिष्ठातृत्वेन यह स्वयम्भू इन्द्र है, क्रन्दसी-लोकाधिष्ठातृत्वेन पारमेष्ठ्य प्राण इन्द्र है, क्रन्दसीलोकाधिष्ठातृत्वेन पारमेष्ठ्य प्राण इन्द्र है, रोदसी-लोकाधिष्ठातृत्वेन सौरप्राण इन्द्र है, अन्तरिक्ष-लोकाधिष्ठातृत्वेन आन्तरिक्ष्य मरुत्प्राण इन्द्र है, चान्द्रलोकाधिष्ठातृत्वेन पार्थिव प्राण इन्द्र है। किम्बहुना-प्रत्येक पदार्थ का केन्द्रस्थ उक्थप्राण भी इन्द्र है। प्रत्येक लोक का अधिष्ठाता भी इन्द्र है, अनेक पदार्थों की समष्टि का नायक भी इन्द्र है। पार्थिव इन्द्र वामव नाम से, चान्द्र इन्द्र वृत्रहा नाम से, आन्तरिक्ष्य इन्द्र मरुत्वान् नाम से, सौर इन्द्र मघवा नाम से, पारमेष्ठ्य इन्द्र वाचस्पति नाम से, एवं विश्वकर्म्मा नाम से, प्रसिद्ध होरहा है। प्रकृत मन्त्र के प्रकृत प्रथमार्थ में 'इन्द्र' शब्द से स्वायम्भुव उस विश्वकर्म्मा इन्द्र का ही ग्रहण किया जाएगा, जो पञ्चपर्वात्मक पुण्डीरविश्व का एक नायक है। वह अवयवी है, शेष पर्व अवयव हैं। वह कृत्स्न है, शेष पारमेष्ठ्यादि उस कृत्स्न के प्रतीक हैं।

१४७ इन्द्र–मित्र–वरुण–अग्नि–सुपर्ण–यम–मातरिश्वा–आदि मन्त्रोपात्त शब्दों का पारिभाषिक–रहस्यात्मक स्पष्टीकरण, एवं परिलेख के माध्यम से वस्तुस्थिति का स्वरूप–समन्वय—

पारमेष्ठ्य आपोमय प्राण वरुण है, सौर ज्योतिर्म्मय प्राण मित्र है, 'चन्द्रमा अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि' के अनुसार चन्द्रमा दिव्य [अन्तरिक्षरूप द्युलोक में रहने वाला] सुपर्ण है। सौर सावित्राग्नि दिव्याग्नि है, पार्थिव प्राणाग्नि अग्नि है, आन्तरिक्ष्य आङ्गिरस वायु यम है, पार्थिवस्वरूपरक्षक संवरण-धर्म्मा वायु मातरिश्वा है, जो 'एमूष' वराह नाम से प्रसिद्ध है। इसप्रकार मित्र, वरुण, अग्नि, सुपर्ण, अग्नि, यम, मातरिश्वा, सब उस इन्द्र के ही [स्वायम्भुव विश्वकर्मा नामक परमप्रजापति के ही] प्रतीक बने हुए हैं। वही अपने सर्वहुत यज्ञ से इन रूपों में परिणत हुआ है। अतएव इन में से किसी को भी प्रथमोपास्य बनाकर इन प्रतीकात्मक प्रथमोपास्यों के माध्यम से उस परमोपास्य विश्वेश्वर की उपासना की जासकती है। इसप्रकार निम्नलिखित रूपसे प्रकृत मन्त्र का विश्वेश्वरेन्द्र की प्रतीकविद्या के साथ भी समन्वय किया जासकता है–

"उस विश्वेश्वरेन्द्र को विद्वान् लोग मित्र, वरुण, अग्नि, कहा करते हैं। वही गरुत्मान् नामक दिव्य सुपर्ण है। उस एक (कृत्स्न) को ही वैज्ञानिक लोग अग्नि, यम, मातरिश्वा, इत्यादि विविध नामों से व्यवहृत किया करते हैं।"

* स्वायम्भुवो विश्वकर्मा इन्द्रः–कृत्स्नः–प्रजापतिः } स्वयम्भूः–एकं सद्विप्राः-

क्रम	प्रतीक	अधिष्ठान	
१	वरुणः	परमेष्ठी	प्रतीकाः–बहुधा वदन्ति
२	मित्रः	सूर्य्यः	
१	अग्निः		
१	सुपर्णः	चन्द्रमाः	
३	अग्निः		
२	यमः		
१	मातरिश्वा:		

* * *

१४८-सुप्रसिद्ध-'आदित्यप्राणात्मक' अनुगमभाव के माध्यम से-'इन्द्र'-मित्रं०' मन्त्रार्थ-समन्वय-प्रयास, अद्यतन-अनद्यतन-कालानुबन्धी ऐन्द्र-वारुण-कपालों का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं तन्निबन्धना रहस्यात्मिका खगोलीया-स्थिति के आधार पर मन्त्रार्थ-दिग्दर्शन—

आदित्यपरकत्वेन भी मन्त्र का समन्वय सम्भव है, जिसका सायणभाष्य में विश्लेषण हुआ है। रोदसीब्रह्माण्डाधिनायक सौरप्राण ही इन्द्र है। यही रोदसीत्रैलोक्य का, एवं तत्प्रजा का इन्द्र है। अद्यतनोपलक्षित, पूर्वकपालावच्छिन्न, आगतिधर्म्मा अहरात्मक सौरप्राण मित्र है। अनद्यतनोपलक्षित, पश्चिमकपालावच्छिन्न, गति [वियुक्ति] धर्म्मा रात्र्यात्मक वही सौरप्राण वरुण है। तात्पर्य्य यही है कि, पूर्वदिशा के दिक्पाल इन्द्र है, पश्चिम दिशा के दिक्पाल वरुण हैं। इन्द्र ज्योतिर्लोक के लोकपाल हैं, वरुण आपोलोक के लोकपाल हैं। सौरमण्डलात्मक ज्योतिश्चक्र (खगोल) का ध्रुवप्रोतवृत्त नामक याम्योत्तरवृत्त (मध्यवृत्त) से दो भागों में विभाजन होरहा है। यह रेखा मध्यरात्रि से मध्याह्न का स्पर्श करती हुई व्याप्त है। यही आख्यानभाषा में 'उर्वशी अप्सरा' नाम से प्रसिद्ध है। मध्यरात्रि से मध्याह्नावच्छिन्न अर्द्धखगोल पूर्वकपाल है। मध्याह्न से मध्यरात्र्यवच्छिन्न अर्द्धखगोल पश्चिमकपाल है। पूर्वकपाल में सौरप्राण का पार्थिव प्रजा से सम्बन्ध होता है। पश्चिम कपाल में सौरप्राण पार्थिव-प्रजा से वियुक्त होता है। पूर्वकपालस्थ सौरप्राण पूर्वदिगनुगत इन्द्र के सम्बन्ध से, एवं सम्परिष्वक्ति से मित्र कहलाया है। एवं पश्चिम कपालस्थ सौरप्राण पश्चिम दिगनुगत वरुण के सम्बन्ध से, एवं वियुक्ति से वरुण कहलाया है। इसप्रकार ज्योतिर्भावापन्न वही सौरप्राण पूर्वकपालावच्छेदेन अहरागम की प्रतिष्ठा बनता हुआ मित्र बन रहा है। एवं आप्यभावापन्न वही सौरप्राण पश्चिमकपालावच्छेदेन रात्र्यागम की प्रतिष्ठा बनता हुआ वरुण बन रहा है। वारुण आप्यमण्डल में प्रवर्ग्यरूप से गर्भीभूत सौर सावित्राग्नि ही एकता, द्विता, त्रिता, नामक सुप्रसिद्ध 'आप्त्याग्नि' है, जिसका शतपथविज्ञानभाष्यान्तर्गत सुप्रसिद्ध 'आप्त्याब्राह्मण' में विस्तार से वैज्ञानिक विवेचन हुआ है। इसप्रकार एक ही सौर इन्द्र मित्र, वरुण, आप्त्याग्नि, रूप से तीन विवर्त्तभावों में परिणत होरहा है। इसी अभिप्राय से कहा है—'इन्द्र' (मघवानमेव)-मित्रं, वरुणं, अग्निमाहुः'।

१४९-सौर-आदित्यप्राण का महिमात्मक विवर्त्त-सौरसम्वत्सर-मण्डल, दिव्यप्राण-विभूति से परिपूर्ण सम्वत्सर, एवं तद्रूप दिव्य-सुपर्ण-गरुत्मान् के तात्त्विक-स्वरूप का समन्वय, और रोदसी-ब्रह्माण्ड के अधिनायक सुप्रसिद्ध-'मघवा' नामक इन्द्र के माध्यम से-'इन्द्रं-मित्रं०' इत्यादि मन्त्रार्थ-समन्वय-प्रयास—

सौरसम्वत्सर भी उसी सौरप्राण का महिमात्मकरूप है। विष्वद्वृत्तापरपर्य्यायक बृहतीछन्द के केन्द्र में प्रतिष्ठित सूर्य्य स्व-प्राणविभूति से सम्पूर्ण दिव्यसम्वत्सर में व्याप्त है। विषुवत् से उत्तर २४ अंश, दक्षिण २४ अंश, एतन्मित ४८ अंशात्मक मण्डल ही सम्वत्सर है। दक्षिणभाग दक्षिणपार्श्व है, उत्तरभाग उत्तरपार्श्व है, मध्यस्थ विषुव आत्मा (मध्याङ्ग-धड़) है। यही महासुपर्णात्मक सम्वत्सर है। इसी को लक्ष्य बनाकर-'अथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्' कहा गया है। सौर सावित्राग्नि ही प्रवर्ग्यरूप से भूगर्भ में प्रतिष्ठित होकर गायत्राग्नि कहलाया है। यह गायत्राग्नि भी [पार्थिवाग्नि] भी परम्परया

इसी सौर इन्द्र की सावित्राग्नि-प्रतीकरूपा विभूति है। मातरिश्वा नामक एमूषवराहलक्षण भूवायु, और दक्षिण-दिक्स्थ आङ्गिरस याम्य वायु पार्थिवाग्नि के ही तरलरूप हैं। अतएव औमत्य, और हालिङ्ग्य वायु को भी अग्नि [पार्थिवाग्नि की अवस्थान्तरमात्र] ही कहा करते हैं [शत० १०।४।५।१।]। इसप्रकार रोदसीब्रह्माण्डेन्द्र मघवा की अपेक्षा से भी मन्त्रार्थ का समन्वय सम्भव है—

* सौरप्राणः—इन्द्रः [कृत्स्नः—अवयवी]

मित्रः—पूर्वकपालावच्छिन्नः सौरप्राणः

वरुणः—पश्चिमकपालावच्छिन्नः प्राणः

अग्निः—अप्सु गर्भीभूतः—सौराग्निः

सुपर्णः—सौरसम्वत्सरः

अग्निः—पार्थिवाग्निः } —प्रतीकाः

यमः—दक्षिणस्थो वायुः

मातरिश्वा—भूवायुः

* * *

१५० 'अग्नि'-परकत्वेन सम्भावित मन्त्रार्थ, पार्थिव-आग्नेय-प्रजावप्ति का स्वरूप-समन्वय, पार्थिव अक्षाग्नि, और तन्निबन्धना दैनंदिनगति-वार्षिकगति-अयनगति-त्रयी का स्वरूप-दिग्दर्शन, तथा 'प्रजापतिश्चरति गर्भे' मूलक गर्भस्थ पार्थिव-प्राजापत्य-अग्नि के तात्त्विक स्वरूप-का-समन्वय-प्रयास—

अग्निपरकत्वेन भी मन्त्रार्थ का समन्वय किया जासकता है, जिसका यास्कनिरुक्तने समर्थन किया है। पार्थिव-स्तौम्यत्रिलोकी का अधिष्ठाता मुख्य प्राण ही अग्नि है, यही पार्थिव-प्रजापति है। मित्र-वरुणादि, इसी पार्थिव कृत्स्न अग्निप्रजापति के प्रतीक हैं। इस पार्थिवी गति के दैनंदिनगति, वार्षिकगति, अयन-गति, भेद से तीन विवर्त्त माने गए हैं। अक्षात्मक स्वप्राजापत्याग्नि के—जो अग्निस्तम्भ अथर्व में 'स्कम्भ' नाम से प्रसिद्ध है—चारों ओर २४ घण्टे में भूपिण्ड घूम जाता है। यही भूपिण्ड का स्वाक्षपरिभ्रमण है, यही दैनंदिनगति है। उदयास्तमावापन्न पार्थिव अहोरात्र का जन्म इसी दैनंदिनगति से हुआ है। अपने अक्षाग्नि की परिक्रमा लगाता हुआ भूपिण्ड क्रान्तिवृत्त के चारों ओर सर्वतः त्सरगति से घूम रहा है। यही इसकी वार्षिकगति है। इसी से उत्तरायणानुगत षड्मासात्मक अहःकाल, (देवदिन), एवं दक्षिणायनानुगत षण्मासात्मक रात्रिकाल [देवरात्रि] का जन्म होता है। यही पार्थिव दिव्य सम्वत्सर है, जिसका पूर्वोक्त सौर सम्वत्सर के साथ साम्रों के आधार पर अतिमान-सम्बन्ध होरहा है। पार्थिव विष्वद्वृत्त ध्रुव में निबद्ध है, प्रोत है। नाकविन्दूपलक्षित कदम्बविष्णु के चारों ओर ध्रुव २५ सहस्रवर्षों में अपनी एक परिक्रमा समाप्त कर लेते हैं। इस ध्रुव परिभ्रमण से पार्थिव विष्वद् भी उसी अनुपात से घूमता रहता है। यह विष्वद्गति ही तीसरी अयनगति है, जिसका वेदसम्पत्तोदय, तिरोभाव से सम्बन्ध है। इन तीनों गतिभावों का मूलाधार भूकेन्द्रस्थ वह पार्थिवाग्नि-प्रजापति ही है, जिसका-'प्रजापतिश्चरति गर्भे०' इत्यादि-रूप से विश्लेषण हुआ है।

१५१–पार्थिव उक्थरूप प्राणाग्नि का प्रजापतित्त्व, पार्थिव प्राणाग्नि की 'मित्र' रूपता का समन्वय, पार्थिवप्राणाग्नि की वरुण-रूपता, एवं पार्थिव-प्राजापत्य प्राणाग्नि के अनुबन्ध से 'इन्द्रं-मित्रं०' इत्यादि अनुगम-मन्त्र का परिलेख-माध्यमेन-स्पष्टीकरण-प्रयास—

पार्थिव उक्थाग्नि प्रजापति है। उदय से आरम्भ कर अस्तपर्य्यन्त रात्रिकाल में व्याप्त वही पार्थिव प्राणाग्नि मित्र है। अस्त से आरम्भ कर उदयपर्य्यन्त रात्रिकाल में व्याप्त वही पार्थिव-प्राणाग्नि वरुण है। पार्थिवसम्वत्सर सुपर्ण है। स्तौम्यत्रिलोकी में व्याप्त अग्नि–वायु–आदित्यात्मक यज्ञाग्नि उसी केन्द्रस्थ प्रजापति का वैतानिकरूप है। याम्यवायु इसी की तरलावस्था है, मातरिश्वा वायु इसी की विरलावस्था है। इसप्रकार स्तौ० त्रिलोकी का नायक कृत्स्नात्मक हृद्य पार्थिवाग्नि प्रजापति ही अहः, रात्रि, सम्वत्सर, महिमा, मण्डल, तरल, विरल, अवस्थाओं के भेद से मित्र, वरुण, सुपर्ण अग्नि, यम, मातरिश्वारूप प्रतीक–भावों में परिणत होरहा है—

पार्थिवहृद्यप्रजापतिः–अग्निः (कृत्स्नः) ।–एकं सद्विप्राः–

इन्द्रः–पार्थिवाग्निमयो धारव:	
मित्रः–अहरवच्छिन्नोऽग्निः	
वरुणः–राज्यवच्छिन्नोऽग्निः	
सुपर्णः–पार्थिवसम्वत्सराग्निः	प्रतीकाः–बहुधा वदन्ति ।
अग्निः–अग्निवाय्वादित्याः	
यमः–तरलोऽग्निः	
मातरिश्वा-विरलोऽग्निः	

* * *

१५२–'तदेवाग्निस्तदादित्यः'-इत्यादि अनुगमश्रुति से अनुप्राणिता प्रतीकविधा का सोदाहरण-समन्वय-प्रयास, एवं प्रतीक-विधा से अनुगत अमृतात्मा-ब्रह्मात्मा-शुक्रात्मा-नाम की सुप्रसिद्धा तीन प्राजापत्यसंस्थाओं से अनुप्राणित-'तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म-ता आपः-स प्रजापतिः' का रहस्यात्मक समन्वय, तथा तालिका-माध्यमेन-वस्तुस्थिति का स्पष्टीकरण—

प्रतीकविधा का ही एक दूसरा उदाहरण लीजिए—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥

'तदेव शुक्रं, तद्ब्रह्म, तदेवामृतमुच्यते' (कठोपनिषत्) इत्यादि कठश्रुति में जिन शुक्र, ब्रह्म, अमृत, नामक तीन ईश्वर-विवर्त्तों का दिग्दर्शन हुआ है, प्रकृत श्रुति उसी विवर्त्तभाव का विश्लेषण कर रही है। 'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः' इत्यादि ऋङ्मन्त्र में केवल शुक्रात्मक क्षरात्मा के प्रतीक-भावों का स्पष्टीकरण है। प्रकृत मन्त्र में अव्यय, अक्षर, क्षरात्मक त्रिपुरुष-पुरुषात्मक अश्वत्थमूर्ति सहस्र-वल्शेश्वर महामायी महेश्वर की प्रतीकविद्या का निरूपण हुआ है। वाक्, आपः, अग्निः, ये तीन शुक्र हैं। तीनों के अमृत-मर्त्य, भेद से दो विवर्त्त हैं। मर्त्यवाग् गर्भित अमृतवाक्शुक्र स्वयम्भू है। मर्त्या आपः शुक्र-गर्भित अमृता आपः शुक्र परमेष्ठी है। अमृताग्निशुक्र अमृत सूर्य्य है। अमृताग्निशुक्रगर्भित मर्त्याग्नि मर्त्य सूर्य्य है। अमृता आपः शुक्रगर्भित मर्त्या आपः शुक्र चन्द्रमा है। अमृतावाग्गर्भित मर्त्या वाक् शुक्र पृथिवी है। इसप्रकार पञ्चपुण्डीरात्मक एकवल्शेश्वर योगमायी स्वयम्भूप्रजापति में ६ ओं शुक्रों का भोग होरहा है। यही शुक्रात्मा है। यही 'तदेव शुक्रम्' है, जिसका पूर्वमन्त्र के प्रथमार्थ-समन्वय में दिग्-दर्शन कराया जाचुका है—

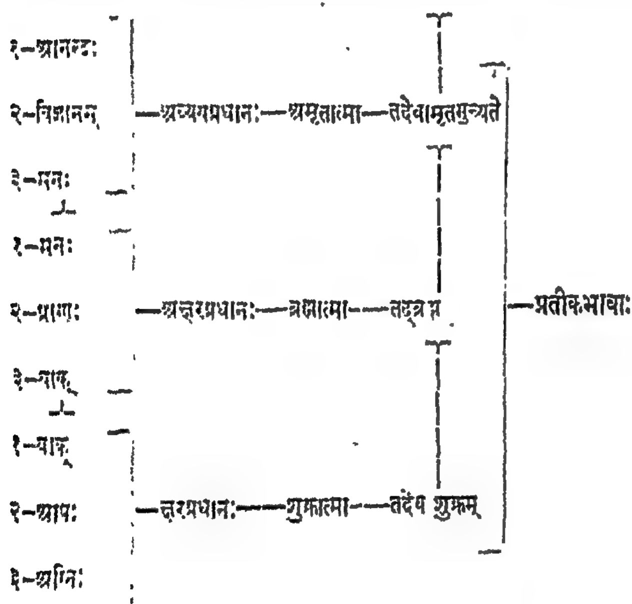
मर्त्यवाग्गर्भितं अमृतवाक्-शुक्रम्-वाक् (१)	—१—स्वयम्भूः	—स एप शुक्रात्मा 'तदेव शुक्रम्'
मर्त्यापोगर्भितं अमृतापः—शुक्रम्-आपः (२)	—२—परमेष्ठी	
अमृताग्निरूपं अमृताग्नि-शुक्रम्-अग्निः (३)	—३—सूर्य्यः	
मर्त्याग्निरूपं मर्त्याग्नि—शुक्रम्-अग्निः (३)		
अमृतापोगर्भितं मर्त्यापः—शुक्रम्-आपः (२)	—४—चन्द्रमाः	
अमृतवाग्गर्भितं मर्त्यावाक्-शुक्रम्-वाक् (१)	—५—पृथिवी	

१५३—आनन्दसैकघन-सर्वबलविशिष्ट-परात्परब्रह्म की रहस्यपूर्ण कृत्स्नरूपता का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय, एवं कृत्स्न परात्परब्रह्म के प्रतीकभावों के माध्यम से 'उपासना' का स्वरूप-स्पष्टीकरण, तथा तालिकामाध्यमेन प्रतीकभावों का स्वरूप-विश्लेषण—

क्षरप्रधान शुक्रात्मा की प्रतिष्ठा अक्षरप्रधान ब्रह्मात्मा है। अक्षरप्रधान ब्रह्मात्मा की प्रतिष्ठा सर्वप्रतिष्ठा (सर्वालम्बन) लक्षण अव्ययप्रधान अमृतात्मा है। अमृतात्मा (अव्ययात्मा) के आनन्द, विज्ञान, मन (अन्तर्म्मन), तीन विवर्त्त हैं। इसके मनोविवर्त्त से ही मनः-(बहिर्म्मनः) प्राण-वाङ्मय ब्रह्मात्मा

(अक्षरात्मा) का विकास हुआ है। क्षरात्मा के तीसरे वागूविवर्त्त से ही वाक्-आप:-अग्निमय तीसरे शुक्रात्मा (क्षरात्मा) का विकास हुआ है। इसप्रकार वह एक ही तत्त्व त्रिसंस्थ बनता हुआ, त्रिवृद्भावापन्न बनता हुआ-'तदेव शुक्रं, तद्ब्रह्म, तदेवामृतमुच्यते' को चरितार्थ कर रहा है। बलग्रन्थितारतम्यलक्षणा चितियों के सन्निवेश-तारतम्य से ही आनन्दैकरसमूर्त्ति आत्मतत्त्व (अव्ययतत्त्व) प्रथम आनन्द-विज्ञान-मनोरूप में, अनन्तर-त्रिसंस्थारूप में, अनन्तर अनन्तरूपों में परिणत होरहा है। और इस दृष्टिकोण से अणोरणीयान्, महतोमहीयान्, यच्चयावत् पदार्थ तद्रूप ही हैं, तदवय ही हैं, तत्प्रतीक ही हैं। किसी भी प्रतीक को प्रथमोपास्य बना कर उस परमोपास्य की उपासना की जासकती है—

❀ आनन्द:-रसैकघन:-सर्वबलविशिष्ट:-परात्पर:-कृत्स्न:-तद्ब्रह्म



१५४-आनन्द-विज्ञान-मनोमय-अव्ययप्रधान-अमृतात्मा का स्वरूप-संस्मरण, एवं उपास्यब्रह्म के आधार पर-'तदेवाग्नि:-तदादित्य:' इत्यादि श्रुति का पारिभाषिक समन्वय-प्रयास, और परिलेख के द्वारा स्थिति के स्पष्टीकरण—

'तदेवाग्नि:' से पार्थिव विवर्त्त लक्षीभूत है, 'तदादित्य:' से सूर्य्य विवर्त्त का ग्रहण है, 'तदु वायु:' से दोनों के मध्य का आन्तरीक्ष्य विवर्त्त संगृहीत है, 'तदु चन्द्रमा:' से चन्द्रमा संग्राह्य है, 'ता आप:' से परमेष्ठी निहित है, एवं 'स प्रजापति:' से स्वयम्भू का संग्रह हुआ है। 'तदेव शुक्रम्' से समष्टि का विश्लेषण हुआ है। 'तद्ब्रह्म' से अक्षरप्रधान ब्रह्मात्मा संगृहीत है। शेष रह जाता है—अव्ययप्रधान अमृतात्मा। उसे ही यहां कृत्स्न अवयवी माना गया है, एवं इस का 'तत्' रूप से संग्रह हुआ है। 'तदेव शुक्रं, तद्ब्रह्म,

तदेवामृतमुच्यते' में तो तत् से परात्पर संगृहीत है। एवं प्रकृत श्रुति में तत् से अव्यय संगृहीत है। आनन्द-विज्ञान-मनोमय अव्ययरूप तत् ही पहिले मनः-प्राण-वाङ्मयरूप से ब्रह्म (अक्षरप्रधान ब्रह्मात्मा) बना है, ब्रह्मद्वारा वही वाग्रूप से पहिले प्रजापति (स्वयम्भू) बना है, आपः रूप से परमेष्ठी बना है। यह एक रहस्यपूर्ण विषय है कि, पाँचों विश्वपर्वों में स्वयम्भू, परमेष्ठी, दोनों का एक स्वतन्त्र विभाग है, यही अमृत-प्रधान विभाग है। दोनों के इसी स्वातंन्त्र्य को लक्ष्य में रख कर श्रुति ने इनका उत्तरार्द्ध में-'ता आपः, स प्रजापतिः' रूप से स्वतन्त्ररूप से निरूपण किया है। अग्नि, वायु, आदित्य, तीनों की समष्टि अग्निप्रधान स्वतन्त्र विभाग है। अतएव-'तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुः' रूप से तीनों को एक श्रेणि में रक्खा गया है। चन्द्रमा इस अग्नित्रयी का अन्न है। यही इस की अन्नादाग्नित्रयीस्वरूप से विभिन्न-स्वरूपता है। अतएव इसका 'तदु चन्द्रमाः' रूप से पृथक् विश्लेषण हुआ है।

❀ आनन्द-विज्ञान-मनोमयोऽव्ययप्रधानोऽमृतात्मा-(तद्ब्रह्म)

तद्ब्रह्म } —मनःप्राणवाङ्मयोऽक्षरप्रधानो ब्रह्मात्मा—तद्ब्रह्म

——— ❀

स प्रजापतिः	—प्राणः (प्राणः)	स्वयम्भूः		
ता आपः	आपः (आपः)	परमेष्ठी		
तदादित्यः	आदित्यः (वाक्)	सूर्य्यः		—वागापोऽग्निमयः क्षरप्रधानः शुक्रात्मा—'तदेव शुक्रम्'
तदु चन्द्रमाः	सोमः (अन्नम्)	चन्द्रमाः		
तद्वायुः तदेवाग्निः	अग्निः (अन्नादः)	पृथिवी		

——— ❀

❀ ❀ ❀

१५५-मित्र-वरुण-अग्नि-सुपर्ण-आदि देवताओं में ईश्वरत्व-संस्थापन का रहस्यात्मक दृष्टिकोण, 'तत्' की स्वरूपस्थिति, एवं 'अङ्गी', तथा-'अङ्ग' भावानुबन्धी विपर्य्ययों का पारिभाषिक-समन्वय—

ऋषि कहते हैं, मित्र-वरुण-अग्नि-सुपर्ण, आदि देवता वही विश्वेश्वर है। बात यथार्थ है। वाक्-प्राण-चक्षुः-श्रोत्रादि अवयव 'अहं' लक्षण आत्मावयवी से अभिन्न ही तो माने जाएँगे। जिसप्रकार अङ्गी जीवात्मा यच्चयावत् शरीराङ्गों में आलोमभ्यः आनखाग्रेभ्यः, व्याप्त है, एवमेव अङ्गी विश्वेश्वर अङ्गात्मक मित्रादि सब प्रतीकों में अभिन्नरूप से व्याप्त होरहा है। 'मित्र भी वही है, वरुण भी वही है' इत्यादि वाक्यों

में मित्र-वरुणादि शब्द अङ्गसापेक्ष हैं, एवं 'वही' शब्द (जो सब अङ्गों में 'वही' 'वही' रूपेण समानतया व्याप्त है) अङ्गीसापेक्ष है । जिसप्रकार अभिन्न जीवात्मा के अङ्गभूत वाक्प्राणादि विभिन्न कर्म्म करने वाले विभिन्न पर्व हैं, एवमेव सर्वाभिन्नेषु अभिन्न ईश्वरात्मा के सृष्टिकर्म में नियुक्त अङ्गभूत मित्र-वरुणादि विभिन्न पर्व ही माने जाएँगे । चक्षु, नासिका, श्रोत्र, आदि सभी के लिए 'तत्' का प्रयोग होसकता है, क्योंकि सबके लिए तत् (आत्मा) समान है । परन्तु चक्षु-नासिका-श्रोत्रादि परस्पर 'तत्' नहीं माने जासकते । ठीक यही व्यवस्था यहाँ समझनी चाहिए ।

१५६–रहस्य-पूर्ण-वैदिक-'बहुदेवतावाद' के सम्बन्ध में अर्वाचीन वेदभक्तों की महती-भ्रान्ति, तन्निराकरण-प्रयास, एवं रहस्यपूर्णा अनुगम-निगमात्मिका परिभाषाओं के माध्यम से अनेकदेवतावाद, तथा एकेश्वरवाद का निर्विरोध-समन्वय-प्रयास—

व्यवस्थिति का कारण यही है कि, कितने एक अर्वाचीन वेदव्याख्याता 'वैदिक-बहुदेवतावाद' की-'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः' इत्यादि श्रुतियों के आधार पर अप्रामाणिकता सिद्ध करते हुए एकेश्वरवाद का समर्थन कर रहे हैं । एकेश्वरवाद की सिद्धान्तता में दृढ निष्ठा रखते हुए भी हमें यह मानना ही पड़ेगा कि, अध्येश्वराधार पर प्रतिष्ठित कर्मोपासित-प्रतिष्ठामूलक बहुदेवतावाद की प्रामाणिकता भी सर्वथा अक्षुण्ण है, एवं यह भी उन्हीं श्रुतियों से प्रमाणित है, जिन्हें वेदाभिमानी बहुदेवतावाद–खण्डन के लिए उद्धृत कर देते हैं । यदि मित्र, वरुण, सुपर्ण, अग्नि, यम, मातरिश्वा, आदि स्वतन्त्र देवता न होते, तो श्रुति को 'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः' यह कहने की आवश्यता ही न होती । श्रुति का अभिप्राय स्पष्ट है कि, मित्र-वरुणादि भिन्न भी भिन्न देवता हैं, सब उस व्यापकेश्वर-दृष्टि से तदभिन्न हैं । कर्म्म के द्वारा इनका यजन करना, उपासना द्वारा इन्हें प्रयत्नोपास्य मानना परम्परया उसीका यजन करना है, उसी की आराधना करना है । मित्र-वरुणादि सब वही है, यही श्रुति ने कहा है । मित्र वरुण है, वरुण मित्र है, यह नहीं कहा है । तात्पर्य्य, अवयवी के साथ अवयवों का अभेद अवश्य है । परन्तु अवयवों का अवयवों के साथ अभेद नहीं है । एक जीवात्मा के साथ अभेद-सम्बन्धेन प्रतिष्ठित इन्द्रियाँ क्या परस्पर में भी अभिन्न हैं ?। कटक-कुण्डल-आदि यथायावत् सुवर्णाभूषणों का सुवर्ण के साथ तादात्म्य अवश्य है । परन्तु क्या कटक कुण्डल है ?, किंवा कुण्डल कटक है ? । एवमेव मित्रवरुणादि से वह अवश्य अभिन्न है । परन्तु मित्र-वरुणादि परस्पर सर्वथा विभिन्न ही हैं । एकमात्र इसी भेद के आधार पर वैदिक-कार्मकाण्ड, एवं वैदिक उपासनाकाण्ड व्यवस्थित है ।

१५७ 'आदित्य एवाहम्'–'मन एवाहम्'–'आकाश एवाहम्'–लक्षणा तादात्म्यबुद्धि की सम्भावना का निराकरण, एवं उपासना के मध्यस्थ द्वारमात्र वरुण-मित्रादि-देवताओं की स्वरूप-स्थिति का स्पष्टीकरण—

यही क्यों । उपासनाकाण्ड की दृष्टि से तो मित्र-वरुणादि का ईश्वरात्मा के साथ भी तादात्म्य नहीं माना जासकता । भगवान् व्यास ने कहा है कि, आदित्य, वरुणादि देवता उपासना के द्वारमात्र हैं, स्वयं उपास्य नहीं । क्योंकि इन प्रतीकों के साथ आत्मा का तादात्म्य नहीं है । जीवात्मा परमात्मा का अवयव है । अवयव (जीव) का अवयवी (ईश्वर) के साथ अभेद अवश्य है । परन्तु अवयव (जीव) का अवयव (वरुणादि) के साथ अभेद सम्भव नहीं है । अतएव द्वारभूत आदित्यादि के साथ–'आदित्य एवाहम्' 'मन एवाहम्'-'आकाश एवाहम्' इसप्रकार तादात्म्यबुद्धि कथमपि सम्भव नहीं है ।

१५८–'प्रत्येकापर्य्याप्तस्य समुदाये पर्य्याप्तत्त्वं नास्ति' न्यायमूला पारिभाषिकी स्थिति का स्पष्टीकरण, और-'समुदाये दृष्टाः शब्दा अवयवेष्वपि वर्त्तन्ते' न्यायमूलक- 'आदित्यं ब्रह्मेत्युपासीत, मनो ब्रह्मेत्युपासीत, विज्ञानं ब्रह्मेत्युपासीत' इत्यादि वचनों का निर्विरोध-समन्वय-प्रयास—

जिसप्रकार देवदत्त शब्द व्यासज्यवृत्त्या सर्वाङ्गशरीर में व्याप्त है, तथैव ब्रह्मशब्द भी सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है। ऐसी स्थिति में समष्टिरूप महाविश्व के साथ ब्रह्मशब्द का सम्बन्ध न्यायप्राप्त था। और उस दशा में–'आदित्यं ब्रह्मेत्युपासीत' इत्यादिरूप से विश्वावयवभूत आदित्यादि व्यष्टिभावों के साथ ब्रह्म–शब्द का सम्बन्ध नहीं होना चाहिए था। परन्तु होता है। जिसका कारण है–'प्रत्येकापर्य्याप्तस्य समुदाये पर्य्याप्तत्त्वं नास्ति' यह न्याय। न्याय का तात्पर्य्य यही है कि, जिस वस्तुतत्त्व की प्रत्येक अवयव में, व्यष्टि-भावो में व्याप्ति नही होती, वह समुदाय में व्याप्त नही माना जासकता। समुदाय व्यष्टिभावों पर ही तो व्याप्त रहता है। यदि यच्चयावत् अवयव समुदाय से पृथक् कर दिए जायँ, तो समुदाय का निर्वचन ही असम्भव बन जाय। समुदायव्याप्ति अवश्यमेव व्यष्टिव्याप्तिपूर्वक ही सम्भव है। समुदायात्मक विश्व में व्यासज्यवृत्त्या व्याप्त ब्रह्म की तदवयवरूप आदित्यादि प्रत्येक अवयव में भी व्याप्ति माननी पड़ती है। इसी आधार पर प्रत्येक के लिए 'मित्र ब्रह्म'-'वरुणं ब्रह्म'-'आदित्यं ब्रह्म' इत्यादि व्यवहार किए जासकते हैं। समष्टि भी ईश्वर है, एवं व्यष्टि भी ईश्वर है, यही निष्कर्ष है। इसी आधार पर—'समुदाये दृष्टाः शब्दा अवयवेष्वपि वर्त्तन्ते' न्याय प्रतिष्ठित है, जिसका 'पटो दग्धः'-उदाहरण संस्कृतसाहित्य में प्रसिद्ध है। एकमात्र इसी न्याय के आधार पर द्वारभूत आदित्यादि के लिए भी अवश्यमेव-'आदित्यं ब्रह्मेत्युपासीत'-'मनो ब्रह्मेत्युपासीत'-'विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्व' इत्यादिरूप से ब्रह्मव्यवहार किया जासकता है।

१५९–भगवान् व्यास के-'न प्रतीके न हि सः'–'ब्रह्मदृष्टिः–उत्कर्षात्'' इत्यादि रहस्य-पूर्ण सूत्रों का औपासनिक-समन्वय, एवं 'गुणानां च परार्थत्त्वात्-असम्बन्धः–सम-त्त्वात्'-नामक-सुप्रसिद्ध न्याय से अनुप्राणिता स्थिति का स्पष्टीकरण—

वादी पूर्वपक्ष उपस्थित करता है कि, यदि उक्त न्यायानुसार आदित्यादि सभी ब्रह्मशब्दवाच्य हैं, तो इन्हें उपासना के द्वारभूत ही कैसे माना गया ?। तब तो इन्हें परमोपास्य मानना चाहिए। एवं उस दशा में–'आदित्य एवाहम्' यह व्यवहार भी होना चाहिए, जिसका सिद्धान्तीने विरोध किया है। इसी पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए व्यासदेव ने कहा है–'न प्रतीके नहि सः' (ब्रह्मसूत्र ४।१।३।४)। सूत्रतात्पर्य्य यही है कि, प्रतीकात्मक (अङ्गात्मक) आदित्यादि में आत्मब्रह्मभावना नहीं की जासकती। क्योंकि, प्रतीक आत्मा नहीं है। आदित्यादि जीववत्-प्रतीकमात्र हैं। जीव, और आदित्यादि समानक्षेत्र पर प्रतिष्ठित हैं। अतएव–'गुणानां च परार्थत्त्वात्, असम्बन्धः-समत्त्वात्' न्याय से गुणभूत इन प्रतीकों का परस्पर तादात्म्यभाव नही बन सकता। कार्य्य-कारण का तादात्म्य हुआ करता है, कार्य्यों का परस्पर तादात्म्य असम्भव है। सुवर्ण, एवं कटक का तादात्म्य सम्भव है, क्योकि कार्य्यरूप कटक का सुवर्ण कारण है। परन्तु कटककार्य्य कुण्डल-कार्य्य के साथ अभिन्न नहीं माना जासकता। एवमेव ईश्वरकारणभूत जीवात्मा–कार्य्य का ईश्वर के साथ अभेद अवश्य है। परन्तु जीवसम आदित्यादि कार्य्यों के साथ इसका तादात्म्य अनुपपन्न है। यदि ऐसा है,

तो आदित्यादि प्रतीकों को प्रथमोपास्य भी क्यों माना गया ?, प्रश्न का उत्तर है-'ब्रह्मदृष्टि:-उत्कर्षात' (४।१।३।५)। आदित्यादि देवता जीवापेक्षया उत्कृष्ट प्रतीक हैं, विशेषशक्तिशाली हैं। साथ ही ईश्वरकारणता इन्हीं के द्वारा जीवकार्य्यों की जननी बनती है। अतएव इन्हें प्रथमोपास्य बना लेना समीचीन बन जाता है।

१६०-'सर्वाभेदादन्यत्रेमे' इत्यादि व्याससूत्रमूला पारिभाषिकी स्थिति का स्पष्टीकरण, एवं-'सर्वदेवनमस्कारं केशवं प्रति गच्छति' से अनुप्राणिता प्रतीकोपासना का रहस्यात्मक-समन्वय-प्रयास—

प्रकृत में वक्तव्यांश यही है कि, मित्र, वरुण, अग्नि, आदि प्रतीकों के भिन्न भिन्न रहने पर भी इन प्रतीकमाध्यमों से गृहीत, लक्ष्यीभूत, आत्मब्रह्म सर्वाङ्ग पर्य्याप्त-सम्बन्धेन अभिन्न है, अतएव श्रुतिने मित्रादि प्रतीकों को 'तदेव-'तदेव' इस अभेददृष्टि से व्यवहृत करने में कोई संकोच नहीं किया है। द्वार भिन्न भिन्न हैं, लक्ष्य अभिन्न है। सब भित्तों के लिए वह अभिन्न है ×। 'सर्वाभेदादन्यत्रेमे' सूत्र भी इसी अभेद का समर्थन कर रहा है। इसी अभिन्नता के आधार पर-'तस्मादेकप्रधानसम्बद्धा धर्म्मा एकत्राप्युच्यमाना: सर्वत्रैवोपसंहर्त्तव्या:' (शङ्करभाष्य ३।३।५।१०) यह व्यवस्था हुई है। प्रत्येक प्रथमोपास्य परमोपास्य के धर्म्मों से अभिन्न है, व्यवस्था का यही तात्पर्य्य है। इसी आधार पर तत्तद्देवता तत्तदुपासनाओं में सर्वात्मक माने गए हैं। इसी आधार पर स्मार्तग्रन्थों में व्यवस्था हुई है-'सर्वदेवनमस्कारं केशवं प्रति गच्छति'। इसी वैदिक-प्रतीकोपासना को लक्ष्य में रखकर भगवान् ने कहा है—

> येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विता: ।
> तेऽपि मामेव कौन्तेय ! यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥
>
> —गीता

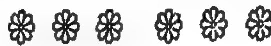
१६१-श्रद्धा, किन्तु अविधिभाव से समन्विता उपासना से अनुप्राणिता क्षरोपासना का परम्परया अव्ययोपासनात्व-संस्थापन, एवं 'तद्‌द्वयद्वारा तत्प्रत्यात्मसमर्पणम्' मूलक-प्रतीकात्मक प्रथमोपास्य का स्वरूपेतिवृत्त-विराम—

श्रद्धापूर्वक, किन्तु अविधिपूर्वक जो अन्य देवताओं की उपासना करते हैं, उनकी यह क्षरोपासना भी परम्परया अव्ययोपासना बन जाती है। देवता क्षरप्रधान हैं, क्षर अक्षर से अविनाभूत है, अक्षर 'मां' से अव्यभिचरित है। ऐसी स्थिति में क्षरात्मक आदित्य की उपासना से परम्परया अवश्यमेव उपासक मां (अव्यय) का उपासक बन जाता है। सत्यवती उपासना उपासित-लक्षणा उपासना है, इसका 'तस्य तत्त्वेन बुद्धि:' से सम्बन्ध है। यही विधिपूर्विका वैध-उपासना है। परन्तु सभी इसके अधिकारी नहीं हैं। जो इस विधि-

---

> × रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम् ।
> नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥
>
> —महिम्नस्तोत्रे

पूर्विका सत्यवती उपासना के अनधिकारी हैं, वे अङ्गवतीरूपा प्रतीकोपासनारूपा अवैध-उपासना के द्वारा परम्परया उसे प्राप्त कर लेते हैं। अलमति पल्लवितेन। प्रतीक को परमोपास्य के प्रति आत्मसमर्पण के लिए अवश्य ही प्रथमोपास्य बनाया जासकता है। प्रतीक अङ्ग है। इस पर दृष्टि, अङ्गी परमोपास्य पर भावनाबुद्धि, यही प्रतीकात्मिका अङ्गवती उपासना है। 'तदवयवद्वारा तत्प्रत्यासमर्पणम्' ही इसका प्रकार है। यही प्रतीकात्मक प्रथम प्रथमोपास्य का संक्षिप्त विवेचन है।



१६२-"प्रथमोपास्यद्वारा परमोपास्ये प्रत्यय-प्रवाहकरणं-प्रतीकोपासनम्" तथा "प्रथमोपास्ये परमोपास्यप्रत्ययोत्पादनं-प्रतिरूपोपासनम्" रूपेण उपसना के सुप्रसिद्ध दोनों लक्षणों का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय--

पूर्वप्रकरणान्तर्गत—'प्रतिरूपात्मिका प्रत्ययालम्बनता, एवं उपासना' नामक परिच्छेद में यह स्पष्ट किया जाचुका है कि, अङ्गवती उपासना ही विशेष दृष्टिकोण के भेद से प्रतीकात्मिका, प्रतिरूपात्मिका भेदेन दो भावों में परिणत होजाती है। अङ्गद्वारा अङ्गी की भावना करना प्रतीकोपासना है, एवं अङ्ग में अङ्गी की भावना करना प्रतिरूपोपासना है। 'प्रथमोस्यद्वारा परमोपास्ये प्रत्ययप्रवाहकरणं प्रतीकोपासनम्' एवं—'प्रथमोपास्ये परमोपास्यप्रत्ययोत्पादनं प्रतिरूपोपासनम्' ही दोनों के लक्षण हैं। इस दृष्टि से प्रतीकात्मिका अङ्गवती के मित्र-वरुणादि जितने भी उदाहरण पूर्व में बतलाए गए हैं, उन सब को प्रतिरूपात्मिका अङ्गवती उपासना के भी उदाहरण माना जासकता है।

१६३-प्रतिरूपविधा से अनुप्राणित भावात्मक-प्रतिरूप, प्राकृतिक-वस्त्वात्मक-प्रतिरूप, एवं कृत्रिम वस्त्वात्म-प्रतिरूप, भेदेन त्रिविध विवर्त्तों का दिग्दर्शन, तथा उपासनातत्त्व-समन्वय-प्रसङ्गे-'न तस्य प्रतिमा अस्ति, यस्य नाम महद्यशः' इत्यादि सुप्रसिद्ध श्रौतसिद्धान्त का अनुगमन, और भावात्मिका प्रतिरूपविधा का दिग्दर्शन—

प्रतिरूप के भावात्मकप्रतिरूप, प्राकृतिकवस्त्वात्मक प्रतिरूप, कृत्रिमवस्त्वात्मक प्रतिरूप, ये तीन विभाग माने जासकते हैं। आदर्श (मूल) वस्तु की प्रतिकृति (नकल) ही प्रतिरूप कहलाते हैं। सूर्य्य, चन्द्रमा, परमेष्ठी, आदित्य, वरुण, आदि ईश्वराङ्ग (ईश्वरप्रतीक) वस्तुतः ईश्वर के प्रतिरूप नहीं हैं। क्यों कि ईश्वर पञ्चपर्वा है, विश्वव्यापक है, सर्वधर्म्मोपपन्न है। इधर सूर्य्य-चन्द्रादि उस सर्वरूप के नियत धर्म्मावच्छिन्न एक एक अङ्गमात्र हैं। इसी आधार पर श्रुतिका-'न तस्य प्रतिमा अस्ति, यस्य नाम महद्यशः' यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित हुआ है। इसप्रकार यद्यपि वस्तुगत्या सूर्य्यादि उस के प्रतिरूप नहीं, अपितु प्रतीक हैं। तथापि भावना के द्वारा हम इन अङ्गों में भी अङ्गी बुद्धि कर सकते हैं। मान सकते हैं कि, अङ्गभूत सूर्य्यादि उस अङ्गी के ही प्रतिरूप हैं। इसप्रकार उपासक की भावना से कल्पित सूर्य्य-चन्द्रादिरूप प्राकृतिक ईश्वराङ्गों को प्रतीकवत् प्रतिरूप भी मान लिया जासकता है। यही पहिली भावात्मिका प्रतिरूपविधा है।

१६४-अश्वत्थवृक्ष, शालग्रामशिला, कूर्म्मपशु, इत्यादि प्रतिरूपों से अनुप्राणिता-प्राकृतिक-प्रतिरूपविधा का समन्वय-प्रयास—

यद्यपि 'न तस्य प्रतिमा अस्ति' इत्यादि सिद्धान्तानुसार विश्वेश्वर का तद्बृहदाकाराकारित प्रतिरूप असम्भव है। तथापि कुछ एक प्राकृतिक पदार्थ ऐसे अवश्य हैं, जो स्वल्पाकार होते हुए भी उस के स्वरूप से समतुलित हैं। अश्वत्थवृक्ष, शालग्रामशिला, कूर्म्मपशु, ऐसे ही प्रतिरूप हैं, जिन का पूर्व प्रकरण के तत्-परिच्छेदों में विस्तार से विवेचन किया जाचुका है। वे प्राकृतिक कूर्म्मादि पदार्थ ही प्राकृतिक वस्त्वात्मक प्रतिरूप कहलाएंगे, जो अपने आकार से परमोपास्य के आकार से समतुलित हैं। यही दूसरी प्राकृतिक प्रतिरूप-विधा मानी जाएगी।

१६५-भावात्मिका प्रतिरूपविधा, एवं प्राकृतिक-प्रतिरूपविधाओं के सम्बन्ध में 'प्रथमोपास्य' संस्थापन में असमर्थ अस्मदादि असमर्थ-अधिकारी-वर्ग, एवं तदनुप्राणित प्रतिमाभावों, तथा कृत्रिमवस्त्वात्मक प्रतिरूपों का समन्वय-प्रयास—

भावात्मिका प्रतिरूपविधा, प्राकृतिक प्रतिरूपविधा, दोनों को ही माध्यम (प्रथमोपास्य) बनाने में असमर्थ अस्मदादि सामान्य अधिकारियों के लिए महामहर्षियोंने कृत्रिम बिम्ब-चित्रादि को परमोपास्य के लिए माध्यम माना है। चतुर शिल्पी के द्वारा विनिर्मित तत्तदुपास्यों की प्रतिमा, और चित्र ही कृत्रिम-वस्त्वात्मक प्रतिरूप माने गए हैं। यही तीसरी कृत्रिम-प्रतिरूपाविधा है, जिस का वर्त्तमान भारत में विशेष प्रचार है। तीनों में से अधिकारी के भेद से किसी को भी प्रथमोपास्यत्वेन माध्यम बनाकर परमोपास्य की ओर आत्मप्रत्ययं प्रवाहित किया जासकता है।

१६६-निराधार, साधार, भेदेन प्रतिरूपभावों का द्वैविध्य, मूर्त्ति-विग्रह-बिम्ब-आदि की मध्यस्थता, चित्र का चित्रत्त्व (आश्चर्य्यमयत्त्व), एवं तदनुबन्धिनी 'प्रतिरूपोपासना' का स्पष्टीकरण-प्रयास—

प्रतिरूपभाव निराधार, साधार, भेद से दो भागों में विभक्त माना जासकता है। धातु, पाषाण, काष्ठादि से शिल्पी के द्वारा विनिर्मित प्रतिरूप निराधार प्रतिरूप है, इसे ही 'प्रतिमा' कहा जाता है। लोक में यही 'मूर्त्ति'-'विग्रह'-'बिम्ब' आदि नामों से प्रसिद्ध है। भित्ति, वस्त्रपट्ट, आदि आधारों पर रँगतूलिका आदि साधनों से शिल्पी के द्वारा विनिर्मित प्रतिरूप साधार प्रतिरूप है। यही 'चित्र' नाम से व्यवहृत हुआ है। निराधार प्रतिमात्मक प्रतिरूप के अङ्ग-प्रत्यङ्ग वस्तुतः विकसित रहते हैं। परन्तु साधार चित्रात्मक प्रतिरूप के अङ्ग-प्रत्यङ्ग आधारभूत पट्टादि पर समान-धरातल पर ही प्रतिष्ठित रहते हैं। चित्र (तस्वीर) में अङ्ग-प्रत्यङ्ग हैं समाकार, परन्तु प्रतीत होते हैं-विकसित से। ऐसा प्रतीत होता है, मानो चित्र का प्रत्येक अवयव उत्सेध (ऊँचाई), आयाम आदि भावों से विकसित है। वस्तुतः ऐसा नहीं है। करस्पर्श यह प्रमाणित करता है कि, चित्र में न ऊँचाई है, न नीचाई है। अपितु उस के सभी अवयव समान-धरातल से सम्बन्ध रख रहे हैं। यही चित्र की चित्रता (आश्चर्य्य) है। अतएव इस साधार-प्रतिरूप को 'चित्र' (चित्रमेतत्-आश्चर्य्यमिति यावत्) कहना अन्वर्थ बनता है। प्रतिमा शब्द से केवल निराधार प्रतिरूप का ग्रहण

होता है। प्रतिरूप शब्द से दोनों का ग्रहण होजाता है। अतएव प्रकृत में 'प्रतिरूप' शब्द ही प्रयुक्त हुआ है।

१६७-शिल्पी के द्वारा प्रतिरूपों का स्वरूप-निर्म्माण, ईश्वरीय-प्राजापत्य-'अपूर्वशिल्प' का सस्मरण, जीवात्मा-कृत उभय-विध शिल्प, एवं प्राजापत्य-अपूर्व शिल्प-प्रकारों के सम्बन्ध में तैत्तिरीय-श्रुति का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय –

कहा गया है कि, उभयविध प्रतिरूपों का निर्म्माण शिल्पी के द्वारा ही होता है। यह शिल्पी ईश्वर, जीव, भेद से दो प्रकार के हैं। अतएव शिल्प भी प्राकृतिक शिल्प, कृत्रिम शिल्प, भेद से दो भागों में विभक्त होजाता है। ईश्वर-शिल्पी के द्वारा विनिर्मित शिल्प 'अपूर्वशिल्प' कहलाया है। जीव भी एक दृष्टिकोण से स्वतन्त्रेश्वर है। अतएव यह अपूर्वशिल्प का भी निर्म्माता बन जाता है। इसप्रकार ईश्वर जहाँ केवल अपूर्वशिल्प का निर्म्माता है, वहाँ जीव अपूर्व, प्रतिरूप, दोनों शिल्पों का निर्म्माता बना हुआ है। अविद्यमान वस्तु का निर्म्माण करना अपूर्वशिल्प है, एवं विद्यमान वस्तु की प्रतिकृति बनाना प्रतिरूपशिल्प है। कृति अपूर्वशिल्प है, एवं प्रतिकृति प्रतिरूपशिल्प है। सूर्य्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र, पर्वत वृक्ष, पशु, पक्षी, आदि विश्वप्रपञ्च सृष्टि से पहिले अविद्यमान था। 'असद्वा इदमग्र आसीत्' के अनुसार आज 'इदंत्वेन प्रतीयमान यह प्रपञ्च आरम्भ में असत् था (न था)। जो प्रपञ्च किसी समय न था, उसे प्रजापति ने–'एकोऽहं बहु स्याम्' इस भूमा–कामना की पूर्ति के लिए अपने मनःप्राणवाङ्मय काम–तपः–श्रम–व्यापारों से उत्पन्न किया। अतएव इस सम्पूर्ण प्रपञ्च को हम ईश्वरप्रजापति का अपूर्वशिल्प कह सकते हैं, जिस का निम्न लिखित ब्राह्मण श्रुति से विश्लेषण हुआ है—

येभिः शिल्पैः पप्रथानामदृंहत्, येभिर्द्यामभ्यपिंशत् प्रजापतिः।
येभिर्वाचं विश्वरूपां समव्ययत्, तेनेममग्न इह वर्चसा समङ्ग्धि ॥

—तै० ब्रा० २।७।१५।२।

१६८-राजसूययज्ञ में दीक्षित मूर्द्धाभिषिक्त नृपति के प्रति ऋत्विक् का आशीर्वचन, एवं तैत्तिरीयश्रुति का अर्थ-समन्वय—

राजसूययज्ञ में दीक्षित मूर्द्धाभिषिक्त राजा के लिए ऋत्विक् की ओर से अग्नि के द्वारा उक्त आशीर्वचन प्रयुक्त हुआ है। ऋत्विक् अग्निदेव से राजा के लिए यह प्रार्थना करता है कि, हे अग्ने! जिन शिल्पों (कर्म्मकौशलों) से प्रजापतिने (आपः–फेन–मृत्–सिकता–शर्करा–अश्मा–अयः–हिरण्यम्–इन आठ गायत्रसाधनों से) पृथिवी [भूमि] को दृढमूल बना दिया [प्रतिष्ठायुक्त कर दिया], जिन शिल्पों से प्रजापति ने [सूर्य्य–नक्षत्र–ग्रहादि के यथासन्निवेशपूर्वक] द्युलोक को सुशोभित कर दिया, जिन शिल्पों से प्रजापति ने वाक् को [नामप्रपञ्च के द्वारा] विश्वरूपा बना डाला, हे अग्ने! आप अपने स्वाभाविक वर्च–[नामक] तेज से उस शिल्प को इस यजमान [राजा] में प्रतिष्ठित कीजिए, यही ब्राह्मणमन्त्रार्थ है। जिस प्रकार ईश्वर में अपूर्वशिल्प के निर्म्माण का सामर्थ्य है, तद्वत् यह मनुष्य-यजमान भी उस में समर्थ होजाय, यही कामना उक्त मन्त्र से अभिव्यक्त हुई है।

१६६–मनः-प्राण-वाङ्मय-प्रजापति का द्यावापृथिव्य–साम्वत्सरिक-स्वरूप–समन्वय, प्राजापत्यशिल्प की कश्यपरूपता, तदनुबन्धिनी-'एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत' इत्यादि श्रुति का संस्मरण, तथा विश्वरूपा-वाक् से युक्त शिल्प का आध्यात्मिक-शिल्पत्व, एवं परिलेख के द्वारा तत्स्पष्टीकरण-प्रयास—

प्रजापति मनः-प्राणवाङ्मय है। एवं यहाँ प्रजापति-शब्द से द्यावपृथिव्य और सम्वत्सर-प्रजापति का ही ग्रहण हुआ है, जो कि * हिरण्यगर्भ नाम से प्रसिद्ध है। यही द्यावपृथिवी का, एवं द्यावापृथिवी के गर्भ में प्रतिष्ठित चतुर्दशविध स्थिर–चर भूतवर्ग का प्रभव–प्रतिष्ठा–परायण (आत्मा ×) माना गया है। अपिच उक्त मन्त्र के आगे स्पष्ट ही इस शिल्प को कश्यप–प्रजापति का शिल्प बतलाया गया है ÷। कश्यप–रूप में परिणत होकर ही हिरण्यगर्भ और प्रजापति द्यावापृथिव्या प्रजा के निर्माण में समर्थ हुए हैं, जैसाकि-'एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत' (शत०७। काण्डे) इत्यादिरूप से पूर्वप्रकरणान्तर्गत चेतनप्रतिरूपोपासनोदाहरणप्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। इन्हीं सब कारणों से यहाँ प्रजापति शब्द से कश्यपप्रजापति नामापरपर्य्यायक हिरण्यगर्भ और प्रजापति का ग्रहण ही अन्वर्थ बनता है। अपने मनःप्रधान रूप से यही प्रजापति ज्ञानप्रधान आधिदैविक अपूर्वशिल्प का प्रवर्त्तक बना है, प्राणप्रधानरूप से क्रियाप्रधान (उभयप्रधान) आध्यात्मिक अपूर्वशिल्प का, एवं वाक्प्रधानरूप से अर्थप्रधान आधिभौतिक अपूर्व शिल्प का जनक बना है। इसप्रकार आत्मकलातारतम्य से (गौणमुख्यभाव से) प्राजापत्य अपूर्व शिल्प त्रिसंस्थ बना हुआ है। उक्त मन्त्र में उपवर्णित द्युलोकात्मक शिल्प आधिदैविक है, पृथिवी–लोकात्मक शिल्प आधिभौतिक है, एवं विश्वरूपा वाक् से युक्त शिल्प आध्यात्मिक शिल्प है, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है—

१–वाक्प्राणगर्भितो मनोमयः प्रजापतिः कश्यपः–आधिदैविकशिल्पप्रवर्त्तकः (धामस्यविंशात्) द्यौः

२–मनोवाग्गर्भितः प्राणमयः प्रजापतिः कश्यपः–आध्यात्मिकशिल्पप्रवर्त्तकः (विश्वरूपां समव्ययत्) जीवाः

३–मनःप्राणगर्भितो वाङ्मयः प्रजापतिः कश्यपः–आधिभौतिकशिल्पप्रवर्त्तकः (पप्रधानामद्दहत्)–पृथिवी

* * *

---

*–हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ॥
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
—ऋक् सं० १०।१२।१।

×–चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ॥
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥
—ऋक् सं० १।११।५।१।

÷ यत्ते शिल्पं कश्यप ! रोचनावदिन्द्रियावत् पुष्कलं चित्रभानु ॥
यस्मिन्त्सूर्य्या अर्पिताः सप्त साकं तस्मिन्राजानमधि विश्रयेमम् ॥
—तै०ब्रा०२।७।१५।२

१७०-अद्दंहत्-अपिशत्-समव्ययत्-मूलक त्रिविध उत्कृष्ट-शिल्पों का सोदाहरण-स्वरूप-समन्वय, एवं प्रजापति के अस्थन्वान्, तथा अनस्थन्वान्-भेदभिन्न द्विविध शिल्पों का दिग्दर्शन, और तन्निबन्धना-'अस्थन्वन्तं यदनस्था-बिभर्त्ति' इत्यादि श्रुति का-संस्मरण—

तीनों हीं शिल्प उत्कृष्ट शिल्प हैं। बतलाया गया है कि, शिल्प निराधार-साधार-भेदेन द्विधा विभक्त हैं। ब्राह्मणश्रुतिने यहां इस भाव का भी संकेतविधि से स्पष्टीकरण कर दिया है। भूपिण्ड-प्रतिमारूप निराधार शिल्प का उदाहरण है, जिसके लिए-'अद्दंहत' क्रियापद प्रयुक्त हुआ है। द्युलोक चित्ररूप साधार शिल्प का उदाहरण है, जिसके लिए "अपिंशत' क्रियापद प्रयुक्त हुआ है, एवं जीवसर्ग दोनों के समन्वितरूप का उदाहरण है, जिसके लिए 'समव्ययत्' शब्द प्रयुक्त हुआ है। द्युलोकात्मक खगोल एक प्रकार का स्थिर पट्ट है। इस धरातल पर सूर्य्य-चन्द्र-ग्रहादिरूप चित्र चित्रित हैं। यथायथत् नक्षत्रग्रहों का स्थान परस्पर विभिन्न है। परन्तु आश्चर्य्य है कि, सब समानधरातल पर प्रतिष्ठित से प्रतीत होरहे हैं। भूलोक जैसा महान् पिण्ड निराधार खड़ा हुआ है, यह क्या कम आश्चर्य्य है। कैसा उत्कृष्ट शिल्प है। अध्यात्मसंस्था में आत्मा, शरीर दो विवर्त्त हैं। शरीर निराधार शिल्प है, आत्मा साधार शिल्प है। इसप्रकार जीवसृष्टि में दोनों का समन्वय होरहा है। यह क्या कम उत्कृष्टता है। साधार आत्माशिल्प स्वयं स्वस्वरूप से निराधार है, अनस्था है। निराधार शरीरशिल्प स्वस्वरूप से साधार है, अस्थिमान् है। शरीरभावेन साधार, किन्तु अनस्थाभाव से स्वयं निराधार आत्मशिल्प शरीर का आधार बना हुआ है। स्वस्वरूप से अस्थिमद्भाव से साधार, किन्तु क्षरभाव से निराधार शरीर आत्मा का पुररूप आधार बना हुआ है, यह क्या कम आश्चर्य्य है, जिसका-'अस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्त्ति' इत्यादि श्रुति से अभिनय हुआ है। तात्पर्य्य प्राकृतिक दैवत, भौतिक, आत्मिक, जितने भी पदार्थ हैं, सब ईश्वरप्रजापति के अपूर्व शिल्प हैं।

१७१-'कारणगुणाः कार्य्यगुणानारभन्ते' न्यायमूलक प्राजापत्यशिल्प का जीवानुगत शिल्पों में आधानात्मक समन्वय, ब्रह्मविद्यात्मक-अपूर्व-शास्त्र के माध्यम से मानव के द्वारा भी ईश्वरवत् अपूर्वशिल्प का अनुगमन, एवं देवशिल्पात्मक ईश्वरीय-शिल्प का सर्वप्रतिष्ठात्त्व—

श्रुति के द्वारा यह कामना प्रकट की गई है कि, प्रजापति में जो अपूर्व शिल्प-जनन-सामर्थ्य है, उसका मनुष्य में भी आधान हो। पुरुष प्रजापति का प्रतिरूपशिल्प है, अंश है, प्रतीक है। 'कारणगुणाः कार्य्य-गुणानारभन्ते' न्याय से कारणेश्वर के धर्म्म मात्रातारतम्य से कार्य्यरूप जीव में अवश्यमेव प्रतिष्ठित हैं। अतएव ईश्वरवत् जीव भी ब्रह्मविज्ञान के बल से अपूर्व शिल्प का जनक बन सकता है। जिन प्राकृतिक नियमोपनियमों के आधार पर ईश्वर अपूर्वशिल्प का जनक बनता है, उन नियमों का प्रतिपादक शास्त्र ही 'ब्रह्मविद्याशास्त्र' (वेदशास्त्र-विज्ञानशास्त्र) है। इसके परिशीलन से मनुष्य भी ईश्वरवत् त्रिविध अपूर्व-शिल्पों का जनक बन सकता है। इसी आधार पर वेदशास्त्र का 'ब्रह्मविद्यया ह वै सर्वं भविष्यन्तो मन्यन्ते (शत० ब्रा०) यह निगम प्रतिष्ठित हुआ है। ऐसा कोई प्राकृतिक अपूर्व शिल्प नहीं है, जिसका

स्वविज्ञानबल से पुरुष जनक नहीं बन सकता हो। यही मानुषशिल्प कहलाया है, जिसकी प्रतिष्ठा देवशिल्पात्मक ईश्वरीय शिल्प ही बनता है *।

१७२–शिल्पशास्त्र-पारङ्गत-क्षत्रियवंशावतंस ऋभु-विभ्वा-वाज-नामक देवशिल्पियों का नाम-संस्मरण, एवं भारतीय शिल्प की प्रमुख-आधारभूमि आध्यात्मिकता. और भारतीय आविष्कारात्मक-अपूर्वशिल्पों के सम्बन्ध में आध्यात्मिक-दृष्टिकोण का रहस्यात्मक-समन्वय-प्रयास—

भारतीय महर्षियोंनें तीनों ही शिल्पों के उदाहरण हमारे सम्मुख उपस्थित किए हैं। ऋभु–विभ्वा–वाज–नामक क्षत्रियोंनें भौतिक अपूर्व शिल्पों का, भरद्वाज ने आधिदैविक अपूर्वशिल्प का, एवं याज्ञिक ब्राह्मणोंनें आध्यात्मिक अपूर्वशिल्प का उत्पादन किया है। जल–स्थल–नभो–विहारी विमानादि मयासुरादि असुरशिल्पयों के द्वारा प्रकट हुए हैं। तीनों शिल्पों के ही यद्यपि वेदशास्त्र में उदाहरण प्राप्त होते हैं। परन्तु ऋषिप्रदिष्ट आर्यधर्म्म में प्रधानतः आध्यात्मिक दृष्टिकोण ही प्रधान रहा है। भौतिक आविष्कारों को (अपूर्वशिल्पों को) उन्होंनें आध्यात्मिकजगत् की प्राकृतिक शान्ति का विघातक मानते हुए भौतिक शिल्पों पर पूर्ण नियन्त्रण रक्खा है। उन्होंने विज्ञान का उपयोग (जोकि विज्ञान भारतीय परिभाषा में 'यज्ञ' नाम से प्रसिद्ध है) केवल शान्ति-समृद्धि की दृष्टि से ही किया है। शारीरिक आवश्यकताओं की आवश्यक (जीवनोपयिक) सामग्री से सम्बन्ध रखने वाले भौतिक आविष्कार ही यहाँ प्रधान रहे हैं। वस्त्र, वापी, कूप, तड़ाग, प्रासादादि भौतिक शिल्प ही यहाँ पर्य्याप्त मान लिए गए हैं। मानवसमाज की स्वाभाविकी शान्ति में संघर्ष उत्पन्न करने वाले, इसकी ईश्वरप्रदत्ता शक्तियों का ह्रास करने वाले, अर्थलिप्सा के प्रवर्त्तक भौतिक आविष्कार यहाँ सदा से सीमित ही रहे हैं।

१७३–'पुरुष' (मानव) की ईश्वरप्रजापति से नेदिष्ठता, पूर्णेन्द्र, अतएव पूर्णपदात्मक, अतएव च पदान्तरूप ईश्वर के वाचक-'ओङ्कार' का रहस्यात्मक समन्वय, एवं अर्द्धबृगलात्मक-अपूर्णेन्द्र-अतएव अपूर्णपदात्मक, अतएव च अपदान्तरूप मानव के वाचक-'अहम्'-कार का समन्वय, अपूर्वशिल्पानुबन्धिनी विजानीयता का सर्वोत्कृष्टत्व-समन्वय-प्रयास, तथा ईश्वरीय अपूर्वशिल्पानुगता सामग्री का अनिवार्य्यरूपेण अपेक्षित सहयोग—

इतर प्राणियों की अपेक्षा पुरुष नामक प्राणी प्रजापति के समीप है। केवल पद, अपद का तारतम्य है। ईश्वर पूर्णेन्द्रत्वेन पूर्णपद होने से पदान्त बनता हुआ 'ओम्' है–'तस्योपनिषदोमिति'। एवं जीव

---

* "शिल्पानि शंसन्ति। देवशिल्पानि। एतेषां व शिल्पानामनुकृतीह शिल्पमधिगम्यते-हस्ती, कंसो, वासो, हिरण्यं, अश्वतरीरथः-शिल्पम् [मानुषशिल्पम्]। शिल्पं हास्मिन्नधिगम्यते, य एवं वेद। यदेव शिल्पानि-आत्मसंस्कृतिर्वाव शिल्पानि। छन्दोमयं वा एतैर्यजमान आत्मानं संस्कुरुते"[ऐ० ब्रा० ३०।१।]।

अर्द्धेन्द्रत्वेन अपूर्णपद होने से अपदान्त बनता हुआ 'अहम्' है-'तस्योपनिषदहमिति'। 'अह्-अम्' ही ईश्वर है, अह्-अम्' ही जीव (पुरुष) है। ईश्वरात्मक 'अह्' का हकार पूर्णपदरूप पदान्त का हकार है, अतएव इसे उत्त्व-गुण-पूर्वरूप होजाता है-अह्+अम-अ-उ-अम्-ओ-अम् इस रूप से वह 'ओम्' भाव में परिणत होजाता है। जीवात्मक 'अह्' का हकार जीवानुगत बनता हुआ अपदान्त है। अतएव इसे उत्त्व नहीं होने पाता। अतएव वह-'अह्-अम्' रूपसे-'अहम्' ही बना रह जाता है। अपने 'अहम्' लक्षण इसी अपदान्तभाव से पुरुष को अपने अपूर्वशिल्प में येन केन रूपेण ईश्वरीय अपूर्व-शिल्प-सामग्री का सहयोग आवश्यकरूप से प्राप्त करना पड़ता है।

१७४-कुशल-शिल्पी के द्वारा विज्ञानबलमाध्यमेन अन्तर्जगदनुगत-सुसूक्ष्म-अपूर्वशिल्प का रेखात्मक स्वरूप-निर्म्माण, तत्र बाह्य-भौतिक-परिग्रहों का चयन, तद्द्वारा आभ्यन्तर अपूर्वशिल्प की बाह्य-विश्व-परिग्रह-रूप में परिणति, तथा मानवीय अपूर्वशिल्प के अणु अणु में अनुस्यूत ईश्वरीय-अपूर्व-शिल्प का रहस्यात्मक-समावेश, एवं पुरुषशिल्प की अपूर्वता का समन्वय—

कुशल शिल्पी पुरुष स्वविज्ञानबल से सर्वप्रथम अपने अन्तर्जगत् (ज्ञानीय बौद्ध धरातल) में अपूर्वशिल्पाकार प्रतिष्ठित करता है। जबतक यह शिल्प इसके अन्तर्जगत् में प्रतिष्ठित रहता है, तबतक यह इसकी प्रातिस्विक सम्पत्ति बना रहता है। अनन्तर ईश्वरीय अपूर्वशिल्प के भौतिक पदार्थों का यह अपने ज्ञानीय अपूर्वशिल्पाकार में सन्निवेश कर देता है। उस अवस्था में वह शिल्प भौतिकरूप मे परिणत होता हुआ बहिर्जगत् (विश्व) की वस्तु बन जाता है। इसप्रकार पुरुष का प्रत्येक अपूर्वशिल्प ईश्वरीय अपूर्वशिल्प के समावेश से ही सम्पन्न होता है। घट, पट, कटक, कुण्डल, वापी, कूप, तड़ाग, प्रासाद, विमान, विविध शस्त्र, नौका, अपूर्व ग्रन्थ, आदि आदि पुरुष-निर्म्मित अपूर्वशिल्प हैं, जिनके आधार ईश्वरीय अपूर्वशिल्परूप मृत्-तूल-सुवर्ण-जल-आदि बने हुए हैं। पुरुष-विनिर्म्मित अपूर्वशिल्प की उत्कृष्टता विजातीयभाव पर निर्भर है। इसका शिल्प उसके शिल्प से जितना ही अधिक विजातीय होगा, इसका शिल्प उतना ही अधिक उत्कृष्ट माना जायगा। ईश्वरीय अपूर्वशिल्पात्मक विश्व के प्राकृतिक पदार्थों से आकारादि में सर्वथा विजातीय रहना ही पुरुषशिल्प की अपूर्वता है।

१७५-पुरुषानुगत प्रतिरूपशिल्प से अनुप्राणिता-प्रतिमाविधा, तथा चित्रविधा का दिग्-दर्शन, शिल्पानुगता अधिदैवत-अध्यात्म-अधिभूत-वित्त त्रयी का समन्वय, उभयविध प्रतिरूप-शिल्प का प्रासङ्गिक-स्पष्टीकरण, तथा मानवीय-शिल्प का ईश्वरीय-अपूर्वशिल्प-के समतुलन में सामीप्य का सर्वसौष्ठवत्त्व, एवं शिल्पी के प्रतिरूपशिल्प की सफलता का रहस्य—

दूसरा है-पुरुषानुगत प्रतिरूपशिल्प। यही शिल्प प्रतिमा, चित्र, रूप से द्विधा विभक्त बतलाया गया है। सूर्य्यादि आधिदैविक अपूर्वशिल्प, पुरुष-पशु-पक्षी-आदि आध्यात्मिक अपूर्वशिल्प, वृक्ष, वल्ली, पर्वतादि आधिभौतिक अपूर्वशिल्प, इन त्रिविध ईश्वरीय अपूर्वशिल्पों के आधार ही पुरुष उभयविध प्रति-

रूपशिल्प का निर्माण करता है। उदाहरण के लिए एक हाथी को लक्ष्य बनाइए। हाथी ईश्वरीय आध्यात्मिक अपूर्वशिल्प है। शिल्पी सर्वप्रथम अपने अन्तर्जगत् में प्रतीकदृष्टि के द्वारा इसका आकार खचित करता है, अन्तर्जगत् में हाथीरूप ईश्वरीय अपूर्वशिल्प प्रतिबिम्बित होपड़ता है। अनन्तर वह इसे ईश्वरीय धातु-मृत्-काष्ठादिरूप आधिभौतिक अपूर्वशिल्प-पदार्थों के संयोग से बाह्यरूप (प्रतिमारूप) प्रदान कर देता है। यह 'हस्तिप्रतिमा' ही पुरुष का प्रतिमारूप निराधार-प्रतिरूपशिल्प है। एवमेव किसी पट्टरूप ईश्वरीय भौतिकशिल्प के आधार पर रँग-तूलिकारूप ईश्वरीय आधिभौतिक शिल्पों के द्वारा भी यह अपने अन्तर्जगत् में ईश्वरीय आध्यात्मिक हस्तिरूप अपूर्वशिल्प के द्वारा खचित हस्ति प्रतिरूप को बाह्य स्वरूप प्रदान कर देता है, यही हस्तिचित्र पुरुष का चित्ररूप साधार प्रतिरूपशिल्प है। इस अपूर्वशिल्प में पुरुष का केवल प्रयत्नमात्र साधन बनता है, शेष सब कुछ ईश्वरीय अपूर्वशिल्प है। जिसप्रकार पुरुषानुगत अपूर्वशिल्प में वैषम्य (विजातीयता) उत्कृष्टता में हेतु था, ठीक इसके विपरीत पुरुष के इस उभयविध प्रतिरूपशिल्प में साम्य (सजातीयता) ही उत्कृष्टता का हेतु है। पुरुष का अपूर्वशिल्प ईश्वरीय अपूर्वशिल्प से जितना अधिक दूर रहता हुआ उत्कृष्ट माना गया था, प्रतिरूपशिल्प ईश्वरीय अपूर्वशिल्प के जितना अधिक समीप होगा, उतना ही अधिक यह उत्कृष्ट माना जायगा। पुरुष के प्रतिरूपशिल्प को देख कर यदि हमें थोड़ी देर के लिए ईश्वरीय अपूर्वशिल्प का भ्रम होजाता है, तो प्रतिरूप शिल्पी का शिल्प सफल प्रतिरूप शिल्प है।

१७६-'यद्वै प्रतिरूपं-तच्छिल्पम्'-इत्यादि श्रौत सिद्धान्त से अनुप्राणित प्रतिरूपात्मक-अपूर्वशिल्प का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

इसप्रकार पुरुष का अपूर्वशिल्प भी यद्यपि शिल्प है, प्रतिरूपशिल्प भी यद्यपि शिल्प है, तथापि दोनों के पृथक् बोधके लिए अपूर्वशिल्प को 'आविष्कार' कहा जायगा, तत्प्रवर्त्तक को 'आविष्कारक' माना जायगा, एवं इसकी प्रतिष्ठा भी प्रतिरूपशिल्पी की अपेक्षा उच्च मानी जायगी। क्योंकि उसने अपनी विज्ञानमात्रा का इसमें प्रधानरूप से उपयोग किया है। एवं प्रतिरूपशिल्प को शिल्प कहा जायगा, तत्प्रवर्त्तक को शिल्पी माना जायगा। पुरुष का प्रतिरूपशिल्प ही शिल्प नाम्ना प्रसिद्ध हुआ है। 'यद्वै प्रतिरूपं, तच्छिल्पम्' (शत० ब्राह्मण) श्रुति भी इसी प्रसिद्धि का समर्थन कर रही है।

१७७-ईश्वरीय-अपूर्वशिल्परूप विश्व की अव्यक्त, तथा व्यक्त-रूपता का दिग्दर्शन, बीजात्मक अव्यक्तरूप प्राणात्मक शिल्प का सर्वाधारत्व, अव्यक्ताधारेण व्यक्त-सूर्यादि शिल्पों का आविर्भाव, एवं ईश्वर के अन्तर्जगत् से सम्बन्ध रखने वाले अपूर्वशिल्प का रहस्यात्मक-संस्मरण—

अब दो शब्दों में ईश्वरीय शिल्प-विवर्त्त की भी मीमांसा कर लीजिए। ईश्वरीय-जगत अव्यक्त, व्यक्त-रूप से दो भागों में विभक्त है। 'इदं' रूपेण अभिनीयमान स्थूलजगत् उस का व्यक्त जगत् है, यही पाञ्चमहाभौतिक विश्व है। अणु-रेणु-भूतों को स्वगर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाले गुणभूतों (पञ्चतन्मात्राओं) की समष्टि अव्यक्तजगत् है। संचरदशा में अव्यक्त का व्यक्तीभाव होजाता है, प्रतिसञ्चरदशा में व्यक्त

अपने मूलप्रभव अव्यक्तभाव में परिणत होता है *। व्यक्त पाञ्चभौतिक विश्व विकारक्षरात्मक बनाता हुआ विनाशी है। अव्यक्त गुणभूतात्मक विश्व अक्षरात्मक विश्व आत्मक्षरात्मक बनता हुआ परिणामी है, किन्तु अविनाशी है। अतएव आत्मक्षर का अविनाश–अनुच्छित्तिधर्मा आत्मस्वरूप में अन्तर्भाव मान लिया जाता है। सूर्य्य चन्द्रादि जितने भी व्यक्तरूप हैं, सब अव्यक्त–(जीव)–रूप से अविनाशी है। इन्हीं के बीजात्मक अव्यक्तरूपों के आधार पर व्यक्त सूर्य्यादि का निर्म्माण हुआ है। इसी आधार पर अव्यक्त–(तन्मात्रा)–जगत् को ईश्वर का अन्तर्जगत् कहा जासकता है, एवं व्यक्तजगत् को उसी का बहिर्जगत्। जिसप्रकार पुरुष अपने अन्तर्जगत् से तद्रूप अव्यक्तात्मक अपूर्व शिल्पों (आविष्कारों) का जनक बनता है, एवमेव ईश्वर अपने अन्तर्जगत् से तद्रूप अव्यक्तात्मक अपूर्व शिल्प का। निष्कर्षतः ईश्वरीय, बीजावस्थापन्न, तन्मात्रा-लक्षण, आत्मक्षरात्मक, अविनाशी, अन्तर्जगत् ही ईश्वर का अपूर्व शिल्प है।

१७८-ईश्वरीय बहिर्जगत् के आधार पर मानव के प्रतिरूप-शिल्प का वितान, एवं अन्तर्जगत्, तथा बहिर्जगत् से अनुप्राणिता आधाराधेयभूता सापेक्ष स्थिति का रहस्यात्मक समन्वय, और 'रूपं-रूपं-प्रतिरूपो बभूव'–'प्राणाः शिल्पानि'–'ऋक्-सामयोः-शिल्पेस्थ' इत्यादि श्रौत-सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण, एवं सम्पूर्ण-विश्व का प्राजापत्य-शिल्पत्व संस्थापन—

जिसप्रकार पुरुष ईश्वरीय व्यक्त बहिर्जगत्–रूप अपूर्वशिल्प के आधार पर अपने प्रतिरूप शिल्प का जनक बनता है, एवमेव ईश्वर भी अपने अव्यक्त अन्तर्जगत् रूप अपूर्वशिल्प के आधार पर अपने व्यक्त बहिर्जगत्–रूप–प्रतिरूपशिल्प का जनक बना हुआ है। पूर्व में हमने दृष्ट सूर्य्यादि को ईश्वर का अपूर्वशिल्प कहा था। अवश्य ही पुरुष के प्रतिरूप शिल्प की अपेक्षा से ईश्वरीय व्यक्त जगदात्मक सूर्य्यादि अपूर्वशिल्प हैं। क्योंकि प्रतिरूप का निर्म्माण अपूर्वशिल्प के आधार पर होता है। एवं पुरुष के प्रतिरूपशिल्प का आधार ईश्वरीय व्यक्त बहिर्जगत् ही बनता है। अब यहाँ उसी व्यक्त सूर्य्यादि प्रपञ्च को ईश्वर का प्रतिरूपशिल्प बतलाया जारहा हैं। ईश्वरापेक्षया यह कथन भी सुसङ्गत है। क्योंकि-ईश्वरीय व्यक्त सूर्य्यादिरूप बहिर्जगत् का निर्म्माण ईश्वरीय अव्यक्त सूर्य्यादिरूप अन्तर्जगत् के आधार पर ही हुआ है। अतएव यहाँ व्यक्तजगत् अपूर्वशिल्प माना जासकता है, एवं व्यक्त जगत् को प्रतिरूपशिल्प कहा जासकता है। इसप्रकार पुरुषशिल्पवत् ईश्वरीय शिल्प भी अव्यक्त, व्यक्त–जगद्द्वैविध्य से अपूर्व, प्रतिरूप–भेदेन द्विधा विभक्त बन रहा है। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि, पुरुष का अपूर्वशिल्प हो, अथवा तो प्रतिरूपशिल्प, दोनों में ईश्वरीय प्रति–

---

* अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ॥
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥१॥
अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ! ॥
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२॥
—गीता

रूपशिल्प (व्यक्तजगत्) ही सहयोगी बनता है। फलतः व्यावहारिक जगत् में शिल्प शब्द से केवल प्रतिरूप शिल्प का ही ग्रहण किया जासकता है। इसी आधार पर हमने पूर्वप्रकरणान्तर्गत प्रतिरूपोपासना-परिच्छेदों में इन्द्र-मित्रादि व्यक्त देवताओं को प्रतिरूपोपास्य ही मान लिया है। "रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव" इत्यादिरूप से स्वयं श्रुति भी (इस व्यक्तजगत् की अव्यक्त जगदपेक्षया) प्रतिरूपता स्वीकार कर रही है। 'प्राणाः शिल्पानि' (शाङ्खा० ब्रा० २५।१३) वचन अव्यक्तात्मक प्राणलक्षण ईश्वरीय अपूर्वशिल्प का ही दिग्दर्शन करा रहा है। एवं-'ऋक्सामयोः शिल्पेस्थ' (शत० ३।२।१।५) इत्यादि वचन व्यक्तात्मक प्राणी-लक्षण ईश्वरीय प्रतिरूपशिल्प का समर्थन कर रहा है। सम्पूर्ण जगत् प्रजापति का अपूर्वप्रतिरूप शिल्प ही तो है *।

१७६--ईश्वरीय-अव्यक्तात्मक-अन्तर्जगद्रूप-अपूर्वशिल्प का प्रथमोपास्यत्व, पुरुषप्रयत्नैकसाध्य अपूर्वशिल्प, पुरुष के अपूर्वशिल्प का प्रतिरूपभाव से पार्थक्य, अवतारपुरुषों की अपूर्वशिल्पता, अपूर्वशिल्पानुगत प्रतिमा, तथा चित्र-भाव, एवं उपासनानुबन्धी प्रतिमा-चित्रादि--भावों की प्रथमोपास्यता का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

अव्यक्तात्मक अन्तर्जगद्रूप ईश्वरीय अपूर्वशिल्प भी प्रथमोपास्य बन सकता है, परन्तु यहाँ दृष्टि सर्वथा मानसी रहेगी। क्योंकि ईश्वरीय अपूर्वशिल्प अव्यक्तत्वत्वेन इन्द्रियातीत रहेगा। इस अपूर्वशिल्परूप प्रथमोपास्य-प्रकार का हम पूर्वपरिच्छेदोपवर्णित प्रतीकविधा में ही अन्तर्भाव मानेंगे। अब हमारे सम्मुख शिल्पों में से व्यक्त सूर्यादिरूप ईश्वरीय प्रतिरूपशिल्प [जीवापेक्षया अपूर्वशिल्प], पुरुषप्रयत्नैकसाध्य अपूर्वशिल्प [आविष्कार], ईश्वरीय-प्रतिरूप प्रतिकृतिरूप पुरुषशिल्पी के द्वारा के निर्मित प्रतिरूपशिल्प, ये तीन विवर्त शेष रह जाते हैं। तीनों में से ईश्वरीय प्रतिकृतिरूप शिल्पों के [प्राकृतिक प्रतिरूपों के] माध्यम से भी उपासना की जासकेगी, एवं जीवानुगत प्रतिरूप शिल्पों के माध्यम से भी उपासना की जासकेगी। पुरुष के अपूर्वशिल्प का उपासना में कोई उपयोग नहीं होगा। क्योंकि उपासना में प्रतिरूप ही प्रथमोपास्य [माध्यम] माना गया है। एवं पुरुष का अपूर्वशिल्प प्रतिरूपभाव से वञ्चित है। प्रतिरूप तो वही शिल्प माना गया है, जिसका निर्माण ईश्वरीय अपूर्वशिल्प के अनुरूप हुआ है। रामकृष्णादि अवतारपुरुष ईश्वर के अपूर्वशिल्प हैं। पुरुष शिल्पी के द्वारा विनिर्मित इन अपूर्वशिल्पों की प्रतिमा, एवं चित्र प्रतिरूप शिल्प हैं। इनको प्रथमोपास्य बनाना ही 'प्रतिरूपप्रथमोपास्यरूपा' उपासना है। इन प्रतिरूपात्मक [प्रतिमा, एवं चित्रात्मक] प्रथमोपास्यों के माध्यम से उपासक की बुद्धि परमोपास्यरूप अवतारपुरुषों की ओर आकर्षित होजाती है, जो परमोपास्य ईश्वर के अपूर्वशिल्प हैं। इसीप्रकार प्राकृतिक (ईश्वरीय) सूर्यादि साकार प्रतिरूपों के माध्यम से भी लक्ष्यावाप्ति सम्भव है। परन्तु ईश्वरीय प्रतिरूपशिल्पात्मक

---

* प्रजापतिर्वै विश्वजित्। सर्वं वै प्रजापतिर्विश्वजित्। सर्वाणि पृष्ठा निक्रियन्ते, सर्वाणि शिल्पानि"

—शां० ब्रा० २५।१२।

सूर्य्यादि की प्रथमोपास्यता प्रतीकलक्षणा प्रथमोपास्यविधा में ही अन्तर्भूत मानी जाएगी। प्रतिरूपोपासना से तो हम उन पुरुषानुगत शिल्पों का ही ग्रहण करेंगे, जो ईश्वरीय साकार शिल्पों [प्रतिरूपशिल्पों] के प्रतिमारूप, एवं चित्ररूप हैं।

१–अव्यक्तभावाः–प्राणादयः–अतीन्द्रियाः ———— ईश्वरीयापूर्वशिल्पानि

२–व्यक्तभावाः–सूर्य्य–रामकृष्णादयः–इन्द्रियगम्याः—ईश्वरीयप्रतिरूपशिल्पानि

३–व्यक्तभावाः–पुरुषप्रयत्नानुगता आविष्काराः ——पुरुषस्यापूर्वशिल्पानि

४–व्यक्तभावाः–सूर्य्यादीनां प्रतिरूपाः————पुरुषस्य प्रतिरूपशिल्पानि

* * *

(१) ईश्वरीयापूर्वशिल्परूपप्रथमोपास्यानां—प्रतीकविधप्रथमोपास्येष्वन्तर्भावः

(२) ईश्वरीयप्रतिरूपशिल्परूपप्रथमोपास्यानां—प्रतीकविधप्रथमोपास्येष्वन्तर्भावः

(३) पुरुषस्यापूर्वशिल्पानां न प्रथमोपास्यता, अतश्च नैतेषामुपासनायामुपयोगः

(४)–पुरुषस्य प्रतिरूपशिल्पानामेव प्रतिरूपप्रथमोपास्यात्मिकायामुपासनायामुपयोगः

* * *

१८०–प्रतिमा तथा चित्रात्मक प्रतिरूप के प्रतिकृति, एवं भावप्रतिमान-रूप द्विविध महिमा-विवर्त्त, अमूर्त्त-उपास्य की मूर्त्तकल्पना का अभाव, आधिकारिक-सूर्य्य-चन्द्रादि जीवों की मूर्त्तता, परमोपास्य नित्यावतार, शब्दवर्णनैक-माध्यम से परमोपास्यों की प्रतिमा, और चित्रों का भावप्रतिमात्मक निर्म्माण, एवं त्रिविध-महिमा-भावन्विता प्रतिरूपविधा से अनुप्राणित उपास्य का संक्षिप्त-स्वरूपेतिवृत्त-विराम—

प्रतिमा, चित्रात्मक प्रतिरूपप्रतिकृति, एवं भावप्रतिमान, भेद से आगे जाकर दो भागों में विभक्त मान लिया गया है। साकार–मूर्त्त अपूर्व शिल्पों की प्रतिमा, और चित्र तो प्रतिकृतिरूप प्रतिरूप कहलाए हैं। एवं निराकार–अमूर्त्त–अपूर्वशिल्पों के प्रतिमाचित्र भावप्रतिमानरूप प्रतिरूप कहलाए हैं। भावप्रतिमानरूपा प्रतिरूपविधा का अगले परिच्छेद में विस्तार से विश्लेषण होने वाला है। प्रकृत में केवल प्रतिकृतिरूपा प्रतिरूपविधा की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। चित्र, किंवा मूर्त्ति मूर्त्त-वस्तु की ही बन सकती है। अमूर्त्ततत्त्व की न तो प्रतिमा बन सकती, न चित्र ही बनाया जासकता। सूर्य्य, परमेष्ठी, राम, कृष्ण, व्यासादि आधिकारिक जीव मूर्त्त हैं। स्वल्पशक्तियुत सामान्य जीवों के लिए ये ही परमोपास्य हैं। नित्यावतारों का, सूर्य्यादि प्राकृतिक पर्वों का मूर्त्तरूप तो आज भी विद्यमान है। परन्तु मानुषावतारों का विग्रह आज हमें उपलब्ध नहीं होरहा। परन्तु शब्दोपवर्णन के आधार पर आज भी उनके प्रतिमा-चित्र बनाए जासकते हैं। इसप्रकार आज इन्द्रियातीत, किन्तु शब्दोपवर्णन के द्वारा इन्द्रियगम्य रामकृष्णादि

साकार मूर्त भावों की, इन्द्रियग्राह्य किन्तु दूर-देशस्थ होने से परोक्ष साकार गुरु आदि मूर्त भावों की प्रतिमा, किंवा चित्र बना कर उनकी उपासना सम्भव है। यही प्रतिरूपविधानात्मक द्वितीय प्रथमोपास्य का संक्षिप्त निदर्शन है।



१८१-प्रत्यक्ष-परोक्ष-अतीन्द्रिय-भेदभिन्न त्रिविध उपास्यों का सिंहावलोकनात्मक-संस्मरण, निराकारभावों की प्रतिकृति का अत्यन्ताभाव, तत्सम्बन्धे च विज्ञान-सिद्धा-भारतीयधर्म्म से अनुप्राणिता भावमयी-प्रतीमा का रहस्यात्मक समन्वय, एवं तदनुगत 'भावप्रतिमान' का स्वरूप-स्पष्टीकरण—

पूर्वपरिच्छेदों में बतलाया गया है कि, उपास्यतत्त्व प्रत्यक्ष, परोक्ष, अतीन्द्रिय-भेद से तीन भागों में विभक्त है। गुर्वादि प्रत्यक्षोपास्य हैं, इनमें किसी प्रथमोपास्य (माध्यम) की अपेक्षा नहीं रहता। राम--कृष्ण--आदि अवतारपुरुष परोक्ष--परमोपास्य हैं। इनकी उपासना के लिए इनके प्रतिकृति-रूप प्रतिरूपों को प्रथमोपास्य बनाना आवश्यक होता है। व्यापक निराकार ईश्वर, उसकी निराकार-विभक्त-प्राणात्मिका शक्तियां (प्राणात्मिका देवता) अतीन्द्रियपरमोपास्य हैं। इन अतीन्द्रिय-अमूर्त्त परमोपास्यों की न तो प्रतिमा ही बनाई जासकती, न चित्र ही। प्रतिकृति नकल है। आदर्श (मूल) वस्तु का आकार हो, तभी तो उसकी प्रतिकृति सम्भव है। निराकारभावों का जब कोई मूर्त्त आकार ही नहीं, तो इन की प्रतिकृति कैसे बनाई जासकती है ?। ऐसी स्थिति में इन निराकार--अमूर्त्त--परमोपास्यों की उपासना कैसे की जाय ?, इसी विप्रतिपत्ति के निराकरण के लिए ऋषियोंने भावप्रतिमानरूप एक कल्पित प्रतिरूप का विधान किया है। साकार-विषयालम्बन मापेक्ष मन की स्थिरता के लिए, निरावलम्ब निराकार के प्रति प्रत्ययप्रवाह के लिए भावप्रतिमानरूप कल्पित प्रतिरूप को ही प्रथमोपास्य बनाना पड़ता है। भारतीय धर्म्म का बहुत बड़ा विभाग इस भावप्रतिमानविधा पर ही अवलम्बित है। साकार की वास्तविक प्रतिकृति प्रतिकृति हैं, निराकारभावों की कल्पित प्रतिकृति भावप्रतिमान है, जिसे भावमयी प्रतिमा भी कहा जासकता है। अपनी रुचि के अनुसार मनोऽनुगत मनोऽभिलषित यथेच्छ भौतिक द्रव्य को निराकार परमोपास्य की प्रतिमा मान लेना ही भावप्रतिमान है।

१८२-श्रीवासुदेवकृष्ण से अनुप्राणिता उपासना के रहस्यात्मक चतुर्विध प्रकारों का सिंहावलोकनात्मक संस्मरण, पूर्णावतार वासुदेव कृष्ण की सगुणब्रह्मरूपता, एवं तन्निबन्धना रहस्यपूर्णा परमोपास्यभावात्मिका उपासना का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

हम जानते हैं-ईश्वर, और उसकी प्राणशक्तियाँ अमूर्त्त हैं, निराकार हैं। तथापि अपनी भावना-मात्र से यथेच्छ पाषाणादि को हम उसकी प्रतिमा मान लेते हैं। इसी सम्बन्ध में प्रसङ्गोपात्त यह स्मरण करा दिया जाता है कि, रामकृष्णादि अवतारपुरुषों के साथ चतुर्विध प्रथमोपास्यों का समन्वय किया जा-सकता है। वासुदेवकृष्ण सर्वविध पाप्माओं से असंस्पृष्ट रहते हुए सूर्य्यादिवत् व्यापक ईश्वर के प्रतीक भी

हैं। इस प्रतीकविधा से इनके माध्यम से ईश्वरोपासना भी सम्भव है। स्वयं वासुदेवकृष्ण ईश्वर के प्रतिरूपशिल्पात्मक प्रतिरूपात्मक परमोपास्य हैं। कृष्णचित्र, किंवा कृष्णविग्रहरूप मानुष प्रतिरूप के माध्यम से प्रतिरूपोपासना का भी कृष्णसम्बन्ध में समन्वय होरहा है। वासुदेवकृष्ण पूर्णावतारत्वेन सगुणब्रह्म हैं। निर्गुण ही 'अनुग्रहाय भूतानांरूपेण' सगुणरूप में परिणत हुआ है। निर्गुण की प्रतिकृति सम्भव नहीं है। अतएव वासुदेवकृष्ण को हम इस दृष्टि से निर्गुणब्रह्म की भावमयी प्रतीमा कहेंगे। इनके माध्यम से उस निर्गुण परमोपास्य की उपासना की जासकेगी। कृष्णवतार के इसी भावप्रतिमानभाव को लक्ष्य में रखते हुए किसी भावनामय भाग्यशाली भक्तश्रेष्ठ के द्वारा भणित हुआ है कि—

> किं कस्मै कथनीयं कस्य मनः प्रत्ययो भवतु ॥
> विहरति कुञ्जकुटीरे गोपवधूटी परं ब्रह्म ॥
> गोधूलिधूसराङ्गो नृत्यति वेदान्तसिद्धान्तः ॥

१८३-पारमेष्ठ्य-गोसव' नामक गोलोकात्मक व्रजधाम में विचरण करने वाले कृष्णात्मक परमतत्त्व की उपासना से अनुप्राणिता भावुक-भक्तों की रहस्यात्मिका-'किं कस्मै कथनीयं-कस्य मनः-प्रत्ययो भवतु' इत्यादि सूक्ति का भावानात्मक-समन्वय—

गोलोक (पारमेष्ठ्य गोसव नामक व्रजमण्डल) के प्रतिरूप वृन्दावन की वीथियों में विचरण-करने वाला अहीर का पुत्र, गोचारण के द्वारा धूलिधूसरित अङ्ग नन्द के आंगन में क्रीड़ा कर रहा है। किसी भावुक भक्त के सम्मुख यह दृश्य उपस्थित होता है। उनके मुख से भावना के आधार पर निकल पड़ता है-'नृत्यति वेदान्तसिद्धान्तः'। इस रूप में साक्षात् औपनिषद पुरुष, निर्गुणब्रह्म ही सगुण रूप से नाच रहा है। भावुक अपने अन्तर्जगत् में इस लोकोत्तरभावना की चर्वणा करता हुआ अपने मनोराज्य से ही कहता है—'किं कस्मै कथनीयं कस्य मनः प्रत्ययो भवतु'। 'निराकार साकार बन ही नहीं सकता' का उद्-घोष करने वाले भावनारसवञ्चित शुष्कस्थाणु कभी इस भावप्रतिमान के लोकोत्तर माधुर्य्य का रसास्वादन नहीं कर सकते, यही उक्त कथन का निष्कर्ष है। एवमेव निदानात्मक प्रथमोपास्य का भी वासुदेवोपासना में समन्वय किया जासकता है। चारों के इस समन्वय का पूर्व में भी दिग्दर्शन कराया जाचुका है।

१८४-सर्वजगद्व्यापिनी महामाया की अनन्त-शक्ति-विभूतियाँ, उनकी सर्वरूपता, तदुपासना के सम्बन्ध में अनेक विप्रतिपत्तियों का समुत्थान एवं षोडशमातृका-क्षेत्रपाल-वरुण-नाक्षत्रिक प्राण, आदि आदि यच्चयावत् प्राणदेवताओं से अनु-प्राणिता भावप्रतिमानात्मिका आवाहन-पूजनात्मिका-उपासना के रहस्यात्मक प्रकारों का संस्मरण—

सर्वजगद्व्यापिनी महामाया की अनन्त-विभूतियां है। तृष्णा, मोह, निद्रा, जागृति, तन्द्रा, मूर्च्छा, मृत्यु, रात्रि, अहः, विद्या, अविद्या, सब कुछ उसी की अवान्तर-शक्तियां हैं। तत्तद्विशेषशक्तियां ही तत्त-

विशेष पदार्थों की प्रतिष्ठा है। शक्तिसत्ता में ही शक्तिमान् का शिवभाव सुरक्षित है। शिवशक्ति के विनिर्गम से वही 'शव' शक्ति से आक्रान्त होजाता है। भाव, अभाव, सत्-असत्, अमूर्त-मूर्त, सब कुछ वही है *। जब सब कुछ वही है, तो उसकी उपासना कैसी ? । स्तुति भी वही, जिसकी स्तुति की जाती है, वह भी वही, पुष्प भी वही, गन्ध भी वही, फिर किसका किससे अर्चन ? । यह सब कुछ होने पर भी शक्तिप्रतिरूपा कुलदेवियां अपने घरों में नियत भित्तिप्रदेश पर कुङ्कुम-सिन्दूर आदि से उन शक्तियों की भावमयी प्रतिकृतियां बना कर इस माध्यम से उस अमूर्त शक्तिभाव की उपासना में सफल होजातीं हैं। कर्म्मकाण्ड में तो पदे पदे इसी भावप्रतिमानविधा का संग्रह हुआ है । जिस यज्ञकर्म्म की जो प्रधान प्राणदेवता होती है, उनकी सुवर्णादि धातु से भावमयी प्रतिमा बनाकर समस्त कर्म्म का इसे आधार बनाया जाता है। यहां पर अक्षतों का मण्डल बना कर इन्हें नवग्रहादि की भावप्रतिमा माना जाता है। यवमण्डल को पितृप्राण की भावप्रतिमा माना जाता है। एवमेव षोडशमातृका, क्षेत्रपाल, वरुण, नाक्षत्रिक प्राण, आदि यच्चयावत् प्राणदेवताओं की इन भावात्मिका प्रतिमाओं में 'अमुकमावाहयामि, पूजयामि' रूप से कर्म्मैतिकर्त्तव्यता पूरी की जाती है, जिसका सूत्रग्रन्थों में विस्तार से विश्लेषण हुआ है।

१८५ गणपति, रुद्र, शीतला, चटुवासिनी, मावली, पथसंरक्षिका (पथवारी), जान्धितम चतुष्पथदेवता, आदि आदि प्राणात्मिका विभूतियों की भावप्रतिमानात्मिका अत्यन्त-रहस्यपूर्णा-लोकाचारानुगता-विज्ञानसिद्धा-उपासना का तात्त्विकस्वरूप-समन्वय-प्रयास—

एकादश-रुद्रशक्तियों में से प्रथम रुद्र गणपति है। प्राणात्मक ये गणपति सर्वथा अमूर्त हैं। इनके ध्यान के लिए, ध्यानाधार के लिए पीत मिट्टी का लोष्ठ (ढेला) ही गणपति मान लिया जाता है। यह भी भावप्रतिमान का ही उदाहरण हैं। शीतला, चटुवासिनी (अस्मत्कुलदेवी), आदि महाशक्ति-सहचारिणी शक्तियां प्रान्तीय भाषा में 'मावली' नाम से प्रसिद्ध हैं। इनकी भी भारतीय उन घरों में, जहाँ पश्चिमीशिक्षा के झञ्झावात ने प्रवेश नहीं कर पाया है है-भावप्रतिमान के द्वारा आज भी उपासना होती है। रात्रिजागरण (रतजगा-रातीजगा) इस उपासना का मुख्य अङ्ग है। क्योंकि शक्तितत्वों का रात्रिगत सोमभाव से ही समन्वय है। अतएव सोमप्राणप्रधान सौम्य पितरों के लिए भी रात्रिजागरण ही मुख्य माना गया है। घर की गृहणी भीत पट्ट पर भावप्रतिमान स्थापित कर देती है। और उपासना आरम्भ होजाती है। शीतलाशक्ति व्रणों की अधिष्ठात्री है। अतएव व्रणयुक्त पाषाण को इसकी भावमयी प्रतिमा मान लिया जाता है। पथरक्षिका शक्ति ही लोकभाषा में 'पथवारी' (पथवती-पथवारी-पथ-वाली-पथसंरक्षिका) कहलाई है। अपने सौम्य अपत्यों को इस पथसंरक्षिका के आश्रय में आश्रित करने के लिए इस शक्ति की भी गृहदेवियां भावोपासना किया करतीं हैं। पथ में विकीर्ण दो चार पाषाणखण्ड गृह में ले आतीं हैं। उन्हें

---

* यच्च किञ्चित् क्वचिद्वस्तु सदसद्वाखिलात्मिके ! ।
तस्य सर्वस्य या शक्तिः सा त्वं किं स्तूयसे तदा ॥
—रहस्याशास्त्रे

धोकर इन्हीं को पथरच्चिका की भावप्रतिमा मान लेतीं हैं । दृष्टि का आलम्बन यह भावप्रतिमानरूप पाषाण-खण्ड हैं, लक्षीभूत वह रक्षिका शक्ति है । यदि भारतीय उपासनातत्त्व का मर्म्मज्ञान अपेक्षित हो, तो कुल-देवियों के कुलाचारों पर दृष्टि डालिए । जो तत्त्व स्वाध्यायपरम्परा की विलुप्ति से आज विद्वत्-समाज के लिए भी विस्मृत होगए हैं, उनका आप इन्हीं कुलाचारों में दर्शन कर सकेंगे । वैज्ञानिक उच्चाधिकारी इन निरा-कारभावों में बिना भी किसी भौतिक माध्यम के साक्षाद्रूपेण प्रत्यय को प्रवाहित करने में समर्थ होसकते हैं । परन्तु गृहमेधियों के लिए तो अवश्य ही भावप्रतिमानादि माध्यम ही अपेक्षित हैं ।

१८६-वर्त्तमानयुगानुगता तर्कदृष्टि के सम्बन्ध में किञ्चिदित्र ऋजुदृष्ट्या आवेदन-धृष्ठता, विश्वविद्यानुगता भूमा-भूमाणिमा-अणिमा-त्रिवर्त्त त्रयी का सोदाहरण रहस्यात्मक समन्वय,-महतोमहीयान्, तथा अणोरणीयान् ब्रह्म में महिमात्मक-सोपान-परम्परानुगत-विभिन्न-विवर्त्तों का वैज्ञानिक-समन्वय, एवं तन्निबन्धन निःसीमतम-'अत्यनपिनद्ध' तत्त्व —

उदाहरण बतलाए गए, परन्तु अपने दृष्टिकोण से । क्या सर्वथा कल्पित भावप्रतिमानरूप माध्यम के समर्थन के लिए कोई ऐसा भी उदाहरण उद्धृत किया जासकता है, जिसे वर्त्तमान युग का शिक्षित समाज भी ऋजुवृत्त्या स्वीकार कर रहा हो ? । ओमित्येतत् । विश्वविद्या से भूमा, भूमाणिमा, अणिमा, ये तीन विवर्त्त माने जासकते हैं । उस ओर का महतोमहीयान्, अन्तिम महान्-भूमा है । इस ओर का अणोरणीयान् अन्तिम अणिमा है । उभयमध्यपतित सम्पूर्ण भाव अपेक्षया भूमाणिमोभयरूप हैं । कल्पना कीजिए, आप के आगार (कमरे) से प्रासाद महान् (बड़ा) है । प्रासाद से नगरवीथियां, नगरवीथियों राजमार्ग, राजमार्गों से नगर, नगर से राष्ट्र, राष्ट्र से पृथिवी बड़ी है । पृथिवी से तेहरसहस्रगुणित महान् सूर्य्य है । सूर्य्य से अनन्तगुणित महान् वह परमेष्ठी है, जिस के गर्भ में सूर्य्य अपना वही आकार रखता है, जो आकार महासमुद्र में एक बुद्बुद्का है । परमेष्ठी से अनन्तगुणित महान् आकाशात्मा स्वयम्भू है । ऐसे एक सहस्र स्वयम्भू-प्रजापतियों को अपने गर्भ में रखने वाला सर्वतो ज्यायान् महामहिम मायी महेश्वर (अश्वत्थ प्रजापति है), जिस का स्वरूप केवल एक महामाया नामक बलकोश के गर्भ में प्रतिष्ठित है । क्या मायी महेश्वर सब से बड़े हैं ?, नहीं । जिस महामायाबल से मायी महेश्वर का उदय हुआ है, सर्वबलविशिष्ट रसैकघन परात्पर के गर्भ में ऐसे ऐसे अनन्त मायाबल प्रतिष्ठित हैं । अतः निःसीम महान् तो इस परात्पर को ही माना जायगा, जिस ने महामहिम असंख्य मायी महेश्वरों को अपने गर्भ में प्रतिष्ठित रख रक्खा है, एवं जो मायातीत परात्पर विज्ञानभाषा में 'परमेश्वर' नाम से, एवं जिस की अमितशक्ति 'परा पराणां परमा त्वमेव'—'परमेश्वरी' नाम से प्रसिद्ध है । माया ही सीमा है । अतएव मायी महेश्वर को महामहिम (विश्वापेक्षया सब से महान्) मानते हुए भी इसे महतोमहीयान् नहीं कहा जासकता । मायामय विश्वापेक्षया महेश्वर महान् है, इस महान् से भी महान् अमायी-मायातीत परमेश्वर ही है, अतः इसे ही 'महतः-महेश्वरादपि-महीयान्' निर्वचन से 'महतोमहीयान्' नाम से व्यवहृत करना अन्वर्थ बनता है । इसी आत्यन्तिक अन्तिम महान् को-'अत्यनपिनद्ध' कहा गया है ।

१८७-सीमित, तथा असीमित-भावों के सम्बन्ध में प्रतीच्य दृष्टिकोण का प्रासङ्गिक-संस्मरण, एवं उसका भारतीय-दृष्टिकोण के साथ अंशतः समतुलन-प्रयास---

सीमितभाव का नाम पिनद्ध है, एवं असीम को अनपिनद्ध कहा जाता है। पारस्परिक अपेक्षा से पिनद्ध (सीमाबद्ध) पृथिव्यादि अनपिनद्ध भी माने जासकते हैं। इन आपेक्षिक पिनद्धरूप अनपिनद्ध भावों से उस परात्पर को पृथक्रूप से सूचित करने के लिए ही उसे 'अत्यनपिनद्ध' कहा गया है। साधारण आपेक्षिक असीम नहीं, अपितु असाधारण असीम, निरपेक्ष असीम, असीमों का भी असीम, अन्तिम असीम ही 'अति' शब्द से अभिनीत हुआ है। 'यत् सीमाबद्धं, तत्-तत् पिनद्धम्। न पिनद्धं-अनपिनद्धम्। तमप्यतिक्रम्यातिष्ठयत् तत् अत्यनपिनद्धम्' ही इस का निर्वचन है। पाश्चात्य विज्ञान में अत्यनपिनद्ध (अनलिमिटेड) के लिए-'इन्डेफिनेट्' (INDEFIFITE), 'अनडिकाइन्ड' (INDFEIN-ED), बाउन्डलैस (BOICLESS) इत्यादि शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

१८८-'प्रधि' भावानुगता-'परिधि' से अनुप्राणित वयोनाध-छन्द-पृष्ठ-परिणाह-साम-उद्च-आदि भाव, एवं अत्यनपिनद्ध-भावानुबन्धी मूर्त्त-अमूर्त्त-समन्वयात्मक-विचार-विमर्श —

सीमित पदार्थों का सीमाभाव 'प्रधि' कहलाया है, जो 'प्रधि' शब्द 'परिधि' नाम से भी प्रसिद्ध है। इसी को वैदिक परिभाषा में 'वयोनाध, छन्द, पृष्ठ, परिणाह, साम, उद्च, आदि नामों से भी व्यवहृत किया जाता है। पृष्ठ का आयतन ही विष्कम्भ (व्यास) कहलाया है। पृष्ठ--व्यास ही वर्त्तमान विज्ञान में 'सर्किल'........, डायमिटर'.......नामों से प्रसिद्ध है। जो पदार्थ सीमित होते हैं, उन्हीं में पृष्ठ और होता है। निःसीम तत्त्वों का न कोई पृष्ठ होता, न व्यास होता। प्रतिकृतिभाव पृष्ठ, और व्यासभागों से सम्बन्ध रखता है। अतएव व्यासपृष्ठ से शून्य असीमभावों की व्यासपृष्ठात्मिका प्रतिकृति बनाना सर्वथा असम्भव है। फलतः महतोमहीयान् की कोई भी प्रतिकृति नहीं बनाई जासकती।

१८९-अवरकक्षानुगत-प्रासङ्गिक-सामान्य-दृष्टिकोण, महतोमहीयान् मायी महेश्वर से उपक्रान्त-सावेक्ष अणिमा-महिमा-भावों की उदाहरणात्मिका सोपानपरम्परा, एवं-'अणोरणीयान्-महतोमहीयान्' इत्यादि रहस्य पूर्ण श्रुति का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

अब अवरकक्षा की ओर दृष्टिपात कीजिए। परमसामान्यलक्षण, महतोमहीयान् से छोटा मायी महेश्वर। इन से छोटा स्वयम्भू, स्वयम्भू से छोटा परमेष्ठी, इन से छोटा सूर्य, सूर्य से छोटा राष्ट्र, राष्ट्र से जनपद, जनपद से नगर, नगर से राजमार्ग, राजमार्गों से वीथियाँ, वीथियों से प्रासाद, प्रासाद से आगार, आगार से इष्टका, इष्टकाओं से उन के स्थूल अणु, त्रसरेणु, परमाणु, अन्त में शून्य पर विश्राम मानना पड़ेगा। शून्य ही वह परम सूक्ष्म, अन्तिम अणु होगा, जिससे सूक्ष्म और कोई न होगा। यही अन्तिम, सीमातीत अणु 'अणोरणीयान्' कहलाएगा। जिसप्रकार महतोमहीयान्-तत्त्व व्यास-पृष्ठमर्य्यादा से असंस्पृष्ट रहता हुआ प्रतिकृतिमर्य्यादा से बहिर्भूत है, एवमेव अणोरणीयान् शून्यरूप यह तत्त्व भी पृष्ठ--व्यास--सम्बन्ध से अतीत रहता हुआ

प्रतिकृतिभाव से अतीत रहता हुआ प्रतिकृतिभाव से एकान्तत असंसृष्ट है। जैसे परममहान् सीमातीत है, एवमेव परमविशेषरूप यह शून्य भी सर्वथा अत्यनपिनद्ध है, जिसे वर्त्तमान विज्ञान "पार्टिकिल" (PARICLE) एन् ऐटम् (ANATDM) किंवा 'माईन्यूट् पार्ट आफ मेटर' (MINVTE PART OF MATTER) इत्यादि शब्दों से व्यवहृत किया करता है। परमसामान्यरूप महतोमहीयान् ही भूमा है, परमविशेषरूप अणोरणीयान् ही अणिमा है, दोनों के गर्भ में भुक्त यचयावत् सविशेषभाव ही अपेक्षया भूमाणिमा हैं। भूमाणिमात्मक सविशेषभावों की अपेक्षा दोनों परमरूप अरूप हैं, निर्विशेष हैं, अतएव अनिर्वचनीय, अचिन्त्य, अप्रतर्क्य, अनिर्देश्य हैं। दोनों तत्वतः अभिन्न हैं। जो परमसामान्यरूप भूमा है, वही परमविशेषरूप अणिमा है। सीमातीत दोनों एक ही वस्तुतत्त्व है। 'अणोरणीयान्', महतोमहीयान्-आत्मा सर्वत्र समरूप से व्याप्त है, जिस का 'अणोरणीयान् महतोमहीयानस्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्' इत्यादि शब्दों से अभिनय हुआ है। निम्न लिखित औपनिषद वचन भी इस की इसी पूर्णलक्षणा सर्वव्याप्ति, एवं अभिन्नता का समर्थन कर रहे हैं—

१-पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
२-यदेवेह-तदमुत्र, यदमुत्र-तदन्विह।
मृत्योः सह मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥
४-'योऽसौ-सोऽहम्, योऽहं-सोऽसौ॥

१—परमसामान्यः-महतोमहीयान्—व्यासपृष्ठशून्यः-भूमा —निर्विशेषः

२—सामान्यविशेषाः-उभयात्मकाः—व्यासपृष्ठात्मकाः-भूमाणिमानः—सविशेषाः

३—परमविशेषः—अणोरणीयान्—व्यासपृष्ठशून्या—अणिमा—निर्विशेषः

* * *

१६०—आत्मतत्त्वानुगता विश्वविद्या से अनुप्राणिता विवर्त्तत्रयी, शून्यविन्दुरूपा हृद्-विन्दु, तदत्यनपिनद्धता का रहस्यात्मक-स्पष्टीकरण, एवं उपासनानुगत-भाव-प्रतिमान का सर्वात्मना-समर्थन—

आत्मतत्त्वानुगता विश्वविद्या के उक्त तीनों विवर्त्तों में से परमसामान्यरूप भूमाविवर्त्त (१), एवं परमविशेषरूप अणिमाविवर्त्त (२), दोनों विवर्त्त व्यासपृष्ठमर्य्यादातीत बनते हुए अपिण्ड हैं, निराकार हैं, निर्विशेष हैं, अतएव वाङ्मनस-पथातीत हैं, अतएव अनिर्वचनीय हैं, यह वर्त्तमान वैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं। वे अपने अन्तर्जगत् में यह अनुभव करते हैं कि, न तो भूमा की ही प्रतिकृति बनाई जासकती, न शून्य विन्दुरूप अणिमा की ही प्रतिमा बनाई जासकती। यह सब कुछ अनुभव करते हुए भी वे शिक्षण-काल में कृष्णपट्ट पर विन्दु का आकार बनाकर उस ओर सङ्केत किया करते हैं कि—'देखो! यह शून्यविन्दु है।

विद्यार्थी की दृष्टि इस कल्पित बिन्दु पर रहती है, भावना सीमातीत शून्यबिन्दु पर रहती है। पिण्डबिन्दु लक्षक है, शून्यबिन्दु लक्ष्य है। लक्षक सर्वथा कल्पित है, असत् है, असत्य है। लक्ष्य सत् है, सत्य है। एवमेव भावमयी कल्पित-प्रतिमा असत् है, लक्षीभूत ईश्वर सत् है। जैसे असत्-रूप पिण्डबिन्दु से सत्-रूप-शून्यबिन्दु की ओर विद्यार्थी का ध्यान आकर्षित होजाता है, एवमेव असत्-भावमय प्रतिमानरूप प्रथमोपास्य के द्वारा उपासक की भावना सत्-प्रतिमेय की ओर प्रवाहित होजाती है। इसी भावप्रतिमानरूप असत्-माध्यम को लक्ष्य बनाकर आचार्य्यों ने कहा है—

उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते ॥

—भर्तृहरिः-वाक्यपदीये

१९१-ईश्वरप्रजापति, एवं तदभिन्ना प्राणशक्तियों से अनुप्राणिता भावप्रतिमानविधा की विज्ञानसिद्धा उपादेयता की गतार्थता का समन्वय-प्रयास—

जैसे आप शून्यबिन्दु को निराकार नीरूप वाङ्मनसपथातीत मानते है, एवमेव हम भी ईश्वर, और उस की प्राणात्मिका शक्तियो को निराकार-नीरूप-अनिर्वचनीय ही मान रहे हैं। जैसे आप पिण्ड-बिन्दु को उस की प्रतिकृति नही मानते, एवमेव भावमयी प्रतिमा को हम भी उसकी प्रतिकृति नही कह रहे। जिसप्रकार आप अपनी कल्पित पिण्डबिन्दु को उस निराकार-शून्यबिन्दु के ज्ञान का साधक मानते है, एवमेव हम की भावमयी प्रतिमा को उन निराकारतत्त्वो के बोध का साधनमात्र मान रहे हैं। यदि आप की पिण्डबिन्दु से आप को शून्यबिन्दु का परिज्ञान होजाता है, तो हमारी इस भावमयी कल्पित-प्रतिमा के द्वारा हम भी अवश्य ही उन अमूर्त्त शक्तियों के प्रति प्रत्ययनिष्ठा प्राप्त कर सकते है। इसप्रकार भारतीय भाव-प्रतिमानविधा की प्रामाणिकता, तथा उपादेयता का उत्तर आप ही के उदाहरण से भलीभाँति गतार्थ बन रहा है।

१९२-भारतीय 'वेदभक्त वर्गविशेष की वेदप्रामाणिकता का अभिनिवेश, तन्मूला भावप्रतिमानविधा की अवैदिकता का उद्घोष, निराकारोपासनानुगत साकार-भावप्रतिमान के सम्बन्ध में तदात्यन्तिक अभिनिवेश, तन्निराकरण-प्रयास, एवं तत्सम्बन्ध में अत्यन्त रहस्य-पूर्ण निगम-अनुगमात्मिका परिभाषाओं का प्रास-ङ्गिक-स्वरूप-विश्लेषण, एवं—'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्' इत्यादि अनुगमवचन से अनुप्राणित विभिन्न उदाहरणों का दिग्दर्शन, तथा तदनुगत-भावप्रतिमान के वैदिक-उदाहरण का संस्मरण—

यह तो हुआ प्रतीच्य वैज्ञानिको का समाधान। अब भारतवर्ष मे ही एक वर्गविशेष ऐसा भी है, जो वेदप्रामाणिकता का अभिनिवेश रखता हुआ भी भावप्रतिमानविधा की अवैदिकता घोषित कर रहा है। क्योंकि

उस चक्षुष्मान् को वेद में ऐसा उदाहरण नहीं मिला, जिसके आधार पर वह निराकारोपासना-प्रकार में साकार-भावप्रतिमान को स्वीकार करसके। इस अभिनिविष्ट वर्ग के समाधान के लिए इसी सम्बन्ध में 'पुरुषविज्ञानानुगत' एक उदाहरण और उपस्थित कर दिया जाता है। अनुगमवचन, निगमवचन, भेद से श्रौत पारिभाषिक वचन दो भागों में विभक्त माने गए हैं। अनुगमवचन जहाँ संख्यासमतुलन से सम्बद्ध हैं, वहाँ निगमवचन तत्त्वसे सम्बद्ध माने गए हैं। 'इन्द्रः सर्वा देवताः'-'यज्ञो वै विष्णुः'-'यद्वै किञ्च प्राणि, स प्रजापतिः' इत्यादि वचन इन्द्र, विष्णु, प्रजापतिरूप तत्त्वविशेषभावों से सम्बन्ध रखते हुए निगमात्मक वचन हैं। एवं-द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति'-'षोडशकलं वा इदं सर्वम्'-'त्रिवृद्वा इदं सर्वम्'-'पाङ्क्तो वै यज्ञः'-'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्' इत्यादि वचन २,१६,३,५,४ आदि संख्यासमतुलन से सम्बन्ध रखते हुए अनुगमात्मक वचन हैं। संख्यासमन्वय से इनके अनेक अर्थ होजाते हैं। इसी आधार पर 'नियतविषयप्रतिपतिपादकत्त्वं निगमत्त्वम्'-'संख्यानुगतविषयप्रतिपादकत्त्वमनुगमत्त्वम्' दोनों के ये लक्षण किए जासकते हैं। उदाहरण के लिए 'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्' को ही लक्ष्य बनाइए। आत्मा, जाया, प्रजा, वित्त, रूपा भूतात्मचतुष्टयी के साथ भी 'चतुष्टयम्' का समन्वय है। 'परात्पर, पुरुष, यज्ञ, विराट्-रूप प्रजापति के साथ भी 'चतुष्टयम्' का समन्वय है। पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौः, आपः-रूपा लोकचतुष्टयी के साथ भी इसका समन्वय है। 'विश्वातीत-विश्वेश्वर-विश्व-विश्वप्रजा-रूपा विश्वचतुष्टयी के साथ भी इसका समन्वय है। ऋग्-यजुः-साम-अथर्व-रूपा संहिता-चतुष्टयी के साथ भी इसका समन्वय है। होता-अध्वर्यु-उद्गाता-ब्रह्मा रूपा ऋत्विक् चतुष्टयी के साथ भी इसका समन्वय है। 'परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी' रूप वाग्विवर्त्त के साथ भी इसका समन्वय है। इसप्रकार चतुःसंख्यात्मक जितने भी सर्वभाव है, उन सबका इस अनुगमवचन से ग्रहण किया जासकता है। प्रकृत में इस अनुगमवचन से हमें पुरुषविधानुगता उस पुरुषचतुष्टयी का ही ग्रहण करना है, जिस चतुष्टयी के चारों विवर्त्त 'शरीरपुरुष, महापुरुष, वेदपुरुष, छन्दःपुरुष, नामों से प्रसिद्ध हैं। जीवप्रजापति (अध्यात्मसंस्था) शरीरपुरुष है। ईश्वरप्रजापति (अधिदैवतसंस्था) महापुरुष है। दोनों के मध्य में दोनों पुरुषों के स्वरूपसम्पादक छन्दः, वेदपुरुष नामक दोनों पुरुष प्रतिष्ठित हैं। जीवात्मक शरीरपुरुष का प्रधानतः छन्दपुरुष से सम्बन्ध है, एवं ईश्वरात्मक महापुरुष का प्रधानतः वेदपुरुष से सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में-छन्दपुरुष शरीरपुरुष की प्रतिष्ठा है, एवं वेदपुरुष महापुरुष की प्रतिष्ठा है। इसी पुरुषचतुष्टयी के द्वारा हमें भावप्रतिमानविधा के वैदिक उदाहरण की मीमांसा करनी है।

१९३-जड़ और चेतन-द्रव्यों के सम्बन्ध में इन्द्रियाभाव, तथा इन्द्रियाभिव्यक्तिमूलक पारिभाषिक दृष्टिकोण का तात्त्विक समन्वय, एवं-'सेन्द्रियं चेतनद्रव्यं, निरिन्द्रियमचेतनम्' वचन का स्पष्टीकरण, और सर्वव्यापक चिदात्मेश्वर से अनुप्राणिता-'ईशावास्यमिदं सर्वम्' इत्यादि उपनिषत्-श्रुति का संस्मरण, तथा सुप्रसिद्धा चतुर्विधा पुरुषसंस्था का प्रासङ्गिक दिग्दर्शन—

जिन्हें लोकभाषा में 'जड़' कहा माना जाता है, वे भी 'ईशास्यमिदं सर्वम्' इत्यादिरूप से वेदभाषा में आत्मसम्पत्ति से युक्त माने गए हैं। आत्मसत्ता ही पिण्डसत्ता का अन्यतम कारण है, फिर वह पिण्ड चेतनविध हो, अथवा तो अचेतनविध। पुरुष, पशु, पक्षी, आदि चेतनद्रव्य, एवं पाषाण-लोष्ठादि-अचेतनद्रव्य,

दोनों हीं आत्मसम्पत्ति से समानरूप से युक्त हैं। दोनों के स्वरूप में अन्तर केवल यही है कि, चेतन द्रव्यों में इन्द्रियों का विकास है, अचेतनद्रव्यों में इन्द्रियों का अभाव है। जिसप्रकार दृढावरण से वेष्टित घट के गर्भ में प्रतिष्ठित दीपप्रभा बर्हिमुंख नहीं बन सकती, एवमेव इन्द्रियछिद्राभावात्मक अचेतनद्रव्यों के गर्भ में प्रतिष्ठित भी आत्मज्योति बर्हिमुंख नहीं बन सकती। एतावता ही इन्हें अचेतन कह दिया जाता है। पुरुषादि में इन्द्रिय द्वार हैं। अतएव जिसप्रकार सच्छिद्र घट के गर्भ में प्रतिष्ठित दीपप्रभा बर्हिमुंख बन जाती है, एवमेव 'पराञ्चि खानि व्यतृणत्' सम्पत्ति से युक्त (इन्द्रियविवरयुक्त) पुरुषादि के गर्भ में प्रतिष्ठित आत्मज्योति बर्हिमुंख बन रही है। आत्मा की सत्ता, एवं आत्मा का अभाव जड़-चेतन का व्यवस्थापक नहीं है। आत्मदृष्टि से तो सभी चेतन हैं। केवल इन्द्रियसत्ता–इन्द्रियाभाव ही चेतन अचेतन के व्यवस्थापक हैं, जैसाकि 'सेन्द्रियं चेतनद्रव्यं, निरिन्द्रियमचेतनम्' (चरकसंहिता) इत्यादि वचन से भी प्रमाणित है। इसी व्यवस्था के आधार पर कहा जासकता है कि, पुरुष-पशु-पक्षी-आदि सेन्द्रिय जीवों की भाँति घट-पट-मठ-पुस्तक पाषाण-लोष्ठ-आदि आ जड़शब्देनाभिनीययान यच्चयावत् अचेतन पदार्थ भी आत्मवान् हैं। यदि इनमें भी इन्द्रियविवर होते, तो 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति' वाला हृदयस्थ चिदात्मा चेतनपदार्थों की भाति अवश्य ही प्रस्फुटित होपड़ता। बलचितियों के आवरण से आज वह आत्मत्त्व अभिभूत होगया है, आवृत बन रहा है। तत्त्वतः जैसे हम अपने आपको 'जीवात्मा' कहते हैं, तथैव यच्चयावत् पदार्थों को भी इसी उपाधि से युक्त माना जासकता है। चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा दृष्ट चेतन-अचेतन पदार्थ ही पहिला 'शरीरपुरुष' विभाग है। शब्दशास्त्र की दृष्टि से पहिले पुरुषसंस्थाओं का समन्वय कीजिए। क्योंकि भावप्रतिमान के उदाहरण में वाङ्मय प्रपञ्च अधिक समीप पड़ रहा है।

१६४–शब्दविज्ञानात्मक वेदमय वाक्प्रपञ्च के आधार पर 'वेदपुस्तक' की उपस्थिति, तन्निबन्धन पुस्तकात्मक-'शरीरपुरुष', तत्प्रतिष्ठात्मक 'छन्दःपुरुष', एवं 'ग्रन्थ', तथा 'पुस्तक' शब्दानुगत अक्षरसमाम्नाय-निबन्धन-अत्यन्त रहस्यपूर्ण तात्त्विक विभेद का स्वरूप-समन्वय-प्रयास, और वागिन्द्रिय से उच्चरित आकाश में विलीन अतीन्द्रिय-वाक् प्रपञ्च का 'ग्रन्थत्त्व' संस्थापन—

ज्ञान–विज्ञानात्मक वेदमय वाक्प्रपञ्च को लक्ष्य बनाते हुए वेदपुस्तक हमारे सम्मुख उपस्थित होजाती है। यह वेदपुस्तक ही पहिला 'शरीरपुरुष' है। वर्त्तमान में पुस्तक, और ग्रन्थ अभिन्नार्थक माने जारहे हैं। परन्तु तत्त्वतः दोनों विभिन्न पदार्थ हैं। पुस्तक शरीरपुरुष है, ग्रन्थ छन्दःपुरुष है। "अग्निमीले पुरोहितम्" ऋक्संहिता के इस प्रथममन्त्र के 'अकार' वर्ण से आरम्भ कर सर्वान्त के-'समानी व आकूति' इस मन्त्र के अन्त के 'ति' काराक्षर (सुसहास-'ति') पर्य्यन्त व्याप्त अक्षरसमाम्नायात्मक जो वाङ्मय प्रपञ्च है, वही 'ग्रन्थ' कहलाता है। इस अक्षरसमाम्नायरूप ग्रन्थ का आधारभूत भौतिक पिण्ड ही पुस्तक कहलाता है। लेखिनी के द्वारा मसीपात्र से लिखी गई लिपि, और तद्युक्त पत्रों (कागजों) की समष्टि ही पुस्तक है। यह लिपि जिस अक्षरसमाम्नाय की है, वह समाम्नाय ही ग्रन्थ है। जिसे (पुस्तक को) लोक में 'ग्रन्थ' कहा जाता है, वह वस्तुतः ग्रन्थ की पुस्तक है, न कि ग्रन्थ। ग्रन्थ का वागिन्द्रिय से सम्बन्ध है, पुस्तक का चक्षुरिन्द्रिय से सम्बन्ध है। ग्रन्थ पढ़ा जाता है, पुस्तक देखी जाती है। 'अग्निमीले पुरोहितं होतारं रत्नधातमम्।

यज्ञस्य देवमृत्त्विजम्' इत्यादिरूप जो वाङ्मय मन्त्र आप अपने मुख (वागिन्द्रिय) से बोल रहे हैं, उस का लिपि–पत्रादिरूप पुस्तक से क्या सम्बन्ध ?। उच्चारण के साथ साथ ही यह उच्चरित शब्दप्रपञ्च स्वप्रभवरूपा आकाशात्मिका वाक् में, किंवा वाङ्मय शब्दगुणक आकाश के गर्भ में विलीन होता जाता है। वागिन्द्रिय से उच्चरित आकाश में विलीन, अतीन्द्रिय यह वाक्प्रपञ्च ही ग्रन्थ है।

१६५–वेद के तात्त्विक स्वरूप का संस्मरण, विद्यापुस्तकात्मक वेदग्रन्थ, पुस्तक, और ग्रन्थ के सम्बन्ध में विभिन्न द्विविध दृष्टिकोणों का प्रासङ्गिक-समतुलन, वेदग्रन्थ की भावमयी प्रतिमा और वेदपुस्तक, एवं निराकार-नित्य-अपौरुषेय-शब्दब्रह्मात्मक वेदग्रन्थ की उपासना के लिए मध्यस्थ साकार-अनित्य-पौरुषेय-वेदपुस्तक का समाश्रय, तथा लिपिभावानुबन्धी एक प्रासङ्गिक पारिभाषिक दृष्टिकोण का रहस्यात्मक-स्पष्टीकरण-प्रयास—

गीताविज्ञानभाष्यभूमिका–द्वितीयखण्ड–कर्म्मयोगपरीक्षात्मक 'ख' विभाग के–'वेदस्वरूपदिग्दर्शन' नामक परिच्छेद में वेद के तात्त्विक स्वरूप का विश्लेषण हुआ है–(२२३ पृ० से २५२ पृष्ठ पर्य्यन्त)। तत्परिच्छेद में हमने एक विशेष दृष्टिकोण के आधार पर वेद को 'विद्यापुस्तक' कहा था (देखिए २२६ पृ० ४ पंक्ति)। प्रकृत में एक विशेष दृष्टिकोण के आधार पर उस पूर्वमान्यता का भी हम विरोध कर सकते हैं। पुस्तक को वेदशास्त्र मानना अशुद्ध है, पुस्तक वेदशास्त्र नहीं है, पुस्तक वेद की पुस्तक है, यह पूर्वसिद्धान्त था। परन्तु आज हम कह रहे हैं–पुस्तक भी वेद की नहीं है। हम कह सकते हैं, ऋक्–यजुः–सामाथर्व नामक पुस्तकें वेद की पुस्तकें नहीं, अपितु वाङ्मय छन्दःपुरुष की पुस्तकें हैं, ग्रन्थ की पुस्तकें हैं। वेद की पुस्तकें नहीं हैं, वेदग्रन्थों की पुस्तके हैं। वेद की प्रतिकृति ग्रन्थों की भावमयी प्रतिमा पुस्तके हैं।

१६६–उपासना की सिद्धि के लिए अनिवार्य्यरूपेण अपेक्षित-भावप्रतिमान, पुस्तकात्मिका लिपि, किंवा लिपिरूप पुस्तक की चिह्नमर्य्यादा का समतुलन, एवं शून्यबिन्दु की भावप्रतिमानरूपा पिण्डबिन्दु का काल्पनिकत्व—

इस सम्बन्ध में प्रश्न किया जासकता है कि, यदि पुस्तकें छन्दः-पुरुषरूप वाङ्मय प्रपञ्च (ग्रन्थ) से विभिन्न हैं, तो उसदशा में छन्दःपुरुष पुस्तक की अपेक्षा क्यों रखता है ?। प्रश्न का तात्पर्य्य यही है कि, पुस्तक के द्वारा ही वाङ्मय प्रपञ्च हमें उपलब्ध होता है। यदि वाङ्मय प्रपञ्च सर्वथा विभिन्न है, तो उस की बिना पुस्तक के माध्यम के भी उपलब्धि होनी चाहिए। होती नहीं। ऐसी दशा में वाङ्मय प्रपञ्चरूप ग्रन्थ को पुस्तक से विभिन्न किस आधार पर माना गया ?। प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है। निराकार शक्तिभावों की उपासना के लिए जैसे साकार–मूर्त्त–भावप्रतिमानों की अपेक्षा रहती है, एवमेव अतीन्द्रिय शब्दप्रपञ्च के बोध के लिए अवश्य–मेव साकार–मूर्त्त–भावप्रतिमानरूप मध्यालम्बन अपेक्षित है। पुस्तकात्मक लिपिभाव उस ग्रन्थात्मक वाग्भाव की भावप्रतिमा है, एतावता ही ग्रन्थपरिज्ञान (अक्षरसमाम्नाय–परिज्ञान) के लिए इन भावप्रतिमा–रूप पुस्तकों की अपेक्षा रहती है। पुस्तकात्मिका लिपि, किंवा लिपिरूप पुस्तक कल्पित चिह्नमात्र हैं। वस्तुतः

इन चिह्नों का उस शब्दप्रपञ्च से उसीप्रकार कोई सम्बन्ध नहीं है, जैसे पिण्ड-बिन्दु का इन्द्रियातीत शून्य-बिन्दु से कोई सम्बन्ध नहीं है।

१९७-वागिन्द्रिय से विनिःसृत वाङ्मय प्रपञ्च की वास्तविक-प्रतिमा का अभाव, विविध भाषाभिज्ञों की विभिन्न लिपियाँ, तन्निबन्धना लिपियों का काल्पनिकत्व, एवं समानाकाराकारित्वाभावमूल वास्तविक तथ्य का स्वरूपोद्घाटन—

वागिन्द्रिय से विनिःसृत वाङ्मय प्रपञ्च की वास्तविक प्रतिमा तो बन ही नहीं सकती। कारण प्रत्यक्षानुभूत है। उपदेशक सभामञ्च से उपदेश करता है। विविध भाषाभिज्ञ गुप्तचर उपदेशाक्षरों को लिपिबद्ध करते जाते हैं। इंगलिश, उर्दू, हिन्दी, गुजराती, मराठी, तेलगू, पञ्जाबी, बंगला, आदि भाषाओं में उपदेश का संकलन होता है। सब लिपियाँ आकार-प्रकार-सन्निवेश में परस्पर विभिन्न हैं। यही इस का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि, लिपि शब्दों की प्रतिकृति नहीं है, केवल कल्पित-भावनामय-चिह्न हैं। यदि लिपि अक्षरसमाम्नाय की वास्तविक प्रतिकृति (तस्वीर) होती, तो विश्व की यच्चयावत् भाषाओं की लिपियाँ समानाकाराकारित होतीं।

१९८-आलम्बनमूला लिपि, प्रतिकृतिरूपा आलम्बनता का अभाव, भावप्रतिमानरूप कल्पित आधार का समन्वय, अक्षरसमाम्नायरूप छन्दःपुरुष से सम्बद्धा शरीर-पुरुषात्मिका लिपिरूपा भावप्रतिमा का दिग्दर्शन, शब्दतत्त्व की-'न ह्यशब्द-मिवास्ति' मूला सर्वव्यापकता, शब्दब्रह्मानुगत परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी-मूलक चतुर्धा विभक्त वाग्विवर्त्त का संस्मरण, एवं प्रत्यय-मात्र की शब्दानुविद्धता का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय—

लिपि आलम्बन अवश्य है, परन्तु प्रतिकृतिरूप आलम्बन नहीं है। अपितु भाव-प्रतिमानरूप (कल्पित) आधारमात्र है। यही स्थिति प्रतिलिपिरूप भावप्रतिमान के सम्बन्ध में समझिए। भावप्रतिमानात्मिका लिपि (पुस्तक) की एक लेखक प्रतिलिपि (नकल) बनाता है। यह प्रतिलिपि किस की है ?, क्या पुस्तक (लिपि) की प्रतिलिपि है ?, नहीं। क्यों ?, वही पूर्वोत्तर। यदि प्रतिलिपि लिपिरूप पुस्तक की ही होती, तो प्रतिलिपि भी सब की समान ही होती। परन्तु देखते हैं, लिपिचिह्नों से विपरीत चिह्नों वाली विभिन्न किसी भी लिपि में मूलप्रति की जासकती है। अतएव मानना पड़ता है कि, प्रतिलिपिरूप भावप्रतिमान भी अक्षरसमाम्नायरूप छन्दःपुरुष से ही सम्बन्ध रखता है। तात्पर्य्य-मूलपुस्तक हो, अथवा प्रतिलिपिरूप पुस्तकें, सब छन्दःपुरुष के ही भावप्रतिमान हैं। पुस्तक की प्रतिलिपि में शब्दोच्चारण नहीं होता। अतएव प्रश्न होसकता है कि, प्रतिलिपियों का वागिन्द्रियानुगत छन्दःपुरुष (शब्दात्मक ग्रन्थ) से क्या सम्बन्ध ?। पुस्तक की प्रतिलिपि करते समय लेखक की दृष्टि ही प्रधान रहती है, यह तो निर्विवाद है। यह भी सत्य है कि, उसे इसी प्रतिलिपिकरण में वैखरी-वाक् के उच्चारणकी अपेक्षा नहीं होती। परन्तु यह भी निर्विवा सत्य है कि, कोई भी प्रत्यय (ज्ञान) शब्दशून्य न हो—'न ह्यशब्दमिवास्ति' (उपनिषत्)।

ओष्ठपुटों को सर्वथा निष्क्रिय रखता हुआ लेखक मननपूर्वक प्रतिलिपिकर्म कर रहा है। इस व्यापार के साथ साथ ही उस के अन्तर्गत् में पश्यन्ती, मध्यमा, नामक सूक्ष्म वागुच्चारण प्रवाहित है। मनोयोगपूर्वक ही उपांशुरूपेण वाचनकर्म्म सम्भव है। यदि मनोयोगात्मक ज्ञान है, तो सूक्ष्म शब्दोच्चारण भी अवश्य है। इसप्रकार प्रतिलिपियों का भी वागिन्द्रियानुगत सुसूक्ष्म छन्दःपुरुष (शब्दप्रपञ्च) के साथ अवश्य ही सम्बन्ध मान जासकता है। प्रत्ययमात्र की इस शब्दानुविद्धता का ही स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य्योंनें कहा है—

> न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
> अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥
>
> —भर्तृहरिः (वाक्यपदीये)

१६६–अक्षरसमाम्नायरूप, वाक्प्रपञ्चलक्षण ग्रन्थ की छन्दःपुरुषता, एवं तदिन्द्रियातीतता, 'अग्निमीले पुरोहितम्' इत्यादि वाङ्मय शब्द को रूपान्तर में परिणति का सोदाहरण समन्वय, ग्रन्थात्मक छन्दःपुरुष का निराकारत्व, साकारभावापन्न-भूतात्मक पुस्तक का शरीरपुरुषात्मक भावप्रतिमानत्व, और छन्दःपुरुष की लक्ष्यरूपता का, तथा शरीरपुरुष की लक्षकरूपता का पारिभाषिक–समन्वय–प्रयास—

निष्कर्ष यही निकला कि, अक्षरसमाम्नारूप वाङ्मय प्रपञ्च (ग्रन्थ) छन्दःपुरुष है, यह इन्द्रियातीत है। एवं लिपि–प्रतिलिपि–पत्रादि समष्टि की समष्टिरूप पुस्तक शरीरपुरुष है। इन दोनों में छन्दःपुरुष बदलता रहता है। संस्कृत वाङ्मयग्रन्थ को नागरी वाङ्मयग्रन्थरूप में परिणत किया जासकता है। 'अग्नि–मीले पुरोहितम्' इस वाङ्मय शब्द को—'देवताओं के पुरोहित अग्नि की स्तुति करता हूँ' इस रूप में परिणत किया जासकता है। जिस की प्रतिलिपि की जाती है, जिस का स्वरूप परिवर्त्तनशील है, वह अक्षर-समाम्नाय ही छन्दःपुरुष है। पत्र–लिपिविशिष्ट दृष्टिविषयक भौतिक पदार्थ पुस्तक है, यही शरीरपुरुष है। पुस्तकोपहित वागिन्द्रियविषयक अतीन्द्रिय वाङ्मय पदार्थ ग्रन्थ है, यही छन्दःपुरुष है। इसप्रकार ग्रन्थ, और पुस्तक का पार्थक्य भलीभाँति सिद्ध होजाता है। ग्रन्थात्मक छन्दःपुरुष निराकार है। इस का परिज्ञान साकार भूतात्मिका पुस्तकरूपा लिपि के बिना सम्भव नहीं है। अतएव विभिन्न देशीय व्यक्तियोंनें अपनी अपनी अपनी प्रकृति के अनुरूप उस निराकार शब्दप्रपञ्च की चिह्नविशेषात्मक पुस्तकें बना रक्खी हैं। लिपिरूप यह चिह्न ही भावप्रतिमान है, यही लक्षक है। वाङ्मय प्रपञ्च लक्ष्य है। दूसरे शब्दों में छन्दःपुरुष लक्ष्य है, शरीरपुरुष लक्षक है।

२००-क्रमप्राप्त वेदपुरुष, और महापुरुष का संस्मरण, 'ऐतरेयब्राह्मण' नामक शरीर-पुरुषात्मक 'पुस्तक' का संस्मरण, उसकी विविधाकारों में परिणति, एवं छन्दःपुरुषों से प्रतीयमान विज्ञानात्मक वेदपुरुष की तात्त्विक-स्थिति की अपरिवर्त्तनीयता का स्पष्टीकरण—

अब शेष रहजाते हैं—वेदपुरुष, और महापुरुष । शरीरपुरुषाधारेण प्रतिष्ठित छन्दःपुरुष से जो ज्ञान होता है, वही 'वेदपुरुष' है । शब्दजन्य विज्ञान ही वेदपुरुष है । शब्द का साधक भावप्रतिमानरूप से यदि लिप्यात्मक पुस्तक है, तो शब्दज्ञानात्मक वेदपुरुष का साधक ग्रन्थात्मक शब्द है । ऐतरेयब्राह्मण नामक पुस्तक का 'अग्नि र्वै देवानामवमः, विष्णुः परमः, तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः' (ऐ० ब्रा० १।१।१।) यह लिपिमान चाक्षुरिन्द्रियग्राह्य ग्रन्थावयवरूप 'अग्नि र्वै०' इत्यादि अक्षरसमाम्नायात्मक शब्द का संकेतग्राहक बना । एवं 'अग्नि र्वै देवानाम्०' इत्यादि शब्द 'अग्नि प्राणदेवताओं में प्रथम है, विष्णु अन्तिम है, शेष ३१ प्राणदेवता दोनों के मध्य में हैं' इस आधिदैविक प्राणदेव—विज्ञान का जनक बना । 'अग्निर्वै देवानाम्०' इत्याकारक छन्दःपुरुष 'अग्निर्देवेषु प्रथमः, विष्णुरन्तिमः'-'अग्नि तु प्रथम स्थान छे, अने विष्णु परम गणावयामां आव्या छे'—'अग्नि प्रथम स्थानाचा देवता आहे०' इत्यादिरूप से विविधाकारों (भाषाओं) में परिणत होसकता है । परन्तु विविध छन्दःपुरुषों से प्रतीयमान विज्ञानात्मक वेदपुरुष (तात्त्विकी स्थिति) नहीं बदलता ।

२०१-वर्णरूप, तथा आकाररूप-भेद से 'रूप' के द्विविध-महिमा-विवर्त्त, तत्प्रवर्त्तक त्वष्टाप्राण, तथा इन्द्रप्राण, तदनुगता—'त्वष्टा रूपाणि पिंशतु'—'इन्द्रो रूपाणि कनिक्रदचरत्' इत्यादि श्रुतियों का संस्मरण, एवं वेदतत्त्व की विज्ञानघनता, अनादिता, नित्यता, तथा अपौरुषेयता का रहस्यात्मक-समन्वय-प्रयास—

रूपात्मक तत्त्व वर्णरूप, आकाररूप भेद से दो भागों में विभक्त है । इनमें त्वष्टा आकाररूप के, इन्द्र वर्णरूप के अधिष्ठाता हैं । 'त्वष्टा और इन्द्र तत्त्व रूपात्मक हैं' यह नित्यविज्ञान है । यही वेदपुरुष है । यह सर्वथा अपरिवर्त्तनीय है । परन्तु इस नित्यविज्ञानात्मक वेदपुरुष का ज्ञापक 'त्वष्टा रूपाणि पिंशतु'—'इन्द्रो रूपाणि कनिक्रदचरत्' इत्याकारक शब्दात्मक छन्दःपुरुषः संस्कृत, ग्रीक, लेटिन, गुजराती, मराठी, तेलगू, कनड़, बँगला, नागरी, आदि आदि नानाछन्दों (भाषाओं) में परिणत होसकता है । छन्द का स्वरूप बदला जासकता है, परन्तु मौलिक विज्ञान ब्रह्मरूप वेदपुरुष नहीं बदला जासकता । यही विज्ञानात्मक (तत्त्वात्मक) वेदपुरुष की अनादिता, नित्यता, एवं अपौरुषेयता है । वेद-तत्त्व नित्यविज्ञानघन है । इसका निर्वचन छन्दःपुरुष पर ही अवलम्बित है । बिना छन्द के वेद अनुपपन्न है । छन्द प्रथम-स्थानीय है, वेद अनन्तर-स्थानीय है—व्यवहारदृष्ट्या ।

२०२–वेदपुरुष के संसाधक छन्दःपुरुष का संस्मरण, छन्दःपुरुष की अलौकिता का समन्वय, प्राकृतिक-नित्य-वेदानुगत-अपौरुषेय-छन्दो, एवं कृत्रिम-अनित्य-लौकिक पौरुषेय छन्दों का प्रासङ्गिक दिग्दर्शन, प्राकृतिक-नित्य-अपौरुषेय-छन्दपुरुष का वेदत्व संस्थापन, एवं स्वायम्भुवी वाक् से अभिन्न प्राकृतिक-छन्दःपुरुष का वेदपुरुष के साथ अभिन्नत्व–संस्थापन—

वेदपुरुष का साधक छन्दःपुरुष दो भागों में विभक्त माना गया है। नित्यविज्ञान का जैसा स्वरूप अवयव-संस्थान है, तदनुरूप अपना अवयव–संस्थान रखने वाला, नित्यविज्ञान के स्वरूप से समतुलित छन्दः–पुरुष अलौकिक छन्दःपुरुष है। इसमें पुरुषप्रयत्न अनपेक्षित है। अतएव इसे प्राकृतिक छन्द (सहज–भाषा) कह सकते हैं। एवं नित्यविज्ञान से कोई सम्बन्ध न रखने वाला, कृत्रिम–लौकिक ज्ञान, लौकिक व्यवहारों का बोध कराने वाला पुरुषप्रयत्नसाध्य लौकिकछन्द कृत्रिमछन्द [देशभाषा] है। कृत्रिमछन्द अनित्या वाक् है, प्राकृतिकछन्द नित्या स्वायम्भुवीवाक् है। स्वायम्भुवी वाग्रूप यह प्राकृतिक छन्दःपुरुष ही विज्ञानात्मक वेदपुरुष से अभिन्न माना गया है। अतएव लौकिक छन्दःपुरुषापेक्षया यह अलौकिक छन्दोऽनुगता नित्यावाक् 'मन्त्रवाक्' नाम से व्यवहृत हुई है। इसी अभेद के आधार पर इस छन्द, और तल्लक्ष्यीभूत विज्ञानात्मक वेदपुरुष को अभिन्न मान लिया गया है। उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका–तृतीयखण्ड में इन सब विषयों का विशद वैज्ञानिक विवेचन हुआ है। अतः इस अप्रासङ्गिक विषय को छोड़ा जाता है।

२०३–छन्दपुरुष से लक्षीभूत नित्यविज्ञानात्मक वेदपुरुष के आधिदैविक-आध्यात्मिक-आधिभौतिक-भेदनिबन्धन–नक्षत्रविज्ञान–ग्रहविज्ञान–देवविज्ञान–ऋषिविज्ञान-पितृविज्ञान-आदि आदि खण्ड-खण्डात्मक विभिन्न महिमा-विवर्त्तों का प्रासङ्गिक-संस्मरण, एवं-'नित्यं विज्ञानमानन्दं-ब्रह्म' रूप वेदपुरुषानुगत 'महापुरुष' का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

छन्दःपुरुष से लक्षीभूत नित्यविज्ञानात्मक वेदपुरुष के आधिदैविक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक विज्ञान, नक्षत्रविज्ञान, ग्रहविज्ञान, देवविज्ञान, ऋषिविज्ञान, पितृविज्ञान, आदि भेद से खण्डखण्डात्मक अनेक विवर्त्त हैं। इन सब खण्डविज्ञानों का एकायतनरूप विश्वेश्वर ही 'महापुरुष' नामक चौथा पुरुष है। वेदात्मक विज्ञान ही–'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' लक्षण अव्ययविज्ञान का लक्षक है, स्वयं छन्दःपुरुष इसका लक्ष्य है। अक्षरसमाम्नायात्मक शब्दप्रपञ्च छन्दःपुरुष है, यह वेदपुरुष का लक्षक है, स्वयं वेदपुरुष इसका लक्ष्य है। नित्यविज्ञानतत्त्व वेदपुरुष है, यह महापुरुष का लक्षक है, स्वयं महापुरुष इस वेदपुरुष का लक्ष्य है। एवं अनन्तविज्ञानात्मक महामायी अव्ययेश्वर महापुरुष है, जिसे कि वेदैकवेद्य माना गया है। यही अन्तिम लक्ष्य है—

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ॥
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥
—गीता १५।१५।

१–शरीरपुरुषः [लिपिभावाः–पुस्तकानि—पुस्तकम] लक्ष्यो दृष्टेः लक्षकश्छन्दःपुरुषस्य	-उपक्रमः	
२–छन्दःपुरुषः [शब्दभावाः–ग्रन्थाः——शब्दः] लक्ष्यः शरीरपुरुषस्य, लक्षको वेदपुरुषस्य		मध्यमावस्थे
३–वेदपुरुषः [विज्ञानभावाः———विज्ञानम्] लक्ष्यश्छन्दःपुरुषस्य, लक्षको महापुरुषस्य		मध्यमावस्थे
४–महापुरुषः [आत्मभावः————ईश्वरः] लक्ष्य एव विज्ञानानाम्	-उपसंहारः	

* * *

२०४–छन्दःपुरुष, और शरीरपुरुष का अविनाभाव, निराकार-विज्ञानात्मक-लक्ष्यों का साक्षात्-रूपेण लक्षक- छन्दपुरुष, शरीरपुरुष-विशिष्ट छन्दःपुरुष का अशरीर विज्ञानात्मक वेदपुरुष का लक्षकत्व, एवं निराकार तथा साकार भावों से अनुप्राणिता दृष्टि-बुद्धि-भाव-निबन्धना तात्त्विक-स्थिति का स्वरूप समन्वय-प्रयास—

छन्दःपुरुष बिना शरीरपुरुष के नहीं रह सकता। यद्यपि निराकार विज्ञान–लक्ष्यों का साक्षात् लक्षक छन्दः–पुरुष ही है। तथापि छन्दःपुरुष की लक्षकता क्योंकि शरीरपुरुष (लेखलक्षित पत्राद्युपनिबद्ध पुस्तक) पर ही अवलम्बित है, अतएव पत्राद्युपनिबद्ध विज्ञानग्रन्थों को, शरीरपुरुषविशिष्ट छन्दःपुरुष को ही अशरीर विज्ञानों [विज्ञानरूप वेदपुरुष] का लक्षक कहेंगे। भारतीय भावप्रतिमानविधा पर आक्षेप करने वाले वेद–भक्तों से क्या यह प्रश्न नहीं किया जासकता कि, निराकार तत्त्वों के परिज्ञान के लिए पत्राद्युपनिबद्ध साकार विज्ञानग्रन्थों के अतिरिक्त क्या उनके समीप अन्य कोई साधन विद्यमान है ?। 'नहीं' के अतिरिक्त वे इस का कोई उत्तर नहीं देसकते। विवश होकर उन्हें निराकार विज्ञान के परिज्ञान के लिए इन भावप्रतिमानरूप साकारभावों को ही प्रथमोपास्य बनाना पड़ता है। और मानना पड़ता है कि, अनाकार–ज्ञानोपयिक साकार में समर्पिता जो दृष्टि है, वह बुद्धिभाव का निराकार समर्पण के प्रति अवश्यमेव कारण बन जाती है।

२०५–अरणीसीयान्-सीमातीत अत्यनपिनद्ध-शून्यबिन्दु का ज्ञानीय-जगत् में समावेश, अन्तःकरणचैतन्यावच्छिन्ना-तत्रैवावस्थिता-भावप्रतिमा को स्तोकबिन्दु के द्वारा ग्राह्य-भौतिक-स्वरूप प्रदान, एवं विभिन्न भावप्रतिमानों के माध्यम से उपासना-तत्त्व का स्वरूप-समन्वय, एवं भावप्रतिमानविधा के द्वारा अर्वाचीन-वेदभक्तों का समाधान-प्रयास—

अरणीसीयान्, सीमातीत, अत्यनपिनद्ध, शून्य–बिन्दु निराकार बनती हुई भी हमारे ज्ञानीय जगत् में आजाती है। हमारा प्रत्यय (बुद्धि-ज्ञान) उस असीम निराकार भी वस्तु की स्वरूपकल्पना कर डालता है। उस

अन्तःकरणचैतन्यावच्छिन्ना, तत्रैवास्थिता भावप्रतिमा को हम स्तोकविन्दु के द्वारा बाह्यभौतिक स्वरूप प्रदान कर उसके माध्यम से सामान्य अधिकारियों का ध्यान भी उस ओर अवश्य ही आकर्षित कर सकते हैं। स्तोकविन्दु हमारी भावमयी प्रतिमा है, हमारे प्रत्यय ने इसे उस शून्यविन्दु की प्रतिमा मान लिया है। तत्त्वतः यह उसकी प्रतिमा नहीं है। एवमेव लेखलक्षित, पत्राद्युपनिबद्ध विज्ञानग्रन्थ उस विज्ञानतत्त्व की वास्तविक प्रतिकृति नहीं है। केवल कल्पित भावप्रतिमान है। विना इस भावमयी प्रतिमा का आश्रय लिए उस निराकार विज्ञान के साथ बुद्धि का योग करा देना कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव है। हमनें कहा था, योगिराज विना भावप्रतिमान के भी योगदृष्ट्या वहां पहुँच सकते हैं। वस्तुतस्तु योगजदृष्टि में भी परावाग्रूप भावप्रतिमान अवश्य ही अपेक्षित रहता है। क्या इस वैदिक उदाहरण के आधार पर भावप्रतिमानविधा की प्रामाणिकता का समर्थन नहीं किया जासकता ?। किया जासकता है, और अवश्य ही किया जासकता है।

२०६–शून्यविन्दु से सम्बद्ध स्तोकविन्दुरूप उदाहरण की सार्वजनिकता, तथा बोधानुगतता, 'अनन्ता वै वेदाः' श्रुति से अनुप्राणिता वेदों की 'अनन्तता' का रहस्यात्मक-पारिभाषिक-समन्वय, वेदपुस्तकों का संख्यानुगत सादि-सान्तत्त्व, एवं वेदतत्त्व का संख्यातीत-अनादि-अनन्तत्त्व, और वेदतत्त्व की अनन्तता का पारिभाषिक-समन्वय-प्रयास—

शून्यविन्दु से सम्बद्ध स्तोकविन्दुरूप उदाहरण सार्वजनीन, साथ ही सुबोध भी है। परन्तु विज्ञानात्मक वेदपुरुष, एवं छन्दःपुरुष से सम्बन्ध रखने वाला उक्त उदाहरण क्वाचित्क–मर्य्यादा के साथ साथ दुरधिगम्य भी बना हुआ। अतएव इसके सम्बन्ध में थोड़ा स्पष्टीकरण और अपेक्षित होजाता है। कुछ एक अतीत शताब्दियों से साधारणवर्ग की कौन कहे, स्वयं विद्वत् समाज में भी यह धारणा पुष्पित–पल्लवित होती आरही है कि, उपलब्ध वेदपुस्तकें हीं वेद है, यही अपौरुषेय है। 'वेदपुस्तक वेद नहीं है, नाहीं वेद का इन पुस्तकों से तत्त्वानुरूप कोई सम्बन्ध ही है,' इस कथन पर आज विश्वास कराना भी कठिन होरहा है। सर्वजगद्व्यापक ईश्वरप्रजापति के निःश्वासभूत खण्ड–खण्डात्मक अनन्तानन्त तत्त्वरूप विज्ञानभावों का ही नाम वेद है, जो तत्त्वमर्य्यादा से सर्वथा अतीन्द्रिय है। यदि पुस्तक का नाम वेद होता, तो–'अनन्ता वै वेदाः' यह न कहा जाता। वेदपुस्तकें ११३१ संख्या में परिगणित हैं। यदि प्रतिसंहितानुगत ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषत्–पुस्तकों की इतनी इतनी ही संख्याओं का समन्वय और कर दिया जाता है, तो सम्भूय वेदपुस्तकों की अन्तिम अवधि ४५२४ (चार हजार पान्सौ चौबीस) इस संख्यापर विश्राम कर लेती है। वेद को अनन्त बतलाना इन सान्त संख्यात्मक वेदपुस्तकों की दृष्टि से कथमपि समन्वित नहीं होसकता। विज्ञानात्मक तत्त्व प्राणानन्त्यभेद से वस्तुतः अनन्त हैं। अतएव तत्त्वात्मक वेद के सम्बन्ध में 'अनन्ता वै वेदाः' का सर्वात्मना समन्वय सम्भव है।

२०७-वेततत्त्व-जिज्ञासु महर्षि भरद्वाज की इन्द्रानुगता औपासनिकी-निष्ठा, इन्द्र के द्वारा ऋषि को दीर्घायुः-प्रदान, एवं वेदानन्तता की आधारभूता सावित्राग्नि-विद्या का स्वरूप-स्पष्टीकरण, तथा तन्निबन्धन रहस्यपूर्ण वेदवचनों का माङ्गलिक-संस्मरण—

वेदतत्त्व-जिज्ञासु महर्षि भरद्वाज ने वेदजन्य यज्ञ के अधिपति अभिमानी-लक्षण इन्द्र की उपासना आरम्भ की। उपासनया तुष्ट इन्द्र के 'वरं वृणीहि' आश्वासन पर भरद्वाजने तीन आयुर्भोगकाल की याञ्चा की। तथास्तु कह कर इन्द्र अन्तर्हित होगए। भरद्वाज वेदशास्त्राध्याय में निमग्न होगए। भरद्वाज की तृतीय आयु का भी उपसंहार काल आपहुँचा, परन्तु जिज्ञासा शान्त नहीं हुई। जीर्णकाय भरद्वाज के समीप अन्तिम दशा में पुनः इन्द्र पहुँचे। और कहने लगे भरद्वाज! यदि तुम्हें और आयुःप्रदान की जाय, तो तुम किस कार्य्य में उसका उसका उपयोग करोगे?। भरद्वाजने उत्तर दिया-वेदजिज्ञासा पूर्ण करूँगा। वेदतत्त्व के आनन्त्य की ओर ध्यान देते हुए इन्द्र ने भरद्वाज का ध्यान तीन पर्वतों की ओर आकर्षित किया, और कहा कि, भरद्वाज! ये तीनों पर्वत ऋग्-यजुः-साममय हैं। अपनी गत आयु के ३०० वर्षों में तुम इस वेद-राशि में से केवल मुट्ठीभर वेद ले पाए हो। अतः स्वाध्याय के द्वारा तुम वेदतत्त्व के आनन्त्य का पार पा-जाओगे, यह असम्भव है। यदि तुम वेद का तात्त्विक स्वरूप जानना चाहते हो, 'सावित्राग्निविद्या' पर अपना अधिकार करो। यही 'सर्ववेदविद्या' है। यह कह कर इन्द्र ने अनुग्रह कर सावित्राग्नि का रहस्य बतला दिया। इस रहस्य के आधार पर भरद्वाज वेदतत्त्वपरिज्ञान में सफल होगए। अन्त में वेदघन सावित्राग्निमय आदित्य के साथ सायुज्यभाव को प्राप्त होगए। निम्न लिखित श्रुति इसी आख्यान का स्मरण करा रही है—

"भरद्वाजो ह त्रिभिरायुभिर्ब्रह्मचर्य्यमुवास। तं ह जीर्णिं स्थविरं शयानं-इन्द्रोण-व्रज्य-उवाच, 'भरद्वाज! यत्ते चतुर्थमायुर्दद्यां, किमेमेन कुर्य्या' इति। 'ब्रह्मचर्य्य-मेवैनेन चरेय' मिति होवाच। तं ह त्रीन् गिरिरूपानविज्ञातानिव दर्शयाञ्चकार। तेषां हैकैकमस्मान् मुष्टिमाददे। स होवाच-भरद्वाजेत्यामन्त्र्य-वेदा वा एते। अनन्ता वै वेदाः। एतद्वा एतैस्त्रिभिरायुर्भिरन्ववोचथाः। अथ त इतरदननूक्तमेव। एहि, इमं विद्धि। अयं वै सर्वविद्येति। तस्मैहेतमग्निं सावित्रमुवाच। तं स विदित्वा, अमृतो भूत्वा, स्वर्गलोकमियाय, आदित्यस्य सायुज्यम्"—

—तै० ब्रा० ३ काण्ड। १० प्रपाठक। ११ अनुवाक। ३,४,५ कण्डिका *।

* सावित्राग्निमय अनन्तवेद के अविज्ञेय इतिवृत्त का वैज्ञानिक विवेचन उ० भू० ६ तृतीय खण्ड में देखना चाहिए।

२०८–गायत्रीमात्रिकवेदावच्छिन्न सौरप्राणाग्नि का सावित्राग्निमयत्त्व, सूर्य्यानुगता महदुक्थ-महाव्रत-पुरुष-निबन्धना ऋक्-यजुः-सामात्मिका-त्रयीविद्या का स्वरूप-संस्मरण, एवं छन्दःपुरुष के द्वारा इत्थंभूत वेदपुरुष का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

गायत्रीमात्रिक-वेदावच्छिन्न सौर प्राणाग्नि ही वह सावित्राग्नि है, जिसके सूर्य्याग्निपिण्डरूप महदुक्थ, सौररश्मिमण्डलरूप महाव्रत, पिण्ड–मण्डलान्तर्गत प्राणरूप पुरुष, ये तीन विवर्त माने गए हैं। महदुक्थ-रूप पिण्ड ऋक्समुद्र है, महाव्रतरूप मण्डल सामसमुद्र है, पुरुषरूप प्राण यजुःसमुद्र है। इसप्रकार सौर सावित्राग्नि त्रयीवेदरूप से तपति, जिसका निम्नलिखित छन्दःपुरुष के द्वारा अभिनय हुआ है—

"यदेतन्मण्डलं तपति, तन्महदुक्थं, ता ऋचः, स ऋचां लोकः। अथ यदेतदर्चि-र्दीप्यते, तन्महाव्रतं, तानि सामानि, स साम्नां लोकः। अथ य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषः, सोऽग्निः, तानि यजूंषि, स यजुषां लोकः। सैषा त्रय्येव विद्या तपति। त्रयी वा एषा विद्या तपति"—शत० ब्रा० १०।५।२।१,२,)।

२०९–सावित्राग्निमय तत्त्वात्मक वेद का स्वरूप-समन्वय, अपौरुषेय-वेदतत्त्व का स्वरूप-स्पष्टीकरण, अशरीरात्मक-नित्य-विज्ञान का वेदत्त्व-संस्थापन, ग्रन्थात्मक छन्दः-पुरुष का समन्वय, अनन्तविज्ञानराशिभूत वेदैकवेद्य महापुरुष, एवं-'महापुरुष' स्वरूपानुगता विभिन्ना परिभाषाओं का रहस्यात्मक स्पष्टीकरण, और प्रक्रान्ता पुरुषचतुष्टयी के संकल्पनात्मक तात्त्विक स्वरूप का समन्वय-प्रयास, और तत्सम्बन्ध में महर्षि-'याज्ञ' के रहस्यपूर्ण श्रौत-उद्गार—

उक्त निदर्शनों में जिसे अनन्तवेद कहा है, जिस सावित्राग्नि को वेदरूप कहा है, निश्चयेन वही तत्त्वात्मक वेद है, जिसकी वेदपुस्तकें केवल भावप्रतिमान ही मानीं जासकतीं हैं। विश्वास कीजिए! वेद पुस्तकें नहीं हैं, अपितु ये तो तत्त्वात्मक वेद के भावप्रतिमानमात्र हैं। अशरीर नित्य विज्ञान ही वेद है, वही अपौरुषेय है। वही वेदपुरुष है, जिससे विज्ञानघन महापुरुष लक्षित हुआ है। इस अशरीर विज्ञानरूप वेदपुरुष का लक्षक है–वाङ्मय प्रपञ्च, जिसे ग्रन्थ कहते हैं, वही छन्दःपुरुष है। वेदग्रन्थ एक ही होगा, पुस्तकें सहस्रों होसकतीं हैं। पुस्तकें हमारी कहला सकतीं हैं, ग्रन्थ नहीं। ग्रन्थ है उन ऋषियों का, जिन्होंने आर्षदृष्टि से नित्यविज्ञान का परिशीलन कर तद्द्वारा तदनुरूप सहजभाषामय वाक्प्रपञ्च का–बुद्धिपूर्वक संकलन किया *। वही ग्रन्थ पौरुषेय-वेदशास्त्र कहलाया। पौरुषेय वेदशास्त्र का भाषान्तररूप से परिवर्त्तन सम्भव है। परन्तु शास्त्र के द्वारा

*–"बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे"।

—वैशेषिकदर्शने

लक्ष्यीभूत विज्ञानात्मक वेदपुरुष (तत्त्वात्मक अपौरुषेयवेद) शाश्वत है, अपरिवर्त्तनीय है। इसप्रकार वेद-तत्त्वात्मक अनन्त विज्ञानों की राशिरूप वेदैकवेद्य महापुरुष, तत्त्वविज्ञानात्मक वेदपुरुष, ग्रन्थात्मक छन्दः-पुरुष, पत्राद्युपनिबद्ध वेदपुस्तकरूप शरीरपुरुष, भेद से वाग्ब्रह्म के चार विवर्त्त होजाते हैं, जिनका महर्षि बाध्वने सम्वत्सरविद्या के द्वारा स्पष्टीकरण किया है। सौरसम्वत्सरप्रजापति ही मध्यस्थ बनता हुआ अक्षरप्रधान ओङ्कार है। अमृततावय्य, मर्त्यक्षर, दोनों का संग्राहक सम्वत्सर ही हिरण्यगर्भविद्यानुसार विश्वेश्वररूप महापुरुष है। आदित्य (सावित्राग्नि) ही इसका रस (प्रतिष्ठा) है। ऋग्-यजुः-सामात्मक तत्त्वात्मक वेद ही वेदपुरुष है। स्वायम्भुव प्राणात्मक ब्रह्मा ही इस वेदपुरुष का रस है। अक्षरसमाम्नाय ही छन्दःपुरुष हैं। अकार ही इसका रस है। देहाभिमानी भूतात्मा (भौतिक पिण्डावच्छिन्न-वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ-रूप भूतात्मा) ही शरीर-पुरुष है। छन्दःपुरुष के भेद से इस शरीरपुरुष का विभेद होजाता है। ससंज्ञजीवों का (शरीरपुरुषों का) रस प्राज्ञ है, अन्तःसंज्ञों का रस तैजस है, असंज्ञों का रस वैश्वानर है। एवमेव तीनों शरीरपुरुषों के छन्दः-पुरुषों में भी अन्तर हैं। इसी पुरुषचतुष्टयी का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् ऐतरेय कहते हैं—

"चत्वार-पुरुषाः-इति बाध्वः-शरीरपुरुषः, छन्दःपुरुषः, वेदपुरुषः, महापुरुषः, इति। (१)-'शरीरपुरुष' इति यमवोचाम-स एवायं दैहिक आत्मा, तस्य योऽयमशरीरः प्रज्ञात्मा-स रसः। (२)-'छन्दःपुरुष', इति यमवोचाम-अक्षरसमाम्नाय एव। तस्यैतस्य-अकारो रसः। (३)-'वेदपुरुष' इति यमवोचाम-येन वेदान् वेद-ऋग्वेदं, यजुर्वेदं, सामवेदम्। तस्यैतस्य ब्रह्मा रसः। 'महापुरुष' इति यमवोचाम-सम्वत्सर एव-प्रध्वंसयन्नन्यानि भूतानि, ऐक्या भावयन्नन्यानि। तस्यैतस्य-आदित्यो रसः*। एतामनुविधं संहितां संधीयमानां मन्ये, इति ह स्माऽऽह बाध्वः"।

—ऐ० आरण्यक ३।२।३।

२१०-उदाहरण के माध्यम से वस्तुस्थिति का स्वरूप-समन्वय, शरीरपुरुषरूप-भावप्रतिमान का कल्पनामात्रत्व, नित्य-विज्ञानात्मक-वेदपुरुष का स्वरूप-समन्वय, प्राणात्मिका शक्तियों का निराकारत्व, तत्सम्बन्ध में भूतात्मिका मूर्त्त प्रतिमाओं का अत्यन्ताभाव, एवं भावमयी-प्रतिमाओं की कल्पना से अनुप्राणित प्रथमोपास्य के स्वरूप-विश्लेपण का उपराम—

उदाहरण का समन्वय कीजिए। शरीरपुरुषरूप (पुस्तकरूप) भावप्रतिमान सर्वथा कल्पित है। इससे चक्षुरिन्द्रियातीत छन्दःपुरुषरूप (ग्रन्थरूप) परमोपास्य लक्ष्य बन जाता है। नित्यविज्ञानात्मक वेद-पुरुष (तत्त्वात्मक अपौरुषेय वेद) अशरीर, अनिन्द्रिय, निराकार है। शब्दरूप भावप्रतिमान के द्वारा इस पर लक्ष्य चला जाता है। महापुरुषरूप अव्ययेश्वर सर्वथा निराकार है। विज्ञानरूप भावप्रतिमान के द्वारा इस पर लक्ष्य चला जाता है। एवमेव ईश्वर और उसकी प्राणात्मिका शक्तियाँ भी निराकार हैं। अतएव

यद्यपि इनकी भूतात्मिका मूर्तप्रतिमा नहीं बन सकती। तथापि उपासना-लक्ष्य-सिद्धि के लिए ज्ञानीय प्रतिमा के आधार पर यत्किञ्चित् भौतिक द्रव्य को उस नीरूप की भावमयी प्रतिमा मान लिया जाता है। यही भाव-प्रतिमानरूप तृतीय प्रथमोपास्य का संक्षिप्त विश्लेषण है।

२११-निष्कामरूप प्रथमोपास्य का प्रासङ्गिक-संस्मरण आहार्य्यारोपविधानुगता प्रत्ययालम्बनता का सिंहावलोकनात्मक संस्मरण, निदानविधा से अनुप्राणित पुराणशास्त्र के असदाख्यानों की स्वरूप-प्रतिष्ठा का समन्वय, एवं श्रौत-स्मार्त्त-धर्म्मों से अनुगत महान्-उत्तरदायित्व के संवाहक-'निदान' के पारिभाषिक स्वरूप-समन्वय का प्रयास—

अब प्रस्तुत परिच्छेद में क्रमप्राप्त चौथे 'निदानरूप प्रथमोपास्य' की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है। प्रतीक, प्रतिरूप, भाव, विध प्रथमोपास्यों का क्षेत्र सीमित है। परन्तु निदानलक्षण प्रथमोपास्य का क्षेत्र बहुविस्तृत है। न केवल भारतीय-शास्त्रों में हीं, अपितु विश्व की यच्चयावत् सभ्यताओं में इस निदानभाव का व्यवहारदृष्ट्या समन्वय हुआ है। व्यवहारमूलक कर्म्मकाण्ड (लौकिककर्म्म) का सञ्चालन अधिकांश में निदान पर ही अवलम्बित है। पूर्वप्रकरणान्तर्गत 'आहार्य्यारोपमूला प्रत्ययालम्बनता, और उपासना' नामक परिच्छेद में जिस आहार्य्यारोपविधा का स्पष्टीकरण किया गया है, जिस विधा की उपनिषत् 'अन्यत्रान्यत्रभावना' है, वही आहार्य्यारोपविधा निदान-विधा है। वहीं इस विधा के यज्ञकर्म्मानुगत कुछ एक उदाहरणों का भी दिग्दर्शन करा दिया गया है। अतएव प्रस्तुत निदानविधा के अवलोकन से पहिले विषयसङ्गति की दृष्टि से तत्परिच्छेद पर एकबार दृष्टि डाल लेनी लेनी चाहिए। इसी निदानविधा के आधार पर पुराणशास्त्र के तत्त्वप्रतिपादक 'असदाख्यान' प्रतिष्ठित हैं। रहस्य, गाथा, कुम्ब्या, निगद, आदि पारिभाषिक शास्त्रों की विलुप्ति के साथ साथ आज दुर्भाग्य से निदानशास्त्र भी विलुप्त है। इस शास्त्र के विस्मृत होजाने से ही परमोपयोगी पौराणिक असदाख्यान-प्रकरण, एवं तत्सम्बन्ध से सम्पूर्ण पुराणशास्त्र ही आज शिक्षित कहे जाने वाले नवीन समाज की दृष्टि में, तथा वेदभिमानी विद्वम्मन्यों की दृष्टि में अनुपादेय बन रहा है, अथवा तो बनता जारहा है। इसके अतिरिक्त अनुष्ठेय-श्रौत-स्मार्त्त-धर्म्मों का उत्तरदायित्व भी अधिकांश में इसी निदानविधा पर अवलम्बित है। अतएव 'फलमुखगौरवस्यादुष्टत्त्वम्' न्याय से इस विधा के सम्बन्ध में विशेष वक्तव्य अपेक्षित होजाता है।

२१२-आदिकारणतामूलक कोशानुगत निदान का वैदिकी निदानविधा से आत्यन्तिक पार्थक्य, 'संकेतविधा' के आधार पर प्रतिष्ठिता निदानविधा का स्वरूप-स्पष्टीकरण, एवं निदानविधा की उपयोगिता—

कोशग्रन्थों में आधिकारणतारूप जो अर्थ 'निदान' शब्द का हुआ है, 'निदानविधा' रूप निदान शब्द से उस अर्थ का कोई सम्बन्ध नहीं है। अपितु 'निदान' शब्द वैदिक साहित्य का अपना प्रातिस्विक पारिभाषिक शब्द है। जिस अभिप्राय से वैदिक साहित्य में निदान शब्द प्रयुक्त हुआ है, संस्कृत-साहित्य में

उस भाव से अनुगत निदान शब्द का अभावप्राय ही माना जाएगा*। किसी अतीन्द्रिय तत्त्व की ओर लक्ष्य आकर्षित करने के लिए किसी भी सेन्द्रिय भौतिक पदार्थ को उस अतीन्द्रिय तत्त्व का प्रतिनिधि मान लेना ही निदान है। इसी को हम 'संकेतविधा' भी कह सकते हैं। इसी के आधार पर अहि-फण, कमलादि संकेतों के अनुसार लोक में एक संकेतभाषा भी प्रचलित है ÷। 'अमुक भौतिक पदार्थ को अमुक तत्त्व का सूचक समझो' यही निदान है। ऐहलौकिक व्यवहारकाण्ड, पारलौकिक परमार्थकाण्ड, दोनों में हीं इस निदानभाव का उपयोग होता है।

२१३-लोकिक-विभिन्न-उदाहरणों के द्वारा 'निदान' के पारिभाषिक तथ्य का स्वरूप-विश्लेषण, एवं पारिभाषिक-लौकिक-निदानभावों के आधार पर व्यवहारजगत् का यथानुरूप-सञ्चालन—

पहिले लौकिक उदाहरणों का समन्वय कीजिए। शोक का निदान कृष्णवस्त्र है, आपत्ति का निदान रक्तवस्त्र है, शान्ति (निरुपद्रवता) का निदान हरितवस्त्र, एवं दूर्वा है, कीर्त्ति का निदान श्वेतवस्त्र है, कर्म्मसहयोगी का निदान दक्षिणभुजा है। सभी का यत्रतत्र उपयोग होरहा है। शोक से ज्ञान प्रकाश मन्द होजाता है, चिज्ज्योति का स्वाभाविक विकास शोकजनित सन्तापाग्नि से आवृत होजाता है। इधर कृष्णवस्त्र भी प्रकाश का पान कर जाता है। इसी समानता के आधार पर कृष्णवस्त्र को अतीन्द्रिय शोक का निदान मान लिया गया है। अतएव शोकावसरों पर कृष्णवस्त्र धारण करने की परीपाटी प्रचलित है। पाश्चात्य देश भी ऐसे अवसरों पर भुजबन्धस्थान में काली पट्टी लगाया करते हैं। आपत्ति में प्राणभय रहता है, रक्तपात की आशङ्का रहती है। अतएव रक्तवस्त्र को आपत्ति का निदान मान लिया गया है। ट्रेनों के गार्डों का लालझण्डी-प्रदर्शन भी इस का उदाहरण माना जासकता है। पर्य्याप्त वृष्टि होने पर वृक्षादि में हरियाली आजाती है, रूक्षता जाती रहती है, सर्वत्र शान्ति का साम्राज्य होजाता है। अतएव हरितवस्त्र, और दूर्वा को शान्ति का निदान मान लिया गया है। गार्डों की हरी झण्डी इसी निरुपद्रवता की सूचिका है। भारतीय माङ्गलिक पुत्रजन्मादि अवसरों पर हरी बँधाई भी इसी आधार पर है। प्रतिष्ठित मनुष्य में कीर्त्तिभाव रश्मिवत् चारों ओर व्याप्त होजाता है। कीर्त्ति से मनुष्य प्रकाशित होजाता है। प्रकाश का रूप शुक्ल है। इसी सादृश्य से श्वेतवस्त्र को कीर्त्ति का निदान माना लिया गया है। जिसप्रकार हमारे शारीरिक कर्म्म में हमारा दहिना हाथ प्रधान रहता है, एवमेव कर्म्मसहयोगी भी हमारे व्यापारादि कर्म्म में प्रधान सहायक बना रहता है। इसी आधार पर कर्म्मसहयोगी का नैदानिकरूप दक्षिणहस्त मान लिया गया है। इसप्रकार लोकव्यवहारों में इस निदानभाव के आधार पर अनेक व्यावहारिक कर्म्म सञ्चालित हैं।

---

* 'निदानं त्वादिकारणम्'-अमरकोशे

÷—अहि-फण-कमल-चक्र-टङ्कार, तरु-पल्लव-यौवन-भृङ्गार।
अक्षर-चुटकी-अंगुली मात, राम करे लक्ष्मण से बात॥

२१४-आगमशास्त्र से अनुप्राणित निदानभावों के रहस्यपूर्ण कतिपय शास्त्रीय-उदाहरणों का संकलनात्मक पारिभाषिक समन्वय, एवं निदानभावों से अनुप्राणिता पारिभाषिकी तत्त्वसम्मता अनुरूपता का दिग्दर्शन—

अब कुछ एक आगम-शास्त्रीय उदाहरणों की भी मीमांसा कर लीजिए। 'अभयमुद्रा' शान्ति-लक्षण, परोरजाप्राणात्मक, प्रतिष्ठारूप, प्राजापत्य प्राण का निदान है। 'टङ्क' आग्नेय ताप का, 'शूल' वायव्यप्राण का, 'वज्र' ऐन्द्रताप' का, 'रज्जुपाश' वारुणहेतिका, 'खड्ग' चान्द्रहेति का, 'अङ्कुश' दिश्यहेति का 'घन्टा' ध्वन्यात्मक शब्द का, 'नाग' सञ्चरनाड़ियों का, 'अग्निज्वाला' ज्योतिर्भाव का निदान है। इन दसों नैदानिक आयुधों का पञ्चवक्त्र साम्बसदाशिव की नैदानिकप्रतिमा के साथ समन्वय है, जिस का विशद वैज्ञानिक विवेचन 'उपासनालक्षण-निर्वचनप्रकरणान्तर्गत' 'नवमलक्षण-निर्वचन' नामक परिच्छेद में किया जाचुका है। एवमेव पृथिवी का निदान कमल है, मोहनशक्ति का निदान 'सुरा' है, लक्ष्मी का निदान गज है, विजय का निदान ध्वजा है, संहारशक्ति का निदान छिन्नमस्तक है। एवं इन सम्पूर्ण निदानभावों का आधार निदान से लक्षीभूत तत्त्वों के स्वरूप की अनुरूपता ही है।

२१५-अब्गर्भित रुद्रवायु के द्वारा आपः-फेन-मृत्-सिकता-शर्करा-अश्मा-अयः-हिरण्यम्-रूपेण-अष्टपर्वात्मक भूपिण्ड की स्वरूप-निष्पत्ति का वैज्ञानिक-समन्वय, 'आपो-वै पुष्करपर्णम्' मूलक-भूपिण्डात्मक कमल, कमल की रहस्यपूर्णा नैदानिकता का समन्वय, लक्ष्मी के आधारभूत कमल के नैदानिकभाव का स्पष्टीकरण, सुरा, और मोहशक्ति से समतुलित निदानसम्बन्ध, एवं आगमशास्त्र से अनुप्राणित विभिन्न द्रव्यों के अनुरूप-निदान-भावों का प्रासङ्गिक-स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

पानी में रुद्रवायु के प्रवेश से घनता उत्पन्न होजाती है। वायु के प्रवेश से उत्पन्न बुद्बुद् में वायु, और अप् दोनों का समावेश है। यदि नियत आपेक्षिक समय तक वायु को बहिर्निगम का मार्ग नहीं मिलता, तो बुद्बुदावच्छिन्न अप् वायु प्रतिमूर्च्छित होजाते हैं। यही मूर्च्छितरूप 'फेन है'। घन पानी 'आपः' नाम की प्रथमावस्था थी, फेन उत्तरावस्था है। आगे जाकर इसी व्यापार के तारतम्य से मृत्, सिकता, शर्करा, अश्मा, अयः, हिरण्यम्-इन उत्तरभावों के जन्म से अष्टावयव भूपिण्ड का स्वरूप निर्म्माण होजाता है। इन आठ पर्वों में से पहिला 'आपः' नामक पर्व ही भूपिण्ड का मौलिकरूप है। इसी आधार पर 'अद्भ्यः पृथिवी' (तै० उपनिषत्) यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। यह आपः नाम की प्रथम व्याहृति ही पृथ्वीपुर-निर्म्माण की मूलप्रतिष्ठा होने के कारण 'पूष्कर' नामक से प्रसिद्ध है। पूष्कर ही परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषा में 'पुष्कर' नाम से व्यवहृत हुआ है। पानी से ही इस पुष्कररूप 'आपः' व्याहृति का जन्म हुआ है। साथ ही 'आपः' यह प्रथमव्याहृति ही पुष्कर है, अतएव इस का 'आपो वै पुष्करपर्णम्' (शत० ६।४।२।२।) यह लक्षण किया जाता है। कमलपुष्प पानी में उत्पन्न होता है।

पानी ही इस की उसीप्रकार मूलप्रतिष्ठा है, जैसे भूपिण्ड की मूलप्रतिष्ठा पानी है *। इस अनुरूपता के आधार पर कमल को पृथिवी का निदान मान लिया गया है। भौतिक सम्पत्ति लक्ष्मी है। इस की प्रतिष्ठा भूपिण्ड है। इसी रहस्य को निदान के द्वारा व्यक्त करने लिए लक्ष्मी की नैदानिक प्रतिमा को कमल पर प्रतिष्ठित किया जाता है। कितनी एक देवप्रतिमाओं के हाथ में कमलपुष्प रहता है। इस निदानरहस्यवेत्ता यही सूचित करना चाहते हैं कि, इस देवता का पार्थिव विवर्त्त पर पूर्णाधिकार है। योगमायाजनित मोह से पुरुष की स्वाभाविकी विवेकशक्ति नष्ट होजाती है ÷। इधर सुरा का भी यही गुण है। अतएव सुरा को मोहशक्ति का निदान मान लिया गया है। भगवती की प्रतिमा के हाथ में सुरापात्र है। इस स्थिति से सत्सम्प्रदायाचार्य्य यह सूचित कर रहे हैं कि, इस महामायाने अपनी मोहनशक्ति से समस्त विश्व को उन्मत्त बना रक्खा है ×। लक्ष्मीविलास के आधार पर ही गज-अश्व-सेवक-आदि बाह्य परिग्रहों का संग्रह होता है। इधर लक्ष्मीतत्त्व का वारुण समुद्र से सम्बन्ध है, गजप्राण की प्रतिष्ठा भी यही वारुण प्राण है। अतएव गज को लक्ष्मी का निदान मान लिया गया है। लोक में भी सम्पत्तिशाली के सम्बन्ध में-'अमुक के द्वार पर हाथी झूमते हैं, किंवदन्ती प्रचलित है। विजेता राजा ही अपने राष्ट्र में ध्वजा फहराने में समर्थ होता है। अतएव ध्वजा को विजय का निदान मान लिया गया है। रुद्राणी भगवती संहार की अधिष्ठात्री है। अतएव छिन्नमस्तक को संहारशक्ति का निदान मान लिया गया है। जगन्माता के हाथ में प्रतिष्ठित नरमुण्ड भी जगन्माता की संहारशक्ति की ओर ही संकेत कर रहा है।

२१६-निगमशास्त्रानुप्राणित निदानभावात्मक उदाहरणों का संस्मरण, सुप्रसिद्ध 'स्तम्बयजुर्हरण' नामक याज्ञिक-कर्म्म से अनुप्राणित 'स्तम्बयजु' के साथ सुप्रसिद्ध-'अररु' नामक आसुरप्राण के निदानभावात्मक सम्बन्ध का समतुलन, एवं तत्र वाजिश्रुति का संस्मरण—

क्रमप्राप्त निगमशास्त्रोक्त निदानभावों के कुछ एक उदाहरणों का भी समन्वय कर लीजिए। वेदि के निर्म्माण से पहिले एक 'स्तम्बयजुर्हरण' नामक कर्म्म विहित है। शतपथहिन्दीविज्ञानभाष्य में इस कर्म्म की वैज्ञानिक उपपत्ति का विश्लेषण हुआ है, जिस का निष्कर्ष यही है कि, पारमेष्ठ्य असुरप्राण का नैदानिक

---

* 'इन्द्रो वृत्रं हत्वा नास्तृपीति मन्यमानोऽपः प्राविशत्। ता अब्रवीत्-बिभेमि वै, पुरं मे कुरुतेति। स योऽपां रस आसीत्, तमूर्ध्वं समुदौहन्। तामस्मै पुरमकुर्वन्, तस्मात् पूष्करम्। पूष्करं ह वै तत्-'पुष्कर' मित्याचक्षते परोक्षम्॥'

—शत० ७।४।१।१३।

÷ ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति॥
(रहस्य)

×-पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्।

रूप स्तम्बयजुः है । कुशमुष्टि 'स्तम्ब' है । इस की उत्पत्ति वेन नामक पारमेष्ठ्य अप्तत्त्व से हुई है । आप्य प्राणविशेष का ही नाम 'अररु' है । इसे निकाल कर वेदिप्रदेश को विशुद्ध देवभावपन्न बनाने के लिए कल्पित वेदिप्रदेश पर स्तम्ब रख दिया जाता है । अनन्तर मन्त्र बोलता हुआ ऋत्विक् 'स्फ्य' नामक यज्ञायुध से इस पर प्रहार कर उसे उत्कर में फैंक देता है । ऐसा करता हुआ यह स्तम्बरूप नैदानिक असुर को ही यज्ञसीमा से बहिः प्रक्षिप्त करता है । वही स्तम्बयजुर्हरणकर्म्म कहलाया है । इस प्रहारकर्म्म का साधक मन्त्र 'स्तम्बयजुः' है । तत् सम्बन्ध में यह स्तम्ब भी स्तम्बयजु कहलाने लगा है । इसप्रकार स्पष्ट ही स्तम्बयजुः-स्वरूप कुशमुष्टि को असुर का निदान मानना निदानविद्या की प्रामाणिकता का समर्थक बन रहा है, जैसा कि, निम्नलिखित वचन से स्पष्ट है—

"सोऽग्निरुत्तरतः पर्य्यैत् । अथेमऽइत उपसमरुन्धन् ।
तान्त्संरुद्ध्य -एभिश्च लोकैरभिन्यदधुः, यदु चेमां-
"लोकानति चतुर्थं । ततः पुनर्न समजिहत । तदेतन्निदानेन—यत् स्तम्बयजुः" ।
—शत० १।२।१।१२।

२१७—अग्निसमिन्धनकर्म्म से अनुप्राणित पञ्चदशविध—सामिधेनी-मन्त्रों से अनुगता 'धाय्या' ऋचाओं से अनुगत निदानसम्बन्ध का रहस्यात्मक स्वरूप-समन्वय, एवं तदनुगत संख्या-समतुलनात्मक निदानभाव के माध्यम से गायत्रसम्पत्ति के समावेश का रहस्यात्मक स्पष्टीकरण, और तत्सम्बन्ध में भगवान् याज्ञवल्क्य के उद्गार—

सुप्रसिद्ध अग्निसमिन्धनकर्म्म में ११ सामिधेनी ऋचाओं का सम्बन्ध माना है । इन ग्यारह ऋङ्मन्त्रों में से 'प्र वो वाजा अभिद्यवः' इत्यादि प्रथममन्त्र का, एवं 'आजु होता दुवस्यत०' इत्यादि ११ वें मन्त्र का त्रिस्त्रिवार अनुवचन विहित है । फलतः ११, के स्थान में १५ मन्त्र होजाते हैं । सप्तदश-सामिधेनी-पक्ष में 'पृथुपाजा अमर्त्यो०'-'तं सबाधो यतस्रुच' इत्यादि 'धाय्या' नामक दो ऋचाओं का सम्बन्ध और किया जाता है । इन दोनों मन्त्रों का प्रकृत ११ मन्त्रों में कहाँ सन्निवेश करना चाहिए !, प्रश्न के उत्तर में एक पक्ष का यह मत उद्धृत हुआ कि, 'वृषणं त्वा वयं०' इस सातवीं ऋचा, एवं 'अग्निं दूतं वृणीमहे०' इस आठवीं ऋचा के मध्य में दोनों का सन्निवेश करना चाहिए । भगवान् याज्ञवल्क्य इस पक्ष का खण्डन करते हुए कहते हैं कि, ऐसा करने से 'अग्निं दूतं वृणीमहे०' इत्यादि मन्त्र आठवाँ न रहकर १० वाँ होजायगा, फलस्वरूप निदानभावानुगता अपेक्षित गायत्रसम्पत् की प्राप्ति नहीं होसकेगी। अतः 'अग्निं दूतं०' इत्यादि का तो आठवाँ ही स्थान रखना चाहिए । एवं इन आगन्तुक धाय्या नामक दोनों ऋचाओं का इस से आगे ही सन्निवेश करना चाहिए । गायत्रीछन्द से छन्दित पार्थिव गायत्राग्नि अष्टावयव है । 'अग्निं दूतं०' इत्यादि मन्त्र क्योंकि आठवीं संख्या से सम्बन्ध रखता है । अतएव संख्यात्मक निदानभाव के द्वारा इसे गायत्रसम्पत्ति का अनुरूप मान लिया गया है । इसप्रकार संख्या के द्वारा निदान भाव का समावेश होरहा है, जो निम्न लिखित वचन से प्रमाणित है—

"तां वा अष्टमीमनुब्रूयात् । गायत्री वा एषा निदानेन ।
अष्टाक्षरा वै गायत्री । तस्मादष्टमीमनुब्रूयात् ॥
—शत० १।४।३।८६

२१८ यूपात्मक यजमान की नैदानिकता, उपांशुसवनात्मक आदित्य की नैदानिकता, आग्नीध्र की अग्निरूपा नैदानिकता, तानूनप्त्रकर्म्म की नैदानिकता, सोमक्रयणी की वागरूपा नैदानिकता, इत्यादिरूपेण वैदिक निदानभावों का उमाहरणविधि से रहस्यात्मक-समन्वय-प्रयास—

एवमेव 'यजमानो वाऽएष निदानेन, यद्यूपः' (शत० ३।७।१।११) इत्यादि रूप से काष्ठयूप को यज्ञकर्त्ता यजमान का निदान माना गया है। 'स य एष उपांशुसवनः, स विवस्वानादित्यो निदानेन' (शत० ४।१।१।७) इत्यादि रूप से उपांशुसवनरूप ग्रह को विवस्वानादित्य का निदान माना गया है। 'अग्निर्वाऽएष निदानेन, यदाग्नीध्रः' (शत० ४।८।२।१८) इत्यादिरूप से आग्नीध्र नामक ऋत्विक् को अग्नि का निदान माना गया है। 'तदेतत् तानूनप्त्रं निदानेन' (शत० ३।४।२।८) इत्यादि रूप से आतिथ्येष्टि को देवप्राणसमष्टिरूप तानूनप्त्रकर्म्म का निदान माना गया है। एवमेव—'वाग्वै सोमक्रयणी निदानेन (शत० ३।२।४।१०)-'सैषा निदानेन यदिडा' (शत० १।८।१।११)—'अत्राग्निर्गायत्री, स निदानेन' (शत० १।८।२।१५)-एत द्वै चतुर्होतॄणां निदानम्। य एवं वेद निदानवान् भवति' (तै० ब्रा० २।२।११।६।) इत्यादिरूप से शतशः स्थलों में निदान शब्द के संकेतभावात्मक, आहार्य्यारोपात्मक अर्थ का ही संग्रह हुआ है। स्वयं मूलसंहिता में भी इसी अर्थ में निदान शब्द प्रयुक्त हुआ है, जैसाकि-"उद्गुस्त्रियाणामसृजन्निदानम्" [ऋक्सं० ६।३२।२]—'तासां निचिक्युः कवयो निदानम्' (ऋक्सं० १०।११४।२)—'कासीत् प्रमा, प्रतिमा, किं निदानम्' [ऋक्सं० १०।१३०।३] इत्यादि वचनों से प्रमाणित है।

२१९—संकेतविधा से अनुप्राणिता निदानविधा का आहार्य्यारोपविधा-रूप समन्वय, कर्म्मकाण्ड-उपासनाकाण्ड-तथा पौराणिक-असदाख्यान-विभागों से अनुगत नैदानिकभावों का समन्वय-प्रयास, पुराणशास्त्र के अष्टविध आख्यानों का नाम-संस्मरण, अत्यन्त रहस्यपूर्ण-'असदाख्यानों' का पारिभाषिक स्वरूप-समन्वय, 'एतद्ध सौपर्णमाख्यानमाख्यानविदं-आचक्षते' इत्यादि वचनानुगता पुराणशास्त्र की अनादिता, निगमागमरूप वैदिक-आख्यानवचनों के आधार पर सुव्यवस्थित वैदिक-तत्त्ववाद, एवं 'पुराणसंहिता' नाम से प्रसिद्धा पुराणपुरुष-भगवान् वेदव्यास की महती कृति का पावन-संस्मरण—

तत्त्ववाद परिशीलन करने वाले विद्वानोंने बतलाया है कि, अहोरात्रवत् परस्पर असमानधर्म्मा दो पदार्थों का जिस संकेतविधा से सम्बन्ध मान लिया जाता है, वही विधा 'निधानविधा' कहलाई है, जिसे

वर्त्तमान भाषा में आहार्य्यारोपविधा कहा जाता है। लोकव्यवहार के अतिरिक्त शास्त्रीय व्यवहारों में, विशेषतः यज्ञिय कर्म्मकाण्ड, एवं उपासनाकाण्ड में, तथा पौराणिक असदाख्यानप्रकरणों में निदानविधा का विशेष उपयोग हुआ है। पौराणिक आख्यान आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक, एवं आध्यात्मिकाधिभौतिक, आध्यात्मिकाधिदैविक, आधिभौतिकाधिदैविक, आध्यात्मिकाभौतिकाधिदैविक, असदाख्यान-भेद से आठ भागों में विभक्त माने गए हैं, जिनका 'पुराणरहस्या' दि स्वतन्त्र निबन्धों में विस्तार से प्रतिपादन हुआ है। इन आठों में से 'असदाख्यान' नामक आठवें आख्यान प्रकरण का स्वरूप प्रधानतः निदानविधा पर ही अवलम्बित है। पुराण वेदशास्त्र का ही उपबृंहितरूप है। वेदशास्त्र में जिस तत्त्ववाद का संक्षेप से *तत्त्वभाषा में निरूपण हुआ है, पुराण ने उसी तत्त्ववाद का विस्तार से कथा-भाषा में* विश्लेषण किया है। इसी आधार पर-'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्' यह सूक्ति प्रसिद्ध है। स्त्री, शूद्र, द्विजबन्धु-वर्ग आदि सामान्य समाज वेदतत्त्व समझने में असमर्थ हैं। इस तत्त्वज्ञान से सामान्य समाज सर्वथा ही वञ्चित न रह जाय, इसी उद्देश्य से भगवान् बादरायण ने आख्यान, उपाख्यान, गाथा, कल्पशुद्धि आदिरूप पुराणसंहिता का संकलन किया है*, जिसका मूलाधार-'एतद्ध सौपर्णमाख्यानमाख्यानविद आचक्षते' [ऐतरेयब्राह्मण] इत्यादि वैदिक आख्यान ही माने गए हैं। ये वैदिक आख्यान ही वेदशास्त्र की प्रतिष्ठा हैं। इन्हीं निगमासुगमरूप वैदिक आख्यानवचनों के आधार पर वैदिकतत्त्ववाद का विस्तार हुआ है। इसी दृष्टि से वैदिक आख्यानवचनों को हम तत्त्वप्रतिपादक उपलब्ध वेदशास्त्र से भी पुरातन कह सकते हैं। क्योंकि व्यास ने इन्हीं पुरातन वचनों के आधार पर उस पुराणसंहिता का शिलान्यास किया था, जो आज अनुपलब्ध है, अतएव पुराणशास्त्र [पुराणसंहितारूपा व्यासकृति] वेद से भी पुरातन माना गया है ÷।

२२०-इतिहास के आधार पर राष्ट्रीयप्रजा की सांस्कृतिक-जीवनपद्धति की स्वरूप-प्रतिष्ठा, अतीतेतिहास के माध्यम से राष्ट्रनिम्मार्ण का स्वरूप-समन्वय, राष्ट्र की मौलिक-सम्पत्ति का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं नितान्त उपयोगी राष्ट्रीय इतिहास की सुप्रतिष्ठा से अनुप्राणित ज्योतिष्चक्र, तथा भुवनकोश-नामक-द्विविध महान् आधारस्तम्भों का अनुगमन—

अतीत इतिहास ही राष्ट्रीयप्रजा के भविष्य का निर्म्माण करता है। अतएव यह सिद्ध विषय है कि, विजेता राष्ट्र विजित राष्ट्रों के मौलिक उस पुरातन इतिहास पर ही सर्वप्रथम आक्रमण करते हैं, जो पुरातन इतिहास विजितराष्ट्र के आत्माभिमानोदय का कारण बन जाया करता है। इतिहास ही राष्ट्रनिम्मार्ण की प्रधान

*-आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिः कल्पशुद्धिभिः।
पुराणसंहितां चक्रे भगवान् बादरायणः॥

÷-पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।
अनन्तरञ्च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः॥

सामग्री है। क्योंकि उसी में उस की संस्कृति, सभ्यता, आदर्श, सब कुछ निहित रहता है। किसी भी राष्ट्र को निर्बल बना कर उस पर अनन्यसत्ता प्रतिष्ठित करने का एकमात्र साधन है–उस राष्ट्र की स्मृति में से उस के पुरातन इतिहास को बहिः निकाल फैंकना, जिसका वर्त्तमान भारतराष्ट्र एक प्रमुख उदाहरण माना जासकता है। जबतक राष्ट्र के प्रज्ञाकोश में अपना इतिहास सुरक्षित रहता है, तबतक वह किसी भी अन्य राष्ट्र से सर्वात्मना पददलित नहीं किया जासकता। अतएव आवश्यक है कि, राष्ट्र अपनी इस मौलिक सम्पत्ति को आततायियों की दृष्टि से सदा बचाता रहे। राष्ट्रवादी ऋषियों के सामने यह समस्या उपस्थित हुई। उन्होंने यह अनुभव किया कि, पुस्तकों में लिखा इतिहास चिरस्थायी नहीं रह सकता। प्रथम तो कालपुरुष उसे कालान्तर में जीर्ण–शीर्ण कर देता है, अथवा तो भूतलिप्साकामुक आततायी उसे नष्ट कर देते हैं। इस भौतिकी–आक्रमणबाधा से इतिहास को बचाने के लिए किसी ऐसे साधन को इतिहास का आधार बनाया जाना चाहिए, जिसे मानवीय बल नष्ट न कर सके। इसी लक्ष्य से दूरदर्शी महर्षियोंने ज्योतिश्चक्र, और भुवनकोश, इन दो स्थानों को इतिहास का आधार बनाया। एवं इस कार्य्य में पूर्वोक्ता निदानविद्या को मुख्य स्थान प्रदान किया।

२२१–परमोपयोगी, उपयोगी, एवं सामान्य-भेद से ऐतिह्य-वृत्तों का त्रिधा वर्गीकरण, तथा उपयोगिता के भेद से त्रिविध इतिवृत्तों का प्रकृति के त्रिविध संस्थानों के साथ समतुलनात्मक-समन्वय, और इतिहास-भावों के संरक्षण के महान् राजपथ का रहस्यात्मक-आश्चर्य्यप्रद-स्वरूप-स्पष्टीकरण —

परमोपयोगी, उपयोगी, सामान्य, भेद से ऐतिह्यवृत्तों का तीन प्रकार से वर्गीकरण किया गया। एवं इस उपादेयता के तारतम्य से नक्षत्रसंस्था, पर्वत, नदनदियाँ, ये तीन आधार माने गए। परमोपयोगी इतिहासों का सम्बन्ध ज्योतिश्चक्रात्मिका नक्षत्रसंस्था से किया गया, उपयोगी इतिहासो का सम्बन्ध पर्वतों के साथ, एवं सामान्य इतिहासों का सम्बन्ध नदनदियों के साथ जोड़ा गया। इतर भौतिक द्रव्यापेक्षया नदनदियाँ अधिक समय ठहरती हैं, इनकी अपेक्षा पर्वत, सर्वापेक्षया [प्रलयपर्य्यन्त] नक्षत्रसंस्था। इन्हीं तीनों प्राकृतिक पत्रों पर प्रज्ञानात्मिका लेखिनी से ऋषियों के द्वारा तत्त्वपूर्ण भारतीय इतिहास अङ्कित किया गया, जो पुस्तकों की भाँति न तो जलायाही जासकता, न नष्ट ही किया जासकता। इसे परम्परया राष्ट्रप्रजा के स्मृतिपटल पर अङ्कित करने के लिए 'कथा-वाचन' क्रम को प्रधानता दी गई। रोचक अलङ्कारपूर्ण पुराणकथाएँ घर-घर में व्यवस्थित कर दीं गई। और इसप्रकार जो फल महामहा विश्वविद्यालयों के शिक्षण से भी दुर्लभ था, वह इस चक्रपरम्परा से भारतीय सन्तति की शिरा–स्नायु–धमनियों में थोड़े से प्रयास से चलते फिरते ही प्रवाहित कर दिया गया।

२२२–नक्षत्रानुबन्धिनी परमोपयोगिनी निदानविद्या से अनुप्राणित-'प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायत्' इत्यादि श्रुतिमूलक रहस्यपूर्ण उदाहरण का पारिभाषिक-स्वरूप-समन्वय-प्रयास, एवं तत्सम्बन्ध में महर्षि महीदास ऐतरेय —

नाक्षत्रिकी निदानविद्या के उदाहरणों पर दृष्टि डालिए। यदि वेदप्रामाण्य का ही पक्षपात है, तो पहिले वैदिक उदाहरण ही लीजिए। पशुपति नाम से प्रसिद्ध 'लुब्धक' नक्षत्र, रोहिणी, मृगशीर्ष, त्रिकाण्ड,

अभिजित्, आदि नक्षत्रों के आधार पर सुप्रसिद्ध प्राजापत्य-आख्यान का निदानविद्या के आधार पर निर्माण हुआ है, जिसका वैज्ञानिक रहस्य निबन्धान्तर में द्रष्टव्य है। 'प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्याय-यत्-दिवं वा, उपसं वेत्यन्ये' [शत० ब्राह्मणे] इत्यादि रूप से शतपथ में इस कल्पित नाक्षत्रिक आख्यान का प्रतिपादन हुआ है, जिस का तैत्तिरीयने निम्नलिखित शब्दों में स्पष्टीकरण किया है—

"प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायत्। तामृश्यो भूत्वा रोहितं भूतामभ्यैत्। तं देवा अपश्यन्-अकृतं वै प्रजापतिः करोति। ते तमैच्छन्-य एनमारिष्यति, एतमन्योऽन्य-स्मिन्नाविन्दन्। तेषां या एव घोरतमास्तन्व आसन्, ता एकधा समभरन्। ताः सम्भृताः-एष देवोऽभवत्। तदस्यैतद्-भूतवन्नाम। * * *। तदस्यैतत् पशुमन्नाम। तमभ्यध्या-यत्य-अविध्यत्। स विद्ध ऊर्ध्व उदप्रपतत्। तमेतं मृग इत्याचक्षते। य उ एव मृग-व्याधः, स उ एव सः। या रोहित्, सा रोहिणी। या उ एवेषुस्त्रिकाण्डा, सा उ एवेषुस्त्रिकाण्डा।" *

—ऐ० ब्रा० १३।१०

२२३-अग्नि-मरुत्-वैश्वानर-आदित्य-भृगु-वरुण-अङ्गिरा-बृहस्पति-कृष्णपशु-रक्तमृत्तिका-गौर-गवय-उष्ट्र-गर्दभ-अरुणपशु-आदि आदि प्राणविध, तथा प्राणीविध-सृष्टितत्त्व-प्रतिपादक नैदानिक-भावों का रहस्यात्मक संस्मरण, एवं-'त्यजति न मृगव्याध-रभसः' का दिग्दर्शन—

अग्नि, मरुत्, वैश्वानर, आदित्य, भृगु, वरुण, अङ्गिरा, बृहस्पति, कृष्णपशु, रक्तमृत्तिका, गौर, गवय, उष्ट्र, गर्दभ, अरुणपशु, इत्यादि प्राणविध, एवं प्राणीविध सृष्टितत्त्वप्रतिपादक उक्त आख्यान का नैदानिकरहस्य वास्तव में अद्भुत है। तत्तन्नक्षत्रनिदानेन भूतभावन पशुपति भगवान् की भूतसृष्टि का ही उक्त असदाख्यान के द्वारा निरूपण हुआ है। 'त्यजति न मृगव्याधरभसः' [महिम्नस्तोत्रे] रूप से भक्त-राज पुष्पदन्तने भी इसी स्थिति का स्पष्टीकरण किया है।

२२४-नाक्षत्रिक-ध्रुवाख्यान से अनुप्राणित सुप्रसिद्ध 'असदाख्यान' का नैदानिक-स्वरूप-समन्वय, अगस्त्य ऋषि से अनुगत समुद्रपानात्मक आख्यान का संस्म-रण, एवं त्रिशङ्कु-विश्वामित्रानुगत आख्यान से अनुप्राणिता दृष्टि—

एवमेव नाक्षत्रिक ध्रुवाख्यान भी सुप्रसिद्ध है। आज न ध्रुव है, न उत्तानपाद है, न सुरुचि है, न सुनीति है। परन्तु आकाशस्थ जिन ध्रुव-उत्तानपादादि नक्षत्रों पर निदान के द्वारा ऐतिहासिक चरित्र

---

*-शतपथभाष्यादि में इन आख्यानों का विशद वैज्ञानिक विवेचन किया जाचुका है। यहां विस्तार आवश्यकता से अधिक होरहा है। अतः केवल वचनमात्र ही उद्धृत कर देना पर्याप्त समझा गया है।

डाला गया गया है, वह आज भी सुरक्षित है। अगस्त्यनक्षत्र के द्वारा पीत समुद्र—कथानक के निदान बने हुए अगस्त्य ऋषि आज भी हमें अगस्त्यप्राण का तात्त्विक रहस्य बतला रहे हैं। पूर्वकपालावच्छिन्न मित्र, पश्चिमकपालावच्छिन्न वरुण, मध्यरेखात्मिका उर्वशी, इन के समन्वय से उत्पन्न दक्षिणस्थ अगस्त्यप्राण, उत्तराकाशस्थ वसिष्ठप्राण, मध्यस्थ मत्स्यप्राण आज भी मातृपितृभक्त स्वनामधन्य श्रवण के पावन चरित्र का स्मारक बना हुआ है। न आज विश्वामित्र हैं, न त्रिशङ्कु है। तथापि इन के चरित्र का हम उस समय प्रत्यक्षरूप से अनुभव करने लगते हैं, जब कि दक्षिणाकाशस्थ नैदानिक त्रिशङ्कु आदि पर हमारी दृष्टि जाती है।

२२५–महर्षि-विश्वामित्र की कन्या कौशिकी से अनुगत इतिवृत्त, पौराणिक-असदाख्यानों की काल्पनिकता, तदनुगता महती उपयोगिता, एवं रहस्यपूर्ण तत्त्ववादों के समन्वय में मध्यस्थभूत नैदानिक-भावों की अनिवार्य्या आवश्यकता का स्पष्टीकरण, तथा शास्त्रीय-परिभाषा के माध्यम से 'निदान' के स्वरूप-लक्षण का समन्वय—

प्रसिद्ध है, कि एकबार विश्वमित्र ने स्वपुत्री कौशिकी को किसी अपराध पर शाप दे डाला कि, तू जलरूप में परिणत होजा। अवश्य ही अवमान से से अवमानित व्यक्ति पानी पानी होजाता है। इस सामान्य इतिहास का नैदानिकरूप एक नदी मान ली गई। आज भी वह नदी हमें उस इतिहास का स्मरण करा रही है। अलमतिपल्लवितेन। इसीप्रकार पौराणिक यच्चयावत् असदाख्यान इसी त्रिविधा निदानविद्या पर अवलम्बित हैं। हम जानते हैं, पुराण का यह असदाख्यान—प्रकरण सर्वथा कल्पित है, आरोपित है। तथापि इस के द्वारा जिन तत्त्वों का, जिन इतिवृत्तों का हमें बोध होरहा है, उस उपयोगी दृष्टिकोण की ओर से भी गजनिमीलिका नहीं की जासकती। ऋषि स्वयं इस का काल्पनिकत्व स्वीकार कर रहे हैं। तभी तो इन्हें 'असदाख्यान' कहा जाता है। ये मिथ्याज्ञानकथाएँ हैं। मिथ्याज्ञान ही वर्त्तमान भाषानुसार 'माइथालॉजी'..............है। एतावता विगड़ क्या• गया। कौन वैज्ञानिक यह प्रतिज्ञा कर सकता है कि, बिना इस निदानभाव को मध्यस्थ बनाए वह अपने शिक्षणकर्म्म में सफलता प्राप्त कर सकता है। फिर भारतीय निदानविद्या का ही यह असामयिक उपहास क्यों ? । प्रश्न का उत्तरदायित्व उन्हीं विज्ञानधुरीणों पर—जो भारतीय निदानविद्या का उपहास करते हुए स्वयं पदे पदे उसी विद्या का आश्रय ले रहे हैं—छोड़ते हैं, शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार निदान का निम्नलिखित लक्षण किया जासकता है—

"साधर्म्यविशेषाभावेऽपि यादृच्छिकस्य कस्यचिदर्थस्याहार्य्यारोपविधया सङ्केतमुत्पाद्य स्मारकत्वप्रकल्पनत्वं निदानत्वम्"।

२२६- सत्त्व-कीर्त्ति-मोक्ष-यश, आदि भावों के रहस्यपूर्ण काल्पनिक-नैदानिक-स्वरूपों का समन्वय-प्रयास, भारपरिमाणानुबन्धी विविध नैदानिक-भाव, भातिसिद्ध विभिन्न-भावों की नैदानिकता, लोकव्यवहारानुगता संकेतविधा से अनुप्राणित नैदानिक-स्वरूप का समन्वय, एवं प्रतीक-प्रतिरूप-भावप्रतिमान-लक्षण-प्रथमो-पास्यवत् 'निदान' की प्रथमोपास्यता का दिग्दर्शन—

सत्त्व, कीर्त्ति, मोक्ष, यश, आदि का निदान शुक्लवर्ण, रज, रक्तपान, अनुराग, क्रोध, आदि का निदान रक्तवर्ण, तम, शोक, अपकीर्त्ति, आदि का निदान कृष्णवर्ण, राज्य का निदान छत्र-चामर, शासन का निदान दण्ड, इसप्रकार सङ्केतों के द्वारा अनेकधा इन निदानभाव का समन्वय किया जासकता है। इतने रुपय्यों का एक पौण्ड, इतनी छटांक का एक सेर, इतने सेर का एक मन, इत्यादि लौकिक व्यवहार इसी निदानविधा पर अवलम्बित हैं। पौण्ड, सेर, मन, सब कल्पित सङ्केत हैं। अतएव इन में यादृच्छिक परिवर्त्तन होता रहता है। कहीं ४० सेर का मन है, तो कहीं ३० सेर का, तो कहीं ५० सेर का। रुपय्ये का अशर्फी से कोई सम्बन्ध नहीं है। फिर भी 'इतने रुपय्यों की एक अशर्फी' यह व्यवहार प्रचलित है। भातिसिद्ध ऐसे ऐसे यच्चयावत् व्यवहार इसी निदानात्मक संकेत पर अवलम्बित हैं। अङ्गुली के इधर उधर घुमाने से गमनागमन का कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु अङ्गुली-रचना-विशेषरूप संकेतों से सङ्केतित स्थानों की ओर गमनागमन का बोध होजाता है। जिसप्रकार लोकव्यवहारों में अन्य वस्तु में अन्य का सङ्केत कर तद्द्वारा अन्य की ओर भावनाबुद्धि आकर्षित कर ली जाती है, तथैव उपासना-काण्ड में भी सकेतविधा से कल्पित प्रतिमादि के द्वारा अन्य प्रतिमेय अतीन्द्रिय उपास्य की ओर उपासक की भावनाबुद्धि अवश्यमेव आकर्षित होजाती है। इसप्रकार प्रतीक, प्रतिरूप, भावप्रतिमान—लक्षण प्रथमोपास्यों की भाँति निदान भी प्रथमोपास्य बन जाता है।

२२७–भावमयी प्रतिमा से अनुगता कल्पना, एवं निदानानुगता कल्पना, अन्यत्रान्यत्र-भावनात्मक निदान की रूपरेखा, अन्यानपेक्ष भावप्रतिमानरूप प्रथमोपास्य, तथा अन्यापेक्ष निदानप्रतिमानरूप प्रथमोपास्य की विभिन्नता का समन्वय, एवं तद-नुगत निरपेक्ष-सापेक्ष-भावों का पारिभाषिक-समन्वय-प्रयास—

भावमयी प्रतिमा में भी कल्पना है, एवं निदान में भी कल्पना ही है। दोनों के साथ ही 'अन्य-त्रान्यभावना' लक्षण का समसम्बन्ध है। एवं इस दृष्टि से दोनों ही प्रकार समान से प्रतीत होरहे हैं। परन्तु वस्तुतः दोनों के स्वरूप में पर्याप्त विभिन्नता है। भावप्रतिमानरूप प्रथमोपास्य जहां अन्यानपेक्ष है, वहाँ निदानप्रतिमानरूप प्रथमोपास्य अन्यसापेक्ष है। भावोपासना—प्रकार में गृहीत मध्यस्थ प्रथमोपास्य अपने भाव की प्रतिकृति (नकल) है। अन्तर्जगत् में आध्यात्मिक ज्ञान के द्वारा कल्पित उपास्याकार भावमयी प्रतिमा है, इसे ही उपासक यादृच्छिक भौतिक पदार्थ के साथ सम्बद्ध कर देता है। पिण्डविन्दु (स्तोकबिन्दु) को हमने भावप्रतिमानरूप प्रथमोपास्य का उदाहरण बतलाया है। यह बिन्दु हमने बनाई है। जैसा स्वरूप हमारे भाव में आया, उसे हमने ही आधाररूप प्रदान किया है। अपूर्व शिल्प की

सफल नहीं हुई है। अन्य की भावना मानते हुए भी इस सम्बन्ध में यह कहा जासकता है कि, अन्य में अन्य की भावना नहीं है। अपितु भावनाबुद्धि से कल्पित बाह्य यादृच्छिक भौतिक पदार्थयुक्त स्व-भावमयी प्रतिमा में ही उपास्य की भावना है। अतएव कहा जासकता है कि, भावप्रतिमान अन्यनिरपेक्ष है।

२२८–निदानप्रतिमानानुगत ईश्वरीय अपूर्वशिल्प की सापेक्षता, कमल-श्वेत-रक्त-कृष्ण आदि वर्णों की प्राकृतिक-शिल्परूपता, प्रकृतिसिद्ध शिल्पों में पृथिव्यादि का आरोप, स्तोकबिन्दु के निदान से अनुगत शून्यबिन्दु का नैदानिक समन्वय, एवं सामान्य-अधिकारी-वर्ग से अनुगता उपासना की स्वरूप-संसिद्धि से अनुगत निदानात्मक काल्पनिक प्रकारों की सर्वोत्तमा साधनरूपता का समन्वय-प्रयास—

उधर निदानप्रतिमान में ईश्वरीय अपूर्व शिल्प के आश्रय की अपेक्षा रहती है। कमल, श्वेत-रक्त-कृष्णादिवर्ण प्राकृतिक शिल्प हैं। इन प्रकृतिसिद्ध शिल्पों में पृथिव्यादि का आरोप किया जाता है। दूसरा सब से बड़ा अन्तर, भावप्रतिमानविधा में भावप्रतिमान के प्रति अनुराग नहीं रहता, वह केवल दृष्टि का आलम्बन बनता है। स्तोकबिन्दु पर दृष्टि पड़ते ही शून्यबिन्दुरूप भाव पर बुद्धि चली जाती है। परन्तु निदान-प्रतिमानविधा में निदानप्रतिमान के प्रति भी अनुराग रहता है। उस पर दृष्टि स्थिर बनानी पड़ती है। यही दोनों विधाओं में महान् अन्तर है। निदानरूप माध्यमिक में आलम्बित मन निदान के द्वारा लक्षीभूत अतीन्द्रिय उपास्य की ओर शनैः शनैः आकर्षित होजाता है। सामान्य अधिकारियों के लिए उपासना-सिद्ध्यर्थ यही काल्पनिक प्रकार सर्वोत्तम साधन है।

२२९–भावनामात्रानुगत तारतम्य, तदनुगता चतुर्विधा विधाओं का स्वरूप-समन्वय, शालग्रामशिला के साथ ईश्वरीय विज्ञानभाव का समतुलन, प्रतीकोपासना की साधकता, 'तं यथा यथोपासते, तथैव भवति' इत्यादि छान्दोग्यश्रुतिमूलक रहस्य का स्पष्टीकरण, विधाचतष्टयी का प्रतीकोपासना में अन्तर्भाव, निदान-शब्दानुगत विविध-प्रश्नों का समन्वय-प्रयास, एवं निदानक्षेत्रभूत निगमागम-शास्त्र के प्रासङ्गिक-स्वरूप-समन्वय का उपक्रम—

केवल भावनामात्र का तारतम्य है। भावनामात्र के तारतम्य से एक ही प्रतिमान के साथ चारों विधाओं का समन्वय किया जासकता है। यदि मध्यस्थ-प्रथमोपास्यरूप शालग्राम-प्रतिमा के साथ विज्ञानभाव का सम्बन्ध है, 'सर्वंखल्विदं ब्रह्म' भावना-पूर्वक इस में आदित्यादिवत् प्रतीक-भावना है, तो यही प्रतीको-पासना का साधक है। यदि इस के उत्पत्तिसूत्र विश्व के आधार पर इस में प्रतिरूपभावना है, तो यही प्रतिरूपोपासना का साधन है। यदि इसे अपने भावात्मक भाव का प्रतिरूप माना जाता है, तो यही भाव-प्रतिमोपासना का साधक बन जाता है। यदि इस व्यापक उपास्य का नैदानिक रूप मानने की भावना है, तो

यही निदानोपासना का भी साधक बन सकता है । उपासनाकाण्ड का मर्मच–'तं यथा यथोपासते, तथैव भवति' सिद्धान्तानुसार केवल उपासक के भावजगत् के आधार पर ही प्रतिष्ठित है । वस्तुतस्तु तत्त्व-दृष्ट्या इन चारों हीं विधाओं का व्यासाभिमत 'प्रतीकोपासना' में अन्तर्भाव होजाता है, जैसाकि आगे के परिच्छेदों में स्पष्ट किया जाने वाला है। प्रक्रान्त निदानविद्या की ओर ही अभी पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है । 'निदान' का शब्दार्थ क्या है ?, निदान को किस दृष्टि से प्रथमोपास्य माना गया ?, इत्यादि कतिपय प्रश्नात्मक प्रश्नों के समाधान की चेष्टा की गई । अब निदानक्षेत्रभूत निगमागमशास्त्र-स्वरूप की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

२३०–विचारकक्षा के परपारगामी-विदितवेदितव्य-अधिगतयाथातथ्य-महामहिमशाली-महामहर्षियों के प्रज्ञानात्मक तप से अनुप्राणित 'शास्त्र' के सुप्रसिद्ध 'निगम' तथा 'आगम' नामक महिमा-विवर्त्तों का संस्मरण, एवं-'अथो वागेवेदं सर्वम्' 'वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता' इत्यादि श्रुतियों से अनुप्राणित-वाङ्मय शब्द-ब्रह्म की सर्वमूलप्रभवात्मिका सर्वव्यापकता का तात्त्विक-स्वरूप-दिग्दर्शन, तथा शब्दब्रह्म से अभिन्न परब्रह्म के सुप्रसिद्ध 'कालब्रह्म', और 'यज्ञब्रह्म' नामक द्विविध महिमा-विवर्त्तों का प्रासङ्गिक संस्मरण—

विचारकक्षा के परपारगामी, विदितवेदितव्य, अधिगतयाथातथ्य, महामहिमशाली, महामहर्षियोंनें वाङ्मय प्रपञ्च का निगम, आगम, भेद से शास्त्रों में संग्रह किया है । महापुरुषगर्भित वेदपुरुष के शरीररूप छन्दःपुरुष का ही नाम 'शब्दब्रह्म' है । प्रकृतिसिद्ध यह नित्यशब्दब्रह्म अपने पञ्चपर्वात्मक भौतिक विवर्त्त में हिरण्यगर्भविद्या की अपेक्षा से निगमवाक्, आगमवाक्, भेद से दो ही विवर्त्तभावों में परिणत होरहा है । अतएव ऋषियोनें अपनी बुद्धिपूर्वा वाक् का इन दो भागों में ही संकलन किया है । 'वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता' (तै० ब्रा० २।८।८।४)–'अथो वागेवेदं सर्वम्' (ऐ० आ० ३।१।६।) इत्यादि श्रौत-सिद्धान्तों के अनुसार ऋक्–सामरूप वयोनाधात्मक छन्दों से छन्दित वयोरूप यजुः के स्वरूप (आकाशरूप) नित्या ब्रह्ममयी वाक्तत्त्व से प्रादुर्भूत शब्दब्रह्म से कोई भी स्थान वञ्चित नहीं है । सर्वादिलक्षण आकाशभूत नादात्मक शब्द से, वायुभूत ध्वन्यात्मक शब्द से, तेजो (अग्नि) भूत अनुकृतिशब्द से, जलभूत प्रपातशब्द से, पृथिवीभूत संयोगज–विभागज, शब्दज शब्द से युक्त है । इसप्रकार 'न ह्यशब्दमिवास्ति' (उपनिषद्) औपनिषद सिद्धान्त सर्वात्मना चरितार्थ होरहा है । सर्वव्यापक यही शब्दब्रह्म तत्त्वात्मक परब्रह्म का वाचक माना गया है । तत्त्वात्मक परब्रह्म के भी दो ही विवर्त्त हैं, इसलिए भी शब्दात्मक शास्त्र के दो विवर्त्त हुए हैं । परब्रह्म के वे दोनों विवर्त्त काल, यज्ञ, नामों से प्रसिद्ध हैं, जिन का दो शब्दों में निरूपण कर देना अप्रासङ्गिक नहीं माना जायगा ।

३३१-आनन्दगर्भित-विज्ञानघन-मनोरूप प्राणात्मक- वाङ्मय-पञ्चकल- अव्ययपुरुषात्मक आलम्बन के आधार पर ब्रह्मगर्भित-विष्णुघन-इन्द्ररूप-अग्न्यात्मक-सोममय-पञ्चकल-अक्षरपुरुषात्मक निमित्त के द्वारा प्राणगर्भित-अन्नघन-वागूरूप-अन्नादात्मक-अन्नमय-पञ्चकल-क्षरपुरुषात्मक उपादान से वाङ्मय विश्व की प्रसूति, त्रिपुरुष-पुरुषात्मक 'षोडशीप्रजापति' नामक मायी-महेश्वर का संस्मरण, तथा अव्ययेश्वर की सर्वेश्वरता का प्रासङ्गिक-स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

सम्पूर्ण विश्व आनन्द-गर्भित-विज्ञानघन-मनोरूप-प्राणात्मक-वाङ्मय पञ्चकल अव्ययपुरुष से ही ब्रह्मगर्भित-विष्णुघन-इन्द्ररूप-अग्न्यात्मक-सोममय पञ्चकल अक्षरपुरुषात्मक निमित्त के द्वारा प्राणगर्भित-अन्नघन-वागूरूप-अन्नादात्मक-अन्नमय पञ्चकल क्षरपुरुषात्मक उपादान से ही उत्पन्न हुआ है। दूसरे शब्दों में अव्यय-अक्षर-क्षरात्मक, त्रिपुरुष-पुरुषरूप, षोडशीप्रजापति ही मायी महेश्वर हैं। है। एवं यही अव्ययदृष्ट्या विश्वालम्बन, अक्षरदृष्ट्या विश्वकर्त्ता, क्षरदृष्ट्या विश्वरूप में परिणत होरहा है। अव्यय ही क्षरात्मना सर्वजगत्प्रभव है, अव्यय ही अक्षरात्मना सर्वजगत्प्रतिष्ठा है, एवं अव्यय ही स्वात्मना सर्वजगत्परायण है *। निम्न लिखित वचन षोडशी प्रजापतिलक्षण अव्ययेश्वर की इसी सर्वेश्वरता का समर्थन कर रहे हैं—

१—गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयस्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥

२—मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय!।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

—गीता

३३२—सर्वजगत्-प्रभव-प्रतिष्ठा-परायण-मूर्त्ति, अव्ययाक्षरात्मक्षरत्वेन त्रिपुरुषपुरुषात्मक, सर्वेश्वरलक्षण, अव्ययपुरुष के महिमामय 'कालपुरुष'-'यज्ञपुरुष' नामक द्विविध पुरुषविवर्त्तों का रहस्यात्मक-पारिभाषिक-समन्वय, तदनुबन्धी-कालपुरुषानुगत-'आगमशास्त्र, एवं यज्ञपुरुषानुगत 'निगमशास्त्र' नामक द्विविध शास्त्रों का पारिभाषिक-स्वरूप-संस्मरण—

सर्वजगत्-प्रभवप्रतिष्ठापरायणमूर्त्ति, अव्ययाक्षरात्मक्षरत्वेन त्रिपुरुषपुरुषात्मक, सर्वेश्वरलक्षण इसी अव्ययेश्वर के कालपुरुष, यज्ञपुरुष, भेदेन दो विवर्त्त माने गए हैं। वही अपने मुक्तिसाक्षीरूप से कालपुरुष

---

*—गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रति देवतासु।
कर्म्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा, परेऽव्यये सर्व एकी भवन्ति॥

—मुण्डक ३।२ ७।

है, एवं वही अपने सृष्टिसाक्षीरूप से यज्ञपुरुष है । मुक्तिसाक्षीरूप ज्ञानप्रधान महेश्वर नाम से, एवं सृष्टि-साक्षीरूप कर्म्मप्रधान विष्णु नाम से प्रसिद्ध है । कालपुरुषात्मक महेश्वरतत्त्व का प्रतिपादक शास्त्र आगम-शास्त्र है, यज्ञपुरुषात्मक विष्णुतत्त्व का प्रतिपादक शास्त्र निगमशास्त्र है । इस दृष्टि से भी भारतीय शास्त्र के ये दोनों शास्त्रविवर्त्त विज्ञानानुमोदित बन रहे हैं । सृष्टिकर्म्म में सृष्टिसाक्षी यज्ञपुरुष (विष्णु) प्रधान है, मुक्तिसाक्षी कालपुरुष (महेश्वर) सहयोगी है । एवं मुक्तिकर्म्म में मुक्तिसाक्षी कालपुरुष प्रधान है, सृष्टिसाक्षी यज्ञपुरुष सहयोगी हैं । इसप्रकार उभयमूर्त्ति वह विश्वेश्वर अपने इन कालयज्ञरूपों से सर्वत्र व्याप्त होरहा है । इस उभयविध विश्वेश्वर-प्रजापति का स्वरूप-निरूपण करने वाला शब्दप्रपञ्च ही 'शास्त्र' कहलाया है । शास्त्र के सम्मुख क्योंकि निरूपणीय प्रजापति के काल, यज्ञ, रूप दो विवर्त्त हैं । अतएव विश्वेश्वर-प्रजापति के प्रतिपादक एक ही शास्त्र के कालशास्त्र, यज्ञशास्त्र, ये दो विवर्त्त किए गए । कालपुरुष-निरूपक शास्त्र कालशास्त्र है, यही आगमशास्त्र हैं । यज्ञपुरुष निरूपक शास्त्र यज्ञशास्त्र है । यही निगमशास्त्र है । इसप्रकार भारतीय शास्त्र आगम, निगम, भेद से द्विधा-विभक्त होरहा है ।

३३३-षड्विध कल्प, चतुर्दशविध सिद्धान्त, अष्टादशविधा संहिता, अष्टविध जामल, दशविध यामल, चतुःषष्टिविध तन्त्र, अष्टादशविध पुराण, अष्टादशविध उप-पुराण-समष्ट्यात्मक-छन्दःपुरुषात्मक-कालपुरुषानुगत आगमशास्त्र का पावन-संस्मरण, एवं संहिता-ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषद्-भेदेन ४५२४ संख्या में विभक्त-षडङ्गोपेत-यज्ञपुरुषानुगत निगमशास्त्र का समन्वय-प्रयास—

६-कल्प, १४-सिद्धान्त, १८-संहिता, ८-जामल, १०-यामल, ६४-तन्त्र, १८-पुराण, १८-उपपुराण, इन १५६ (एकसौ छप्पन) शरीरपुरुषात्मिका पुस्तकों से सम्बन्ध रखने वाला अक्षरसमाम्नायात्मक छन्दःपुरुष ही आगमशास्त्र (आगमग्रन्थ) है । इन में से यदि ३६ पुराणों को गौण मान लिया जाता है, तो आगमशास्त्र की मुख्य पुस्तकें १२० (एकसौ बीस) ही रह जातीं हैं । २१-ऋक्संहिता, १०१-यजुःसंहिता, ९-अथर्वसंहिता, १००० सामहिता, सम्भूय ११३१ (ग्यारहसौ इकतीस) मन्त्रवेद पुस्तकें, ११३१ ही ब्राह्मण-पुस्तकें, ११३१ ही आरण्यक पुस्तकें, ११३१ हीं उपनिषत्-पुस्तकें, सम्भूय ३३९३ (तीनहजार तीन सौ तिरानवें) ब्राह्मणवेद पुस्तकें, सम्भूय मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद की ४५२४ (चारहजार पान्सौ चौबीस) पुस्तकें-श्रौतसूत्र-गृह्यसूत्र-सामयाचारिकसूत्र (मन्वादिधर्म्म पुस्तकें, तदनुगत निबन्ध पुस्तकें)-की समष्टिरूप कल्प, शिक्षा, छन्द, निरुक्त, व्याकरण, ये सब वेदाङ्गपुस्तकें, सब की समष्टि से सम्बन्ध रखने वाला अक्षरसमाम्नायात्मक छन्दःपुरुष ही निगमशास्त्र (निगमग्रन्थ) है । इन में शिक्षादि षडङ्ग निगम नहीं हैं, अपितु निगमप्रवेशाधिकार-योग्यता प्रवर्त्तकत्वेन निगमाङ्ग हैं । निगम शब्द से प्रधानतया मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र का ही ग्रहण हुआ है, जिस की ४५२४ पुस्तकें हैं । षडङ्गों से मनःप्राणवाङ्मय भूतात्मा का-दोषमार्जन, हीनाङ्गपूर्त्ति, अतिशयाधानरूप संस्कार किया जाता है । तदनन्तर ही निगमाधिकार प्राप्त होता है ।

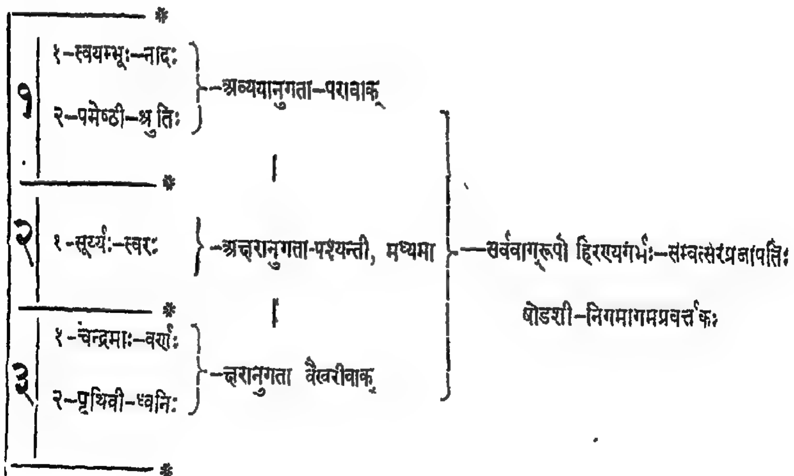
२३४–पितुरनुगत शुक्रदोष, मातुरनुगत शोणितदोष, प्रकृत्यनुगत ग्रहदोष, नाड़ीदोष, स्व-प्राक्तन-कर्म्मानुगत-काम-कर्म्म-अविद्या-दोष, देशदोष, कालदोष, आदि आदि विभिन्न दोषों से आक्रान्त सांस्कारिक भूतात्मा का असंस्कृतरूप से आविर्भाव, एवं तद्विशोधन के लिए अपेक्षित संस्कारों का संस्मरण, तथा मनः-प्राण-वाङ्मय-औपपातिक-भूतात्मा के दोषों के संस्कारक-शास्त्रविवर्त्त का रहस्यात्मक-संस्मरण—

पितुरनुगत शुक्रदोष, मातुरनुगत शोणितदोष, प्रकृत्यनुगत ग्रहदोष, नाड़ीदोष, स्वप्राक्तनकर्म्मानुगत काम–कर्म्म–अविद्यादोष, देशदोष, कालदोष, आदि आदि अनेक प्राकृतिक–आगन्तुक दोषों से मनःप्राणवाङ्–मय भूतात्मा असंस्कृतरूप से ही जन्म लेता है। इस असंस्कृत भूतात्मा को शुद्धसत्त्वानुगामी बनाने के लिए ही श्रौत–स्मार्त्त संस्कार विहित हैं, जिन का 'कर्म्मयोगपरीक्षा–ग' विभाग में सोपपत्तिक निरूपण किया जाचुका है। इन संस्कारों से सुसंस्कृत भूतात्मा स्वस्वरूप से विकसित होजाता है। अनन्तर अतिशयाधानरूप वेदाङ्गसंस्कारों का अनुगमन किया जाता है। यज्ञोपवीत संस्कारानन्तर इसी संस्कार से भूतात्मा में वेदवेदाङ्गातिशयग्रहण की योग्यता (अधिकार) उत्पन्न होती है। शिक्षा, निरुक्त, छन्द, व्याकरण, ये चारों अङ्गशास्त्र भूतात्मा के वाक्पर्व का संस्कार करते हुए इस में अतिशयाधान करते हैं। एवं ज्योतिषशास्त्र मनःपर्व को सुसंस्कृत बनाता हुआ इस में अतिशयाधान करता है। श्रौत–स्मार्त्तादि कल्पशास्त्र प्राणपर्व का संस्कारक बनता हुआ इस में अतिशयाधान करता है। इसप्रकार वेदाङ्गषट्क से आत्मा के मनः–प्राण–वाङ्मय तीनों पर्वों में जब अतिशय का आधान होजाता है, तो तदनन्तर ही मन्त्रब्राह्मणात्मक निगम-शास्त्र के रहस्यज्ञान की योग्यता का भूतात्मा में उदय होता है। एवं उभयविध भारतीय शास्त्र की यही संक्षिप्त परिगणना है।

२३५–शब्दब्रह्मानुगत-काल, यज्ञ, स्वरूपों के आधार पर अभिव्यक्त आगम-निगम-शास्त्रों का सिंहावलोकनात्मक समन्वय, उभयविध शब्दब्रह्म से अनुप्राणित 'नाद-श्रुति-स्वर-वर्ण-ध्वनि' नामक पञ्चविध महिमा-विवर्त्तों का संस्मरण, अमृत-अमृत्यमृत्यू-मृत्यु-रूप त्रिःसंस्थात्मक वाङ्मय विश्व का तात्त्विक स्वरूप-दिग्दर्शन, 'इन्द्रो ह वै षोडशी' का पारिभाषिक समन्वय, एवं आगम-निगम-शास्त्र के स्वरूप-विश्लेषण के सम्बन्ध में अपेक्षिता स्वरवाक्प्रधाना-सर्ववागरूपा-सम्वत्सरावच्छिन्ना-सौर-संस्था का दिग्दर्शन—

विषय-स्पष्टीकरण के लिए थोड़े विस्तारक्रम का अनुगमन कीजिए। कहा गया है कि, शब्दब्रह्म के दो विवर्त्तों के आधार पर, इससे अतिरिक्त प्रतिपाद्य प्रजापति के काल–यज्ञात्मक दो स्वरूपों के आधार पर शब्दशास्त्र आगम–निगम–भेद से दो भागों में विभक्त हुआ है। थोड़ी देर के लिए काल–यज्ञ–विवर्त्तों को छोड़ दीजिए, केवल उभयविध शब्दब्रह्म-विवर्त्त को ही लक्ष्य बनाइए। सर्वत्र समानरूप से व्याप्त शब्दब्रह्म के नाद, श्रुति, स्वर, वर्ण, ध्वनि, ये पाँच विवर्त्त माने गए हैं, एवं इन पाँचों वाग्विवर्त्तों का क्रमशः

आकाशात्मक स्वयम्भू, वाय्वात्मक परमेष्ठी, तेजोमय सूर्य्य, आपोमय चन्द्रमा, मृण्मय भूपिण्ड, इन पांच विश्वपर्वों से सम्बन्ध है, जैसाकि पूर्व के 'प्राणवोपासना' नामक परिच्छेद में विस्तार से बतलाया जाचुका है। वहीं यह भी स्पष्ट किया जाचुका है कि नाद, श्रुति का एक विभाग है, स्वर का एक विभाग है, वर्ण, ध्वनि का एक विभाग है। इसप्रकार पाँच के तीन ही विवर्त्त रह जाते हैं। नादश्रुतिवाक् परवाक् है, इसका अमृतप्रधान-अव्ययानुगत-स्वयम्भू-परमेष्ठी-युग्म से सम्बन्ध है। स्वरवाक् पश्यन्ती-मध्यमावाक् है, इसका अमृतमृत्यु-प्रधान-अक्षरानुगत-सूर्य्य से सम्बन्ध है। वर्ण-ध्वनिवाक् वैखरीवाक् है, इसका मृत्युप्रधान-क्षरानुगत-चन्द्रमा-पृथिवी-युग्म से सम्बन्ध है। मध्यस्था स्वरवाक् से परागनुवर्त्तिनी परावाक् (अव्ययवाक्), अर्वागनुवर्त्तिनी वैखरीवाक् (क्षरवाक्) दोनों संगृहीत हैं। अतएव इस मध्यस्था सौरी-स्वरवाक् को-जो-सौर इन्द्रप्राण सम्बन्ध से 'ऐन्द्रीवाक्' भी कहलाई है-हम सर्ववाग्रूपा वाक् कह सकते हैं। यही उभयानुगृहीता, अतएव सर्वरूपा स्वरवाक् प्रकृत के निगमागम-भावों की मूलप्रतिष्ठा बन रही है। षोडशीपुरुषलक्षण प्रजापति का यहां (इस मध्यस्थ सौर-अक्षरसंस्था में) पूर्ण विकास है। अतएव 'इन्द्रो ह वै षोडशी' (श्रुति)-'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' [श्रुति] इत्यादि रूप से सौर हिरण्यगर्भप्रजापति को भी षोडशी, आत्मा, आदि पुरुषानुगत विश्वेश्वरोपाधियों से युक्त मान लिया जाता है। यही वह सम्वत्सर-प्रजापति है, जिसका भगवान् ऐतरेयने महापुरुष, वेदपुरुष, छन्दःपुरुष, शरीरपुरुष, इन चार भागों से विश्लेषण किया है, जिसका कि पूर्व के 'भाग्रप्रतिमानप्रथमोपास्य' परिच्छेद में विस्तार से निरूपण किया जाचुका है। इसी आधार पर यह भी कहा जासकता है कि, षोडशीपुरुष से सम्बन्ध रखने वाले काल, यज्ञ, नामक पूर्वोक्त दोनों प्राजापत्य विवर्त्तों का भी इसी सम्वत्सराधिष्ठाता हिरण्यगर्भ-सौरप्रजापति के साथ समतुलन किया जासकता है। आगम-निगम-शास्त्र के तात्त्विक स्वरुप विश्लेषण के लिए हमें इसी स्वरवाक् प्रधाना, सर्ववाग्रूपा-सम्वत्सरावच्छिन्ना-सौरसंस्था को प्रधान लक्ष्य बनाना है।



२३६- ब्राह्म-प्राजापत्य-ऐन्द्र-पैत्र्य-गन्धर्व-यक्ष-राक्षस-पिशाच-भेदभिन्न अष्टविध सत्त्व-विशालसर्ग, कृमि-कीट-पक्षी-पशु-मनुष्य-भेदभिन्न पञ्चविध रजोविशालसर्ग, स्तम्बादिरूप तमोविशालसर्ग की समष्टिरूप-चतुर्दशविध-सुप्रसिद्ध भूतसर्ग की प्रतिष्ठारूप सम्वत्सर-प्रजापति का संस्मरण, 'यथाग्निगर्भा पृथिवी, तथा द्यौरिन्द्रेण-गर्भिणी' श्रुतिका पारिभाषिक समन्वय, द्यावापृथिव्यनुगत सुप्रसिद्ध त्रैलोक्य का तत्त्वात्मक-पारिभाषिक-दिग्दर्शन, अन्न, और अन्नाद के रहस्यात्मक सम्बन्ध का स्वरूप-विश्लेषण-प्रयास, एवं त्रिःस्थाने लोकद्वयी की प्रधानता का पारिभाषिक समन्वय—

ब्राह्म, प्राजापत्य, ऐन्द्र, पैत्र्य, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पिशाच, इन आठ श्रेणियों में विभक्त अष्टविध सत्त्वविशालसर्ग (जीव), कृमि–कीट–पक्षी–पशु–मनुष्य–इन पाँच भागों में विभक्त पञ्चविध रजोविशालसर्ग, स्तम्ब (ओषधि–वनस्पति) रूप तमोविशाल सर्ग, सम्भूय इस चतुर्दशविध भूतसर्ग की मूलप्रतिष्ठा सम्वत्सरप्रजापति ही माने गए हैं। यह सम्वत्सरप्रजापति 'द्यवाभूमिं जनयन्' एकदेव है। स्वयं सूर्य्यसंस्था द्युलोक है, और सम्वत्सरगर्भ में प्रतिष्ठिता, तत्प्रवर्ग्यभूता, अतएव तदभिन्ना पार्थिवसंस्था पृथिवीलोक है। द्युलोक सौर इन्द्रप्राणप्रधान है, पृथिवीलोक पार्थिव अन्नादाग्निप्रधान है। इसी आधार पर— 'यथाग्निगर्भा पृथिवी, तथाद्यौरिन्द्रेण गर्भिणी' (शत० १४।६।७।२०) यह निगमवचन प्रतिष्ठित है। यद्यपि सम्वत्सरमण्डल में द्यु–पृथिवी से अतिरिक्त तीसरा अन्तरिक्षलोक और है। इसी आधार पर लोक-त्रयी से अनुगता प्रजात्रयी प्रसिद्ध भी है। भूर्व्याहृत्यात्मक पृथिवीलोक में अग्नि का साम्राज्य है। यही भरताग्नि मानवप्रजा (अण्डज, पिण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज, भेदभिन्ना चतुर्विधा मनु-प्रजा) की मूलप्रतिष्ठा है। भुवः–व्याहृत्यात्मक अन्तरिक्षलोक में (वायुवत्) चन्द्रमा का साम्राज्य है। यही चान्द्रसोम पितरप्रजा की मूलप्रतिष्ठा है। स्वः–व्याहृत्यात्मक द्युलोक में सौरइन्द्र (मघवा) का साम्राज्य है। यही सौरइन्द्रप्राण देवप्राण की प्रतिष्ठा है। इसी आधार पर तीनों लोक क्रमशः मनुष्यलोक, पितृलोक, देवलोक, नामों से प्रसिद्ध भी हुए हैं *। तीनों ही लोक—'वागिति पृथिवी' (बृ० उ० ४।२२।११)–'वाग्ध-चन्द्रमा भूत्त्वोपरिष्टात्तस्थौ' (शत० ८।१।२।७)–'सा या सा वाक्, असौ स आदित्यः' (शत० १०।५।१।४) इत्यादि के अनुसार वाङ्मय शब्दब्रह्म से भी युक्त है। तथापि तीनों में प्रधानता द्यु-पृथिवी, इन दो लोकों की ही मानी गई है। इसी आधार पर त्रैलोक्यरूप सम्वत्सरमण्डल के लिए 'द्यावापृथिवी' शब्द ही प्रसिद्ध है ÷। द्युलोकस्थ सौर अग्नि सावित्र है, पार्थिव अग्नि गायत्र है। दोनों ही स्थानों में अग्नि भी है, इन्द्र भी है। अन्तर यही है कि, सूर्य्यसंस्था में इन्द्र प्रधान है, भूसंस्था में अग्नि प्रधान है। सावित्राग्निगर्भित इन्द्र द्युलोक का अधिष्ठाता है, वासवेन्द्रगर्भित गायत्राग्नि पृथिवीलोक का अधिष्ठता है। दूसरे शब्दों में–भूत–

---

*–"त्रयो वाव लोकाः–मनुष्यलोकः, पितृलोकः, देवलोकः," । [शत० १४।४।३।२४] ।

÷–'द्यावापृथिवी वै रोदसी'] शत० ६।४।२।२।] ।

गर्भित देव द्यु लोक का, एवं देवगर्भित भूत पृथिवी का अधिष्ठाता है। मध्यस्थ चान्द्रसोम दोनों अन्नादाग्नियों से परिगृहीत रहता हुआ इनका अन्न बन रहा है ×। अन्नाद से पृथक् रह कर ही अन्न स्वतन्त्ररूप से व्यवहार में आता है। जब अन्न अन्नाद से उभयतः परिगृहीत होजाता है, तो उस अवस्था में अन्नाद-गर्भित अन्न की स्वतन्त्र सत्ता का उच्छेद होजाता है, फलतः अन्नाद (अत्ता) ग्रहण से ही अन्न (आद्य) का ग्रहण होजाता है *। इसी आधार पर तीन के स्थान में दो लोकों का ही प्राधान्य मान लिया गया है।

२३७–द्यु, तथा पृथिवी का अग्निमयत्त्व, आग्नेयी–वाक्, और ऐन्द्री वाक् का स्वरूप-समन्वय, तथा स्वरवाङ्मयी बृहती ऐन्द्रीवाक्, वर्णवाङ्मयी आनुष्टुभी आग्नेयी वाक् का प्रासङ्गिक-स्वरूप-विश्लेषण—

द्यु लोक, पृथिवीलोक, दोनों हीं लोक अग्निमय हैं। 'तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्' (शत० १०।५।१।१) के अनुसार दोनों ही अग्नि 'वाक' हैं। सावित्राग्निमय सौरी वाक् में इन्द्रप्राण का प्राधान्य है, अतएव इसे 'ऐन्द्रीवाक्' कहा जाता है। गायत्राग्निमयी पार्थिवी वाक् में अग्निप्राण का प्राधान्य है, अतएव इसे 'आग्नेयी वाक्' कहा जाता है। ऐन्द्रीवाक् दिव्यवाक् है, यही स्वरवाक् है। यही 'बृहती'–'गौरिवीता' आदि नामों से व्यवहृत हुई है। आग्नेयीवाक् लौकिकी वाक् है, यही ध्वनिगर्भिता वर्णवाक् है। क–च–ट–त–पादिरूपा यही वर्णवाक् 'अनुष्टुप्' वाक् है, बृहतीवाङ्मय सौर इन्द्रप्राण से चर्चूर्य्यमाणा मानी गई है ÷।

२३८–स्वरवाक् की विकासभूमि स्वरात्मिका ऐन्द्रीवाक्, वर्णवाक् की विकासभूमि वर्णात्मिका आग्नेयीवाक्, अर्थब्रह्म की समानधारा से समतुलित शब्दब्रह्म का संस्मरण, एवं आगम, तथा निगम-शास्त्रद्वयी के प्रमुख-प्रवर्त्तक हिरण्यगर्भ प्रजापति का स्वरूप-दिग्दर्शन—

सौरी ऐन्द्रीवाक् से अ–आ–इ–ई–आदिरूपा स्वरवाक् का विकास हुआ है। पार्थिवी आग्नेयी वाक् से ककारादिरूपा वर्णवाक् का विकास हुआ है। 'स्वरोऽक्षरम्' = इत्यादि प्रातिशाख्य-सिद्धान्तानुसार स्वर

×–"द्यावा पृथिव्योर्वा एष गर्भः, यत् सोमो राजा" [ऐ० ब्रा० १।२६।]
"एष वै सोमो राजा देवानामन्नं, यच्चन्द्रमाः" [शत० १।६।४।५।]।

*–'द्वय वाऽइदं- अत्ता चैव, आद्यञ्च। तद्यदा–उभयं समागच्छति, अत्तैवाख्यायते–नाद्यम्। स वै यः सोऽत्ता, अग्निरेव सः"
—शत० १०।६।२।१।२।

÷–"बीभत्सूनां सयुजं हंसमाहुरपां दिव्यानां सख्ये चरन्तम्।
अनुष्टुभमनु चर्चूर्य्यमाणमिन्द्रं निचिक्युः कवयो मनीषा ॥
—ऋक् सं० १० १२४।९।

= "स्वरोऽक्षरम्। सहाद्यैर्व्यञ्जनैः। उत्तरैश्चावसितैः"
(शुक्लयजुःप्रातिशाख्य १।९९,१००,१०१,सू०)।

अक्षर है, अविनाशी है। अर्थसृष्टि में जैसे भौतिक क्षरकूट की प्रतिष्ठा अक्षर है ×, एवमेव अर्थब्रह्म की समानधारा से ❋ समतुलित तद्वाचक शब्दब्रह्म-विवर्त्त में भी क्षररूप वर्णों की प्रतिष्ठा अक्षररूप स्वर-तत्त्व ही बनता है। अर्थब्रह्मविवर्त्त से जैसे अक्षररूप सूर्य्यसत्ता का परित्याग कर क्षरात्मिका पृथिवी स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित नहीं रह सकती, एवमेव सूर्य्यवाङ्मय मूलक-तद्रूप-स्वरतत्त्व को आलम्बन बनाए बिना पृथिवी-मूला वर्णराशि भी स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित नहीं रह सकती। बिना स्वराधार के व्यञ्जन का उच्चारण सर्वथा असम्भव है। सम्वत्सरात्मक, अमृत-मृत्युमयी-सम्पत् से युक्त, विश्वमध्यस्थ, अक्षरप्रधान, द्यावापृथिव्य, अतएव स्वर-वर्णवाङ्मय यह हिरण्यगर्भप्रजापति ही आगम-निगम-द्वयी का प्रवर्त्तक बन रहा है। पहिले क्रमप्राप्त इस के निगमरूप का ही समन्वय कीजिए।

२३६-व्यक्त-विश्व की अभिव्यक्ति के प्रथम-प्रवर्त्तक-हिरण्यगर्भ-प्रजापति, तदनुगता रहस्यपूर्णा सोपानन्यायानुगता एक परम्परा का दिग्दर्शन, पुरञ्जनानुगता सृष्टि-क्रमधारा का स्वरूप-समन्वय, तत्त्वात्मक नित्य अग्निवेद, और सोमवेद का स्वरूप-स्पष्टीकरण, एवं पृथिव्यनुगत 'यज्ञमात्रिक' नाम भौतिक वेद, और शब्द-ब्रह्मलक्षण-तन्मात्रारूप-स्वायम्भुववेद के द्वारा सर्वजगत्-प्रकृति का परिलेख के माध्यम से स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

व्यक्त विश्व के व्यक्तीभाव के प्रथमरूप हिरण्यगर्भ ही माने गए हैं ÷। यह हिरण्यगर्भ-प्रजापति त्रयीमय है। इस सम्बन्ध में एक परम्परा को विशेषरूप से लक्ष्य में रखना चाहिए। सूर्य्य से ऊपर परमेष्ठी है, परमेष्ठी से ऊपर स्वयम्भू है, सूर्य्य से नीचे चन्द्रमा है, चन्द्रमा से नीचे (दृष्टिक्रमापेक्षया) पृथिवी है। इन पाँचों ही विश्वपुरों का निर्म्माण शब्दतन्मात्रा नामक जिस गुणभूत से हुआ है, वही वेदतत्त्व है। इसी को 'पुरञ्जन' कहा जाता है, जो वेद, लोक, देव, पशु, भूत, रूप से पाँच भागों में विभक्त होकर उन पुरों का जनक बनता है। स्वायम्भुव पुरञ्जन वेद है। यही ब्रह्मनिःश्वसित नामक अपौरुषेय सत्याग्निमय वेद है। इस सत्याग्नि-लक्षणा वेदत्रयी के प्राणमय मण्डल का ही नाम अव्यक्त स्वयम्भू है। स्वयम्भू-प्रजापति इसी वेदप्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित होकर-'एकोऽहं बहुस्याम्' यह कामना करते हैं। इसी कामना से इन के

×-"क्षरः सर्वाणि भूतानि, कूटस्थोऽक्षर उच्यते"

—गीता

❋-"द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे शब्दब्रह्म परं च यत्।
शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति॥

÷-हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

—ऋक्संहितायाम्

अपौरुषेय वेद के यजुर्भाग का जूरूप वाग्भाग द्रुत होकर लोकरूप में परिणत होता है। यही आपोरूप लोकपुरञ्जन आपोमय परमेष्ठी-पिण्ड का स्वरूप-समर्पक बनता है। यही आपोवेद है, जिसे ब्रह्माग्निरूप त्रयीवेद के स्वेदरूप होने से गोपथ ने 'सुवेद' नाम से व्यवहृत किया है (देखिए गी० पू० १।१।)। 'तत्सृष्ट्वा-तदेवानुप्राविशत्' न्याय से वह त्रयीमय प्रजापति स्व-यजुर्वाक् से आपोमय अथर्व को उत्पन्न कर इसके गर्भ में प्रविष्ट होजाता है। यही उस स्वायम्भुव त्रयीवेद का द्वितीयावतार है, जो 'गायत्रीमात्रिक' नाम से प्रसिद्ध है। इस गायत्रीमात्रिक-वेदत्रयी से प्रवर्ग्य के द्वारा भूपिण्ड की प्रतिष्ठारूप जिस भूताग्निलक्षण पार्थिव वेद का आविर्भाव होता है, वही पार्थिव वेद 'यज्ञमात्रिक' नाम से व्यहृत हुआ है। सूर्य्य, और पृथिवी, इन दोनों के मध्य में आपोमय अथर्व का प्रवर्ग्यरूप चन्द्रमा प्रतिष्ठित है। गायत्रीमात्रिक वेदतत्त्व ही देवात्मक पुरञ्जन है, जिस से सूर्य्यपुर का निर्म्माण हुआ है। अथर्वात्मक सोम ही पशुरूप पुरञ्जन है, जिस से चान्द्रपुर का स्वरूप सम्पन्न हुआ है। यज्ञमात्रिक वेद ही भूतरूप पुरञ्जन है, जिस से पार्थिवसंस्था की स्वरूप-निष्पत्ति हुई है। इसप्रकार शब्दब्रह्मलक्षण-तन्मात्रा-रूप स्वायम्भुववेद ही पुरञ्जन के द्वारा सम्पूर्ण विश्व का प्रभव बना है *, जिस के तीन विवर्त्त त्रयीवेदात्मक है, अग्निवेदात्मक है। एवं दो विवर्त्त अथर्ववेदात्मक है, सोमवेदात्मक है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है—

(१)-सत्याग्निः—वेदपुरञ्जनात्मकः	स्वयम्भूः	(अग्निः)-ब्रह्मनिःश्वसितः	}	[१]अमृतवेदः
(२)-ब्रह्मणस्पतिः-लोकपुरञ्जनात्मकः	परमेष्ठीः	(सोमः)-अथर्ववेदः	}	[१]अमृतवेदः
(३)-वेदाग्निः—देवपुरञ्जनात्मकः	सूर्य्यः	(अग्निः)-गायत्रीमात्रिकवेदः	}	[२]उभयवेदः सर्ववेदः
(४)-भास्वरसोमः-पशुपुरञ्जनात्मकश्चन्द्रः		(सोमः)-अथर्ववेदः	}	[३]मर्त्यवेदः
(५)-भूताग्निः—भूतपुरञ्जनात्मिका	पृथिवी	(अग्निः)-यज्ञमात्रिकवेदः	}	[३]मर्त्यवेदः

* * *

*-सर्वेषां तु स नामानि कर्म्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्म्ममे ॥
—मनुः

२४०–सत्ता-चेतना-आनन्द-मूर्त्ति-ब्रह्म के निःश्वासभूत तात्त्विक-अपौरुषेय वेद का कलात्मक-विकास, विद्यते-वेत्ति-विन्दति-रूप सत्ता चेतना-आनन्दात्मक रहस्यात्मक अपौरुषेय-अकृतक-नित्यवेद का संस्मरण, एवं-'सैषा त्रयीविद्या तपति'--'त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः' वचनमूला वेदविद्या का रहस्यात्मक समन्वय-प्रयास, और तदनुबन्धी 'निगम' शब्द का संस्मरण—

सत्ता, चेतना, आनन्द, मूर्त्ति, ब्रह्म के निःश्वासभूत तात्त्विक–वेद का उक्त तीनों विवर्त्तों में विकास हुआ है। आनन्दकला का विकास अमृतदेवसंस्था से, चेतना का विकास उभयवेदसंस्था से, एवं सत्ता का विकास मर्त्यवेदसंस्था से सम्बन्ध रखता है। 'विद्यते–इति वेदः'–यह सत्ताभाव का, 'वेत्ति–इति वेदः' यह चिद्भाव का, एवं 'विन्दति–इति वेदः' यह उपलब्धिरूप रसात्मक शान्तानन्दभाव का सग्राहक बना हुआ है। पार्थिवप्रजा के सच्चिदानन्दलक्षण आत्मब्रह्म का विकास मध्यस्थ सूर्य्य पर अवलम्बित है। सूर्य्य ही स्वर्ज्योति से अस्तित्व का बोधक है, यही अपने प्रज्ञात्मक धिषणाभाग से ज्ञान का उद्बोधक है, एवं यही आत्मानन्द की प्रतिष्ठा है। इसप्रकार सूर्य्यवेद से तीनों का संग्रह होरहा है। अतएव निगमागम-मीमांसा में हम इस गायत्रीमात्रिक सौर वेद को ही प्रधान मान रहे हैं। सूर्य्यबिम्ब ऋग्वेद है, सौर अर्च्चिर्म्मण्डल सामवेद है, मूर्त्ति–मण्डल से परिच्छिन्न गतिधर्म्मा सौर सावित्राग्नि यजुः है। इसी आधार पर 'सैषा त्रयी विद्या तपति' (शत० १०।५।२।२)–'त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः'–इत्यादि श्रौत-स्मार्त्त-सिद्धान्त प्रतिष्ठित हैं। उक्त लक्षण वेदतत्त्व सर्वथा नित्य है, स्वयं प्रादुर्भूत है, ब्रह्म के मुख से स्वयं विनिर्गत है। अतएव 'स्वयं निर्गतः' निर्वचन से परोक्षप्रिय विद्वानोंनें इसे 'निगम' नाम से व्यवहृत किया है। यही विश्वविद्या का निगमविद्यात्मक पहिला पर्व है।

२४१–आगमविद्या का प्रासङ्गिक-संस्मरण, सूर्य्य के विभिन्न उपग्रह, सूर्य्य के चारों ओर परिभ्रममाण उपग्रह, सूर्य्यवाग्रूपा निगमविद्या से आगता पार्थिवी-वाग्रूपा 'आगतभावापन्ना' आगमविद्या का संस्मरण, एवं निगम-आगम-शास्त्रानुबन्धी प्रासङ्गिक-प्रश्न का समाधान-प्रयास—

दूसरी है–आगमविद्या। शनि, मङ्गल, देवसेना, बृहस्पति, शुक्र, बुध, पृथिवी, आदि गोलक सूर्य्य के उपग्रह माने गए हैं। परिभ्रममाण सूर्य्य के ही प्रवर्ग्यरूप सूर्य्य से पृथक् होकर सूर्य्य के चारों ओर परिक्रमा लगा रहे हैं। इन में पृथिवी ही हमारा प्रधान लक्ष्य है। पार्थिवी वाक् ही पार्थिवीविद्या है। पार्थिव शब्दब्रह्म है। यह सूर्य्यवाक् का ही (निगमवाक् का ही) अंश है। अतएव पृथिवीविद्या 'निगमात्-आगता' निर्वचन से 'आगमविद्या' कहलाई है। सूर्य्यविद्यावत् यह स्वयं निर्गत नहीं है, अपितु निर्गतरूप निगम से आगत है, अतएव इस ब्रह्मविवर्त्त को 'अनुगम' कहना सर्वथा अन्वर्थ बनता है। इसप्रकार प्राकृतिक ब्रह्म के मध्यविवर्त्तभूत सौरब्रह्माण्ड के द्यौः, पृथिवी–रूप दो विवर्त्त होजाते हैं। एवं ये ही दोनों क्रमशः निगमपुरुष, आगमपुरुष, कहलाए हैं। निगमपुरुष ही यज्ञपुरुष है, आगमपुरुष ही कालपुरुष है। इन्हीं

दोनों पुरुषों का निरूपण करने वाली शास्त्रद्वयी क्रमशः निगमशास्त्र, आगमशास्त्र, नाम से प्रसिद्ध हुई है। भारतीय शास्त्र के दो विभाग क्यों माने गए ?, प्रश्न की यह संक्षिप्त-उपपत्ति है।

२४२-उदात्त-अनुदात्त-स्वरितादि-छन्दोमर्य्यादाओं से पिनद्धा मन्त्रात्मिका-सौरी-निगमवाक् की मर्य्यादा का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय, एवं वर्णात्मिका-पार्थिवी-आगमरूपा वाक् से अनुगत-'जप' मात्रानुगत रहस्य का समन्वय, और हृदयमूला हिरण्यगर्भविद्या के आधार पर विश्वस्वरूप-विश्लेषणात्मिका निगमविद्या, तथा पादमूला शक्तिविद्यात्मिका पार्थिवी-विद्या के आधार विश्वविज्ञान-समन्वयाधिष्ठात्री आगमविद्या—

बतलाया गया है कि, सौरीवाक् स्वरवाक् है, यही निगमशास्त्र की मूलप्रतिष्ठा है। अतएव निगममन्त्रानुगत सूर्य्यकाण्ड में मन्त्रप्रयोक्ता को उदात्त-अनुदात्त-स्वरितादि स्वरप्रयोगों में पूर्ण अवधान रखना पड़ता है। स्वर के सामान्य से दोष से कर्म्म न केवल निरर्थक ही बन जाता, अपितु अभ्युदय के स्थान में अनिष्ट का ही जनक बन जाता है ÷। पार्थिवीवाक् वर्णवाक् है, यही आगमशास्त्र की मूलप्रतिष्ठा है। अतएव केवल शब्दावृत्ति (जप) मात्र से सिद्धि होजाती है। निगमात्मिका सूर्य्यविद्या में सौर ब्रह्माण्ड का ही निरूपण हो, किंवा आगमात्मिका पृथिवीविद्या में पार्थिव विवर्त्त का ही विश्लेषण हो, यह तात्पर्य्य नहीं है। अपितु दोनों में विश्वविद्या का विश्लेषण हुआ है। लक्ष्यभेदमात्र है। निगमशास्त्र जहां हृन्मूला हिरण्यगर्भविद्या को आधार बनाकर सूर्य्य के द्वारा स्थितिमूलक सम्पूर्ण-विश्वविज्ञान का विश्लेषण करता है, वहां आगमशास्त्र पादमूला शक्तिविद्या को आधार बनाकर पृथिवी के द्वारा विश्वविज्ञान का विश्लेषण कर रहा है।

२४३-सूर्य्यमूलक-निगमशास्त्रात्मक-पितृशास्त्र, पृथिवीमूलक-आगमशास्त्रात्मक-मातृ-शास्त्र, रसात्मक शुक्राधिष्ठाता निगमात्मक सौर-शिवपुरुष, शुक्राधिष्ठात्री-आगमात्मिका पार्थिवी-शक्ति, एवं शक्तिरूप आगमशास्त्र के द्वारा शिवरूप निगमशास्त्र की प्रतिष्ठानुगति का रहस्यात्मक-समन्वय—

सूर्य्यमूलक निगमशास्त्र को हम पितृःशास्त्र कह सकते हैं, एवं पृथिवी-मूलक-आगमशास्त्र को मातृःशास्त्र कहा जासकता है। कारण यही है कि, सूर्य्योपलक्षित द्युलोक निगम-परिभाषानुसार पिता है, एवं अग्न्युपलक्षित पृथिवीलोक माता है *। पिता सूर्य्य का रस शुक्र बन बनता है, इस की माता पृथिवी में

÷—दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

*—द्यौष्पितः पृथिवि मातरध्रुगग्ने भ्रातर्वसवो मृडता नः।
विश्व आदित्या अदिते सजोषा अस्मभ्यं शर्म्म बहुलं वि यन्त॥
—ऋक्सं० ६।५१।५।

आहुति होती है। इन्हीं दम्पती के रसों से अस्मदादि चतुर्दशविध भूतसर्ग का निर्म्माण हुआ है। अतएव अवश्य ही द्युलोक से उपलक्षित सूर्य्य को पिता, एवं पृथिवी को माता कहा जासकता है। पिता (सूर्य्य) पुरुष है, रेतोवर्षक है, रेतोधा है। माता (पृथिवी) प्रकृति है, योनि है, रेतस् संग्राहिका है। अतएव सूर्य्यविद्यात्मक निगमशास्त्र को पुरुषशास्त्र, एवं पृथिवी–विद्यात्मक आगमशास्त्र को प्रकृतिशास्त्र भी कहा जासकता है। अतएव वेदशास्त्र 'वेदपुरुष' कहलाया है। विना आगम के निगम अप्रतिष्ठित है जैसा कि, अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। अतएव वेदपुरुष को 'वेदविद्या' इस विद्यारूप–प्रकृतिभाव से भी व्यवहृत किया जाता है। अब दो शब्दों में इस प्रश्न की भी मीमांसा कर लीजिए कि, आगमशास्त्र कैसे निगमशास्त्र की प्रतिष्ठा है ?।

२४४-ताम्र-अरुण-बभ्रु-आदि विविधरूपाक्रान्त-सुमङ्गलमूर्त्ति सौर हिरण्यगर्भ-प्रजापति का साक्षात्-रुद्रत्व, एकाकी क्षत्ररुद्र, तथा अनन्तविध-विट्रुद्रों का प्रासङ्गिक-संस्मरण, यज्ञानुबन्धी रुद्र का शिवशरीरत्व, एवं यज्ञसम्बन्धविच्युति से अनुप्राणित रुद्र का घोरशरीरत्व, और आध्यात्मिक-संस्था का संस्मरण—

+ ताम्र, अरुण, बभ्रु, आदि विविध रूपों से प्रतीयमान, सुमङ्गल सूर्य्य अपने स्वाभाविक सावित्राग्नि-स्वरूप से साक्षात् रुद्र है। सूर्य्यबिम्ब से परितः विनिर्गत सूर्य्यरश्मियाँ इस सूर्य्यरुद्र की विभूतियाँ हैं। एकाकी सूर्य्यरुद्र को लक्ष्य बनाकर जहाँ ऋषि रुद्र को ÷ एकाकी मान रहे हैं, जहाँ रश्मिरूप इस के = आनन्त्य को लक्ष्य बनाकर सहस्र रूप मान रहे हैं। एकाकी सूर्य्यरुद्र–क्षत्ररुद्र है, रश्मिरूप रुद्र इस क्षत्ररुद्र के आश्रय में रहते हुए विट्–रुद्र (प्रजात्मकरुद्र) नाम से प्रसिद्ध होरहे हैं ०। विट्–रूप अनन्त रुद्रों

+-असौ यस्ताम्रो अरुण उत बभ्रुः सुमङ्गलः।
ये चैनं रुद्रा अभितो दिक्षु श्रिताः सहस्रशोऽवैषां हेड ईमहे ॥

—यजुःसं० १६।३।

÷-एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य्य इमाँल्लोकान् ईशत ईशनीभिः।
प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति सञ्चुकोचान्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः॥

—श्वे०उ०३।२।

=-'असंख्याताः सहस्राणि ये रुद्राः' (यजुःसं० १६:५४।)

०-"स एष क्षत्रं देवः, यः स शतशीर्षा, समभवत्।
विश इमऽइतरे, ये विप्रुड्भ्यः समभवन्॥

—शत० ब्रा० ६।१।१।१५।

के शास्ता क्षत्ररूप सवित्राग्निमय सूर्य्यरुद्र भगवान् के घोरशरीर, शिवशरीर, ये दो स्वरूप माने गए हैं ()। यज्ञपुरुष के सम्बन्ध से वही रुद्र शिवशरीरी है, यज्ञसम्बन्ध की विच्युति में वही रुद्र घोरशरीरी है। शिवशरीर संसार का रक्षक है ×, घोरशरीर संसार का विनाशक है। अध्यात्मसंस्था में स्थिति के भेद से दोनों स्वरूपों का साक्षात्कार किया जासकता है।

२४५-अन्नादमूर्त्ति रुद्राग्नि, 'अन्नाद' शब्द के पारिभाषिक अर्थ का समन्वय, प्रज्ज्वलित भूताग्नि के उदाहरण-माध्यम से आध्यात्मिक-वैश्वानराग्नि-मूर्त्ति-प्रचण्डरूपेण घोधूयमान रुद्र के तात्त्विक-स्वरूप का स्पष्टीकरण, शिवशक्ति-तत्त्वानुगत अग्नि, और सोम के रहस्यात्मक-पारिभाषिक-सम्बन्ध का दिग्दर्शन, एवं-'शान्तदेवत्य'-'शान्तरुद्रिय'-भावों से अनुप्राणित-परोक्षभावनिबन्धन-'शतरुद्रिय'-भाव का समन्वय-प्रयास—

रुद्राग्नि अन्नाद है, अन्नाहुति ग्रहण करना इस का स्वाभाविक धर्म्म है। अतएव 'अन्नमत्तीति' निर्वचन से यह 'अन्नाद' कहलाए हैं। भूताग्नि को देखिए न। जबतक इस में काष्ठादि अन्न आहुत होता रहता है, तबतक अग्नि प्रज्वलित रहता है, स्वस्वरूप से सुरक्षित रहता है। अग्नि का इन्धन (प्रज्वल) क्योंकि काष्ठाद्याहुति पर निर्भर है, अतएव इन्धनसाधकत्वात् काष्ठादि इन्धन (ईंधन) नाम से व्यवहृत हुए हैं। यही स्थिति शारीराग्नि की है। केश, लोम, नखाग्र-भागों को छोड़ कर सर्वाङ्गशरीर में प्राणापान-व्यान के उपांशुसवनरूप संघर्ष से उत्पन्न, ताप-शब्दात्मक वैश्वानर अग्नि प्रज्वलित होरहा है, जो अपने उक्थरूप से उदर के दक्षिण भाग में प्रतिष्ठित रहता हुआ याज्ञिक परिभाषा में दक्षिणाग्नि, एवं लोकभाषा में जाठराग्नि नाम से प्रसिद्ध होता हुआ चतुर्विध अन्न का परिपाक किया करता है *। शरीर के जिस प्रदेश का स्पर्श किया जाता है, वहीं ऊष्मा उपलब्ध होती है, यही इस अग्नि के प्रत्यक्ष दर्शन है। नासा, कर्ण, मुखविवर, आदि अवरुद्ध करने पर जो नाद सुनाई पड़ाई पड़ता है, वही इस की श्रुति है। इस अन्नादाग्नि की स्वरूपरक्षा के लिए प्रातः सायं भोजन करना अनिवार्य्य है। जबतक यह अन्नाहुति होती रहती है,

---

()-"अग्निर्वा रुद्रः। तस्यैते द्वे तन्वौ, घोरान्या च, शिवान्या च"।

×-या ते रुद्र ! शिवा तनूरघोरा पापकाशिनी।
तया नस्तन्वा शन्तमया गिरिशन्ताभिचाकशीहि ॥

—यजुःसं० १६।२।

*-अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥

—गी० १५।१४।

तबतक शारीराग्नि शान्त रहता है, शरीर स्वस्थ रहता है । आहुत अन्न सोमात्मक है । सोम का अग्नि में आहुत होना ही यज्ञ है । स्नेहनधर्म्मा सोम शान्ततत्त्व है, तेजोधर्म्मा अग्नि उग्रतत्त्व है । शान्त सोमाहुति से उग्राग्नि शान्त होजाता है । यही इस का शिवत्त्व है । यदि अन्नाहुति अवरुद्ध होजाती है, तो रुद्राग्नि अपने उग्ररूप से विकसित होता हुआ पहिले तो रसासृङ्मांसादि शरीर के धातुओं को अपना अन्न बनाता है । एवं इन के यातयाम होने पर किसी भी अन्नसम्बन्ध के न रहने से अन्ततोगत्त्वा विशुद्ध घोररूप में परिणत होता हुआ स्वयं भी उत्क्रान्त होजाता है । निष्कर्षतः अन्नाहुतिरूप यज्ञसम्बन्ध से रुद्रतनू शिवभाव में परिणत होकर पालन करती है, एवं अन्नाभाव में वही घोरतनूरूप में परिणत होकर नाश का कारण बन जाती है । हम प्रतिदिन जो अन्नादान करते हैं, उस से उग्ररुद्र शान्त रहते हैं । इसी आधार पर वैज्ञानिकोंनें इस रुद्रान्न को 'शान्तदेवत्य' एवं 'शान्तरुद्रिय' (जिस अन्न से रुद्रदेवता शान्त होते हैं, वह अन्न) नाम से व्यवहृत किया है । परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषा में यही 'शान्तरुद्रिय' शब्द 'शतरुद्रिय' नाम से व्यवहृत हुआ है ×।

२४६-माता के गर्भाशय से अनुप्राणित चित्याग्निमूर्त्ति गर्भ की नवमासात्मिका रुद्राग्निचिति का रहस्यात्मक संस्मरण, रुदनप्रवर्त्तक आध्यात्मिक रुद्रदेवता, शान्तरुद्रियान्न के द्वारा रुद्र की शिवरूप में परिणति, एवं आध्यात्मिक रुद्र की विभूतियों का माङ्गलिक-संस्मरण—

माता के गर्भाशय में अग्नि की क्रमिक-चिति से क्रमशः प्रवृद्ध होने वाला चित्याग्निरूप गर्भ नौ मास के अनन्तर जब पूर्णभाव को प्राप्त होजाता हैं, तो सर्वात्मना समृद्ध रुद्राग्नि के आघात से, एवयामरुत् की नोदना से ÷ वह गर्भाशय से जननेंद्रिय के द्वारा भूमिष्ठ होजाता है । यही रुद्रजन्म है । इस के इस पूर्णरूप को देखते ही सम्पूर्ण इन्द्रियदेवता भयत्रस्त होजाते हैं । शिशु अपने स्वाभाविक रुद्ररूप से रुदन करने लगता

×—"अत्रैष सर्वोऽग्निः संस्कृतः । स एषोऽत्र रुद्रो देवता । स एषोऽत्र दीप्य-मानोऽतिष्ठदन्नमिच्छमानः । तस्माद्देवा अबिभयुः—यद्वै नोऽयं न हिंस्यादिति । ते ऽब्रुवन्—अन्नमस्मै सम्भराम, तेनैनं शमयाम इति । तस्माऽएतदन्नं समभरन्—'शान्त-देवत्यम्' । तेनैनमशमयन् । तद्यदेतं देवमेतेनाशमयन्, तस्माच्छान्तदेवत्यम् । शान्त-देवत्यं ह वै तच्छतरुद्रियमित्याचक्षते परोक्षम् । परोऽक्षकामा हि देवाः" ।

—शत० ६।१।१।१,२,

÷—"एवया मरुता—एतवै करोति । तेनेदं सर्वमेतवै कृतम्" ।

—ऐ० ब्रा० २२।१७।

है = । इन्द्रियदेवता अपनी स्वरूपरक्षा के लिए इस में अन्नाहुति देते हैं । उत्पन्न शिशुरूप चित्याग्निमय रुद्र इस अन्न से शान्त होजाता है । दूसरे शब्दों में अन्न के आहुत होते ही रुद्राग्निसन्ताप से रोता हुआ शिशु चुप होजाता है । इस आध्यात्मिक रुद्र की ११ विभूतियाँ मानीं गई हैं, जिन का अन्यत्र पूर्व प्रकरण में निरूपण हो चुका है

२४७-आध्यात्मिक-रुद्र-स्वरूप-माध्यम से आधिदैविक-रुद्रस्वरूप का समतुलनात्मक-समन्वय-प्रयास, सौररुद्र के द्वारा रसादान, तन्निबन्धन आददानात्मक-आदित्य-स्वरूप का समन्वय, सोम-रसाहुति से सौररुद्र की शिवस्वरूप में परिणति, सोमाभावे सूर्य्यरुद्र का विश्वसंहारकत्व, महदक्षररूपा सोमाग्निका ब्रह्मस्वरूप-व्याख्यात्री चिच्छक्तिरूपा उमा-हैमवती का पावन-संस्मरण, एवं प्रासङ्गिक शक्ति-विज्ञान के स्वरूप-विश्लेषक औपनिषद-वचन का संस्मरण—

अब इन दोनों स्वरूपों का आधिदैविक रुद्रतत्त्व के साथ समन्वय कीजिए । कहा गया है कि, अग्नि-त्वेन सूर्य्य साक्षाद्रुद्र, है, प्राणियों को सन्तप्त करने वाला है । परन्तु पार्थिव ओषधि-वनस्पतिरूप सोमान्न, पार्थिव जलगर्भित सोमान्न, पार्थिव प्राणिशरीरावच्छिन्न सोमान्न (रसान्न), इन त्रिविधभावापन्न पार्थिव रसों की इस में अजस्ररूप से आहुति होती रहती है । पार्थिव रसों का स्वरश्मियों से आदान करता हुआ ही सूर्य्य 'आदित्य' (आददान) कहलाया है । इस सोमरसाहुति से सौराग्नि शिव (शान्त) मूर्त्ति बन रहे हैं । पूर्वकथनानुसार पृथिवी माता है, शक्ति है, प्रकृति है । सूर्य्य पिता है, शक्तिमान् है, पुरुष है, शिव है । जबतक सूर्य्यशिव के साथ पार्थिवी सोमशक्ति का यज्ञात्मक सम्बन्ध सुरक्षित है, तभीतक सूर्य्यरुद्र शिव है । जिस दिन यह आहुतिरूप यज्ञसम्बन्ध उच्छिन्न होजायगा, सूर्य्य अपने स्वाभाविक रुद्ररूप से घोरशरीरी बन कर सम्पूर्ण रोदसी-ब्रह्माण्ड को भस्मसात् कर देगा । सौर तेज हिरण्मय है । इस की सत्ता सोम पर ही अवलम्बित है । सोम में प्रविष्ट महदक्षररूपा चिच्छक्ति ही इस हिरण्मय सौरतेज से संयुक्त होकर 'हैमवती उमा' कहलाई है । वाल्लभ इसे ही 'भगवच्छक्ति' कहा करते हैं । यही अद्वैतवादियों की 'माया' है । वैष्णवोपासकों की 'राधा' है । रामानुजसम्प्रदायवादियों की 'लक्ष्मी' है । एवं वैज्ञानिकों की 'हैमवती उमा' है । 'मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्' (श्रीमद्भगवद्गीता) के अनुसार पारमेष्ठ्य महत्–सोम ही चिदात्मलक्षण अव्ययपुरुष की प्रतिष्ठा है । वह महत्सोम सौरमण्डल में भुक्त होकर हैमवती चिच्छक्ति से युक्त होजाता है । अतएव 'उमासहितस्तत्त्वविशेषः' निर्वचन से पारमेष्ठ्य शान्त–चिद्ग्राहक–चिन्मय वह तत्त्व 'सोमः' कहलाया है । यही उमा ब्राह्मणग्रन्थों में विषयभेद से 'अम्बा, अम्बिका, माता, जनि, धारा, जाया, आपः, इत्यादि विविध नामों से व्यवहृत हुई है । सौर इन्द्र शिव है,

---

= प्राणा वै रुद्राः । प्राणा हीदं सर्वं रोदयन्ति" (जै० उ० ४।२।६।)–"कतमे रुद्रा इति ? । दशेमे पुरुषे प्राणाः, आत्मैकादशः । ते यदस्मान्मर्त्याच्छरीरादुत्क्रामन्ति, अथ रोदयन्ति । तद्यद्रोदयन्ति, तस्माद् रुद्राः" (शत० ११।६।३।७।) ।

इस की पार्थिव प्राज्ञ-सोमरूपा हैमवती उमा शक्ति है। सोम स्वस्वरूप से कृष्ण है। परन्तु सौर विज्ञानमण्डल में आहुत होकर दाहक सौरसावित्राग्नि के सम्बन्ध से यह प्रज्वलित होजाता है। 'त्वमातन्थोर्वन्तरिक्षम्' (ऋक् मं० १।९१।२२।) के अनुसार यह सोम, किंवा हैमवती उमा विशाल सौर अन्तरिक्ष में सर्वत्र व्याप्त है। यह सोममयी चिच्छक्ति उस चिद्घन अव्ययपुरुष की शक्ति है। इन्द्रादि क्षरदेवताओं को उस चिद्ब्रह्म का बोध आकाशस्था इसी हैमवती उमा के अनुग्रह से होता है। इसी शक्तिविज्ञान को लक्ष्य में रखते हुए श्रुति ने कहा है –

"स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमां हैमवतीम्। तां होवाच–किमेतद्यक्षमिति ?, सा ब्रह्मेति होवाच। ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्वम्। ततो हैव विदाञ्चकार–ब्रह्मेति"

(केनोपनिषत् ३।२५।–४।१।)

२४८–पार्थिव-सोमतत्त्व की शक्तिरूपता, एवं सौर अग्नितत्त्व की शिवरूपता का पारिभाषिक-स्वरूप-संस्मरण,-'मामेव-ये प्रपद्यन्ते मायमेतां तरन्ति ते' मूलक शक्तिवाद का सर्वप्रधानत्व, पुरुष सृष्टि की शिवरूपता का, तथा स्त्री-सृष्टि की शक्तिरूपता का रहस्य-पूर्ण-समन्वय-प्रयास, एवं शिव-शक्ति की सर्वव्यापकता से अनुप्राणित कतिपय आप्तवचनों का माङ्गलिक-संस्मरण—

पार्थिव सोमतत्त्व शक्तितत्त्व है, सौर अग्नितत्त्व शिवतत्त्व है, यह पूर्वनिरूपण से भलीभाँति सिद्ध होजाता है। सौर अग्निरूप शिव की प्रतिष्ठा पार्थिव सोमरूप शक्तितत्त्व ही है। शक्ति ही शिव की प्रतिष्ठा है। शक्तिविनिर्गमनानन्तर शिव के स्वरूप का ही उच्छेद होजाता है। इसी आधार पर उपनिषत् ने शक्ति को ही शिवरूप चिद्ब्रह्मप्राप्ति का अन्यतम कारण माना है। ज्ञान, कर्म्म, उपास्ति, तीनों हीं काण्डों में शक्त्याराधन सर्वप्रथम अपेक्षित है। 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते' (गी० ७।४) इत्यादिरूप से गीता भी इसी शक्तिप्राधान्यवाद का समर्थन कर रही है। युद्धकाल में विजय-प्राप्त्यर्थ भगवान् श्रीकृष्ण के आदेश से अर्जुन भी शक्ति के पिताम्बरा-स्वरूप की उपासना करके ही विजय लाभ करसका है। सौरप्राण की प्रधानता से पुरुषसृष्टि होती है, चान्द्रसोमगर्भित पार्थिव प्राण की प्रधानता से स्त्रीसृष्टि होती है। अतएव यच्चयावत् पुरुषों को शिवस्वरूप, एवं यच्चयावत् स्त्रियों का शक्तिरूप माना गया है। सम्पूर्ण विश्व शिवशक्तिमय है, जैसा कि निम्नलिखित कतिपय वचनों से प्रमाणित है।

(१)–अग्नेरमृतनिष्पत्तिरमृतेनाग्निरेधते ॥
अतएव हविः क्लृप्तमग्नीषोमात्मकं जगत् ॥१॥
ऊर्ध्वशक्तिमयः सोम अधःशक्तिमयोऽनलः ॥
ताभ्यां सम्पुटितस्तस्माच्छश्वद्विश्वमिदं जगत् ॥२॥
आधारशक्त्यावधृतः कालाग्निरयमूर्ध्वगः ॥

तथैव निम्नगः सोमः शिवशक्तिपदास्पदः ॥३॥
शिवश्चोर्ध्वमयः शक्तिरूर्ध्वशक्तिमयः शिवः ॥
तदित्थं शिवशक्तिभ्यां नाव्याप्तमिह किञ्चन ॥४॥

—(बृहज्जाबालोपनिषत् १ ब्रा० । ४,५,८,६,)

(२)-शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम् ।
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ॥
अतस्त्वामाराध्यां हरि-हर-विरिञ्चादिभिरपि ।
प्रणन्तुं स्तोतुं वा कथमकृतपुण्यः प्रभवति ॥१॥

—श्रीशङ्करकृता-आनन्दलहरी

(३)-शङ्करः पुरुषाः सर्वे स्त्रियः सर्वा महेश्वरी ॥
विषयी भगवानीशो विषयः परमेश्वरी ॥१॥
मन्ता स एव विश्वात्मा मन्तव्यं तु महेश्वरी ॥
आकाशः शङ्करो देवः पृथिवी शङ्करप्रिया ॥२॥
शब्दजालमशेषन्तु धत्ते शर्वस्य वल्लभा ॥
अर्थस्य रूपमखिलं धत्ते मुग्धेन्दुशेखरः ॥३॥
यस्य यस्य पदार्थस्य या या शक्तिरुदाहृता ॥
सा सा विश्वेश्वरी देवी स स देवो महेश्वरः ॥४॥
पुँल्लिङ्गमखिलं धत्ते भगवान् पुरशासनः ॥
स्त्रीलिङ्गं चाखिलं धत्ते देवी देवमनोरमा ॥५॥
येयमुक्ता विभूतिर्वै प्राकृती साऽपरा मता ॥
अप्राकृतीं परामन्यां गुह्यां गुह्यविदो विदुः ॥६॥
यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥
अप्राकृती परा सैषा विभूतिः परमेष्ठिनः ॥६॥

—शिवपुराण-वायुसंहिता-उत्तरखण्ड ५ अ० ।

(४)-शक्ति-शक्तिमदुत्थं हि शाक्तं शैवमिदं जगत् ॥
स्त्री-पुंसप्रभवं विश्वं स्त्री-पुंसात्मकमेव च ॥१॥

परमात्मा शिवः प्रोक्तः शिवा मायेति कथ्यते ॥
पुरुषः परमेशानः प्रकृतिः परमेश्वरी ॥२॥
—शिवपुराण

* * *

२४९–'आकाशः शङ्करोदेवः, पृथिवी-शङ्करप्रिया' इत्यादि आर्षवचनानुगत-आकाशोपलक्षित अधःशक्तिमय सौर-आग्नेय-शिवतत्त्व का, तथा पृथ्व्युपलक्षिता ऊर्ध्व-शक्तिमयी-सोममयी-शक्तिरूपिणी शङ्करप्रिया का पावन संस्मरण, एवं तत्सम्बन्ध में रहस्यशास्त्र का आर्षवचन—

'आकाशः शङ्करो देवः, पृथिवी शङ्करप्रिया' इत्यादि वचनानुसार आकाशोपलक्षित अधःशक्तिमय सौर–अग्नि शिव है, एवं पृथिव्युपलक्षित ऊर्ध्वशक्तिमय सोम शङ्करप्रिया है। सोमप्रधानत्वेनैव इसके सम्बन्ध में–'विभूतिः परमेष्ठिनः' कहना अनवर्थ बन रहा है। सौरप्राणात्मक शिव ही त्रयीरूप निगम है, एवं पार्थिव-प्राणात्मक शक्तिरूप तत्त्व ही आगम है। इसी शक्ति से शिवस्वरूप प्रतिष्ठित है, एकमात्र इसी तत्त्वदृष्टि के आधार पर हमने आगम को निगम की प्रतिष्ठा बतलाया है। निम्न लिखित रहस्यवचन भी शक्तिरूप आगम के प्रतिष्ठाधर्म्म का ही समर्थन कर रहा है—

शब्दात्मिका सुविमलर्ग्यजुषां निधानमुद्गीथरम्यपदपाठवतां च साम्नाम् ।
देवी त्रयी भगवती भवभावनाय वार्त्ता च सर्वजगतां परमार्त्तिहन्त्री ॥
(सप्तशती)।

२५०–सूर्य्यात्मिका निगमविद्या से अनुगत शब्दात्मक निगमशास्त्र का, एवं पृथिवी-विद्यात्मिका आगमविद्या से अनुगत शब्दात्मक-आगमशास्त्र का 'निदानविद्या-नुगत' समन्वय-प्रयास, अत्यन्त रहस्यात्मक-पारिभाषिक-'विद्या' शब्द का संस्मरण, दशावयवा विराट्-विद्यात्मिका-सौरी-निगमरूपा वेदविद्या के साथ दशपर्वात्मिका-सुप्रसिद्धा-'दशमहाविद्या' रूपा पार्थिवी-आगमविद्या का समतुलन-प्रयास—

सूर्य्यात्मिका निगमविद्या से सम्बन्ध रखने वाले निगमशास्त्र, एवं पृथिव्यात्मिका आगमविद्या से सम्बन्ध रखने वाले आगमशास्त्र, दोनों ही प्रस्तुत 'निदानविद्या' के क्षेत्र बन रहे हैं। दोनों ही शास्त्रों में पदे पदे निदानभावों का आश्रय लिया गया है। इनमें निगमक्षेत्रानुगत निदानभावों में से कुछ एक उदाहरण पूर्व परिच्छेद में बतलाए जाचुके हैं। अब आगमक्षेत्र से सम्बन्ध रखने वाले उदाहरणों में से कुछ एक उदाहरणों का स्पष्टीकरण और अपेक्षित है। आगमशास्त्र क्योंकि शक्तिशास्त्र है, अतएव आगमप्रतिष्ठाभूता

शक्ति 'विद्या' इस स्त्री-अभिधा से प्रसिद्ध हुई है। इसी 'विद्या' अभिधा के आधार पर आगमोक्ता सृष्टिविद्या 'महाविद्या' कहलाई है। निगम-आगममूला महाविद्या की मूलभूता निगममूला सृष्टिविद्या के क्योंकि दश पर्व हैं, अतएव इसके भी अवान्तर १० ही शक्तिविवर्त्त होजाते हैं। अतएव यह महाविद्या 'दशमहाविद्या' नाम से प्रसिद्ध होरही है, जिसके दशविध औपासनिकरूप निदानभाव के आधार पर ही प्रतिष्ठित हैं। इन्हीं का उदाहरणविधा से प्रकृत में विश्लेषण करना है। उदाहरण--प्रदर्शन से पहिले दो शब्दों में 'विद्या' शब्द के रहस्यार्थ का भी समन्वयआवश्यक होजाता है। उसी की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है।

* * * *

२५१-निगमात्-आगता-पार्थिवी-विद्या से अनुप्राणिता आगमविद्या, 'विद्यासि सा भगवती' का पारिभाषिक-समन्वय, कालपुरुषानुगता निगुर्णा शक्ति, एवं यज्ञपुरुषानुगता सगुणा शक्ति का पारिभाषिक-समन्वय, एवं निगमागम-भावों के 'विद्या' स्वरूपानुगत पारिभाषिक-स्वरूपों का विश्लेषणोपक्रम--

बतलाया गया है कि, आगम का आगमन निगम से हुआ है। यही कारण है कि, आगमशास्त्र के यच्चयावत् सिद्धान्त निगम-सिद्धान्तों के मूलस्वरूप पर ही प्रतिष्ठित हैं। जिसप्रकार निगमाचार्य्योंने 'निगम-शास्त्र के लिए 'सैषा त्रयी 'विद्या' रूप से 'विद्या' शब्द का प्रयोग किया है, एवमेव आगमाचार्य्यों की ओर से आगमशास्त्र के लिए भी 'विद्यासिसा भगवती' इत्यादि * रूपसे विद्या-शब्द ही प्रयुक्त हुआ है। जिसकी यह विद्या है, वही निगमागमपुरुष है। निगमपुरुष, आगमपुरुष, भेद से एक ही पुरुष द्विधा विभक्त है, जिन्हें प्रकरणारम्भ में हमने यज्ञपुरुष, कालपुरुष, इन नामों से व्यवहृत किया है। यज्ञपुरुष, और उसकी शक्ति सगुणविवर्त्त है। कालपुरुष, और उसकी शक्ति निर्गुणविवर्त्त है। सगुणविवर्त्त की उत्थानभूमि सूर्य्य माना गया है, निर्गुणविवर्त्त का आरम्भ प्रतिसंचरापेक्षया पृथिवी मानी गया है। इन दोनों पुरुषविवर्त्तों की विद्या ही निगमागमविद्या है। अतएव निगमागमविद्या-स्वरूप-ज्ञान से पहिले तदाधारभूत, किंवा तन्मय निगमापुरुष के तात्त्विक स्वरूप का संक्षेप से विश्लेषण कर देना आवश्यक होगा।

शक्तिः स्वाभाविकी तस्य विद्या विश्वविलक्षणा ॥
एकानेकस्वरूपेण भाति भानोरिव प्रभा ॥

(शि० प्र० । वा० सं० । ७ अ०)।

---

* या मुक्तिहेतुरविचिन्त्यमहा:ता च-अभ्यस्यसे सुनियतेन्द्रियतत्त्वसारैः ॥
मोक्षार्थिभिर्मुनिभिरस्तसमस्तदोषैर्विद्याऽसि सा भगवती परमा हि देवी ॥

(सप्तशती)।

२५२—'असद्वा-इदमग्र-आसीत्' इत्यादि ब्राह्मणश्रुति-मूलक-'नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्' इत्यादि मन्त्र का रहस्यात्मक-पारिभाषिक-संस्मरण, एवं तदनुबन्धी-सत्-असत्-भावों के लोकोत्तर स्वरूपों का समन्वय-प्रयास—

जब कुछ न था, तो क्या था ?, वैज्ञानिकों के सम्मुख यह प्रश्न उपस्थित हुआ। तत्त्वानुशीलन के द्वारा इस प्रश्न के उत्तर में वे 'असद्वा इदमग्र आसीत्' (तै० उ० २।७) इस निष्कर्ष पर पहुँचे। जिज्ञासुवर्ग का इस उत्तर से समाधान नहीं होसका। अतएव अपने इस निष्कर्ष की उन्हें यह व्याख्या करनी पड़ी कि— 'असदेवेदमग्र आसीत्। तत् सदासीत्। तत् समभवत्। तदाण्डं निरवर्त्तत' (ताण्ड्य म० ब्रा० छां० उ० १६।) जब इस व्याख्या से भी सर्वात्मना सन्तोष नहीं हुआ, तो अन्त में उनकी ओर से निम्नलिखित समाधान उपस्थित हुआ—

> "नैव वा इयमग्रेऽसदासीत्, नेव सदासीत्। आसीदिव वा इसमग्रे नेवासीत्।
> तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्त'—(शत० १०।४।१।)।
> नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् ॥
> किमावरीवः कुह कस्य शर्म्मन्—अम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ॥१॥
> न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
> आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्नः पर किञ्चनास ॥२॥
>
> —ऋक्सं० १०।१२६।१,२, ।

२५३-श्रौत-समाधान के तात्पर्य्यार्थ का समन्वय-प्रयास, एवं-'आसीदिव वा इदमग्रे—नेवासीत्' इत्यादि श्रुति से अनुप्राणिता पारिभाषिकी स्थिति का स्पष्टीकरण-प्रयास—

प्रश्न था—'जब कुछ न था, तो क्या था?'। उत्तर मिला 'यह सब पुरोऽवस्थित प्रपञ्च उस समय असत् था'। उत्तर से यह भ्रान्ति सम्भव है कि, प्रलयानन्तर विश्वाभावमात्र रह जाता है। अतः उस समय सबका अभाव ही था। भ्रान्ति का कारण यही है कि, असत् शब्द अभावार्थ का भी वाचक माना गया है। उत्तरश्रुति में पठित 'असत्' का अर्थ 'अभाव' न मान लिया जाय, इस भ्रान्ति के निराकरण के लिए श्रुति को अपने ही उत्तर की यह व्याख्या करनी पड़ी कि,—"इस सब प्रपञ्च से पहिले 'असत्' था, यह ठीक है। परन्तु वह असत् सद्रूप था। उस सद्रूप असत् से ही इस ब्रह्माण्ड का विकास हुआ है"। व्याख्या का तात्पर्य्य यही है कि, असत् से अभावार्थ का ग्रहण नहीं करना चाहिए। क्योंकि जो स्वयं असत् (अभावरूप) होगा, वह सद्विश्व का कारण कैसे बन सकेगा—'कथमसतः सजायेत'। अतः उस असत् से किसी सद्भाव का ही ग्रहण न्यायप्राप्त है। व्याख्या से भ्रान्ति का निराकरण तो होगया। परन्तु एक अन्य समस्या उपस्थित होगई। हम अपने व्यवहारकाण्ड में अभाव के लिए तो 'असत्' शब्द का व्यवहार करते हैं, एवं नाम—रूप—कर्म्ममय सत्तासिद्ध पदार्थों के लिए 'सत्' शब्द का प्रयोग करते हैं। प्रश्न यह है कि,—जब नाम रूप कर्म्मात्मक सद्—

रूप जगत् न था, तो क्या था'। यदि इसका उत्तर 'सत्' ही होगा, तो प्रश्न ज्यों का त्यों सुरक्षित रह जायगा। प्रश्न का सीधासा तात्पर्य्य तो यही है कि, जब कुछ भी भावात्मक पदार्थ न था, तो क्या था। इसी समस्या का निराकरण करने के लिए सर्वान्त में श्रुति के द्वारा 'नैव वा इदमग्रेऽसदासीत्, नैव सदासीत्०' इत्यादि समाधान उपस्थित हुआ।

२५४–श्रौत-समाधानानुगत तात्पर्य्य का स्पष्टीकरण, सर्वसाधारण की मान्यता से अनुप्राणित 'असत्', एवं 'सत्'-शब्दों के पारिभाषिक-श्रौतार्थ का समन्वय, तथा श्रुति के द्वारा वस्तुस्थिति का स्वरूपाभिनय––

समाधान का तात्पर्य्य यही है कि, जिसे (अभाव को) सर्वसाधारण 'असत्' कहते हैं, सृष्टिपूर्वभावी असत् वैसा (अभावरूप) असत् न था। साथ ही जिसे (नामरूप–कर्म्मात्मक भावात्मक सत् पदार्थ को) 'सत्' कहते हैं, सृष्टिपूर्वभावी सत् वैसा (नामरूपात्मक भावरूप) सत् भी न था। अपितु व्यावहारिक अभावरूप असत्, और नामरूपात्मक सत्, दोनों से वह विलक्षण था। वह विलक्षणतत्त्व अभावात्मक नहीं है, इसलिए तो उसके सम्बन्ध में 'आसीदिव इदमग्रे' कहा जासकता है। साथ ही वह नामरूपात्मक सद्रूप नही है। अतः 'नेवासीत्' भी कहा जासकता है। वह नामरूपात्मक सत् नहीं है, केवल इस अभिप्राय से तो उसे 'असत्' कहना अन्वर्थ बन जाता है। एवं वह अभावात्मक असत् नहीं है, अतः उसे 'सत्' कहना चरितार्थ होजाता है। इसी स्थिति का श्रुति ने–'आसीदिव वा इदमग्रे (तत्सदासीत्)—नेवासीत् (तदसदासीत्)' इन शब्दों में अभिनय किया है।

२५५–सृष्टिगर्भानुगत-सत्, असत्, रजः, व्योम, अपर, अम्भः, मृत्यु, अमृत, अहः, रात्रि, नामक सुप्रसिद्ध दशविध कारणों का नाम-संस्मरण, तदनुगत सृष्टि-कारणतानुगत 'दशवाद', तन्मूला विराट्प्राजापत्या सम्पत्ति, विश्वकारणता के सम्बन्ध में सापेक्ष-निरपेक्ष-भावानुबन्धिनी कारणताओं का समन्वय, एवं–'तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास' लक्षण अचिन्त्य-कारण का दिग्दर्शन—

निष्कर्ष यही है कि, सृष्टिगर्भ में सत्, असत्, रजः, व्योम, अपर, अम्भः, मृत्यु, अमृत, अहः, रात्रि, नामक दशविध कारण प्रतिष्ठित हैं, जिन दशों सृष्टिवादों का गीताभूमिका–कर्म्मयोगपरीक्षात्मक 'ख' विभाग के 'ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा' प्रकरण में विस्तार से वैज्ञानिक विवेचन किया जाचुका है। 'कुछ न था, तो क्या था ?' प्रश्न कारणता से सम्बन्ध रखता है। दूसरे शब्दों में 'कार्य्यात्मक विश्व का मूल कारण क्या है ?' यही प्रश्न का तात्पर्य्य है। यह कारणता सापेक्ष, निरपेक्ष, भेद से दो भागों में विभक्त है। सृष्टिगर्भ में प्रतिष्ठित परस्परापेक्षिक कारणताओं को वैज्ञानिकोंने सद्वाद, असद्वाद, रजोवाद, व्योमवाद, आवरणवाद, आदि दस भागों में विभक्त माना है। अतएव सृष्टिगर्भभुक्त कारणता–वाद 'विराड्वाद' नाम से व्यवहृत हुआ है, जैसा कि आगे स्पष्ट होने वाला है। अवश्य ही अपेक्षया १० ही सृष्टि के कारण हैं। परन्तु इन सापेक्ष सदसदादि कारणों को सृष्टि का मूलकारण नहीं माना जासकता। क्योंकि आपेक्षिक कारण जहाँ अनेक

होते हैं, वहां निरपेक्ष मूलकारण एक ही होसकता है। वह एक ही आदिकारण माना जासकता है, वही सृष्टि का निदान माना जासकता है। वह एक ही आदिकारण माना जासकता है, वही सृष्टि का निदान माना जासकता हैं। वही उक्त प्रश्न का लक्ष्य है, जिस का सोपाधिक सृष्टिगर्भीभूत, अतएव तत्त्वतः सृष्टरूप (कार्य्यरूप) दसों ही सापेक्ष कारणों से कोई सम्बन्ध नहीं हैं। अपितु वह इन सब सविशेषों का निर्विशेषरूप एक सब से विलक्षण, अतएव अचिन्त्य है–'तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास'।

२५६–शब्दानुगता विशेषभावनिबन्धना 'गति', अन्यार्थों के व्यावर्त्तक शब्द, अतद्व्यावृत्त-अचिन्त्य-मूल-तत्त्व, मूलतत्त्व के स्वरूप-निर्वचन से अनुगता महती समस्या, समस्या के समाधान-प्रयास में 'मूर्द्धा' रूप वैज्ञानिक-मस्तिष्कों का पतनात्मक पराभव, तत्सम्बन्धे 'अद्धा' वृत्तिका अत्यन्ताभाव, एवं सर्वादिभूत अचिन्त्य-कारण की अचिन्त्यावस्था का महर्षि के द्वारा रहस्यात्मिका भाषा में दिग्दर्शन-प्रयास—.

शब्द की गति विशेषभावों से ही सम्बद्धा मानी गई है। अतएव तत्तदर्थों के वाचक तत्तद्विशेष शब्द अन्यार्थों के व्यावर्त्तक माने गए है। वह निर्विशेष सर्वव्यापक है, अतएव व्यावर्त्तक विशेष शब्द की गति उस के सम्बन्ध में एकान्ततः अवरुद्ध है। 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य–मनसा सह'–'अतद्-व्यावृत्या यं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि' इत्यादि के अनुसार उस वाङ्मनसपथातीत, अतएव अनिर्वचनीय मूलकारण का-'नैव वा इदमग्रे ऽसदासीत्, नेव सदासीत्। आसीदिव वा इदमग्रे नेवासीत्'-'नासदासीत्, नो सदासीत्' इस तटस्था–असम्बद्धभाषा के अतिरिक्त और किन शब्दों में निर्वचन किया जासकता है ?। विज्ञानबुद्धि कार्य्यस्वरूप के आधार पर तटस्थ लक्षण के द्वारा तटस्थरूप से उस अविज्ञेय–अनिर्वचनीय का अनुमानमात्र लगा सकती है। ज्ञेय का ही तो ज्ञाता 'इदमित्थमेव' रूप से स्वरूप–लक्षण कर सकता है। जहाँ ज्ञेय–ज्ञाता–सब कुछ भेदवाद बहिष्कृत हैं, वहाँ इदमित्थंरूप 'अद्धा' (स्पष्ट) भाव से क्योंकर उस का निर्वचन किया जासकता है। मूलकारणरूप अखण्डतत्त्व से कैसे, किस साधन से, कब, क्यों, यह सृष्टि उत्पन्न होगई ?, ये सभी प्रश्न अनद्धा हैं, अनतिप्रश्न हैं। इन के सम्बन्ध में मूर्द्धा का (विज्ञानशक्ति का) सर्वथा पतन है। और तो और, इस सम्बन्ध में तो यह भी निःसंकोच कहा जासकता है कि, स्वयं उस परमाकाशरूप अखण्ड सर्वाध्यक्ष--मूलकारण को भी अपने इस सृष्टिकारणता का परिज्ञान है, अथवा नहीं, यह भी संदिग्ध है। यह इसलिए अनुमान लगाया जासकता है कि, मूलकारण अखण्ड है, उस की आंशिक शक्ति से जीवात्मा ज्ञाता बनता है, ज्ञानमय ज्ञाता बना करता है। यह ज्ञानघन है, अतएव उसे 'ज्ञाता' श्रेणि में मान लिया जाय ?। जब वह ज्ञाता नहीं, तो उसके सम्बन्धमें भी–'वह जानता ही होगा' इस निःसंदिग्ध वाक्य का प्रयोग कैसे किया जासकता है।? मूलकारणरूप ब्रह्म की इसी अचिन्त्यावस्था का बड़े ही सुन्दर शब्दों में अभिनय करते हुए ऋषि कहते हैं—

को अद्धा वेद, क इह प्रवोचत्, कुत आजाता, कुत इयं विसृष्टिः ॥
अर्वा देवा विसर्जनेनाथा, को वेद यत आबभूव ॥१॥
इयं विसृष्टिर्यत आ बभूव यदि वा दधे यदि वा न ॥
यो ऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग ! वेद, यदि वा न न वेद ॥२॥

—ऋक् सं० १०।१२६।६,७।

२५७-सहजभावेन समुस्थिता सृष्टि के मूलकारण की जिज्ञासा से अनुगत विविध अचिन्त्य प्रश्न, अनुमानैकगम्या परिस्थिति, आनुमानिकी तटस्था दृष्टि से कारणता का स्वरूपान्वेषण-प्रयास, दृष्टिकोण-भेद-निबन्धन अमृत, और मृत्यु-तत्त्वों का संस्मरण, अहोरात्रवत्, एवं तमःप्रकाशवत् अत्यन्त विरुद्ध भी दोनों तत्त्वों का एकत्र सहावस्थान, कारणगुणों के आधार पर कार्य्यगुणों का समन्वय. महतोमहीयान् आश्चर्य्य का निर्विरोध-समतुलन, एवं बलभातियों की विभिन्नता पर भी सर्वैक्य-मूलक अद्वैतवाद की अक्षुण्णता का दिग्दर्शन—

सृष्टि–के मूल कारण की जिज्ञासा हुई, उत्तर भी मिला, परन्तु अनेक समस्याओं से युक्त, अस्तव्यस्त सा, धुंधलासा। यदि वह व्यापक है, तो सृष्टिकामना का उस से क्या सम्बन्ध !, क्योंकि कामना अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति से ही सम्बन्ध रखती है । साथ ही कामनारूप अर्क का उत्थान मन से होता है, मन की प्रतिष्ठा हृदय (केन्द्र) माना गया है। केन्द्र सीमाभाव से सम्बन्ध रखता है । जो व्यापक है, असीम है, उस में केन्द्र का अभाव स्वतः सिद्ध है, केन्द्राभावेन मन का अभाव, तदभावे कैसे उसे मूलकारण मान लिया गया !, ये सभी समस्याएँ क्या अचिन्त्य नहीं हैं !, और क्या इन अचिन्त्य समस्याओं के रहते 'श्रद्धा' रूप से उसे सृष्टि का कारण माना जासकता है ? । श्रद्धारूप से तो नहीं, परन्तु अनद्धारूप से अवश्य ही अचिन्त्य-भावों का भी ऋषिदृष्टि के आधार पर अनुमान अवश्य लगाया जासकता है। एवं इसी आनुमानिकी तटस्थदृष्टि के द्वारा हम उसे कारण मानने में कोई संकोच नहीं करते । इस अनुमान के सम्बन्ध में वैज्ञानिक महर्षियोंनें हमारे सम्मुख कार्य्यात्मक विश्व से सम्बन्ध रखने वाले दो तत्त्वों का स्वरूप उपस्थित करते हुए हमें बतालाया है कि, विश्व में समष्टि , व्यष्टिरूप से तुम सर्वत्र कार्य्यात्मक अमृत, मृत्यु, इन दो तत्त्वों का प्रत्यक्ष कर रहे हो। प्रत्येक पदार्थ एक दृष्टिकोण से (नामरूपकर्मात्मिका दृष्टि से) बदलता हुआ भी 'अस्ति' लक्षणा सत्तादृष्टि से सर्वथा अपरिवर्त्तनशील बना हुआ है । नामरूपकर्म बदलते रहते हैं, अस्तित्व नहीं बदलता । जो बदल रहा है, वही मृत्यु है । बदलते हुए के साथ रहता हुआ भी जो नहीं बदल रहा, वही अमृत है । दोनों एक दूसरे में उसी प्रकार ओतप्रोत हैं, जैसे हिलती हुई अङ्गुली की क्रिया में अङ्गुली, एवं अङ्गुली में क्रिया ओतप्रोत है । दोनों हीं तत्त्व अहोरात्रवत्, किंवा तमः प्रकाशवत् परस्पर अत्यन्त विरुद्ध, किन्तु दोनों का एक ही विन्दु में समन्वय । कैसा आश्चर्य्य ? । आश्चर्य्य की कोई बात नहीं है । परस्पर विरुद्ध पाँचों भूतों का एक ही शरीर में तो समन्वय होरहा है । इसीलिए तो–'नहि ध्वान्तमीदृक्–न यत्र प्रकाशः,

प्रकाशो न तादृक्–न यत्रान्धकारः' यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। कारणगुण ही तो कार्य्यगुणों के आरम्भक बनते हैं। जब कि कार्य्यात्मक विश्व में हम दो विरुद्ध भावों का साक्षात्कार कर रहे हैं, तो मानना पड़ेगा कि, कारणब्रह्म भी अवश्य ही इन दो विरुद्ध भावों से युक्त है। वही कारणद्वयी विज्ञानभाषा में 'रस–बल'– नाम से व्यवहृत हुई है। रस अमृत का मूल है, एवं बल मृत्यु का मूल है। सत्तैक्य से बलभातियाँ अद्वैत पर कोई आक्रमण नहीं कर सकती।

२५८–दिग्देशकालावच्छिन्न बलों से समन्वित दिग्देशकालातीत मूलकारण से अनुगता 'परात्परात्मिका' निःसीमता का पारिभाषिक समन्वय, सीमाभावप्रवर्त्तक-'माया' बल का निर्वचनात्मक-स्पष्टीकरण, मायाबलानुगत-रसरूप-परात्पर की समनस्कता, तथा काममयता का दिग्दर्शन, एवं ऋग्वेदीया श्रुति का संस्मरण—

दिग्देशकालावच्छिन्न यच्चयावत् बलों को अपने गर्भ में रखने वाला दिग्देशकालानवच्छिन्न वही मूल–कारणरूप अकारण 'परात्पर' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। निःसीमतत्त्व जहाँ इस का स्वभाव है, वहाँ सीमत्व बल का स्वभाव है। सीमाभावात्मक वही विशेष बल 'माया' कहलाया है। सीमाप्रवर्त्तक मायाबल के उदय–तिरोभाव का ही नाम सृष्टि–लय है। अतः इस मायोपाधिक सीमित परात्पर को ही हम मूलकारण मान सकते हैं। विशुद्ध रसदृष्ट्या अवश्य ही वह परात्पर असीमित, अतएव अकेन्द्र, अतएव अमनस्क, अतएव अकाम रहता हुआ अकारणरूप मूलकारण है। परन्तु मायाबलदृष्ट्या तदवच्छिन्न वही सीमित परात्पर सकेन्द्र बनता हुआ समनस्क है, अतएव सकाम है। एवं वही सकाम परात्पर कारणरूप मूलकारण है। मायाबला–नुगत रसरूप परात्पर की इसी समनस्कता, एवं काममयता का दिग्दर्शन कराते हुए ऋषिने कहा है–-

> कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्॥
> सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥
>
> —ऋक् सं० १०।१२९।४।

२५९–निष्काम-निर्विशेष-परात्परब्रह्म की 'परात्पररूपता', एवं सकाम-सविशेष-परात्पर-ब्रह्म की 'पुरुषरूपता' का पारिभाषिक-समन्वय, अचिन्त्य-निःसीम-परात्पर के आधार पर चिन्त्य-ससीम-अव्ययपुरुष का संस्मरण, एवं अव्ययपुरुष-निबन्धन-निगमागम-प्रतिष्ठारूप-काल, तथा यज्ञ-नामक सुप्रसिद्ध महिमा-विवर्त्तों का रहस्यात्मक-दिग्दर्शन—

निष्काम निर्विशेष वही परात्पर 'परात्पर' है, सकाम–सविशेष वही परात्पर 'पुरुष' है, जिस का मौलिक रूप मनोमय माना गया है। इसी के लिए 'परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' यह कहा जाता है। मायाबलदृष्ट्या उसे देखिए, कारणता का स्पष्टीकरण होजायगा। विशुद्ध रसदृष्ट्या उसे देखिए, अचिन्त्यभाव का

स्पष्टीकरण हो जायगा। तत्त्व वही है, दृष्टिकोणमात्र में अन्तर है। अस्तु, छोड़िए अचिन्त्य के इन अचिन्त्य भावों को। जो मायोपाधिक पुरुष चिन्त्य है, उसी की मीमांसा कीजिए। चिन्त्य मायोपाधिक 'पुरुष' नामक परात्पर ही विज्ञानभाषा में 'अव्यय' कहलाया है। मनोमय यह अव्ययपुरुष ही अपने प्रकृतिभावों के समन्वय से काल, और यज्ञ, इन दो भावों में परिणत होता हुआ निगम, और आगमपुरुष–नामों से प्रसिद्ध होरहा है। इन्हीं दोनों पुरुष–विवर्त्तों का दो शब्दों में विश्लेषण अपेक्षित है।

२६०–विजिज्ञास्य निगमागम-स्वरूप, तदुपशमनकर्त्री निगमागमपुरुषविद्या, तद्विषयिणी विद्या से अनुगत तद्विषयक-बोध, एवं बोधानुगत-पारिभाषिक-'स्वरूपज्ञान' का समन्वय, और पुरुषविद्यात्मिका रहस्यपूर्णा 'प्रकृति' के-'प्र'-'कृति' भावों का पारिभाषिक-स्पष्टीकरण, तथा-पुरुषविद्या-प्रकृतिविद्या-विकृतिविद्या–निबन्धना विद्या-त्रयी का प्रासङ्गिक-संस्मरण—

निगमागमपुरुष का स्वरूप विजिज्ञास्य है। यह जिज्ञासा पूरी होती है–निगमागमपुरुषविद्या से। तद्विषयिणी विद्या ही तद्विषय–बोध का कारण मानी गई है। अतएव पुरुषविषय–बोध के लिए भी पुरुष–विद्या का ज्ञान प्रथम अपेक्षित माना जायगा। पुरुषविद्या का स्वरूपज्ञान ही तो पुरुषस्वरूपज्ञान है। है। अतः पुरुषस्वरूप–जिज्ञासा के उत्तर में पुरुष की विद्या की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। पुरुषविद्या विज्ञानभाषा में 'प्रकृति' नाम से व्यवहृत हुई है। कार्य्यात्मक विश्व 'कृति' है, कृति की प्रथमावस्था ही 'प्र' है। यह 'प्र–कृति' (कृतेः प्रागवस्था) ही प्रकृति है। दूसरे शब्दों में–कार्य्यविश्व को कारणभूता विद्या ही 'प्रकृति' है। विश्वविद्या, किंवा कार्य्यविद्या विकृतिविद्या है। कारण–विद्या प्रकृतिविद्या है। विकृतिविद्या से प्रजापति का स्वरूप–ज्ञान होता है, एवं प्रकृतिविद्या से पुरुषस्वरूप का बोध होता है।

२६१–सीमाभावानुगता प्रवृत्ति से अनुगत परात्परब्रह्म की सीमारूपता, सीमाभाव-प्रवर्त्तक सुप्रसिद्ध 'हृदयबल', तत्र प्रतिष्ठित मनोमय-अव्ययपुरुष, कामनामयी चिति के द्वारा पुरुष की 'चिदात्म-स्वरूप में परिणति, चिति, और चेतना शब्दों का पारिभाषिक-स्पष्टीकरण, एवं चेतना-लक्षणा प्रकृति के स्थिति-गति-आगति-नामक त्रिविध-महिमा-विवर्त्तों का संस्मरण—

सीमाभाव कीप्रवृत्ति से असीम परात्पर का मायावच्छिन्न प्रदेश सीमित होजाता है, यह कहा गया है। इस सीमा से तदवच्छिन्न परात्पर–मण्डल में 'हृदयबल' नामक एक अपूर्व बल का विकास होजाता है। यह 'हृ–द–य' रूप हृदयबल ही तात्त्विक प्रकृतिभाव है। यहीं मनोमय अव्ययपुरुष प्रतिष्ठित है। मनोमय पुरुष, और हृदयबलरूपा प्रकृति, दोनों का उदय समकालिक है, अतएव दोनों ही अनादि हैं *। मनोमय

*–प्रकृतिं, पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ॥

—गीता

अव्ययपुरुष के कोश में इस समय सीमावच्छिन्न रस, और बल, ये दो भाव हैं। इस द्विभावापन्न मनोमय पुरुष से उत्पन्न अर्करूप काम (कामना) का उदय होता है, जिस काम का 'एकोऽहं बहुस्याम्' शब्दों से अभिनय किया जाता है। हृदयबलरूपा प्रकृति ही मनोमय पुरुष के कामभाव को सफल बनाती है। माया-यच्छिन्न रस-बल की केन्द्रावच्छिन्न रसबलात्मक पुरुष में चिति करना इसी प्रकृति का काम है, अतएव यह स्वयं भी 'चिति' नाम से व्यवहृत हुई है ×। विज्ञानभाषा में 'चेतयते, चिनोति या सा' निर्वचन से यही प्रकृति 'चेतना' कहलाई है। मायामण्डलयुक्त रस बल की केन्द्रस्थ मन पर चिति (सञ्चिति-सञ्चय-चुनाव) करना इसी का काम है। इस चेतना, किंवा चितिलक्षण-चितिप्रवर्त्तिका प्रकृति के द्वारा होने वाली रसबलचिति से ही यह मनोमय पुरुष पञ्चचितिरूप में परिणत होता हुआ आगे जाकर-'चिदात्मा' नाम से प्रसिद्ध होता है। इस चेतना (प्रकृति) के स्थिति-गति-आगति-ये तीन विवर्त्त होजाते हैं, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होने वाला है।

५६२-चिदात्मा की स्वरूपाधिष्ठात्री प्रकृति के सम्बन्ध में एक प्रासङ्गिक प्रश्न, एवं तत्समाधानानुगत सर्वज्ञ-सर्ववित्-ज्ञानमय-तपोमूर्त्ति-तत्त्वविशेष का पारिभाषिक समन्वय, तथा तन्निबन्धन प्रतिष्ठात्मक 'ब्रह्मा', ज्योतिरूप-इन्द्र, यज्ञात्मक विष्णु-का रहस्यात्मक-स्पष्टीकरण—

प्रकृति किस रूप में परिणत होकर चिदात्मा की स्वरूप-निष्पत्ति का कारण बनती है ?, यह एक प्रश्न है। इस प्रश्न का समाधान करते हुए ऋषिने कहा है कि,-'जो सर्वज्ञ है, सर्ववित् है, जिस का तप (कर्म) ज्ञानमय है, उस (मूलकारणरूपा प्रकृति) से सर्वप्रथम ब्रह्म, नामरूप, अन्न, इन तीन भावों का उदय होता है +। प्रतिष्ठा तत्त्व ही ब्रह्म है, ज्योतिर्भाव ही नामरूप है, यज्ञभाव ही अन्न है। सम्पूर्ण प्रकृतिभावों का इन्हीं तीनों प्रकृतिभावों में अन्तर्भाव है। यह त्रयी ही प्रकृति का प्राथमिक विकास है। प्रतिष्ठात्मक ब्रह्म ही 'ब्रह्मा' है। ज्योतिर्लक्षण नामरूपात्मक तत्त्व ही 'इन्द्र' है। एवं यज्ञात्मक अन्न ही विष्णु, अग्नि, सोम हैं। कार्य्यरूप पदार्थों में प्रत्यक्षरूपेण अनुभूत स्थिति, अस्तित्व, ठहराव ही प्रतिष्ठा-लक्षण ब्रह्म है। यही तत्त्व सृष्टि का मूलाधार बनता है। स्थिरभाव में ही सृष्टिप्रक्रिया का सञ्चालन होता है। गति-भावापन्ना सृष्टिप्रक्रिया इसी स्थितिभाव पर प्रतिष्ठित है। बीज को भूगर्भ में प्रतिष्ठित कीजिए, तभी अङ्कुर-सृष्टि (अङ्कुरोद्गम) होगी। गर्भाशयप्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित शुक्र ही प्रजासृष्टि का कारण बन सकेगा। उत्पन्न

×-चितिरूपेण या कृत्स्नमेतद्व्याप्य स्थिता जगत्।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥
—सप्तशती

+-यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद् ब्रह्म, नामरूप-मन्नं च जायते॥
—मुण्डकोपनिषत् १।१।४।

होने वाली वस्तुओं में उत्पत्तिरूपा क्रिया का आधारभूत प्रतिष्ठाब्रह्म ही प्रथम उद्भूत होता है। वस्तुमात्र में प्रथम जन्मधारण करने वाला, एवं वस्तुमात्र का आधारभूत यही ब्रह्म–रूप, किंवा ब्रह्मरूप प्रतिष्ठा तत्त्व है *।

२६३–प्रतिष्ठातत्त्व का स्वरूप-विश्लेषक-'गतिभाव', तदनुगता-तद्रूपा-स्थिति-गति-द्वयी, तत्समष्टिरूप अनेजत्-एजत्-पुरुष, गति, और स्थिति-तत्त्वों से अनुप्राणिता निरपेक्षा-सापेक्षा-परिस्थितियों का पारिभाषिक समन्वय, गतिसमुच्चयात्मिका स्थिति का पारिभाषिक-स्वरूप-विश्लेषण, एवं-'तस्मादेतद्ब्रह्म' इत्यादि वाक्य-सन्दर्भ से अनुप्राणित प्रतिष्ठात्मक ब्रह्मतत्त्व का समन्वय-प्रयास—

उक्त प्रतिष्ठातत्त्व का विश्लेषण करते हुए वैज्ञानिकोंने 'गतिभाव' की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित किया है। पुरुषानुगता प्रकृतिविद्या से सम्बन्ध रखने वाले तत्त्ववाद को स्थिति, गति, भेद से दो भागों में विभक्त माना जासकता है। निरपेक्ष स्थितितत्त्व मायावच्छिन्न मनोमय अव्ययपुरुष है, सापेक्ष गतितत्त्व हृदयबलरूपा प्रकृति है। स्थितिलक्षण पुरुष निष्क्रिय है, गतिलक्षणा प्रकृति क्रियामयी है। पुरुषदृष्ट्या यही 'अनेजत्' है, प्रकृतिदृष्ट्या वही 'एजत्' है, मनसोऽपि जवीय है ×। सापेक्षगतिरूपा प्रकृति का यह सापेक्ष गतिभाव ही सापेक्षस्थिति (जो निरपेक्षस्थिति से सर्वथा विभिन्न तत्त्व है), सापेक्षगति, सापेक्षआगति, सापेक्षस्थितिगर्भिता सापेक्षगति, सापेक्षस्थितिगर्भिता आगति, इन पांच भावों में परिणत होरहा है। गतिरूपा एक ही प्रकृति का पञ्चधा विकास होरहा है। गतिसमुच्चय का ही नाम सापेक्षस्थिति है। सर्वतोदिग्गति, अथवा विरुद्धदिग्द्वगति का समन्वितरूप ही सापेक्षस्थिति है। पुरुषात्मिका निरपेक्ष स्थिति जहां इन्द्रियातीता है, वहां यह गतिसमुच्चयरूपा प्रकृतिरूपा सापेक्षस्थिति इन्द्रियगम्या है। समानबलोपेत मल्लों के द्वारा आकर्षित स्थूलरज्जू (रस्सा) विरुद्धदिग्द्वयगति की मूर्च्छा से स्थिर होजाता है। जितने भी पदार्थ ठहरे हुए प्रतीत होरहे हैं, विश्वास कीजिए! एककालावच्छेदेन वे पूर्व–पश्चिम–उत्तर–दक्षिण–अधः–ऊर्ध्व–सब ओर जारहे हैं। इन सब विरुद्धदिग्गतियों का पदार्थकेन्द्र में समन्वय होरहा है। अतएव सब गतियाँ एक दूसरी दिग्गति से मूर्च्छित होकर सर्वतोदिगनुगामी पदार्थ की स्थिरता कारण बन रही है। यही 'तस्मादेतत् ब्रह्म' रूपा पहिली स्थिति है, जिसे तात्त्विकोंने 'ब्रह्म' नाम से व्यवहृत किया है।

---

*–"ब्रह्म वै सर्वस्य प्रथमजम्। ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा"

शत० ६।१।१।७।

×–अनेजदेकं, मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ॥

—ईशोपनिषत्।

२६४—क्रमप्राप्त-ज्योतिर्लक्षण द्वितीय-महिमा-विवर्त्त का संस्मरण, बलकृति-भावापन्न इन्द्रतत्त्व का ज्योतिर्म्मयत्त्व, नामरूपकर्म्म-त्रयी से अनुप्राणित-ज्योतिर्भाव, 'गति' की इन्द्रानुगता प्रातिस्विक-सम्पत्ति का पारिभाषिक-समन्वय, एवं-'विसर्गः कर्म्म-संज्ञितः' इत्यादि गीतासिद्धान्त से अनुप्राणित-नामरूपात्मक-ज्योतिर्म्मय-सापेक्ष-गतितत्त्व का दिग्दर्शन—

दूसरा विवर्त्त ज्योतिर्लक्षण नामरूप-विवर्त्त है। नाम-रूप-भाव कर्म्म का भी उपलक्षण है। वस्तुतः तीनों में कर्म्म ही प्रधान है, जो कि कर्म्म 'बलकृति' नाम से व्यवहृत हुआ। एवं जिस को इन्द्रात्मक माना गया है ÷। प्रत्येक वस्तु में पहिले उस की गतिसमुच्चयरूपा स्थितिलक्षणा प्रतिष्ठा का उदय होता है। उस प्रतिष्ठा के आधार पर नाम-रूप-कर्म्म का उदय होता है, तीनों की समष्टि से पदार्थ की स्वरूप-निष्पत्ति होजाती है। इस त्रयी के बिना वस्तु असत् है, अन्धकार में है। नामरूपकर्म्म ही वस्तुभाव (ज्ञान) का कारण बनते हैं, अतएव इस भातिरूप नामरूपकर्म्मसमष्टि को अवश्य ही ज्योति कहा जासकता है। ज्योति ही इन्द्र है। यही सापेक्ष-गतिभाव है, गति ही तो इन्द्र का प्रातिस्विक स्वरूप है। हृदय से परिधि ओर गमन ही गति है, यही विसर्गभाव है। एवं-'विसर्गः कर्म्मसंज्ञितः' (गीता) के अनुसार नामरूप-गर्भित यही विसर्गात्मिा गति रूप कर्म्म है। यही 'नामरूपम्' वाला दूसरा सापेक्षगतिभाव है *।

२६५—यज्ञात्मक तृतीय-महिमा-विवर्त्त का संस्मरण, स्वरूपसम्पत्ति के रक्षात्मक यज्ञ से अनुप्राणित सप्तविध अन्नों का संस्मरण, विष्णुप्राण की अशनाया से आकर्पित अन्न की आहुति के द्वारा यज्ञ की स्वरूप-निष्पति, 'एवं-'विष्णु-सोम-अग्नि' भावत्रयी से अनुप्राणिता यज्ञात्मिका प्रकृति का दिग्दर्शन—

तीसरा विवर्त्त यज्ञलक्षण-अन्न है। ज्योतिर्लक्षण नामरूपकर्म्मात्मक इन्द्र के द्वारा प्रतिष्ठालक्षण ब्रह्म के आधार पर वस्तुस्वरूप सम्पन्न होगया। स्वरूपसम्पत्त्यनन्तर-इसमें स्वरूपरक्षात्मक-अन्नादान-विसर्गात्मक यज्ञ का आरम्भ होजाता है। जड़-चेतनोभयविध नामरूपकर्म्मात्मक यच्चयावत् पदार्थ निरन्तर सातों अन्नों में से किसी न किसी अन्न की आहुति लेते रहते हैं (खाते रहते हैं)। जो तत्त्व हृदय में प्रतिष्ठित होकर अशनायसूत्ररूप

÷—"या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्म्मैव तत्"
—यास्कनिरुक्ते।

* ज्योतिर्लक्षण नाम-रूप-कर्म्म को अनेक दृष्टियों से इन्द्रात्मक माना जासकता है। 'स यस्स आकाशः, इन्द्र एव सः' (जै० उ० ब्रा० १।२८।२।) के अनुसार इन्द्रतत्त्व आकाशात्मक है, एवं 'ज्योतिरिन्द्रः' के अनुसार यही ज्योतिर्भाव है। 'बलकृतिरिन्द्रकर्म्म' (या० नि०) के अनुसार ज्योतिर्लक्षण आकाशात्मक इन्द्र ही बलात्मक कर्म्म है, एवं 'आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता' के अनुसार यही आकाशात्मक इन्द्र नाम-रूपात्मक है। इसप्रकार इन्द्र का नाम-रूपकर्म्ममयत्त्व भलीभाँति सिद्ध होजाता है।

में परिणत होकर अन्नादान करता है, वही सापेक्ष-आगति तत्त्व है, जो विज्ञानभाषा में 'विष्णु' कहलाया है । जो तत्त्व आहुत होता है, वही स्थितिगर्भिता सापेक्ष-आगति है, वही 'सोम' है । एवं जिस में यह सोमान्न आहुत होता है, वही स्थितिगर्भिता सापेक्षगति है, यही 'अग्नि' है । इसप्रकार अन्नाकर्षिणी गति, अन्नात्मिका गति, आहुतिग्राहिका गति, भेद से इन तीनों के विष्णु-सोम-अग्नि, ये तीन विवर्त्त होजाते हैं । अन्न खींचने वाला, अन्न, एवं जिस में अन्नाहुति होती है वह, तीन गतियों के समन्वय से ही अन्न-यज्ञ का स्वरूप निष्पन्न होता है । इस में विष्णु-सोम-अग्नि, तीनों का अन्तर्भाव है । यही उस प्रकृति का तीसरा विवर्त्त है ।

२६६-गतिलक्षणा प्रकृति के ही पञ्चधा विभक्त-महिमा-विवर्त्तों के आधार पर पञ्चकल-प्राकृतभावों की अभिव्यक्ति, एवं प्रकृति के अन्तर्य्यामी, तथा सूत्रात्मा-नामक सुप्रसिद्ध महिमा विवर्त्तों का पारिभाषिक-समन्वय—

वही गतिलक्षणा प्रकृति गतिसमुच्चय में स्थितिलक्षण ब्रह्म है, विशुद्धगतिभाव में वही गतिलक्षण इन्द्र है, विशुद्ध आगतिभाव में वही विष्णु है । स्थितिगर्भित गतिभाव में वही अग्नि है, एवं स्थितिगर्भित आगतिभाव में वही सोम है । इसप्रकार गत्यात्मक एक ही प्रकृतिभाव पांच भागों में परिणत होरहा है । इन पांचों के अन्तर्य्यामी, सूत्रात्मा, ये दो विवर्त्त होजाते हैं । ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र,-तीनों की समष्टि अन्तर्य्यामी है, यही हृदय में प्रतिष्ठित रहता है । इन्द्र, अग्नि, सोम, तीनों की समष्टि सूत्रात्मा है, यह पृष्ठ में प्रतिष्ठित रहता है । यही पञ्चावयव गतितत्त्व प्रकृति है, जिसे निरपेक्षस्थितिरूप मनोमयपुरुष को चिति के द्वारा चिदात्मा बनाना है । प्रकृति-विवर्त्त को थोड़े समय के लिए यहीं छोड़कर पुरुषविवर्त्त की ओर ध्यान आकर्षित कीजिए ।

२६७-रस-बलो-भयमूर्त्ति मनोमय उक्थात्मक पुरुष के अर्क से अनुप्राणिता कामना, तन्निबन्धना रसकामना, और बलकामना, मुमुक्षानुगता अन्तश्चिति से अनुप्राणिता रसचिति, तथा सिसृक्षानुगता बहिश्चिति से अनुगता बलचिति का रहस्यात्मक-स्वरूप-समन्वय, रस-बल-निबन्धन-तारतम्य से सम्बद्धा प्रकृति के महिमाय-आनन्दचिति, विज्ञानचिति, मनश्चिति,प्राणचिति, वाक्चिति-नामक महिमा-विवर्त्तोंका स्वरूप-दिग्दर्शन, तन्निबन्धनपञ्चकोशात्मक चिदात्मब्रह्म का संस्मरण, एवं तदनुगत अकर्तृत्व से अनुप्राणित-'न करोति न लिप्यते' इत्यादि आर्ष-वचन का समन्वय-प्रयास—

रसबलोभयमूर्त्ति मनोमय पुरुष उक्थ (केन्द्र) है । इस से निकले वाले अर्क (रश्मियां) ही इसकी कामना है । यह कामना रसकामना, बलकामना, भेद से द्विधा विभक्त है । बलगर्भिता रसप्रधाना कामना रसकामना है, इसे ही 'मुमुक्षा' कहते हैं । रसगर्भिता बलप्रधाना कामना बलकामना है, यही 'सिसृक्षा'

कहलाई है। रसप्रधाना मुमुक्षा से पञ्चपर्वात्मिका प्रकृति के ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्रात्मक अन्तर्य्यामी-भाग से मनोमय पुरुष पर बलगर्भित रस की चिति होती है, वही 'अन्तश्चिति' कहलाई है। बलप्रधाना सिसृक्षा से प्रकृति के इन्द्र–अग्नि–सोमात्मक सूत्रात्ममाग से पुरुष पर रसगर्भित बल की चिति होती है, यही बहिश्चिति है। दोनों चितियों के प्रथमा-द्वितीया, भेद से दो दो विवर्त्त होजाते हैं। पहिली रसचिति में बल निर्बल अवश्य होजाता है, परन्तु उस का आत्यन्तिक अभिभव नहीं होता, यही प्रथमा रसचिति (जिसे बलानुगता रसचिति भी कह सकते हैं) है। यही विज्ञानभाषा में 'विज्ञानचिति' नाम की अन्तश्चिति कहलाई है। विज्ञान में रसोद्रेक अवश्य है, परन्तु बलात्मिका क्रिया की भी प्रतिच्छाया का समावेश है। विज्ञानात्मिका प्रथमा चिति पर पुनः उसी मुमुक्षा से द्वितीया रसचिति होती है। इस में बल का आत्यन्तिक अभिभव होजाता है। बल रससमुद्र के गर्भ में अपीत होजाता है। यही आनन्दचिति नाम की अन्तश्चिति है। यही अवस्था बहिश्चिति की समझिए। प्रथमा बलचिति है, जो 'प्राणचिति' कहलाई है। द्वितीया–बलचिति में रस का आत्यन्तिक अभिभव है, रस बलचिति में अपीत होजाता है। यही 'वाक्चिति' कहलाई है। इसप्रकार रस–बल के तारतम्य से, मुमुक्षा-सिसृक्षा के आधार पर रस–बलात्मिका प्रकृति के द्वारा वह मनोमय निष्कल पुरुष पञ्चकल बनता हुआ चिदात्मा बन जाता है। यही पुरुषोत्तम नामक अव्यय पुरुष है। इस की उक्त पाँचों कलाओं में से अन्त की वाक् कला ही उपनिषदों में 'अन्न' नाम से व्यवहृत हुई है। यही तैत्तिरीय उपनिषत् का पञ्चकोशब्रह्म है। पञ्चकोश शब्द इस की शक्तिघनता का ही समर्थन कर रहा है। यह आनन्दादि रूप है, शक्तिघन 'सामान्ये सामान्यभावः' न्यायानुसार आनन्द में आनन्द नहीं, विज्ञान में विज्ञान नहीं, मन में मन नहीं, प्राण में प्राण, एवं वाक् में वाक् नहीं। अतएव इसे अप्राण–अमना कहा जाता है *। अप्राण–अमन में क्रिया नहीं, अतएव यह स्वस्वरूप से कर्तृत्व–करणादि धर्म्मों से असंस्पृष्ट रहता हुआ विश्वविद्या के बहिर्भूत है। न वह करता है, न लिप्त होता है–'न करोति, न लिप्यते' (गीता)। निम्न लिखित श्रुति इसी स्मार्त्त सिद्धान्त की प्रामाणिकता व्यक्त कर रही है—

न तस्य कार्य्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च श्रूयते।
पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥

—श्वेत० उपनिषत्।

---

* दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः॥

—मुण्डक २।१।२।

२६८–शक्तिघन–कोशब्रह्म की पारिभाषिकी निर्द्धर्म्मकता, 'निष्क्रिय' भाव का समन्वय, योषा-वृषा-त्मिका रयि–प्राण-से अनुगता–रासायनिक-संयोग-निबन्धना सृष्टिमर्य्यादा से असंस्पृष्ट 'पुरुष' तत्त्व, पुरुषविद्यात्मिका प्रकृति, एवं तत्संक्षिप्त-स्वरूप–दिग्दर्शन का उपराम, और परिलेखों के माध्यम से पुरुष, तथा प्रकृति–निबन्धन–महिमा–विवर्त्तों का स्वरूप-समन्वय–प्रयास—

इसी शक्तिघनता के कारण हम इसे निर्धर्म्मक कहते हैं। अव्यय पुरुष है, चेतन है, चिदात्मा है। ज्ञानमूर्त्ति है, अतएव निष्क्रिय है, अतएव च क्रियासापेक्ष सक्रिय विश्वनिर्म्माणप्रक्रिया से बहिर्भूत है। सृष्टि संसृष्टि है, योषा-वृषा नामक रयि-प्राण के रासायनिक संयोग से सम्बन्ध रखती है। संसर्ग व्यापार है, व्यापार क्रिया है, क्रिया गति है, इस का उस निरपेक्ष स्थितिरूप अव्यय पुरुष में अभाव है, अतएव वह अकर्त्ता है। पञ्चकल अव्यय में गतिरूपा प्राणकला भी विद्यमान है। परन्तु केवल क्रिया ही तो स्वव्यापार-सञ्चालन में समर्थ नहीं होती। क्रिया क्रियावान् कर सकता है। अव्यय क्रियावान् नहीं, क्रियारूप है। जो क्रियावान् होगा, जो ज्ञानवान् होगा, जो वाङ्मय होगा, वही सृष्टिकर्त्ता माना जायगा। जिस भाग्यशाली में अव्ययशक्तियों का समावेश होगा, वही विश्वनिर्म्माण में समर्थ होगा। वही भाग्यशालिनी पूर्व में 'प्रकृति' नाम से व्यवहृत हुई है। यही प्रकृति उस पुरुष की विद्या है, यही पुरुष, और उसकी विद्या का संक्षिप्त-स्वरूप-दिग्दर्शन है।, जो परिलेखों में स्पष्ट होरहा है।

पुरुषः (निरपेक्षस्थितिलक्षणः)—

१–आनन्दचितिः (बलगर्भिता रसात्मिका)–आनन्दः
२–विज्ञानचितिः (बलानुगता रसात्मिका)–विज्ञानम्
} अन्तश्चितिः–मुमुक्षानुगता

*–मनोमयः पुरुषः (रसबलयोः साम्यावस्था)–मनः } चिदात्मा अव्ययपुरुषः पञ्चकलः (चित्)

१–प्राणचितिः (रसानुगता बलात्मिका) प्राणः
२–वाक्चितिः (रसगर्भिता बलात्मिका) वाक्
} बहिश्चितिः–सिसृक्षानुगता

* * *

प्रकृतिः-(सापेक्षगतिलक्षणा)—

१-सर्वतोदिग्गतिः (स्थितिः)-ब्रह्मा	ब्रह्मेन्द्रविष्णुलक्षणः-अन्तर्यामी-रसप्रधानः (अन्तश्चितेः प्रवर्त्तकः मुमुक्षानुगतः)	चेतना
२-विशुद्धा आगतिः (आगतिः)-विष्णुः		
३-विशुद्धा गतिः (गतिः)—इन्द्रः		
४-स्थितिगर्भिता आगतिः (संकोचः)-सोमः	इन्द्राग्निसोमलक्षणः सूत्रात्मा-बलप्रधानः (बहिश्चितेः प्रवर्त्तकः सिसृक्षानुगतः)	
५-स्थितिगर्भिता गतिः (विकासः)-अग्निः		

* * *

२६९-'तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास' सिद्धान्त-मूलक-मायातीत-अखण्ड-रस-बल-वत्ता का स्वरूप-समन्वय, तथा रस-बल-की अपेक्षा-भेदनिबन्धना विभिन्ना चितियों का पारिभाषिक-दिग्दर्शन, और पूर्व-पूर्व-संस्था, तथा उत्तर-उत्तर-संस्था-स्थिति का समन्वय-प्रयास—

'तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास' सिद्धान्त का स्मरण कीजिए। मायातीत अखण्ड परात्पर भी रस-बल-मूर्त्ति, मायावच्छिन्न मनोमय निष्कल अव्यय भी रसबलमूर्त्ति, पञ्चचितियुक्ता गतिलक्षणा प्रकृति भी रसबलमयी। इसप्रकार अबतक जितने भी विवर्त्त बतलाए गए हैं, सब रसबलात्मक बनते हुए 'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्' इस अद्वैतवाद का ही समर्थन कर रहे हैं। रसाधारेण होने वाली बलचितियों के, बलग्रन्थियों के तारतम्य से ही तो वह एक नानाभावों में परिणत होरहा है। अपेक्षया इन बल-रस भावों की व्यवस्था ही विज्ञानशास्त्र की मूलप्रतिष्ठा है। परात्परापेक्षया निष्कल मनोमय अव्यय बलरूप है। इसी की पाँचों कलाओं में आनन्द रस है, तो वाक् बल है। प्रकृत्यपेक्षा पञ्चकल पुरुष रस है, तो पञ्चकल-प्रकृतिभाव बल है। आगे के विवर्त्तों की अपेक्षा प्रकृति रस है, तो वे विवर्त्त बल हैं। इसप्रकार उत्तरोत्तर होने वाली निबिड़-बल-ग्रन्थियों की अपेक्षा पूर्व पूर्व संस्थाएँ उत्तरोत्तरापेक्षया रसात्मिका हैं। एवं उत्तरोत्त-रसंस्था पूर्व पूर्व संस्थापेक्षया बलात्मिका हैं। इसी समन्वय-व्यवस्था को आलम्बन बनाकर हमें प्रकृति-पुरुष के समन्वय की मीमांसा करनी है।

२७०–पञ्चकलात्मिका प्रकृति की अपेक्षा–भेद–निबन्धना रसवत्ता, तथा बलवत्ता का समन्वय, अमृत–मृत्यु–भावापेक्षया प्रकृति के अमृत–मृत्यु–स्वरूपों का रहस्यात्मक–पारिभाषिक–संकलन, एवं रसात्मक अमृतत्त्व, तथा बलात्मक अमृततत्त्व से अनुगता अव्यय–अक्षर–निबन्धना सर्वव्याप्ति का समन्वय, और तन्निबन्धना रहस्यपूर्णा निगमागम–विद्याओं का समन्वय–प्रयास, एवं तालिकाओं के माध्यम से अमृत–मर्त्य–भावों के महिमात्मक–विस्तार का दिग्दर्शन—

पञ्चकलान्विता प्रकृति पुरुषापेक्षया जहाँ बलप्रधाना है, वहाँ अग्रिम विवर्त्तापेक्षया रसप्रधाना है। अतएव इसे भी पुरुषवत् रस-बलात्मिका ही माना जायगा। रसप्रधाना प्रकृति इसी का अमृतरूप है, बलप्रधाना प्रकृति इसी का मर्त्यरूप है। अमृता प्रकृति, किंवा प्रकृतिका अमृतरूप पुरुष से समन्वित है। मर्त्या प्रकृति, किंवा प्रकृतिका मर्त्यरूप विश्व से समन्वित है। अतएव अमृताप्रकृति को पुरुषविद्या कहा जायगा, एवं मर्त्याप्रकृति को विश्वविद्या कहा जायगा। इसप्रकार पुरुषशक्तिरूपा एक ही प्रकृति-रस-बल के तारतम्य से अमृतविद्या, मर्त्यविद्या, नाम से व्यवहृत होने लगेगी। जिसप्रकार प्रकृति के ये दो विवर्त्त हैं, एवमेव पुरुष के भी ये ही दो विवर्त्त माने जायँगे। आनन्द, विज्ञान, मनोरूप पुरुष रस–प्रधान बनता हुआ अमृतपुरुष कहलाएगा। मनः–प्राणवाग्रूप पुरुष बलप्रधान बनता हुआ मर्त्यपुरुष कहलाएगा। अमृतविद्यात्मिका अमृता प्रकृति का सहयोगी आनन्दविज्ञानमनोरूप अमृतपुरुष माना जायगा, मर्त्यविद्यात्मिका मर्त्याप्रकृति का सहयोगी मनः प्राणवाङ्रूप मर्त्यपुरुष माना जायगा। और इसप्रकार एक ही पुरुष–प्रकृतिद्वन्द्व के दो द्वन्द्व होजायँगे। दोनों संस्थाओं में दोनों गौणरूप से सहयोगी रहे हैं। अमृतपुरुष, अमृतप्रकृति मुक्तिकर्म्म में प्रधान रहेंगे, यहाँ मर्त्य-पुरुष–मर्त्यप्रकृति का सहयोगमात्र रहेगा। एवमेव सृष्टिकर्म्म में मर्त्यपुरुष, मर्त्यप्रकृति प्रधान रहेंगे, एवं अमृतपुरुषप्रकृति का सहयोगमात्र रहेगा। अमृतपुरुष यद्यपि त्रिकल माना जाएगा, तथापि सहयोगी मर्त्य-पुरुष की तीनों कलाओं के समन्वय से वह भी पञ्चकल ही माना जायगा। एवमेव मर्त्यपुरुष भी अमृत–पुरुषत्रयी के समन्वय से पञ्चकल ही कहा जायगा। यही व्यवस्था प्रकृतितन्त्र में रहेगी। ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-प्रधाना अमृताप्रकृति भी इन्द्र–अग्नि-सोम-प्रधाना मर्त्याप्रकृति के समन्वय से पञ्चकल ही मानी जायगी। एवं इन्द्राग्निसोमात्मिका मर्त्याप्रकृति भी ब्रह्मेन्द्रविष्णुरूपा अमृताप्रकृति के समन्वय से पञ्चकलोपेता ही कही जायगी। अन्तर केवल प्रधानता अप्रधानता में होगा, एवं यही वह सुसूक्ष्म तात्त्विक भेद होगा, जिसको आधार बनाकर वैज्ञानिकोंनें निगमागमपुरुष, एवं निगमागमविद्याओं का समन्वय किया है। आगे के परिलेखों-से अबतक की सम्पूर्ण स्थिति का भलीभाँति स्पष्टीकरण होजाता है।

अमृतपुरुषः —

१—आनन्दः
२—विज्ञानम् } —आनन्दः (१)

३—मनः } —विज्ञानम् (२)

४—प्राणः
५—वाक् } —मनः (३)

—मनःप्राणवाग्रूपमर्त्यपुरुषगर्भितः, आनन्दविज्ञानमनोरूपः–पुरुषः "अमृतम्" (मुक्तिसाक्षी–पुरुषः)

* * *

मर्त्यपुरुषः—

१—आनन्दः
२—विज्ञानम् } —मनः (१)

३—मनः } —प्राणः (२)

४—प्राणः
५—वाक् } —वाक् (३)

—आनन्दविज्ञानमनोरूपामृतपुरुषगर्भितः, मनःप्राणवाग्रूपः–पुरुषः 'मृत्युः' (सृष्टिसाक्षीपुरुषः)

* * *

अमृता–प्रकृतिः (अमृता-विद्या)—

१—ब्रह्मा
२—विष्णुः } —ब्रह्मा (१)

३—इन्द्रः } —विष्णुः (२)

४—सोमः
५—अग्निः } —इन्द्रः (३)

—इन्द्राग्निसोमगर्भित ब्रह्मेन्द्रविष्णुप्रधाना-प्रकृतिः 'अमृतम्'; (मुक्तिसाक्षिणोऽर्द्धाङ्गिनी)

* *

मर्त्या-प्रकृतिः (मर्त्या-विद्या)—

१—ब्रह्मा } —इन्द्रः (१)
२—विष्णुः }
३—इन्द्रः } —सोमः (२)
४—सोमः } —अग्निः (३)
५—अग्निः }

—ब्रह्मेन्द्रविष्णुगर्भिता—इन्द्राग्निसोमप्रधाना—प्रकृतिः

'मृत्युः' (सृष्टिशक्तिर्णोऽर्द्धाङ्गिनी)।

* * *

समतुलनम्—

१—आनन्दः— २—विज्ञानम्— ३—मनः—	ब्रह्मा विष्णुः इन्द्रः	१—मनः— २—प्राणः— ३—वाक्—	इन्द्रः सोमः अग्निः
अमृतः पुरुषः १	अमृता प्रकृतिः २	मर्त्यः पुरुषः १	मर्त्याप्रकृतिः २
"अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन"			

२७१–मुक्तिसाक्षी आनन्द–विज्ञान-मनः-प्रधान-पुरुष का मायातीत–निर्विशेष-परात्पर से समतुलन, सृष्टिसाक्षी मनःप्राणवाक्-प्रधान-पुरुष, एवं तदनुगता प्रकृति, तथा ब्रह्म के परात्पररूप निर्गुणविवर्त्त, और पुरुषरूप सगुणविवर्त्त का संस्मरण, एवं परात्पर, तथा पुरुष-ब्रह्म-निबन्धन आगम-निगम-पुरुषों से अनुगता आगम-निगम-विद्याओं का स्वरूप-समन्वय—

मुक्तिसाक्षी आनन्द–विज्ञान–मन-प्रधान पुरुष मायातीत निर्विशेष परात्पर से समतुलित होता हुआ तद्-रूप ही है। सृष्टिसाक्षी मनःप्राणवाक्प्रधान पुरुष ही पुरुष है, अमृतमर्त्यभावापन्ना प्रकृति ही प्रकृति है। परात्पर-पुरुष निर्गुण है, इसी के लिए 'न करोति न लिप्यते' यह कहा जाता है *। इसके अतिरिक्त–'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्' (गीता····) से सम्बन्ध रखने वाला प्रकृति से समन्वित पुरुष सृष्टिसाक्षित्वेन सृष्टि का मूलकारण बना हुआ है, यही सगुणब्रह्म है, जिसे हम परिभाषानुसार 'परपुरुष' कहेंगे। वह निर्गुण इस सगुण परपुरुष से भी परे है, अतएव उसे 'परात्–सगुण–अव्ययात्–अपि–परः' निर्वचन से 'परा-त्परः' कहना अन्वर्थ बनता है। परात्परपुरुष परात्परवत् अखण्ड है, दिग्देशकालानवच्छिन्न है। 'अव्यय' शब्द के वास्तविक लक्षण ÷ का समन्वय इसी के साथ होरहा है। यही निर्गुणपरात्परपुरुष आगमपुरुष है। एवं दूसरा सगुण परपुरुष निगमपुरुष है। आगमपुरुष की विद्या ही 'आगमविद्या' है, एवं निगमपुरुष की विद्या ही निगमविद्या है।

२७२–रहस्यपूर्ण गुप्त सङ्केत से अनुप्राणिता आगमशास्त्र-निबन्धना पारिभाषिकी स्थिति का दिग्दर्शन, आगम का निगम-प्रतिष्ठात्व, एवं तत्कारण-मीमांसा, त्रिगुणात्मिका निगमविद्या, एवं गुणातीता आगमविद्या का संस्मरण, तथा आगम-निगम-विद्याओं के विभिन्न उपक्रमों के आधार पर स्वरूप स्थिति का समन्वय—

एक रहस्यपूर्ण गुप्त सङ्केत। सर्वसामान्य की दृष्टि में आगमशास्त्रापेक्षया निगमशास्त्र प्रधान है। निगम जबकि स्वयं निर्गत है, और आगम जबकि निगम से आगत बनता हुआ निगममूलक है, तो निगमशास्त्र की प्रधानता का इस दृष्टिकोण से समादर भी किया जासकता है। परन्तु तत्त्वतः आगम ही निगम की प्रति–

---

*–अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय ! न करोति लिप्यते॥
—गीता

÷–सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्॥
—गोपथब्राह्मणे

ष्ठा है, एवं निगमापेक्षया आगमशास्त्र ही प्रधान है। कारण यही है कि, आगमविद्या जहाँ महामायात्मिका बनती हुई गुणातीता है, वहाँ निगमविद्या योगमायात्मिका बनती हुई गुणमयी है। इसी 'रहस्य का भगवान् ने भी–'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन !'–'तावान् सर्वस्य वेदस्य ब्राह्मणस्य विजानतः'–'व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते' इत्यादि शब्दों में विश्लेषण किया है।

२७३-आगम-निगम-विद्याओं के उपक्रम-स्थानों से अनुगता स्थिति का दिग्दर्शन, प्रणवोङ्कारात्मिका आगमविद्या का, एवं उद्गीथोङ्कारात्मिका निगमविद्या का भेदात्मक दृष्टिकोण, त्रिगुणभावग्रहग्रस्त निगमासक्त मानव, एवं त्रिगुणातीता महामाया के उपासक आगमनिष्ठ मानव, तथा निगमानुगता 'विद्या', और आगमानुगत-'महाविद्या' शब्दों के पारिभाषिक-समन्वय का प्रयास—

आगमरहस्य काउपक्रमस्थान क्योंकि पृथिवी माना गया है, एतावता ही सूर्योपक्रमभूत निगम-रहस्य की प्रधानता मान्य हैतुतः तत्त्वदृष्ट्या प्रणवोङ्कारात्मिका आगमविद्या उद्गीथोङ्कारात्मिका निगमविद्या की अपेक्षा सर्वात्मना प्रधान है। इसी आधार पर पूर्व में हमनें आगम को निगम की प्रतिष्ठा बतलाया है। परात्परपुरुष जब परपुरुषापेक्षयाप्रधान है, तो उसका रहस्य विश्लेषण भले ही पृथिवी को उपक्रम माने, परन्तु एतावता ही उसकी प्रधानता का अपलाप नहीं किया जासकता। त्रिगुणभावापन्न व्यक्तियों के लिए यह रहस्य जहाँ रहस्य बना रहता है, वहाँ गुणातीता महामाया के उपासक रहस्यवेत्ता सत्सम्प्रदायाचार्यों के लिए यही रहस्य वास्तविक रहस्य है। यही कारण है कि निगमविद्या जहाँ केवल 'विद्या' शब्द से व्यवहृत हुई है, वहाँ आगमविद्या 'महाविद्या' नाम से प्रसिद्ध हुई है। क्या इस सम्बन्ध में निगमशास्त्र का भी समर्थन प्राप्त किया जासकता है ? अवश्य। इसी समर्थन के लिए आगे प्राकृतिक विवर्त्त की ओर पुनः पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

२७४-आनन्द-विज्ञान-मनोमयी अमृताविद्या, मनःप्राणवाङ्मयी मर्त्याविद्या, तदनुगत सृष्टिविद्यात्मक-पारिभाषिक-दृष्टिकोण, सगुण-निर्गुण-ब्रह्मानुगत विद्याविवर्त्तों का रहस्यात्मक समन्वय-प्रयास, मुक्तिसाक्षी-सृष्टिसाक्षी-पुरुष के महिमाविवर्त्तों का संस्मरण, प्रकृति-पुरुष-समन्वयात्मक तथ्य का संस्मरण, उभयात्म-विवर्त्तों का सृष्टिकर्तृत्व, एवं प्रकृति के प्रति सृष्टि-कर्तृत्व का संस्थापन—

कहा गया है कि, आनन्द–विज्ञान–मनोमयी विद्या अमृता विद्या है, एवं मनःप्राणवाङ्मयी विद्या-मर्त्या विद्या है। सृष्टिदशा में अमृता विद्या का भी विश्लेषण मनःप्राण-वाग्रूप से ही किया जायगा। क्योंकि सृष्टिदशा में अमृता विद्या की उपलब्धि का द्वार मर्त्या विद्या (अविद्या–कर्म) ही मानी गई है। एवमेव सृष्टिदशा में इसका सम्बन्ध उभयपुरुषों में से सगुण–परपुरुष नामक मनःप्राणवाग्रूप अव्यय के साथ ही माना जायगा। क्योंकि पुरुष का यही रूप सृष्टिसाक्षी है। इसी स्थिति का दूसरे शब्दों में समन्वय कर–

लीजिए। अमृता विद्या अमृतपुरुषानुगामिनी बनती हुई, मुक्तिसाक्षिणी बनती हुई आनन्दविज्ञानमनोमयी है। एवं वही मर्त्यपुरुषानुगामिनी बनती हुई, सृष्टिसाक्षिणी बनती हुई मनःप्राणवाङ्मयी है। अतएव मुक्तिदशा-में उसका अमृतरूप से विचार होगा, एवं सृष्टिक्रम में उसी का मर्त्यविद्या से समन्वय किया जायगा। आनन्द-विज्ञान-अन्तर्मनोगर्भित मनःप्राण-वागरूप शक्तिरूप अव्ययपुरुष सृष्टिसाक्षी है, मनःप्राण-वाङ्मयी विद्या सृष्टिकर्त्री है। 'तत्तु समन्वयात्' (वेदान्तसूत्र) सिद्धान्तानुसार दोनों के समन्वय से ही सृष्टि का निर्म्माण हुआ है। अतः यद्यपि दोनों को ही सृष्टिकर्त्ता माना जासकता है। तथापि कर्तृत्त्व धर्म्म का विकास प्रकृति में ही है। अतः ÷ पुष्करपलाशवन्निर्लेप-चित्-पुरुष से अनुगृहीता प्रकृति ही कर्त्री मान ली गई है, जिस तत्त्व का वैज्ञानिकोंनें आगे के शब्दों में विश्लेषण किया है।

२७५-अनन्त-ज्ञान-क्रिया-अर्थ-मय तत्त्वविशेष की 'अक्षरब्रह्म' रूपता का संस्मरण, अक्षरब्रह्म की पारिभाषिकी मनःप्राणवागरूपता, तदनुगत अक्षरब्रह्म, और उसके सर्वज्ञ-सर्वशक्तिमान्-सर्ववित्-नामक मनोमय-प्राणमय-वाङ्मय-विवर्त्तों का समन्वय, शक्तित्रयी से अनुप्राणित शक्तिमान् अक्षरब्रह्म, अक्षरब्रह्म की रहस्य-पूर्णा-अव्ययपुरुष-निबन्धना सच्चिदानन्दरूपता का दिग्दर्शन, तथा सर्वमूर्त्ति सर्वात्मक अक्षरब्रह्म के काम तपः-श्रम-अनुबन्धों के द्वारा सम्पन्ना सृष्टिविद्या का संस्मरण—

अनन्त ज्ञान-क्रिया-अर्थमय-तत्त्वविशेष ही विज्ञानभाषा में 'अक्षरब्रह्म' कहलाया है। यह अक्षर-तत्त्व मनःप्राण-वाङ्मय है। मनोरूपत्त्वेन ज्ञानशक्तिघन, प्राणरूपत्त्वेन क्रियाशक्तिघन, एवं वागरूपत्वेन अर्थ-शक्तिघन बने हुए मनःप्राणवागरूप सगुण अव्यय पुरुष के मनोरूप ज्ञान से यह अक्षर ज्ञानमय बनता हुआ **सर्वज्ञ** है, प्राणरूपा क्रिया से क्रियामय बनता हुआ **सर्वशक्तिमान्** है, एवं वागरूप अर्थ से यही अर्थमय बनता हुआ **सर्ववित्** है। ज्ञानोक्थ मन, क्रियोक्थ प्राण, अर्थोक्थ वाक्, तीनों उक्थभावों से निकले हुए अर्करूपों से अनुगृहीत अक्षरब्रह्म ज्ञानवान् है, क्रियावान् है, अर्थवान् है। उसकी शक्तित्रयी से यह शक्तिमान् बना हुआ है। यदि आनन्द-विज्ञान-शक्तियों का समावेश और मान लिया जाता है, तो यही अक्षरब्रह्म सच्चि-दानन्दब्रह्म बन जाता है। आनंद आनन्द है, विज्ञान चित् है, मनः-प्राण-वाक्समष्टि 'सत्' है। सत्-चित्-आनन्द की समष्टि ही सच्चिदानन्दघन अव्ययब्रह्म है, तद्वान् अक्षर भी सचिदानन्दवान् ही है। स्मरण कीजिए! हमनें प्रकृति को गतिरूप बतलाया है। गति क्रियाभाव है। इसका रहस्य यही है कि, मनोरूप ज्ञान का विकास स्वयं अव्यय में रहता है, अतएव वह ज्ञानात्मा कहलाया है। वागरूप अर्थ का विकास प्रकृति के मर्त्यक्षरभाग में हुआ है, अतएव वह क्षरब्रह्म भूतात्मा कहलाया है। प्राणरूपा अव्ययक्रिया का विकास अक्षररूपा प्रकृति में हुआ है, अतः यह अक्षरब्रह्म 'कर्म्मात्मा' कहलाया है। ज्ञानात्मा अव्यय भी निष्क्रिय है, भूतात्मा क्षर भी निष्क्रिय है। सक्रिय है मध्यस्थ कर्म्मात्मा अक्षर। क्रियाधिष्ठाता अक्षर ही

÷—'प्रकृतिः कर्त्री, पुरुषस्तु पुष्करपलाशवन्निर्लेपः, किन्तु चेतनः'

—प्राधानिकशास्त्र

अव्यय की ज्ञानमात्रा से सर्वज्ञ, चर की अर्थमात्रा से सर्ववित् बनता हुआ अपने मनोमय-प्राणमय-वाङ्मय भावों से क्रमशः काम-तपः श्रम के द्वारा सृष्टिनिर्माण में समर्थ होता है। अतः हम इस अव्यक्त-अक्षरक्षर को ही क्षरविश्व का मूलकारण मानते हैं, जैसाकि निम्नलिखित उपनिषद्वचन से स्पष्ट है—

> यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुल्लिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः ।
> तथाऽक्षराद्विविधाः सौम्य ! भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥
>
> —मुण्डकोपनिषद्

२७६-कुम्भकार-नामक सुप्रसिद्ध-प्रजापति की एजदनेजद्रूपा स्थिर-चल-चक्रानुगता-मध्यस्थ कीलक, दण्ड-सूत्र-चीवरादि-साधन-परिग्रह-समन्विता-घटनिर्म्माण-प्रक्रिया के साथ उख्यघटात्मक विश्वनिर्म्माता ईश्वर-प्रजापति की सृष्टिप्रक्रियाओं का समतुलन, एवं-'कारणसमुदायस्यैव कार्य्यं प्रति कारणत्वम्' न्याय का संस्मरण—

जैसे एक प्रजापति (कुम्भकार-कुम्हार) भूपृष्ठ पर बैठकर समुदायरूप से सर्वथा गतिशून्य (अनेजत्), किन्तु अवयवरूप से सर्वथा गतिशील (मनसोऽपि जवीयः) बने हुए काष्ठमय वर्त्तुल चक्र के मध्यस्थित कीलक पर आर्द्र मृत्पिण्ड रखता हुआ दण्ड-सूत्र-चीवरादि साधनों से घट निर्म्माण किया करता है, ठीक इसी भाँति अक्षरप्रजापतिरूप कुम्भकार आनन्द-विज्ञान-मनोरूप मुक्तिसाक्षी निर्गुण अव्ययभूमरूप धरातल पर बैठकर मनः-प्राण-वाग्रूप सृष्टिसाक्षी-सगुण-अव्ययरूप अनेजदेजल्लक्षण चक्र पर क्षररूप मिट्टी को पारमेष्ठ्य अप्तत्त्वरूप पानी से आर्द्र कर इसे उस अव्ययचक्र पर रखता हुआ स्वनियतिरूप दण्ड, ऋत-सत्यरूप सूत्र, त्रयस्त्रिंशत्तन्तुमय वषट्काररूप चीवरादि साधनों से त्रिलोकीरूप उखा (घट) का निर्म्माण किया करता है। त्रिभुवन-विधाता उस अक्षरप्रजापति में, और बुध्न (पैंदा), उदर, मुखरूप त्रैलोक्यप्रतिकृतिरूप मृण्मय घट का निर्म्माण करने वाले मनुष्यप्रजापति (कुम्भकार) में निरन्तर स्पर्द्धा होती रहती है *। जो सृष्टिनिर्म्माणक्रम घटसृष्टि का है, वही क्रम ईश्वरसृष्टि में व्यवस्थित है। इसी रहस्य को निदानविद्या के आधार पर व्यक्त करने के लिए ऋषि ने कुम्भकार को 'प्रजापति' रूप नैदानिक संज्ञा प्रदान की है। इसी सृष्टि व्यवस्था के आधार पर हमें इस निष्कर्ष पर भी पहुँचना पड़ रहा है कि, सृष्टि में आलम्बन, निमित्त, उपादान, ये तीनकारण अपेक्षित हैं। इसी आधार पर-'कारणसमुदायस्यैव कार्य्यं प्रति कारणत्वम्' यह न्याय प्रतिष्ठित है।

---

* घटानां निर्म्मातुस्त्रिभुवनविधातुश्च कलहः ।

२७७-सृष्टि के आलम्बन-निमित्त-तथा उपादान-नामक तीन कारणों का समन्वय, क्षरपुरुष की-'ब्रह्मरूपता', अपर-अवर-भावों का पारिभाषिक-समन्वय, पर-परावर-भावों का संस्मरण, सर्वधर्म्मोपपन्न ब्रह्म के पारिभाषिक स्वरूप का दिग्-दर्शन, एवं मध्यस्थ ब्रह्म की सर्वव्याप्ति का दिग्दर्शन प्रयास, और तत्सम्बन्ध में ऋषिवचनों का संस्मरण—

मनःप्राणवाग्रूप, किन्तु (अक्षरापेक्षया) मनःप्रधान अव्ययपुरुष सृष्टि का आलम्बनकारण है। मनःप्राणवाङ्मय, किन्तु (स्वापेक्षयथा) प्राणमय अक्षरपुरुष सृष्टि का निमित्तकारण है। मनःप्राणवाङ्मय, किन्तु (स्वापेक्षया) वाङ्मय क्षरपुरुष सृष्टि का उपादानकारण है। उपादानकारण ही संकेतभाषा में 'ब्रह्म' कहलाया है। अतएव क्षरतत्त्व 'ब्रह्म' नाम से व्यवहृत हुआ है, जो व्यवहार 'ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्' से प्रमाणित है। अक्षर से ही ब्रह्मरूप क्षर का उद्भव हुआ है। यही 'अवरब्रह्म' अपरब्रह्म' नामों से भी प्रसिद्ध है। मध्यस्थ अक्षरब्रह्म अव्ययापेक्षया अवर, क्षरापेक्षया पर बनता हुआ 'परावरब्रह्म' कहलाया है। व्यक्त क्षरब्रह्म, अव्यक्त अक्षरब्रह्म, इन दोनों व्यक्ताव्यक्तों से अतीत अव्ययब्रह्म (सगुण अव्यय) ही 'पर' कहलाया है। मध्यस्थ परावर अक्षर उस ओर की सगुणाव्ययलक्षणा परसम्पत्ति से युक्त है, इस ओर की सविकार क्षरलक्षणा अवरसम्पत्ति से युक्त है। दूसरे शब्दों में इसमें 'ब्रह्म' नामक क्षरका, 'पर' नामक अव्यय-का दोनों का, समन्वय है। अतएव इसे हम 'पर' भी कह सकते हैं। ब्रह्म भी कह सकते हैं। निष्कर्षतः इसमें सर्व-समन्वय है। अतएव व्यासपरिभाषानुसार इसे 'सर्वधर्म्मोपपन्न' कहा जासकता है। इसके तात्त्विक स्वरूप-बोध से सबकुछ ज्ञात होजाता है। मध्यस्थ अक्षर की इसी सर्वव्याप्ति का दिग्दर्शन करते हुए ऋषि कहते हैं—

१—एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म (परात्मकम्)—
एतद्ध्येवाक्षरं परम् (अव्ययात्मकम्)—
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा ।
यो यदिच्छति, तस्य तत् ॥

—कठोपनिषदि १।२।१३।

२—भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

—मुण्डकोपनिषदि २।२।८।

२७८–ज्ञानघन अव्यय, एवं अर्थमय क्षर से समन्वित मध्यस्थ परावरमूर्त्ति अक्षरब्रह्म का सृष्टिकर्तृत्त्व, ज्ञान-क्रिया-अर्थ-शक्तित्रयी से समन्वित सृष्टिकर्त्ता-ब्रह्म, इत्थंभूत अक्षरब्रह्म की सृष्टिधारा से अनुगत ब्रह्म-नामरूप-अन्न लक्षण प्रतिष्ठा-ज्योतिः-यज्ञ-नामक-सृष्टिविवर्त्तों का सिंहावलोकनात्मक संस्मरण, एवं परब्रह्मात्मक अक्षर ब्रह्म के पञ्चकला-विवर्त्तों के साथ शब्दब्रह्म के पाँच कला-विवर्त्तों का समतुलन, तथा शब्दार्थ के उत्पत्तिसृष्ट (नित्य) सम्बन्ध का संस्मरण—

ज्ञानघन अव्यय, एवं अर्थमय क्षर से समन्वित मध्यस्थ–परावर-अक्षरब्रह्म ही सृष्टिकर्त्ता है, यह सिद्ध हो चुका। यद्यपि अक्षर ज्ञान–क्रिया–अर्थ तीनों से युक्त है। तथापि क्रिया, एवं अर्थभावों का पूर्णविकास क्योंकि विश्व में ही होता है। सृष्टि से पहिले तो ज्ञानमात्र ही अभिव्यक्त रहता है। अतएव अक्षर का तपोरूप कर्म (क्रिया) ज्ञानमय ही मान लिया गया है। इसप्रकार अव्ययमन से सर्वज्ञ, क्षरवाक् से सर्वचित्, एवं स्वस्वरूप से सर्वशक्तिमान् बनता हुआ अक्षर अपने ज्ञानमय तप से सर्वप्रथम ब्रह्मरूप प्रतिष्ठा, नामरूपात्मिका ज्योति, अन्नरूप यज्ञ, इन तीन विवर्त्तभावों में परिणत होरहा हैं, जिन तीनों विवर्त्तों का पूर्व में विश्लेषण किया जाचुका है। ब्रह्म--नामरूप--अन्न--भावों से अक्षर पञ्चकल बना हुआ है। इसी के लिए 'यदक्षरं पञ्चविधं समेति युजो युक्ता अभियत् संवहन्ति' * यह कहा जाता है। एक ही अक्षर गतितारतम्य से पञ्चाक्षर बना हुआ है। जिसप्रकार शब्दसृष्टि की मूलप्रतिष्ठा 'अ–इ–उ–ऋ–लृ' ये पांच स्वरात्मक अक्षर माने गए हैं, एवमेव अर्थसृष्टि की मूलप्रतिष्ठा 'ब्रह्मा' (अ), विष्णु (इ), इन्द्र (उ), अग्नि (ऋ), सोम (लृ),' ये पांच अक्षरात्मक स्वर मानें गए हैं। जो क्रम शब्दसृष्टि का है, वही क्रम अर्थसृष्टि का है। शब्दब्रह्म का परिज्ञान अर्थब्रह्म परिज्ञान के लिए पर्य्याप्त है। शब्द, और अर्थ का अभिन्न सम्बन्ध है। उत्पन्नसृष्ट नहीं, अपितु उत्पत्तिसृष्ट सम्बन्ध है ÷।

---

*–सत्यस्य सत्यमनु यत्र युज्यते, तत्र (अक्षर) देवाः सर्व एकी भवन्ति ॥

—उपनिषदि

÷–"औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेनसम्बन्धस्तस्यज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धेतत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्"।

—पूर्वमीमांसासूत्र

२७६–सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा सृष्टिपालक विष्णु, सृष्टिसंहारक रुद्रात्मक इन्द्र, अग्नीषोम की उपादानकारणता, त्रिमूर्त्ति, और द्विमूर्त्ति का समन्वय, रुद्र का रुद्रत्व, और शिवत्व, इन्द्रात्मक सूर्य्य की प्रधानता, निगमशास्त्र के पञ्चदेवतावाद के साथ पुराणशास्त्र के सुप्रसिद्ध त्रिदेवतावाद का पारिभाषिक-निर्विरोध-समन्वय, एवं सर्वधर्म्मोपपन्न अक्षरब्रह्म की प्रथमा 'गुणसृष्टि' का प्रासङ्गिक-संस्मरण—

ब्रह्मा सृष्टिकर्त्ता हैं, विष्णु पालक हैं, इन्द्र (रुद्र) संहारक है। अग्नीषोम उपादान है। जबतक त्रिमूर्त्ति (ब्रह्मेन्द्रविष्णु) के साथ द्विमूर्त्ति (अग्नीषोमात्मक यज्ञ) का सम्बन्ध रहता है, तबतक इन्द्र (रुद्र) शिव बने रहते हैं। अग्नीषोमात्मक यज्ञ के उच्छिन्न होजाने पर वही इन्द्र घोररूप में परिणत होकर विश्व का संहार कर डालते हैं। बारह प्रकार के आदित्य-प्राणों में से शासक, प्रतिष्ठाता, व्यापक, अमृतरूप, अन्यतम प्राण ही 'इन्द्र' है। अतएव द्वादशादित्य-घन सूर्य्य को धाता, भग, पूषा, मित्र, वरुण, अर्य्यमा, अंशु, विवस्वान्, त्वष्टा, सविता, विष्णु, इन में से किसी नाम से प्रधानतया व्यवहृत न कर 'इन्द्र' नाम से ही व्यवहृत किया जाता है। सूर्य्यात्मक 'इन्द्र, अग्नि, सोम (चन्द्रमा)' तीनों ज्योतिर्म्मय पदार्थ हैं। इन्हीं तीनों ज्योतियों से विश्व प्रकाशित है। इन्हीं तीनों की समष्टि शिव है। अन्नयज्ञ के आधार पर ही शिवस्वरूप प्रतिष्ठित है, जैसाकि पूर्व में बतलाया जाचुका है। अग्नीषोम के समन्वय का ही नाम यज्ञ है। पुराणशास्त्र ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इस त्रित्व विज्ञान को प्रधान मानता है। एवं निगमशास्त्र ब्रह्मादि-पञ्चाक्षर-विज्ञान को प्रधानता दे रहा है। निरूपणीया शैलीमात्र में भेद है, वस्तुतत्त्व अभिन्न है। पुराणः-इन्द्र, अग्नि, सोम, इस भेद को उन्मुग्ध मान कर तीनों की समष्टि का शिव स्वरूप से संग्रह कर रहा है। वेद तीनों का उद्बुद्धरूप से प्रतिपादन कर रहा है। यही सर्वधर्म्मोपपन्न अक्षरब्रह्म का प्रथमसृष्टि-विवर्त्त है, जिसे 'गुणसृष्टि' कहा जाता है।

१–ब्रह्माक्षरः	ब्रह्म (प्रतिष्ठासृष्टिः)	अक्षरप्रजापतिः
२–इन्द्राक्षरः	नामरूपम् (ज्योतिःसृष्टिः)	
३–विष्ण्वक्षरः	अन्नञ्च जायते (यज्ञसृष्टिः)	
४–अग्न्यक्षरः		
५–सोमाक्षरः		

* * *

२८०-रसबलात्मक-पञ्चकल-अक्षरब्रह्म की 'प्रकृति' रूपता का समन्वय, अव्ययपुरुष को परा, और अपरा नाम की प्रकृतिद्वयी का पारिभाषिक-स्वरूप-समन्वय, परा, और अपरा प्रकृति के महिमामय विस्तार से अनुप्राणिता गुणसृष्टि, तथा विकारसृष्टि का संस्मरण, तन्निबन्धन विकारक्षर-पञ्चक, पञ्चात्मिका विकारक्षर-कलाओं का स्वरूप-परिचय, एवं वैकारिक विश्व-निबन्धन-'विश्वसृट्' का स्वरूप-दिग्दर्शन—

रसबलात्मक, पञ्चकल यही अक्षरब्रह्म पूर्व में 'प्रकृति' नाम से व्यवहृत हुआ है। इसी प्रकृति के अमृत, मर्त्य, भेदेन विवर्त्तों का पूर्व में विश्लेषण हुआ है। अमृताप्रकृति अक्षर है, यह सर्वथा अविपरिणामी है। यही गुणसृष्टि की अधिष्ठात्री है, यही उस निर्गुण-अव्ययेश्वर की (आगमपुरुष की) पराप्रकृति है। मर्त्याप्रकृति आत्मक्षर है, यह सर्वथा विपरिणामी है, यही * विकारसृष्टि की अधिष्ठात्री है, यही उस सगुण-अव्यय की (निगमपुरुष की) अपराप्रकृति है। यही विश्व का उपादान कारण है। ब्रह्मादि जो पाँचकलाएँ अक्षरात्मिका पराप्रकृति की हैं, वे ही पाँचों कलाएँ क्षरात्मिका इस अपराप्रकृति की हैं। अव्ययाभिन्न अक्षर के द्वारा क्षर की इन ब्रह्मादि पाँचों कलाओं से क्रमशः 'प्राणः-आपः-वाक्-अन्नं-अन्नादः'-नाम की पाँच विकार कलाएँ उत्पन्न होतीं हैं, यही पहिली विकारसृष्टि है। ये ही विकारक्षर वैकारिकीसृष्टि के उपादान बनते हैं। अतएव इन्हें वैकारिक विश्व की अपेक्षा 'विश्वसृट्' कहा जाता है।

२८१-दर्शनशास्त्रानुगता सुप्रसिद्धा पञ्चीकरणप्रक्रिया से अनुप्राणित पारिभाषिक तथ्य, एवं विश्वसृट् की 'पञ्चजन' रूप में परिणति, 'वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः' मूलक विशेष-व्यवहार का पारिभाषिक समन्वय, 'पञ्चजन' व्यवहार का पारिभाषिक-दृष्टिकोण, एवं पञ्चजनों के द्वारा अभिव्यक्त पञ्चविध 'पुरञ्जन-विवर्त्त' का संस्मरण—

दर्शनशास्त्रानुगता सुप्रसिद्धा पञ्चीकरणप्रक्रियारूप इन पाँचों विश्वसृजों (विकारक्षरों) के सर्वहुतयज्ञ से पञ्चात्मक 'पञ्चजन' उत्पन्न होते हैं। आधे में प्राण नामक विश्वसृट्, आधे में आपः-वागादि चारों विश्वसृट्, इस क्रम से प्राणादि पाँचों विश्वसृजों की पाँचों में आहुति होने से जो पञ्चीकृत प्राणादि उत्पन्न होते हैं, वे ही 'पञ्चजन' कहलाए हैं। 'वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः' न्याय से इन के नाम भी अपञ्चीकृत विश्वसृजों की भाँति 'प्राणः-आपः-आदि ही रहते हैं। इन पाँचों पञ्चजनों से आगे जाकर क्रमशः वेद, लोक, देव, पशु, भूत, ये पाँच पुरञ्जन उत्पन्न होते हैं। इन्हीं से ब्रह्मपुर-रूप विश्व का स्वरूप निष्पन्न होने वाला है, अतएव

---

*-विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृति-सम्भवान्।

—गीता

इन्हें 'पुरञ्जन' कहना अन्वर्थ बनता है। इन पाँचों पुरञ्जनों में सब का मूलाधार पञ्चीकृत-प्राणात्मक वेद नाम का ही पुरञ्जन है। इसी आधार पर-'वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे' सिद्धान्त प्रतिष्ठित है।

२८२-वेद-लोक-देव-भूत-पशु-नामक सुप्रसिद्ध पञ्चविध पुरञ्जनों के पञ्चीकरण से अभिव्यक्त स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा-भूपिण्ड-नामक पञ्चविध पुरभावों का पारिभाषिक-स्वरूप-समन्वय, 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' न्यायानुगत विश्वप्रविष्ट विश्वात्मा, 'विश्वम्' शब्द का पारिभाषिक-निर्वचन, चतुःसंस्थ विश्व, एवं चतुःसंस्थ विश्वात्मा से अनुगता निदानभाव-निबन्धना गायत्र-सम्पत्ति का रहस्यात्मक-समन्वय, तथा तत्सम्बन्ध में ऋषि-वचनों का संस्मरण—

इन्हीं पाँचों पुरञ्जनों से क्रमशः 'स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी' इन पाँच पुरों का प्रादुर्भाव हुआ है। इसप्रकार अपने क्षरभाग से विश्वसृट्, पञ्चजन, पुरञ्जन क्रम से इन पाँच पुरों को उत्पन्न कर 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' सिद्धान्तानुसार अव्यय-क्षरानुगृहीत अक्षरब्रह्म इन में प्रविष्ट होजाता है। अतएव 'विशत्यस्मिन्नात्मा' निर्वचन से इस पुरसमष्टि को 'विश्वम्' कहा जाता है। आनन्दविज्ञानमनः-प्राणवाग्भेदभिन्न पञ्चकल अव्यय, अमृत ब्रह्मादिभेदाभिन्न पञ्चकल अक्षर, मर्त्यब्रह्मादिभेदभिन्न पञ्चकल आत्मक्षर, निष्कल परात्पर, इन षोडशकल चारों आत्मपर्वों की समष्टि ही षोडषकल प्रजापति है, यही विश्वात्मा है। प्रजापति के विपरिणामी क्षरभाग से उत्पन्न विश्वसृट्, पञ्चजन, पुरञ्जन, पुर, इन चारों की समष्टि ही उस विश्वात्मा का शरीररूप विश्व है। चतुःसंस्थ विश्वात्मा, चतुःसंस्थ विश्व, ये आठों हीं पर्व उस एक ही मध्यस्थ अक्षरब्रह्म का वैभव है। इसी के ये आठ विवर्त्त हैं। इसी आधार पर नैदानिकोंने इस सर्वप्रपञ्च को 'गायत्री' माना है। गायत्रीछन्द अष्टाक्षर है, सर्वप्रपञ्च भी अष्टाक्षर है। यही इस निदान का रहस्य है। निम्न लिखित मन्त्रश्रुतियाँ इसी प्राजापत्य-विज्ञान का स्पष्टीकरण कर रहीं हैं-

१-प्रजापते ! न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव ॥
यत् कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥
—ऋक् सं० १०।१२१।१०।

२-यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा ।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी ॥
—यजुः सं० ८।३६।

विश्वविवर्त को ब्रह्मविवर्त कहा जासकता है । रस ज्ञानप्रधान है । अतएव रसप्रधान आत्मा को ज्ञानात्मा कहा जासकता है, एवं बलप्रधान विश्व को उस ज्ञानात्मा का कर्म माना जासकता है विश्वाभावदशा में ज्ञानमूर्ति वह आत्मा, किंवा आत्मालक्षण ज्ञान निरुपाधिक है, विश्व में संश्लिष्ट होता हुआ वही ज्ञानात्मा सोपाधिक बनता हुआ 'आत्मन्वी' है । इस विश्वोपाधि के सम्बन्ध से ही वह आत्मज्ञान नानाभावों में परिणत होरहा है । विश्वोपाध्यवच्छिन्न वही ज्ञानात्मा विश्वविद्या है, विश्वोपाधि से विरहित-अतएव निरस्त-समस्त-भेद-युक्त विशुद्ध ज्ञानरूपात्मक वही ज्ञानात्मा 'आत्मविद्या' * है । विश्वोपाध्यवच्छिन्ना असंख्यभावापन्ना उस विश्वविद्या को वैज्ञानिकोंनें 'वेद, ब्रह्म, विद्या' इन तीन भागों में विभक्त माना है । एक ही सौर प्रकाश हरित, रक्त, नील, आदि विविध वर्णों के आदर्शों के भेद से सोपाधिक बनता हुआ जैसे भिन्न भिन्न वर्णों में परिणत होजाता है, एवमेव वह ज्ञानघन अक्षरप्रजापति विश्वानुगत वेद, ब्रह्म, विद्या, इन तीन उपाधियों से संश्लिष्ट होकर त्रिधा विभक्त होजाता है । निगमशास्त्र में 'त्रयं ब्रह्म'–'त्रयी विद्या' –'त्रयो वेदाः' इत्यादि रूप से ब्रह्म–विद्या–वेद, तीनों को अभिन्नार्थक माना जारहा है । परमार्थदृष्टि की अपेक्षा हैं भी तीनों अभिन्न हीं । क्यों कि, वही ज्ञान ब्रह्म बना है, वही विद्या बना है, एवं वही वेदरूप में परिणत हुआ है । परन्तु विश्वदृष्ट्या (उपाधिदृष्ट्या) तीनों को भिन्न ही माना जायगा । वेद, विद्या, ब्रह्म, तीनों अवश्य वही है । परन्तु वेद विद्या नहीं है, विद्या वेद नहीं है, वेद ब्रह्म नहीं है, विद्या ब्रह्म नहीं है । विश्वसृष्टि में समष्ट्या व्यष्ट्या, उभयथा इन्हीं तीनों सोपाधिक ज्ञानविवर्त्तों का साम्राज्य है । शब्दब्रह्म वेदतत्त्व है, एवं संस्कारब्रह्म विद्यातत्त्व है ।

२८५–वेद–विद्या-ब्रह्मात्मक ईश्वर–प्रजापति के अंशरूप जीव–के माध्यम से स्थिति का समतुलन, मानवीय–उदाहरणों के माध्यमों से वेद–विद्या–ब्रह्म–शब्दत्रयी के पारिभाषिक–अर्थों का समन्वय–प्रयास, एवं पदार्थावच्छिन्न–पदार्थाकाराकारित–आध्यात्मिक–ज्ञान का पारिभाषिक–'ब्रह्मतत्त्व'—

उदाहरण के लिए वेद–विद्या-ब्रह्मात्मक ईश्वरप्रजापति के अंशरूप, अतएव वेद–विद्या–ब्रह्मात्मक आप अपने आपके ज्ञान को ही लक्ष्य बनाइए, तीनों भेदों का स्पष्टीकरण होजायगा । राम, कृष्ण, देवदत्त, घट, पट, मट, आदि विविध प्रकार के शब्द आप सुनते रहते हैं । इसके अतिरिक्त गो, हस्ती, अश्व, मनुष्य, पक्षी, वन, सागर, पर्वतादि विविध प्रकार के भौतिक पदार्थों को आप देखते भी रहते हैं । शब्दों के सुनने से भी आप को ज्ञान होता है, एवं पदार्थों के अवलोकन से भी ज्ञान होता है । 'गो' शब्द सुनने से आप का ज्ञान गोशब्दाकाराकारित होजाता है । गोपशु के देखने से आप का ज्ञान गो-पश्वाकाराकारित बन जाता है । इसप्रकार शब्दश्रवण, विषयदर्शन, भेद से आप का आध्यात्मिक ज्ञान दो भागों में विभक्त होजाता है । इन में शब्दावच्छिन्न शब्दाकाराकारित आध्यात्मिक ज्ञान ही 'वेद' है । एवं पदार्थावच्छिन्न पदार्थाकाराकारित आध्यात्मिक ज्ञान ही 'ब्रह्म' है ।

---

* प्रत्यस्ताशेषभेदं यत् सत्तामात्रमगोचरम् ।
वचसामात्मसंवेद्यं तज् ज्ञानं ब्रह्म संज्ञितम् ॥

२८३–'आत्म–स्वरूप-षोडशी-प्रजापति' से अनुगत परात्पर–अव्यय–अक्षर–आत्मक्षर-नामक चतुर्विध महिमा–विवर्त्तों के विभूति–मय विस्तार से, तथा आत्मेश्वर के शरीरात्मक पुररूप–'विश्व' से अनुगत विश्वसृट् पञ्चजन, पुरञ्जन–पुर–नामक चतुर्विध–महिमा–मय विस्तारों से अनुगता स्थिति का परिलेख के माध्यम से स्पष्टीकरण–प्रयास—

षोडशीप्रजापतिः–आत्मा				विश्वम्			
१	२	३	४	१	२	३	४
परात्परः	अव्ययः	अक्षरः	आत्मक्षरः	विश्वसृट्	पञ्चजनः	पुरञ्जनः	पुरम्
१	२	३	४	५	६	७	८
निष्कलः–निर्गुणोव्ययः	१-आनन्दः	अमृतब्रह्मा	मर्त्यब्रह्मा	शुद्धप्राणः	पञ्चीकृतप्राणः	वेदाः	स्वयम्भूः
	२-विज्ञानम्	,, विष्णुः	,, विष्णुः	,, आपः	,, आपः	लोकाः	परमेष्ठीः
	३-मनः	,, इन्द्रः	,, इन्द्रः	,, वाक्	,, वाक्	देवाः	सूर्य्यः
	४-प्राणः	,, सोमः	,, सोमः	,, अन्नम्	,, अन्नम्	पशवः	चन्द्रमाः
	५-वाक्	,, अग्निः	,, अग्निः	,, अन्नादः	,, अन्नादः	भूतानि	पृथिवी

२८४–रसानुबन्धी चतुःसंस्थ विश्वप्रविष्ट 'विश्वात्मा', एवं बलानुबन्धी चतुःसंस्थ आत्मानुगृहीत–'विश्व', रसप्रधान ज्ञानात्मा, एवं बलप्रधान तत्कर्म्मरूप विश्व, सोपाधिक ज्ञानात्मा से अनुप्राणित–'आत्मन्वी', विश्वोपाध्यवच्छिन्ना विश्वविद्या के उपाधि–भेद निबन्धन–'वेद, ब्रह्म, विद्या' नामक सुप्रसिद्ध तीन महिमा–विवर्त्तों का संस्मरण, 'त्रयं ब्रह्म-त्रयी विद्या-त्रयो वेदाः' मूलक अभिन्न अर्थों का पारिभाषिक–समन्वय, तथा शब्दात्मक वेदतत्त्व, संस्कारात्मक विद्यातत्त्व का पारिभाषिक–संस्मरण—

रस–बल के पूर्वप्रतिपादित अपेक्षित तारतम्य के अनुसार उक्त द्विधा विभक्त प्राजापत्यसंस्था के भी षोडशीप्रजापतिरूप आत्मविवर्त्त को रसविवर्त्त माना जासकता है, एवं चतुःसंस्थ

२८६-शब्दावच्छिन्न ज्ञान, तथा विषयावच्छिन्न ज्ञान के आधार पर अभिव्यक्त-विशेष-ज्ञानात्मक-सांस्कारिकज्ञान का विद्यारूपेण पारिभाषिक-समन्वय, तन्निबन्धन अनुभवाहित-संस्कारसत्ता-निबन्धना विश्वसत्ता, विश्वस्वरूप-सम्पादिका संस्कारात्मिका-विद्या, विद्यात्मक अन्तर्जगत्, और तन्निबन्धन ईश्वरीय, तथा जैव-जगद्विवर्त्तों का दिग्दर्शन, एवं संस्कारावच्छिन्न विद्यातत्त्व, शब्दावच्छिन्न-वेदतत्त्व, तथा विषयावच्छिन्न वेद-भावों का स्वरूप-समन्वय—

उक्त दोनों ज्ञानों से अतिरिक्त एक तीसरा चिरस्थायी ज्ञान और उत्पन्न होता है। शब्द सुनने से, एवं विषय देखने से जो तात्कालिक ज्ञान उत्पन्न होता है, वही 'सामान्यज्ञान' कहलाया है। यही सामान्यज्ञान आगे जाकर विशेषज्ञानरूप में परिणत होजाता है। यही विशेषज्ञान 'संस्कार' नाम से प्रसिद्ध है। शब्द, और विषय (पदार्थ), दोनों ही तात्कालिक सामान्य ज्ञानोत्पादन के अव्यवहितोत्तरक्षण में ही विलीन होजाते हैं। इनसे उत्पन्न शब्दश्रवणात्मक, तथा विषयदर्शनात्मक सामान्यज्ञान अनुभव के द्वारा (बुद्ध्यनुगत प्रज्ञान मन की प्रवणता के द्वारा, अवधान के द्वारा) आगे जाकर विशेषभावापन्न बनता हुआ आत्मा में (विज्ञानसम्परिष्वक्त प्रज्ञानमनःपटल में) खचित होजाता है। यही ज्ञान दार्शनिक भाषा में-'अनुभवाहित-संस्कार' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। विज्ञानभाषा में यही विशेष ज्ञान 'विद्या' कहलाया है। यही व्यवहारमार्ग की मूलप्रतिष्ठा बनता है। जबतक आत्मा में संस्कारात्मिका विद्या है, तभीतक अध्यात्मसंस्था स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित है। संस्काराभाव में आप विश्वातीत हैं, मुक्त हैं। विश्वसत्ता संस्कारसत्ता पर ही अवलम्बित है। अतएव शब्दात्मक वेद, विषयात्मक ब्रह्म, दोनों की अपेक्षा हम संस्काररूपा विद्या को ही प्रधानरूप से विश्वस्वरूप-सम्पादिका मान सकते हैं। उस आत्मज्ञान पर बलचिति के तारतम्य से संस्कार-पुट लगने से ही विश्व की स्वरूप-निष्पत्ति हुई है। जैसे हमारा अन्तर्जगत् हमारा संस्कार है, एवमेव महाविश्वात्मक उसका अन्तर्जगत् उसका संस्कार है। अतएव उसके महाविश्व को हम अवश्य ही 'विद्या' प्रधान कह सकते हैं। इसप्रकार संस्कारावच्छिन्न बनता हुआ वही विद्या है, शब्दावच्छिन्न बनता हुआ वही वेद है, एवं विषयावच्छिन्न बनता हुआ वही ब्रह्म है।

२८७-संस्कारात्मिका सृष्टि से अनुप्राणित-'चितिभाव', तदनुप्राणिता अन्तश्चिति, और बहिश्चिति, प्रकृतिरूपा-विद्या, एवं तदनुबन्धिनी पारिभाषिकी निगमागम-विद्याओं से अनुप्राणित निगमागमशास्त्र का दिग्दर्शनात्मक-समन्वय-प्रयास—

सृष्टि संस्कारात्मिका है, यह पूर्वनिरूपण से भलिभाँति सिद्ध होजाता है। संस्कार का अर्थ है चिति-भाव। यह चितिभाव प्रकृति के द्वारा ही सम्पन्न होता है, जैसाकि पूर्व के अन्तश्चिति-बहिश्चिति-प्रकरण में स्पष्ट किया जाचुका है। चिति ही प्रकृति है, प्रकृति ही चिति है, यही संस्कार है, संस्कार ही विद्या है। अतएव इस प्रकृति को हम अवश्य ही 'विद्या' नाम से व्यवहृत कर सकते हैं। यह प्रकृतिरूपा विद्या उस निगमागम-पुरुष की विद्या है। इसी निगमागमविद्या के आधार पर निदानविद्या प्रतिष्ठित हुई है, जिसके समन्वय के

लिए निगमागमपुरुष, और उसकी विद्या के तात्त्विक स्वरूप का विश्लेषण किया गया है। पारिभाषिक निगमागमपुरुष, और उसकी विद्या से सम्बन्ध रखने वाली परिभाषाओं का दिग्दर्शन कराया गया। अब इस पारिभाषिक प्रकरण का समन्वय कीजिए।

२८८–आनन्द-विज्ञान-मनोरूप-निष्कल-निर्गुण-परात्पर से समतुलित 'परात्परपुरुष' नामक अव्यय पुरुष की आगमपुरुषरूपता का पारिभाषिक समन्वय, तन्निबन्धना 'महाविद्या', एवं सोमात्मिका परा-पराणां-परमा-शक्ति, और तन्निबन्धन प्रकृतिपुरुषात्मक-प्रथम-युग्म—

आनन्द-विज्ञान-मनोरूप निष्कल निर्गुण-परात्पर-समतुलित, अतएव 'परात्परपुरुष' नाम से प्रसिद्ध अव्ययपुरुष आगमपुरुष है, एवं 'पराप्रकृति' नाम से प्रसिद्ध अक्षरतत्त्व इस पुरुष की 'पराविद्या' है, यही महामायात्मिका आगमविद्या है, जो अनन्त योगमायाओं को अपने गर्भ में रखने के कारण रहस्यपरिभाषा में 'महाविद्या' कहलाई है, जिसका रहस्यवेत्ताओंने पृथिवी से उपक्रम माना है, जो सोमात्मिका है परा-पराणां-परमा है *। यही पुरुष-प्रकृति का प्रथम युग्म है।

२८९–माहेश्वरी विद्या के आदि-सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक भगवान् ब्रह्मा, एवं ब्रह्मा से अनुगता सत्सम्प्रदाय की आचार्य्य-परम्परा का पावन-संस्मरण, अक्षर-सम्बन्धेन अक्षरविद्यात्व, आत्मसम्बन्धेन आत्मविद्यात्व, निर्गुणाव्ययब्रह्मत्वेन ब्रह्मविद्यात्व, एवं-'अध्यात्मविद्या-विद्यानाम्' रूपेण आत्मविद्या का सर्वज्येष्ठत्व-श्रेष्ठत्व-संस्थापन—

भगवान् ब्रह्मा इस माहेश्वरी विद्या के आदिसम्प्रदाय प्रवर्त्तक हैं। ब्रह्मा के द्वारा यह पराविद्या सर्वप्रथम इनके ज्येष्ठ-औरस-पुत्र अथर्वा में प्रतिष्ठित हुई है। अथर्वा के द्वारा महर्षि अङ्गिरा से इसका सम्बन्ध हुआ है। अङ्गिरा के द्वारा अस्मद्गोत्र-प्रवर्द्धक भगवान् भरद्वाज सत्यवाह महर्षि इसके अधिकारी बने हैं। भरद्वाज के द्वारा यह महर्षि अङ्गिरस् में प्रतिष्ठित हुई है। अङ्गिरा के द्वारा यह महाशाल शौनक में अवतीर्ण हुई है। इसप्रकार यह विद्या-ऋषिसम्प्रदाय में सुगुप्तरूप से प्रचलित रही है, जिसका सम्यक् परिज्ञान एकमात्र सत्सम्प्रदायपरम्परा पर ही अवलम्बित है। केवल ग्रन्थ-सङ्केत के आधार पर इसका तात्त्विक बोध नहीं प्राप्त किया जासकता। शौनकवत् विधिवत् उपसन्न [दीक्षित] ही इस रहस्य के, एवं रहस्योपासना के अधिकारी माने गए हैं। यही महाविद्या अक्षर-सम्बन्धेन अक्षरविद्या, आत्मसम्बन्धेन आत्मविद्या, निर्गुणअव्ययब्रह्मत्वेन ब्रह्मविद्या, आदि विविध नामों से व्यवहृत हुई है। 'अध्यात्मविद्या-विद्यानाम्' रूप से स्वयं भगवान्ने भी इसी आत्मविद्या का ज्येष्ठत्व-श्रेष्ठत्व स्वीकार किया है।

---

*–सौम्या सौम्यतराशेष-सौम्येभ्यस्त्वतिसुन्दरी।
परा पराणां परमा त्वमेव परमेश्वरी॥
—सप्तशती

२६०–मनःप्राणवाग्रूप–सगुण-परपुरुष-नामक अव्यय–पुरुष की निगमपुरुषता, तदनुगता अपराप्रकृति, तन्निबन्धना अपराविद्या, तदभिन्ना त्रिगुणात्मिका निगम-विद्या, तत्सम्बद्ध खण्ड–खण्डात्मिका विविध–विद्याविवर्त्त एवं तद्रूप विश्वविद्यात्मक–विद्याविवर्त्तों का श्रौत–वचनों के माध्यम से पारिभाषिक–समन्वय—

मनः-प्राण-वाग्रूप-सकल-सगुण-'परपुरुष' नाम से प्रसिद्ध अव्ययपुरुष ही निगमपुरुष है। एवं 'अपराप्रकृति' नाम से प्रसिद्ध क्षरतत्त्व [आत्मक्षरतत्त्व] ही इस पुरुष की अपराविद्या है, यही त्रिगुणात्मिका योगमायामयी निगमविद्या है, जो महाविद्या के गर्भ में रहने के कारण 'विद्या' नाम से ही व्यवहृत हुई है। योगमाया त्रिगुणभाव के सन्तनन के कारण खण्ड–खण्डात्मिका बन रही है। अतएव इसके द्वारा आत्म-विकास आवृत होरहा है *। इसी आवरण–धर्म्मप्रवृत्ति से यह क्षरात्मिका विद्या अविद्या कहलाई है। ऋक्-यजुः-साम-अथर्व-शिक्षा-कल्प-व्याकरण-निरुक्त-छन्द-ज्योतिष, आदि खण्डविद्यात्मक विवर्त्त इसी अविद्यात्मिका अपराविद्याके विस्तार हैं। यही विद्या क्षरसम्बन्धेन क्षरविद्या, विश्वसम्बन्धेन विश्वविद्या, सगुणाव्यय-सम्बन्धेन सगुणविद्या, इत्यादि विविध नामों से व्यवहृत हुई है। निम्न लिखित उपनिषच्छ्रुति इन्हीं दोनों निगमागमविद्या ओं का विस्पष्ट शब्दों में विश्लेषण कर रही है—

१–ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह॥

२–अथर्व्वणे यां प्रवदेत ब्रह्मा, अथर्व्वा तां पुरोवाचाङ्गिरसे ब्रह्मविद्याम्।
स भारद्वाजाय सत्यवाहाय प्राह, भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम्॥

३–शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ—
'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्व्वमिदं विज्ञातं भवति'? इति।

४–तस्मै स होवाच–'द्वे विद्ये वेदितव्ये'–इति हस्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति–
परा चैव, अपरा च।

५–तत्र–'अपरा'–ऋग्वेदो, यजुर्वेदः, सामवेदो, ऽथर्व्ववेदः शिक्षा–कल्पो–
व्याकरणं–निरुक्तं–छन्दो–ज्योतिष' मिति।
'अथ–'परा'–यया तदक्षरमधिगम्यते'॥

---

* नाहं प्रकाशः सर्व्वस्य योगमाया–समावृतः।

६-यत्-तत्-अद्रेश्यं, अग्राह्यं, अगोत्रं, अवर्णं अचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं,
नित्यं, विभुं, सर्वगतं सुसूक्ष्मम् (,एवं विभ्रमक्षरमाहुः)-
तदव्ययं-तद्भूतयोनिं (क्षरं) परिपश्यन्ति धीराः"
७-यः सर्वज्ञः सर्वविद्, यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादेतद् ब्रह्म-नामरूप-मन्नं च जायते ॥

—मुण्डकोपनिषत् १।१।१-६;६,।

२६१-अक्षररूपा प्रकृति के अमृत, तथा मर्त्य-भावापन्न-अक्षर, एवं क्षर-विवर्त्तों का संस्मरण, अमृताक्षररूपा-अक्षरविद्या, एवं मर्त्याक्षररूपा क्षरविद्या का पारिभाषिक-समन्वय, तथा भगवान् श्वेताश्वतर के द्वारा विद्या-अविद्यात्मक आगम-निगम-विवर्त्तों का स्वरूप-संस्मरण—

बतलाया गया है कि, अक्षररूपा प्रकृति ही अपने अमृतभाग से अक्षर है, मर्त्यभाग से क्षर है। वही अव्यक्तभावात्मना अक्षर है, व्यक्तभावात्मना क्षर है। इस दृष्टि से दोनों ही विवर्त्तों को हम 'अक्षर' नाम से भी व्यवहृत कर सकते हैं। अमृताक्षररूपा अक्षर ही विद्या, है, मर्त्याक्षररूप क्षर ही अविद्यात्मिका (आवरणात्मिका-विश्वात्मिका) विद्या है। इन दोनों विद्या-अविद्या विवर्त्तों का ईश वही उभयविध निगमागम-पुरुष है। भगवान् श्वेताश्वतरने इसी रहस्य का निम्न लिखित शब्दों में विश्लेषण किया है—

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे ।
क्षरं त्वविद्या, ह्यमृतं तु विद्या, विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ॥

—श्वेताश्वतरोपनिषत ५ अ१ १ मं०।

चतुष्टयं वा इदं सर्वमित्याहुराचार्य्याः—

*

(१) १-अनन्दविज्ञानरूपः परात्परपुरुषः-आगमपुरुषः (महामायी महेश्वरः)

(२) २-आनन्दविज्ञानमयः अक्षरः——आगमविद्या (पराविद्या-आत्मविद्या)

*

(३) १-मनः प्राणवाग्रूपः-परपुरुषः-निगमपुरुषः (योगमायी विष्णुः)

(४) २-मनः प्राणवाङ्मयः-क्षरः—निगमविद्या (अपराविद्या-विश्वविद्या)

*

* * *

२६२-सूर्य्य--चन्द्र--अग्नि--ओषधि--वनस्पति-कृमि-कीट-पशु-पक्षी-पुरुष-धातु-उपधातु-रस--उपरस--विष--उपविष--भुवनकोश---दगार्गल----परिसर---पर्य्यङ्क----दहरपुण्डरीक--उक्थ--साम--पृष्ठ--स्तोम--वषट्कार--देव--ऋषि--गन्धर्व--आदि खण्ड-विद्यात्मिका--निगमविद्या का संस्मरण, एवं एवं तत्प्रतिष्ठारूपा--आगमविद्यात्मिका 'महाविद्या' का पारिभाषिक समन्वय, और महाविद्यानुगत-विराट्-संख्यानुप्राणित-निदानभाव का संस्मरण—

सूर्य्य, चन्द्र, अग्नि, ओषधि, वनस्पति, कृमि, कीट, पशु, पक्षी, पुरुष, धातु, उपधातु, रस, उपरस, विष, उपविष, भुवनकोश, दगार्गल, परिसर, पर्य्यङ्क, दहरपुण्डरीक, उक्थ, साम, पृष्ठ, स्तोम, वषट्कार, देव, ऋषि, पितर, गन्धर्व, आदि आदि विद्याएँ खण्ड-खण्ड विद्याएँ हैं, इन सबकी निरूपिका विद्या ही खण्ड-खण्डात्मिका निगमविद्या है । यही विश्वविद्या है । इस विश्वविद्या को अपने गर्भ में रखने वाली, अपने अवान्तर मुख्य दस विवर्त्तों में परिणत रखने वाली, सर्वविद्यात्मिका विद्या ही आगमविद्या है । इसी आधार पर यह 'महाविद्या' कहलाई है । महाविद्या के वे अवान्तर १० मां विवर्त नैदानिक--दशावयव-विराड्विद्यारूपा विश्वविद्या से समतुलित है । अतएव प्रसङ्गोपात्त विराट्--संख्या (दससंख्या) का वैज्ञानिक इतिवृत्त भी अप्रसङ्गिक नहीं माना जायगा । उसी की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है—

२६३-ज्योतिष्चक्रानुगत-नक्षत्रमण्डल, महीधर, तथा नद-नदियों से अनुप्राणित त्रिविध नैदानिक-भावों का सिंहावलोकनात्मक संस्मरण, एवं चतुर्थी-संख्या-विद्या से अनुप्राणिता सम्पत्संग्रह-मूला निदानभावनिबन्धना स्थिति का संख्योदाहरण-माध्यम-से पारिभाषिक-स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

ज्योतिष्चक्रानुगत नक्षत्रमण्डल, पर्व , नद--नदियां, इन तीनों के अतिरिक्त संख्या--तत्त्व भी निदान-विद्या का मुख्य अवलम्ब माना गया है । शतशः याज्ञिक-सम्पत्तियों का संख्यानुगत निदानभाव के द्वारा ही संग्रह हुआ है । यदि गृहीत तत्त्व दो हैं, तो द्विसंख्या के द्वारा अन्न अन्नाद का ग्रहण है । यदि ३ हैं, तो त्रिपर्वा आत्मा संगृहीत है । ५ संख्या से पांक्त यज्ञसम्पत् का परिग्रहण है । ६ संख्या से षड्विध स्तोमसम्पत्ति संग्राह्य बन जाती है । ७ संख्या से सप्तहोतृ-सम्पत्ति का ग्रहण कर लिया जाता है । ८ संख्याक पदार्थों के द्वारा गायत्रसम्पत्ति का समावेश कर लिया जाता है । एवमेव ९-१०-११-१२-१३-१४-१५-१६-१७-आदि आदि संख्याओं के आधार पर तत्तत्-संख्यानुगत संख्येय पदार्थों को तत्तत् संख्यानुगत नवाहयज्ञ, विराड्यज्ञ, एकादशरुद्र, द्वादशादित्य, (मलिम्लुच-सम्बन्धेन) त्रयोदशमासात्मक सम्वत्सर, चतुर्दशविध भूतसर्ग, पञ्चदश-पर्वात्मिका वज्रशक्ति, षोडशकल प्रजापति, सप्तदशस्तोमावच्छिन्न उद्गीथप्रजापति, आदि आदि सम्पत्तियों का संग्रह कर लिया जाता है । तदनुगत संख्या का समावेश होते ही तत्काल ऋषि संख्यानुगता नैदानिकी सम्पत्ति की घोषणा कर देते हैं, जैसा कि निम्न लिखित कतिपय उदाहरणों से प्रमाणित है—

१-'एक एव भवति (कपालः) । एकमिव हि शिरः' । (शत० ६।३।१।८)

२-'द्वयोः प्रणयन्ति, तस्माद्द्वाभ्यामेति' (शत० ११।५।२।६)

३-'त्रिभिः पवित्रैः पावयन्ति । त्रयो वा इमे लोकाः' (शत० १२।८।१।६)

४-'तेषां वै चतुर्ष्वग्निं मन्थन्ति । तस्माच्चतुर्भिरङ्गैः रायुते' (शत० ११।५।२।८) ।

५-'यच्छन्तां पञ्च ेति । पञ्च वा इमा अङ्गुलयः । पाङ्क्तो वै यज्ञः । तद्यज्ञमेवैतदत्र दधाति'' (शत० १।१।८।१६) ।

६-'स पितृभ्यः सोमवद्भ्यः षट्कपालं पुरोडाशं निर्वपति । षड्वा ऋतवः ।
(शत० २।६।१।४)

७-'सप्तकपालाः (भवन्ति) । शीर्षण्येव तत् सप्त प्राणान्दधाति'
(शत० ६।३।१।८)

८-'तां वा अष्टमीमनुब्रूयात् , गायत्री वा एषा निदानेन । अष्टाक्षरा वै गायत्री'
(शत० १।४।१।३६)

९-'ता वा एता नव व्याहृतयो भवन्ति । नवेमे पुरुषे प्राणाः' (शत० ११।५।२।५)

१०-'द्वन्द्वं पात्राण्युदाहरति । तद्दश , दशाक्षरा वै विराट् । विराड्वै यज्ञः'
(शत० १।१।१।२२) ।

११-'ते वाऽतऽएकादश प्रयाजा भवन्ति । दश वा प्राणाः, आत्मैकादशः'
(शत० ३।७।४।३)

१२-'द्वादश दद्यात् । द्वादश वै मासाः सम्वत्सरस्य । सम्वत्सरो वै यज्ञप्रजापतिः । स यावानेव यज्ञः, यावत्यस्य मात्रा, तावतीभिर्दक्षयति'' (शत० २।२।२।५)

—इत्यादि *

२६४-प्रकृति-पुरुष-समन्वयात्मिका-विश्वरचना का संस्मरण, आगमपुरुष, तन्निबन्धन अक्षरात्मिका पराप्रकृति, तत्समष्टिरूप कालपुरुष, एवं-निगम पुरुष, तन्निबन्धन क्षरात्मिका अपराप्रकृति, तत्समष्टिरूप यज्ञपुरुष, तथा काल-यज्ञ-रूप निरवच्छिन्न निर्गुण-सावच्छिन्न-सगुण-महिमा-विवर्त्तों का पारिभाषिक-समन्वय-प्रयास—

पूर्व परिच्छेद में प्रकृति-पुरुष के समन्वय से विश्वरचना बतलाई गई है । आगमपुरुष, और उ की अक्षररूपा विद्यात्मिका पराप्रकृति, दोनों की समष्टि 'कालपुरुष' विवर्त्त है । निगमपुरुष, औ. उस

* इसी संस्थानुगत निदान के आधार पर 'पिता-पुत्रौ न गच्छेताम्'-'त्रय, नार्य्यो न गच्छन्तु', ' गच्छेद् भ्रातरद्वयम्, इत्यादि शकुन-सिद्धान्त-प्रतिष्ठित हैं ।

क्षररूपा अविद्यात्मिका अपराप्रकृति, दोनों की समष्टि 'यज्ञपुरुष' विवर्त्त है। परात्पर-समतुलित, अतएव 'परात्परपुरुष' नाम से प्रसिद्ध निर्गुणाव्ययरूप कालपुरुष अनादि है, सर्वव्यापक है। 'परमपुरुष' नाम से प्रसिद्ध सगुणाव्ययरूप यज्ञपुरुष सादि है, परिच्छिन्न है। व्यापक कालपुरुष का ही यत्किञ्चित् प्रदेश परिच्छिन्न होकर त्रिगुणात्मक बनता हुआ 'यज्ञपुरुष' कहलाने लगा है। दोनों में कालपुरुष ही सृष्टि का प्रधान आधार माना गया है। स्वयं यज्ञपुरुष भी इस कालपुरुष को आधार बना कर ही मर्त्यविश्व के निर्माण में समर्थ हुआ है।

२९५-वस्तूत्पत्ति के सम्बन्ध में जिज्ञासात्मक सहज प्रश्न, प्रश्न-समाधान से अनुप्राणित-'समय' नाम्ना प्रसिद्ध 'कालपुरुष' के पारिभाषिक-स्वरूप का संस्मरण, एवं उत्पत्ति-स्थिति-संहार-त्रयी के अधिष्ठाता कालपुरुष का महिमामय-विस्तार—

यदि किसी से यह प्रश्न किया जाता है कि-'अमुक वस्तु कब उत्पन्न होगी ?, अमुक कार्य्य कब सिद्ध होगा ?, तो उत्तर मिलता है-* 'समय पर'। यह 'समय' वही कालपुरुष है, जिस की समुपस्थिति से ही यज्ञपुरुष का स्वरूप सम्पन्न होता है। बिना कालपुरुष के प्रकृति-पुरुष का समन्वय सम्भव नहीं, बिना उभय समन्वय के यज्ञपुरुषसिद्धि सम्भव नहीं, एवं बिना यज्ञपुरुषसिद्धि के विश्वोत्पादन सम्भव नहीं। यही क्यों, उभयसमन्वय-प्रवर्त्तकत्वेन यह कालपुरुष ही प्रभव है, समन्वयरक्षकत्वेन यही प्रतिष्ठा है। समन्वयविघातकत्वेन यही परायण है। समय पर ही वस्तु उत्पन्न होती है, समय पर ही उत्पन्न वस्तु ठहरती है, समय पर ही प्रतिष्ठित वस्तु समय में ही विलीन होजाती है। समय ही सम्भूति का अधिष्ठाता है, समय ही विनाश का प्रवर्त्तक है +।

२९६-'समय' शब्द से सुपरिचित सुप्रसिद्ध-'कालपुरुष' का कालदण्डात्मक-नियति-भावात्मक-दण्डचक्रों का स्वरूप-संस्मरण, एवं कालचक्र से अनुप्राणित अन्वर्थ-प्राकृतिक-दण्ड की शरणीकरणीयता से अनुप्राणित रहस्यात्मक-उद्बोधन-सूत्र का प्रासङ्गिक-समन्वय—

समय ही सृष्टि का आधार है, समय ही प्रलय का प्रवर्त्तक है। प्रबलनिरोध से भी समयानुगत सृष्टि-कर्म्म का अवरोध नहीं किया जासकता, एवं प्रयास करने पर भी समयसापेक्ष ध्वंस नहीं रोका जासकता।

---

*-"तत् स्वयं योगसंसिद्धः-कालेनात्मनि विन्दति"
—गीता

+-कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो लोकान् समाहर्त्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः॥
—गी० ११।३२।)।

जिसे जब होना होता है, वह उस समय होकर ही रहता है। जिसे जब बिगड़ना होता है, वह उस समय बिगड़ ही जाता है। अनन्त-विश्वाधिष्ठाता यह कालपुरुष नियतिरूप दण्ड धारण करता हुआ सब पर शासन कर रहा है। सप्तलोक, चतुर्दशभुवन, यच्चयावत् विश्वचक्र, सब उस के दण्ड से स्व स्व कर्म्म में नियत हैं। इस दण्ड से कोई भी अपने आप को नहीं बचा सकता। अपने आप को नीतिकुशल, सुचतुर मानने का अभिमान करने वाले, भूतसाधनों से सुसज्जित शक्तिशाली भी कालपुरुष के द्वारा क्षणमात्र में कुचल दिए जाते हैं। हम सामाजिक दण्ड से अपने चातुर्य्यद्वारा त्राण पा सकते हैं, वाक्चातुर्य्य से हम अपने आप को साधु पुरुष सिद्ध कर सकते हैं, राजतन्त्र को धोका दिया जासकता है। परन्तु विश्वास कीजिए! कालदण्ड से त्राण पाना असम्भव है। जो व्यक्ति इस दण्ड का उत्तरदायित्व अपने कन्धों पर ले लेते हैं, उन का दण्डविधान तो अपेक्षाकृत फिर भी सरल होजाता है। परन्तु लोकव्यवहारशून्य असमत्-सदृश, लोकभाषा में 'मूर्ख' कहला वाले जो व्यक्ति समस्त भार प्रकृति पर ही डाल देते हैं, उन की वञ्चना करने वाले वञ्चकों को तो कालपुरुषात्मिका प्रकृति स्वयं ही अपनी अनुरूपता में दण्ड दे डालती है। और वह दण्ड मानवीय-दण्ड से कहीं भयानक होता है। अतएव हमें प्रतिशोध की भावना से सदा बचते ही रहना चाहिए। प्रतिशोध-भावना से आत्मा राग-द्वेषावरणों से युक्त होजाता है। उधर सब कुछ उत्तरदायित्व प्रकृति पर डाल देने से स्वयं का स्वरूप भी अक्षुण्ण बचा रहता है, एवं उसे कालदण्ड से दण्डित भी होना पड़ता है। अवश्य ही हमें इस दण्ड की अव्यर्थशक्तिशासन को लक्ष्य में रखते हुए सदा सन्मार्ग का ही अनुगमन करना चाहिए।

२६७-परात्पर-रूप महाकाल के उदर में भुक्त असंख्य विश्वचक्र, काल, और परात्पर की अभिन्नता का समन्वय; तदनुबन्धी अमृत-मृत्यु-भाव, तद्रूप रसबल की स्वरूपदिशा, तदनुप्राणित अनिर्वचनीय सम्बन्ध, तन्निबन्धन सत्-असत्-नैव सत्-असत्-लक्षण-विलक्षण-सम्बन्ध, एवं सर्वाधिष्ठात्री पराप्रकृतिरूपा महामाया का माङ्गलिक संस्मरण, और तत्सम्बन्ध में ब्राह्मणश्रुति—

परात्पररूप इस महाकाल के उदर में अनन्त विश्वचक्र बभ्रम्यमाण हैं। मन्त्रसंहिताओं में 'काल' नाम से प्रसिद्ध यह पुरुष उपनिषदों में 'परात्पर' नाम से व्यवहृत हुआ है। सर्वमृत्युगर्भित, सर्वबलविशिष्ट रसैकघन अमृततत्त्व ही परात्पर है। अमृतरस सत् है, मर्त्यबल असत् है। 'अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्-(शत० १०।५।२।)-तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्य बाह्यतः' (ईशोपनिषत्) इत्याद्यनुसार दोनों दोनों में ओतप्रोत हैं। रस बल में ओत है, बल रस में प्रोत है। एक (रस) निरञ्जन, निर्गुण, शान्त, शाश्वत, अभय, पूर्ण, मृत्युलक्षण है, तो दूसरा (बल) साञ्जन, सगुण, अशान्त, सभय, स्वलक्षण है। तमःप्रकाशवत् परस्परात्यन्तविरुद्ध भी दोनों दोनों से अविनाभूत हैं। दोनों में कौन आधार है, कौन आधेय है?, यह अनतिप्रश्न है, असमाधेय प्रश्न है। अङ्गुली में क्रिया है, अथवा क्रिया में अङ्गुली है, प्रश्न का समाधान असम्भव है। दोनों दोनों में हैं। अतएव तत्सम्बन्ध में आधाराधेयभाव की कल्पना व्यर्थ है। दोनों में एक (रस) सत् ही है, उसका कभी विनाश नहीं होता। दूसरा (बल) सर्वथा असत् ही है, विनाश (मृत्यु) ही उसका स्वरूप है। परन्तु क्योंकि, यह मृत्यु अमृत के गर्भ में रहता है, अतएव यह स्वयं मृत्युभय से अतिक्रान्त है। एवमेव जो इस अमृतसम्पत्ति से युक्त होजाते हैं, वे भी मृत्युभय से

सन्तरण कर जाते हैं । वह केवल सत् नहीं है, इसीलिए तो उसे सत् नहीं कहा जासकता । केवल असत् नहीं है, इसीलिए उसे असत् भी नहीं कहा जासकता । सत्-असत् का परस्पर विरोध है, इसीलिए उसे 'सदसत्' भी नहीं कहा जासकता । यही विलक्षण स्वरूप इस की पराप्रकृतिरूप महामाया का है । पुरुष-प्रकृतियुग्यग्म के इसी विलक्षण अचिन्त्य स्वरूप का निम्न लिखित श्रुति-स्मृतियों से स्पष्टीकरण हुआ है—

> नैव वा इदमग्रेऽसदासीत्, नैव सदासीत् । आसीदिव वा इदमग्रे नैवासीत् ।
> तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तं-'नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्' इति''
>
> —शत० १०।४।१।

> न सती सा, ना सती सा, नोभयात्मा विरोधतः ।
> काचिद्विलक्षणा माया वस्तुभूता सनातनी * ।

२६८-सदसन्मूर्त्ति विलक्षण कालपुरुष, दिग्देशाकालातीत अनन्त-रसभाव, एवं दिग्देशकाल-सीमित असंख्य-बलभाव, नित्या शान्ति से समन्विता नित्या अशान्ति का समन्वय, अमृतापेक्षया अभिन्नसत्ता का, एवं मृत्युबलापेक्षया भेदवाद का निर्विरोध-समन्वय, तथा एजत्-अनेजत्-धर्म्मावच्छिन्न-उभय-समष्टिरूप-विलक्षण तत्त्व का स्वरूप-विश्लेषण-प्रयास, और तत्सम्बन्ध में उपनिषच्छ्रुति का संस्मरण—

सदसन्मूर्त्ति यही विलक्षण तत्त्व कालपुरुष है, यही परात्परपुरुष है । इस असीम परात्पर में प्रतिक्षण-विलक्षण मायाबलों का आविर्भाव होता रहता है । जैसे दिग्देशकाल से अनन्त, किन्तु संख्या में एक महासमुद्र में दिग्देशकाल से अनन्त, किन्तु संख्या में अनन्त बुद्बुद् आविर्भूत-तिरोभूत होते रहते हैं, एवमेव दिग्देशकाल से अनन्त, किन्तु संख्या से एक उस रसरूप अमृतसमुद्र में दिग्देशकाल से सान्त, किन्तु संख्या में अनन्त सीमाभावोत्पादक असंख्य मायाबल उस में प्रतिक्षण आविर्भूत होते रहते हैं, प्रतिक्षण ठहरते जाते हैं, एवं प्रतिक्षण तिरोभूत होते जाते हैं । शान्त रससमुद्र इन अशान्त बलतरङ्गों से नित्य युक्त रहता हुआ भी अपने आपूर्य्यमाण धर्म्म से नित्य शान्त बनता हुआ अचलप्रतिष्ठ है ÷ । नित्य-अशान्ति-गर्भिता-नित्य शान्ति ही उस का स्वरूप है । शान्त अमृततत्त्वापेक्षया वह सर्वथा कम्परहित

---

* स्वतुप्रकृतिरिष्यते (पाठान्तर)

÷--आपूर्य्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति कामाः ।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥

—गीता २।७०।

बनता हुआ अनेजत् है। अशान्त मृत्युतत्त्वापेक्षया कम्परूप है। अभिन्नसत्ता-दृष्ट्या अनेजत् रस, एजत् बल की समष्टिरूप वह एक है। निम्न लिखित वचनों के द्वारा उसके इसी अचिन्त्य विलक्षण स्वरूप का विश्लेषण होरहा है—

> अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
> तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥
> तदेजति (बलदृष्ट्या), तन्नैजति (रसदृष्ट्या)।
> तद् दूरे (बलापेक्षया), तद्वन्तिके (रसापेक्षया)।
> तदन्तरस्य (रसभावेन), तदु सर्वस्य बाह्यतः (बलभावेन)
>
> —ईशोपनिषत्

२९९—मायाबल के विचित्र-भावों का प्रासङ्गिक संस्मरण, माया के द्वारा काल की यज्ञरूप में परिणति, मायानिबन्धन विश्वातीत-विश्वचर-विश्वरूप-त्रयी का दिग्दर्शन, परात्पर के यत्किञ्चित् प्रदेश के द्वारा कामना के माध्यम से विश्वस्वरूप की अभिव्यक्ति, एवं महाकाल और महाकाली का महामाङ्गलिक-संस्मरण—

जो मायाबल उस असीम परात्पर को ससीम बनाता हुई उसे पुरुषरूप में परिणत कर डालता है, जिस के प्रभाव से उस विश्वातीत को विश्वचर, और विश्वस्वरूप बनना पड़ता है, जो मायाशक्ति (बल) कालपुरुष को यज्ञपुरुषरूप में परिणत कर डालती है, उसी माहामाया का नाम 'प्रकृति' है, जिस का पूर्व में अक्षर के द्वारा विश्लेषण हुआ है। इसी के समन्वयरूप अनुग्रह से कालपुरुष (परात्पर) अपने यत्-किञ्चित्-प्रदेश से सीमित बनकर-'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्' इत्यादि ऋग्वर्णनानुसार कामना-चक्र का अनुगामी बनता हुआ 'कामेश्वरशिवरूप' में परिणत होजाता है। एक एक माया से एक एक विश्वचक्र का प्रादुर्भाव होता है। उस के प्रतिरोम में (रोम-रोम में) एक एक ब्रह्माण्ड गर्भीभूत है। यही महामाया उस कालपुरुष की महाशक्ति 'महाकाली' है। महाकाली के गर्भ में शिशुवत् प्रतिष्ठित महाकाल के अनन्तरूप का यही संक्षिप्त स्वरूप-विश्लेषण है।

३००—आगमशास्त्रोक्त महाकाल, और क्षुद्रकालात्मक विवर्त्तों का संस्मरण, अखण्डकाल, और खण्डकाल-विवर्त्तों के पारिभाषिक-स्वरूपों का समन्वय-प्रयास, एवं अथर्ववेदीय-कालसूक्त के द्वारा कालपुरुष के महिमामय-स्वरूप का यशोवर्णन—

आगमशास्त्रानुगत उक्तलक्षण कालपुरुष 'महाकाल-क्षुद्रकाल' भेद से दो विवर्त्तभावों में परिणत रहता है। सम्पूर्ण विश्वप्रपञ्च को अपने गर्भ में भुक्त रखने वाला अनाद्यनन्त अखण्डकाल ही महाकाल है। इस अखण्डकाल के गर्भ में प्रतिष्ठित यज्ञपुरुषानुगत युग, सम्वत्सर, अयन, ऋतु, मास, अहोरात्र मुहूर्त्त, घटिका, होरा, कला, विकला, इदानीं, एतर्हि, निमेष, प्राण, आदि खण्ड-खण्डात्मक कालपर्व क्षुद्रकाल हैं। महाकाल का सम्बन्ध महामाया से है, क्षुद्रकाल की प्रतिष्ठा (स्वरूपसम्पादिका) गुणमयी योगमाया है।

अनन्त क्षुद्रकालों का शासन करने वाले महामायावाच्छिन्न महाकाल का उक्त स्वरूप निम्नलिखित कतिपय मन्त्रों से भलीभाँति स्पष्ट होरहा है—

१–सप्त चक्रान् वहति काल एष सप्तास्य नाभीरमृतं न्वक्षः ।
स इमा विश्वा भुवनान्यञ्जत् कालः स ईयते प्रथमो नु देवः ॥

२–स एव सं भुवनान्याभरत् स एव सं भुवनानि पर्य्यैत् ।
पिता सन्नभवत् पुत्र एषां तस्माद्वै नान्यत् परमस्ति तेजः ॥

३–कालोमूं दिवमजनयत् काल इमाः पृथिवीरुत ।
काले ह भूतं भव्यं चेषितं ह वि तिष्ठते ॥

४–कालो भूतिमसृजत काले तपति सूर्य्यः ।
कालो ह विश्वा भूतानि काले चक्षुर्विपश्यति ॥

५–काले मन-काले प्राणः काले नाम (वाक्) समाहितम् ।
कालेन सर्वानन्दन्त्यागतेन प्रजा इमाः ॥

६–काले तपः काले ज्येष्ठं काले ब्रह्म समाहितम् ।
कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत् प्रजापतेः ॥ (यज्ञपुरुषस्य) ।

७–तेनषितं तेन जातं तदु तस्मिन् प्रतिष्ठितम् (स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितम्) ।
कालो ह ब्रह्म (स्वयम्भूः) भूत्वा बिभर्त्ति परमेष्ठिनम् ॥

८–कालः प्रजा असृजत कालो अग्रे प्रजापतिम् ।
स्वयम्भूः कश्यपः कालात् तपः कालादजायत ॥

९–कालादापः समभवन् कालाद् ब्रह्म, तपो, दिशः ।
कालेनोदेति सूर्य्यः काले निविशते पुनः ॥

१०–कालेन वातः पवते कालेन पृथिवी मही ।
द्यौर्मही काल आहिता ॥

११–कालो ह भूतं भव्यं च पुत्रो अजनयत् पुरा ।
कालादृचः समभवद् यजुः कालादजायत ॥ * ।

* महिमामण्डल सामवेद है, यही महिमालक्षण परमाकाश है । 'योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्' के अनुसार कालपुरुष परमाकाशरूप साममण्डल से समतुलित है । अतएव साम का कालपुरुष के स्वरूप में अन्तर्भाव मानते हुए श्रुति ने कालपुरुष से केवल ऋक्, यजुः, का ही आविर्भाव बतलाया है ।

१२--कालो यज्ञं समैरयद्देवेभ्यो भागमक्षितम् ।
काले गन्धर्वाप्सरसः काले लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥

१३--कालेयमङ्गिरादेवोथर्वा चाधितिष्ठतः ।
इमं च लोकं, परमं च लोकं पुण्यांश्च लोकान्, विधृतीश्च पुण्याः ।
सर्वांल्लोकानभिजित्य ब्रह्मणा कालः स ईयते परमो नु देवः ॥

—अथर्वसंहिता १६ काण्ड।६ अनुवाक। ५३,५४ सूक्त। *

३०१--'इमं च लोकं परमं च लोकम्' इत्यादि अथर्वश्रुति के द्वारा उपवर्णित काल-पुरुष के सूत्ररूप का रहस्यात्मक-समन्वय, प्राणवायुनिबन्धन सूत्रात्मा के सोपाधिक महिमाभावों का संस्मरण, सूत्रात्मा-साम्बसदाशिव, एवं रुद्र नामकी कालविभूति-त्रयी का स्वरूप-दिग्दर्शन, तथा कालत्रयी से अनुप्राणित विभिन्न त्रयीविवर्त्तों का रहस्यात्मक समन्वय-प्रयास, और ब्राह्मणश्रुति से अनुप्राणित सूत्रात्मा—

संहितोपवर्णित यही कालपुरुष ब्राह्मण-विज्ञानपरिभाषा में यज्ञपुरुषानुगति के सम्बन्ध से-'सूत्र' नाम से व्यवहृत हुआ है। 'इमं च लोकं परमं च लोकम्' इत्यादिरूपेण पूर्वमन्त्र से प्रतिपादित कालात्मक सूत्र ही सर्वलोक को एक सूत्र में बद्ध रखने वाला प्रतिष्ठातत्त्व है। प्राणवायु ही इस सूत्रात्मक काल-पुरुष का सोपाधिक रूप है ÷। रहस्य यही है कि, वह कालपुरुष विश्वात्मक सर्वहुतयज्ञ में अपने सोपाधिकरूपों से प्रतिष्ठित रहता है। सम्पूर्ण विश्व संयती, क्रन्दसी, इन तीनों त्रैलोक्य भावों में वितत है। स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, तीनों इन तीनों त्रैलोक्यात्मिका त्रिलोकियों के अधिष्ठाता हैं। इन में में स्वयम्भू-से अनुगत संयती-त्रैलोक्य में कालपुरुष का सोपाधिकरूप 'सूत्रात्मा' प्रधान बन रहा है। पारमेष्ठ्य क्रन्दसी-त्रैलोक्य में इसी का दूसरा सोपाधिकरूप आपोमय 'साम्बसदाशिव' विवर्त्त प्रधान बना हुआ है। एवं सौर-रोदसी त्रैलोक्य में इसी का सोपाधिक अग्निमयरूप 'रुद्र' प्रधान बन रहा है। इस दृष्टि से कालपुरुष के ही सूत्र, शिव, रुद्र, ये तीन सोपाधिक विवर्त्त मान लिए गए हैं। सूत्रात्मक कालपुरुष प्रकृति-पुरुष-समन्वय के द्वारा यज्ञपुरुषरूप में परिणत होते हुए सृष्टि के प्रभव हैं। शिवात्मक कालपुरुष अन्न-अन्नाद के समन्वय के द्वारा सृष्टि की प्रतिष्ठा बन रहे हैं। एवं रुद्रात्मक कालपुरुष विशुद्ध अग्निरूप के द्वारा सृष्टि के परायण बन जाते हैं। यही कालपुरुष की सर्वात्मकता का संक्षिप्त विश्लेषण है।

---

*—'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा' नामक सहस्र-पृष्ठात्मक निबन्ध में ही इन अथर्वमन्त्रों की वैज्ञानिक-व्याख्या देखनी चाहिए—

÷ वेद वाऽअहं गौतम! तत्सूत्रम्। वायुर्वै गौतम! तत्सूत्रम्। वायुना वै गौतम! सूत्रेण-अयं च लोकः, परश्च लोकः, सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि'।

—शत० १४।६।७।५,६।

३०२-अनुपाख्य-अनिरुक्त-निरुक्त-भाव-भेदनिबन्धन त्रिविध तमोभावों का स्वरूप-दिग्दर्शन, तम से तम के आवरण का रहस्यात्मक समन्वय, एवं सत्सम्बन्ध में ऋग्वेदीया-मन्त्रश्रुति का संस्मरण—

अनुपाख्य, अनिरुक्त, निरुक्त, भेद से 'तमः' पदार्थ तीन भावों में विभक्त माना गया है। काला-रँग, कोयला, डामर, आदि वे तमोभाव-जिन का हम स्पर्श कर सकते हैं, देख सकते हैं-निर्वचन कर सकते हैं, 'निरुक्ततम' कहलाए हैं। रात्रि का अन्धकार, आँख मीचने पर प्रतीत होने वाला अन्धकार, आदि तमोभाव 'अनिरुक्ततम' हैं। इन का हम चक्षुरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष तो अवश्य कर लेते हैं, किन्तु इन का शब्द के द्वारा निर्वचन नहीं होसकता। निरुक्तभाव विश्वसत्ता है, अहःकाल है, सृष्टि है। अनिरुक्तभाव रात्रिकाल है, प्रलय है। अहोरात्र, दोनों ही विश्व है। विश्वाभावात्मक, किन्तु विशुद्ध सत्तात्मक तमोभाव ही तीसरा इन्द्रियातीत-अनिर्वचनीय अनुपाख्यतम है। यह अनुपाख्यतम प्रलयदशा में रात्रिरूप अनिरुक्त तम में आवृत रहता है। अनिरुक्ततम से आवृत अनुपाख्य म की इसी लयावस्था का दिग्दर्शन कराते हुए ऋषि कहते हैं—

> तम आसीत्तमसा गूल्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
> तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्-तपसस्तन्महिना जायतैकम्॥
>
> —ऋक्सं० १०।१२६

३०३-विश्वातीत-अनुपाख्यतमोरूप महाकाल के द्वारा तदाधार पर यज्ञपुरुष की अभिव्यक्ति, अकाम-सकाम-भावों का रहस्यात्मक स्वरूप-विश्लेपण, केन्द्र और अकेन्द्रभाव का समतुलन, हृत्प्रतिष्ठ काममय ईश्वरीय मन, और उसका कामरेत-

यह विश्वातीत अनुपाख्यतम ही पाठकों का सुपरिचित कालपुरुष है। अब इस काल-पुरुष से उत्पन्न होने वाले यज्ञपुरुष के स्वरूप की भी दो शब्दों में मीमांसा कर लीजिए। द्रव्यात्मक-सद्भावापन्न विश्वभाव से अतीत रहता हुआ असत् नाम से, एवं तत्त्वतः सन्नाम से, अनुभूत सदसत् से विलक्षण कालपुरुष माहामाया से युक्त होजाता है, यह कहा गया है। अपरिमित में किसी भी वस्तु का अभाव नहीं। वह तो सर्वाप्तकाम बनता हुआ निष्काम है। उस व्यापक में सब कुछ विद्यमान है, अतएव उस में कामना का अभाव है। अप्राप्तवस्तु की प्राप्ति के लिए ही तो कामना होती है। इसप्रकार जो कालपुरुष मायातीत बनता हुआ निष्काम बना रहता है, उसी का मायावच्छिन्न प्रदेश सीमाभाव में परिणत होकर अनाप्तकाम बनता हुआ आप्तकाम बन जाता है। इस मायाबलोदय के अव्यवहितोत्तरक्षण में ही उस मायासीमित में हृदयबल (केन्द्रशक्ति) उत्पन्न होजाता है। केन्द्रस्थ वही रसबलात्मक कालपुरुष कामनामय बनता हुआ 'मन' नाम धारण कर लेता है। कामना मन का ही व्यापार है। उक्थ मन से विनिर्गत अर्कभाव ही कामभाव है। एवं 'हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' (यजुःसंहितायाम्) के अनुसार मन हृदय में ही प्रतिष्ठित रहता है। सर्वप्रथम इस मनोमय कालपुरुष से विश्व के रेतोभूत (उपादानकारणभूत शुक्र) कामभाव का ही उदय होता है, जैसा कि--'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्' इत्यादि रूप से पूर्व में अनेकधा स्पष्ट किया जाचुका है।

३०४–अव्ययपुरुष की मनोमयी कामना से हृदयरूपा अक्षरप्रकृति के द्वारा पुरुष की पञ्चचितिलक्षणा चिदात्मरूपता में परिणति, तद्द्वारा क्षरमाध्यम से विश्वसृट्–पञ्चजनादि का प्रादुर्भाव, सर्वमूलप्रतिष्ठात्मक 'वेदपुरञ्जन' के दशावयों के तात्त्विक स्वरूप–का संस्मरण, एवं पुरुषभाव–निबन्धन 'यज्जू' रूप 'यजुर्वेद' का पारिभाषिक–समन्वय–प्रयास—

उसकी इस मनोमयी कामना से पहिले हृदयरूप अक्षर के द्वारा (प्रकृति के द्वारा) वह स्वयं पञ्चचिति–रूप में परिणत होता हुआ पञ्चकल चिदात्मा बनता है। अनन्तर अक्षर के द्वारा क्षरभाग से पूर्वप्रदर्शित क्रमानुसार उसी कामना से विश्वसृट्, इन से पञ्चजन उत्पन्न होते हैं। पञ्चजनों से सर्वप्रथम 'वेद' नामका पुरञ्जन प्रादुर्भूत होता है। यही वेदपुरञ्जन कालपुरुष को यज्ञपुरुष–स्वरूप में परिणत करता है, अतः इसी की ओर विशेषरूप से पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है। ऋक्, यजुः, साम, अथर्व, भेद से तत्त्वात्मक वेदपुरञ्जन चतुर्धा विभक्त माना गया है। त्रयीवेद अग्निवेद है, अथर्ववेद सोमवेद है। त्रयीब्रह्म स्वायम्भुव ब्रह्म है, अथर्ववेद पारमेष्ठ्य सुब्रह्म है। ब्रह्मवेद आग्नेय बनता हुआ पुरुषवेद है, सुब्रह्मवेद सौम्य बनता हुआ स्त्रीवेद है। त्रयीब्रह्म के मध्य में प्रतिष्ठित यजुर्वेद के 'यत्–जूः' ये दो भाग हैं। गतितत्त्व यत् है, स्थितितत्त्व जूः है। स्थितिप्रकृतिक जूभाव ही आकाश है *, गतिप्रकृतिक यत्–भाव ही वायु है। आकाश वाक् है, वायु प्राण है। प्राण वाक्, किंवा स्थिति–गति, रूप यत्–जूः की समष्टि ही 'यज्जूर्वेद' है, यही परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषा में 'यजुर्वेद' कहलाया है +।

३०५–ऋक्सामावच्छिन्न प्राणात्मक गतिलक्षण यजुर्म्मूर्त्ति प्रजापति के काम–तपः–श्रम–नामक सृष्टि के सामान्य अनुबन्धों का प्रासङ्गिक–संस्मरण, एवं ब्रह्म, तथा सुब्रह्म नामक पारिभाषिक अग्निवेद, और सामवेद का पारिभाषिक स्वरूप–दिग्दर्शन—

ऋक्–सामावच्छिन्न प्राणरूप यत् प्रजापति (गतिलक्षण प्रकृतिरूप अक्षरप्रजापति) के मनोमय काम, प्राणमय तप (कृति), वाङ्मय श्रम, इन तीनों सृष्ट्यनुबन्धों के व्यापार से वह स्थितिरूप जूलक्षण वाग्भाग अपने यत्किंचित् प्रदेश से सर्वप्रथम अप्रूप में परिणत होजाता है। जूभाग से सर्वप्रथम अप्तत्त्व ही उत्पन्न

---

*'जूराकाशे सहस्वत्यां पिशाच्यां यवने स्त्रियाम्'।

+—"अयं वाव यजुर्योऽयंपवते। एष हि यन्नेवेदं सर्वं जनयति। एतं यन्तमिदमनु प्रजायते। तस्माद्वायुरेव यजुः। अयमेवाकाशो जूः–यदिदमन्तरिक्षम्। एतं ह्याकाशमनु जवते। तदेतद्यजुर्वायुश्च, अन्तरिक्षञ्च, यच्च जूश्च। तस्माद्यजुरेष एव। यदेष ह्येति। तदेतद्यजुर्ऋक्सामयोः प्रतिष्ठितम्। ऋक्सामे वहतः"

—(शत १०।३।५।१,२,)।

होता है ÷ । त्रयीब्रह्म के वाग्रूप जूभाग से उत्पन्न इसी अप्तत्त्व का नाम अथर्ववेद है । यजुः-रूप स्वायम्भुव ब्रह्म का स्वेदरूप यह अप्तत्त्व ही अथर्वरूप सुब्रह्म है X । इसप्रकार ऋक्, साम, यत्, जू, भेद से त्रयीवेद (अग्निवेद) चतुष्कल बन जाता है । दूसरा आपोवेद भृग्वङ्गिरा के सम्बन्ध से षट्कल बन जाता है ।

३०६–'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' सिद्धान्त का संस्मरण, आपोमण्डल के गर्भ में प्रविष्ट त्रयीब्रह्मरूप अग्निवेद, गतिभावापन्न आग्नेय विकासधर्म्म, एवं स्थितिभावापन्न सौम्यधर्म्म की अभिव्यक्ति, स्नेह–तेजोमयी भृगुत्रयी, तथा अङ्गिरात्रयी का पारिभाषिक-स्वरूप-समन्वय, एवं मातरिश्वा-वायु की प्रेरणा से अनेजदेजल्लक्षण प्रजापति से अनुप्राणिता षड्ब्रह्म-द्विब्रह्मानुगता यज्ञानुगता आहुति का रहस्यात्मक-दिग्दर्शन—

'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' सिद्धान्तानुसार अपने यजुरात्मक वाग्भाग से अथर्वरूप अप्तत्त्व को उत्पन्न कर वह त्रयीब्रह्म इस आपोमण्डल के गर्भ में प्रविष्ट होजाता है । गर्भीभूत त्रयीब्रह्म के यद्रूप गतिभाव से अप्तत्त्व में विकासधर्म्म का, एवं जूरूप स्थितिभाव से संकोचधर्म्म का उदय होजाता है । गत्यनुगत विकास-धर्म्मावच्छिन्न अप्तत्त्व ही तेजोलक्षण अङ्गिरा है । एवं स्थित्यनुगत संकोचधर्म्मावच्छिन्न अप्तत्त्व ही स्नेह-लक्षण भृगु है । इसप्रकार स्वप्रभवभूत यजु के स्थिति-गतिलक्षण जूः-यत्-भाग ही अप्तत्त्व के स्नेह-तेजो-भावों के प्रवर्त्तक बन जाते हैं । घन--तरल--विरल, इन तीन अवस्थाओं के भेद से स्थित्यनुगृहीत स्नेहलक्षण

÷–"सोऽयं पुरुषः प्रजापतिरकामयत--भूयान्स्यां, प्रजायेयेति । सोऽश्राम्यत्, स तपोऽतप्यत । स श्रान्तस्तेपानो ब्रह्मैव प्रथममसृजत–त्रयीमेव विद्याम् । सैवास्मै प्रतिष्ठाभवत् । तस्यां प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठितोऽतप्यत । सोऽपोसृजत वाच एव लोकात् । वागेवास्य सासृज्यत । सेदं सर्वमाप्नोत्, यदिदं किञ्च । यदाप्नोत्, तस्मादापः । यदवृणोत्, तस्माद्वाः"

—(शत ६।१।१।८६)

X–"ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्-स्वयन्त्वेकमेव । तदैक्षत–महद्वै यक्षं, तदेकमेवास्मि । हन्ताहं मदेव मन्मात्रं द्वितीय देवं निर्मिमे-इति । तदभ्यश्राम्यत्, अभ्यतपत्, समतपत् । तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य संतप्तस्य ललाटे स्नेहो यत्–आर्द्र्यमाजायत । तेनानन्दत् । तमब्रवीत्–महद्वै यक्षं, सुवेदमविदमह इति । तं वा एतं सुवेदं सन्तं स्वेद इत्याचक्षते परोक्षेण" ।

—(गो० ब्रा० पू० १।१।) ।

संकोचधर्म्मा भृगु के आगे जाकर 'आपः, वायुः, सोमः' ये तीन विवर्त्त होजाते हैं ०। एवमेव गत्यनुगृहीत तेजोलक्षण विकासधर्म्मा अङ्गिरा के भी 'अग्निः-यमः, आदित्यः' ये तीन विवर्त्त होजाते हैं।

३०७-ब्रह्म-सुब्रह्मात्मक विवर्त्त के तेजः-स्नेहोऽनुबन्धी षट्-विवर्त्त, षट्कल आपोमय अथर्ववेद का संस्मरण, एवं सृष्टिमूलभूत 'प्रथमयज्ञ'—

इसप्रकारब्रह्म से उत्पन्न सुब्रह्म के भृगु, अङ्गिरा नामक दोनों स्नेह-तेजोभावों के षड्विवर्त्त होजाते हैं। यही षट्कल आपोवेद, किंवा अथर्व वेद है। भृग्वङ्गिरोमय आपोवेद सोमात्मक रेत है, स्थितिगतिरूप यजुर्वेद योनिर्लक्षण रेतोगृहीता है। मातरिश्वा नामक पिण्डप्रवर्त्तक वायुविशेष के द्वारा इस षड्ब्रह्मरूप सोम की उस द्विब्रह्म में आहुति होती है, जो द्विब्रह्म आने स्थितिलक्षण जूभाग से अनेजत् हैं, एवं गतिलक्षण यत् भाग से मनसोऽपि जवीय है। यही सृष्टिका मूलभूत प्रथमयज्ञ है।

३०८-षड्ब्रह्म-द्विब्रह्म-समन्वय-मूलक यज्ञ का स्वरूप-लक्षण, त्रयीब्रह्मात्मक अग्नि, अथर्वब्रह्मात्मक सोम, उभयसमन्वयात्मिका अन्तर्य्यामप्रक्रिया की यज्ञरूपता, यज्ञानुगत सुप्रसिद्ध आग्नेय पुरुषभाव, एवं सौम्य-स्त्रीभाव, तन्निबन्धन योषा-वृषात्मक-रयि-प्राणात्मक-स्त्री-पुम्भावों से अनुगत दाम्पत्य से अभिव्यक्त दशकल 'विराट्' का जन्म, और तत्सम्बन्ध में राजर्षि मनु—

'अग्नौ सोमाहुतिर्यज्ञः' ही यज्ञपुरुष का स्वरूपलक्षण है। त्रयीब्रह्म अग्नि है, अथर्वब्रह्म सोम है। किंवा यजुः अग्नि है, आपः सोम है। इस आपः सोम का उस एनदनेजल्लक्षण यजुरग्नि में आधान होता है *। अतएव इस प्रक्रिया को अवश्य ही 'यज्ञ' कहा जासकता है। स्थितिभावानुगता स्नेहलक्षणा भृगुत्रयी भी आपोमयी है, एवं गतिभावानुगता तेजोलक्षणा अङ्गिरा-त्रयी भी आपोमयी है। + इस षट्कल आपोब्रह्म

०-'वायुरापश्चन्द्रमाः-इत्येते भृगवः'

—[गो० पू० २।८।]।

*-अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतो अन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥

—[ईशोपनिषत्]।

+-(१) ''ता आपः सृष्ट्वा अन्वैक्षत-ताभ्यः श्रान्ताभ्यः-यद्रेत आसीत्-तदभृज्यत। यद-भृज्यत-तस्माद् भृगुः समभवत्। तद् भृगोर्भृगुत्वम्'' ॥

—(गो० पू० १।३।)।

को हम सौम्य होने से स्त्री कह सकते हैं, चतुष्कल अग्निब्रह्म को अग्नित्वेन पुरुष कहा जासकता है। एक ही त्रयीब्रह्म अपने वाग्रूप जूभाग से अर्द्धप्रदेश से त्रयीपुरुषरूप में परिणत रहता है, एवं वही वाक् के शेष अर्द्धभाग से पूर्वकथनानुसार आपोलक्षण स्त्रीरूप में परिणत होजाता है। अपने योषावृषात्मक, किंवा रयि-प्राणात्मक इन्हीं स्त्री-पुम्भावों के दाम्पत्य से दशकल जो तत्त्व उत्पन्न होता है, वही 'विराट्' कहलाया है, जैसाकि भगवान् मनुने कहा है—

द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत्।
अर्द्धेन नारी, तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः॥
—[मनुः १।३२।]।

३०९-विराट्प्रजापति की सुप्रसिद्धा नैगमिकी पारिभाषिकी दशकलाओं का नाम-संस्मरण, 'दशाक्षरा वै विराट्' मूलक 'विराट्छन्द', कालप्रजापति के आधार पर यज्ञप्रजापतिरूप विराट्प्रजापति का आविर्भाव, एवं 'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः' इत्यादि स्मार्त्ती उपनिषत् का संस्मरण—

[१]ऋक्, [२]साम, [३]यत्, [४]जू,-[५]आपः, [६]वायुः, [७]सोमः, [८]अग्निः, [९]यमः, [१०]आदित्यः, इन दस पर्वों के भेद से विराट्प्रजापति दशकल है। अक्षरप्रजापति ही वेद के द्वारा उत्पन्न यज्ञ से इस दशावयव-रूप में परिणत हुआ है। इसी आधार पर 'दशाक्षरा वै विराट्' (शत० ११।१।२।) यह निगम प्रतिष्ठित हुआ है। अग्नीषोमरूप ब्रह्म (चतुष्कल त्रयीवेद), एवं सुब्रह्म (षट्कल अथर्ववेद) के समन्वय से उत्पन्न इस विराट् पुरुष को अवश्य ही 'यज्ञपुरुष' कहा जासकता है। उस कालपुरुष का अवयवभूत—'तं मां वित्तास्य सर्वस्य स्रष्टारं द्विजसत्तमाः' (मनुः १।३३) के अनुसार सृष्टिकर्त्ता दशाक्षर विराट्पुरुष ही यज्ञपुरुष है। इसी से सम्पूर्ण प्रजा उत्पन्न होती है, जैसाकि-'सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः' (गीता—) इत्यादि स्मार्त्ती उपनिषत् से भी प्रमाणित है। अतएव इसे हम 'प्रजापति' कह सकते हैं, जिसका उद्भव-'कालो अग्रे प्रजापतिम्' (अथर्व सं० १९।६) इत्याद्यनुसार कालपुरुष से ही माना गया है।

---

(२) "तस्य श्रान्तस्य सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यो रसोऽक्षरत्। सोऽङ्गरसोऽभवत्। तं वा एत-मङ्गरसं सन्तं 'अङ्गिरा' इत्याचक्षते परोक्षेण"।
—(गो०पू०१।७।)

(३) आपो भृग्वाङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम्।
सर्वमापोमयं भूतं सर्वं भृग्वङ्गिरोमयम्।
अन्तरैते त्रयो वेदा भृगुनङ्गिरसोऽनुगाः॥
—(गो० पू० २।३९)।

३१०–कालपुरुषाधार पर प्रतिष्ठित यज्ञात्मक विराटपुरुष के महाविराट् नामक सुप्रसिद्ध द्विविध महिमा–विवर्त्तों का पारिभाषिक–समन्वय, प्राजापत्या विश्वविद्या से अनुप्राणित विराड्विद्या, दशहोता, दशाहयज्ञ, आदि पारिभाषिक शब्दों का दिग्दर्शन, एवं काल-यज्ञ-विवर्त्त द्वयी के स्वरूपोपबृंहक सुप्रसिद्ध 'विष्णुपुराण' का नाम–संस्मरण—

कालपुरुषवत् यह यज्ञपुरुष भी 'महाविराट्, क्षुद्रविराट्' भेद से दो विवर्त्तभावों में परिणत रहता है। समष्ट्यात्मक, महाविश्वात्मक, महायज्ञ (सर्वहुतयज्ञलक्षण आधिदैविक ईश्वरयज्ञ) महाविराट् है। एवं ईश्वरयज्ञरूप महाविराट् के गर्भ में प्रतिष्ठित व्यष्टिरूप अल्पयज्ञ (विश्वदानी–यज्ञलक्षण आध्यात्मिक–यज्ञ) क्षुद्रविराट् है। महाविराट् महाकाल से अनुगृहीत है, क्षुद्रविराट् क्षुद्रकाल से सम्बद्ध है। विश्व का प्रत्येक पदार्थ क्षुद्रविराड्रूप यज्ञपुरुष है, अग्नीषोमात्मक है। इसका प्रभव समष्टिरूप महाविराट् ही यज्ञेश्वर है, यह भी ब्रह्म–सुब्रह्म के समन्वय से दशावयव ही है। अतएव इस प्राजापत्या विश्वविद्या को पूर्वोक्त निगम–विद्या (क्षरविद्या) के आधार पर हम अवश्य ही दशावयव मान सकते हैं। यही विद्या इसी दशपर्व सम्बन्ध से विराड्विद्या, दशहोता, दशाहयज्ञ, इत्यादि विविध नामों से व्यवहृत हुई है। 'विष्णुपुराण' के उपक्रम में ही पुरुष के कालात्मक, यज्ञात्मक, दोनों स्वरूपों का विस्तार से उपबृंहण हुआ है। अतः विशेष जिज्ञासा रखने वालों के लिए वही प्रकरण द्रष्टव्य है।

३११–यज्ञपुरुषात्मक निगमपुरुष, तद्विद्यात्मिका निगमविद्या, तदभिन्न निगमपुरुषात्मक विराटपुरुष के दश पर्व, एवं निगमपुरुषात्मक विराटपुरुष की दशावयवता के समर्थक कतिपय आर्ष–वचनों का प्रासङ्गिक–संस्मरण—

यज्ञपुरुष ही निगमपुरुष है, इसकी विद्या ही निगमविद्या है। यज्ञपुरुषात्मक निगमपुरुष (विराट्–पुरुष) दशावयव है, अतएव इस विद्या को [निगमविद्या को] भी अवश्य ही दशावयव माना जासकता है। विराड्विद्या ही तो निगमविद्या है। वेदविद्या ही तो निगमविद्या है। ऋक्–सामादि दशपर्वविद्या ही तो वेदविद्या है। इसप्रकार ऋक् सामादि पूर्वोक्त दशावयवों से दशाक्षरा बनती हुई यही निगमविद्या क्षरात्मक विश्व की प्रतिष्ठा बनी हुई है। निम्नलिखित निगमानुगमवचन निगमविद्या [विश्वविद्या] के साथ ही निगमपुरुष [विराट्पुरुष] के इसी दशावयवत्व का समर्थन कर रहे हैं—

१–'यज्ञो वै दशहोता' (तै० ब्रा० २।२।१।६।) ।

२–'विराड् वा एषा समृद्धा, यद्दशाहानि' (ताण्ड्यम० ब्रा० (।४।८।६।) ।

३–'विराड् वै यज्ञः' (शत० १।१।१।) ।

४–'दशाक्षरा वै विराट्' (शत० १।१।१।) ।

५–'यज्ञ उ वै प्रजापतिः' (कौ० ब्रा० १०।१।) ।

६–'प्रजापतिर्वै दशहोता' (तै० ब्रा० २।२।१।६।) ।

७ 'अन्तो वा एष यज्ञस्य, दशहोता' (तै० ब्रा० २।२।६।१।)।

८–'प्रतिष्ठा दशममहः' (कौ० ब्रा० २७।२।)।

९–'एतद्वै कृत्स्नमन्नाद्यं, यद्विराट्' (कौ० ब्रा० १४।२।)।

१०–'सर्वदेवत्यं वा एतच्छन्दो, यद्विराट्' (शत० १३।४।१।१३।)।

३१२–पारिभाषिकी, अतएव रहस्यपूर्णा समस्या से पाठकों का संक्षोभ, तन्निराकरण-प्रयास, एवं आगमनिगम-पुरुषों से अनुप्राणिता आगमनिगम-विद्याओं की पारिभाषिकी समस्या के निराकरण के सम्बन्ध में किञ्चिदिव विशेष-निवेदनोपक्रम—

सचमुच पाठकों के लिए यह एक समस्या ही मानी जायगी कि–हमनें विषयारम्भ करते हुए निगम विद्या को सूर्य्यात्मिका, तथा आगमविद्या को पृथिव्यात्मिका बतलाया है। आगे चलकर हमनें यहांतक कहने का साहस कर डाला है कि, परात्परपुरुषविद्या आगमविद्या है, परपुरुषविद्या निगमविद्या है। कहां सूर्य्योपग्रहभूता पृथिवी, एवं कहां मायातीत परात्पर। एवं कहां सूर्य्य, और कहां पुरुष ?। अवश्य ही पूर्व में इस समस्या के निराकरण का यद्यपि भरसक प्रयत्न हुआ है। तथापि अद्यावधि सर्वात्मना सन्तोष नहीं कराया जासका है। क्योंकि इस समस्या के निराकरण का बहुत कुछ उत्तरदायित्व 'निरुक्तविद्या' पर ही अवलम्बित है। अतएव प्रसङ्गोपात्त समस्यानिराकरण के सम्बन्ध में भी दो शब्द कह देना अप्रस्तुत नहीं माना जायगा।

३१३–तात्त्विकी, पारिभाषिकी स्थिति का स्वरूप-दिग्दर्शन, निगमागमपुरुषों का, तथा तन्निबन्धना निगमागमविद्याओं का रहस्यात्मक-स्वरूप-समन्वय, सूर्य्यमूला निगमविद्या, तथा पृथिविमूला आगमविद्या के माध्यम से समस्या-निराकरण-प्रयास, आगम-निगम-विद्याओं से अनुप्राणित पारम्परिक-अपेक्षित-आधाराधेय-भावों का पारिभाषिक दिग्दर्शन, एवं तन्निबन्धन ऋषि-दृष्ट शिक्षणक्रम का संस्मरण—

तत्त्व तो यही है कि, परात्परपुरुष कालपुरुष है, अक्षरप्रकृति इस की विद्या है। यही पुरुष आगम-पुरुष है, एवं इस का पराप्रकृतिरूप अक्षर ही पराविद्या नाम्नी आगमविद्या है। एवमेव परपुरुष ही यज्ञपुरुष है, क्षरप्रकृति ही इस की विद्या है। यह पुरुष निगमपुरुष है, एवं इस का अपराप्रकृतिरूप क्षर ही–अपराविद्या नाम्नी निगमविद्या है। इस तत्त्व का परिज्ञान उस पुरुष के लिए अपेक्षित है, जो सूर्य्यानुगता रोदसी–त्रिलोकी के गर्भ में (अप्लक्षित सौर रस, पृथिव्युपलक्षित पार्थिवरस, दोनों के समन्वय से उत्पन्न होकर) प्रतिष्ठित है। इस के पिता सूर्य्य हैं, माता पृथिवी है। इस के सीमित ज्ञान में निगमागमविद्या-संस्कार का आधान करने के लिए ऋषियोंनें इस के प्रभवभूत, साथ ही अनुभूत द्यावापृथिवी–पर्व को ही लक्ष्य बनाकर

निगमागमविद्याओं का विश्लेषण किया है। पृथिवी सोमात्मिका है, सूर्य्य अग्न्यात्मक है। सोमात्मिका विद्या शक्तिविद्या है, यही आगमविद्या है। इसी दृष्टि से तो ऋषियोंनें आगमविद्या का लक्ष्य पृथिवी मान लिया है। अग्न्यात्मिका सूर्य्यविद्या पुरुषविद्या है, यही निगमविद्या है। इसी दृष्टि से निगमविद्या का लक्ष्य सूर्य्य मान लिया गया है। तत्त्वदृष्टि से जहाँ आगम निगम का आधार है, वहाँ इस सिद्धान्तदृष्टि से निगम से आगम का (सूर्य्य से पृथिवी का) आविर्भाव हुआ है। और इस दृष्टिकोणभेद से समस्या का सर्वात्मना निराकरण होरहा है।

३१४–'अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसोऽनुगाः' इत्यादि सुप्रसिद्ध गोपथ-वचन के आधार पर ब्रह्म–सुब्रह्म से अनुप्राणित 'अप्यय' (विलयन) का स्वरूप-दिग्दर्शन, समन्वयात्मक-स्त्रीपुम्भावात्मक–दाम्पत्य, तद्द्वारा विराटपुत्र की प्रवृत्ति,-'अर्द्धेन नारी–तस्यां स–विराजमसृजत् प्रभुः' का पारिभाषिक समन्वय, एवं आपो वा इदमग्रे सलिलमेवास' मूलक सलिल की मूलप्रतिष्ठा का प्रासङ्गिक-समन्वय-प्रयास-

'अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसोऽनुगाः' इस गोपथवचन को लक्ष्य बनाइए। तीनों वेद भृगु–अङ्गिरोरूप आपोमय मण्डल के गर्भ में प्रतिष्ठित है। स्वायम्भुव ब्रह्मवेद चतुष्कल है, पारमेष्ठ्य सुब्रह्म वेद षट्कल है, दोनों का समन्वय हुआ। इससे फलितार्थ यही निकला कि, दोनों के समन्वय से ब्रह्म-सुब्रह्मात्मक एक अपूर्व तीसरा रूप प्रादुर्भूत होगया, वही–'अर्द्धेन नारी–तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः' के अनुसार दशावयव विराट् कहलाया, यही यज्ञात्मक दशहोता विराट् प्रजापति कहलाया। इस उभयसमन्वयात्मक विराट् का क्या परिचय ?, उत्तर यही सहस्रांशु सूर्य्य है। 'सैपा त्रयी विद्या पति' के अनुसार यही त्रयीवेद है। त्रयीवेदघन यही सूर्य्य-यज्ञ के द्वारा आगे की प्रजाका प्रभव बनता है। पारमेष्ठ्य अप् के गर्भ में त्रयीवेद प्रतिष्ठित हुआ। 'आपो वा इदमग्रे सलिलमेवास' (शतपथब्राह्मण) के अनुसार ब्रह्मवेद (त्रयीवेद) के प्रवेश से पहिले आपः सलिल (सरित्–इरा–यस्य–तत् सरिरं–तदेव सलिलम्) था, ऋतात्मक था, प्रतिष्ठा-लक्षण सत्य से विरहित था। स्वायम्भुवप्रतिष्ठालक्षण वेद से यह प्रतिष्ठामय बना। इस स्वायम्भुवी वेदप्रतिष्ठा के आधार पर जो वेदप्रतिष्ठा आपोमय ऋत परमेष्ठी * के गर्भ में प्रतिष्ठित हुई थी कर्म्म आरम्भ हुआ।

---

*–ऋतमेव परमेष्ठी ऋतं नात्येति किञ्चन।
ऋते समुद्र आहित ऋते भूमिरियं श्रिता ॥
—गोपथब्राह्मणे

३१५-ब्रह्मगर्भ में प्रतिष्ठित त्रयीब्रह्मात्मिका प्रतिष्ठा के आधार पर प्रतिष्ठित तेजः-स्नेह-गुणक-विकास-संकोच-धर्म्मा-भृगु-अङ्गिरा के तपःकर्म्म की अभिव्यक्ति का संस्मरण, आपोमय पारमेष्ठ्य समुद्र के गर्भ में अग्निकणों का क्रमिक सञ्चय, तद्द्वारा सूर्य्य-प्रजापतिरूप हिरण्मयाण्ड का आविर्भाव, तन्मूलक सम्वत्सर की अभिव्यक्ति, एवं स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्यविराट्-भावों की क्रमिक अभिव्यक्ति से अनुप्राणित विराट्जन्म-महोत्सव का राजर्षि मनु के द्वारा स्पष्टीकरण—

भृग्वङ्गिरों का तपःकर्म्म आरम्भ हुआ। अङ्गिरोऽग्नि के अग्नि-यम-आदित्य, त्रिविध भूता-त्मक कण प्रतिष्ठात्मक हृदय में सञ्चित होने लगे, भार्गव सोम इन का उत्तेजक बना। इसप्रकार होने वाली इस अङ्गिरात्रयी की चिति से आपोमय परमेष्ठीके गर्भ में उसी स्वायम्भुव वेद-प्रतिष्ठा के आधार पर अग्निपिण्डात्मक सत्य-सूर्य्य का प्रादुर्भाव होगया। 'अप एव ससर्जादौ' वाला आपः परमेष्ठी था, 'तासु वीजमवासृजत्' वाला बीज अङ्गिरोऽग्नि बना। 'तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशु समप्रभम्' वाला हिरण्मया-ग्निघन सूर्य्य-प्रादुर्भूत होगया। इसप्रकार स्वायम्भुव चतुष्कल ब्रह्म (ऋक्-यजुः-साम-नामरूपा प्रतिष्ठा), एवं षट्कल सुब्रह्म, दोनों पति-पत्नियों के समन्वित रूपात्मक सर्वहुत नामक 'ब्रह्मयज्ञ' से दशात्ममूर्त्ति, अग्नि-यम-आदित्यकृतमूर्त्ति सूर्य्य का प्रादुर्भाव होगया। यही विराट्पुरुष कहलाया, यही हिरण्यगर्भ नाम-प्रजापति कहलाया। यही स्थितिमूला सृष्टि का आधार बना। इस भांति सर्वप्रथम-स्वयम्भू, तदनन्तर परमेष्ठी, तदनन्तर सूर्य्य, इसक्रम से प्रकृतिने विराट्-जन्ममहोत्सव मनाने में सफलता प्राप्त की। निम्न-लिखित मानवीय वचन इसी उत्सव का विश्लेषण कर रहे हैं—

प्रकृतिः	१-आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् । अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥
स्वयम्भूः (पतिः)	२-ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् । महाभूतादि, वृत्तौजाः, प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥
त्रयीवेदः ब्रह्म	३-योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः । सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ ॥
परमेष्ठी (पत्नी)	४-सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात्-सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः । अप एव ससर्जादौ ....तासु बीजमवासृजत् ॥
-अथर्वः- सुब्रह्म	५-तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् । तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः (स्वयम्भूः) ॥
सूर्यः (विराट्)	६-आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः । ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः (सूर्यनारायणः) स्मृतः ॥
दशकलो (विराट)	७-यत्तत् कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम् । तद्विसृष्टः स पुरुषो (यज्ञपुरुषोविराट्) लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते ॥

—मनुस्मृतौ

३१६-ब्रह्म-सुब्रह्मात्मक-सर्वहुत-यज्ञ से उत्पन्न (अभिव्यक्त) विराड्यज्ञ से पुन यज्ञधारा की अभिव्यक्ति, यज्ञस्वरूपानुगत गार्हपत्याग्नि-दक्षिणाग्नि-आहवनीयाग्नि-नामक त्रेताग्नि का प्रासङ्गिक-संस्मरण, विराड्यज्ञ की पुरुषरूपता का दिग्-दर्शन, तद्द्वारा पौरुपेय-वेद की अभिव्यक्ति का रहस्यात्मक-पारिभाषिक-समन्वय, 'ब्रह्मनिःश्वसित' नामक अपौरुपेय स्वायम्भुव वेद, तथा 'गायत्रीमात्रिक' नामक पौरुपेय सौरवेद के पार्थक्य का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं पौरुपेयवेद के द्वारा अभिव्यक्त-द्यावाभूमी, रोदसी-तत्प्रजा, वर्णावर्णसृष्टि, आदि क्रमाभिव्यक्तियों का संस्मरण, और तत्सम्बन्ध में राजर्षि मनु—

ब्रह्म-सुब्रह्मात्मक सर्वहुतयज्ञ से उत्पन्न विराड्यज्ञने क्या किया ?, प्रश्न का उत्तर वही यज्ञ है । यज्ञसे यज्ञ, यज्ञ से पुनः यज्ञः, इसप्रकार की यज्ञपरम्परा ही तो सृष्टिकर्म का प्रथम धर्म्म माना गया है * । यज्ञ

*-"यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन्"
— यजुःसंहितायाम्

का स्वरूप है वितानभाव। गार्हपत्याग्नि दक्षिणाग्नि, आहवनीयाग्नि, इस त्रेताग्निवितान से ही वितानयज्ञ का स्वरूप सम्पन्न होता है। यह वितानभाव जिस प्रतिष्ठा की अपेक्षा रखता है, वह प्रतिष्ठाब्रह्म ही त्रयीवेद है। स्वायम्भुववेद प्रतिष्ठा का उपयोग तो विराट्पुरुषस्वरूपनिर्म्माण में होगया। अब विराड्यज्ञ को अन्य यज्ञसिद्धि के लिए अन्य त्रयीवेद की अपेक्षा हुई। फलतः अग्नि-वायु-आदित्यात्मक विराड् पुरुष ने अग्नि से ऋक्, वायु से यजुः, आदित्य से सामतत्त्व अभिव्यक्त किए। स्वायम्भुव वेद जहाँ स्वयम्भू ब्रह्म का निःश्वास होने से अपौरुषेयविध 'ब्रह्मनिःश्वसित' था, वहाँ यह सौर वेद सौर-गायत्रतेजः सम्बन्ध से गायत्रीमात्रिक वेद कहलाया, एवं विराट् पुरुष से उत्पन्न होने के कारण यह 'पौरुषेय' माना गया। इस पौरुषेय-वेदत्रयी के आधार पर त्रेताग्निरूप यज्ञ (सम्वत्सरयज्ञ) का स्वरूप निर्म्माण हुआ, इस के आधार द्यु-और भूमि, इन रोदसीत्रैलोक्य, और तत्प्रजा (वर्ण-अवर्ण-सृष्टि) का प्रादुर्भाव हुआ। विराट्पुरुषरूप सौर यज्ञपुरुष के इसी उत्तरकर्म्म का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् मनु ने आगे चाकर कहा है—

१-अग्नि-वायु-रविभ्यस्तु-त्रयंब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग् यजुः सामलक्षणम्॥
—मनुः१।२३।

२-कर्म्मात्मनां च देवानां सोऽसृजत् प्राणिनां प्रभुः।
साध्यानां च गणं सूक्ष्मं यज्ञं चैव सनातनम्॥
—मनुः१।२२।

३-तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम्।
स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद् द्विधा॥
—मनुः१।१२।

४-ताभ्यां स शकलाभ्यां दिवं भूमिं च निर्म्ममे।
मध्ये व्योम दिशश्चाष्टावपां स्थानं च शाश्वतम्॥
—मनुः१।१३।

५-सर्वेषां तु स नामानि कर्म्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्म्ममे॥
—मनुः१।२१।

२१७-सौर-पौरुषेय-गायत्रीमात्रिक-वेद की दशावयवता का पारिभाषिक-समन्वय, सौर पुरुषानुगत-सुप्रसिद्ध-मरीचि-अत्रि-अङ्गिरा-पुलस्त्य-पुलह-आदि दशविध-विराट्सम्पत्ति-प्रवर्त्तक ऋषिप्राणों का प्रासङ्गिक-संस्मरण, विराड्भावानिबन्धन-विष्वद्वृत्तात्मक-'बृहतीछन्द', तन्निबन्धन दशाक्षर-विराट्भाव के संख्यानुगता रहस्यपूर्ण व्यूहन का प्रासङ्गिक संस्मरण—

सौर गायत्रीमात्रिकवेद भी स्वयं विराट्पुरुषवत् दशावयव ही माना गया है। कारण-सौर वेदप्राण का मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य,-पुलह, क्रतु, प्रचेता, वसिष्ठ, भृगु, नारद, इन दस ऋषिप्राणों के रूप में विकास होता है *। इसप्रकार अपने मूलप्रभव ब्रह्मप्रभव ब्रह्मसुब्रह्म की दश कलाओं से भी यह विराट्पुरुष दशावयव है, एवं स्वयं भी अपने दशर्षिप्राण के सम्बन्ध में विराट्पुरुष दशावयव है। दशावयव यह विराट् वास्तव में विराट् है। इस का यह विराड् भाव १०-२०-३०-४०-इन चार संख्याओं में विभक्त होकर सम्वत्सरत्रैलोक्य में व्याप्त होरहा है। जिस बृहतीछन्द (विष्वद्वृत्त) पर विराट्पुरुष (सूर्य्य) प्रतिष्ठित है, वह नवाक्षरछन्द माना गया है। एक एक अक्षर एक एक विराट् (दशावय) है। फलतः नौ अक्षर के १० विराट् होजाते हैं। इन दस विराड्भावों से वह नवाक्षरपाद ६० भागों में विभक्त होजाता है। सौरमण्डल में ऐसे ऐसे चार पाद प्रतिष्ठित हैं। ये ही चारो विराट्पर्व दशिनी, विंशिनी, त्रिंशिनी, चत्त्वारिंशिनी नामों से प्रसिद्ध हुए है। इन में से चत्त्वारिंशिनी विराट् के सम्बन्ध में ही—'एषा वै परमा विराट्-यचत्त्वारिंशिनी' (श्रुतिः) यह निगम व्यवहृत हुआ है। इस के अतिरिक्त दश-दशानां-दश (१००)-पुनः-दशानां दश (१०००) क्रम से भी सर्वत्र इस विराड् वेद का ही व्यूहन हुआ हैं, जिसका वैज्ञानिक विवेचन उपनिषद्भूमिकादि अन्य निबन्धों में हुआ है।

---

* १-तपस्तप्त्वासृजद्यं तु स स्वयं पुरुषो विराट्।
तं मां वित्तास्य सर्वस्य स्रष्टारं द्विजसत्तमाः॥
२-अहं प्रजाः सिसृक्षुस्तु तपस्तप्त्वा सुदुश्चरम्।
पतीन् प्रजानामसृजं महर्षीनादितो दश॥ ३४
३-मरीच्यत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम्।
प्रचेतसं वसिष्ठं च भृगुं नारदमेव च॥ ३५
—मनुः१।३२।

३१८-विश्वमध्यस्थ सूर्य्य का विश्वविद्या-प्रतिष्ठात्त्व, सौरप्राण-निबन्धन मनु, अग्नि, प्रजापति, इन्द्र, प्राण, शाश्वतब्रह्म, आदि पारिभाषिक शब्दों के रहस्यार्थ का दिग्दर्शन, कालपुरुषाधारेण सम्वत्सरयज्ञात्मक विराट्पुरुष का निगमविद्या-प्रवर्त्तकत्त्व, एवं दशावयवत्वानुगत प्रासङ्गिक प्रश्न का विश्लेषणात्मक उपराम—

मध्यस्थ सूर्य्य ही उभय-समन्वय के द्वारा विश्वविद्या की प्रतिष्ठा बना हुआ है। इसे हृदयावच्छेदेन 'मनु' कहा जासकता है, सावित्राग्न्यवच्छेदेन 'अग्नि' कहा जासकता है, प्रजाप्रवर्त्तकत्वेन 'प्रजापति' कहा जासकता है, मघवाप्राणत्त्वेन 'इन्द्र' कहा जासकता है, गतिभावत्त्वेन 'प्राण' माना जासकता है, एवं इन क्षरभावों से अविनाभूत अक्षरावच्छिन्न अव्ययत्वेन इसे ही 'शाश्वतब्रह्म' भी माना जासकता है +। इसप्रकार कालपुरुषाधारेण ब्रह्म-सुब्रह्मरूप सर्वहुत नामक दशावयव यज्ञ से उत्पन्न यही सौर-- सम्वत्सरयज्ञ विश्वविद्या का प्रवर्त्तक बना हुआ है। सर्वहुतयज्ञावच्छिन्न यही दशावयव विराट्पुरुष यज्ञपुरुष है, यही निगमपुरुष है, इसकी विश्वविद्या ही निगमविद्या है। निगमविद्या दशावयवा क्यों मानी गई ?, प्रश्न का यही संक्षिप्त तात्त्विक विश्लेषण है।

३१९-'न्यूनाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते' इत्यादि निगममूलक सृष्टिसन्तान-प्रवर्त्तक-'न्यूनविराट्' का सृष्टिप्रभवत्त्व, स्त्री-पुम्भावानुगत आग्नेय-सौम्य-द्वन्द्व-भाव का पारिभाषिक समन्वय, छन्दोऽनुगता निचृत्, तथा भूरिक्-मर्य्यादा से अनुप्राणित-'न वै एकेनाक्षरेण छन्दांसि वियन्ति, न द्वाभ्याम्' निगम का समन्वय, एवं विराट् के ९ पर्वों का संस्मरण—

'न्यूनाद्वै इमाः प्रजाः प्रजायन्ते' (शतपथ ब्रा० सं०) इत्यादि श्रौत-सिद्धान्तानुसार न्यूनविराट् ही सृष्टिकर्म्म का प्रभव बनती है। पुरुष-पुरुष का संयोग विस्फोटक है। स्त्री स्त्री का संयोग निरर्थक है। जनक है एकमात्र स्त्रीपुरुष का दाम्पत्यभाव। सौम्या स्त्री भोग्या है, आग्नेयपुरुष भोक्ता है, अन्नाद है। अन्नादात्मक पुरुष प्रबल है, अन्नात्मिका स्त्री न्यून है। अतएव उभयात्मक दाम्पत्य भी न्यून है। यही न्यूनदाम्पत्य-भाव प्रजोत्पादक बनता है। तात्पर्य्य, दशाक्षर पूर्णविराट् से सृष्टि सम्भव नहीं है। अपितु न्यूनविराट् ही सृष्टि की जननी है। अतएव 'न वा एकेनाक्षरेण छन्दांसि वियन्ति, न द्वाभ्याम्' यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित हुआ है। एक, अथवा दो अक्षर से न्यून छन्द 'निचृत्' कहलाया है, एवं १, अथवा २ अक्षरों से अधिक छन्द 'भूरिक्' कहलाया है। इसी आधार पर वैज्ञानिकोंने न्यूनात्मिका निचृद्विराट् (नवाक्षराविराट्) को ही

+--एतमेके वदन्त्यग्नि मनुमन्ये प्रजापतिम्।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्मशाश्वतम् ॥
—मनुः

सृष्टि का प्रवर्त्तक माना है। त्रयीब्रह्म के चारो पर्वों में से यत्-जू नामक दोनों पर्व 'यजू:' रूप एकपर्व है। तभी तो इसे 'त्रयी' कहना अन्वर्थ बनता है। उधर सुब्रह्म पट्पर्वा है। इसप्रकार सम्भूय विराट् के ६ पर्व ही शेष रहजाते हैं।

३२०-सृष्टिपूर्वदशानुगत 'शून्यभाव', तदनुबन्धी 'पूर्णभाव', प्रस्तुप्तिमिव सर्वतः रूप अचिन्त्य पूर्ण तत्त्व, तद्रूपा शून्यभाव-निबन्धना पूर्णसंख्या, तदाधारेण वितायमाना नव संख्यानुगता विराट्सम्पत्ति, नवसंख्या की रहस्यात्मिका नव-नव-भावानुगता-मर्य्यादा का पारिभाषिक समन्वय, शून्यरूप-पूर्णपुरुषात्मक कालपुरुष के आधार पर विराट् विश्व का वितान, एवं श्रुति के द्वारा तद्-यशोवर्णन—

सृष्टि से पहिले जो कुछ था, वह शून्य था, शून्याकार था, इसका तात्पर्य्य पूर्ण था। इसीलिए तो ज्योतिः परिभाषा में शून्य का अर्थ पूर्ण किया जाता है। यह उस ब्रह्मान्तर का पहिला अव्यक्त-अप्रतर्क्य-अनिर्देश्य-प्रसुप्तमिव सर्वतः रूप है। इसी से नवाक्षरविराट् का प्रादुर्भाव होता है। सम्पूर्ण विश्व में नवाक्षरविराट् का ही साम्राज्य है। शून्यबिन्दु ही संख्या की मूलप्रतिष्ठा है, उपक्रम है। यहाँ से १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, इन नव संख्याओं का विकास होता है। ९ पर यह विकास समाप्त है। और और परार्ध्य-परम परार्ध्य पर्य्यन्त जो भी संख्याएँ सुनी जाती हैं, वे सब नवसंख्या के ही व्यूहनमात्र हैं। शून्य के साथ १ के सम्बन्ध से वही १० है। पुनः ११-१२-१३-इत्यादि क्रम से १९ पर समाप्ति है। अनन्तर शून्य का २ से सम्बन्ध होजाता है, यही २० है। इसकी २९ पर समाप्ति है। इसीप्रकार ३९-४९-५९-६९-७९-८९-९९-इत्यादि क्रम से सर्वत्र ९ संख्या का ही साम्राज्य है। ९ संख्या सर्वत्र नवीनभावापन्ना है, अतएव इसे 'नव' (नवीन) शब्द से व्यवहृत करना अन्वर्थ बन रहा है। यही इस संख्या का पूर्णत्व है। यही कारण है कि,-९ संख्या के अतिरिक्त १-२-३-आदि किसी अन्य संख्या का सङ्कलन-फल समान नहीं निकलता। ९ में से १ संख्या पृथक् कीजिए, ८ का सम्बन्ध कीजिए, १+८ रूप से १८ होजायँगे। इसीप्रकार २ में ७ के ३ में ६ के, ४-में ५ के, ५-में ४ के, ६ में ३ के, ७ में २ के, ८ में १ के सम्बन्ध से क्रमशः २७, ३६, ४५, ५४, ६३, ७२, ८१, यह निष्कर्ष निकलेगा। अन्त में वही शून्य, और वही ९, वही ९०। ९-९-१८ है, १+८, ९ हैं। ९ मिलाने से २७ है, २+७-९ हैं। और ९ मिलाने से ३६ है, ३+६-९ हैं। यही क्रम अन्तपर्य्यन्त समझिए। अन्ततोगत्वा ९ ही शेष रहजाते हैं। उस शून्यरूप पूर्णपुरुष के (कालात्मक परात्पर-पुरुषलक्षण आगमपुरुष के) गर्भ में नवाक्षर विराट्पुरुष प्रतिष्ठित होरहा है। उसी पूर्णपुरुष को दशम 'प्रतिष्ठा' नामक अहः बतलाया गया है। इसी पूर्णेश्वर कालपुरुष का निरूपण करती हुई श्रुति करती है—

यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चित्—
यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् ।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येक—
स्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥
—श्रुतिः

३२१–दशसंख्यात्मक-पूर्णविराट् के १–६–विभागात्मक द्विविध महिमाविवर्त्त, सापेक्ष-एकत्व, तथा निरपेक्ष एकत्व का समतुलन, तन्निबन्धन रस-बलानुगत अमृत-मृत्यु-समन्वय, सत्तासिद्ध निरपेक्षभाव, एवं भातिसिद्ध सापेक्षभाव का स्वरूप-दिग्दर्शन, तथा नवाक्षर-विराट् के व्यापक साम्राज्य का संस्मरण—

१० संख्याविवर्त्त में ६-१, ये दो विभाग समझिए। १ संख्या निरपेक्ष–एकत्वमूला संख्यातीता शून्यसंख्या है। शेष ६ संख्याओं का एक स्वतन्त्र विभाग है। इसका आरम्भ भी १–२–३–इत्यादि रूप से ही हुआ है। परन्तु इस नवसंख्या–समष्टि से सम्बन्ध रखने वाली १ संख्या सापेक्ष एकत्व से सम्बद्ध है। पूर्ण परात्पर संख्या में एक है, दिग्देशकाल से अनन्त है, इस व्यवहार से सम्बन्ध रखने वाली १ संख्या निर-पेक्षा–द्वित्वादि संख्यानपेक्षा–सत्तासिद्धा शून्यसंख्या ही का ही ग्रहण हुआ है। नवसंख्यानुगता एक संख्या जहाँ भातिसिद्धा बनती हुई द्वित्वादिसापेक्षा मर्त्या संख्या है, वहाँ पूर्णपुरुषात्मिका एक संख्या सत्तासिद्धा बनती हुई द्वित्वादिसंख्यानिरपेक्षा अमृता संख्या है। इस दशावयव–अमृतमृत्युलक्षण सदसत् के समन्वितरूप का ही नाम विराट् पुरुषात्मक यज्ञपुरुष है। निम्न लिखित परिलेख से उक्त विराट्संख्या–समतुलन का भलीभाँति स्पष्टीकरण होजाता है। परिलेख में पाठक देखेंगे कि, सर्वत्र नवाक्षरा विराट्संख्या का ही साम्राज्य है

३२२–सर्वसंख्या–प्रतिष्ठात्मक–शून्यविन्दुभाव से अनुप्राणित, नवाक्षर–विराट्छन्दोऽनुगत, परात्परपुरुषात्मक-कालपुरुषानुबन्धी विराट्पुरुष की नव-नव-भावात्मिका संख्या के नवात्मक वितानभाव का परिलेख के माध्यम से स्पष्टीकरण-प्रयास—

0 शून्यबिन्दुः सर्वसंख्याप्रतिष्ठा—पूर्णः परात्परपुरुषः कालः

१—८—	१८	१+८—	६	विराट्—पुरुषः—निगमपुरुषो महापुरुषः
२—७—	२७	२+७	६	
३—६—	३६	३+६	६	
४—५—	४५	४+५	६	
५—४—	५४	५+४	६	
६—३—	६३	६+३	६	
७—२—	७२	७+२	६	
८—१—	८१	८+१	६	
६—०—	६०	६+०	६	

	४८६	४५+३६		८१
४+८+६	१+८	४+५	३+६	८+१
१८–६	६	६	६	६

६ + ६ + ६ + ६
३६
३+६–६

४८६ ४५ ३६ ८१ ——— ६४८ ६+४+८–१८ १+८ ६	४८६ ४५ ——— ५३१ ५+३+१ ——— ६	४८६ ८१ ——— ५६७ ५+६+७ ——— १८ १+८ ——— ६

—६+६+६–२७ । २+७—६

तदित्थं सर्वं नवनवाभवत्

३२३-दशावयव-विराट्-पुरुष की निगमरूपता, तदभिन्ना निगमविद्या, निगमविद्यानुगता खण्ड-खण्डात्मिका-विद्याओं की दशसंख्या-निबन्धना विराड्रूपता, वैश्वानर-विद्या-उद्गीथविद्या-पर्य्यङ्कविद्या-आदि अवान्तर-विद्यासमष्टिरूपा 'महाविद्या', एवं आगमविद्यात्मिका 'महाविद्या' की निरूढता का पारिभाषिक-समन्वय—

दशावयव विराट् ही निगमपुरुष है, इसकी विद्या ही निगमविद्या है। यही वेदविद्या है। निगमान्तर्भूता जितनी भी खण्ड खण्ड विद्याएँ हैं, उनका इस दशावयवा-विराड्विद्या में, किंवा विराड्विद्यात्मिका महाविद्या के दस पर्वों में से किसी न किसी में अन्तर्भाव होरहा है। वे ही निगमानुगता महाविद्यात्मिका दश विद्याएँ क्रमशः [१]प्रजापतिविद्या (समष्टिविद्या), [२]ऋग्विद्या, [३]यजुर्विद्या, [४]सामविद्या, [५]आपोविद्या, [६]वायुविद्या, [७]सोमविद्या, [८]आदित्यविद्या, [९]यमविद्या, [१०]अग्निविद्या, इन नामों से व्यवहृत की जासकतीं हैं। यह ठीक है कि, वैश्वानरविद्या-उद्गीथविद्या-पर्य्यङ्कविद्या-भार्गवी वारुणीविद्या, आदि आदि खण्ड-खण्डात्मिका निगमविद्याओं की अपेक्षा उक्त दशविद्यात्मिका निगमविद्या भी 'महाविद्या' कहलासकती है। परन्तु तत्त्वतः 'महान्' शब्द के अधिकारी महामायावच्छिन्न परात्पर पुरुषरूप ही माने गए हैं। अतः कालात्मक आगम-पुरुष की दशावयवा आगमविद्या ही 'महाविद्या' नाम की अधिकारिणी मानी जायगी।

३२४-'विद्या' शब्दानुगत एक प्रासङ्गिक प्रश्न, और तन्निराकरण, सञ्चर-प्रतिसञ्चर-भावनिबन्धन सर्ग-लय-भावों से अनुप्राणिता विद्या का तारतम्य, सञ्चरभावानुगत-विज्ञानपक्ष, तथा प्रतिसञ्चरभावानुगत ज्ञानपक्ष का पारिभाषिक-समन्वय, एवं सञ्चर-प्रतिसञ्चर-भावनिबन्धन कर्म्म-ज्ञान-पथों का रहस्यात्मक स्पष्टीकरण-प्रयास—

जब एक ही विद्या से काम चल सकता था, तो ऋषियों की ओर से दो शास्त्रों का आविर्भाव क्यों हुआ ?, यह भी एक समस्या है। इस समस्या का उत्तर सञ्चर-प्रतिसञ्चर-विद्याएँ हैं। एक ब्रह्म को मूल मान कर विश्वविज्ञान का विश्लेषण करना सञ्चरविद्या है, यही सृष्टि है, सर्ग है, कर्म्मपथ है। एवं अनेक विश्वपर्वों के द्वारा एक ब्रह्म का तात्त्विक विश्लेषण करना प्रतिसञ्चरविद्या है, यही प्रतिसृष्टि है, प्रतिसर्ग है, ज्ञानपथ है। कर्म्मपथ बन्धनात्मक है, ज्ञानपथ मुक्तिलक्षण है। त्रिगुणात्मिका योगमाया बन्धनात्मक कर्म्मपथ की प्रतिष्ठा है, गुणातीता महामाया मुक्तिलक्षण ज्ञानपथ की प्रतिष्ठा है। निगमशास्त्र जहां कर्म्मपथ को प्रधानता देता है, वहां आगमशास्त्र शक्त्युपासना के द्वारा ज्ञानपथ का प्रवर्त्तक बन रहा है। यद्यपि दोनों हीं शास्त्रों में दोनों पथों का विश्लेषण हुआ है। तथापि एक में कर्म्मात्मक क्षरभाव प्रधान है, एवं एक में ज्ञानात्मक अक्षरभाव का प्राधान्य है।

३२५-'महद्ब्रह्मकमक्षरम्' लक्षण महद्भावापन्न अक्षर, तद्भिन्ना पराप्रकृतिरूपा आगमविद्या के पारिभाषिक-'महाविद्यातत्त्व' का पारिभाषिक समन्वय, एवं आगमाचार्य्यों के द्वारा भी निगमवत् विश्वविद्या का स्वरूप-वितानात्मक-समन्वय—

'महद्ब्रह्मकमक्षरम्' के अनुसार अक्षर महान् है, अतएव तदनुगता पराप्रकृतिरूपा आगमानुगता आगमविद्या अवश्य ही महाविद्या कहला सकती है। विना विश्वविज्ञान के ब्रह्मज्ञान असम्भव है। अतएव आगमाचार्य्योंने निगमवत् आगमशास्त्र में विश्वविद्या का भी शिव-शक्तिरूप से विश्लेषण करना अनिवार्य्य समझा है।

३२६-आगमशास्त्रानुगता विराड्भावनिबन्धना महाविद्याओं के महाकाली-उग्रतारा-षोडशी-भुवनेश्वरी-छिन्नमस्ता-भैरवी, धूमावती, वल्गामुखी, (प्रचलितव्यवहार में बगलामुखी), मातङ्गी, कमला, नामक दशविध माङ्गलिकरूपों का संस्मरण, एवं तद्भिन्न नवविध महाकाल-अक्षोभ्य-पञ्चवक्त्रशिव-त्र्यम्बक-कबन्ध-दक्षिणामूर्त्तिशिव-एकवक्त्रमहारुद्र, मतङ्ग, सदाशिवविष्णु, नामक आगमपुरुषों का पावन संस्मरण, एवं प्रसङ्गोपात्त महाविद्याविभूति का स्वरूप-दिग्दर्शनोपक्रम—

आगमानुगता वे ही दसों महाविद्याएँ क्रमशः [1]महाकाली, [2]उग्रतारा, [3]षोडशी, [4]भुवनेश्वरी, [5]छिन्नमस्ता, [6]भैरवी, [7]धूमावती, [8]वल्गामुखी, [9]मातङ्गी, [10]कमला, इन नामों से प्रसिद्ध हुईं हैं। एवं इन दसों प्रकृतिविद्या (आगमविद्याओं) के आगमपुरुष क्रमशः [1]महाकाल, [2]अक्षोभ्य, [3]पञ्चवक्त्रशिव, [4]त्र्यम्बक, [5]कबन्ध, [6]दक्षिणामूर्त्तिशिव, [8]एकवक्त्रमहारुद्र, [9]मतङ्ग, [10]सदाशिवविष्णु, × इन नामों से व्यवहृत हुए हैं। महाविद्यानुगत इन दसों विवर्त्तों का स्वरूप उपासकों की सिद्धि के लिए विशुद्ध निदान-विद्या के आधार पर कल्पित हुआ है। एक ओर निगमविद्या रखिए, दूसरी ओर आगमविद्या, और दोनों का समतुलन कीजिए। निदानानुगत किसी अपूर्व तत्त्व की ओर आपका ध्यान आकर्षित होगा, इसी निवेदन पर-'उभयपुरुषविद्यानुगत विराट् संस्थारहस्य' को विश्राम देते हुए सर्वस्वभूता जगन्माता महाविद्या के नैदानिक दिव्य स्वरूपों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है।

* * *

महाविद्यानुगत निदानरहस्य-*—

(१)-महाकालपुरुष, और उसकी महाविद्या महाकाली (आद्या दक्षिणकालिका)

×-धूमावती विधवा है। एकाकिनी है। अतः ६ ही पुरुष रहजाते हैं।

*-'भारतीय-सांस्कृतिक-आयोजनों की रूपरेखा' नामक सहस्र पृष्ठात्मक स्वतन्त्र-निबन्ध में विशद-वैज्ञानिक-व्याख्या के माध्यम से इन दसों महाविद्याओं का क्योंकि स्पष्टीकरण होचुका है, अतः यहाँ संक्षेप से सूत्ररूपेणैव इनका दिग्दर्शन करा देना पर्य्याप्त मान लिया गया है।

३२७-परात्परपुरुषात्मक महाकालपुरुष, एवं तन्महाशक्ति महाकाली का संस्मरण, शक्ति, तथा शक्तिमान् का अभेद, अर्द्धनारीश्वर-शिव के रहस्यात्मक स्वरूप-का संस्मरण, शिव, और शक्ति से अनुगत भेदवाद का निराकरण-प्रयास, एवं तत्सम्बन्ध में आगमशास्त्रीय-आर्षवचनों का संस्मरण--

परात्परपुरुष नाम से प्रसिद्ध विश्वातीत 'महाकालपुरुष' की महाशक्ति ही 'महाकाली' है। शक्ति शक्तिमान् से अभिन्न है। अतएव निगमानुगत अद्वैतसिद्धान्त इस आगमविद्या में भी अनुगत बना रह जाता है। अग्नि की दाहकशक्ति जैसे अग्नि से अभिन्न है, प्रकाशशक्ति जैसे सूर्य्य से अभिन्न है, आप्यायन-शक्ति जैसे चन्द्रमा से अभिन्न है, तथैव चिदात्मा की चितिलक्षणा चिच्छक्ति भी चिदात्मा से अभिन्न है। एक ही तत्त्व शिव-शक्तिरूप में परिणत होरहा है। वही अपने अर्द्धभाग से शिव है, नर है। एवं अपने अर्द्धभाग से शक्ति है, नारी है। यही 'अर्द्धनारीश्वर' की उपासना का मूलरहस्य है। शक्ति-शक्तिमान् में स्त्रीपुम्भाव का भेद मानना अनुचित है। निम्न लिखित वचन इसी भेदनिराकरण का समर्थन कर रहे हैं—

१--सा च ब्रह्मस्वरूपा च नित्या सा च सनातनी।
यथात्मा च तथा शक्तिर्यथाग्नौ दाहिका स्थिता ॥

२--अतएव हि योगीन्द्रैः स्त्री-पुम्भेदो न मन्यते।
सर्वं ब्रह्ममयं ब्रह्मन्! शश्वत् सदपि नारद ॥

—दे० भा० ६।१।१०-११

३-अहमेवास पूर्वं तु नान्यत् किञ्चिन्नगाधिप!।
तदात्मरूपं चित्संवित् परब्रह्मैकनामकम् ॥

४-तस्य काचित् स्वतः सिद्धा शक्तिर्म्मायेति विश्रुता।
पावकस्योष्णतेवेयमुष्णांशोरिव दीधितिः ॥

५-स्वशक्तेश्च समायोगादहं बीजात्मतां गतः।

—दे० भा० ७।३२।३।

६-मन्माया शक्तिसंक्लृप्तं जगत् सर्वं चराचरम्।
सापि मत्तः पृथङ् माया नास्त्येव परमार्थतः ॥

—दे० भा० ७।३३।४।

* * *

३२८—सदसद्भावानुगत पूर्व प्रश्न का संस्मरण, अनुपाख्यतमोरूप-अज्ञात-अप्रतर्क्य-अनिर्देश्य-अनिर्वचनीय-'काल' नामक 'समय' तत्त्व, तच्छक्ति महाकाली, महाकाली का प्रथमभावनिबन्धन-'आद्या' स्वरूप, कलनभावनिबन्धन कालतत्त्व का पारिभाषिक स्वरूप-समन्वय, एवं 'करालं महाकालकालं-कृपालुम्' लक्षण 'महाकाल' का पावन-संस्मरण—

स्मरण कीजिए ! उस पूर्व प्रश्न का जिसका हमने-'जब यह दृश्यमान प्रपञ्च न था, तो क्या था ?' इन शब्दों में अभिनय किया था। प्रश्न विश्वविद्या से सम्बन्ध नहीं रख रहा। अपितु विश्वातीत परात्पर-विद्या से सम्बन्ध रख रहा है। उस समय तक क्या था ?, इस प्रश्न का उत्तर 'समयमात्र था' यही बन सकता है। यही अज्ञात-अप्रतर्क्य-अनिर्देश्य-अनिर्वचनीय-समयतत्त्व-जो हमारे विश्वात्मक-भातिमूलक-ज्ञानपथ से एकान्ततः अतीत रहता हुआ तमोरूप है—ही कालपुरुष है, एवं इस की रसगर्भिता (कालपुरुष-गर्भिता) महाशक्ति ही महाकाली है। यही विश्वविद्याओं की मूलप्रतिष्ठा है। इस का स्थान प्रथम है, अतएव यह 'प्रथमा' कहलाई है। यही सर्वादितत्त्व है, अतएव यह 'आद्या' नाम से प्रसिद्ध हुई है। 'अयं परमेष्ठी, अयं सूर्यः, इत्यादि रूप से विश्वपर्वों का कलन (संख्यान-विभक्तीकरण) जिस अविभक्त-अकल-अखण्ड-परात्परतत्त्व के आधार पर प्रतिष्ठित है, वही तत्त्व 'कालयति सर्वाणि भूतानि' निर्वचन से 'कालः' नाम से व्यवहृत हुआ है। क्षण-दण्ड-मूहूर्त-प्रहर-अहः-रात्रि-पक्ष-मास-अयन-वत्सर-युगादि खण्डकाल सोपाधिक काल हैं। ये सब जिस निरुपाधिक महदक्षर (महाकाली) से नित्ययुक्त महा तत्त्व के गर्भ में भुक्त है, वही 'महाँश्चासौ कालश्च' निर्वचनानुसार 'महाकाल' है—'करालं महाकालकालं कृपालुम्'।

३२९—कालपुरुष की व्यक्तरूपात्मिका योगमायानुबन्धिनी यज्ञपुरुषरूपता का दिग्दर्शन, रुद्रभावनिबन्धन अतीतकाल, शिवभावनिबन्धन वर्त्तमानकाल, सूत्रभावनिबन्धन भविष्यत्काल का स्पष्टीकरण, रुद्रात्मक उष्णकाल, शिवात्मक वर्षाकाल, सूत्रात्मक शीतकाल का दिग्दर्शन, रोदसीत्रैलोक्याधिष्ठाता रुद्रकाल, क्रन्दसीत्रैलोक्याधिष्ठाता-शिवकाल, संयतीत्रैलोक्याधिष्ठाता सूत्रकाल, एवं कर्म्मयोगप्रवर्त्तक रुद्र-काल, भक्तियोगप्रवर्त्तक शिवकाल, ज्ञानयोगप्रवर्त्तक सूत्रकाल, और विनाश-पालन-उत्पत्ति-त्रयी की अधिष्ठात्री रुद्र-शिव-सूत्र-कालत्रयी का पावन-संस्मरण—

यही काल योगमायानुगत यज्ञपुरुष द्वारा विश्व में भुक्त होकर क्षणादि भेदों में परिणत होरहा है *। अनादि निधन यही महाकाल विश्व में अपने रुद्ररूप से अतीतकाल का, शिवरूप से वर्त्तमान-काल का, एवं सूत्ररूप से भविष्यत् का प्रवर्त्तक बनता है। रुद्र उष्णकाल का, शिव वर्षाकाल का, एवं सूत्र शीतकाल का प्रवर्त्तक बनता

(१) *—जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः (महाकालः)
परापरत्वधी-हेतुः क्षणादिः स्यादुपाधितः (खण्डकालः)।

है। शिव प्रातः सवन का, शिवमाध्यन्दिनसवनका, सूत्र सायंसवनका प्रवर्त्तक बनता है। रुद्र रोदसी-त्रैलोक्य का, शिव क्रन्दसी-त्रैलोक्य का, सूत्र संयती त्रैलोक्य का प्रवर्त्तक बनता है। रुद्र कर्म्मयोग का, शिव भक्तियोग का, सूत्र ज्ञानयोग का प्रवर्त्तक बनता है। रुद्र विनाश का, शिव पालन का, सूत्र उत्पत्ति का प्रवर्त्तक बनता है।

३३०–निरुपाधिक महाकालपुरुष के सोपाधिक तीन महिमामय-विवर्त्त भावों का समन्वय-प्रयास, स्वायम्भुव सूत्रकाल, पारमेष्ठ्य शिवकाल, तथा सौर रुद्रकाल-का पारिभाषिक-स्पष्टीकरण, महाकाल की कलनकर्त्री महाकाली, महाकाली के गर्भ में शिशुवत् प्रतिप्रतिष्टित सोपाधिक कालपुरुष, उपास्य-देवतानुबन्धी नैदानिक ध्यानभाव का तात्पर्य्यार्थ-समन्वय, एवं उपास्य-महाकाल के नैदानिक ध्यानमन्त्र का पावन-संस्मरण—

इसप्रकार वही महाकाल अपने इन तीन सोपाधिक कालात्मक रुद्र (कालरुद्र), कालात्मक शिव, कालात्मक सूत्र, तीनों सौर–पारमेष्ठ्य–स्वायम्भुव रूपों से सर्वप्रपञ्च का सर्वस्व बन रहा है ×। सर्वजगधार

×– अनादिनिधनः कालो रुद्रः सङ्कर्षणः स्मृतः ॥
कलनात् सर्वभूतानां स कालः परिकीर्त्तितः ॥१॥
कालः कलयते लोकं कालः कलयते जगत् ॥
कालः कलयते विश्वं तेन कालोऽभिधीयते ॥२॥
कालस्य वशगाः सर्वे देवर्षिसिद्धकिन्नराः ॥
कालो हि भगवान् देवः स साक्षात् परमेश्वरः। (परात्परः) ॥३॥
येनोत्पत्तिश्च जायेत येन वै कल्यते कला ॥
सोऽन्तवच्च भवेत् कालो जगदुत्पत्तिकारकः ॥४॥
कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः ॥
कालः सुप्तेषु नागर्त्ति कालो हि दुरतिक्रमः ॥५॥
त्रिकालात् परतो ज्ञेय आगन्तुर्गतचेष्टकः ॥
तथा वर्षाहिमोष्णाख्यास्त्रयः काला इमे मताः ॥६॥
तथा त्रयोऽन्येऽपि ज्ञेया उद्यन्-मध्या-स्तरूपिणः ॥
सूक्ष्मोऽपि सर्वगः स वै व्यक्ताव्यक्ततरः परः ॥७॥
सर्गपालनसंहर्त्ता स कालः सर्वतः समः ॥
कालेन कल्यते विश्वं तेन कालोऽभिधीयते ॥८॥

महाकाल को भी जिस (महाकाल) ने संख्येय बना डाला, वही महाकालकलिनी पराशक्ति 'माहाकाल-मपि कलयति या सा' निर्वचन से 'महाकाली' कहलाई है÷। महाकाली के गर्भ में प्रतिष्ठित इस महाकालपुरुष का स्वरूप यद्यपि अचिन्त्य है, अनिर्वचनीय है। तथापि उपासकों के अभ्युदय के लिए उन अचिन्त्यभावों की चिन्त्य-निरुक्त-भौतिक पदार्थों के माध्य से आकारकल्पना करली गई है। जिस तत्त्व का जैसा स्वरूप है, तदनुरूप ही उसकी नैदानिकी प्रतिमा का निर्म्माण हुआ है। प्रत्येक देवता की उपासना के आरम्भ में-'अथ ध्यानम्' यह आदेश प्रतिष्ठित रहता है। ऋषि आदेश कर रहे हैं कि, जिस तत्त्व की तुम उपासना करने चले हो, पंहिले उस का ध्यान करलो, नैदानिक स्वरूप को आत्मपटल पर अन्वित करलो। यदि महाकाल की उपासना अपेक्षित है, तो निम्नलिखित ध्यान का अनुगमन करो।

महाकालः-तत् कालारभटी विजृम्भणपरित्रासादिवभ्रश्यता—

परात्परः वामार्द्धेन तदेकशेषकरणं बिभ्रद्वपुर्भैरवम्।

तुल्यं चास्थिभुजङ्गभूषणमसौ भोगीन्द्रकङ्कालकैः—

र्बिभ्राणः परमेश्वरो विजयते कल्पान्तमर्म्मान्तिकः॥

३३१-सृष्टिविनाशोन्मुख-विश्वान्तर्गत-कालरुद्र की संहारचेष्टाएँ, और तद्रूप-'ताण्डवनृत्य', विश्वविनाशक-ताण्डवनृत्य से भी घोरघोरतम भयानक महा-कालपुरुष का विश्वाभावनिबन्धन प्रचण्डतम-'कालारभटी' नामक ध्वंसनृत्य, कल्पान्तक्षोभात्मिका विनाशलीला, एवं तत्रावस्थित परमेश्वर-साम्राज्य—

सृष्टिविनाशोन्मुख विश्वान्तर्गत कालरुद्र की संहारचेष्टाओं का नैदानिकरूप सुप्रसिद्ध 'ताण्डवनृत्य' है। इसी नृत्य के द्वारा वे विश्वविनाश करने में समर्थ होते हैं। जब विश्व का आत्यन्तिक विनाश होजाता है, तो इस कल्पान्तरूप महाप्रलयकाल में उनकी एक दूसरी नाट्यलीला आरम्भ होजाती है, जो ताण्डवनृत्य से भी भयानक है। वही नाट्यलीला 'कालारभटीलीला' नाम से प्रसिद्ध हुई है। इस कल्पान्तक्षोभात्मिका विनाशलीला से इनकी सहधर्मिणी मायाशक्ति भी एकरूपिणी बन जाती है। मायाबल उस दशा में उस रस-समुद्र में विलीन होजाता है। केवल रसैकघन निर्विशेष परमेश्वर का ही साम्राज्य रह जाता है।

---

(२) ÷—कलनात् सर्वभूतानां महाकालः प्रकीर्त्तितः॥
महाकालस्य कलनात् त्वमाद्या कालिका परा॥

३३२-महाप्रललावस्था के नैदानिक भावों का माङ्गलिक संस्मरण, आगमशास्त्रानुगत पारिभाषिक नैदानिक-भावों से अनुप्राणित कल्पित-प्रथमोपास्यरूप 'माध्यम' का पारिभाषिक-स्वरूप-समन्वय, सेन्द्रिय नैदानिकभाव, एवं अतीन्द्रिय उपास्य के पार्थक्य का समतुलन, तथा अव्यक्त-अतीन्द्रिय-उपास्य-देवता की संसिद्धि से अनुप्राणित व्यक्त-सेन्द्रिय-उपासना-माध्यमों का समन्वय-प्रयास, और तत्सम्बन्ध में आगमाचार्य्यों के आर्षवचन—

अस्थि, सर्प, कङ्काल, आदि इसी महाप्रलयावस्था के नैदानिकरूप हैं। किसी प्रज्वलित श्मशानक्षेत्र पर दृष्टि डालिए, जहाँ अस्थि-नरकङ्काल-कपाल-भयानक सर्प, आदि व्याप्त हों, चिताएँ सांय सांय कर प्रज्वलित होरही हों। निश्चयेन आप अनुभव करेंगे कि, विविध भोगपूर्ण विश्व यहां एकाकार बन गया है। आपकी बुद्धि-प्रज्ञा-कुण्ठित होजायगी, प्रलयकाल का वह दुर्द्धर्ष दृश्य आपके सम्मुख उपस्थित होजायगा। इसी दृश्य से आप उस सर्वभुक् महाकाल के अतीन्द्रिय स्वरूप का अंशतः अनुमान लगा सकेंगे, जिसका 'ध्यानश्लोक' में विश्लेषण हुआ है *। आगमशास्त्र जानता है कि, बिना कल्पित-माध्यम-प्रथमोपास्य के उस अतीन्द्रिय परमोपास्य का ध्यान सम्भव नहीं है। वह यह भी जान रहा है कि, शुक्ल-कृष्ण-रक्तादि वर्णात्मिका प्रतिमाएँ, उनके विविधाकारप्रकार सभी कल्पित हैं, इनका उन अतीन्द्रिय तत्त्वों से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह सब समझ कर भी उसे उपासक की ध्यान-स्थिरता के लिए इस काल्पनिक निदानभाव का आश्रय लेना पड़ता है। वह उन योगियों के सूक्ष्म-अरूपात्मक-योगदृष्ट्यात्मक-अव्यक्त ध्यान का समर्थन करता हुआ भी अस्मदादि साधारणों के लिए स्थूल-रूपात्मक-चक्षुर्दृष्ट्यात्मक-व्यक्तध्यान अनिवार्य्य मानता है, जैसाकि उसी के शब्दों से स्पष्ट है—

(१) ध्यानं तु द्विविधं प्रोक्तं स्वरूपा-रूपभेदतः ॥
स्वरूपं तव यद्ध्यानमवाङ्मनसगोचरम् ॥१॥
मनसो धारणार्थाय शीघ्रं स्वाभीष्टसिद्धये ॥
सूक्ष्मध्यानप्रबोधाय स्थूलध्यानं वदामि ते ॥२॥

---

*—महाकालं यजेद्देव्या दक्षिणे धूम्रवर्णकम् ॥
बिभ्रतं दण्डखट्वाङ्गौ दंष्ट्राभीममुखं शिशुम् ॥१॥
व्याघ्रचर्म्मावृतकटिं तुन्दिलं रक्तवाससम् ॥
त्रिनेत्रमूर्द्ध्वकेशञ्च मुण्डमालाविभूषितम् ॥२॥
जटाभारलसच्चन्द्रखण्डमुग्रं ज्वलन्निभम् ॥

अरूपायाः कालिकायाः कालमातुर्महाद्युतेः ॥
गुण-क्रियानुसारेण क्रियते रूपकल्पना ॥३॥

—मार्कण्डेयपुराण-सदाशिवोक्तिः ८५ अ० ।

(२) उपासकानां कार्य्याय पुरैव कथितं प्रिये ! ॥
गुणक्रियानुसारेण रूपं देव्याः प्रकल्पितम् ॥१॥
श्वेतपीतादिको वर्णो यथा कृष्णे विलीयते ॥
प्रविशन्ति तथा काल्यां सर्वभूतानि शैलजे ! ॥२॥
अतस्तस्याः कालशक्तिर्निर्गुणाया निराकृतेः ॥
हितायाः प्राप्तयोगानां वर्णः कृष्णो निरूप्यते ॥३॥

—मार्कण्डेयपुराणे

३३३-महाविद्यात्मिका महाशक्तिरूपिणी महाकाली के संस्मरणीय नैदानिक-भाव, अनुमेय महाकाल-निवन्धन-नैदानिक-भाव, 'विद्याराज्ञी' नामक पारिभाषिक शब्द का समन्वय-प्रयास, एवं जगन्माता आद्या भगवती के मङ्गलमय-पावनतम-नैदानिक-ध्यान का संस्मरण-प्रयास—

प्रकृत में महाविद्यात्मिका शक्ति से सम्बन्ध रखने वाला निदान ही हमारा मुख्य लक्ष्य है। अतः प्रकृत्यनुगत पुरुषभावों के निदानों का विश्लेषण न कर शक्ति-निदानों का ही दिग्दर्शन कराया जायगा। इसी आधार पर पाठक शिवानुगत निदानभावों का भी भाँलीभति अनुमान लगा सकेंगे। महाकालपुरुष की महाशक्तिरूपा महाकाली पूर्णात्मिका-शून्यात्मिका आदिविद्या * है, यह कहा गया है। यही इतर ९ महाविद्याओं की प्रतिष्ठा है, अतएव इसे 'विद्याराज्ञी × भी कहा जाता है। ध्यान कीजिए जगन्माता के मङ्गलमय स्वरूप का—

सद्यश्छिन्नशिरः कृपाणमभयं हस्तैर्वरं बिभ्रतीं ।
घोरास्यां शिरसां स्रजा सुरुचिरामुन्मुक्तकेशावलीम् ॥
सृक्कासृक्प्रवहां श्मशाननिलयां श्रुत्योः शवालङ्कृतिम् ।
श्यामाङ्गीकृतमेखलां शवकरैर्देवीं भजे कालिकाम् ॥

—मन्त्रमहोदधि ३ तरङ्ग, ६ श्लो०

---

* कलनात् सर्वभूतानां महाकालः प्रकीर्त्तितः ॥
महाकालस्य कलनात् त्वमाद्या कालिका परा ॥
कालत्वादादिभूतत्वादाद्या कालीतिगीयते ॥

× देखिए-मन्त्रमहोदधिः-३ तरङ्ग, ५ श्लो० ।

३३४-महाकाली के नैदानिक-ध्यानमन्त्र से अनुप्राणित अक्षरार्थ का समन्वय—

"चतुर्भुजा इस जगन्माता के एक [वाम] हाथ में तत्काल का कटा हुआ नरमुण्ड है, एक [दक्षिण] हाथ में कृपाण है, एक [वाम] हाथ में अभय [मुद्रा] है, एक [वाम] हाथ में वर है। मुख [मुखविवर] महाभयानक है। नरमुण्डों की माला गले में सुशोभित है। शिर के बाल बिखरे हुए हैं। दोनों जबाड़ों से रुधिर बह रहा है। श्मशान में विहार कर रहीं हैं। दोनों कानों में शव [मुर्दे] के कर्णालङ्कार सुशोभित हैं। वर्ण घोरकृष्ण है। शव के हाथों की मेखला [काञ्ची] कटिभाग में सुशोभित है। एवंविधा महाकाली की भाग्यशाली उपासक उपासना कर रहे हैं।

३३५-शवारूढा--महाभीमा--घोरदंष्ट्रा--हसन्मुखी---चतुर्भुजा---खड्ग--मुण्डमाल---वर--अभय--मुद्रा--धारिणी, ललज्जिह्वा, दिगम्बरा, श्मशानालय-वासिनी--एवंविधा नैदानिकभावसमन्विता महाकाली के नैदानिक-भावों का माङ्गलिक-संस्मरण—

शवारूढां महाभीमां घोरदंष्ट्रां हसन्मुखीम् ॥
चतुर्भुजां खड्गमुण्डवराभयकरां शिवाम् ॥१॥
मुण्डमालाधरां देवीं ललज्जिह्वां दिगम्बराम् ॥
एवं सञ्चिन्तयेत्कालीं श्मशानालयवासिनीम् ॥२॥

—शाक्तप्रमोद-कालीन्त्र

वह महाकाली शवशरीर (मुर्दे) पर खड़ी है, शरीराकृति भयानक है, दंष्ट्रा अतितीक्ष्ण, अतएव घोर है, एवंविधा वह आदिमाया अट्टाट्टहास कर रही है। चार उसके हाथ हैं, चारों में क्रमशः नरमुण्ड, अभयमुद्रा, वर, खड्ग, ये चार आयुध प्रतिष्ठित हैं। जिह्वा बाहिर निकल रही है। श्मशान ही इसकी आवास-भूमि है" यही महाकाली के ध्यानमन्त्रों का अक्षरार्थ है। अब उस रहस्यार्थ की मीमांसा कीजिए, जो निदान-भाव पर प्रतिष्ठित है।

३३६-महाप्रलयात्मिका महाकालरात्रिरूपा-विश्वाभावात्मिक-अनुपाख्यतमोमयी-महाकाली के तम से आवृत-तमोरूप का दिव्य-संस्मरण सप्तवर्णजीवितभावनिबन्धन शुक्लवर्ण का, एवं सप्तवर्णमूर्च्छितभावनिबन्धन कृष्णवर्ण का वैज्ञानिक--स्वरूप--समन्वय, अनुपाख्यतमोमयी महाकाली की कृष्णरूपता, एवं तत्र अपीत--निमज्जित विश्वसर्ग का दिग्दर्शन—

(१) महाप्रलयात्मिका महाकालरात्रिरूपा महाकाली विश्वाभावात्मिका बनी हुई है। इसका विश्वातीत-लक्षण यह स्वरूप अनुपाख्यातम है, जिसका 'तम आसीत्तमसागूलमग्रे' इत्यादि रूप से पूर्व में दिग्दर्शन कराया जाचुका है। इसी अनुपाख्य, विश्वाभावरूप तमोभाव की ओर उपासक का ध्यान आकर्षित करने के लिए निरुक्ततम (कृष्णवर्ण) इसके शरीर का निदान माना गया है। पीत, हरित, नीलादि सातों वर्ण यदि एक बिन्दु में स्वस्वरूप को सुरक्षित रखते हुए समन्वित होजाते हैं, तो श्वेतवर्ण का प्रादुर्भाव होजाता है। हृदयानुगत

जीवित-सप्तवर्णराशि का ही नाम 'श्वेतवर्ण' है। इस वर्ण में अन्यवर्ण अपीत नहीं होसकता। क्योंकि जो भी वर्ण इसमें आना चाहेगा, वह पहिले से ही इसमें जीवित है। 'श्वः-इतो धावति' ही श्वेत शब्द का निर्वचन है, जिसका तात्पर्य्य यही है कि, इस पर सप्तवर्णात्मिका सौररश्मियाँ प्रतिफलन-सम्बन्ध से वापस लौट जातीं हैं। ये ही सातों वर्ण यदि इद्बिन्दु में मूर्च्छित होजाते हैं, तो कृष्णवर्ण का विकास होता है। सातों वर्णों की मूर्च्छितावस्था का ही नाम 'कृष्ण' है। 'कर्षति अन्यान् वर्णान्' ही इसका निर्वचन है। इसमें सौरवर्ण को अपीत करने का धर्म्म है। तो जिसप्रकार हरित-पीत-रक्तादि यच्च यावत् वर्ण कृष्णवर्ण में विलीन होजाते हैं, एवमेव उस शून्यात्मिका बिन्दुरूपा महामाया में विश्व के यच्चयावत् नाम-रूप-कर्म्म अपीत होजाते हैं। इसी सम-तुलन के आधार पर जगन्माता के बाह्यरूप का निदान कृष्णवर्ण मान लिया गया है। इससे हमें यही शिक्षा मिल रही है कि, रूपज्योतिर्म्मय सम्पूर्ण विश्व इस अनुपाख्य-तमोरूपा महाकाली के गर्भ में अपीत है।

३३७-शक्तियुक्त विश्व की शिवरूपता का, तथा शक्तिशून्य विश्व की 'श्व' (श्वान) भावनिबन्धना शवरूपता का दिग्दर्शन, विश्वस्वरूपसंहारिणी महाकालरात्रि, और आद्या भगवती, एवं शवात्मक विश्व के नैदानिक-स्वरूप का पारिभाषिक-समन्वय—

[२] शक्तियुत विश्व शक्तिमान् बनता हुआ 'शिव' है। शक्ति निकल जाने पर वह उसीप्रकार 'शव' है, जैसे आत्मनिष्क्रान्त्यनन्तर शरीर शव है। विश्वातीत-परात्परपुरुषरूप महाकाल की महाशक्ति महाकाली का विकास विश्व से पहिले है। यही विश्वसंहारकारिणी कालरात्रि है। सृष्टिकाल इसकी प्रतिष्ठा नहीं है, अपितु प्रलयकाल इसकी प्रतिष्ठा है। दूसरे शब्दों में-शक्तिमान् विश्व उसकी प्रतिष्ठा नहीं है, अपितु शक्तिशून्य, अतएव शवरूप विश्व उसकी प्रतिष्ठा है। प्रलयावस्था में सम्पूर्ण विश्व शवरूप से निपतित है। उसी पर यह प्रतिष्ठित है। इसी रहस्य का विश्लेषण करने के लिए शक्तिशून्य शवात्मक विश्व का निदान शव [मुर्दा] माना गया।

३३८-अनुपाख्यतमो-लक्षणा संहारकारिणी-लयाधिष्ठात्री महाकाली से अनुप्राणित घोरघोरतम भयावह आकार का संस्मरण, एवं तन्निबन्धन-भीमाकृतिरूप नैदानिक-भाव का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

[३]-अनुपाख्यतमोलक्षणा महाकाली संहारकारिणी है, लयाधिष्ठात्री है, यही उसका भयावह आकार है। शत्रुसंहारकर्त्ता योद्धा की आकृति महाभयावहा बन जाती है। सौम्यप्रकृतिक मनुष्य तो उस पर दृष्टिनिक्षेप भी नहीं कर सकता। प्रलयरात्रिरूपा संहारकारिणी शक्ति के उसी आनुमानिक भयानकरूप का निदान भयानक आकृति माना गया है।

३३९-शत्रुसैन्यविध्वंसक समर्थ-प्रचण्ड-योद्धा का सर्वविनाशानुगत अट्टाट्टहास, शक्तिशून्यविश्व के शवरूप पर नर्त्तन करने वाली महाकाली, एवं "हास्य" भावानुबन्धी नैदानिक-भाव का स्वरूप-समन्वय—

(४)-शत्रुपक्ष का ध्वंस कर योद्धा अट्टाट्टहास करता है। उसका वह हास्य भीषणता लिए होता है। अनुपाख्यदशा में महाकाली इसी भाव से समतुलित है, अतएव उसके लिए 'हसन्मुखीम्'

:कद्दना अन्वर्थ बनता है। अपित्च निर्बल मनुष्य के आक्रमणों को विफल कर सबल मनुष्य उसकी इस दयनीय दशा का उपहास किया करता है। आज वही दशा इस शक्तिशून्य विश्व की है। जो विश्व, एवं विश्वप्रजा अपने आपको सर्वेसर्वा मान रहे थे, आज वे उससे सर्वथा पराभूत हैं। 'हास्य' इस स्थिति का भी निदान बन रहा है।

३४०-वर्त्तुलवृत से अनुप्राणिता षड्भान्तरभाव-निबन्धना चार भुजाएँ, इन्द्रोपलक्षित चित्रानक्षत्र, पूषोपलक्षित रेवतीनक्षत्र, तार्क्ष्योपलक्षित श्रवणनक्षत्र, बृहस्पत्युपलक्षित लुब्धकबन्धुनक्षत्र, एवं आकाशानुबन्धी खस्वस्तिक का पारिभाषिक-स्वरूप-समन्वय, तथा 'चतुर्भुजाम्' रूप नैदानिक भाव का स्वरूप-समन्वय—

(५)-प्रत्येक वर्त्तुलवृत्त में ३६० अंश माने गए हैं। इसमें ९०-९० के क्रम से चार पर्व होते हैं। ये ही उस पूर्णवृत्त की चार भुजा हैं। इन्हीं को विज्ञानभाषा में 'स्वस्तिक' कहा जाता है। खगोलीय ये ही चारों स्वस्तिक इन्द्रोपलक्षित चित्रानक्षत्र, पूषोपलक्षित रेवतीनक्षत्र, तार्क्ष्योपलक्षित श्रवणनक्षत्र, एवं बृहस्पत्युपलक्षित लुब्धकबन्धुनक्षत्र, इन षड्भान्तरीय चार नक्षत्रों से सम्बद्ध हैं। चित्रा से श्रवण नक्षत्र ठीक षड्भान्तर पर (१८० अंश पर) है। एवमेव रेवती से लुब्धक भी इतने ही अन्तर पर है। यही ज्योतिश्चक्रात्मक सम्वत्सरावच्छिन्न यज्ञपुरुष की खगोलीय चार भुजा हैं, जिनका निम्न लिखित यजुर्मन्त्र में विश्लेषण हुआ है—

> स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः, स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
> स्वस्ति न स्तार्क्ष्योऽरिष्टनेमिः, स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥
>
> —यजुःसंहितायाम्

शून्यात्मिका महामाया इसी वृत्तभावात्मक सीमाभाव से युक्त है। अनन्ताकाशलक्षण परमाकाशरूप महा अवकाश में चतुर्द्धा व्याप्त होकर ही यह विश्वसंहारकर्म्म का सञ्चालन कर रही है। हस्त उनके इस संहार-कर्म्म का निदान है, चतुर्द्धा प्रसार का निदान चतुर्भुजा है।

३४१-नाशकर्म्म से तटस्था उक्थरूपिणी महाकाली, एवं नाशकर्म्मणि सततजागरूका अर्करूपा महाकाली की अवान्तर-चामुण्डा, भैरवी, डाकिनी, शाकिनी, पिशाचिनी-आदि विभिन्ना शक्तियाँ, एवं तन्नैदानिक-रूपात्मक 'खड्ग' का पारिभाषिक-स्वरूप-समन्वय-और 'छिन्नमस्तक' के नैदानिक-भाव का दिग्-दर्शन—

(६) महाकाली स्वयं नाश नहीं करती। अपितु उस उक्थात्मिका शक्तिपुञ्जरूपा घनशक्ति से विनिर्गता चामुण्डा, भैरवी, डाकिनी, शाकिनी, पिशाचिनी, आदि अर्कात्मिका शक्तियाँ ही संहारकर्म्म का निमित्त बनती हैं। इन साधनभूता संहारिणी शक्तियों का निदान ही खड्ग है। (७)-साधन-शक्तियों से विनष्टभाव का निदान ही छिन्नमस्तक है।

३४२· महाकाली के सौम्य, तथा उग्र-नामक द्विविध महिमाविवर्त्त, दक्षिण-वाम-भागानुगता-उग्र-सौम्य-रूपों का समतुलनात्मक समन्वय, एवं उभयरूपानुबन्धी शान्त-घोर-भावात्मक द्विविध नैदानिक-स्वरूपों का पारिभाषिक-समन्वय—

(८)-महाकाली के सौम्य, उग्र, दो विवर्त्त माने गए हैं। सौम्य-रूप विश्वापेक्षया सोमप्रधान है, उग्ररूप अग्निप्रधान है। शरीर में अग्नितत्त्व दक्षिणभाग में प्रधान है, सोमतत्त्व वामभाग में प्रधान है। सोमानुगता वही महाकाली विश्व के लिए अभयस्थान है, वरप्रदात्री है। अग्न्यनुगता वही महाकाली विश्व के लिए भयस्थान है, मृत्युस्थान है। सौम्या महाकाली शिवानुगता है, उग्रा महाकाली रुद्रानुगता है। एक ही महाकाली में दोनों रूपों का समन्वय होरहा है। उग्ररूप का निदान दक्षिण दोनों हाथों के खड्ग, और छिन्नमस्तक हैं, तो सौम्यरूप का निदान वाम दोनों हाथों की अभयमुद्रा, और वरमुद्रा हैं। वह संहारकर्त्री है, भयावहा है, घोररूपा है, सभी कुछ है। परन्तु विश्वास कीजिए, अभयपदप्राप्ति, एवं अभीष्टवरप्राप्ति भी उसी की उपासना पर निर्भर है। विश्वसुख क्षणिक है, अतएव शून्य है, अतएव अपूर्ण है, अतएव दुःखैकसार है। परम-शाश्वत-पूर्ण सुख (शान्तानन्द) एकमात्र उसी की आराधना पर अवलम्बित है। परमशिवरूपा तो वही है।

३४३-सर्वाधारभूत तत्त्व, विश्व की जीवितावस्था, तथा शवावस्था, एवं परायणभाव-निबन्धन निदानभाव का माध्यम-'मुण्डमाल'—

(९)-जीवितदशा में जो सबका आधार थी, प्रलयकाल में भी वही सब का आधार है। ध्वस्त विश्व के निर्जीव प्राणियों का निर्जीव भाग भी उसी पर प्रतिष्ठित है। उस व्यापक तत्त्व से कैसे कोई बहिर्भूत रह सकता है। इसी परायणभाव का निदान मुण्डमाल है।

३४४· तमोगुणप्रधान विश्व से पराशक्तिरूपा परज्योति का आवरण, विश्वगर्भ में प्रविष्टा पराशक्ति, सोपाधिक विश्व की वस्त्र-रूपता, एवं निरूपाधिका विश्वातीता पराशक्ति के दिगम्बरस्वरूप नग्नत्त्व के नैदानिक-भाव का पारिभाषिक स्वरूप-समन्वय—

(१०)-तमोगुण-प्रधान विश्व से वह पराशक्ति आवृत होजाती है। 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' के अनुसार विश्वनिर्म्माण कर वह शक्ति विश्वगर्भ में प्रविष्ट होजाती है। इस के इस सोपाधिकरूप का वस्त्र विश्व ही है। परन्तु विश्वविनाशानन्तर वह स्वस्वरूप से विकसित होपड़ती है। उस स्थिति में आवरण का ऐकान्तिक अभाव है। इसी निरावरणभाव का निदान 'नग्नत्त्व' है

३४५-महाशक्ति के पूर्ण विकासकाल से अनुप्राणित महाप्रलयकाल, तन्निबन्धन अनुपाख्यतम, एवं तदनुबन्धी 'श्मशानवासित्त्व' रूप नैदानिक-भाव का पारिभाषिक-समन्वय —

(११)-महाशक्ति का पूर्ण विकास काल है-विश्व का प्रलयकाल। सम्पूर्ण विश्व जब श्मशानरूप में परिणत होजाता है, तभी उस अनुपाख्य-तमोमयी शक्ति का विकास होता है। 'श्मशाननिवासित्त्व' इसी अवस्था का निदान है।

३४६-महाकाली के रसानुबन्धी--ऊर्ध्वभावानुगत अमृतरूप का, तथा बलानुबन्धी-अधोभावानुगत मर्त्यरूप का तात्त्विक--स्वरूप--दिग्दर्शन, ऊर्ध्वाङ्गानुगत उत्तमाङ्ग से अनुप्राणित विभिन्न नैदानिक-भावों का रहस्यात्मक स्वरूप-समन्वय—

(१२)-इसके ज्ञानप्रधान अमृतरूप, कर्म्मप्रधान मर्त्यरूप, ये दो रूप माने गए हैं। ज्ञानात्मक अमृत-रूप इस का ऊर्ध्वाङ्ग है, कर्म्मात्मक मर्त्यरूप अधःशरीर है। कटि से ऊपर का अङ्ग उत्तमाङ्ग कहलाया है, नीचे का भाग अधोभाग कहलाया है। कर्म्मप्रसार हस्तसापेक्ष है। अतएव इसके अधोभागानुगत कर्म्म का निदान कटिदेशानुगता हस्तमालात्मिका मेखला माना गया है।

३४७-विश्वोत्पादक वाग्विवर्त्त, एवं महाशक्ति, महाशक्ति के वाङ्मय विवर्त्त से अभिव्यक्ता पञ्चतन्मात्रा, वाङ्मय विश्व की प्रलयकालानुबन्धिनी शवरूपता का संस्मरण, एवं तदनुगत शवात्मक-कर्णालङ्कारों के पारिभाषिक-नैदानिक-स्वरूप-का समन्वय-प्रयास—

(१३)-सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति का मूलकारण उसी महाशक्ति का वाग्विवर्त्त है। यही वाक् शब्दतन्मात्रा के द्वारा शेष तन्मात्राओं की प्रवर्तिका बनती हुई तद्द्वारा गुणागुणेगुभूत में परिणत होती हुई पञ्चभूतरूप में परिणत हुई है। संहारकाल में यह वाङ्मय विश्व शक्तिशून्य बन कर शवरूप में परिणत उसी-श्रुतिरूपा मूलवाक् में विलीन होजाता है। इसी का निदान शवात्मक कर्णालङ्कार है। कर्ण (कान) श्रुतिवाक् का निदान है, शवालङ्कार शक्तिशून्य वाङ्मय विश्व का निदान है। इन्हीं सब तत्त्वों के आधार पर तत्तन्निदानों के द्वारा अचिन्त्या-अप्रमेया-निर्गुणा-महाकाली के चिन्त्य-प्रमेय-सगुण-स्वरूप की कल्पना हुई है।

३४८-महाप्रलयकाल की अर्द्धरात्रि, और महाकाली, तदनुगता महातारा, तन्निबन्धना रात्रिकालानुगता विभाजनव्यवस्था, महदक्षर-सम्बन्धानुगता महाकाली के चतुरशीति-पितृप्राणानुगत महान् से अनुप्राणित चतुरशीति (८४) महिमामय-स्वरूपों का पावन संस्मरण, एवं तन्निबन्धा संस्मरणीया 'दक्षिणकालिका'—

महाप्रलयकाल की अर्द्धरात्रि (मध्यरात्रि) इस महाकाली का पूर्ण विकासकाल है। इस अर्द्धरात्रि से आरम्भ कर प्रातःकाल पर्य्यन्त सूर्योदय (सूर्योत्पत्ति) से पहिले पहिले भी यद्यपि प्रभुत्त्व इसी का रहता है, तथापि अद्यतनमर्य्यादा से इस के इस रूप को सृष्ट्युन्मुख मान लिया जाता है। कारण-मध्यरात्रि के अनन्तर ही उदयक्रिया आरम्भ होजाती है। जगन्माता ब्रह्ममयी तारा (द्वितीया) ही वस्तुतः सृष्टि का प्रधान उपक्रम है। परन्तु मध्यरात्र्युत्तरवर्त्तिनी महाकाली ही अपने महदक्षरधर्म्म से सृष्ट्युन्मुखा बन जाती है। अतः यहीं से सृष्टि का उपक्रम मान लिया जाता है। सूर्योत्पत्त्यनुगता तारा, एवं मध्यरात्र्यनुगता महाकाली, दोनों के मध्य में (अर्द्धरात्रि से सूर्योदय पर्य्यन्त) प्रतिष्ठित जो महाकाली है, वही महदक्षरसम्बन्ध से 'कङ्काली, चामुण्डा, चण्डिका, दशवक्त्रा, जया, विजया, अपराजिता, विलासिनी, महाकालरता, दीप्ता, नीला, घना, उग्रप्रभा, इत्यादिरूप से ८४ विवर्त्तभावों में परिणत होजाती है। त्रिदृगर्भाधिष्ठाता महदक्षर ही

सृष्टिका आलम्बन है। सौम्य-चतुरशीतिकल पितृप्राण-समन्वय से यह महद्योनिर्भाव आरम्भ में चतुरशीतिकल बनते हुए मूर्त्तिसम्पादक एकविंशतिधा विभक्त ऋक् के व्यूहन से चतुर्धा विभक्त होकर (२१-२१-२१-२१-लक्ष) चतुरशीतिलक्ष (८४०००००) विवर्त्तभावों में परिणत होजाते हैं। इन सब महाकाली-तत्त्वों के स्वरूप की उसी निदान के आधार पर तत्तत्स्वरूपानुगत कल्पना हुई है। इन चतुरशीति (८४) उग्र-शक्तियों के अतिरिक्त जो मध्यरात्र्यनुगता महाकाली है, वही 'दक्षिणाकालिका' कहलाई है।

३४९· शक्तिशून्य विश्व की नैदानिकता का संस्मरण, तन्निबन्धन अत्ता, और आद्य-भाव, तदनुगत चित्य-चितेनिधेयात्मक-मर्त्य-अमृत-भावों का स्वरूप-समतुलन, एवं तन्निबन्धन पारिभाषिक आत्मभाव—

एक प्रासङ्गिक विश्लेषण और। पूर्व में हमने शव को शक्तिशून्य विश्वका निदान बतलाया है, एवं छिन्नमस्तक को संहारशक्ति का निदान माना गया है। अतएव इन के सम्बन्ध में दो शब्दों में निगमानुगत निदानभाव का भी समन्वय कर लेना चाहिए। 'द्वयं वा इदं, न तृतीयमस्ति, अत्ता चैवाद्यञ्च' निगमानुसार विश्वप्रपञ्च को अत्ता, आद्यरूप से दो भागों में विभक्त किया जासकता है। आत्मा अत्ता है, भोक्ता है। पशु आद्य है, भोग्य है। आत्मा अमृत है, पशु मर्त्य है। मर्त्य पशु सदा अमृतात्मा का वशवर्त्ती बना रहता है। अमृतात्मा अमृतप्राण है, मर्त्यपशु मर्त्यभूत है। अमृतप्राण चितेनिधेयाग्नि है, मर्त्यभूत चित्याग्नि है। पिण्डमात्र चित्याग्निमय हैं, जिनका हम स्पर्श करते हैं। यही चित्याग्निपिण्ड भौतिक शरीर है। इसके केन्द्र में स्वप्रतिष्ठा से प्रतिष्ठित रहता हुआ वह चितेनिधेय-प्राणाग्नि पिण्ड पर शासन करता हुआ पिण्ड के चारों ओर व्याप्त होजाता है। यह प्राणाग्निमण्डल-लक्षण महिमा-मण्डल ही निगमपरिभाषा में 'साम' कहलाया है। साममण्डलावच्छिन्न यह अमृताग्नि ही उस चित्याग्नि-पिण्डरूप शरीर का आत्मा है।

३५०-अमृतात्मरूप-पिण्डावच्छिन्न-आत्मन्वी का प्रजापतित्व, तत्सर्वव्याप्ति, प्रजापति की सप्तपुरुषात्मकता, सप्तविध अमृत-मर्त्य-भेदभिन्न चितेनिधेय प्राण, तथा चित्य भूत, एवं प्राणतत्त्व की ऋषिरूपता का पारिभाषिक समन्वय-प्रयास—

अमृतात्मरूप-पिण्डावच्छिन्न यही आत्मा आत्मन्वी बनता हुआ 'प्रजापति' है। एवं-'प्रजापति-स्त्वेवेदं सर्वं यदिदं किञ्च' के अनुसार उक्त दृष्टिकोण से प्रत्येक पदार्थ-पिण्ड-महिमारूप शरीर-आत्मभावों में परिणत रहते हुए 'प्रजापति' हैं। इसी को यज्ञपरिभाषा में-'सप्तपुरुषपुरुषात्मक' कहा गया है। चार आत्मा, दो पक्ष, एक पुच्छ, इन सात मर्त्य-चित्य-प्राणों की समष्टि सप्तपुरुषपुरुषात्मक चित्य शरीर है। इन सातों के अमृत-चितेनिधेय-प्राणों की समष्टि सप्तपुरुषपुरुषात्मक आत्मा है। यह अमृतप्राण ही निगमभाषा में 'ऋषि' नाम से व्यवहृत हुआ है। यही सृष्टि का मूलारम्भण बनता है। वेदपुरुषात्मिका त्रयीविद्या के ऋक्सामात्मक वयोनाधों से नद्ध वयोरूप यजु की जूरूपा आकाशात्मिका प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित गतिप्रकृतिक यत्-रूप प्राण ही सुप्रसिद्ध स्वायम्भुव प्राण है, यही ऋषि नामक प्राण है।

३५१–एकर्षि-सप्तर्षि-दशर्षि-द्व्यर्षि, त्र्यर्षि-आदि भेद से ऋषिप्राणों के अनेक महिमा-विवर्त्तों का दिग्दर्शन, 'सप्तर्षिप्राण' के रासायनिक सम्मिश्रणात्मक 'यज्ञ' से वागारम्भणद्रव्य के माध्यम से अप्तत्त्व का प्रादुर्भाव, महाकाल-तथा महाकाली के समन्वितरूपों से अनुप्राणित पारमेष्ठ्य-मण्डल का स्वरूप-दिग्दर्शन, ततः देवप्राणात्मक चितिसृष्टि-प्रवर्त्तक सूर्य्यनारायण की अभिव्यक्ति, एवं तत्र राजर्षि मनु के उद्गार—

इन प्राणों की एकर्षि, सप्तर्षि, दशर्षि, द्व्यर्षि, त्र्यर्षि, आदि अनेक जातियां हैं। इन में सप्तर्षिप्राण ही सप्तव्याहृत्यात्मक विश्व का मूलारम्भण बनता है। सप्तपुरुषपुरुषात्मक इसी ऋषि नामक सप्तर्षिप्राण से रासायनिक सम्मिश्रण के द्वारा वागाधारेण सर्वप्रथम अप्तत्त्व उत्पन्न होता है, यही आपोमय परमेष्ठी है। दूसरे शब्दों में महाकालपुरुष महाकाली से समन्वित होकर इस प्राणसप्त के द्वारा पानी का उत्पादक बनता है। पारमेष्ठ्य प्राण ही 'पितर' है। इस आपोमय पितृ-प्राण-घन परमेष्ठी के गर्भ में पितरप्राणों के रासायनिक सम्मिश्रण से सूर्य्यात्मक देवप्राण का विकास होता है। देवप्राणात्मक सूर्य्य से आगे की स्थिर-चर-सृष्टि का विकास होता है। निम्न लिखित मानवीय वचन इसी प्राणसृष्टि का विश्लेषण कर रहे हैं—

> तेषामिदं तु सप्तानां पुरुषाणां महौजसाम् ॥
> सूक्ष्माभ्यो मूर्त्तिमात्राभ्यः सम्भवत्यव्ययाव्ययम् ॥१॥
>
> —मनुः १।१९।
>
> सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ॥
> अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥२॥
>
> —मनुः १।८।
>
> ऋषिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देव-मानवाः ।
> देवेभ्यश्च जगत् सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः ॥
>
> —मनुः ३।२०१।

३५२–सप्तपुरुषपुरुषात्मक मर्त्यपुरुष, तथा अमृतपुरुष की समष्टि से अभिव्यक्त आत्मन्वी-प्रजापति की स्वरूप-निष्पत्ति का दिग्दर्शन, उदाहरणधिया अध्यात्मसंस्था से अनुप्राणित आत्मन्वी-प्रजापति के सप्तविध चित्य-पुरुषों का, तथा तत्प्रतिष्ठारूप सप्तरसात्मक-चितेनिधेय पुरुषलक्षण श्रीरूप-शिरोभाव का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय, एवं तत्र ब्राह्मणश्रुति के द्वारा स्पष्टीकरण—

वक्तव्य यही है कि, सप्तपुरुषपुरुषात्मक मर्त्यपुरुष, एवं अमृतपुरुष की समष्टि से ही आत्मन्वी प्रजापति की स्वरूपनिष्पत्ति हुई है। उदाहरणार्थ अध्यात्मसंस्था को लक्ष्य बनाइए। मूलग्रन्थि (गुदस्थान) से कण्ठरन्ध्र पर्य्यन्त वितत मध्याङ्ग (धड़) के हृदयबिन्दु के आधार से समतुलित ४ विभाग मानिए। इन में

चार आत्मप्राण प्रतिष्ठित हैं। दक्षिण हस्त-पाद दक्षिणपक्षप्राण हैं, वामहस्तपाद वामपक्षप्राण है, त्रिकास्थि से सम्बद्ध प्रतिष्ठात्मक प्राण पुच्छ है। इन सातों मर्त्यप्राणों के रस से शिरोभाग का निर्म्माण हुआ है। सारभूत रस भाग ही 'श्रीः' है। तदवच्छिन्न भाग ही 'शिर' है। अतएव आगमपरिभाषा में मस्तक को 'श्रीः' नाम से भी व्यवहृत किया जाता है, जो कि व्यवहार निम्न लिखित निगमव्यवहार के आधार पर प्रतिष्ठित है—

"असद्वा इदमग्र आसीत्। तदाहुः-किं तदसदासीदिति ?, ऋषयो वाव तदग्रेऽसदासीत्। तदाहुः—के ते ऋषय इति ?, प्राणा वा ऋषयः। * *। स वै सप्त पुरुषो भवति। सप्तपुरुषो ह्ययं पुरुषः—यच्चत्वार आत्मा, त्रयः—पक्ष पुच्छानि। अथ यश्चितेऽग्निर्निधीयते, यैवैतेषां सप्तानां पुरुषाणां श्रीः, यो रसः, तमुदूहन्ति। तदस्यैतच्छिरः"।

—शत० ६।१।१।

३५३-मर्त्य-सप्तप्राणात्मक पिण्ड, अमृत-सप्तप्राणात्मक शिरोभाग, तत्समष्टि की विश्वरूपता, प्रलयदशानुगत तद्विच्छेद; अमृतप्राण का ऊर्ध्वभाग में विलयन, मर्त्यभूत की शवरूपता, तदुपरि महाकाली का नर्त्तन, एवं छिन्नमस्तक, तथा श्रीरूप-अमृत-भावों के निदानभावों का रहस्यात्मक-समन्वय-प्रयास—

मर्त्य-सप्तप्राणात्मक पिण्ड, एवं अमृत-सप्तप्राणात्मक शिरोभाग, इन दोनों अमृत–मृत्युभावों की समष्टि ही विश्व है। प्रलयदशा में दोनों का विच्छेद होजाता है। अमृतप्राण महाशक्ति के ऊर्ध्वभाग में (अमृतरूप में) विलीन होजाता है, मर्त्यभागात्मक विश्व-शवरूप में परिणत होता हुआ अधोनिपतित रह जाता है। महाकाली के इसी उभयप्राणतत्त्व–विश्लेषण के लिए भी इस के नैदानिक कल्पितरूप में शव पर इसे प्रतिष्ठित माना जाता है, जो कि शव चित्यमर्त्यप्राण का निदान है। एवं छिन्नमस्तक इसके दक्षिण हस्त में प्रतिष्ठित माना जाता है, जोकि श्रीः-रूप अमृतप्राण का निदान है।

३५४-नैदानिक-माध्यमों का अनन्यनिष्ठा से अनुगमन, एवं तत् द्वारा ही उपास्य की उपासना में उपासक की सफलता, विभिन्न नैदानिक-स्वरूपों के द्वारा उपास्य का सत्त्वर सान्निध्य, एवं आगमीया नैदानिकी उपासना के 'ग्रामपथत्त्व' पर अज्ञजनों के आक्षेप, तथा तन्निराकरण-प्रयास, और रहस्यात्मिका आगमीया नैदानिकी उपासना से अनुप्राणिता महामाया आद्या भगवती दक्षिणकालिका के नैदानिक-मङ्गलमय-ध्यानमन्त्रों का पावन-संस्मरण—

तत्तदनुरूप भौतिक द्रव्यों के द्वारा निदानविद्या से कल्पित जगन्माता की उपासना में उपासक तभी सफल होसकता है, जब कि वह अपनी चर्य्याओं में तदनुरूप भावों का अनुगामी बना रहता है। कालीमनु (कालीमन्त्र) तो उस का प्रत्यक्ष स्वरूप ही है। अतएव श्मशान, शव, मुण्डमाल, आदि परिग्रहों की अनुगतिपूर्वक यदि इस मनु (मन्त्र) का अनुगमन किया जाता है, तो तद्भावनाभावित तत्त्व (परमोपास्य) सत्त्वर

ही सन्निकट होजता है । अज्ञजन जिसे 'वामपथ' कह कर उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं, वह वामपथ कैसा रहस्य पूर्ण है ?, प्रश्न के उत्तर के भी वे अधिकारी नहीं हैं। अवश्य ही तत्ववादविलुप्ति से आगमोपासना वर्त्तमान में अपने तात्विक स्वरूप से विदूर होचुकी है । परन्तु एतावता ही उपासनामार्ग की अवहेलना नहीं की जासकती । आज भी गुप्तरूप से जो कहो ऐसे रहस्योपासक विद्यमान हैं, उन के पावन चरणों में हमारे शतशः प्रमाण हैं। हम हृदय से कामना करते हैं कि, वे हमें यह आशीर्वाद प्रदान करें कि, उपासना के सर्वथा अनधिकारी होते हुए भी हम उन के अनुग्रह से जगन्माता महामाया आद्या दक्षिणकालिका के निम्न लिखित नैदानिक ध्यान का अहर्निश पारायणमात्र करने की शक्ति प्राप्त कर सकें—

करालवदनां घोरां मुक्तकेशीं चतुर्भुजाम् ॥
कालिकां दक्षिणां दिव्यां मुण्डमालाविभूषिताम् ॥१॥
सद्यश्छिन्नशिरःखड्ग-वामाधोर्ध्वकराम्बुजाम् ॥
अभयं वरदञ्चैव दक्षिणोर्ध्वाधःपाणिकाम् ॥२॥
महामेघप्रभां श्यामां तथा चैव दिगम्बरीम् ॥
कण्ठावसक्तमुण्डालीगलद्रुधिरचर्चिताम् ॥३॥
कर्णावतंसताकीतशवयुग्मभयानकाम् ॥
घोरदंष्ट्रां करालास्यां पीनोन्नतपयोधराम् ॥४॥
शवानां करसंघातैः कृतकाञ्चीं हसन्मुखीम् ॥
सृक्कद्वयगलद्रक्तधाराविस्फुरिताननाम् ॥५॥
घोररावां महारौद्रीं श्मशानालयवासिनीम् ॥
बालार्कमण्डलाकारलोचनत्रितयान्विताम् * ॥६॥
दन्तुरां दक्षिणव्यापिमुक्तालम्बिकचोच्चयाम् ॥
शवरूपमहादेवहृदयोपरि संस्थिताम् ॥७॥

---

*-नित्यायाः कालरूपाया अव्ययायाः शिवात्मनः ॥
अमृतत्वात् ललाटेऽस्या शशिचिह्नं निरूपितम् ॥१॥
शशि-सूर्य्या-ग्नि भिर्नित्यैरखिलं कालिकं जगत् ॥
सम्पश्यति यतस्तस्मात् कल्पितं नयनत्रयम् । २॥

—मार्कण्डेयपुराणे ।

शिवाभिर्घोररावभिश्चतुर्दिक्षु समन्विताम् ॥
महाकालेन च समं विपरीतरतातुराम् ॥८॥
सुखप्रसन्नवदनां स्मेराननसरोरुहाम् ॥
एवं सञ्चिन्तयेत् कालीं सर्वकामार्थसिद्धिदाम् ॥९॥

—तन्त्रसारधृतकालतन्त्रे

३५५-परा पराणां-परमा-आद्या कालरात्रिरूपा-महाकालानुगता-महाकाली से अनुप्राणित नैदानिक-ध्यानात्मक-स्वरूप-विश्लेपण का उपराम, एवं तद्द्वारा निदानलक्षण-प्रथमोपास्य-प्रकरण का अवसान, तथा प्रथमा महाविद्या-महाकाली के स्वरूपेतिवृत्त की उपरति—

परा-पराणां-परमा—आद्या—कालरात्रिरूपा—महाकालानुगता—महाकाली से सम्बन्ध रखने वाले नैदानिक स्वरूप का यही स्वाधिकार-बहिर्भूत संक्षिप्त विश्लेपणमात्र है। इसी आद्या का आगे जाकर तारा—षोडशी—भुवनेश्वरी आदिरूप से नवधा विकास हुआ है। उन सब का तात्त्विक विश्लेपण स्वतन्त्रग्रन्थ सापेक्ष है, जो अन्य निबन्धों से गतार्थ है। विशेष जिज्ञासा रखने वालों को वे ही निबन्ध देखने चाहिएँ। प्रकृत में पूर्णा शक्ति की पूर्णमहिमा (दशमहिमा) के अनुरोध से दो शब्दों में शेष ९ रूपों के नैदानिक ध्यानों का दिग्दर्शन करा प्रस्तुत—'निदानलक्षण—प्रथमोपास्य' प्रकरण समाप्त किया जारहा है।

इति—'महाकाली'—स्वरूप—दिग्दर्शनम्

—१—

—※—

(२)-अक्षोभ्यपुरुष, और उसकी महाविद्या तारा
(द्वितीया-तारा-ब्रह्ममयी)

३५६-अक्षोभ्यपुरुषानुगता महाविद्या द्वितीया 'तारा' भगवती का स्वरूप संस्मरण, 'तारा' शब्द के विभिन्न निर्वचनार्थों का समन्वय, महाकाली से अनन्तरभावी तारातत्त्व के परम्परासिद्ध प्राकृतिक स्वरूप का दिग्दर्शन, तदनुगता नैगमिकी दृष्टि का समन्वय, विश्वमध्यस्थ अक्षोभ्यपुरुषात्मक हिरण्यगर्भ-सौर-प्रजापति, एवं तदभिन्ना महाशक्ति तारा का संस्मरण, तथा मन्त्रश्रुति के द्वारा हिरण्यगर्भात्मक अक्षोभ्यपुरुष का यशोवर्णन—

'तरति यामवलम्ब्य संसारसागरादुपासकः'—'तारयति या उपासकम्'—'तीर्णा भवति यामवलम्ब्य' इत्यादि निर्वचनानुसार सूर्य्यमूला पराविद्या ही 'तारा' नाम से प्रसिद्ध हुई है। इस महाविद्या

का अक्षोभ्य–हिरण्यगर्भपुरुष से सम्बन्ध है। महाप्रलयात्मिका महाकालरात्रि के मध्यरात्रि के १२ बादन से आरम्भ कर सूर्य्योत्पत्तिरूप सूर्य्योदय से पहिले पहिले षड्वादन पर्य्यन्त चतुरशीति-भेदभिन्ना महाकाली का साम्राज्य बतलाया गया है। तदनन्तर जिस महाशक्ति की विश्व में सर्वप्रथम अभिव्यक्ति होती है, वही विश्वापेक्षया आद्या, किन्तु महाकाली–रूपा आद्या की अपेक्षा द्वितीया महाविद्या 'तारा' कहलाई है। हिरण्यगर्भविद्यानुसार निगमशास्त्र ने सम्पूर्ण (पञ्चावयव) विश्व की स्थिति का आधार सूर्य्य माना है। सौरमण्डल हिरण्यरेता सावित्राग्निमय होने से हिरण्मण्डल कहलाया है, जिस सौरमण्डल का 'हिरण्ययेन सविता–रथेनादेवो याति भुवनानि पश्यन्' (यजुः संहिता)–'तदण्डमभवद्धैमं हिरण्यांशु सम–प्रभम्' (मनुस्मृतिः) इत्यादि श्रुति-स्मृतियों से निरूपण हुआ है। इस हिरण्मयमण्डल (आग्नेयी सौर–संस्था) के * केन्द्र में सौर ब्रह्मतत्त्व प्रतिष्ठित है, अतएव इसे 'हिरण्यगर्भ' कहना अन्वर्थ बनता है। स्वयम्भू, परमेष्ठी–रूपा अमृतासृष्टि के, चन्द्रमा–पृथिवी–रूपा मर्त्यासृष्टि के विभाजक, एवं सञ्चालक, भूः–भुवः–स्वः रूपा रोदसी त्रिलोकी के, एवं तत् प्रजा के निर्म्माता–अधिष्ठाता इन्हीं भगवान हिरण्यगर्भप्रजापति का विश्वकेन्द्र में सर्वप्रथम प्रादुर्भाव होता है, जैसाकि निम्न लिखित श्रुति से स्पष्ट है—

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

—यजुःसंहितायाम्

२५७-विश्वाधिष्ठाता हिरण्यगर्भपुरुष की महाशक्ति तारा, अनुपाख्यतमोरूपा महाकाली के गर्भ में समुद्भूता 'ताराप्रकाश' वत् समतुलिता भागवती 'तारा' के आगमीय स्वरूप का नैगमिक-पारिभाषिक तत्त्व के साथ समन्वय, एवं तारा, और अक्षोभ्यपुरुष का माङ्गलिक संस्मरण—

जिसप्रकार विश्वातीत महाकालपुरुष की महाशक्ति महाकाली थी, तथैव इस विश्वाधिष्ठाता हिरण्यगर्भपुरुष की महाशक्ति 'तारा' नाम से प्रसिद्ध हुई है। निबिडान्धकार में दीपबिम्ब तारा–सदृश प्रकाशित रहता है। उस महातमोलक्षणा अनुपाख्य तमोरूपा महाकाली के गर्भ में उत्पन्न इस सूर्य्य की यही स्थिति है। अतएव निगमशास्त्र में–सूर्य्य 'नक्षत्र' (तारा) नाम से व्यवहृत हुआ है +। अतएव भी इनकी शक्ति 'तारा' नाम से व्यवहृत हुई है। ताराशक्तिमय सौरहिरण्यगर्भ पुरुष ही आगमशास्त्र में 'अक्षोभ्यापुरुष' कहलाया है।

---

*–"आदित्यो वै विश्वस्य हृदयम्"
—(शत० ९।१।२।४०)।

+–"तेषामेष उद्यन्नेव वीर्य्यं क्षत्रमादत्त।
तस्मादु सूर्य्यनक्षत्रे–एव स्यात्"।
—(शत० २।१।१।१७)

३५८–पृथिवी (भूपिण्ड)–चन्द्रमा–सूर्य्य–परमेष्ठी–नामक विश्वपिण्डों के परिभ्रमण के द्वारा सर्वाधारभूत स्थिर–स्वयम्भू का दिग्दर्शन, विश्वमध्यस्थ हिरण्यगर्भ-प्रजापतिरूप अक्षोभ्यपुरुषात्मक सौरपुरुष का सापेक्ष स्थिरत्व, हृत्प्रतिष्ठ सौर–पुरुष का अकम्पनात्मक–अक्षुब्ध–स्थितिभावापन्न स्वरूप, और तन्निबन्धन अक्षोभ्य-पुरुष—

वैदिक–सिद्धान्तानुसार चन्द्रमा पृथिवी के चारों ओर, पृथिवी सूर्य्य के, सूर्य्य परमेष्ठी के, एवं परमेष्ठी स्वयम्भू के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है। स्वयम्भू एकान्ततः स्थिर है। परन्तु पार्थिव–विवर्त्तापेक्षया सूर्य्य भी स्थिर माना गया है। खगोलीय विष्वद्वृत्त–नामक 'बृहतीछन्द' के केन्द्र में क्षोभरहित बनकर स्थिररूप से भगवान् सहस्रदीधिति तप रहे हैं ÷। अपनी हृन्मूला इसी प्रतिष्ठा के कारण इसे क्षोभ-रहित माना जासकता है। सम्पूर्ण पिण्डसंस्था में हृदय ही कम्परहित रहता है। सौरपुरुष क्योंकि स्वयं हृदयरूप (अक्षररूप) बनता हुआ भी क्षोभरहित है, साथ ही विश्व के हृदय में भी प्रतिष्ठित है, बृहती के केन्द्र में भी प्रतिष्ठित है। इन तीन तीन प्रतिष्ठाबलों के कारण अवश्य ही इसे क्षोभरहित माना जासकता है।

३५९–आगमशास्त्रीय 'अक्षोभ्य', तथा 'तारा' शब्द का नैगमिक–पारिभाषिक-समन्वय, सृष्ट्युपक्रमभूता तारा महाशक्ति, तन्महिमामय 'त्रिजटा'–'उग्रतारा'–'लीला–सरस्वती' नामक त्रिविध विभूतिरूपों का माङ्गलिक-संस्मरण, सौरतत्त्वानुगता गायत्रीशक्ति, और 'त्रिजटा' का रहस्यात्मक समतुलन, तथा श्रीशङ्करप्रिय 'त्रिजटावृक्ष' (बिल्ववृक्ष) का माङ्गलिक-संस्मरण—

अतएव आगमशास्त्र का इसे "अक्षोभ्य" नाम से व्यवहृत करना, एवं इसके नक्षत्र-धर्म की अपेक्षा इसकी शक्ति को 'तारा' नाम से व्यवहृत करना सर्वात्मना निगमानुगत बन रहा है। महाकाली जहाँ सृष्टि से पूर्वावस्था है, वहां तारा सृष्टि का उपक्रम है। यही शक्ति त्रिजटा, + उग्रतारा,

---

÷–"सूर्य्यो बृहतीमध्यूढस्तपति"।

—श्रुतिः

"नैवोदेता, नास्तमेता, मध्ये एकल एव स्थाता"।

—छान्दोग्योपनिषत्

नैवास्तमनमर्कस्य नोदयः सर्वदा सतः।
उदयास्तमनं चैव दर्शनादर्शनं रवेः॥

+–लीलया वाक्प्रदाचेति तेन लीलासरस्वती।
तारकत्वात् सदा तारा सुखमोक्षप्रदायिनी
उग्रापत्तारिणी यस्मात्–उग्रतारा प्रकीर्त्तिता॥

लीलासरस्वती, भेद से तीन विवर्त्तभावों में परिणत मानी गई है। सौरवेद 'गायत्रीमात्रिक' कहलाया है, इसी आधार पर-'गायत्री वेदमातरम्' कहा जाता है। सौरतत्त्वानुगता गायत्रीशक्ति ही त्रिजटा है (देखिए देवीभागवत १२।६।७२)। इसी गायत्रीशक्तिरूपा त्रिजटा से बिल्ववृक्ष उत्पन्न हुआ है, अतएव यह वृक्ष भी त्रिजटा नाम से व्यवहृत हुआ है, जो श्रीशङ्करप्रिय माना गया है।

३६०-सूर्य्यरुद्र के शिवशरीर, तथा घोरशरीर का संस्मरण, भृग्वङ्गिरा के तमोरूप संघर्ष से चित्याग्निपरमाणुओं का आविर्भाव, श्वेतवराह के द्वारा तत्कणों का केन्द्र में चितिरूप संघात, तत्पुञ्ज की 'सूर्य्यरूपता' का समन्वय, सूर्य्यपुरुषानुगत उग्र--शान्त--विवर्त्त, उग्रभावनिबन्धना सौरीशक्ति का 'ताराख्य', एवं--एकजटा, वैतालभैरवी, महाकाली, रुद्राणी, उग्रा, भीमा, घोरा, भ्रामरी, महारात्रि, भैरवी, आदि योगिनी-शक्तियों का पावन-संस्मरण, तथा सौर-हिरण्यगर्भात्मक-अक्षोभ्य-पुरुष के नैदानिक-भाव का दिग्दर्शन—

पूर्वपरिच्छेदों में हमनें सूर्य्यरुद्र के शिवशरीर, घोरशरीर, इन दो स्वरूपों का विश्लेषण किया है। आपोमय पारमेष्ठ्य समुद्र के गर्भ में भृगु-अङ्गिरा के तमोरूप संघर्ष से चित्याग्निपरमाणु उत्पन्न हुए। 'श्वेतवराह' नाम से प्रसिद्ध प्राजापत्य वायु के द्वारा इनका केन्द्र में संघात आरम्भ हुआ। होते होते यह परमाणुसंघ कालान्तर में पिण्डरूप में परिणत होता हुआ प्रज्वलित होपड़ा। वही अग्निपुञ्ज सूर्य्य कहलाया। उत्पन्न होते ही इसने अन्नेच्छा की। पारमेष्ठ्यसोमान्न आहुत हुआ, उग्ररुद्र की उग्रता शान्त होगई, रुद्र शिवस्वरूप में परिणत होगए। इसप्रकार अन्नसम्बन्धापेक्षया उसी सूर्य्यपुरुष के उग्र, शान्त, दो विवर्त्त होजाते हैं। उग्रस्वरूपात्मक अक्षोभ्य की शक्ति 'उग्रतारा' कहलाई है। महाकाली जहाँ महाप्रलय की अधिष्ठात्री है, वहाँ उग्रतारा सूर्य्यप्रलयोपलक्षित खण्डप्रलय की अधिष्ठात्री है। यही 'एकजटा'-'वैतालभैरवी' है। महाकाली, रुद्राणी, उग्रा, भीमा, घोरा, भ्रामरी, महारात्रि, भैरवी, ये आठ इसी की योगिनी-शक्तियाँ मानीं गईं हैं (कालिकापुराण, ६० अध्याय)। इसका स्वरूप महाकाली के स्वरूप से ही समतुलित माना गया है *। सौर-हिरण्यगर्भात्मक-अक्षोभ्यपुरुष के नैदानिक-ध्यान का आगे के शब्दों में विश्लेषण हुआ है—

---

*-चतुर्भुजां कृष्णवर्णां मुण्डमाला-विभूषिताम्।
खड्गदक्षिणपाणिभ्यां बिभ्रतीन्दीवरं त्वधः ॥१॥
कर्त्रीञ्च खर्परञ्चैव क्रमाद्वामेन बिभ्रतीम्॥
द्यां लिखन्तीं जटामेकां बिभ्रतीं शिरसा स्वयम्॥२॥
मुण्डमालाधरां शीर्षे ग्रीवायामपि सर्व्वदा॥
वक्षसा नागहारन्तु बिभ्रतीं रक्तलोचनाम्॥३॥

अक्षोभ्य-पुरुष-व्याख्यामुद्राक्षमाला-कलशमुलिखिते बाहुभिर्वामपादं—
त्रिभ्राणो जानुमूर्द्धन्यपदतलनिहितापरमूतिद्युद्रुमाधः।
सौवर्णे योगपीठे लिपिमयकमले सूपविष्टस्त्रिनेत्रः—
क्षीराभश्चन्द्रमौलिर्वितरतु विबुधां शुद्धबुद्धिं शिवो वः ॥*॥

३६१—स्थाणुपुरुष से अभिन्ना, 'रुद्रपत्नी' नाम से प्रसिद्धा, अक्षोभ्य-पुरुषात्मिका भगवती 'तारा' नाम की महाविद्या के उग्र-शान्त-महिमा-विवर्त्त-भेदभिन्न-द्विविध आगमीय-ध्यानमन्त्रों का माङ्गलिक-संस्मरण—

स्थाणुपुरुष से अभिन्न, रुद्रपत्नी नाम से प्रसिद्धा, अक्षोभ्यपुरुषात्मिका इसी तारा का निम्न लिखित ध्यान उपासकों के सम्मुख उपस्थित होरहा है—

तारा— विश्वव्यापकवारिमध्यविलसच्छ्वेताम्बुजन्मस्थितां—
कर्त्री-खड्ग-कपाल-नील-नलिनैराजत्करां नीलभाम्।
काञ्ची-कुण्डल-हार-कङ्कणलसत् केयूरमञ्जीरता—
माप्तैर्नागवरैर्विभूषिततनूमारक्तनेत्रत्रयाम् ॥१॥
पिङ्गोग्रैकजटां ललत्सुरसनां दंष्ट्राकरालाननां—
चर्म्म द्वैपिवरं कटौ विदधतीं श्वेतास्थिपट्टालिकां।
अक्षोभ्येण विराजमानशिरसं स्मेराननाम्भोरुहां—
तारां शावहृदासनां दृढकुचामम्बां त्रिलोक्याः स्मरेत् ॥२॥

—मन्त्रोदधि

* * *

कृष्णवस्त्रधरां कट्यां व्याघ्राजिनसमन्विताम्।
वामपादं शवहृदि संस्थाप्य दक्षिणं पदम् ॥४॥
विन्यस्य सिंहपृष्ठे तु लेलिहाना शवं स्वयम्।
साट्टहासा महाघोरा रावयुक्तातिभीषणा ॥५॥
चिन्त्योग्रतारा सततं भक्तिमद्भिः सुखेप्सुभिः ॥

*—वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी—
यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दो यथार्थाक्षरः।
अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितः प्राणादिभिर्मृग्यते—
स स्थाणुस्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायास्तु वः ॥

उग्रतारा- प्रत्यालीढपदार्पिताङ्घ्रिशवहृद्घोराट्टहासा परा-
खड्गेन्दीवरकर्तृखर्परभुजाहुङ्कारबीजोद्भवा ।
खर्वा नीलविशालपिङ्गलजटाजूटैकनागैर्युता-
जाड्यं न्यस्य कपालकर्तृ जगतां हन्त्युग्रतारा स्वयम् ॥१॥
—शाक्ततन्त्रे

प्रत्यालीढपदां घोरां मुण्डमालविभूषिताम् ॥
खर्वां लम्बोदरीं भीमां व्याघ्रचर्म्मावृतां कटौ ॥२॥
नवयौवनसम्पन्नां पञ्चमुद्राविभूषिताम् ॥
चतुर्भुजां ललज्जिह्वां महाभीमां वरप्रदाम् ॥३॥
खड्गकर्तृ समायुक्तसव्येतरभुजद्वयाम् ॥
कपालोत्पलसंयुक्तसव्यपाणियुगान्विताम् ॥४॥
बालार्कमण्डलाकारलोचनत्रयभूषिताम् ॥
ज्वलच्चितामध्यगतां घोरदंष्ट्रां करालिनीम् ॥५॥
सविशस्मेरवदनां स्त्र्यलङ्कारभूषिताम् ॥
विश्वव्यापकतोयान्तेः श्वेतपद्मोपरिस्थिताम् ॥६॥
शक्तिभिः स्मेरवदनां स्मेरमौक्तिकभूषणाम् ॥
रत्नपादुकयोर्न्यस्तपादाम्बुजयुगां स्मरेत् ॥७॥

* * *

३६२-नीलकान्तियुता, काञ्चीकुण्डलादि-आभूषण-समलङ्कृता, कर्त्री-खड्ग-कपाल-नीलकमल-सुशोभिता, नेत्रत्रयेण प्रज्वलिता, दंष्ट्रा-मुख-भाग से महाविस्तृता, अक्षोभ्य पुरुष-समन्विता, मन्दहासपरायणा शिव-शान्त-स्वरूपिणी भगवती 'तारा' के नैदानिक-ध्यान का अक्षरार्थ-समन्वय—

तारा, तथा उग्रतारा-शक्तियों के उक्त द्विविध ध्यानों में थोड़ासा ही विभेद है। क्योंकि तत्त्वतः दोनों स्वरूप उसी सौर अक्षोभ्यपुरुष से युक्त रहते हुए अभिन्न हैं। ताराध्यान का अक्षरार्थ यही है कि—''सम्पूर्ण-विश्व में व्याप्त पानी के मध्य में श्वेतकमल पर वह तारा विराजमान है। चारों हाथों में क्रमशः कर्त्री (कैंची), खड्ग, कपाल, नीलकमल सुशोभित हैं। शरीर नीलकान्तियुत है। काञ्ची कुण्डलादि आभूषणों से अलङ्कृत है। सर्वाङ्गशरीर नागपाशों से वेष्टित है। तीनों नेत्र प्रज्वलित हैं। पीतवर्ण का जटाजूट मस्तक पर सुशोभित है। सुस्वादानुगता जिह्वा ललत् है। दंष्ट्रा, एवं मुख महा विस्तृत है। गजचर्म्म

कटि में सुशोभित है। श्वेत अस्थि की पट्टालिका (कटिबन्धन) धारण किए हुए है। अक्षोभ्यपुरुष आपके मस्तक पर विराजमान हैं। श्वेतकमलारूढा यह भगवती मन्दहास कर रही हैं। शव के हृदय को आसन बना रक्खा है। त्रैलोक्य की अधिष्ठात्र ऐसी तारा माता का सदा स्मरण करते रहना चाहिए।

* * *

३६३- क्रूंकार-बीजमर्मान्विता, शवशरीर के हृदय पर समासीना, रूक्षा-लम्बोदरी-भयावहा-व्याघ्रचर्म्मसंवेष्टिता-पञ्चमुद्रा-समन्विता-चतुर्भुजा-ललज्जिह्वा-कपाल-कमल-समन्विता-बालसूर्य्यमण्डलाकारसदृशा-त्रिलोचना-कालरूपिणी घोरा-अशान्त-स्वरूपिणी भगवती 'उग्रतारा' के नैदानिक-ध्यान का अक्षरार्थ-समन्वय—

उग्रताराध्यान का अक्षरार्थ है-"शवशरीर के हृत्प्रदेश पर खड़ी हुई जगन्माता भयानक अट्टाट्टहास कर रही हैं। खड्ग, कमल, कर्त्री, खप्पर, चारों भुजाओं में सुशोभित हैं। 'क्रूङ्कार' बीज उत्पत्तिक्षेत्र है। सर्वथा रूक्षा, नील-पिङ्गलवर्णयुत उस विशाल जटाजूट से युक्त है, जिसमें सर्प लिपटे हुए हैं। एवंविधा वह उग्रतारा जड़ता का विनाश कर रही हैं (१)। पैरों से शवशरीर के हृदय में प्रतिष्ठिता (खड़ी हुई), मुण्डमाला धारण किए हुए, रूक्षा, लम्बोदरी, डरावनी, कटिप्रदेश में व्याघ्र चर्म्म लगाए, नवयुवती, पाँच-मुद्राओं से युक्त, चतुर्भुज, जीभ लपलपाती हुई, महाभयावहा भी वरप्रदान करने वाली, वाम हाथों में खड्ग-कर्त्री, दक्षिणहाथों में कपाल-कमल धारण किए हुए, बालसूर्य्यमण्डलाकारसदृशा, त्रिलोचना, जलती हुई चिता के मध्य में खड़ी हुई, भयानक दाढ़ वाली, कालरूपिणी, अभिनिवेशपूर्वक हास्य करती हुई, आभूषणविभूषिता, जलमध्य में श्वेतकमल पर विराजमाना, अपनी अवान्तरशक्तियों से क्रीड़ा के द्वारा मन्दहासा बनी हुई, मुक्तालङ्कारभूषणा, रत्नजटित पादुकाओं से सुशोभित चरणकमलयुक्ता ऐसी जगन्माता उग्रतारा का सदा संस्मरण करते रहना चाहिए।

३६४-आपोमय-पारमेष्ठ्य-समुद्र के गर्भ में प्रतिष्ठित अक्षोभ्यपुरुषात्मक सौर-हिरण्यगर्भ-पुरुष से अनुप्राणित सुप्रसिद्ध-'नवाहयज्ञ' का संस्मरण, स्तोमात्मिका अहर्गणविद्या से अनुप्राणित सप्तदश-अहर्गणतः पञ्चविंशति-अहर्गणपर्य्यन्त परिव्याप्त नव अहर्गणात्मक नवाहयज्ञ का स्वरूप-समन्वय, १७-२१-२५-स्तोमानुबन्धी ब्रह्म-विष्णु-इन्द्र-नामक त्रिविष्टप्-स्वर्ग, १८ तः-२४ पर्य्यन्त सप्त-देवस्वर्ग, श्वेतद्वीप-निवासी भगवान् सूर्य्यनारायण, एवं नैगमिकतत्त्वाधारेण 'विश्वव्यापकतोयान्ते-श्वेतपद्मोपरिस्थिताम्' इत्यादि आगमीय वचन का रहस्यात्मक-समन्वय-प्रयास—

बतलाया गया है कि, आपोमय पारमेष्ठ्य समुद्र के गर्भ में हीं अक्षोभ्य नामक सौर-हिरण्यगर्भ-पुरुष प्रतिष्ठित है। इस समुद्र के गर्भ में प्रतिष्ठित सूर्य्यमूलक यज्ञविशेष ही 'नवाहयज्ञ' कहलाया है। स्तोमात्मिका अहर्गणविद्या के अनुसार १७ वें अहर्गण से आरम्भ कर २५ वें अहर्गण पर्य्यन्त ९ अहर्गणों की व्याप्ति में जो अग्नीषोमात्मक सौरयज्ञ होरहा है, वही 'नवाहयज्ञ' कहलाया है। सप्तदेवस्वर्ग, त्रिविष्टप्स्वर्ग, दोनों इसी

नवाहयज्ञमण्डल में प्रतिष्ठित है । १७ अहर्गण ब्रह्मविष्टप् है, २१ वाँ विष्णुविष्टप् है, यही नाकस्वर्ग कहलाया है । २५ वाँ अहर्गण इन्द्रविष्टप् है, यही 'महाव्रत' नामक 'अविवाक्यमहः' है । ब्राह्मणपरिभाषा में यही 'कामप्र'-'अशोकमहिम' कहलाया है । पुराणपरिभाषा में यही 'अपनुर्मार' कहलाया है । १८, १९, २०, २१, २२, २३, २४, ये सात 'सप्त देवस्वर्ग' माने गए हैं । नवाहयज्ञात्मक इस मण्डल में कभी अन्धकार प्रविष्ट नहीं होता । अतएव सत्यनारायण नाम से प्रसिद्ध सूर्य्य भगवान् की यह आवासभूमि 'श्वेतद्वीप' कहलाई है । नवाहयज्ञात्मक यह ज्योतिर्म्मय-श्वेतद्वीप उस पारमेष्ठ्य समुद्र के मध्यम में प्रतिष्ठित श्वेतकमल है । ज्योतिर्लक्षण इस श्वेतपद्म (नवाहयज्ञ) के केन्द्र में (२१ वें अहर्गण में) सूर्य्य प्रतिष्ठित हैं । इसी की शक्ति तो तारा है । इसी रहस्य का-'विश्वव्यापकवारिमध्यविलसच्छ्वेताम्बु-जन्मस्थिताम्-'विश्वव्यापकतोयान्ते-श्वेतपद्मोपरिस्थिताम्' इत्यादि निदानभावों से विश्लेषण हुआ है ।

३६५-सूर्य्योत्पत्तितः प्राक् सर्वव्याप्त आपः-साम्राज्य, आपः-तत्त्व की सलिलरूपता, आपोमय रात्रितत्त्व, रात्रिनिबन्धन तारातत्त्व, त्रैलोक्य की अभिव्यक्ति का अभाव, एवं प्रसुप्तमिव-भाव का संस्मरण—

जबतक सूर्य्य उत्पन्न नहीं होता, तबतक सर्वत्र अप्तत्त्व का साम्राज्य रहता है । पानी विभक्तिभाव का अवरोधक है । एकाकारता का सम्पादन इसी अप्तत्त्व का धर्म्म है । जलप्रलय में सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी-आदि विभक्त विश्वावयव जलगर्भ में लीन होते हुए अविभक्त बन जाते हैं । 'आपो वा इदमग्रे सलिलमेवास' से इसी स्थिति का स्पष्टीकरण हुआ है । जिसप्रकार जलप्रलयदशा में पदार्थों का विभक्तिभाव विलुप्त होजाता है, एवमेव रात्रि में भी यही स्थिति होजाती है । कारण-रात्रि भी वरुण-सम्बन्ध से आपोमयी ही मानी गई है । अविभक्तभाव में न सूर्य्य है, न पृथिवी है, न द्यु है । किसी का भी व्यक्तीभाव नहीं हैं ।

३६६-महाकाली के अमृतरूप से अनुगृहीत प्रथमविवर्त्त, अमृत-मृत्युरूप से अनुगृहीत द्वितीय-विवर्त्त, एवं मृत्युरूप से अनुगृहीत तृतीय-विवर्त्त का दिग्दर्शन, अमृत-मृत्यु के विभाजक-विश्वखण्डद्वय-प्रवर्त्तक (अभिव्यञ्जक) भगवान् अक्षोभ्य-पुरुष, एवं-'ताभ्यां स शकलाभ्यां दिवं भूमिं च निर्म्ममे' इत्यादि मानवीय-वचन का समन्वय-प्रयास—

महाकाली के अमृतरूप से अनुगृहीत अमृतप्रधान स्वयम्भू-परमेष्ठीरूप, मृत्युरूप से अनुगृहीत मृत्युप्रधान चन्द्रमा-पृथिवी-रूप, दोनों ही रूप सूर्य्योत्पत्ति से पहिले अरूपात्मक हैं, अविभक्त हैं । इन दोनों अमृत-मृत्युरूपों का दो खण्डों में विभाजन कर देना एकमात्र सूर्य्यपुरुषानुगता तारा पर ही अवलम्बित है । ताराशक्तिमयी सूर्य्योत्पत्ति से ही परम, अवमधामों का दो शकलों (खण्डों) में विभाजन हुआ है, जैसा कि-'स्वयमेवात्मनो ध्यानात्-तदण्डमकरोद्द्विधा' (मनुः १।१२।)-'ताभ्यां स शकलाभ्यां दिवं भूमिं च निर्म्ममे' (मनुः १।१३।) इत्यादि वचनों से प्रमाणित है ।

३६७–अवारपारीण-पट का सूचीकार के द्वारा कर्त्री से वस्त्रानुरूपविधि के माध्यम से यद्वत् कर्त्तनात्मक विभाजन, तद्वदेव ताराशक्ति के द्वारा-कर्त्री-विधा से द्यावा-भूमि का विभाजन, तदनुगत 'कर्त्री' रूप नैदानिक-भाव का पारिभाषिक-समन्वय, इन्द्रप्राणनिबन्धना रूपात्मिका (आकाररूपात्मिका) पृथक्-अभिव्यक्ति का मूलाधारतत्त्व-'ताराभगवती', एवं अभिव्यक्ति-रूप-खण्ड-भावों का स्वरूप-समन्वय–प्रयास—

जिसप्रकार अवारपारीण एक पट को सूचीकार (दर्जी) कर्त्री (कैंची) से विभक्त कर देता है, एवमेव उस गौरपुरुषानुगता तारा के द्वारा–'निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च' के अनुसार उस मध्यस्थ अक्षोभ्यपुरुष (सूर्य) से अमृतमृत्युमय विश्व के दो विभाग होरहे हैं। अपिच-पृथक् पृथग् व्यक्तिरूपेण जो अभि-व्यक्तियां हमें प्रतीत होरहीं हैं, उनकी अधिष्ठात्री भी यही ताराशक्ति है। निर्म्माण में भी सौर इन्द्र ही विभक्ति का जन्मदाता है। उपलब्धि में भी 'रूपं रूपं मघवा बोभवीति' के अनुसार सौररश्म्यवच्छिन्ना इन्द्रात्मिका यही तारा रूपोपलब्धि का कारण बन रही है। कर्त्री–आयुध जगन्माता की इसी विभक्ति-शक्ति का निदान बन रहा है।

३६८–उग्रतारात्मक-घोरस्वरूप से अनुप्राणित 'खड्ग' नामक आयुध के नैदानिक-तथ्य का स्वरूप-दिग्दर्शन, अक्षोभ्यपुरुषात्मक दिव्य–आसुर–भाव–प्रवर्त्तक सुप्रसिद्ध अदिति–दिति–मण्डलार्द्धों का स्वरूप–स्पष्टीकरण, अर्द्धाकाशानुगता रसभुक्ति, तथा तन्निबन्धन–सुप्रसिद्ध अन्ना–आद्य–भाव के पारस्परिक-समन्वय से अनु-प्राणित–'यो मा ददाति–स इ देवमावत्' इत्यादि ऋङ्मन्त्र का संस्मरण, और भगवतीतारा के नीलकमलानुगत–'नीलकान्तियुतशरीर' के रहस्यात्मक–नैदानिक-भाव का नैगमिक (श्रौत) समन्वय—

खड्ग आयुध इसीके उग्रतारानुगत संहार का निदान है। रुधिरपूर्ण नरकपाल खगोल का निदान है। पार्थिवरस अन्ततोगत्वा खगोल में ही प्रतिष्ठित होते हैं। पूर्णखगोल में नहीं, अपितु अर्द्ध–खगोल में। सौरमण्डलात्मक खगोल के पृथिवी सम्बन्ध से अदिति, दिति, ये दो विवर्त्त माने गए हैं। सौरप्राणानुगत ज्योतिर्म्मय अर्द्धाकाश अदितिमण्डल है, तद्विरुद्ध पार्थिव कृष्णप्राणानुगत तमोमय अर्द्धाकाश दितिमण्डल है। पार्थिव पदार्थमात्र के रस अहर्यज्ञ के द्वारा प्रतिक्षण सौररश्मियों के द्वारा उसी अर्द्धकपाल में जाया करते हैं, एवं निधनानन्तर भी सर्वरस उसीमें विलीन होते रहते हैं। इसी अर्द्धाकाशानुगता रसभुक्ति का 'यो मा ददाति, स इदेवमावत्' से विश्लेषण हुआ है। इसी अर्द्धाकाशानुगति को सूचित करने के लिए कपाल को निदान माना गया है। पृथिवी, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र, सूर्य्यादि को अपने गर्भ में रखने वाली रोदसी-त्रिलोकी पारमेष्ठ्य अप्समुद्र के गर्भ में प्रतिष्ठित है। आपोमय जो भाग इस सौररश्मिमण्डल में भुक्त होरहा है, वही नीलाकाशरूप में परिणत होरहा है। तदवच्छिन्न नभोमण्डल में ही हिरण्मय–पुरुषानुगता निगमशास्त्र में–'हैमवतीउमा' नाम से प्रसिद्धा जगन्माता तारा स्वरश्मिप्रसारशक्ति से व्याप्त है। रश्मिनिदानभूत हस्त में प्रतिष्ठित नीलकमल इसी व्याप्ति का निदान बन रहा है। यही इसका नीलकान्तियुत शरीर है।

३६९–सुप्रसिद्धा हिरण्यगर्भान्विता सौरी शक्ति के श्रीः-लक्ष्मीः–नामक द्विविध महिमा–विवर्त्तों का संस्मरण, प्राणात्मिका श्रीः, तथा भूतात्मिका लक्ष्मीः–का शब्दार्थ-समन्वय, नीलशरीर, और श्रीभाव, काञ्चीकुण्डलादि आभूषण, और लक्ष्मीभाव, पञ्चपर्वात्मक विश्व में स्वकेन्द्रशक्त्या परिव्याप्ता भगवती तारा के ज्योतिश्चक्रात्मक नीलाकाशानुगत-शरीर का रहस्यात्मक नैदानिक-दिव्य-स्वरूप, आकाशीय वासुकी-अनन्त-कर्कोटक-आदि नाक्षत्रिक सर्पों से अनुगत सर्पभूषणों का नैदानिक-समन्वय, पार्थिव-चान्द्र-सौर-भाव निबन्धना ज्योतिस्त्रयी, और त्रिनेत्रात्मक नैदानिक-स्वरूप का समन्वय, सुस्वादानुगता जिह्वा से अनुगत निदानभाव, एवं 'दंष्ट्राकरालानना' का नैदानिक-स्वरूप—

अपिच-सौरीशक्तियाँ निगमशास्त्रानुसार श्री, लक्ष्मी, इन दो भागों में विभक्त मानी गई हैं। सौर अन्तर्याम तेज श्री है, बहिर्याम तेज लक्ष्मी है। सौर ज्योति श्री है, श्रीमण्डल (ज्योतिर्म्मण्डल) में भुक्त यच्चयावत् भूत–भौतिक पदार्थ 'लक्ष्मी' है। नीलशरीर (नीलकान्तिरूप शरीर) ताराशक्ति के श्रीभाव का निदान है, काञ्चीकुण्डलादि आभूषण लक्ष्मीभाव के निदान हैं। पृथिवी, चन्द्रमा, सूर्य्य, तीनों रोदसीब्रह्माण्डों को धारण करने वाली त्रैलोक्यव्यापिका तारा का शरीर यही नीलकाशोपलक्षित ज्योतिश्चक्र (खगोल) है, जिसमें ग्रहोपग्रहों के कक्षावृत्त प्रतिष्ठित हैं। इन कक्षावृत्तों के अतिरिक्त अनन्त, वासुकी, आदि सर्प और प्रतिष्ठित हैं, जो 'अष्टौ नागाः' नाम से प्रसिद्ध हैं। सर्पाभूषण इन्हीं के निदान हैं। पार्थिव–आग्न, सौम्य चन्द्रमा, सूर्य्य, तीनों ज्योतियों का निदान नेत्रत्रयी है। सौररश्मिभुक्त सप्तरस, सप्तविष, आदि का निदान सुस्वादानुगता जिह्वा है। त्रैलोक्यरूप महा आकाश का निदान दंष्ट्राकरालानन है।

३७०–खगोलानुगत दशविध दिग्भाव, एवं कटिसंलग्न गजचर्म्म की नैदानिकता, त्रयस्त्रिंशदहर्गणात्मक त्रैलोक्य के वषट्कारनिबन्धन मध्यभाग के साथ 'कटि' रूपता के नैदानिकभाव का समतुलन, श्वेत-अस्थिमयी पट्टिका के साथ 'अश्मा-सोम' की नैदानिकता का समन्वय, त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंश-स्तोमत्रयानुगत त्रैलोक्य के साथ भगवती तारा के त्रैलोक्य-व्यापक शरीर से अनुप्राणित नैदानिकभाव का दिग्दर्शन, एवं-'अक्षोभ्येण विराजमानशिरसम्' इत्यादि आगमोक्त-वचन के पारिभाषिक-अर्थ का समन्वय-प्रयास—

खगोलानुगत १० दिग्भावों का निदान कटिसंलग्न गजचर्म्म है। त्रयस्त्रिंशदहर्गणात्मक त्रैलोक्य (वषट्कारत्रिलोकी) का मध्यभाग १७ वाँ अहर्गण है। यही त्रैलोक्यव्यापिनी तारा का कटिप्रदेश है। यही १७ वाँ स्थान आहवनीय है। इसमें सोम आहुत होरहा है। इस सोमाहुति से कृष्णाग्नि प्रज्वलित होकर श्वेतरूप में परिणत होरहा है। यहीं घनतासम्पादक सौर तेज का पार्थिवतेज के साथ समन्वय होता है। कटिभागस्था श्वेतास्थिपट्टालिका इसी का निदान है। त्रिवृत्पृथिवी, पञ्चदश अन्तरिक्ष, एकविंश द्युलोक,

तीनों की समष्टिरूप त्रैलोक्य जगन्माता का शरीर है। पृथिवी पाद है, अन्तरिक्ष हृदय है, द्युलोक मस्तक है। मस्तकरूप द्युलोक (२१ विंशस्तोमात्मक) के ऊपर ही अक्षोभ्यपुरुष (सूर्य्यपुरुष) प्रतिष्ठित है–'अक्षोभ्येण विराजमानशिरसंम्' का यही रहस्य है। सम्पूर्ण भौतिक विश्व बिना इस शक्ति के शव है। शवात्मक विश्व का हृदय सूर्य्य है। यहीं तारा माता उक्थरूप से प्रतिष्ठित है। शवहृदयासन इसी स्थिति का निदान है।

३७१–भगवती 'तारा' के घोररूपात्मक-'उग्रतारा' के स्वरूप से अनुप्राणित नैदानिक-भावों का माङ्गलिक-समन्वयप्रयास, रुद्राग्नि से अनुप्राणित रूक्षशरीर की नैदानिकता, नीलपिङ्गल-हरितादि-सप्तवर्णात्मिका रश्मियाँ, विषाक्त वायव्य-ग्रहात्मक-प्राण, रश्मिपुञ्जात्मक जटाजूट, एवं 'त्रिनाभिचक्रमजरमनर्वम्' मूलक दीर्घवृत्तात्मक लम्बोदरत्व का नैदानिक-समन्वय—

अब दो शब्दों में उग्रतारा के नैदानिक ध्यान का भी समन्वय कर लीजिए। शिवानुगता तारा जहाँ स्मेराननना (मन्दमन्द हँसने वाली) थी, वहाँ रुद्रानुगता उग्रतारा घोर अट्टाट्टहास कर रही है, जो संहारलीला का मुख्य निदान माना गया है। सोमात्मिका शिवानुगता तारा जहाँ स्निग्ध–सौम्यगर्भरा थीं, वहाँ आग्नेयात्मिका रुद्रानुगता उग्रतारा रुद्राग्निसम्बन्ध से खर्वशरीरा (रूक्षा) है। नील–पिङ्गल–हरितादि सप्तवर्णात्मिका सौर–रश्मियाँ चत्वारिंशद्–ग्रहात्मक विषाक्त वायव्य प्राणों से युक्त हैं। यह रश्मिपुञ्ज ही जटाजूट है, तत्र व्याप्त विषाक्त वायव्यप्राण ही नाग हैं। 'नीलविशालपिङ्गलजटाजूटैकनागैर्युता' से इसी स्थिति का स्पष्टीकरण हुआ है। सौरमण्डलात्मक क्रान्तिवृत्त ही इसका उदर है। 'त्रिनाभिचक्रमजरमनर्वम्' के अनुसार वह वृत्त त्रिकेन्द्रों के सम्बन्ध से दीर्घवृत्ताकार बना हुआ है। यही 'लम्बोदरी' शब्द व्यक्त कर रहा है। शेष निदान तारानुगत निदानभावों से समतुलित हैं।

३७२–'बृहतीछन्द' (त्रिष्टुद्वृत्त) पर स्थिररूप से सुप्रतिष्ठित अक्षोभ्यपुरुष से अभिन्ना महाशक्ति तारा के छन्द के 'बृहद्भाव' का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय, प्राणः-आपः-वाक्-अन्नादः-अन्नम्-नाम से प्रसिद्धा पञ्चविधा विश्वप्रकृतियों में मध्यस्था 'वाक्' प्रकृति, और तच्छक्ति (वाक्-शक्ति) मयी भगवती तारा, एवं कलियुगा-नुगता उपास्यरूपता से अनुप्राणिता भगवती 'तारा' नाम की द्वितीया-महाविद्या के माङ्गलिक-नैदानिक-स्वरूप का विराम—

अक्षोभ्यसूर्य्य बृहतीछन्द पर प्रतिष्ठित है। अतएव तारामनु (तारामन्त्र) का छन्द भी बृहती ही ही माना गया है *। प्राणः–आपः–वाक्–अन्न–अन्नादः, इन पाँच विश्वप्रकृतियों में से मध्यस्था वाक्–

* आद्यन्तबीजरहिता प्रोक्ता नीलसरस्वती ॥
तारा सर्वा मनोरस्य मुनिरक्षोभ्यसंज्ञकः ॥१॥
छन्दस्तु बृहतीतारा देवता परिकीर्तिता ॥
द्वितीयतुर्य्यं क्रमतो बीजं शक्तिश्च सिद्धिदे ॥२॥

प्रकृति का इसी वाङ्मयी मध्यस्था सूर्य्यानुगता तारा से सम्बन्ध है। अतएव इसे वाङ्मयी, वाक्-शक्तिप्रदात्री माना गया है +। स्वरवाक् का सूर्य्य से ही सम्बन्ध माना गया है। अतएव तारान्यास में भी स्वरभाव का सम्बन्ध माना गया है÷। सूर्य्य के द्वारा ही अधोऽवस्थिता मुक्ति, ऊर्ध्वस्थिता मुक्ति, दोनों प्राप्त होते हैं। इसी आधार पर सूर्य्यानुगता-महदक्षररूपा तारा को सर्वसिद्धिदा माना गया है। अव्ययानुगता महाकाली जहाँ सत्ययुग की प्रतिष्ठा थी, वहाँ अक्षरानुगता तारा कलियुग की प्रधान उपास्या मानी गई है *। एवं यही अक्षो-भ्यपुरुष, और उसकी महाविद्या तारा का संक्षिप्त स्वरूप-विश्लेषण है।

इति-तारास्वरूप-दिग्दर्शनम्

—२—

३-पञ्चवक्त्रशिव, और उसकी महाविद्या षोडशी
(तृतीया-षोडशी-महाविद्या)

३७३-पञ्चवक्त्र-शिवानुगता-तृतीया-'षोडशी' नाम की महाविद्या का माङ्गलिक-संस्मरण, विश्वविशिष्टा महाशक्ति के षोडशी-स्वरूप का तात्त्विक-समन्वय, सौर-अक्षोभ्यपुरुषानुगत सुप्रसिद्ध अग्नियज्ञात्मक चयनयज्ञ, तन्निबन्धन चितिभाव, तद्रूपा चितिविद्या, तदभिन्ना-चिदात्मस्वरूप-अभिव्यञ्जिका-षोडशकलान्विता 'षोडशी' शक्ति का पारिभाषिक-स्वरूप दिग्दर्शन, एवं पञ्चावयवात्मक कृत्स्न-विश्व पर तत्प्रभुत्व-समन्वय –

तीसरी क्रमप्राप्ता पञ्चवक्त्रशिवानुगता 'षोडशी' नामकी महाविद्या है। षोडशी,भुवनेश्वरी, भैरवी, छिन्नमस्ता, आदि आगे के आठों महाविद्याविवर्त्त दूसरे तारा-विवर्त्त के ही विस्तार-भाव हैं, जैसाकि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा। अपने विशुद्धरूप से (महदक्षररूप से) जो सौर-शक्ति तारा कहलाई है, वही

+ विद्यया तारपुर्य्या व्यापकं सप्तधा चरेत् ॥
उग्रतारां ततो ध्यायेत् सद्यो वाक्सिद्धिदायिनीम् ॥

÷ त्रिबीजस्वरपूर्वन्तु रक्तं सूर्य्यं हृदि न्यसेत् ॥
तथा यवगपूर्वन्तु सोमं शुक्लं भ्रुवोर्द्वयोः ॥

* नैव तारा समा काचिद् देवता सर्वसिद्धिदा ।
कलौ युगे ततो गोप्या वाञ्छितां सिद्धिमीप्सुना ॥

विश्वविशिष्टरूप से 'षोडशी' नाम से प्रसिद्ध हुई है। 'तारा' से जहाँ केवल रोदसीत्रिलोकी की विद्या गृहीत है, वहाँ षोडशी से त्रैलोक्यत्रिलोकीरूपा महाविश्वविद्या संगृहीत मानी गई है। घटना यों घटित हुई। आपोमय परमेष्ठी के केन्द्र में सूर्य्यपुरुष, और उसकी ताराशक्ति का उदय हुआ। सूर्य्य से पहिले भी यज्ञ अवश्य था। परन्तु वह आपोमय यज्ञ था, अतएव उसमें प्रतिष्ठा का अभाव था। पारमेष्ठ्य अङ्गिरोऽग्नि में पारमेष्ठ्य भार्गव सोम आहुत अवश्य हुआ। परन्तु इससे आयतनवृद्धि नहीं हुई। फलतः चितिरूप विश्व का विकास नहीं होसका। आयतनवृद्धि का कारण है एकमात्र 'चितिभाव', जो यज्ञपरिभाषा में 'चयनयज्ञ'-'अग्नियज्ञ' आदि नामों से व्यवहृत हुआ है। अग्नि में अग्नि की आहुति होना ही चितियज्ञ है। जिसप्रकार अग्नि में आहुत सोम अग्नि में विलीन होजाता है, वैसे अग्नि में आहुत अग्नि अग्नि में विलीन न होकर उस पर समान-धर्म्मापेक्षया आरूढ होजाता है। यही चितिभाव है, यही आयतनवृद्धि का एकमात्र कारण है। सम्पूर्ण विश्व का पूर्णरूप इसी चितियज्ञ पर प्रतिष्ठित है। चितिरूपा महाशक्ति ही षोडशी कहलाई है, जिसका पञ्चावयव कृत्स्न विश्व पर प्रभुत्त्व है *।

३७४- महदक्षररूपा सौरशक्तिघना भगवती तारा के द्वारा पञ्चचितिक अव्ययपुरुष की स्वरूपाभिव्यक्ति, तन्निबन्धना अन्तश्चिति और बहिश्चिति का स्वरूप-परिचय, अक्षरविवर्त्तानुगता तदभिन्ना पराप्रकृति, षोडशी-महाशक्ति की सोलह कलाओं का नैगमिक (श्रौत) स्वरूप-समन्वय, एवं विश्वात्मा-षोडशी-प्रजापति की विश्वात्म-रूपिणी-तदभिन्ना सर्वधर्म्मोपपन्ना-महाशक्ति 'षोडशी' के माङ्गलिक स्वरूप का संस्मरण—

महदक्षररूपा सौरशक्तिघना तारा से सर्वप्रथम आनन्द-विज्ञान-मनः-प्राण-वाक्-रूप अव्ययात्मा का विकास हुआ, यही पञ्चचितिरूप चिदात्मा कहलाया, जिसकी पाँचों चितियों का अन्तश्चिति, बहिश्चितिरूप से पूर्व परिच्छेदों में विस्तार से निरूपण किया जाचुका है। यही निरपेक्ष स्थितिलक्षण अव्ययपुरुष है। इस की पराप्रकृतिरूपा महदक्षरप्रकृति भी पञ्चविधगति-लक्षण चितिभावों से ब्रह्मेन्द्रादि पञ्चकलोपेता बनी हुई है। यही अक्षरविवर्त्त है। इसका मर्त्यभाग भी पञ्चचितिक ही है, जो आत्मक्षर कहलाया है। तीनों की १५ हीं कलाएँ, जिस अखण्ड परात्परपुरुष पर प्रतिष्ठित हैं वही सोलहवां तुरीयतत्त्व है। यही प्रकृतिविशिष्ट षोडशीपुरुष है। मध्यस्था पराशक्ति अमृताचिति (अव्यय), मर्त्यचिति (क्षर), परात्पर तीनों से युक्त रहती हुई षोडशी है। इसी के द्वारा-पञ्चजन-पुरञ्जनादि चितियों के द्वारा पुररूपा विश्वचिति का स्वरूप सम्पन्न हुआ है। तात्पर्य्य-विश्वविशिष्ट विश्वात्मा पञ्चवक्त्रशिव है, विश्वात्मा षोडशी प्रजापति की विश्वात्मरूपिणी सर्वधर्म्मोपपन्ना शक्ति 'षोडशी' है।

---

*-चितिरूपेण या कृत्स्नमेतद्व्याप्य स्थिता जगत् ॥
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥
—सप्तशती

३७५–नारायणोपनिषदुपवर्णिता प्रतिसञ्चरविद्या से अनुप्राणित 'पञ्चवक्त्रशिव', और तदभिन्ना महाशक्ति षोडशी, 'आनन्दमय-मृत्युञ्जयशिव'-विज्ञानमय-दक्षिणामूर्त्तिशिव'-'मनोमय-कामेश्वरशिव'--प्राणमय--नीललोहिताशिव--एवं--'वाङ्मय-भूतेश' नामक पञ्चमुख आगमीय-शिवतत्त्व का नैगमिक-दृष्टिकोण के साथ-समतुलन—

नारायणोपनिषत् में प्रतिसञ्चरविद्या के द्वारा इस पञ्चवक्त्रशिव के पाँचों तात्त्विकरूपों का विश्लेषण हुआ है। वहाँ बतलाया गया है कि, अन्न से प्राण, प्राण से मन, मन से विज्ञान, एवं विज्ञान से आनन्द का विकास हुआ है। तात्पर्य्य, अन्न के द्वारा प्राणब्रह्म उपास्य है, प्राण के द्वारा मनोब्रह्म, तद्द्वारा विज्ञानब्रह्म, एवं विज्ञान के द्वारा आनन्दब्रह्म उपास्य है। यही ब्रह्मयोनि है। इसप्रकार यह पुरुष पञ्चधा बना हुआ है। सम्पूर्ण भूतभौतिक प्रपञ्च इसी से ओतप्रोत है। आनन्दमयरूप 'मृत्युञ्जयशिव' हैं। विज्ञानमयरूप 'दक्षिणामूर्त्ति-शिव' हैं, मनोमयरूप 'कामेश्वरशिव' हैं। प्राणमयरूप 'नीललोहितशिव' हैं। ये ही 'पशुपतिशिव' हैं। वाङ्मयशिव 'भूतेश' हैं। ये ही इन के पञ्चमुख हैं। अन्य दृष्टिकोण से भी इन पाँचों स्वरूपों का समन्वय किया जासकता है, जिस का नैदानिक रहस्य पूर्वप्रकरण में विस्तार से बतलाया जाचुका है।

३७६–अव्यक्त-स्वयम्भू, और मृत्युञ्जयशिव, व्यक्ताव्यक्त-परमेष्ठी, और दक्षिणा-मूर्त्तिशिव, व्यक्तसूर्य्य, और कामेश्वरशिव, भूतात्मक चन्द्रमा, और नीललोहित-शिव, महाभूतात्मिका पृथिवी, और भूतेश का पारिभाषिक-समन्वय, विश्वकेन्द्र-स्थ-ऐन्द्रपुरुष की सर्वभावान्विता षोडशकलाओं का नैगमिक-स्वरूप-दिग्दर्शन, तदनुगत-'इन्द्रो ह वै षोडशी' इत्यादि निगमसमन्वय, एवं तदभिन्ना षोडशी-महाविद्या—

स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी, पांचो विश्वपर्वों में क्रमशः मृत्युञ्जय, दक्षिणामूर्त्ति, कामेश्वर, नीललोहित, एवं पशुपति-भावों का साम्राज्य है। मध्यस्थ सूर्य्य में पाँचों रूपों का समन्वय है। क्योंकि सौर चितियज्ञ के कारण सूर्य्य में ही षोडशकल चिदात्मा का पूर्ण विकास हुआ है। स्वयम्भू अव्यक्त है, अतएव यहाँ भी षोडशी का विकास अनुपपन्न है। परमेष्ठी में विलयनवृत्ति का प्राधान्य है, अतएव यहाँ भी षोडशी अन्तर्लीन ही रहता है। परन्तु तीसरे सूर्य्यविवर्त्त में अग्निचिति के सम्बन्ध से चिदात्मा पूर्णरूपेण विकसित होजाता है। स्वयम्भू आदि विश्वपुरों में क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि, सोम, इन पांच अक्षरों की प्रधानता है। पाँचों में इन्द्रात्मक सूर्य्य ही षोडशीपुरुष की विकासभूमि है। अतएव सौर इन्द्र को ही षोडशी कहा गया है, जैसा कि-'इन्द्रो ह वै षोडशी' (शत० ४।२।५।१४) इत्यादि निगम से स्पष्ट है।

३७७–पञ्चकल अव्यय की मनः-प्राण-वाक्-भावनिबन्धना त्रिवृद्रूपता का समन्वय, पञ्चकल-पञ्चपर्वा-प्राकृतविश्व के पाँचों प्राकृत-पर्वों के साथ २–१–२-क्रम से अव्ययात्मा के तीनों त्रिवृद्रूपों का समतुलन, मध्यस्थ सूर्य्य के साथ विश्व-की षोडशकलान्विता सर्वरूपता का समतुलन, एवं तदनुबन्धिनी महाशक्ति 'षोडशी' नाम की महदक्षरप्रधाना विश्वव्याप्ता महाविद्या का तात्विक-स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

पञ्चकल अव्यय का सृष्टिसाक्षीरूप मनः-प्राण-वाङ्मय है। स्वयम्भू में अव्ययात्मा के वाक्पर्व का विकास है, परमेष्ठी में वाक्प्राण का, तत्समतुलित चन्द्रमा में भी वाक्प्राण का, पृथिवी में वाक् का विकास है। इधर मध्यस्थ सूर्य्य में मनः-प्राण-वाक् तीनों का विकास है। 'स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः' के अनुसार आत्मा मनः प्राणवाङ्मय है। क्योंकि सूर्य्य में तीनों का विकास है। अतएव 'सूर्य्य आत्मा जगतस्थस्थुषश्च' इत्यादि रूप से सूर्य्य को ही स्थावर-जङ्गम भावापन्न विश्व का आत्मा माना गया है। क्योंकि इस में षोडशकल पुरुष का पूर्ण विकास है, यहीं मध्यस्था महदक्षररूपा प्रकृति का विकास है, अतएव इस सर्वधर्म्मोपपन्न-भावदृष्ट्या इस पुरुष को पञ्चवक्त्र शिव, एवं इस की महदक्षरप्रधाना विश्वव्याप्ता महाविद्या को अवश्य ही 'षोडशी' कहा जासकता है।

३७८–शून्य-दुःख-स्वलक्षण-भावापन्न-बलात्मक-मृत्यु-तत्व के विजेता पूर्ण-आनन्द-बल-लक्षण-अमृतत्व का पावन-संस्मरण, मृत्युमयी योगमाया के निग्रह से रसात्मक-आत्मानन्द का आवरण, 'भूमानन्द' का तात्विक-स्वरूप-समन्वय, 'अथ यदुदर-मन्तरं कुरुते-अथ-भय भवति' इत्यादि निगमसिद्धान्त का पारिभाषिक-समन्वय, एवं आत्मानन्दकला की 'मृत्युञ्जयरूपता' का रहस्यात्मक-स्पष्टीकरण-प्रयास—

शून्यं शून्य, अतएव दुःखं, दुःखं, अतएव स्वलक्षणं स्वलक्षणं, लक्षण बलात्मक मृत्युतत्त्व पर विजय प्राप्त करना एकमात्र रसानन्दलक्षण अमृततत्त्व का ही कार्य्य है, जो आनन्दः आनन्दः है, पूर्णं पूर्णं है। मृत्युरूप बल योगमाया के सहयोग से आत्मानन्दकला का आवरक बन जाता है। और यही आवरण मृत्युभय का एकमात्र मुख्य कारण माना गया है। 'रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति, रसो वै सः, यो वै भूमा तत् सुखम्' इत्यादि श्रुतियों के अनुसार रसरूपा शान्ति ही आत्मानन्द है, यही भूमानन्द है। वहाँ विच्छित्ति का अभाव है। एवं-'अथ यदुदरमन्तरं कुरुते, अथ भयं भवति' सिद्धान्तानुसार यह उदरलक्षणा विच्छित्ति ही मृत्युभय है। विज्ञान के द्वारा प्राप्त रसानन्द ही क्योंकि इस उदरविच्छित्ति का निवारक बनता हुआ मृत्यु-विजय का कारण बनता है, अतः आत्मा की इस आनन्दकला को अवश्य ही 'मृत्युञ्जय' कहा जासकता है।

३७९–'मृत्युञ्जय-आनन्दमूर्त्ति-शिवतत्त्व-की प्राप्ति का अन्यतम द्वारभूत-'विज्ञानतत्त्व', तद्रूपा चतुर्विधा विद्याबुद्धियाँ, तत्प्रतिबन्धिका-मृत्युप्रवर्त्तिका-आत्मानन्दा-वरणात्मिका चतुर्विधैव अविद्याबुद्धियाँ, एवं विज्ञानतत्त्वानुगत विद्याबुद्धिस्वरूप-विश्लेपक-'धियो यो नः प्रचोदयात्' का संस्मरण—

मृत्युञ्जय, आनन्दमूर्ति शिवतत्त्व की प्राप्ति का द्वार है 'विज्ञानतत्त्व'। आत्मा की दूसरी विज्ञानकला का विकास आध्यात्मिक उस विज्ञानात्मा से सम्बन्ध रखता है, जो 'बुद्धि' नाम से प्रसिद्ध है। धर्म्म-ज्ञान-वैराग्य, ऐश्वर्य्य, ये चार विद्याबुद्धियाँ हैं। अधर्म्म, अज्ञान, आसक्ति, अस्मिता, ये चार अविद्याबुद्धियाँ हैं। विद्याबुद्धिचतुष्टयी से आत्मानन्द की प्राप्ति होती है, अविद्याबुद्धिचतुष्टयी से विषयानुगत क्षणिक सुख का उद्रेक होता है। 'धियो यो नः प्रचोदयात्' के अनुसार सूर्य्य ही इस विद्याबुद्धि का प्रभव है। सूर्य-रश्मियों के द्वारा ही रोदसीप्रजा में इस बुद्धितत्त्व की प्रतिष्ठा हुई है।

३८०–'ऊर्ध्वमूलमधःशाखम्' इत्यादि परिभाषा से अनुप्राणित केन्द्र का ऊर्ध्वभागत्त्व, तथा परिधि का अधोभागत्त्व-समन्वय, परिधिरूप दक्षिणभाग से अनुप्राणित 'दक्षिणामूर्त्तिशिव' के रहस्यात्मक मङ्गलमय स्वरूप का संस्मरण, एवं-'तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः' के द्वारा मृत्युञ्जय के स्वरूप-दर्शन का प्रयास—

'ऊर्ध्वमूलमधःशाखम्०' परिभाषानुसार केन्द्र का नाम ऊर्ध्व है, परिधि का नाम दक्षिण है। वृत्त में केन्द्र, और परिधि, ये दो प्रधान आलम्बन हैं। केन्द्रस्थित तत्त्व उत्तर स्थित तत्त्व माना गया है। उत्तर (केन्द्र) में उक्थरूप से प्रतिष्ठित तत्त्व दक्षिण (परिधि भाग की ओर) में अर्करूप से व्याप्त रहता है। विज्ञानघन सूर्य्य विश्वकेन्द्र में प्रतिष्ठित है। सम्पूर्ण विश्व इस की परिधि है। परिधिरूप दक्षिणवृत्त में तत् केन्द्रस्थ उत्तरस्थ सौरविज्ञानतत्त्व अर्करूप से व्याप्त है। इसी आधार पर विज्ञानघन शिव 'दक्षिणा-मूर्त्ति' कहलाए हैं। 'तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः' के अनुसार इसी रूप से मृत्युञ्जयतत्त्व के दर्शन होते हैं।

३८१–अव्ययात्मा की मनोमयी कामरेतोमयी केन्द्रस्था कला से अनुगत कामेश्वरशिव के माङ्गलिक स्वरूप का समन्वय-प्रयास, तदनुबन्धी पञ्चपुरों का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय, एवं कामेश्वर भगवान् के पञ्चमहाप्रेतात्मक-आगमीय-सुप्रसिद्ध-'पर्य्यङ्क' के नैदानिक-पारिभाषिक-स्वरूप का स्पष्टीकरण-प्रयास—

अव्ययात्मा की मनोमयी कला 'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्' के अनुसार काममयी है। आनन्दलक्षणा परमाशान्ति, एवं विज्ञानलक्षणा ज्ञानोदय, दोनों का निदान श्वेतवर्ण है। इधर काममय मन का स्वाभाविक अनुरागभावापेक्षया रक्तवर्ण निदान है। अतएव मृत्युञ्जय, तथा दक्षिणामूर्त्तिशिव, दोनों का वर्ण जहाँ श्वेत माना गया है, वहाँ अनुरागात्मक (रागात्मक) काममय शिव का स्वरूप रक्तवर्ण माना गया है। ये ही तीसरे 'कामेश्वरशिव' हैं। ब्रह्म-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोम-

पाँचों स्वरदेवता विश्व के पाँचों पुरों से अनुगृहीत हैं। पाँचों इस कामेश्वर की कामना से युक्त हैं। काम तत्त्व की प्रतिष्ठा पञ्चपर्वात्मक यही काममय विश्व है। अतएव कामेश्वर भगवान् को पञ्चमहाप्रेतात्मक पर्य्यङ्क पर प्रतिष्ठित माना गया है।

३८२-प्राणमयी आत्मकला, और तन्निबन्धन सुप्रसिद्ध-विधरणधर्म्म का दिग्दर्शन, विधर्त्ता प्राण से अभिन्न नीललोहित पशुपति भगवान् के आगम-निगमानुगत-पारिभाषिक-स्वरूप का समतुलनात्मक समन्वय, त्रैलोक्य व्यापक-शिवतत्त्व के ईशान-तत्पुरुष-अघोर-वामदेव-सद्योजात-नामक सुप्रसिद्ध पञ्चविध महिमामय माङ्गलिक-स्वरूपों का माङ्गलिक संस्मरण, एवं आगमीय-ध्यानमन्त्र के माध्यम से तद्यशोवर्णन—

प्राणमयी आत्मकला अपने स्वाभाविक-विधरणधर्म्म से 'पशुपतिशिव' नाम से व्यवहृत हुई है। ये ही पशुपति भगवान् 'नीललोहित' कहलाए हैं। आनन्दमय मृत्युञ्जय एकमुख हैं, विज्ञानमय दक्षिणामूर्त्ति, मनोमय कामेश्वर, दोनों भी एक मुख ही हैं। परन्तु प्राणमय पशुपति पञ्चमुख हैं, एवं वाङ्मय भूतेश अष्टमुख हैं। इसप्रकार पञ्चवक्त्र सर्वव्यापक शिवतत्त्व के पाँचों विवर्त्तों के भी अवान्तर अनेक विवर्त्त होगए हैं। प्रकृत में षोडशीपुरुष से सौरप्राणमूर्त्ति जिस महदक्षरतत्त्व का ग्रहण हुआ है, उस रूप के साथ प्राणमय नीललोहित पञ्चमुख शिवतत्त्व का ही प्रधान सम्बन्ध माना जायगा, जिस का सम्पूर्ण-रोदसी-त्रैलोक्य में ईशान, तत्पुरुष, अघोर-वामदेव, सद्योजात, इन रूपों से विकास हुआ है। निम्न-लिखितरूप से इसी के नैदानिक रूप का विश्लेषण हुआ है—

मुक्तापीतपयोदमौक्तिकजपावर्णैर्मुखैः पञ्चभि-
स्त्र्यक्षैरञ्चितमीशमिन्दुमुकुटं पूर्णेन्दुकोटिप्रभम्।
शूलं टङ्कृपाणवज्रदहनान्नागेन्द्रघण्टाङ्कुशान्-
पाशं भीतिहरं दधानममिताकल्पोज्ज्वलाङ्गं भजे॥ *

* इस स्वरूप का नैदानिक विश्लेषण पूर्वप्रकरण में किया जाचुका है-
नारायणोपनिषत् में भी इन का विस्तार से विश्लेषण हुआ है।

३८३-पञ्चवक्त्रशिव से अनुगता षोडशकलोपेता महाविद्या की षोडशी-रूपता, समष्ट्यात्मिका 'षोडशी' भगवती के व्यष्ट्यात्मक त्रिपुरीसुन्दरी, त्रिपुरभैरवी, पञ्चमी, नामक त्रिविध महिमा-विवर्त्त, सौर- शिवतत्त्व, और त्रिपुरसुन्दरी, सौर-रुद्रतत्त्व, और त्रिपुरभैरवी, सौरकेन्द्रावच्छिन्ना शक्ति, और पञ्चमी, तन्त्र-शास्त्रानुगता -'श्रीविद्या' का संस्मरण, महात्रिपुरसुन्दरी के कुमारी, त्रिपुरा, गौरी, रमा, भारती, काली, चण्डिका, दुर्गा, ललिता, आदि लीलाविग्रहों का पावनसंस्मरण, एवं रागः-पाशः, द्वेषोऽङ्कुशः, मन-इक्षुधनुः-शब्दादितन्मात्राः पञ्चबाणाः-निबन्धन रहस्यात्मक आयुधों के नैदानिकभावों का पारिभाषिक समन्वय—

उक्त पञ्चवक्त्र शिव से अनुगता षोडशकलोपेता महाविद्या ही षोडशी है, जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। इसके समष्टि, व्यष्टिभेद से दो विवर्त माने गए हैं। समष्टिरूप 'षोडशी' कहलाया है। व्यष्टिरूप त्रिपुरसुन्दरी, त्रिपुरभैरवी, पञ्चमी, इन नामों से व्यवहृत हुए हैं। सौर-शिवरूपात्मिका वही शक्ति त्रिपुर-सुन्दरी है, सौर रुद्ररूपात्मिका वही शक्ति त्रिपुरभैरवी है, एवं सौरकेन्द्रावच्छिन्ना वही शक्ति पञ्चमी है। तीनों रूपों का तन्त्रशास्त्र में विस्तार से विश्लेषण हुआ है। स्वयम्भू, परमेष्ठीरूप द्युलोक, सूर्यात्मक अन्तरिक्षलोक, चन्द्रमा-पृथिव्यात्मक पृथिवीलोक, तीनों पुरों की अधिष्ठात्री विश्वव्याप्ता समष्टिलक्षणा महदक्षररूपा महाविद्या तो षोडशी है, जो तन्त्रशास्त्र में 'श्रीविद्या' नाम से भी व्यवहृत हुई है। यही 'ललिता-कामेश्वरी महात्रिपुरसुन्दरी' इत्यादि नामों से प्रसिद्ध हुई है। महदक्षरात्मक मनोमय कामेश्वर भगवान् के साथ आपका प्रधान सम्बन्ध माना गया है। कुमारी, त्रिपुरा, गौरी, रमा, भारती, काली, चण्डिका, दुर्गा, ललिता, आदि आपके लीलाविग्रह माने गए हैं। 'रागः पाशः' (भाव० सूत्र ३३)-'द्वेषोऽङ्कुशः' (भा० २४)-'मन इक्षुधनुः'-(भा० २२)-'शब्दादितन्मात्राः पञ्चपुष्पबाणाः' (भा० २१) इत्याद्यनुसार पाश, अङ्कुश, इक्षुधनुष, पञ्चपुष्पबाण, चारों आयुध क्रमशः मनोऽनुगत राग, द्वेष, काम, तथा पञ्चतन्मात्राओं के नैदानिक-स्वरूप हैं *।

---

*-इच्छाशक्तिमयं पाशमङ्कुशं ज्ञानरूपिणम् ।
क्रियाशक्तिमये बाणधनुषी दधदुज्ज्वलम् ॥

३८४–सूर्य्यात्मक हिरण्मयपुर, चन्द्रमात्मक रजतमयपुर, पृथिव्यात्मक लौहमयपुर, तत्समष्टि की अधिष्ठात्री त्रिपुरसुन्दरी, तत्सहयोगिनी त्रिपुरभैरवी, तथा पञ्चमी, वाग्भवरूपा पञ्चमी का सरस्वतीरूपत्त्व, त्रिपुरसुन्दरी का कामराजकत्त्व, एवं डामर-मोहन-भावनिबन्धना भगवती त्रिपुरभैरवी का माङ्गलिक-संस्मरण, तथा तन्त्रशास्त्र-सम्मत पञ्चमी-त्रिपुरसुन्दरी-त्रिपुरभैरवी-नामक महाशक्तियों के नैदानिक ध्यानों का दिग्दर्शन—

सूर्य्यरूप हिरण्मय पुर, चन्द्रात्मक रजतमय पुर, पृथिव्यात्मक लौहमय पुर, तीनों पुरों से सम्बन्ध रखने वाला व्यष्टिरूप शिवात्मकरूप 'त्रिपुरसुन्दरी' है। तीनों ही पुरों से सम्बन्ध रखने वाला व्यष्टिरूप रुद्रात्मक-स्वरूप 'त्रिपुरभैरवी' है। केन्द्रानुगत वाङ्मयरूप 'पञ्चमी' है। पञ्चमी प्रथमरूप है, यही वाग्भवरूप है, अतएव इसका सरस्वतीरूपेण ध्यान किया जाता है। त्रिपुरसुन्दरी द्वितीयरूप है, यही कामराजक है। त्रिपुर-भैरवी तृतीयरूप है, यह डामर-मोहनात्मक है। तीनों रूपों के ध्यानों का तन्त्र में निम्न लिखितरूप से स्वरूप-निरूपण हुआ है—

१–पञ्चमी—तरुणशकलमिन्दोर्बिभ्रती शुभ्रकान्तिः-

कुचभरनमिताङ्गी सन्निषण्णा सिताब्जे ॥

निजकरकमलोद्यल्लेखिनीपुस्तकश्रीः-

सकलविभवसिद्ध्यै पातु वाग्देवता नः ॥१॥

सिन्दूरपुञ्जसङ्काशां त्रिनेत्रान्तु चतुर्भुजाम्।

वामोर्ध्वे पुस्तकोदण्डं धृत्त्वाधःपुस्तकं तथा ॥२॥

दक्षिणोर्ध्वे पञ्चबाणानक्षमालां दधात्यधः।

चतुर्णां कुणपानान्तु पृष्ठेऽन्यं कुणपान्तरम् ॥३॥

निधाय तस्य पृष्ठे तु समपादेन संस्थिताम्।

जटाजूटार्द्धचन्द्रैस्तु समाबद्धशिरोरुहाम् ॥४॥

नग्नां त्रिवलिभङ्गेन चारुमध्यां मनोहराम्।

सर्वालङ्कारसम्पूर्णां सर्वाङ्गसुन्दरीं शुभाम् ॥५॥

स्तुकूद्रवियसन्दोहां सर्वलक्षणसंयुताम्।

एवन्तु प्रथमं ध्यात्वा त्रिधात्मानञ्च चिन्तयेत् ॥६॥

* * *

२-त्रिपुरसुन्दरी-बन्धूकपुष्पसङ्काशां जटाजूटेन्दुमण्डिताम् ।
सर्वलक्षणसम्पूर्णां सर्वालङ्कारभूषिताम् ॥१॥
उद्यद्रविप्रख्यवस्त्रां पद्मपर्य्यङ्कसंस्थिताम् ।
मुक्तारत्नावलीयुक्तां पीनोन्नतपयोधराम् ॥२॥
वलीविभङ्गचतुरामासवामोदमोदिताम् ।
नेत्राह्लादकरीं शुद्धां चोभिर्णां जगतां तथा ॥३॥
त्रिनेत्रां योगनिद्रामीषद्धाससमायुताम्
नवयौवनसम्पन्ना मृणालाभचतुर्भुजाम् ॥४॥
वामोर्ध्वे पुस्तकं धत्ते अक्षमालान्तु दक्षिणे ।
वामेनाभयदां देवीं दक्षिणाधोवरप्रदाम् ॥५॥
प्रस्रवद्रक्तसूर्य्याभां शिरोमालान्तु बिभ्रतीम् ।
आपादलम्बिनीं कल्पद्रुममासाद्य संस्थिताम् ॥६॥
कदम्बोपवनान्तःस्थां कामाल्हाकरीं शुभाम् ।
द्वितीयां त्रिपुरां ध्यायेदेवंरूपां मनोहराम् ॥७॥

* * *

३-त्रिपुरभैरवी-तृतीयं त्रिपुरारूपं शृणु वेतालभैरव ! ॥
जपाकुसुमसङ्काशां मुक्तकेशीं वराननाम् ॥१॥
सदाशिवं हसन्तन्तु प्रेतवद्धिनिधाय वै ।
हृदये तस्य देवस्य ह्यद्ध पद्मासनस्थिताम् ॥२॥
रक्तोत्पलैर्मिश्रितान्तु मुण्डमालां पदानुगाम् ।
ग्रीवायां धारयन्तीं तु पीनोन्नतपयोधराम् ॥३॥
चतुर्भुजां तथा नग्नां दक्षिणोर्ध्वेऽक्षमालिनीम् ।
वरदां तदधोवामो जगन्मायां तथाभयम् ॥४॥
अधस्तु पुस्तकं धत्ते त्रिनेत्रां हसिताननाम् ॥
स्रवद्रविप्रभोगार्त्तां तथा सर्वाङ्गसुन्दरीम् ॥
एवंविधं तृतीयन्तु रूपं ध्यायेत्तु पूजकः ॥५॥

* * *

आद्यन्तु वागभवं रूपं, द्वितीयं कामराजकम् ।
डामरं मोहनञ्चापि तृतीयं परिकीर्त्तितम् ॥१॥
एकैकन्तु त्रिरूपाणि प्रागविचिन्त्याथ साधकः ।
मन्त्रत्रयेण प्रत्येकं हृदि षोडशकैस्तथा ॥२॥
पूजयेदुपचारैस्तु वहिर्यद्वत् तथैव च

—कालिकापुराणे ६२ अध्याये

* * *

३८५—तारा भगवती के अवान्तररूप का संस्मरण, एवं षोडशी भगवती, चितिभाव से अनुप्राणिता षोडशकलोपेता षोडशी का षोडशीत्व, विश्वलक्षणा—मर्त्या—क्षर—सृष्टि की आलम्बनभूता गुणत्रयोपेता योगमाया, 'त्रिनेत्रां योगनिद्राम्' का पारिभाषिक समन्वय, अव्ययानुगता सत्त्वगुणान्विता षोडशी, अक्षरानुगता रजोगुणान्विता षोडशी, आत्मक्षरानुगता तमोगुणान्विता षोडशी, एवं रूपत्रयी के आधार पर सृष्टिध्यान स्थितिध्यान-तथा संहारध्यानों का स्वरूप-विश्लेषण-प्रयास—

बतलाया गया है कि, व्यष्टिरूपत्रयात्मिका समष्टिरूपेण षोडशीलक्षणा महाविद्या तारा का ही रूपान्तर है। सौर-शक्ति ही चिति के द्वारा षोडशकलोपेता बनती हुई षोडशी कहलाई है। अतएव आगमशास्त्र में इसे तारा का ही अवान्तर भेद मानते हुए इसके ध्यानादि की व्यवस्था हुई है। विश्वलक्षणा मर्त्या क्षर-सृष्टि का आलम्बन गुणत्रयोपेता योगमाया मानी गई है। अतएव पूर्वध्यानों में इसके व्यष्टिरूपों के सम्बन्ध में—'त्रिनेत्रां योगनिद्राम्' कहा गया है। अव्ययानुगता वही षोडशी सत्त्वगुणोपेता है, अक्षरानुगता वही षोडशी रजोगुणोपेता है, एवं अक्षरानुगता वही षोडशी तमोगुणानुगता है। सत्त्वात्मिका षोडशी का पञ्चमी-रूप से, रजोगुणमयी षोडशी का त्रिपुरसुन्दरीरूप से, एवं तमोगुणमयी षोडशी का त्रिपुरभैरवीरूप से विकास हुआ है। तीनों के आधार पर षोडशी के सृष्टिध्यान, स्थितिध्यान संहारध्यान, इन तीन ध्यानों का विश्लेषण हुआ है, जैसाकि निम्न लिखित वचनों से प्रमाणित है—

१· सत्वानुगता षोडशी सृष्टिध्यानम् (पञ्चमी) —श्वेताम्बराढ्यां हंसस्थां मुक्ताभरणशोभिताम् ॥
चतुर्वक्त्रामष्टभुजैर्दधानां कुण्डिकाम्बुजे ॥१॥
वराभयेपाशशक्ती अक्षस्रक्पुष्पमालिके ॥
शब्दपाथोनिधौ ध्यायेत् सृष्टिध्यानमुदीरितम् ॥२॥

* * *

२–रजोऽनुगता—रक्ताम्बरां रत्नसिंहासनस्थां हेमभूषिताम् ॥
षोडशी
एकवक्त्रां वेदसंख्यैर्भुजैः संबिभ्रतीं क्रमात् ॥१॥
स्थितिध्यानम्
अक्षमालां पानपात्रमभयं वरमुत्तमम् ॥
(त्रिपुरसुन्दरी)
श्वेतद्वीपस्थितां ध्यायेत् स्थितिध्यानमिदं स्मृतम् ॥२॥

* * *

३–तमोऽनुगता—कृष्णाम्बराढ्यां नौसंस्थामस्थ्याभरणभूषिताम् ॥
षोडशी
नववक्त्रां भुजैरष्टादशभिर्दधतीं वरम् ॥१॥
संहारध्यानम्
अभयं परशुं दर्वीं खड्गं, पाशुपतं, हलम् ॥
(त्रिपुरभैरवी)
भिण्डिं, शूलञ्च, मुसलं, कर्त्रीं, शक्तिं, त्रिशीर्षकम् ॥२॥
संहारास्त्रं, वज्र-पाशौ, खट्वाङ्गं गदया सह ॥
रक्ताम्भोधौ स्थितां ध्यायेत् संहारध्यानमीदृशम् ॥३॥

* * *

३८६–अव्ययनिबन्धना सत्त्वानुगता षोडशी रूपा–'पञ्चमी' भगवती के ध्यानमन्त्र के नैदानिक-भावों का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं श्वेताम्बर, और सत्त्वगुण, आपः प्रतिष्ठा, और हंस, चतर्विधा वाक्, और चतुर्मुख, अष्टाक्षरा गायत्री, और अष्ट-भुजा, इत्यादि रूपेण विभिन्न नैदानिक-स्वरूपों का समन्वय-प्रयास—

(१)—श्वेताम्बर सत्त्वगुण का निदान है। पारमेष्ठ्य ज्योतिर्म्मय आपः प्रतिष्ठा का निदान 'हंस' है। परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी, इस चतुर्विधा वाक्-शक्ति के निदान चार मुख हैं। अष्टाक्षरा गायत्री का निदान अष्टभुजा है। रसशक्ति, पार्थिवशक्ति, अभीष्टकामपूरिकाशक्ति, प्रतिष्ठाशक्ति, नियन्त्रणशक्ति, संहार-शक्ति, शब्दशक्ति, आधाराधेयशक्ति, इन आठ शक्तियों के निदान क्रमशः कुण्डिका (कमण्डलु), कमल, वरमुद्रा, अभयमुद्रा, पाश, शक्ति, अक्षमाला, पुष्पमाला, हैं।

३८७–अक्षरनिबन्धना–रजोऽनुगता षोडशीरूपा 'त्रिपुरसुन्दरी' भगवती के ध्यानमन्त्र के नैदानिक-भावों का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं रक्ताम्बर, और रजोगुण, रत्न-सिंहासन, और हिरण्मय-सौरब्रह्माण्ड, एकाकी क्षत्र—रुद्र, और एकवक्त्र, खगोलीय चतुःस्वस्तिक, और चतुर्भुजा, अक्षमाला, और शब्दशक्ति, पानपात्र और सम्मोहनशक्ति, हृत्प्रतिष्ठा, और अभयमुद्रा, तथा नवाहयज्ञ, और श्वेतद्वीप-भेदेन विभिन्न नैदानिक-भावों का तात्त्विक-स्वरूप-समतुलन—

(२)—रक्ताम्बर रजोगुण का निदान है। रत्नसिंहासन हिरण्मय सौर ब्रह्माण्ड का निदान है। क्षत्र-भावापन्न एकाकी सूर्य्य का निदान एकवक्त्र है। खगोलीय चतुः स्वस्तिकों का निदान चार भुजा हैं। अक्ष–

माला शब्द शक्ति का निदान है। पानपात्र (मदिरापूर्णपात्र) काम-क्रोधजनक सम्मोहक रजोभाव का निदान है। सर्वकामसिद्धि का निदान वरमुद्रा है। हृत्प्रतिष्ठा का निदान अभयमुद्रा है। नयाहयज्ञ का निदान श्वेत-द्वीप है।

३८८-आत्मक्षर निबन्धना-तमोऽनुगता षोडशीरूपा 'त्रिपुरभैरवी' भगवती के ध्यानमन्त्र के नैदानिक-भावों का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं कृष्णाम्बर, और तमोगुण, अर्णवसमुद्रानुगता आपोमयी शक्ति, और नौसंस्थान, अश्मासोम, और अस्थ्याभरण, क्षरानुबन्धी अवरकर्म्मात्मक यज्ञ के १८ पर्व, और १८ हाथ, आदि निदानों का पारिभाषिक-समन्वय-प्रयास—

(३)—कृष्णाम्बर तमोगुण का निदान है। रोदसी-अनुगृहीत अर्णवसमुद्रानुगता अप्-शक्ति का निदान नौसंस्थान है। अश्मासोम का निदान अस्थ्याभरण है। नवाक्षरा बृहती का निदान नवमुल है। बृहतीछन्द के आधार पर प्रतिष्ठित अवरकर्म्मात्मक सौर यज्ञ के अठारह पर्वों के निदान १८ हाथ हैं। अठारह आयुध तदनुगता विभिन्न शक्तियों के निदान हैं।

३८९-मध्यस्था सूर्य्यविद्या का षोडशीविद्यात्व, एवं स्थिति का निष्कर्षात्मक समन्वय, विद्यात्मक अमृतविवर्त्त, विद्या-अविद्यात्मक अमृत-मृत्यु-विवर्त्त, अविद्यात्मक मृत्युविवर्त्त का स्वरूप-दिग्दर्शन, विद्याप्रधाना-अमृतभाव-निबन्धना सौरी शक्ति, और-'पञ्चमी', विद्या-अविद्या-मयी अमृत-मृत्यु-मयी-सौरी शक्ति, और-'त्रिपुरसुन्दरी', अविद्याप्रधाना-मृत्युभावनिबन्धना सौरी शक्ति, और 'त्रिपुरभैरवी' का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय-प्रयास, एवं पञ्चवक्त्रशिवार्द्धाङ्गिनी महाविद्या भगवती षोडशी के ऊर्ध्व-केन्द्र-अधो-भावनिबन्धन-महिमामय-व्यष्ट्यात्मक-स्वरूपों के मङ्गलमय इतिवृत्त का उपराम—

अयं निष्कर्षः। मध्यस्था सूर्य्यविद्या ही इस षोडशीविद्या के द्वारा प्रतिपादित हुई है। इस सौरसंस्था के अमृत-अमृतमर्त्य-मर्त्य, ये तीन विवर्त्त माने गए हैं। अमृतविवर्त्त विद्यात्मक है, उभयविवर्त्त विद्या-अविद्यात्मक है, मर्त्यविवर्त्त अविद्यात्मक है। सूर्य्यपिण्ड से ऊर्ध्वस्थित सौर अर्द्धमहिमामण्डल विद्याप्रधान है, यही प्रथमा षोडशी है, जिसे हम हंसवाहना वाग्देवी (सरस्वती) कह सकते हैं। सूर्य्यपिण्ड उभयात्मक है, यही द्वितीया षोडशी है, जिसे हम महालक्ष्मी कह सकते हैं। सूर्य्यपिण्ड से अधःस्थित सौर अर्द्धमहिमामण्डल अविद्याप्रधान है, यही तृतीया षोडशी है, जिसे हम महाकाली कह सकते हैं। यही पञ्चवक्त्रशिवानुगता जगन्माता 'षोडशी' नाम की महाविद्या का संक्षिप्त नैदानिक स्वरूप-विश्लेषण है—

१—ऊर्ध्वमण्डलम् (विद्या)—ब्रह्माणी—ततः—उत्पत्तिः (पञ्चमी)——स्वयम्भूः
२—सूर्य्यमण्डलम् (विद्याविद्ये)—वैष्णवी—ततः—स्थितिः (त्रिपुरसुन्दरी)—सूर्य्यः
३—अधोमण्डलम् (अविद्या) ——रुद्राणी—ततः—संहारः (त्रिपुरभैरवी)—पृथिवी

षोडशी—विश्वविद्या
सृष्टिमूला
शैवनिगमानुगता
हिरण्यगर्भविद्या

इति—'षोडशी'—स्वरूप—दिग्दर्शनम्

३

———※———

४—त्र्यम्बकशिव, और उसकी महाविद्या भुवनेश्वरी (चतुर्थी—महाविद्या)

———※———

३९०—त्र्यम्बक शिव, और उसकी महाविद्या (चतुर्थी—महाविद्या) भगवती-'भुवनेश्वरी' का माङ्गलिक संस्मरण, तत्स्वरूप-समन्वयानुबन्धिनी पूर्वप्रतिपादिता महाविद्याओं का सिंहावलोकनात्मक-समन्वय, सृष्टि-स्थिति-लय-मूलिका सृष्टिविवर्त्त त्रयी, ब्रह्माक्षरानुगता उत्पत्तिमूला विष्णवक्षरानुगता स्थितिमूला, इन्द्राक्षरानुगता लय-मूला-सृष्टिविद्यात्रयी का पारिभाषिक-स्वरूप-दिग्दर्शन, तन्निबन्धन स्वायम्भुवी-सौरी-पार्थिवी-सृष्टित्रयी से क्रमशः अनुप्राणिता सृष्टिविद्या, एवं सृष्टित्रयी से क्रमशः अनुप्राणिता सृष्टिविद्या के विभिन्न-तात्त्विक-रहस्यपूर्ण-दृष्टिकोणों का समन्वय-प्रयात—

भुवनेश्वरी के स्वरूप-परिचय के लिए पूर्वप्रतिपादित-विद्याओं का स्मरण करना आवश्यक होगा। यह बतलाया गया है कि, दशमहाविद्याओं के द्वारा सृष्टिविद्या का प्रतिपादन हुआ है। निगमसिद्धान्तानुसार सृष्टिविद्या के सृष्टि, स्थिति, लयमूलक तीन विवर्त्त माने गए हैं। उत्पत्तिमूला सृष्टिविद्या, स्थितिमूला सृष्टि-विद्या, लयमूला सृष्टिविद्या, इन तीन भागों में विभक्त विश्वविद्या क्रमशः ब्रह्ममूला, विष्णुमूला, शिवमूला सृष्टि-विद्याएँ मानीं गईं हैं। इन्हीं को क्रमशः शिरोमूला, हृन्मूला, पादमूला, भी कहा जासकता है। स्वयम्भू-ब्रह्मा से सृष्टिविद्या का आरम्भ कर पृथिवी पर समाप्त करना, यही सृष्टिमूला शिरोमूला ब्रह्मानुगता सृष्टिविद्या है। सृष्टि का उपक्रम स्वयम्भू से हुआ है, उपसंहार चन्द्रमा, किंवा पृथिवी पर हुआ है। यही सृष्टिविद्या का एक दृष्टिकोण है। जिसप्रकार उत्पत्ति स्वयम्भू से हुई है, तथैव स्थिति का अधिष्ठाता मध्यस्थ

केन्द्रानुगत सूर्य्य है । इस से सृष्टिविद्या का आरम्भ कर उस ओर स्वयम्भू पर्य्यन्त, इस ओर पृथिवी पर्य्यन्त अवसान मानना स्थितिमूला हृन्मूला विष्ण्वनुगता सृष्टिविद्या है, यही सृष्टिविद्या का दूसरा दृष्टिकोण है। प्रतिसञ्चरात्मिका लयप्रक्रिया के अनुसार प्रथम स्थान पृथिवी का है। यहीं से लय आरम्भ होता है। इस लयोप-क्रमभूता पृथिवी से आरम्भ कर स्वयम्भू पर समाप्त करना लयमूला-पादमूला-शिवानुगता सृष्टिविद्या है, यही सृष्टिविद्या का तीसरा सृष्टिकोण है।

३६१-दशमहाविद्यानुबन्धी सृष्टिविद्यात्मक विशेष-दृष्टिकोण, निगमविद्यात्मक 'कर्म्म-काण्ड', तथा आगमविद्यात्मक 'उपासना' का दिग्दर्शन, निगमशास्त्र-निबन्धन 'तत्त्ववाद' का स्वरूप-विश्लेषण, एवं आगमशास्त्र-निबन्धन 'नैदानिक'-स्वरूप-विश्लेषण, और निगम-आगम-शास्त्रों के प्रतिपाद्य विषयों का अद्भुत-सामञ्जस्य—

प्रस्तुत दशमहाविद्याओं में निगमानुगता इसी विद्यात्रयी का विश्लेषण हुआ है। विषयदृष्ट्या दोनों विद्याएँ समतुलित हैं। अन्तर दोनों में यही है कि, निगमविद्या जहाँ विज्ञानभाव को मुख्य आधार बनाती हुई कर्म्मकाण्ड को लक्ष्य बना रही है, वहाँ ज्ञानभाव को मुख्य आधार मानने वाली आगमविद्या उपासनाकाण्ड को लक्ष्य बना रही है। यही कारण है कि, आगमोक्त विश्वविद्याओं में जिन पुरुष-प्रकृतिभावों का विश्लेषण हुआ है, उन के (उपासक के मनःसंयम की दृष्टि से) नैदानिक ध्यानों का भी आगमशास्त्र में विश्लेषण हुआ है। निगमशास्त्र जहाँ तत्त्वदृष्ट्या स्पष्टभाषा में प्राकृतिक तत्त्वों का विश्लेषण करता है, वहाँ आगमशास्त्र उन्हीं तत्त्वों का उपास्य के नैदानिक रूपों के द्वारा तत्त्ववाद का विश्लेषण कर रहा है। इस दृष्टिकोण को सामने रखते हुए जब हम दोनों की मीमांसा करने लगते हैं, तो दोनों शास्त्रों के प्रतिपाद्य विषयों में हमें अद्भुत सामञ्जस्य उपलब्ध होता है।

३६२-महाकाली-तारा-षोडशी-नाम की महाविद्यात्रयी का सिंहावलोकनात्मक-संस्मरण, चतुर्थी भुवनेश्वरी, शेषभूता षट्-महाविद्याएँ, एवं इनका भुवनेश्वरी के महिमा-मय-स्वरूप में रहस्यात्मक अन्तर्भाव, महाशक्ति के विभिन्न तथा प्रमुख तीन विवर्त्तों का पारिभाषिक-समन्वय, विद्यात्रयी के द्वारा सम्पूर्ण-विश्वविद्या का परि-ग्रहण, महामायात्मिका-महाकाली का उपक्रमात्मक स्वयम्भू-विवर्त्त, योगमा-यात्मिका-भुवनेश्वरी का उपक्रमात्मक-पृथिवी-विवर्त्त, एवं इत्थंभूता सृष्टिविद्या-निबन्धना रहस्यपूर्णा स्थिति से अनुप्राणिता दशमहविद्याओं का 'विद्यात्रयी' के माध्यम-से संकलन प्रयास, तथा परिलेख के माध्यम से वस्तुस्थिति का पारि-भाषिक-समन्वय—

पूर्व में महाकाली, तारा, षोडशी, इन तीन महाविद्याओं का दिग्दर्शन कराया गया है। प्रकृत में भुवनेश्वरी का दो शब्दों में विश्लेषण करना है शेष रह जाती हैं-छिन्नमस्ता, भैरवी, धूमावती, बल्गामुखी,

मातङ्गी, कमला, ये ६ महाविद्याएँ। ये ६ ओं महाविद्या-विवर्त्त भुवनेश्वरी में अन्तर्भूत हैं। तारा, षोडशी, दोनों का एक विवर्त्त है, महाकाली का एक स्वतन्त्र विवर्त्त है। इसप्रकार 'महाकाली', तारागर्भिता 'षोडशी', छिन्नमस्तादि षड्विद्यागर्भिता भुवनेश्वरी, ये तीन प्रधान विवर्त्त होजाते हैं। इन तीनों विवर्त्तों को हम उक्त नैगमिक-विद्यात्रयी के साथ समतुलित मान सकते हैं। महाकालीरूपा विद्या स्वयम्भुमूला सृष्टिविद्या है, षोडशीविद्या सूर्य्यमूला सृष्टिविद्या है, एवं भुवनेश्वरीविद्या पृथिवीमूलासृष्टिविद्या है, तीनों ही पूर्ण विद्याएँ हैं। क्योंकि तीनों से ही सम्पूर्ण विश्वविद्या संगृहीत होजाती है। महामायात्मिका महाकाली का उपक्रम स्वयम्भू है, अवसानस्थान पृथिवी है। योगमायात्मिका षोडशी का उपक्रम सूर्य्य है, अवसान परमधामात्मक स्वयम्भू, तथा अवमधामात्मिका पृथिवी है। योगमायात्मिका भुवनेश्वरी का उपक्रमस्थान पृथिवी है, अवसानस्थान स्वयम्भू है। इस समन्वयात्मक दृष्टिकोण को लक्ष्य बनाकर ही भुवनेश्वरी के ध्यान की मीमांसा करनी चाहिए।

१-महाकाली — स्वतन्त्रा महाकाली (१)-सृष्टिमूला विश्वविद्या (स्वयम्भु-शिरोमूला-ब्रह्मानुगता)

२-तारा
३-षोडशी — तारागर्भिता षोडशी (२)-स्थितिमूला विश्वविद्या (सूर्य्यमूला-हृन्मूला-विष्ण्वनुगता)

४-भुवनेश्वरी
५-छिन्नमस्ता
६-भैरवी
७-धूमावती
८-वल्गामुखी
९-मातङ्गी
१०-कमला — छिन्नमस्तादि-गर्भिता भुवनेश्वरी (३)-लयमूला विश्वविद्या (पृथिविमूला-पादमूला-शिवानुगता)

३६३-महाकाली की अभिव्यक्ति से अभिव्यक्त महाब्रह्माण्डात्मक-अण्डात्मक-(दीर्घ-वृत्तात्मक) छन्दोरूप का प्रादुर्भाव, तद्गर्भ में ताराखरूपेण महदक्षरतत्त्व की अभि-व्यक्ति, तारास्वरूप की षोडशी-स्वरूप में परिणति, विद्यात्रयी से अनुप्राणिता ऊर्ध्वभावनिबन्धना विश्वपर्वत्रयी की अव्यक्तरूपता का पारिभाषिक-समन्वय, एवं मूर्त्तरूपविकासोपक्रमभूता षोडशीमहाविद्या का संस्मरण—

महाकाली के विकास से महाब्रह्माण्ड का अण्डात्मक छन्दोरूप प्रादुर्भूत हुआ । इस के गर्भ में तारारूपेण महदक्षरतत्त्व विकसित हुआ, यही तारा नाम की महाविद्या कहलाई । महदक्षररूपिणी तारा ही आगे जाकर षोडशीचितिभावों की स्वरूपसम्पादिका बनती हुई 'षोडशी' नाम की महाविद्या कहलाई । षोडशकल पञ्चकृत्रशिव, षोडशकलोपेता षोडशीमहाविद्या, इस प्रकृतिविशिष्ट षोडशीपुरुष की स्वरूप-निष्पत्ति के अनन्तर क्या हुआ ?, भुवनेश्वरी महाविद्या इसी प्रश्न का पादमूला सृष्टिविद्या की अपेक्षा से समाधान कर रही है । स्वयम्भू-परमेष्ठ्यादि व्यक्त विश्वपर्वों के अव्यक्त-अमूर्त्त रूपों को लक्ष्य बनाकर ही षोडशी महाविद्या को सूर्य्यात्मिका बतलाया गया है । तात्पर्य्य यही है कि, हमनें महाकाली-स्वरूप से आरम्भ कर षोडशी स्वरूप पर्य्यन्त जिन स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्यादि विश्वपर्वों का विश्लेषण किया है, उस सब का अमूर्त्त-अव्यक्त भाव से ही सम्बन्ध समझना चाहिए । षोडशी पर्य्यन्त षोडशी के क्षर भाग से इन पाँचों विश्वपर्वों के अमूर्त्त भावों का उदय अवश्य होजाता है । परन्तु अद्यावधि उनके मूर्त्तरूपों का विकास नहीं हुआ है । मूर्त्तरूपविकास का उपक्रम एकमात्र षोडशीमहाविद्या ही बनती है, यही निष्कर्ष है ।

३६४-'षोडशी' महाविद्या-शक्ति से अभिन्न षोडशी-प्रजापति (शक्तिमान्) के काम-तपः-श्रम से अभिव्यक्त मर्त्यविकार-क्षरात्मक-विश्वसृजों का संस्मरण, तत्प-ञ्चीकरण-निबन्धन-पञ्च-पञ्चजन, तत्पञ्चीकरणात्मक-सर्वहुतयज्ञमूलक-पञ्च-पुरञ्जन, एवं षोडशीप्रजापति की 'भुवनसृष्टि' का रहस्यात्मक-स्वरूप-दिग-दर्शन—

षोडशी से युक्त षोडशीपुरुषप्रजापति की कामना-तपः-श्रम से इसी के मर्त्य ब्रह्मादिरूप, अतएव विपरिणामीरूप पाँच आत्मक्षरों से सर्वप्रथम प्राणादि पञ्च विकारक्षरों का (विश्वसृजों का), इन के पञ्चीकरण से पञ्चात्मक पञ्च पञ्चजनों का, इन के पञ्चीकरणरूप सर्वहुतयज्ञ से वेदादि पाँच पुरञ्जनों का विकास होता है । यहाँ आकर इन पुरञ्जनों से क्रमशः स्वयम्भू आदि पाँचों व्यक्त-मूर्त्त-भूतात्मक विश्वपुरों का जन्म होता है । यही षोडशीप्रजापति की भुवनसृष्टि कहलाई है, जिस का उपक्रम पृथिवी है, उपसंहार सत्यलोकात्मक स्वयम्भू है । जो पञ्चभुवन त्रैलोक्य-त्रिलोकी-विज्ञानानुसार भूः-भुवः-जगत्-स्वः-महः-तपः-सत्यम्, भेद से सप्तविवर्त्त भावों में परिणत माने गए हैं ।

३६५-सुप्रसिद्ध नवविध भुवनों का संस्मरण, संयती क्रन्दसी-रोदशी-भावनिबन्धन लोकत्रयात्मक त्रैलोक्यों का दिग्दर्शन, भूः-भुवः-स्व-नामकी त्रिविध-महाव्याहृतियों के माध्यम से पितृत्रयी, मातृत्रयी,-एवं अन्तरिक्षत्रयी की अभिव्यक्ति पारिभाषिक समन्वय-प्रयास, तथा ऋङ्मन्त्रश्रुति के द्वारा, और परिलेख-के माध्यम से 'भुवनेश्वरी' महाविद्या के 'सप्तभुवनों' के पारिभाषिक-स्वरूप का स्पष्टीकरण--

भुवन वस्तुतः ६ है। ३ भुवन संयती से, ३ ही क्रन्दसी से, एवं ३ ही रोदसी से सम्बन्ध रखते हैं। तीनों त्रिलोकियो में भूः-भुवः-स्वः, इन तीनों का उपभोग होरहा है, जैसाकि पूर्वपरिच्छेदों में विस्तार से बतलाया जाचुका है। भूः सर्वत्र पृथिवी नाम से, माता नाम से, स्वः-सर्वत्र द्यौ नाम से, पिता नाम से प्रसिद्ध हैं। तीन त्रैलोक्य, अतएव तीन ही माता (पृथिवी), तीन ही पिता [द्यौः] होजाते हैं। इसप्रकार नवलोकात्मक भुवन में तीन अम्बा तीन अम्बको की सत्ता सिद्ध होजाती है, जैसाकि निम्नलिखित मन्त्रवर्णन, और परिलेख से स्पष्ट होजाता है—

१-त्रिस्रो द्यावा निहिता अन्तरस्मिन्, त्रिस्रो भूमीरुपराः षड्विधानाः।
गृत्सो राजा वरुणश्चक्र एतं दिवि प्रेङ्खं * हिरण्मयं शुभे कम्॥

ऋक्सं० ७।८७।५।

२-तिस्रो × भूमीर्धारयन् त्रीरुत द्यून् त्रीणि व्रता विदथे अन्तरेषाम्।
ऋतेनादित्या महि वो महित्वं तदर्यमन्वरुण मित्र चारु॥

ऋक्सं० २।२७.८।

३-तिस्रो मातृस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमवग्लापयन्ति।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदं वाचमविश्वमिन्वाम्॥

—ऋक्संहिता १०।१।६४।१०।

---

*-एवंविध विश्वात्मक भुवन का झूला (प्रेङ्ख) हिरण्मय सूर्य्य ही है, जो आकाश में इतस्ततः-दोलायमान है, जिस पर यज्ञियदेवता प्रतिष्ठित हैं।

×-तीन भूमि, तीन द्यौ, तीन ही व्रत अन्नसोमात्मक अन्तरिक्ष, सम्भूय विश्व ६ पर्वात्मक है। दसवां इन सब का आधारभूत वह विश्वातीत है, जिस के लिए-'बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमवग्लापयन्ति' कहा गया है। इस दृष्टि से भी निगमानुगता विश्वविद्या १० भागों में ही विभक्त होरही है। इस दृष्टि से भी आगमानुगता दश-महाविद्याओं का यथानुरूप समन्वय किया जासकता है।

संयती ब्रह्मत्रिलोकी
(१) स्वः (१) ....(६) सत्यम्...स्वयम्भूः (५)
(२) भुवः (२) ....(६) तपः....*सूत्रम्
} आकाशः (५)

(३) भूः (३
(१) स्वः (४) ....(५) जनत्...परमेष्ठी (४)
(२) भुवः (५)............(४) महः * शिवः
} वायुः (४)

क्रन्दसी विष्णुत्रिलोकी
(३) भूः (६) ( ) स्वः (७) ....(३) स्वः....सूर्य्यः (३) } तेजः (३)
(२) भुवः (८) ....(२) भुवः चन्द्रमाः (२) } जलम् (२)
रोदसी रुद्रत्रिलोकी
(३) भूः (९)....(१) भूः पृथिवी (१) } पृथिवी (१)

३६६–प्रथमा–द्वितीया–तृतीया-भेदेन मातृत्रयी का, एवं प्रथम–द्वितीय–तृतीय–भेदेन पितृत्रयी का स्वरूप–समन्वय, नवविध–खण्डभावानुगत-व्यष्ट्यात्मक–भुवन, एवं दशम-विश्वातीत-परात्परपुरुषरूप महाकाल, और तन्महाशक्ति--महाविद्या-महाकाली-का पावन-संस्मरण—

रोदसी–त्रिलोकी का पृथिवीरूप भूपृष्ठ प्रथमा माता है । जो रोदसी का स्वर्लोक (सूर्य्य) है, वही क्रन्दसी-त्रैलोक्य का भूलोक है । यही दूसरा भूलोक द्वितीया माता है । जो क्रन्दसी का स्वर्लोक है, वही संयती-त्रैलोक्य का भूलोक है । यही तीसरा भूलोक तृतीया माता है । एवमेव रोदसी का सूर्य्यरूप स्वर्लोक प्रथम पिता है । क्रन्दसी का परमेष्ठीरूप स्वर्लोक द्वितीय पिता है । संयती का स्वयम्भूरूप स्वर्लोक तृतीय पिता है । इसप्रकार सप्तभुवनात्मक विश्व में तीन माता, तीन पिताओं की सत्ता सिद्ध होजाती है । साथ ही तीन अन्तरिक्षों की भी। इसप्रकार विश्वभुवन (सर्वभुवन) नौ भागों में विभक्त होजाते हैं । १० वाँ वह विश्वातीत तत्त्व है, जो इन सबों मूलरूपों का मूलाधार है । वही आगमशास्त्रानुगता महाकाली है, जो विश्वात्मिका सोपाधिकी ९ महाविद्याओं की मूलाधार मानी गई है ।

३६७–षोडशीपुरुष से अभिन्ना षोडशी-महाविद्या के द्वारा--पञ्चाक्षरकलामाध्यम से नवलोकात्मक-सप्तभुवनात्मक-व्यक्त-मूर्त्त-विश्व का प्रादुर्भाव, तद्गर्भे तत्प्रवेश का रहस्यात्मक-दिग्दर्शन, एवं तद्गर्भावच्छिन्ना विश्वभुवनाधिष्ठात्री महाविद्या 'भुवनेश्वरी' का, तथा तदभिन्न-'भुवनेश्वर' का पावन-संस्मरण, और आगम–शास्त्रानुबन्धी 'त्र्यम्बक' का यशोवर्णन—

निवेदन इस नैगमिक स्थिति से यही करना है कि, षोडशीपुरुष से अभिन्ना षोडशी महाविद्या के द्वारा इसी की पञ्चाक्षरकलाओं से पूर्व कथनानुसार नवलोकात्मक, सप्तभुव–

नात्मक व्यक्त-मूर्त्त-विश्व का प्रादुर्भाव हुआ है । 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' निगमानुसार यही षोडशी-माता इस भुवन को उत्पन्न कर इस के गर्भ में प्रविष्ट होजाती है । विश्वभुवनाधिष्ठात्री, पृथिवी से स्वयम्भू पर्य्यन्त, किंवा भूरूप प्रथमभुवन से सत्यरूप सप्तम भुवन पर्य्यन्त आधाररूपेण व्याप्ता यही महाविद्या 'भुवनेश्वरी', किंवा 'भुवनेशी' कहलाई है । यह स्वयं जहाँ भुवनेशी है, वहाँ इस में अभिन्न विश्वप्रविष्ट षोडशीपुरुष 'भुवनेश्वर' किंवा 'भुवननेश' हैं । भुवनेशी प्रकृति से अभिन्न भुवनेशपुरुष ही आगमशास्त्र में 'त्र्यम्बक' नाम से प्रसिद्ध हुए हैं ।

३९८-सुप्रसिद्ध संयती-क्रन्दसी-रोदसी-नामक त्रैलोक्यों के अतिष्ठावा (अधिष्ठाता) विभिन्न त्रिविध प्राणदेवताओं का नाम-संस्मरण, तदनुगत 'तीन-अम्बक', तीन अम्बकों के अम्बकरूप 'त्र्यम्बक' की अन्वर्थता का पारिभाषिक-समन्वय, एवं तत्सम्बन्ध में यजुर्म्मन्त्र का दिग्दर्शन—

पूर्वोक्त तीनों त्रैलोक्यों में जिन पितृरूप तीन द्युलोकों का दिग्दर्शन कराया गया है, उन तीनों के अतिष्ठावा क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, माने गए हैं । स्वयम्भूमूला संयती-त्रिलोकी ब्राह्मी-त्रिलोकी है, परमेष्ठीमूला क्रन्दसी-त्रिलोकी वैष्णवी-त्रिलोकी है, सूर्य्यमूला रोदसी त्रिलोकी रौद्री त्रिलोकी हैं । तीनों स्थानों में क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, तीन अम्बक (पिता-द्युलोकाधिष्ठाता-तदभिन्न) प्रतिष्ठित हैं । भुवनेशप्रजापति इस छोर उस छोर पर्य्यन्त अविच्छिन्नरूप से व्याप्त रहते हुए द्युरूप इन तीनों अम्बकों के भी अम्बक बन रहे हैं, अतएव इन्हें 'त्र्यम्बक' कहना अन्वर्थ बनता है, जैसा कि निम्न लिखित निगमवचन से भी प्रमाणित है —

*-त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्द्धनम् ।
उर्व्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ॥

ऋक्सं० ७।५९।१२।

३९९-लक्षीभूत यजुर्म्मन्त्र के रहस्यार्थ का संस्मरण-प्रयास, पारिभाषिक-'यजामहे' से अनुप्राणिता त्रैलोक्यव्यापक-अग्नित्रयमूर्त्ति-एकादशविभूति-समन्वित-रुद्रदेवता का पावन-संस्मरण, तद्रूप-त्र्यम्बक, तथा- 'सुगन्धिम्'-'पुष्टिवर्द्धनम्' विशेषणों का रहस्यात्मक-निर्वचनार्थ-समन्वय-प्रयास—

मन्त्रवर्णन को लक्ष्य बनाइए । कहा गया है कि, छिन्नमस्तादि षट्महाविद्यागर्भिता भुवनेश्वरी के द्वारा पादमूला पृथिव्यनुगता सृष्टिविद्या का विश्लेषण हुआ है । उक्त ऋङ्मन्त्र हमारे इसी दृष्टिकोण का सर्वात्मना समर्थन कर रहा है । पहिले 'यजामहे' पद को ही लीजिए । श्रुति ने 'उपास्महे' न कह कर 'यजामहे' कहा है । यजन यज्ञकर्म्म का सूचक है । पार्थिव त्रिवृदग्नि, पञ्चदशाग्नि, सप्तदश अग्नि ही क्रमशः गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, आहवनीय हैं । इन्हीं त्रेताग्नियों के आधार पर ही देवयजनरूप यज्ञकर्म्म प्रतिष्ठित है । इन्हीं तीनों

*-"त्रयाणां (अम्बकानां) ब्रह्मविष्णुरुद्राणामम्बकः पिता" इति तत्र सायणाचार्य्या आहुः ।

अग्नियों के आधार पर एकादश विध रुद्रतत्त्व का विकास हुआ है। भूपिण्डावच्छिन्न मर्त्याग्नि पुराणगार्हपत्य है। त्रिवृदवच्छिन्न घनावस्थापन्न अग्नि नूतनगार्हपत्य है। पञ्चदशोऽवच्छिन्न आन्तरिक्ष्य तरलाग्नि अष्टविध सप्तदशस्थ दिव्याग्नि आहवनीयाग्नि है। इसप्रकार १-१-८-१-क्रम से पार्थिव रुद्राग्नि के ११ विवर्त्त होजाते हैं, जि : के आधार पर यथायावत् यज्ञनकर्म्म प्रतिष्ठित हैं। स्पष्ट ही 'यजामहे' क्रियापद त्र्यम्बकपुरुष का पृथिवीमूलत्व सिद्ध कर रहा है। 'गन्धवत्त्वं पृथिव्या लक्षणम्' सिद्धान्त सार्वजनीन है। इसी लिए पार्थिव त्र्यम्बक के लिए 'सुगन्धिम्' कहना अन्वर्थ बनता है। पार्थिव वह प्राण, जिस के आधार पर भूतभाग पोषण प्राप्त करता है-'पूषा' कहलाया है। इसीलिए पृथिवी को भी 'पूषा' मान लिया गया है, जैसा कि- 'इयं वै पूषा' इत्यादि वचन से प्रमाणित है। 'पुष्टिर्वै पूषा' (तै० ब्रा० २।७।२।१।) इत्याद्यनुसार पार्थिव पूषा-प्राण ही पुष्टि का प्रवर्त्तक है। फलतः 'पुष्टिवर्द्धनम्' विशेषण भी त्र्यम्बक के पार्थिवोपक्रम का ही समर्थक बन रहा है।

४००-मृत्युप्रधान लोक, तथा अमृतप्रधानलोकों के अधिष्ठाता रुद्र-शिव-मूर्त्ति त्र्यम्बक के-'उर्वारुकमिव' भाव का रहस्यात्मक-पारिभाषिक-समन्वय, वटवृक्ष-के 'उर्वारुक' नामक फलों का संस्मरण, स्वायम्भुव उदुम्बर-वृक्षानुगत ब्रह्मा, पारमेष्ठ्य अश्वत्थवृक्षानुगत विष्णु, एवं पार्थिव वटवृक्षानुगत शिव का स्वरूप-दिग्दर्शन, और यजुर्म्मन्त्र की त्र्यम्बक-वर्णनपरता का पारिभाषिक स्पष्टीकरण-प्रयास—

'तस्मादन् किञ्चार्वाचीनमादित्यात्-सर्वं तन्मृत्युनाप्तम्' (शतपथब्राह्मणे) सिद्धान्तानुसार सूर्य्य से नीचे पृथिवी और चन्द्रमा में मृत्युतत्त्व का प्राधान्य है। पृथिव्युपक्रम-स्थानीय-त्र्यम्बक शिव अवश्य ही ऊर्ध्वानुगत अमृत की भांति इस पार्थिव मृत्युतत्त्व के भी अध्यक्ष बन रहे हैं। वटवृक्ष के फल (गूलर) ही 'उर्वारुक' (ककड़ी) कहलाए हैं। जिसप्रकार ब्रह्मा स्वायम्भुव उदुम्बर वृक्ष के, विष्णु पारमेष्ठ्य अश्वत्थ वृक्ष के अनुगामी माने गए हैं, एवमेव शिव पार्थिव-वटवृक्ष के अनुगामी माने गए हैं, जैसाकि, पूर्वप्रकरण में विस्तार से बतलाया जाचुका है। फलतः 'उर्वारुक' शब्द भी उक्त सिद्धान्त का ही समर्थन कर रहा है। उर्वारुक फल बिना छेदनादि के वटवृक्ष से गिरते रहते हैं। त्र्यम्बक से प्रार्थना की जारही है कि, जैसे उर्वारुक फल मृत्युबन्धन से विमुक्त होते रहते हैं, वैसे ही आप मेरे मृत्युभाव का ही निराकरण करें, अपने मृत्युरूप से आप मेरी अमृतसम्पत्ति का अपहरण न करें। पृथिव्यनुगत पार्थिव रुद्र का समर्थन स्वयं त्र्यम्बक शब्द से भी प्राप्त होरहा है। अम्बक नाम नेत्र का भी है। सूर्य्य, चन्द्रमा, अग्नि, तीन नेत्रों (ज्योतिर्भावों) के सम्बन्ध से भी इन्हें * त्र्यम्बक कहना अन्वर्थ बनता है। इसप्रकार सम्पूर्ण मन्त्रवर्णन त्र्यम्बक शिव का पृथिव्युपक्रमत्त्व ही सिद्ध कर रहा है।

---

*-त्रीणि, चन्द्रसूर्य्याग्निरूपाणि अम्बकानि नेत्राणि यस्य सः।

४०१–सूर्य्य-चन्द्र-अग्नि-भेदेन नेत्रत्रयात्मक 'त्र्यम्बक' की महाशक्ति 'रुद्राणी' का 'भैरवी' रूपेण पावन-संस्मरण, षोडशीपुरुष-निबन्धन विश्वविशिष्ट स्वरूप 'अम्बक' का भुवनेश्वरत्व, अव्ययात्मिका ज्ञानज्योति--अक्षरात्मिका--क्रियाज्योति, क्षरात्मिका अर्थज्योति (भूतज्योति) के भेद से नेत्रत्रयरूपता का समन्वय, एवं संहिता, तथा उपनिषन्मन्त्रों के द्वारा भवनेश्वरी से युक्त-भुवनविशिष्ट-त्रिज्योति-र्म्मय-षोडशी के पावन-स्वरूप का नैदानिक-समन्वय-प्रयास—

सूर्य्यादिनेत्रयात्मक 'त्र्यम्बक' की शक्ति रुद्राणी है, जिसका 'भैरवी' रूप से आगे के विवर्तों में विश्लेषण होनेवाला है। एवं ब्रह्मा-विष्णु-रुद्राम्बकों के अम्बकरूप विश्वभुवनप्रविष्ट त्र्यम्बक की शक्ति भुवनेश्वरी है। षोडशीपुरुष का विश्वविशिष्टरूप ही अम्बक भुवनेश्वर है। अव्ययात्मिका ज्ञानज्योति, अक्षरात्मिका क्रियाज्योति, क्षरात्मिका अर्थज्योतिरूप नेत्रत्रयसम्बन्ध से भी इसे त्र्यम्बक कहना अन्वर्थ बनता है, एवं ब्रह्मादिअम्बकत्रयी के अम्बक होने से भी। विश्वोपहित वही पुरुष षोडशी है, वही पञ्चवक्त्रशिव है। तदनुगता-शक्ति षोडशी है। विश्वविशिष्ट-विश्वप्रविष्ट वही पुरुष भुवनेश्वर है, यही त्र्यम्बक शिव है। तदनुगता महाविद्या भुवनेश्वरी है। भुवनेश्वरीयुक्त भुवनाविष्ट त्रिज्योतिर्म्मय षोडशी के इसी भुवनेश्वररूप का निम्नलिखित मन्त्र से विश्लेषण हुआ है—

यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी॥

—यजुः सं० ८।३६।

त्रीणि पदा निहिता गुहासु यस्तद्वेद स पितुः पितासत्।
स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा॥

—नारायणोपनिषत्।

४०२–भूरात्मक-प्रथम-भुवन से उपक्रान्ता, तथा स्वयम्भूरूप-सत्यात्मक-अन्तिम-भुवन-पर्य्यन्त व्याप्ता सर्व-भुवनानुगता पृथिवी-मूला सृष्टिविद्या का-'भुवनेश्वरीत्व'-प्रतिपादन, एवं तत्सम्बन्ध में प्रमाणभूत निगमवचन का संस्मरण—

स्पष्ट है कि, पृथिवीरूप भूरात्मक प्रथम भुवन से आरम्भ कर स्वयम्भूरूप सत्यात्मक अन्तिम भुवन पर्य्यन्त व्याप्ता सर्वभुवनानुगता पृथिवीमूला सृष्टिविद्या ही भुवनेश्वरी है। उक्त विवेचन से यद्यपि इस दृष्टिकोण का समर्थन होजाता है, तथापि आग्रहवादियों के आग्रह को आत्यन्तिकरूप से निर्मूल करने के लिए उनका ध्यान निम्नलिखित मन्त्र की ओर और आकर्षित कर लिया जाता है—

वाजस्य नु प्रसवे मातरम्महीमदितिं नाम वचसा करामहे।
यस्यामिदं विश्वं भुवनमाविवेश तस्या वो देवः सविता धर्म्म साविषत्॥

—यजुःसं० ९।५।

४०३–जगन्माता-भुवनेश्वरी (चतुर्थी महाविद्या) के आगमशास्त्रनिबन्धन ध्यानमन्त्र का पावन-संस्मरण, 'इन्दुकिरीटाम्'-'वरदाम्'-'स्मेरमुखीम्'-आदि नैदानिक-भावों के पारिभाषिक स्वरूप का रहस्यात्मक-समन्वय-प्रयास, तथा चतुर्थी-महाविद्या-भुवनेश्वरी के पावनतम स्वरूप के इतिवृत्त का उपराम—

निम्नलिखित रूप से जगन्माता इसी भुवनेश्वरी के नैदानिक ध्यान का विश्लेषण हुआ है—

उद्यद्दिनद्युतिमिन्दुकिरीटां तुङ्गकुचां नयनत्रययुक्ताम् ।
स्मेरमुखीं वरदाङ्कुशपाशाभीतिकरां प्रभजे भुवनेशीम् ॥

—शाक्तप्रमोद–भुवनेश्वरीतन्त्र

सर्वहुतयज्ञ ही भुवनविकास का अन्यतम कारण माना गया है। आहुतिग्राहक अग्नि नाम से, आहुतिद्रव्य सोम नाम से प्रसिद्ध है, यही सामान्य परिभाषा है। बिना यज्ञ के भुवनस्वरूप-निष्पत्ति असम्भव थी, बिना भुवन के भुवनेश्वरी उन्मुग्धा थी। शिरःस्थानीया सोमाहुति से ही भुवनोत्पत्ति हुई है, इसीसे षोडशी का भुवनेश्वरी रूप में विकास हुआ है। 'इन्दुकिरीटाम्' इस सोमाहुतिरूपा यज्ञशक्ति का निदान है। नेत्रत्रयानुगत निदानभाव पूर्व से गतार्थ है। सम्पूर्ण प्रजा का भरण पोषण भुवनेश्वरी के द्वारा ही होरहा है। 'वरदाम्' इसी पालनशक्ति का निदान है। जो भुवन किसी समय प्रलयगर्भ में विलीन थे, वे ही इस महाशक्ति के अनुग्रह से आज व्यक्तरूपेण विकसित हैं। 'स्मेरमुखीम्' भाव इसी विश्वविकास का निदान है। आयुधानुगत निदान पूर्वोक्त निदानभावों से गतार्थ है !

इति–'भुवनेश्वरी'–स्वरूप–दिग्दर्शनम्

४

५–कवन्धशिव, एवं उसकी महाविद्या छिन्नमस्ता

(पञ्चमो महाविद्या)

४०४–निगमानुगता–सुप्रसिद्धा–'प्रवर्ग्यविद्या' की स्वरूप–विश्लेषिका 'छिन्नमस्ता' रूपा पञ्चमी–विद्या का पावन–संस्मरण, 'पाङ्क्तो वै यज्ञः' मूलक–पाकयज्ञ–हविर्यज्ञ–महायज्ञ–अतियज्ञ–शिरोयज्ञ–नामक पञ्चावयव यज्ञ का पारिभाषिक स्वरूप–समन्वय, अहोरात्रानुगत अग्निहोत्र, शुक्ल–कृष्ण–पक्षानुगता दर्शपौर्णमास, ऋत्वनुगत–चातुर्म्मास्य, अयनानुगत–पशुबन्ध, आदि यज्ञों की पारिभाषिकी हविर्यज्ञरूपता, पञ्चविध–महायज्ञों का संस्मरण, अतियज्ञों का नामदिग्दर्शन, एवं मेधयज्ञों का अतियज्ञविधा में अन्तर्भाव —

निगमानुगता सुप्रसिद्धा प्रवर्ग्यविद्या का ही प्रस्तुत महाविद्या के द्वारा विश्लेषण हुआ है। त्र्यम्बकानुगता भुवनेश्वरी के द्वारा सप्तभुवन, एवं दद्रूपा भूतप्रजा का स्वरूप-निर्माण तो होगया। परन्तु अभी इस उत्पन्न-

भुवन, एवं तत्र प्रतिष्ठित भूतप्रजा की स्वरूप-रक्षा की कोई व्यवस्था नहीं हुई। छिन्नमस्ता इसी व्यवस्था का विश्लेषण कर रही है। आगमानुगत स्वरूप विश्लेषण से पहिले दो शब्दों में इसके नैगमिक स्वरूप की भी मीमांसा करलेनी चाहिए। 'पाङ्क्तो वै यज्ञः' श्रुति के अनुसार निगमानुगता यज्ञविद्या पाकयज्ञ, हविर्यज्ञ, महायज्ञ, अतियज्ञ, शिरोयज्ञ, भेद से पांच मार्गों में विभक्त मानी गई हैं। यथायातम् स्मार्त गृह्ययज्ञ पाकयज्ञ हैं, यही एकाग्नियज्ञ भी कहलाया है। अहोरात्रानुगत अग्निहोत्र, कृष्ण-शुक्लपक्षानुगत दर्श-पूर्णमास, ऋत्वनुगत चातुर्मास्य, अयनानुगत पशुबन्ध, इत्यादि यज्ञ इष्टिरूप से समन्वेन-हविर्यज्ञ है। भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ (अतिथियज्ञ), पितृयज्ञ (श्राद्ध), देवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ (स्वाध्याय), ये पांच महायज्ञ हैं। गवामयनात्मक महायाग (सम्वत्सरयाग) भी महायज्ञविधा में ही अन्तर्भूत है। ब्राह्मणानुगत अग्निचयन, क्षत्रियानुगत राजसूय, ब्रा० वाजपेय, क्ष० अश्वमेध, चारों अतियज्ञ हैं। गोमेध, नरमेधादि अन्य मेधयज्ञों का भी इसी अतियज्ञविधा में अन्तर्भाव है।

४०५–'छिन्नशीर्षो वै यज्ञः' इत्यादि निगममूलक छिन्नशीर्ष–नामक यज्ञ का संस्मरण, मस्तकविच्छिन्नयज्ञ, 'घृङ् हुङ्' शब्दध्वनि के माध्यम से मूषकराज के द्वारा यज्ञविष्णु का शिरश्छेद, सम्राड्याग प्रवर्ग्ययाग–घर्म्मयाग–महावीरोपासना–भैषज्ययज्ञ, अहर्यज्ञ, इत्यादि विविध अभिधाओं से समन्वित छिन्नशीर्षयज्ञ का पारिभाषिक–स्वरूप–समन्वय, एवं–'चत्वारि शृङ्गा०' इत्यादि मन्त्रश्रुति–मूलक–अग्नीषोमक–गायत्रीमात्रिक–वेदावच्छिन्न–सौरयज्ञ का स्वरूप–समन्वय–प्रयास—

'छिन्नशीर्षो वै यज्ञः' इत्यादि श्रौतसिद्धान्तानुसार उक्त चारों ही यज्ञ छिन्नशीर्ष हैं। इनका मस्तक भाग कटा हुआ है। सुप्रसिद्ध पौराणिक उस हयग्रीवोपाख्यान का, जिसमें गणपतिवाहन मूषकराज की अन्यथा दन्तशक्ति के अनुग्रह से उपधानीकृत धनुःप्रत्यञ्चा के 'घृङ् हुङ्' शब्द करते हुए टूट जाने से शयान विष्णु के शिरश्छेद का विश्लेषण हुआ है–इसी छिन्नशीर्ष से सम्बन्ध है। यही 'शिरोयाग' कहलाता है। यह यज्ञ ब्राह्मणग्रन्थों में सम्राड्याग, प्रवर्ग्ययाग, घर्म्मयाग, महावीरोपासना, भैषज्ययज्ञ, अहर्यज्ञ' इत्यादि विविध नामों से व्यवहृत हुआ है। उदाहरण के लिए–ईश्वरीय अग्निहोत्रात्मक सूर्य्ययज्ञ को ही लक्ष्य बनाइए। 'सूर्य्यो ह वा अग्निहोत्रम्' 'सूर्य्यो वा ज्योतिष्टोमः–गोष्टोमः–आयुष्टोमः' इत्यादि निगमश्रुतियों के अनुसार ब्रह्मणस्पति नामक पारमेष्ठ्य सोम, एवं सौर सावित्राग्नि, दोनों के समन्वय से 'अग्नौ सोमाहुतिर्यज्ञः' इस यज्ञलक्षण को चरितार्थ करता हुआ अग्नीषोमात्मक सूर्य यज्ञरूप है। निम्न लिखित श्रुति गायत्रीमात्रिक-वेदावच्छिन्न इसी त्रयीमय सौर यज्ञ का स्वरूप स्पष्ट कर रही है—

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्याँ आविवेश॥
—गो० ब्रा० ३।७

४०६-'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि०' इत्यादि अनुगम मन्त्र के अनुगमात्मक अनेक अर्थों में से एकार्थ का दिग्दर्शन, मन्त्रोपात्त यज्ञावयवों में से प्रधानरूपेण लक्ष्यीभूत 'ब्रह्मौदन', तथा 'प्रवर्ग्य' नामक शिरःस्थानीय दो प्रसिद्ध-यज्ञावयवों का संस्मरण, और ब्रह्मौदन, तथा प्रवर्ग्य-शब्दों के पारिभाषिक-नैगमिक-निर्वचनात्मक अर्थों का समन्वय-प्रयास—

ऋक्-यजुः-साम-अथर्व, चार वेद उसके चार शृङ्ग (सींग) हैं। प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन, सायंसवन, तीन उसके पाद हैं। ब्रह्मौदन, प्रवर्ग्य, नामक दो मस्तक हैं। गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप्, जगती, ये सात छन्द उसके सात हाथ हैं। मन्त्र, कल्प, ब्राह्मण, इन तीनों से वह मर्य्यादित है। ऐसा वह यज्ञवृषभ हुङ्कार कर रहा है। यही महादेव मरणधर्म्मा प्राणियों का आत्मा बना हुआ है *। मन्त्रोपात्त इन यज्ञावयवों में से प्रकृत में ब्रह्मौदन, प्रवर्ग्य, रूप शिरः-स्थानीय दो भावों की ही ओर ही लक्ष्य अपेक्षित है। जिस वस्तु का आत्मा से अन्तर्य्याम सम्बन्ध रहता है, जिसकी सत्ता से आत्मा स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रहता है, वही वस्तुतत्त्व 'ब्रह्मौदन' (आत्मा का स्वरूपरक्षक आत्मान्न) कहलाया है। यह अन्न ब्रह्म (आत्मा) की अपनी प्रातिस्विक वस्तु है। कोई भी शक्ति इसे आत्मसीमा से पृथक् नहीं कर सकती।

४०७-आत्मरूप ब्रह्म से परित्यक्त वस्तुभाव की उच्छिष्टरूपता का दिग्दर्शन, सूर्य्यरूप ब्रह्म, और उस के प्रवर्ग्य का स्वरूप-परिचय, प्रवर्ग्यभूत-सौरताप से पार्थिव ओषधि-वनस्पति-स्थिर-चर-प्रजा-वर्गादि का स्वरूप-निर्म्माण, प्रवर्ग्यताप की 'घर्म्म' रूपता, 'घर्म्म' के निरुक्तानुबन्धी विकृत-स्वरूपों का दिग्दर्शन, एवं तापोपलक्षित यच्चयावत् प्रवर्ग्य-भागों का समन्वय-प्रयास—

जो वस्तु-तत्त्व आत्मसीमा से पृथक् होकर अन्य आत्मा का अन्न बन जाता है, वही 'प्रवर्ग्य' कहलाया है। आत्मपरित्यक्त यह प्रवर्ग्य ही विज्ञानभाषा में 'उच्छिष्ट' कहलाया है। सूर्य्य का जो ताप सूर्य्य-केन्द्र में बद्ध रहता हुआ सूर्य्यसीम' में भुक्त होकर सूर्य्य का स्वरूपरक्षक बना हुआ है, वह सूर्य्य का ब्रह्मौदन है। परन्तु जो ताप सौरमण्डल से पृथक् होकर ओषधि, वनस्पति, पशु, पक्षी, मनुष्यादि के स्वरूप-निर्म्माण में उपयुक्त होजाता है, वही ताप सूर्य्य का प्रवर्ग्य है। धूप में पानी रख दीजिए, गरम होजायगा। सूर्य्य अस्त होगया, पानी अब भी गरम है। सूर्य्य प्रवर्ग्यरूप से अपना ताप इस पानी में छोड़ जाता है। रात्रि है, परन्तु हवा गरम चल रही है। यह उसी सूर्य्यताप का प्रवर्ग्य भाग है, उच्छिष्ट भाग है, घर्म्मभाग है। 'घर्म्म' शब्द ही निरुक्त परिभाषानुसार 'घरम' बनता हुआ 'गरम' रूप में परिणत होरहा है। यह सौर ताप यच्चयावत् पदार्थों का उपलक्षण है।

---

*-मन्त्र का अनुगम भाव से सम्बन्ध है। अतएव इसके अनेक अर्थ माने गए हैं, जिनका अन्य निबन्धों में विश्लेषण हुआ है। मन्त्र ने शृङ्ग, पाद, हस्त, आदि निदानों के द्वारा अतीन्द्रिय तत्त्वों का ही संग्रह किया है। इसप्रकार मन्त्रवर्णन निगमशास्त्रानुगता निगमविद्या का सर्वात्मना समर्थक बना हुआ है।

४०८–स्वायम्भुव-पारमेष्ठ्य-सौर-चान्द्र-पार्थिव-आदि यच्चयावत् विश्वपर्वात्मक, विश्वपज्ञों में अभिव्याप्त ब्रह्मौदन, तथा प्रवर्ग्य का संस्मरण, ब्रह्मौदन-निबन्धन तत्पदार्थ-स्वरूपरक्षा का दिग्दर्शन, उच्छिष्टात्मक-प्रवर्ग्य-निबन्धना-तत्पदार्थ-विस्रंसन-भागपूर्त्ति का समन्वय, स्वायम्भुव प्रवर्ग्यभाग से परमेष्ठी का, तत्प्रवर्ग्यभाग से सूर्य्य का, सूर्य्य के ज्योति-गौं-आयु रूपों-के प्रवर्ग्यभागो से शेष मर्त्य-विश्व का स्वरूपोद्भव, एवं-'उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वम्' इत्यादि अथर्ववेदीय मन्त्रभाग का समन्वय-प्रयास, तथा वस्तुमात्र की यज्ञरूपता का दिग्दर्शन, और तदनुबन्धी-ब्रह्मौदनानुगत प्रवर्ग्य भाग की "छिन्नशीर्षता" का पारिभाषिक समन्वय-प्रयास—

स्वायम्भुव, पारमेष्ठ्य, सौर, चान्द्र, पार्थिव, सभी पदार्थों में ब्रह्मौदन-प्रवर्ग्य, दोनों भाव प्रतिष्ठित हैं। ब्रह्मौदन से तत्तत् पदार्थों की स्वरूप--रक्षा है, उच्छिष्ट के प्रदान से क्षतिपूर्ति है। यदि स्वयम्भू का ब्रह्मौदन रूप वाग्भाग प्रवर्ग्य नही बनता, तो परमेष्ठी की उत्पत्ति असम्भव भी। यदि परमेष्ठी का ब्रह्मौदनरूप आङ्गिरा प्रवर्ग्य नही बनता, तो सूर्य्योत्पत्ति असम्भव थी। यदि सौरतत्त्व सूर्य्य के ब्रह्मौदनरूप ज्योतिः, गौः, आयुर्भागों के प्रवर्ग्यरूप पार्थिव प्रजा को नही मिलते, तो इसका उद्भव असम्भव था। सम्पूर्ण विश्व, एवं विश्वप्रजा का स्वरूपनिर्म्माण इसी उच्छिष्टरूप प्रवर्ग्यभाव से हुआ है, जैसाकि-'उच्छिष्टात्-जज्ञिरे सर्वम्' (अथर्व-संहिता-''''') इत्यादि वचन से प्रमाणित है। प्रत्येक वस्तु यज्ञात्मक है। इन्द्राग्निसोम की समष्टि ही यज्ञ है, यही विष्णु है। ब्रह्मौदन, प्रवर्ग्य, दोनो इस यज्ञ के मस्तक हैं। इन दोनों मस्तकों में ब्रह्मौदनरूप शिरोभाग तो उसी यज्ञविष्णु से सम्बद्ध रहता है। परन्तु प्रवर्ग्यरूप शिरोभाग रुद्रात्मक गणपतिप्राण की प्रतिष्ठारूप मूषक--प्राणी का मुख्य आत्मा बनने वाले घनवायु के व्यापार से यज्ञविष्णु की सीमा से कट कर पृथक् होजाता है। अतएव इस प्रवर्ग्य को 'छिन्नशीर्ष' कहा जाता है।

४०९ प्रवर्ग्यरूप छिन्नशीर्ष के द्वारा भुवनेश्वरी से उत्पन्न विश्व, एवं विश्वप्रजाकी स्वरूप-रक्षा का दिग्दर्शन, सूर्य्य के द्वारा रोदसी त्रैलोक्य को, तथा तद्गर्भीभूता स्थिर-चर-प्रजा को सौर प्रवर्ग्याग्नि को 'उपलब्धि', एवं तद्रसाकर्षण के द्वारा स्वयं सूर्य्य की भी क्षतिपूर्त्ति का स्पष्टीकरण—

प्रवर्ग्यरूप छिन्नशीर्ष ही भुवनेश्वरी से उत्पन्न विश्व, तथा विश्वप्रजा की स्वरूपरक्षा का कारण बनता है। सभी पदार्थों में से निरन्तर रसमात्राओं का विस्रंसन होता रहता है। परन्तु साथ ही अन्य पदार्थों के विस्रस्त (प्रवर्ग्य) रूप से इस क्षति की पूर्त्ति भी होती रहती है। सूर्य्य के द्वारा रोदसी-त्रैलोक्य, एवं उसकी प्रजा को सौरप्रवर्ग्यान्न मिलता रहता है। साथ ही रश्मियों के द्वारा वह इनके प्रवर्ग्यभागों को लेकर अपनी भी क्षति-पूर्त्ति करता रहता है।

४१०-विसर्गक्रियानुबन्धिनी प्रजापतिशरीरानुगता सुप्रसिद्धा विस्रंसन-प्रक्रिया और आदानक्रियानुबन्धी क्षति-सन्धानभाव का दिग्दर्शन, एवं आदान-विसर्ग-सापेक्ष-भाव-निबन्धन सुप्रसिद्ध-'भैषज्ययज्ञ' का संस्मरण, यज्ञात्मक-वस्तुमात्र की परस्पर अपेक्षामूला आदान-विसर्गात्मिका-अन्न-अन्नाद-भावात्मिका स्वाभाविकी सृष्टि-स्वरूप-रक्षिणी प्रक्रिया, और तन्निबन्धन "भैषज्य-यज्ञ" का संस्मरण, तथा तद्रूप-'छिन्नशीर्षयज्ञ' के स्वरूप-प्रतिपादक-मन्त्रवर्णन का पावन-संस्मरण—

विसर्गक्रिया से निकलते रहने वाले जैसे उस प्रजापति का शरीर प्रतिक्षण विस्रस्त होता रहता है, एवमेव आदानक्रिया के द्वारा आनेवाले अन्य प्रवर्ग्यभागों से प्रतिक्षण उस विस्रस्त भाग का सन्धान भी होता रहता है। यही प्रक्रिया भैषज्ययज्ञ है। वह अपने प्रवर्ग्य भाग से यदि हमारा सन्धान कर रहा है, तो हमारे प्रवर्ग्य भाग से उसका सन्धान भी होरहा है। उसके प्रवर्ग्य को यदि हम खा रहे हैं, तो हमारे प्रवर्ग्यों को वह भी खारहा है। यदि हम उसके अन्न हैं, तो वह भी हमारा अन्न है। वह मुझे अपना प्रवर्ग्य देता है, साथ ही मेरा प्रवर्ग्य लेता भी है। अपने खाने वाले उसको मैं भी निरन्तर खाता रहता हूँ। वस्तुमात्र में प्रवर्ग्यादानविसर्गात्मक यह प्रवर्ग्ययज्ञ प्रतिष्ठित है। जबतक आदानविसर्गात्मक यह प्रवर्ग्ययज्ञ होता रहता है, तबतक विश्वस्वरूप बना रहता है। इसी छिन्नशीर्ष यज्ञ का दिग्दर्शन कराते हुए ऋषि कहते हैं—

* अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्य नाभ।
यो मा ददाति स इ देवमावत्, अहमन्नं-अन्नमदन्तमद्मि ॥

—श्रुतिः

४११-महाविद्या भुवनेश्वरी भगवती के द्वारा विनिर्मित प्रत्येक पदार्थ की यज्ञात्मकता, यज्ञात्मक प्रत्येक वस्तुतत्त्व की द्विशीर्षता, एवं प्रवर्ग्यानुबन्ध से प्रत्येक वस्तुतत्त्व की छिन्नशीर्षता का पारिभाषिक-रहस्यात्मक-समन्वय, तथा तन्निबन्धन सुप्रसिद्ध 'कबन्ध', और-छिन्नशीर्ष, भावों से अनुप्राणिता सापेक्षभावमूला पदार्थस्वरूप संरक्षिका-यज्ञप्रक्रियात्मिका सृष्टिप्रक्रिया का संस्मरण—

भुवनेश्वरी के द्वारा विनिर्मित प्रत्येक पदार्थ यज्ञात्मक है। प्रत्येक में ब्रह्मौदन, प्रवर्ग्य, दोनों भाग प्रतिष्ठित हैं। ब्रह्मौदनात्मक पदार्थ ही यज्ञ है। यह यज्ञपुरुष प्रवर्ग्यदृष्ट्या छिन्नमस्तक है। तात्पर्य-इससे इसका शिरोरूप प्रवर्ग्यभाग पृथक् होरहा है, होता रहता है। शिरोरूप प्रवर्ग्यभाग अन्य पदार्थ में मुक्त होकर अन्तर्याम-सम्बन्ध से प्रतिष्ठित होता हुआ उसका ब्रह्मौदन बन रहा है। ब्रह्मौदनरूप में परिणत इस पदार्थ-भुक्त प्रवर्ग्यात्मक छिन्नमस्तक में उस छिन्नशिरस्क, अतएव कबन्धरूप ब्रह्मौदन से यही क्रम आगे चलता रहता है। अन्य कबन्ध अन्य शिरों के स्वरूपरक्षक बने रहते हैं।

---

*—ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य-प्रथमखण्डान्तर्गत 'प्रवर्ग्यविद्या' नामक प्रकरण में इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन हुआ है।

४१२-छिन्नशिरस्क-नैगमिक यज्ञपुरुष की आगमशास्त्र-निबन्धना 'कबन्धशिवरूपता' का संस्मरण, कबन्धशिव की महाशक्ति-महाविद्या 'छिन्नमस्ता' भगवती का पावन संस्मरण, छिन्नमस्ता भगवती के द्वारा अन्नादन-प्रवर्ग्य-भावनिबन्धन विश्वस्वरूप-संरक्षण, तथा विश्वविनाश का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय, संहारकालानुगता विशुद्धा छिन्नमस्ता के निष्कैवल्य घोररूप का पावन-संस्मरण, छिन्नशीर्ष-भगवती के उग्रतम-सर्वविनाशक-प्रचण्डरूप से अनुप्राणिता 'प्रचण्डचाण्डिका' का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं तत्स्वरूप-रहस्यवेत्ता आगमाचार्य्यों के प्रति भूयोभूयः-प्रणामाञ्जलियाँ समर्पित, और माता छिन्नमस्ता के महामाङ्गलिक ध्यानमन्त्र का पावन संस्मरण—

उक्त छिन्नशिरस्क यज्ञपुरुष ही आगमशास्त्र में 'कबन्धशिव' कहलाए हैं। इस शिव की महाशक्ति ही 'छिन्नमस्ता' कहलाई है। यही छिन्नमस्ता अपने प्रवर्ग्यरूप मस्तक-स्थानीय पदार्थों में रसप्रदान से जहाँ विश्व का पालन करती है, वहाँ यही अन्त में स्वस्वरूप में उस प्रवर्ग्य की आहुति लेकर तत्पदार्थों के नाश का कारण बन जाती है। मैं छिन्नशीर्ष अवश्य हूँ। परन्तु अन्नागमनरूप शिरः सन्धानात्मक प्रवर्ग्ययाग से स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित बन रहा हूँ। परन्तु जब यह अन्नागमन-प्रक्रिया अवरुद्ध होजायगी, तो उस समय रह जायगी केवल छिन्नमस्ता की सत्ता। उस दशा में वह सर्वात्मना हमारा शोषण कर लेगी। जो महामाया षोडशी बन कर, भुवनेश्वरी के द्वारा भुवन-निर्माण करती है, प्रवर्ग्य के द्वारा विश्व की अन्नव्यवस्था करती है, वही अपने विशुद्ध छिन्नमस्तारूप से नाश कर डालती है। उसका यही उग्ररूप तन्त्रों में-'प्रचण्डचण्डिका' कहलाया है। अपने हाथ में अपना ही कटा मस्तक, साथ में रक्तपान करतीं हुईं दो सहेलियाँ कबन्ध से निकालने वाली अपनी ही रुधिर धारा का अपने ही मुख से ललजिह्वा के द्वारा पान, कैसा प्रचण्डरूप है, और इस निदान-के द्वारा कैसा है नैगमिक प्रवर्ग्यविद्या का अद्भुत विश्लेषण-'नमो नमः-आगमाचार्य्येभ्यः'। नैदानिक-भावों का विश्लेषण पाठकों की तात्त्विक बुद्धि पर छोड़ते हुए प्रकृत में छिन्नमस्ता-भगवती का ध्यानमात्र ही उद्धृत कर दिया जाता है—

१-भास्वन्मण्डलमध्यगां निजशिरश्छिन्नं विकीर्णालकं-
स्फारास्यं प्रपिबद्गलात् स्वरुधिरं वामे करे बिभ्रतीम्।
यामासक्तरतिस्मरोपरिगतां सख्यौ निजे डाकिनी-
वर्णिन्यौ परिदृश्यमोदकलितां श्रीछिन्नमस्तां भजे॥

—मन्त्रमोहदधिः

२-प्रत्यालीढपदां सदैव दधतीं छिन्नं शिरः कर्तृकाम्।
दिग्वस्त्रां स्वकबन्धशोणितसुधाधारां पिबन्तीं मुदाम्॥

नागाबद्धशिरोमणिं त्रिनयनां हृद्युत्पलालङ्कृताम् ।
रत्यासक्तमनोभवोपरिदृढां ध्यायेज्जवासन्निभाम् ॥

३-दक्षे चातिसिता विमुक्तचिकुरा कर्त्रीं तथा खर्परम् ।
हस्ताभ्यां दधती रजोगुणभवा नाम्नापि सा वर्णिनी ॥

देव्याश्छिन्नकबन्धतः पतदसृग्धारां पिबन्ती मुदा ।
नागाबद्धशिरोमणीर्मनुविदा ध्येया सदा सा सुरैः ॥

४-वामे कृष्णतनुस्तथैव दधती खड्गं तथा खर्परं—
प्रत्यालीढपदा कबन्धविगलद्रक्तं पिबन्ती मुदा ।

सैषा या प्रलये समस्तभुवनं भोक्तुं क्षमा तामसी-
शक्तिः सापि परात्परा भगवती नाम्ना परा डाकिनी ॥

इति—छिन्नमस्ता—स्वरूप—दिग्दर्शनम्

५

---

(६)-दक्षिणामूर्त्ति कालभैरव, और उसकी महाविद्या भैरवी (षष्ठी—भैरवी—महाविद्या)

४१३-पञ्चवक्त्रशिवानुगता षोडशी—महाविद्या से अनुप्राणित समष्ट्यात्मक, तथा व्यष्ट्यात्मक-महिमा-विवर्त्तों का सिंहावलोकनन्यायेन संस्मरण, व्यष्टिरूपानुबन्धी-पञ्चमी, त्रिपुरसुन्दरी, त्रिपुरभैरवी-रूपों से अनुप्राणित सृष्टि-स्थिति--भावों का दिग्दर्शन, सृष्टिस्वरूपाधिष्ठात्री माता छिन्नमस्ता के माध्यम से तद्व्यष्टिरूपों का समतुलनप्रयास, एवं छिन्नमस्ता भगवती की पारिभाषिकी 'त्रिपुरभैरवी-रूपता' का दिग्दर्शन—

पञ्चवक्त्रशिवानुगतां षोडशी महाविद्या का दिग्दर्शन कराते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि, इस षोडशी के समष्टि, व्यष्टिरूप से दो विवर्त्त हैं। समष्टिविवर्त्त व्यापक एकरूप है, व्यष्टिरूप क्रमशः पञ्चमी, त्रिपुरसुन्दरी, त्रिपुरभैरवी, इन तीन भागों में विभक्त है। एवं ये ही तीनों षोडशी—विवर्त्त क्रमशः सृष्टि, स्थिति, संहारभावों के मूलाधिष्ठान हैं। पूर्वप्रतिपादिता त्र्यम्बकशिवानुगता भुवनेश्वरी को भुवनाति-

र्मात्री कहा गया है, अतएव इसे सृष्टि की अधिष्ठात्री माना जासकता है। कबन्धानुगता–छिन्नमस्ता को आदान–विसर्गात्मिका बतलाते हुए इसके द्वारा सृष्टि की स्वरूपस्थिति का विश्लेषण हुआ है। अतएव इसे सृष्टिस्थिति की अधिष्ठात्री माना जासकता है। इसके त्रिपुरसुन्दरी, और त्रिपुरभैरवी, ये दो विवर्त होजाते हैं। पालनदशा में यही छिन्नमस्ता त्रिपुरसुन्दरी है, विनाशदशा में यही छिन्नमस्ता त्रिपुरभैरवी है।

४१४–महाप्रलयानुगत महाविनाश, एवं खण्ड-प्रलयानुगत सामान्य विनाश-भेदेन विनाश का द्विधा वर्गीकरण, महाप्रलयाधिष्ठात्री माता छिन्नमस्ता की छिन्नमस्तात्मकता का, तथा सामान्य-प्रलयधिष्ठात्री माता छिन्नमस्ता के त्रिपुरभैरवी-रूपत्व का समन्वय-प्रयास, और नित्यसंहारदशानुगता अपराडाकिनी, तथा महासंहार-दशानुगता पराडाकिनी स्वरूपों को संस्मरण, एवं अपराडाकिनी सुप्रसिद्धा माता भैरवी से अनुप्राणित दक्षिणामूर्त्तिकालभैरव का पावन-संस्मरण—

विनाश दो भावों में विभक्त है। महाप्रलय एकप्रकार का विनाश है, नित्यप्रलय अन्यप्रकार का विनाश है। महाप्रलयानुगता छिन्नमस्ता 'छिन्नमस्ता' कहलाई है, नित्यप्रलयानुगता छिन्नमस्ता 'भैरवी' कहलाई है। इसप्रकार छिन्नमस्तात्मिका विनाशप्रवर्त्तिका त्रिपुरभैरवी के ही छिन्नमस्ता, भैरवी, ये दो विवर्त होजाते हैं। छिन्नमस्ता पराडाकिनी है, भैरवी अपराडाकिनी है, दोनों की समष्टि त्रिपुरभैरवी है, यही लयाधिष्ठात्री है। इस दृष्टिकोण से भुवनेश्वरी, छिन्नमस्ता, भैरवी, इन तीनों महाविद्या-विवर्तों का षोडशी के व्यष्टिलक्षण पञ्चमी, त्रिपुरसुन्दरी, त्रिपुरभैरवी, इन पूर्वोक्त त्रिवर्तभावों में ही अन्तर्भाव होजाता है। यही षोडशी सृष्टिदशा में पञ्चमी है, यही भुवनेश्वरी है, यही राजश्वेरी है। यही षोडशी पालनदशा में त्रिपुरसुन्दरी है, यही छिन्नमस्ता का प्रवर्ग्य–यज्ञात्मकरूप है। यही षोडशी महासंहारदशा में पराडाकिनीरूपा त्रिपुरभैरवी है, यही छिन्नमस्ता का यज्ञध्वंसात्मक रूप है। यही पराडाकिनी नित्यसंहारदशा में अपराडाकिनीरूपा भैरवी है. जिसका दक्षिणामूर्त्ति-कालभैरव से समन्वय माना गया है।

षोडशी–महाविद्या–समष्टिलक्षण—

(१) सृष्ट्यनुगता षोडशी ·········· पञ्चमी ············ भुवनेश्वरी (३)

(२) स्थित्यनुगता षोडशी ·········· त्रिपुरसुन्दरी ············ त्रिपुरसुन्दरी (२) (छिन्नमस्तायाः-शान्तं रूपम्)

(३) महाप्रलयानुगता षोडशी ······· छिन्नमस्ता-पराडाकिनी ·················· छि० अत्युग्ररूपम्।

त्रिपुरभैरवी (१)

(४) नित्यप्रलयानुगता षोडशी ······· भैरवी–अपराडाकिनी ·················· छि० उग्ररूपम्

* * *

४१५-छिन्नमस्ता भगवती के शान्त-शिव-रूपात्मक 'त्रिपुरसुन्दरी' नामक माङ्गलिक-महिमामय स्वरूप से विश्वप्रजा का पालन, तथा स्थिति का स्वरूप-संरक्षण, प्रति-पदार्थानुगत सृष्टि-प्रक्रियानुबन्धी-क्षणिक-नाशधर्म्म का समन्वय-प्रयास, तदधिष्ठात्री छिन्नमस्ता का भैरवी-रूपत्व, एवं अवसानरूप-मृत्युभाव के अधिष्ठाता 'यमदेव' का संस्मरण, तथा-'ददाद्यमोऽवसानं पृथिव्याः'-'यमो वै अवसानस्येष्टे'-इत्यादि मन्त्र-ब्राह्मण-श्रुति-वचन-समन्वय-प्रयास—

छिन्नमस्ता के शान्तरूपात्मक त्रिपुरसुन्दरीरूप से विश्वप्रजा का पालन होता है, स्थिति सुरक्षित रहती है। परन्तु महाप्रलय में इसी के छिन्नमस्तात्मक अत्युग्ररूप से यज्ञप्रक्रिया के निरोध-द्वारा सर्वनाश भी होजाता है। इस अन्तिम विनाशलक्षण सर्वनाश के अतिरिक्त, हम देखते हैं, प्रत्येक पदार्थ का क्षणिक विनाश भी होता रहता है क्षणक्रियानुगत क्षणिक विनाश की अधिष्ठात्री महाशक्ति ही अत्युग्रा छिन्नमस्ता का दूसरा उग्ररूप है, यही 'भैरवी' नाम से प्रसिद्ध है। नष्ट करना रुद्र का काम है। विनाशोन्मुख यही रुद्रतत्त्व 'यम' नाम से प्रसिद्ध है। सृष्टिगर्भ में होने वाली क्षणिकविनाशरूपा क्षणिकमृत्यु, एवं प्राणोत्क्रान्तिरूपा मृत्यु, दोनों के अधिष्ठाता ये ही यमरुद्र हैं, जैसाकि-'ददाद्यमोऽवसानं पृथिव्याः' 'यमो वै अवसानस्येष्टे' (श्रुतिः) इत्यादि मन्त्र-ब्राह्मणश्रुतियों से प्रमाणित है।

४१६-याम्य रुद्राग्नि से अनुप्राणिता दक्षिणदिशा, तथा सोमानुगता उत्तरदिशा का संस्मरण, दक्षिणोत्तर-दिगनुगत अग्निसोम-तत्त्वों के पारिभाषिक गमनागमन का समन्वय, उभय-समन्वितरूप की पारिभाषिकी यज्ञरूपता, इत्थंभूत यज्ञ का स्थिति-रक्षकत्व तदनुबन्धी शक्तितत्त्व का 'त्रिपुरसुन्दरी' भाव निबन्धन मङ्गलमय स्वरूप, एवं सोम के अभाव से तत्स्वरूप की रुद्ररूप में परिणति का समन्वय—

इस याम्य-रुद्राग्नि की सत्ता प्रधानरूपेण दक्षिणदिशा में मानी गई है। अतएव यमराज दक्षिणदिशा के दिक्पाल माने गए हैं। दक्षिण में अग्निसत्ता है, उत्तर में सोमसत्ता है। दक्षिणस्थ अग्नि निरन्तर उत्तर की ओर जाता करता है, एवं उत्तरस्थ सोम निरन्तर दक्षिण की ओर आता रहता है। दोनों का समन्वित-रूप ही यज्ञ है, यही स्थितिरक्षक है। सोमसम्बन्ध से यमाग्नि अपनी रुद्रता छोड़ कर शिवभाव में परिणत रहते हैं। इनका यह शिवात्मकरूप ही छिन्नमस्ता का शान्तरूप है, जिसे हमने 'त्रिपुरसुन्दरी' कहा है। सोमसम्बन्धाभाव में वही यमाग्नि विशुद्ध घोररूप में परिणत होकर रुद्र बन जाता है।

४१७-रुद्रात्मक अग्निरूप की संहारकता, तेजः-स्नेह-धर्म्मानुबन्धी अग्नि, और सोम, तन्निबन्धन विकास, तथा संकोच-धर्म्म, तदनुबन्धिधी विनाशरक्षण-भावनिबन्धना स्थितिद्वयी का रहस्यात्मक समन्वय प्रयास, दक्षिणाग्निरुद्रात्मक यम का विनाशाधिष्ठातृत्त्व, तन्निबन्धन दक्षिणामूर्त्ति कालभैरव का पावन-संस्मरण, एवं तद्-भिन्ना महाशक्ति-भैरवी नामकी छठी महाविद्या के महामाङ्गलिक स्वरूप का उपराम, और तद्ध्यान-मन्त्र का संस्मरण—

यही अग्निरूप संहारक है। सोम स्नेहतत्त्व है, अग्नि तेजोमय है। संकोचात्मक स्नेहधर्म्म सोम-धर्म्म है, विकासात्मक विशकलनधर्म्म अग्निधर्म्म है। विशकलन—प्रक्रिया ही वस्तुविनाश का कारण बनती है। जबतक इसमें सोम आहुत होता रहता है, तबतक छिन्नमस्तक का (निर्गत प्रवर्ग्यभाग का) पुनः-संधान होता रहता है। सोमागमनावरुद्ध होजाने से अग्नि छिन्नमस्तक बनता हुआ विनाशक बन जाता है। दक्षिणाग्नि-रुद्रात्मक यम ही इस विनाश के अधिष्ठाता हैं। क्षणिकमृत्यु की दृष्टि से इन्हें 'दक्षिणामूर्त्ति' कहा जाता है, प्राणोत्क्रान्तिप्रवर्त्तकत्वेन इन्हें 'कालभैरव' कहा जाता है। इनकी महाशक्ति ही 'भैरवी' है। त्रिपुरसुन्दरी जिनका पालन करती है, यह भैरवी उनका नाश करती है। यही भैरवी माता का संक्षिप्त विश्लेषण है, जिसके नैदानिक ध्यान का निम्न लिखित शब्दों में विश्लेषण हुआ है।

उद्यद्भानुसहस्रकान्तिमरुणक्षौमां शिरोमालिकाम् ।
रक्तालिप्तपयोधरां जपवटीं विद्यामभीतिं वरम् ॥
हस्ताब्जैर्दधतीं त्रिनेत्रविलसद् वक्त्रारविन्दश्रियम् ।
देवीं बद्धहिमांशुरत्नमुकुटां वन्दे समन्दस्मिताम् ॥

—भैरवीतन्त्र

इति—भैरवी—स्वरूप—दिग्दर्शनम्
(षष्ठी—भैरवी—महाविद्या)

६

——*——

(७)-पुरुष-वञ्चिता, अतएव 'विधवा' नाम्ना प्रसिद्धा महाविद्या-'धूमावती' (सप्तमी धूमावती-महाविद्या)

—*—

४१८-सर्वविध-भोग्य-परिग्रह-सम्भार-समन्विता माता वसुन्धरा के भोग्य-परिग्रहों से वञ्चित भाग्यहीनों के सम्बन्ध में एक रहस्य-पूर्ण-प्रश्न, एवं तत्समाधाना-धिष्ठात्री-पुरुषवञ्चिता, अतएव-'विधवा' नाम से सुप्रसिद्धा महाविद्या माता-'धूमावती' का महामाङ्गलिक-संस्मरण, एवं निगमानुगता लक्ष्मीभाव-निबन्धना रोहिणी, और ज्येष्ठा-नक्षत्रानुबन्धिनी रहस्यात्मिका स्थिति का स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

समस्त-वसुन्धरा सर्वविध-भोग्यसामग्री से परिपूर्ण है। भोक्ता प्राणियों में इस भोग्य-सामग्री के भोग की पर्य्याप्त शक्ति भी है। परन्तु देखते हैं, कितने हीं प्राणी इस प्राकृतिक भोग्यसम्पत्ति से वञ्चित रहते हुए दीन-हीन-दरिद्र बनते हुए भटकते फिरते हैं !, क्यों ? प्रश्न का समाधान इसी धूमावती नाम की महाविद्या से होरहा है, जो निगमशास्त्र में निर्ऋति, एवं तदङ्गभूत ज्यौतिषशास्त्र में 'ज्येष्ठा' नाम से व्यवहृत हुई है।

१४६-रुद्र-यज्ञ-वरुण-निर्ऋति-नामक चतुर्विध-प्राणदेवताओं से अनुप्राणित चतुर्विध-घोरघोरतम-सर्वविध रोग-शोकादि का पारिभाषिक-स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं सर्वदुःख-शोक-रोगादि-मूलभूता 'धूमावती' स्वरूपिणी-निगमानुगता घोर-घोरतमा "निर्ऋति" के महामाङ्गलिक अभय-प्रवर्त्तक-पावन-स्वरूप का नैगमिक-संस्मरण, एवं 'घोरा वै पाप्मा निर्ऋतिः' वचन का समन्वय-प्रयास—

संसार में दुःख के मूलप्रवर्त्तक रुद्र, यम, वरुण, निर्ऋति, ये चार प्राणदेवता माने गए हैं। विविध प्रकार के ज्वर, महामारी, उन्माद, आदि आग्नेय सन्तापात्मक रोग रुद्र की कृपा पर अवलम्बित हैं। मूर्च्छा-अङ्गभङ्ग, कम्पन (मिर्गी), आदि रोग यमदेवता के प्रसाद हैं। ग्रन्थिबन्धन (गठिया), वातशूल, गृध्रसी, अर्द्धाङ्ग (लकवा) आदि वरुणदेवता की कृपा है। एवं इन सर्वविध रोगों से कहीं भयङ्कर शोक, कलह, दरिद्रता, आदि रोगों की सञ्चालिका निर्ऋति देवता हैं। जीर्ण-शीर्ण कन्था भिक्षुक, क्षत-विक्षत भूप्रदेश, ऊसरभूमि, भग्नप्रासाद, बुभुक्षा, पिपासा, रुदन, वैधव्य, पुत्रसन्ताप, इन सबका मूलकारण एक-मात्र निर्ऋतिदेवता ही मानी हुई है। रुद्र-वरुण-यमानुगत अन्य रोग इसके अनुग्रह से ही पुष्पित पल्लवित होते हैं, जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण आज का दरिद्र भारतवर्ष है। यह अन्य दुःखप्रवर्त्तकों से सर्वतोऽधिक भयानक है। अतएव इसका-'घोरा पाप्मा वै निर्ऋतिः' (शत० ब्रा०) यह लक्षण किया जाता है। इसी के आक्रमण को शान्त करने के लिए एक वैज्ञानिक-प्रक्रिया विहित हुई है, जो 'निर्ऋति इष्टि' कहलाई है।

४२०-ज्यौतिश्चक्र (खगोल) तथा भुवनकोश (भूगोल)-भावनुबन्धी पड्भान्तरानुगत खगोलीय-वृश्चिकराशिभुक्त-सुप्रसिद्ध-'ज्येष्ठानक्षत्र', और उसकी निर्ऋति-प्राणकोशात्मकता, तत्कोशात्-'आसुरी-कलहप्रिया' शक्ति का सतत विनिर्गमन, नैर्ऋतकोण में उक्थरूप से, एवं सर्वत्र अर्करूप से तद्व्याप्ति, दक्षिणदिगनुगत रुद्राग्नि, पश्चिम दिगनुगत पाशबन्धन-प्रवर्त्तक वरुणदेवता, एवं तन्मध्यस्था निर्ऋतिदेवता, के द्वारा यम-वरुण-रुद्र-देवतात्रयी के आक्रमणों का उपक्रम, एवं निर्ऋति-देवता की शान्ति से अनुप्राणिता स्मार्त्तकर्म्मानुबन्धिनी-'ज्येष्ठाशान्ति' का संस्मरण—

यह महाशक्ति यों तो सर्वत्र व्याप्त है। परन्तु ज्योतिश्चक्र, (खगोल-आकाश), और भुवनकोश (भूगोल-पृथिवी), इन दोनों ब्रह्माण्डों में से ज्येष्ठानक्षत्र, और दिशाविशेष इसकी मुख्य आवासभूमि मानी गई हैं। खगोलीय, वृश्चिकराशिभुक्त, सुप्रसिद्ध ज्येष्ठानक्षत्र ही इस निर्ऋतिप्राण का कोश है। यहीं से इस 'आसुरी-कलहप्रिया' शक्ति का सर्वप्रथम विनिर्गम होता है। यहीं से निकलकर यह सर्वत्र व्याप्त होती हुई दक्षिणदिशा, एवं पश्चिमदिशा, दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित होकर यहां से सम्पूर्ण भूमण्डल पर अपना प्रहार किया करती है। दक्षिणदिशा में रुद्राग्नि, और तद्रूप यम प्रतिष्ठित है, पश्चिम दिशा में वरुणदेवता का साम्राज्य है। इन दोनों के मध्य में क्योंकि निर्ऋतिदेवता का प्रभुत्त्व है, अतएव यह दोनों पार्श्वधर्म्मों से भी युक्त होजाते हैं। अतएव निर्ऋति के आक्रमण से इतर (यम, रुद्र, वरुण) देवताओं के भी आक्रमण आरम्भ होजाते हैं। अतएव निर्ऋतिप्राणघन ज्येष्ठा-नक्षत्र में जन्म होना अनिष्टकर माना गया है, जिसके लिए स्मार्त्त-कर्म्मों में 'ज्येष्ठाशान्ति' कर्म्म-विहित है।

४२१-ज्येष्ठानक्षत्र (अवरोहिणी-नामक) से पड्भान्तर पर अवस्थित रोहिणीनक्षत्र (आरोहिणी-नामक) का संस्मरण, तत्-शकटाकाररूपता, अवरोहिणी, तथा आरोहिणी भावों का पारिभाषिक-समन्वय, भयावहा-रूक्षा-दरिद्रभावनिबन्धना माता निर्ऋति के स्वरूप-धर्म्मों का पावन-संस्मरण, एवं तद्रूपा महाविद्या माता-'धूमावती' के नैदानिक-ध्यान-मन्त्रों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

ज्येष्ठानक्षत्र से ठीक पड्भान्तर पर रोहिणी-नक्षत्र है। शकटाकार रोहिणी-नक्षत्र से आरम्भ कर ज्येष्ठानक्षत्र से पूर्व पूर्व का अर्द्धाकाश देवाकाश कहलाया है, इसमें 'देवश्री' का आरोहण है, जिसका उपक्रम रोहिणी नक्षत्र है। ज्येष्ठा से आरम्भ कर रोहिणी से पूर्व पूर्व का अर्द्धाकाश असुराकाश कहलाया है, इसमें देवश्री का अवरोहण (पतन) है। अतएव रोहिणी लक्ष्मी कहलाई है, अवरोहिणी (ज्येष्ठा) अलक्ष्मी कहलाई है, यही निर्ऋति है, यही आगमशास्त्र की धूमावती है, एवं लक्ष्मीरूपा रोहिणी ही आगमशास्त्र की १० वीं महाविद्या कमला है, जिसका आगे दिग्दर्शन कराया जाने वाला है। भयानक-रूक्ष-शरीराकृति, दरिद्रता, भग्नप्रासाद, रूक्षभोजन, रुक्षकेश, मलिनवस्त्र, आदि इसी निर्ऋति की कृपा के फल हैं। इसी महाविद्या का नैदानिक स्वरूप-विश्लेषण करते हुए आगमाचार्य्य कहते हैं—

"१-विवर्णा चञ्चला दुष्टा दीर्घा च मलिनाम्बरा।
विमुक्त-कुन्तला वै सा विधवा विरलद्विजा॥
२-काकध्वजरथारूढा विलम्बितपयोधरा।
शूर्पहस्तातिरूक्षाक्षा धूतहस्ता वरानना॥
३-प्रवृद्धघोणा तु भृशं कुटिला कुटिलेक्षणा।
क्षुत्पिपासार्दिता नित्यं भयदा कलहास्पदा॥
जपेत् कृष्णचतुर्दश्यां पुरश्चरणसिद्धये"॥

—शाक्तप्रमोदे धूमावतीतन्त्रे

४२२-तमोमय आप्यप्राणों की असुररूपता, तथा ज्योतिर्म्मय आग्नेय, और ऐन्द्रप्राण के देवदेवतात्व का पारिभाषिक स्वरूप-समन्वय, वारुण चातुर्म्मास्य, और तन्निबन्धन देवदेवताओं का शयन, कार्त्तिककृष्णानुगता नरकचतुर्दशी, और तन्निबन्धना निर्ऋति, तथा तदुत्तरभाविनी कमला-शक्ति का पावन-संस्मरण, तथा कमलानुबन्धिनी रोहणीरूपा लक्ष्मी के आगमनकाल का दिग्दर्शन -

ध्यान से ही माता धूमावती का नैदानिकरूप स्पष्ट है। तमोमय आप्यप्राण 'असुर' नाम से, एवं ज्योतिर्म्मय आग्नेय, तथा ऐन्द्रप्राण 'देवदेवता' नाम से प्रसिद्ध है। आषाढशुक्ला एकादशी से वर्षाऋतु का आरम्भ माना गया है, एवं कार्त्तिकशुक्ला एकादशी वर्षा की अन्तिम अवधि मानी गई है। इन चार महीनों में पृथिवी-पिण्ड-भुक्त आग्नेयप्राण, तथा सौरमण्डलभुक्त ऐन्द्रप्राण, दोनों आपोमय बने रहते हैं। अतएव चातुर्म्मास्य में दोनों ही देवप्राण आसुर-आप्यप्राण की प्रधानता से निर्बल बने रहते हैं। देवप्राण की स्वाभाविकी विकासशक्ति अभिभूत रहती है। अतएव यह समय देवसुषुप्तिकाल कहलाया है। इन चार महीनों में क्योंकि आसुरप्राण का साम्राज्य रहता है, अतएव दिव्यप्राणोपासक भारतीय इन चार महीनों में विवाह, यज्ञोपवीत, यात्रा, आदि किसी भी दिव्य कर्म्म का अनुगमन नहीं करता। इसी चातुर्म्मास्य में निर्ऋति-देवता का विशेष प्रभुत्व रहता है। कार्त्तिककृष्णा चतुर्दशी इसकी अंतिम अवधि मानी गई है। एकमात्र इसी आधार पर धर्म्माचार्य्योंने इसे 'नरकचतुर्दशी नाम से व्यवहृत किया है। इसी मध्यरात्रि में निर्ऋति-रूपा अलक्ष्मी का तो गमन होता है, एवं रोहिणीरूपा लक्ष्मी का आगमन आरम्भ होजाता है।

४२३-कार्तिककृष्णा-अमावास्या से अनुगत कन्याराशिभुक्त सूर्य्य की निर्बलता का दिग्दर्शन, चान्द्र-ज्योति का अभिभव, और कार्त्तिकी अमावास्या, चातुर्म्मास्यानुगत-आग्नेय-ज्योतिर्भावाभिव, ज्योतिस्त्रयी के प्राकृतिक-अभिभव से तन्निबन्धना आत्म-ज्योति का अभिभव, तन्निरोधात्मिका दीपावली, तदनुगत अग्निक्रीडामहोत्सव (आतिशबाजी), और दीपमालामय-ज्योतिर्भाव का अनुगमन—

कार्त्तिक-कृष्णा अमावास्या में कन्या का सूर्य्य रहता है। कन्या-राशिभुक्त सूर्य्य नीच का सूर्य्य कहलाया है। इस दिन सौरप्राण मलीमस रहता है, एवं रात्रि में इसका भी अभिभव होजाता है। उधर

अमा के कारण चान्द्रज्योति का भी अभाव रहता है, एवं चार मास के जलवर्षण के कारण पार्थिवी अग्नि--ज्योति भी निर्बल बन जाती है। इसप्रकार कार्तिकी अमारात्रि में सूर्य्य, चन्द्र, अग्नि, तीनों ही भूतज्योतियां अभिभूत बन जाती हैं। अतएव भूतज्योति के आधार से विकसित होने वाली आत्मज्योति हीनवीर्य्य बन जाती है। इसी तमोभाव के निराकरण के लिए, एवं आत्मा में ज्योतिर्भाव के समावेश के लिए, साथ ही कमालगमन के उपलक्ष में इस दिन महर्षियों नें वैधप्रकाश (दीपमाला), एवं अग्निक्रीड़ा (आतिश--बाजी) का विधान किया है।

४२४–कृष्णवस्त्रपरिधान, एवं तैलाभ्यञ्जन के द्वारा माता निर्ऋति धूमावती-(अलक्ष्मी-ज्येष्ठा-अवरोहिणी) का सम्मान-सत्कार-समन्वय, कार्त्तिककृष्णा त्रयोदशी-चतुर्दशी-अमावास्या-तिथि-त्रयानुबन्धी देवताभिनन्दनात्मक माङ्गलिक-पर्वों का संस्मरण, अश्वत्थवृक्षनिवासी माता-धूमावती, एवं उसके कमलात्मक लक्ष्मी-स्वरूप के संस्मरण का प्रयास, तथा माता धूमावती नामकी सप्तमी-महाविद्या के पावन-स्वरूप का उपराम—

कृष्णवस्त्र-परिधान, तैलाभ्यञ्जन, आदि निर्ऋति का समादर है। नूतनपात्रक्रय, दीपमाला, अग्निक्रीड़ा, आदि कमला का समादर है। इसप्रकार १३, १४, ३०, तीनों तिथियों में भारतीय प्रजा दोनों देवताओं का अभिनन्दन करती है। अनन्तर ही प्रतिपत्-तिथि की वर्षाधिष्ठाता इन्द्र का पूजन विहित है। पद्मपुराणान्तर्गत उत्तरखण्ड के १६१ वें अध्याय में ज्येष्ठा, कनिष्ठा, दोनों महाविद्याओं का आख्यान के द्वारा प्रतिपादन हुआ है। अश्वत्थवृक्षनिवासिनी धूमावती के उस रूप का, जो लक्ष्मीयुत विष्णु निवास से लक्ष्मीरूप बना हुआ है-स्मरण करते हुए यह माहात्म्य उपरत होता है।

इति–धूमावती–स्वरूप–दिग्दर्शनम्



—-*—-

(८)–एकवक्त्ररुद्र, और उसकी महाविद्या वल्गामुखी-(वगलामुखी)
(अष्टमी–वल्गामुखी–महाविद्या)

४२५-जन्मनक्षत्र-निग्रहेण निर्ऋतिदेवतात्मिका माता-धूमावती के निबिड़पाश में आबद्ध, जन्मतः एव सर्वथा भाग्यहीन मानव के सुप्त भाग्य को उद्बुद्ध करा देने वाली अष्टमी-महाविद्या 'कृत्या' स्वरूपिणी माता-'वल्गामुखी' (प्रचलित लोकव्यवहारे च-वगलामुखी) का पावन-संस्मरण—

मान लीजिए, किसी पर जन्मनक्षत्र के सम्बन्ध से जन्मतः ही निर्ऋतिदेवता का अनुग्रह है। फल-स्वरूप वह विश्ववैभवभोग से वञ्चित है। क्या इसके विकास का भी कोई उपाय है ?, क्या यह भी अपनी

भाग्यश्री को विकसित कर सकता है !, क्या यह भी बलात्कार से परसम्पत्ति को अपने अधिकार में कर निर्ऋति-देवता से त्राण पा सकता है ?, इत्यादि प्रश्नों का समाधान इसी महाविद्या से प्राप्त होता है, जो निगमशास्त्र में 'वलगा-कृत्या' नाम से, एवं आगमशास्त्र में 'वलगामुखी' नाम से प्रसिद्ध है, एव जो उप-लब्ध-आगमग्रन्थों में 'वगलामुखी' नाम से व्यवहृत हुई है। पहिले इसके नैगमिक-स्वरूप की ही दो शब्दों में मीमांसा कर लीजिए।

४२६-यच्चयावत् प्राणिशरीरों में अनुशयात्मक संस्काररूप से अभिव्याप्त स्वायम्भुव-सूत्रवायु से अनुगृहीत-तदभिन्न-पारमेष्ठ्य-आप्य-सोममय-अथर्वाप्राण' की स्वरूपसत्ता का दिग्दर्शन, मानस-श्रद्धासूत्र के द्वारा रक्तसम्बन्धानुगत सम्पूर्ण-सपिण्डों में अथर्वाप्राण की अभिव्याप्ति का समन्वय, एवं तदनुबन्धो संस्कारा-त्मक-प्रवर्ग्यरूपों की परिव्याप्ति का रहस्यात्मक-स्पष्टीकरण—

प्रत्येक प्राणी के पाञ्चभौतिक-शरीर में स्वायम्भुव सूत्रवायु से अनुगृहीत, तदभिन्न, परमेष्ठ्य आपोमय 'अथर्वा' प्राण प्रतिष्ठित रहता है। शुक्रस्थ श्रद्धामय पितृप्राणात्मक इस अथर्वासूत्र का ८४ सन्तान-परम्पराओं में प्रसार रहता है, जैसाकि 'श्राद्धविज्ञान' नामक ग्रन्थ में विस्तार से प्रतिपादित है। मानस श्रद्धासूत्र के द्वारा यह अथर्वासूत्र समसम्बन्धी-स्नेही-मित्र-आदि के साथ ही युक्त रहता है। उपभोग में आने वाले शय्या, आसन, वस्त्र, पात्र, प्रासाद, आदि में भी यह अनुशयरूप से प्रवर्ग्य के द्वारा व्याप्त रहता है। हम जिस मार्ग से गमन करेंगे, उस मार्ग में भी यह प्राण प्रवर्ग्यरूप से व्याप्त होता जायगा। विदूरस्थ आत्मीय-बन्धुक्लेश से हमारा चित्त जिस परोक्षशक्ति से व्याकुल होपड़ता है, वही परोक्ष, अतीन्द्रिय प्राणशक्तिसूत्र अथर्वा है।

४२७-अथर्वाप्राणात्मक-श्रद्धामय सौम्य-प्राणरूप सूत्रानुबन्ध से विदूरस्थ भी सम-सम्बन्धियों का सहज आकर्षण, ऐन्द्रीशक्ति से समन्वित 'श्वान' के द्वारा अथर्वासूत्र के माध्यम से ही (तद्गन्धघ्राण द्वारा) तस्कर के अन्वेषण में सफलता, हरिवाहन इन्द्र, और उनकी 'सरमा' नामकी शुनि, एवं तद्द्वारा बृहस्पति के गोधन का अन्वेषण—

इस सूत्र के द्वारा सहस्रों-कोशस्थ विदूरस्थ व्यक्ति का भी आकर्षण किया जासकता है। जिसप्रकार एक प्राघुणिक के भविष्यदागमन की पहिचान हमें नहीं होती, किन्तु काक को होजाती है, एवमेव जिस अथर्वासूत्र को हम नहीं पहिचान ते, उसे श्वान पहिचान लेता है। उसी शक्तिज्ञान (ऐन्द्रीशक्ति) के प्रभाव से कुत्ता जमीन सूंघता हुआ चोर का अन्वेषण कर लेता है। कारण-जिस मार्ग से चोर गया है, उस मार्ग में मिट्टी में उस का अथर्वाप्राण वासना-रूप से संक्रान्त होजाता है। वस्त्र, नख, केश, लोम, आदि में भी वह प्राण वासनारूप से व्याप्त रहता है। अतएव इन वस्तुओं के आधार पर भी तत्सम्बन्धी व्यक्ति पर यथेच्छ प्रयोग किए जासकते हैं। भौमस्वर्ग के अधिष्ठाता, सौराष्ट्र नामक राष्ट्रान्तर्गता 'अमरावती' नामकी राजधानी में निवास करने वाले, पुराणों में 'हरिवाहन', एवं वेद में

'हरिवान' नाम से प्रसिद्ध पुरुषविध भौमइन्द्र (मनुष्य इन्द्र) ने दिव्यगुणोपेता 'सरमा, नाम की शुनी की सहायता से ही स्वगुरु बृहस्पति के गोधन का अपहरण करने वाले 'पणी' नामक असुरों का पता लगाया था। पुरायुग में भौम मनुष्यदेवता इसी अथर्वासूत्र के द्वारा यज्ञविनाशक असुर-सपत्नों पर कृत्याप्रयोग (मारण-मोहन, उच्चाटनादि प्रयोग) किया करते थे।

४२८-अथर्वप्राणस्वरूप-विश्लेषक अथर्ववेद के घोराङ्गिरा, अथर्वाङ्गिरा-नामक सुप्रसिद्ध घोर, तथा उग्र-द्विविध-महिमा-निवर्त्तों का स्वरूप-समन्वय-प्रयास, 'अथर्वाङ्गिरा' मूलक अभिचारप्रयोग, तदभिन्ना वल्गामुखी, तन्निबन्धना नैगमिकी 'वल्गाकृत्या' का संस्मरण, तथा तदनुप्राणिता ब्राह्मणश्रुति का प्रमाणानुबन्धी संस्मरण—

अथर्ववेद के घोराङ्गिरा, अथर्वाङ्गिरा, नामक दो विवर्त्त माने गए हैं। इन दोनों में से घोराङ्गिरा में तो ओषधि-वनस्पति-मणि-मन्त्रादि विज्ञान है, एवं अथर्वाङ्गिरा अभिचारप्रयोग-विज्ञानात्मक हैं *। अथर्वासूत्ररूपा, एकवक्त्र महारुद्रात्मिका यह शक्ति "वल्गामुखी" कहलाई है। "वल्गा-कृत्या" इसी नैगमिक नाम है, जैसा कि निम्न लिखित ब्राह्मण-श्रुति से प्रमाणित है—

"यदा वै कृत्यामुत्खनन्ति-अथ सालसा मोघा भवति। तथा उ एवैष एतत्-यदस्मा अत्र कश्चिद् द्विषन् भ्रातृव्यः कृत्यां वल्गां' निखनति, तानेवैतदुत्-किरति"।

—शत० ३।५।४।३।

४२९-निरुक्त क्रमसंसिद्धा वर्णव्यत्यय-मर्य्यादा का स्वरूप-दिग्दर्शन, निगमशास्त्रानुबन्धी 'वल्गा' शब्द की आगमशास्त्र में वर्णव्यत्ययनियमानुबन्ध से 'बगला' शब्द में परिणति, एवं तन्त्रशास्त्रानुप्राणिता-माता वल्गामुखी के नैदानिक-महामाङ्गलिक ध्यान का पावनतम-स्वरूप-संस्मरण, तथा अष्टमी महाविद्या वल्गामुखी के मङ्गलमय-स्वरूप का उपराम—

निरुक्तक्रमानुसार संस्कृतभाषा में जैसे वर्णव्यत्यय से 'हिंसः' शब्द 'सिंहः' बन जाता है, लोकभाषा में जैसे 'मतलब' 'मतबल' रूप में परिणत होजाता है, एवमेव निगमोक्त-'वल्गा' शब्द 'बगला' रूप में परिणत होगया है। निगमशास्त्र की "वल्गा" ही आगमशास्त्र की 'बगला' है। इस महाविद्या के द्वारा सर्वथा अशक्त भी उपासक सब कुछ प्राप्त कर सकता है, जैसा कि आगे के ध्यानवर्णन से प्रमाणित है—

---

* श्रुतिरथर्वाङ्गिरसीः कुर्यादित्यविचारयन्।
वाक् शस्त्रं वै ब्राह्मणस्य तेन हन्यादरीन् द्विजः॥
—मनुः ११।३३।

१-सौवर्णासनसंस्थितां त्रिनयनां पीतांशुकोल्लासिनीम् ।
हेमाभाङ्गरुचिं शशाङ्कमुकटां सच्चम्पकस्रग्युताम् ॥
हस्तैर्मुद्गरपाशवज्ररसनाः संबिभ्रती भूषण-
व्याप्ताङ्गीं बगलामुखीं त्रिजगतां संस्तम्भिनीं चिन्तयेत् ॥

—मन्त्रमहोदधि १० तरङ्ग

२-वादी मूकति, रङ्कति क्षितिपति, वैश्वानरः शीतति,-
क्रोधी शाम्यति, दुर्जनः सुजनति, क्षिप्रानुगः खञ्जति ।
गर्व्वी खर्व्वति सर्व्वविच्च जडति, त्वन्मन्त्रणायन्त्रितः-
श्रीनित्ये बगलामुखि ! प्रतिदिनं कल्याणि तुभ्यं नमः ॥

३-मध्ये सुधाब्धिमणिमण्डपरत्नवेदी-सिंहासनोपरिगतां परिपीतवर्णाम् ।
पीताम्बराभरणमाल्यविभूषिताङ्गीं-देवीं भजामि धृतमुद्गरवैरिजिह्वाम् ॥

* ४-जिह्वाग्रमादाय करेण देवीं, वामेन शत्रुं परिपीडयन्तीम् ।
गदाभिघातेन च दक्षिणेन, पीताम्बरां त द्विभुजां नमामि ॥

—रुद्रयामलतन्त्र-बगलामुखीस्तोत्र

* * *

इति-बगलामुखी-स्वरूप-दिग्दर्शनम्

—८—



* आगमनिगमाचार्य्य भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा निवृत्ति-अनुग्रह से विलुप्त-वैभव अर्जुन को तत्प्राप्त्यर्थ शत्रुस्तम्भनार्थ इसी बलामुखी-पीताम्बरा की दीक्षा मिली थी ।

(९)–मतङ्गशिव, और उसकी महाविद्या 'मातङ्गी'
(नवमी–मातङ्गी–महाविद्या)

—*—

४३०–छिन्नमस्ता–भैरवी–धूमावती–वल्गामुखी–मातङ्गी–कमला–नामक षड्विध–महाविद्याविवर्त्तों का त्र्यम्बक–शिवानुगता–भुवनेश्वरी के विवर्त्त में अन्तर्भाव, कमला–शक्तिसहचारिणी–सृष्टिपालनकर्म्माधिष्ठात्री–मतङ्गशिवार्द्धाङ्गिनी–नवमी–महाविद्या–महाशक्ति–माता 'मातङ्गी' के पावन स्वरूप का संस्मरण, एवं मातङ्गी–भगवती के मर्त्यसंस्थात्मक–भूपिण्डविद्यात्मक महिमाविवर्त्त का, तथा अमृतसंस्थात्मिका मण्डलविद्यात्मिका महिमा का पारिभाषिक–समन्वय–प्रयास—

छिन्नमस्ता, भैरवी, धूमावती, वल्गामुखी, मातङ्गी, कमला, ये ६ ओं महाविद्याविवर्त्त त्र्यम्बक–शिवानुगता भुवनेश्वरी के विवर्त्त हैं। इसी आधार पर पूर्व में छिन्नमस्तादि षड्विद्या–गर्भिता–महाविद्या को ही भुवनेश्वरी माना गया है। सूर्य्यात्मिका तारागर्भिता षोडशी से भुवनात्मिका भुवनेश्वरी का विकास हुआ है। इसके गर्भ में छिन्नमस्ता, भैरवी, धूमावती, वल्गामुखी, इन चार विकीर्ण महाविद्याओं का विकास हुआ है। तदनन्तर पृथिव्यात्मिका मातङ्गी, और कमला का विकास हुआ। स्वयं भुवनेश्वरी पार्थिवसृष्टि की उत्पादिका बनी, छिन्नमस्ता, भैरवी, धूमावती, वल्गामुखी, चारों शक्तियाँ संहारकारिणी बनी, एवं मातङ्गी, तथा कमला, दोनों सृष्टि की पालन करने वाली बनी। इसप्रकार सूर्य्य से आरम्भ कर पृथिवी–पर्य्यन्त की सृष्टि–स्थिति–संहारात्मिका विश्वविद्या का स्वरूप–विश्लेषण इन सात (७) महाविद्याओं के द्वारा हुआ। जिस पार्थिवसंस्था के साथ मातङ्गी, तथा कमला, का सम्बन्ध है, वह पार्थिवसंस्था मर्त्य, अमृत–भेद से दो भागों में विभक्त मानी गई है। आपः–फेन–मृत्–सिकता–शर्करा–अश्मा–अयः–हिरण्यम्–इन आठ व्याहृतियों की चिति से कृतरूप, अतएव 'गायत्री' नाम से प्रसिद्ध भूपिण्ड को केन्द्र बनाकर २१ एकविंशस्थ सूर्य्य पर्य्यन्त व्याप्त होने वाली प्राणमयी पृथिवी अमृतसंस्था है। मर्त्यसंस्थात्मिका भूपिण्डविद्या ही मातङ्गीविद्या है, एवं अमृतसंस्थात्मिका मण्डलविद्या ही कमलाविद्या है।

४३१–चित्यभूपिण्डानुगत, आत्यन्तिकरूपेण सुविकसित तमोगुण, और तन्निबन्धन अञ्जन, तथा आवरण–नामक प्राजापत्यविवर्त्त का संस्मरण, तत्सम्बद्धा माता मातङ्गी भगवती के–'घनश्यामलाङ्गी' रूप–महिमामय–स्वरूप का संस्मरण, तथा मातङ्गी के विभिन्न नैदानिक–ध्यानात्मक–विशेषणों का पारिभाषिक–समन्वय, और नवमी महाविद्या माता मातंगी के स्वरूप का ध्यानमन्त्रानुगत उपराम—

चित्यभूपिण्ड में तमोगुण का आत्यन्तिक विकास है, अतएव पार्थिव प्रजापति 'साञ्जन–सावरण–प्रजापति' कहलाए हैं। गुणदृष्ट्या भी भौमविवर्त्त तमोमय है, एवं रूपदृष्ट्या भी भूपिण्ड तमोमय है।

अतएव इस से सम्बद्धा मातङ्गी 'घनश्यामलाङ्गी' मानी गई है। कृष्ण भूपिण्ड ही इस मातङ्गी का शरीर है। इसी का निदान 'शशिशेखर' है। पार्थिवप्रजा पार्थिव शरीर में ही मोदमाना है। अतएव मातङ्गी को मोद-प्रवर्त्तिका माना गया है। तमोगुण के प्राधान्य से शरीरी प्राणी इस मातङ्गी -योगमाया के द्वारा आत्मविस्मृत बना रहता है। 'सुरापानमत्ता' इसी स्थिति का निदान है। भूपिण्डानुगत मतङ्ग-शिवानुगता जगन्माता मातङ्गी के इसी नैदानिक स्वरूप का निम्न लिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है—

१-श्यामां शुभ्रांशुमालां त्रिनयनकमलां रत्नसिंहासनस्थाम्।
भक्ताभीष्टप्रदात्रीं, सुरनिकरकरासेव्यकञ्जाङ्घ्रियुग्माम्॥
नीलाम्भोजांशुकान्तिं निशिचरनिकरारण्यदावाग्निरूपाम्।
पाशं खड्गं चतुर्भिर्वरकमलकरैः खेटकञ्चाङ्कुशञ्च।
मातङ्गीमावहन्तीमभिमतफलदां मोदिनीं चिन्तयामि॥
२-घनश्यामलाङ्गीं स्थितां रत्नपीठे शुकस्योदितं शृण्वतीं रक्तवस्त्राम्।
सुरापानमत्तां सरोजस्थिताङ्घ्रिं भजे वल्लकीं वादयन्तीं मतङ्गीम्॥
३-श्यामाङ्गीं शशिशेखरां त्रिनयनां रत्नसिंहासनस्थिताम्।
वेदैर्बाहुदण्डैरसिखेटकपाशाङ्कुशधराम्।

इति-मातङ्गी-स्वरूप-दिग्दर्शनम्

—९—

(१०)-सदाशिव-विष्णु, और उसकी महाविद्या कमला
(दशमी-कमला-महाविद्या)

४३२-भूपिण्डानुगता नवमी-मातङ्गी-भगवती का सिंहावलोकन-न्यायानुगत-संस्मरण, एवं भूमण्डलानुगता सदाशिवविष्णु की अर्द्धाङ्गिनी-महाशक्ति-भगवती 'कमला' नाम की महाविद्या का पावन-संस्मरण, माता कमला से अभिन्न त्रिविक्रममूर्त्ति-सदाशिवविष्णु के त्रैलोक्यात्मक-सुप्रसिद्ध-स्तोमत्रयानुबन्धी तीन विक्रमों का नैगमिक-स्वरूप-समन्वय, अग्नि-सोममय-पार्थिव-प्राणाग्नि-की यज्ञरूपता का दिग्दर्शन, तद्रूप सदाशिवविष्णु, एवं उनकी-'वामनविष्णु' नाम की अभिधा का संस्मरण—

पूर्वपरिच्छेद में कहा गया है कि, भूपिण्ड के साथ जहाँ मातङ्गी का सम्बन्ध है, वहाँ भूमण्डल के साथ कमला का सम्बन्ध है। इसी जगन्माता की दो शब्दों में स्तुति कर दशमहाविद्या-स्तम्भ उपरत किया

जाता है। भूकेन्द्र में प्रतिष्ठित प्राणरसाग्नि का ऊर्ध्वगमन हुआ। इसका प्रथमगमन त्रिवृत्स्तोम पर समाप्त हुआ, द्वितीय गमन पञ्चदशस्तोम पर समाप्त हुआ। सप्तदशस्थ सोम इस प्राणाग्नि में आहुत हुआ। इससे प्रज्वलित प्राणाग्नि एकविंशस्तोम पर्य्यन्त व्याप्त होगया, यही इसका तीसरा गमन हुआ। पार्थिव महिमा-मण्डल के ९-१५-२१ स्तोमप्रदेश ही क्रमशः पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौः, ये तीन लोक हैं, तीनों पार्थिव रज हैं, यही महिमा-मण्डलात्मिका पार्थिवी स्तोमत्रिलोकी है, जो सूर्य्यानुगता रोदसीत्रिलोकी के गर्भ में प्रतिष्टिता, किन्तु एक स्वतन्त्र त्रिलोकी है। रोदसी-त्रिलोकी जहाँ रुद्रपत्नी मानी गई है, वहाँ यह पार्थिवत्रिलोकी रूपा महापृथिवी विष्णुपत्नी मानी गई है। अग्निसोममय पार्थिव प्राणाग्नि ही यज्ञमूर्त्ति विष्णु हैं, ये ही निगम शास्त्र में 'वामनविष्णु' नाम से प्रसिद्ध हैं।

४३३-पार्थिव त्रैलोक्य में अभिव्याप्त त्रिविक्रम-मूर्त्ति वामन-विष्णु, सप्तः-आप-स्तरात्मक-पार्थिव-समुद्र की अर्णवरूपता का समन्वय, 'समुद्रमभितः पिन्वमानम्' इत्यादि निगमवचन-का संस्मरण, एवं सर्वव्यापक-शिवात्मक-अप्तत्त्व से परिवेष्टित पार्थिव विष्णु की 'सदाशिवरूपता' का पारिभाषिक-स्पष्टीकरण—

त्रिवृद्रूपा पृथिवी इनका प्रथम विक्रम है, पञ्चदशात्मक अन्तरिक्ष द्वितीय विक्रम है, एवं एकविंशरूप द्युलोक तृतीय विक्रम है। तीन विक्रमों से भूकेन्द्रस्थ आग्नेय विष्णु पार्थिव त्रैलोक्य में व्याप्त होरहे हैं। भूपिण्ड के चारों ओर सप्तविध आपः स्तर माने गए हैं। सप्त-आपः-स्तरात्मक यही पार्थिव समुद्र 'अर्णव' कहलाया है। 'समुद्रमभितः पिन्वमानम्' के अनुसार भूपिण्ड अर्णव समुद्र से वेष्टित है। इस अभितः परिव्याप्त समुद्र से अग्निमूर्त्ति विष्णु सदा-शिवभाव में परिणत रहते हैं। अतएव आगम-शास्त्र में ये 'सदाशिवविष्णु' नाम से व्यवहृत हुए हैं।

४३४-त्रैलोक्य व्यापक,-'आपो वै पुष्करपर्णम्' मूलक-सुप्रसिद्ध-पार्थिव-'पद्म', पार्थिव त्रिलोकी की पुष्करपर्णरूपता (कमलपत्रात्मकता) का पारिभाषिक-समन्वय, तच्छक्तिरूपिणी माता भगवती 'कमला', और उसके 'कमलासना' रूप के सैद्धान्तिक-स्वरूप का समन्वय—

यही त्रैलोक्य व्यापक अप्तत्त्व 'आपो वै पुष्करपर्णम्' के अनुसार पद्म है। इसी आधार पर यह आपोमय पार्थिव-त्रिलोकी निगमशास्त्र में 'पुष्कर-पर्ण' कहलाई है। यही सदाशिवविष्णु, एवं तदभिन्ना महाशक्ति कमला की प्रतिष्ठा (आसन) है। अतएव यह कमलासना कहलाई है। यह तो हुआ कमला का आधिदैविक स्वरूप। अब दो शब्दों में इसके नाक्षत्रिक स्वरूप की भी मीमांसा कर लीजिए।

४२५-ज्येष्ठा-नामक (अवरोहिणी-नामक) सुप्रसिद्ध नक्षत्र से षड्भान्तर पर अवस्थित सुप्रसिद्ध रोहिणी-नामक (आरोहिणी-नामक) नक्षत्र की नाक्षत्रि की-कमलारूपता का दिग्दर्शन, एवं ज्येष्ठाभिन्न-अलक्ष्मी-धूमावती-से स्पर्द्धमाना रोहिणी से अभिन्ना-लक्ष्मी-कमला-भगवती के आगमशास्त्रानुबन्धी रहस्यपूर्ण नैदानिक-ध्यानमन्त्र का पावन-संस्मरण, तथा दशमी महाविद्या के माङ्गलिक-स्वरूप का उपराम—

धूमावती-निरूपण में स्पष्ट किया गया है कि, ज्येष्ठा नक्षत्र से षड्भान्तर पर प्रतिष्ठित रोहिणी नक्षत्र ही कमला है, यही लक्ष्मी है। समस्त पार्थिवी लक्ष्मी का उक्थात्मक कोश यही रोहिणी नक्षत्र माना गया है। अतएव रोहिणी नक्षत्र में उत्पन्न शिशु सुसमृद्ध माना गया है। धूमावती का ठीक प्रतिद्वन्द्वी भाव कमला है। वह ज्येष्ठा थी, यह कनिष्ठा है। वह अवरोहिणी थी, यह रोहिणी (आरोहिणी) है। वह आसुरी थी, यह दिव्या है। वह दरिद्रा-अलक्ष्मी थी, यह सुसम्पन्ना-लक्ष्मी है। निम्नलिखित आगममन्त्रवर्णन इसी महाविद्या के नैदानिक स्वरूप का विश्लेषण कर रहा है—

कान्त्या काञ्चनसन्निभा हिमगिरिप्रख्यैश्चतुर्भिर्गजैः
हस्तोत्क्षिप्तहिरण्मयामृतघटैरासिच्यमानां श्रियम्।
बिभ्राणा वरमब्जयुग्ममभयं हस्तैः किरीटोज्ज्वलाम्-
क्षौमाबद्धनितम्बबिम्बवलितां वन्देऽरविन्दस्थिताम्॥

—शाक्तप्रमोदे कमलातन्त्रे

इति-कमला-स्वरूप-दिग्दर्शनम्

—१०—

———*———

४२६-दशमहाविद्या-समष्टि का गुणत्रयभेद के आधार पर निगमाचार्य्यों के द्वारा त्रिधा वर्गीकरण, पञ्चावयव-विश्व के शिरः-हृदय-चरण-मूलक सुप्रसिद्ध तीन प्रमुख संस्थान, तन्निबन्धना-उत्पत्ति-मूला-विश्वविद्या प्रथमा, स्थितिमूला विश्वविद्या द्वितीया, संहारमूला विश्वविद्या-तृतीया-भेदेन विद्यात्रयी का संस्मरण, एवं सुप्रसिद्ध त्रिशक्तिवाद का समन्वय-प्रयास—

दशमहाविद्या को निगमागमाचार्य्यों नें गुणत्रयभेद से तीन भागों में भी विभक्त माना है। पञ्चावयव विश्व के स्वयम्भू, सूर्य्य, पृथिवी, तीनों क्रमशः शिरः, हृदय पादरूप विवर्त्त है। स्वयम्भू आदिपर्व है, सूर्य्य

मध्यपर्व है, पृथिवी अग्निमपर्व है। इस दृष्टि से स्वयम्भूविद्या, सूर्य्यविद्या, पृथिवीविद्या, रूपेण १० महा-विद्याओं का तीन महाविद्याओं में भी अन्तर्भाव माना जासकता है। स्वयम्भूविद्या उत्पत्तिमूला विश्वविद्या है, सूर्य्यविद्या स्थितिमूला विश्वविद्या है, पृथिवी-विद्या संहारमूला विश्वविद्या है। यह एक वैज्ञानिक सिद्धान्त है कि, जो जिस शक्ति का घन होता है, वह स्वयं उस शक्ति का उपयोग नहीं करसकता। घनशक्तिरूप तत्व से शक्तिमात्रा का आदान कर अन्य ही उस शक्ति का उपयोग किया करता है। इसी तात्त्विक सिद्धान्त को आधार मान कर इस त्रिशक्तिवाद का समन्वय करना चाहिए।

४३७-प्राणप्रधान-ज्ञानशक्तिघन-चित्पत्ति-'ब्रह्मा', तन्निबन्धन सत्त्वगुण, आपः-प्रधान-क्रियाशक्तिघन क्रियापति-'विष्णु', तन्निबन्धन रजोगुण, एवं सौराग्नि-प्रधान-अर्थशक्तिघन-'रुद्र' तन्निबन्धन तमोगुण, रुद्रभगवान् के 'पशुपति' स्वरूप का पारिभाषिक-समन्वय, एवं ज्ञानात्मा-ब्रह्मा, कर्म्मात्मा विष्णु, भूतात्मा-रुद्र-नाम की देवतात्रयी का नैगमिक-स्वरूप-समन्वय-प्रयास, और 'त्रिमूर्त्ति' का संस्मरण —

आपोमय परमेष्ठी को अपने गर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाला स्वायम्भुव प्राणप्रधान तत्त्व ही 'ब्रह्मा' है, यह ज्ञानशक्तिघन है, अतएव यह 'चित्पति नाम से व्यवहृत हुए हैं। ज्ञानज्योति का सत्त्वगुण से सम्बन्ध है, अतएव चित्पति ब्रह्मा सत्त्वमूर्ति माने गए हैं। आपोमय परमेष्ठी से युक्त स्वायम्भुव चित्प्राण (ज्ञानशक्ति), से तथा सोममय चन्द्रमा से युक्त पार्थिव भूत (अर्थशक्ति) से युक्त मध्यस्थ सौर वाक्प्रधानतत्त्व ही ज्ञान-क्रियार्थमूर्त्ति, किन्तु क्रियाप्रधान (कर्मप्रधान-यज्ञप्रधान *)। तत्त्व ही विष्णु है, यह क्रियाप्रधानात्मक यज्ञ कर्मप्रधान है, अतएव यह यज्ञपति नाम से व्यवहृत हुए हैं। सौरप्राण ही देवदेवता है। अतएव इस विष्णुतत्त्व को 'देवपति' भी कहा जासकता है। क्रियाशक्ति रजोगुण से सम्बन्ध रखती है। अतएव यज्ञपति, किंवा देवपति विष्णु रजोमूर्त्ति माने गए हैं। सौर इन्द्र, चान्द्रसोम, को प्रवर्ग्य सम्बन्ध से स्वगर्भ में भुक्त रखने वाला पार्थिव अन्नादप्रधान तत्त्व ही रुद्र है। यह अर्थशक्तिघन है, अतएव ये 'अर्थपति' नाम से व्यवहृत हुए हैं। अर्थ ही भूत है। अतएव इन्हें भूतपति, भूतनाथ, आदि नामों से व्यवहृत करना भी अन्वर्थ बनता है। भूताग्नि ही 'यदपश्यत्-तस्मात् पशुः' (शत० ब्राह्मण) इत्यादि निर्वचन से पशु है। अतएव रुद्रभगवान् 'पशुपति' भी कहलाए हैं। अर्थशक्ति का तमोगुण से सम्बन्ध है। अतएव अर्थपति रुद्र तमोमूर्त्ति माने गए हैं। यही त्रिमूर्त्ति का तात्त्विक विश्लेषण है।

१-स्वायुम्भुवो ब्रह्मा-ज्ञानशक्तिघनः—सत्त्वमूर्त्तिः (चित्पतिः-शुक्लवर्णः-ज्ञानात्मा)।

२-सौरो विष्णु—क्रियाशक्तिघनः—रजोमूर्त्तिः (देवपतिः—रक्तवर्णः—कर्म्मात्मा)।

३-पार्थिवो रुद्रः—-अर्थशक्तिघनः—तमोमूर्त्तिः (भूतपतिः—कृष्णवर्णः—भूतात्मा)।

* * *

---

*—"यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म्म-श्रेष्ठतमाय कर्म्मणे"।

४३८--रसाधारानुगता बलग्रन्थियों से अनुप्राणित संसृष्टिलक्षण-सृष्टिस्वरूप--का संस्मरण, पाप्मा--भाव का प्रवर्त्तक--'अञ्जन' नामक परिग्रह, तदनुगत--तमोगुण, एवं सत्त्व-रजः--तमो--गुण--भेद--भिन्न--त्रिदेवताओं से अनुप्राणित सृष्टि--स्थिति--विनाश-भावों के सहज धाराक्रम का सहज--स्वरूप--दिग्दर्शन, एवं शक्तित्रय के अन्यो-ऽन्याश्रित रहस्य-पूर्ण-धर्म्मों का समन्वय प्रयास—

रसाधार पर होने वाली बलग्रन्थियाँ, बलसंसृष्टियाँ हीं सृष्टि का स्वरूप है। आवरण, अञ्जन, नाम के पाप्मा ही इस तमोगुण-प्रधान सृष्टि के मूल माने गए हैं। पार्थिव रुद्र इसी तमोगुण की प्रतिकृति हैं। परन्तु पूर्वोक्त सिद्धान्तानुसार तमोरूप स्वयं रुद्र अपनी इस शक्ति का उपयोग नहीं कर सकते। उपयोग करते हैं सत्त्वमूर्त्ति ज्ञानशक्तिघन ब्रह्मा। ज्ञानशक्तिरूप चित्पति ब्रह्मा ही रुद्रात्म, अर्थमय तमोगुण के द्वारा तमोगुण-प्रधान विश्व के निर्म्माता बनते हैं। अतएव सत्त्वमूर्त्ति स्वायम्भुव ब्रह्मा सृष्टिकर्त्ता माने गए हैं। पूर्वोक्त बलग्रन्थियों के विमोक का नाम ही प्रलय है, यही अक्षरग्रन्थिविमोक मुक्तिभाव है। सत्त्वगुण ही इस मुक्ति-लक्षण लयभाव का प्रवर्त्तक है। परन्तु सत्वरूप स्वयं ब्रह्मा अपनी इस शक्ति का उपयोग करने में असमर्थ हैं। उपयोग करते हैं-तमोमूर्त्ति-अर्थशक्तिघन रुद्र। अर्थशक्तिघन भूतपति शिव (शिव का रुद्ररूप) ही ब्रह्मात्मक सत्वगुण के द्वारा तमोगुणप्रधान विश्व के संहारक बनते हैं। अतएव तमोमूर्त्ति पार्थिव रुद्र सृष्टिसंहारक माने गए हैं। मध्यस्थ विष्णु दोनों शक्तियों से विश्वगामिना सम्भूति, विनाश के, स्वशक्ति से स्थिति भाव के प्रवर्त्तक बने हुए हैं।

४३९--ज्ञानशक्तियुत--चित्पति स्वायम्भुव ब्रह्मा, और उनकी महाशक्ति ब्रह्माणी (सरस्वती), क्रियाशक्तियुत--कर्म्मपति--पारमेष्ठ्य-विष्णु और उनकी महाशक्ति वैष्णवी (लक्ष्मी), तथा अर्थशक्तियुत--भूतपति--सौर--रुद्र, एवं उनकी महाशक्ति रुद्राणी (काली) का पावन संस्मरण, तथा तीनों के सृष्टिकर्तृत्त्व--पालकत्त्व, मुक्तिप्रदातृत्त्व--धर्म्मों का समन्वय-प्रयास, और शक्तिस्वरूप--प्रतिपादक--निगम--(श्रौत) वचन का संस्मरण—

परमेष्ठी से युक्ता स्वायम्भुवी शक्ति ही महासरस्वती है, सौरी शक्ति ही महालक्ष्मी है, एवं पार्थिवी शक्ति ही महाकाली है। विश्वव्यापक अज पुरुष की प्रकृतिरूपा अजा विश्वोपाधिरूपा त्रिगुणात्मिका योगमाया के त्रिधा व्यवस्थित होने से तीन भावों में परिणत होरही है। ब्रह्मपत्नी सरस्वती रुद्रपत्नी महाकाली के द्वारा विश्वनिर्म्मात्री है। रुद्रपत्नी महाकाली ब्रह्मपत्नी महासरस्वती के द्वारा मुक्तिप्रदात्री है। विष्णुपत्नी महालक्ष्मी उभय सद्योग से विश्वपालनकर्त्री है। यही दशमहाविद्यात्मिक त्रिशक्तिवाद का संक्षिप्त विश्लेषण है, जिसका निम्नलिखित निगम वचन से समर्थन हुआ है—

अजामेकां लोहित--शुक्ल--कृष्णां,--बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥

—श्वेताश्वतरोपनिषत् ४।५।

१–ब्रह्मा—ब्रह्माणी—महासरस्वती (महाकाल्याः सहयोगेन सृष्टिकर्त्री सत्त्वानुगता-शुक्ला)।

२–विष्णुः—वैष्णवी—महालक्ष्मी (सर्वात्मिका–पालनकर्त्री–रजोऽनुगता–रक्ता)।

३–रुद्रः—रुद्राणी—महाकाली (महासरस्वत्याः सहयोगेन मुक्तिप्रदात्री–तमोऽनुगता–कृष्णा)

*   *   *

(१०) १ महाकाली } ——पार्थिवी-महाकाली

(९) १ तारा
(८) २ षोडशी } ————सौरी—महालक्ष्मी———*

(७) १ भुवनेश्वरी
(६) २ छिन्नमस्ता
(५) ३ भैरवी
(४) ४ धूमावती } —स्वायम्भुवी–महासरस्वती
(३) ५ वल्गामुखी
(२) ६ मातङ्गी
(१) ७ कमला

तस्यास्तु सात्त्विकी शक्ति राजसी तामसी तथा
महालक्ष्मीः सरस्वती महाकालीतिताः स्त्रियः
—देवीभागवते १।२।२०

४४०–शक्तित्रयानुबन्धिनी-'महासरस्वती' के प्राणमयत्त्व, तथा वाङ्मयत्त्व का समन्वय, आपोमय परमेष्ठी के तात्त्विक स्वरूप का संस्मरण, तद्गर्भीभूत शब्दब्रह्म, तथा, अर्थब्रह्म का दिग्दर्शन, तथा प्राणमयी–स्वायम्भुवी वाक् के द्रवणधर्म्म से अभिव्यक्त शब्दार्थमूर्त्ति आपोमय–परमेष्ठी का पारिभाषिक–स्पष्टीकरण–प्रयास—

तीनों शक्तितत्त्वों में से महाकाली, महालक्ष्मी, इन दोनों के नैदानिक स्वरूपों का पूर्व में दिग्दर्शन कराया जाचुका है। अब दो शब्दों में महासरस्वती के भी नैदानिक ध्यान का प्रासङ्गिक विश्लेषण कर दिया जाता है। स्वायम्भुव ब्रह्मपुरुष-लक्षण चित्पति की शक्ति को पूर्व में 'सरस्वती' कहा गया है। प्रकृतिदृष्टया यह

प्राणमयी है, आत्मदृष्टया वाङ्मयी है। मनःप्राणवाङ्मय अव्ययात्मा की वाक्कला का प्राधान्य अव्यक्त स्वयम्भू में है, इसलिए तो स्वयम्भू वाङ्मय है। एवं 'प्राणः-आपः-वाक्-अन्न-अन्नादः' इन पाँच विकारक्षरों में से प्रथम प्राणक्षर का स्वयम्भू से सम्बन्ध है, इसलिए स्वयम्भू प्राणमय है। स्वायम्भुव प्राकृत प्राण 'यत्' है, स्वायम्भुवी आत्मवाक् 'जू' है, उभयसमष्टि 'यज्जू' है। प्राणमयी यह यजुर्वाक् ही वेदवाक् है। यही सत्यावाक् है, यही मौलिक सारस्वत ब्रह्म है। इसका आगे जाकर शब्दब्रह्म, अर्थब्रह्म, रूप से द्विधा विकास होता है। प्राणमय स्वायम्भुवी वाक् ही यत्किञ्चित् प्रदेश से द्रुत होकर आपोमय परमेष्ठी के रूप में परिणत हुई है, जैसाकि पूर्व-परिच्छेदों में यत्रतत्र विस्तार से बतलाया जाचुका है।

४४१–स्वायम्भुवी यजुर्वाक् से उत्पन्न आपः की स्नेह–तेजोरूपता, स्नेहगुणान्विता आपोमयी भार्गवी–आम्भृणीवाक्, और लक्ष्मीतत्त्व, तेजोगुणान्विता-आपोमयी-आङ्गिरसी वाक्, और सरस्वतीतत्त्व, आम्भृणीवाग्धारात्मक अर्थब्रह्म का, तथा सरस्वतीवाग्धारात्मक शब्दब्रह्म का पावन-संस्मरण—

स्वायम्भुवी यजुर्वाक् से उत्पन्न 'आपः' स्नेह–तेजोभावापन्न हैं। स्नेहगुणक अप्तत्त्व सोमप्रधान भृगुतत्त्व है, तेजोगुणक अप्तत्त्व अग्निप्रधान अङ्गिरातत्त्व है। भार्गवीवाक् 'आम्भृणीवाक्' है, आङ्गिरसीवाक् सरस्वतीवाक् है। इसप्रकार भृगु-अङ्गिरा के भेद से पारमेष्ठ्यरूपा स्वायम्भुवी वाक् की दो धाराएँ होजाती हैं। आम्भृणीवाग्धारा से अर्थब्रह्म का विकास होता है, एवं सरस्वतीवाग्धारा से शब्दब्रह्म का।

४४२–स्वायम्भुवी वाक् के योषा-वृषा-नामक दो पर्व, शब्दार्थ का रहस्यात्मक औत्पत्तिक-सम्बन्ध, 'सरस्वान्' नामक पारमेष्ठ्य–समुद्र, और तदभिन्ना महाशक्ति-'सरस्वती' एवं तन्निबन्धना-'सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्, वागेव साऽसृज्यत' श्रुति का समन्वय, "वीणा" का नैदानिक रूप, श्वेतवस्त्र-तुषारहारादि का पारिभाषिक- समन्वय, तथा सरस्वती के नैदानिक-ध्यानमन्त्रों का संस्मरण—

दोनों एक ही स्वायम्भुवी–वाक् के योषा-वृषात्मक दो पर्व हैं, अतएव दोनों का औत्पत्तिक सम्बन्ध माना गया है। जिसप्रकार रोदसी–समुद्र अर्णव, संयती-समुद्र नभस्वान्-कहलाया है, तथैव आङ्गिरसी सरस्वतीवाक् के सम्बन्ध से परमेष्ठ्यनुगता छन्दसी का समुद्र 'सरस्वान्' नाम से व्यवहृत हुआ है। सम्पूर्ण रसों का उद्गम इस आपोमय परमेष्ठी से ही हुआ है–'आपोमयाः सर्वरसाः'। जिसप्रकार नादवाक् का सम्बन्ध स्वयम्भू के परमाकाशमण्डल से है, स्वरवाक् का सम्बन्ध सूर्य्य से है, वर्णवाक् का सम्बन्ध पृथिवी से है, एवमेव श्रुतिवाक् का सम्बन्ध परमेष्ठी–भुक्ता सरस्वती वाक् से है। स्वायम्भुव औपनिषद पुरुष (वेदपुरुष–ब्रह्मनिःश्वसितवेद) का प्रथम इसी रूप में (परमेष्ठीरूप में) अवतार हुआ है–'सोऽपोऽसृजत, वाच एव लोकात्। वागेव सा सृज्यत'। अतएव सारस्वततत्त्व औपनिषद सिद्धान्त माना गया है। श्रुतिवाक् का निदान वीणा है, स्वत्त्वगुण के निदान श्वेतपद्म-श्वेतवस्त्र–तुषारहार–आदि हैं, जैसाकि निम्नलिखित ध्यान-वर्णनों से स्पष्ट है—

१–या कुन्देन्दुतुषारहारधवला या शुभ्रवस्त्रावृता ।
या वीणावरदण्डमण्डितकरा या श्वेतपद्मासना ।
या ब्रह्माच्युतशङ्करप्रभृतिभिर्देवैः सदा वन्दिता ।
सा मां पातु सरस्वती भगवती निःशेषजाड्यापहा ॥

२–शुक्लां ब्रह्मविचारसारपरमामाद्यां जगद्व्यापिनीं ।
वीणापुस्तकधारिणीमभयदां जाड्यान्धकारापहाम् ।
हस्ते स्फाटिकमालिकां विदधतीं पद्मासने संस्थितां ।
वन्दे तां परमेश्वरीं भगवतीं बुद्धिप्रदां शारदाम् ॥

३–सिद्धान्तमौपनिषदं, सिद्धान्तं परमेष्ठिनः ।
शोणाधरमहः किञ्चित्, वीणाधरमुपास्महे ॥

४–तद्दिव्यमव्ययं धाम सारस्वतमुपास्महे ।
यत् प्रसादात् प्रलीयन्ते मोहान्धतमसच्छटा ॥

—*—

रात्रितत्त्व, और दशमहाविद्या-का प्रासङ्गिक स्वरूप-विश्लेषण—

४४३–रात्रितत्त्वानुगता 'दशमहाविद्या' से अनुप्राणित 'रात्रि' तत्त्व के पारिभाषिक-रहस्यात्मक-स्वरूप का उपक्रम, ऐन्द्र-अहः, वारुणी-रात्रि का नैगमिक-स्वरूप-परिचय, अहस्पति-दिनकर-सूर्य्यनारायण, तथा रात्रिपति-निशाकर-चन्द्रमा का स्वरूप-संस्मरण—

'निदानविद्या' का परिचय कराते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि, सूर्य्यमूला विद्या निगमविद्या है, एवं पृथिवीमूला विद्या आगमविद्या है । सूर्य्य ज्योतिर्म्मय है, अहःकालाधिष्ठाता है । पृथिवी तमोमयी है, रात्रि-कालाधिष्ठात्री है । अहः ऐन्द्र है, मैत्र है । रात्रि वारुणी है । अहः आग्नेय है, रात्रि सौम्या है । अग्नि पुरुष है, शिव है, सोम स्त्री है, शक्ति है, प्रकृति है । आगमविद्या क्योंकि सोमात्मिका प्रकृतिविद्या है, शक्तिविद्या है, अतएव इसे 'रात्रिविद्या' कहना अन्वर्थ बनता है । इसी आधार पर आगमोक्त यच्चयावत् उपासनाप्रकार रात्रि में ही प्रधानरूप से अनुष्ठेय, एवं विशेषफलप्रद माने गए है । चन्द्रमा सोममय है, सोम का रात्रि से सम्बन्ध है, अतएव रात्रितत्त्व का सम्बन्ध चन्द्रमा से माना गया है, अतएव च चन्द्रमा 'निशाकर'-'निशानाथ' आदि नामों से व्यवहृत हुआ है । सूर्य्य अग्निप्रधान है, अग्नि का अहः से सम्बन्ध है, अतएव अहस्तत्त्व का सम्बन्ध सूर्य्य से माना गया है, अतएव च सूर्य्य 'दिनकर'-'अहस्पति' आदि नामों से प्रसिद्ध हैं ।

४४४-रात्रितत्त्व-प्रवर्त्तक-सौम्य चन्द्रमा, अश्विन्यादि २७ नक्षत्रों का संस्मरण, नक्षत्रानुगत-भोगकाल की स्वरूप-मीमांसा, आकाश के सुप्रसिद्ध तीन खण्ड, एवं तन्निबन्धन सुप्रसिद्ध 'खण्डान्तयोग', और तन्निबन्धन-वर्त्तमानव्यवहारानुगत-'गण्डान्तयोग' का स्वरूप-दिग्दर्शन—

रात्रितत्त्व-प्रवर्त्तक सौम्य चन्द्रमा उडुपति (नक्षत्रपति) माने गए हैं। खगोलसंस्था में अश्विन्यादि रेवत्यन्त २८ नक्षत्र माने गए हैं। इन में अभिजिन्नक्षत्र का उत्तराषाढ, श्रवण, दोनों के मध्य में अन्तर्भाव है, अतएव २८ के स्थान में २७ ही नक्षत्र मान लिए जाते हैं। इन २७ नक्षत्रों में मेष-वृष-मिथुनादि १२ राशियाँ भुक्त हैं। प्रत्येक नक्षत्र के चार चार पाद हैं। चतुष्पाद नक्षत्रों में भुक्त मेषादि राशियों का समानधारानुगत एक विद्युत् प्रवाह नवम-नवम नक्षत्र पर विश्रान्त है। अश्विनी, भरणी, कृत्तिका का एक पाद, इस नक्षत्रस्थिति में मेषराशि भुक्त है। कृत्तिका पादत्रय, रोहिणी, मृगशिरापादद्वय पर्य्यन्त वृषराशि भुक्त हैं। मृगशिरापादद्वय, आर्द्रा, पुनर्वसुपादत्रय पर्य्यन्त मिथुनराशि भुक्त है। पुनर्वसु पादमेकं, पुष्य, अश्लेषा-पर्य्यन्त कर्कराशि भुक्त है। तात्पर्य्य ९-९ चरणों की एक एक राशि है। एवं ३६ वें ३६ वें चरण पर नक्षत्रविद्युत् का अवसान है। अश्लेषान्ते च कर्क, ज्येष्ठान्ते च धन, रेवत्यन्ते च मीन, इस भाँति ३६-३६ चरणात्मक ९-९ नक्षत्रों के मण्डल में ४-४ राशियाँ भुक्त हैं। क्योंकि नौ नक्षत्रों में पाद-समन्वय से समान-अविच्छिन्न-विद्युद्धारा प्रवाहित रहती है, अतएव नवनक्षत्रात्मक एक स्वतन्त्र खण्ड मान लिया जाता है। फलस्वरूप २७ नक्षत्रों के, चार-चार-राशियुक्त तीन आकाश खण्ड होजाते हैं। इन खण्डों की सन्धि में विद्युत् प्रवाह विच्छिन्न है, अतएव यह योग 'खण्डान्तयोग' कहलाया है, जो वर्त्तमान ज्यौतिष-परिभाषा में 'गण्डान्तयोग' कहलाया है।

४४५-त्रिखण्डात्मक-२७ नक्षत्रात्मक-४ राशिसमन्वित-खगोल की परिक्रमा से अनुगत सौम्यशक्तियुत-चन्द्रमा, तदनुगत ४० नवरात्र, तत्र चार नवरात्रों का प्राधान्य, तत्रापि दो नवरात्रों का प्राधान्य, तत्रापि आश्विन-पक्षीय-नवरात्रों के ही महत्त्व का संस्थापन, एवं शक्तिसम्बन्धानुगत 'नवरात्र' तत्त्व के रहस्यात्मक-स्वरूप का स्पष्टीकरण-प्रयास—

त्रिखण्डात्मक, २७ नक्षत्रात्मक, ४ राशियुक्त, खगोल की एक परिक्रमा चन्द्रमा २७ दिन में समाप्त कर लेते है। पूरे २७ नहीं, कुछ अधिक। एक एक नक्षत्र का भोग एक एक रात्रि में होजाता है। यही २७ रात्रिरूप एक चान्द्रमास है। ३६० अहोरात्रात्मक एक सौर सम्वत्सर में चन्द्रमा की ऐसी १२ परिक्रमा होजातीं हैं। फलतः एक सौर सम्वत्सर में ९-९-के विभाग से ४० नवरात्र होजाते हैं। इन ४० चन्द्रमानुगत रात्रितत्त्व की दृष्टि से ही इन नव-नव-नक्षत्रात्मक विभागों को 'नवरात्र' कहा जाता है। इन ४० नवरात्रों में उत्तरायण, दक्षिणायन, वसन्तसम्पात, शरत्सम्पात, से सम्बद्ध ४ नवरात्र प्रधान हैं, क्योंकि चारों में विशेष परिवर्त्तन होता है। चारों नवरात्रों में भी वसन्त, शरत् के (चैत्र, और आश्विन के) दो नवरात्र प्रधान हैं। क्योंकि दोनों का विष्वद्वृत्त से सम्बन्ध है, एवं विष्वद्वृत्त ही पार्थिव-प्रजा की मुख्य प्रतिष्ठा

माना गया है। दोनों में शक्तिह्रास स्वाभाविक है। अतएव दोनों से युक्त चैत्र, आश्विन-महीनों में शक्ति-ह्रास के कारण रोग विशेषरूप से आक्रमण करते हैं। दोनों नवरात्रों में भी शारद्-नवरात्र का इसलिए विशेष महत्त्व है कि, वर्षाकालोपरति के अनन्तर शक्ति अतिशयरूप से निर्गत होजाती है। यह समय 'यम-दंष्ट्रा' नाम से प्रसिद्ध है। इसी शक्ति के पुनःसन्धान के लिए आश्विन-नवरात्र में शक्त्युपासना प्रधान मानी गई है, जिस का तात्त्विक प्रकार निगमतत्त्व–विलुप्ति के साथ साथ आज अधिकांश में विलुप्त होगया है।

४४६–सोमानुगत 'रात्रि'–तत्त्व, तन्निबन्धना महाविद्याएँ, एवं 'रात्रि' अभिधा का समन्वय, महाविद्यात्मिका महारात्रियों का संस्मरण, रात्रितत्त्व-निबन्धन-महारात्रि-मोहरात्रि-क्रोधरात्रि-कालरात्रि-दारुणरात्रि-आदि पारिभाषिक-आगमशास्त्रानुबन्धी शब्दों का पारिभाषिक-समन्वय-प्रयास, एवं परिलेख के माध्यम से रात्रिभावों के तात्त्विक-स्वरूप का स्पष्टीकरण—

उक्त निदर्शन से प्रकृत में यही निवेदन अभीष्ट है कि, रात्रितत्त्व सोमानुगत है। सोमतत्त्व शक्त्यनुगत है। शक्तितत्त्व आगमविद्यानुगत है। अतएव आगमानुगता दशमहाविद्याएँ 'रात्रि' नाम से ही व्यवहृत हुई हैं। विश्वान्तर्गता अन्यान्य–स्वरूप–स्वरूप–विद्याओं की अपेक्षा यद्यपि दशों ही महा-विद्याएँ महारात्रियाँ हैं। तथापि इन के पारस्परिक अपेक्षाभाव से महारात्रि, क्रोधरात्रि, कालरात्रि, आदि भावों की व्यवस्था हुई है। सापेक्षभाव-दृष्टया भी इस रात्रितत्त्व की विविध व्यवस्थाएँ हुई हैं। उदाहरण के लिए–शिवरात्रि कालरात्रि है। कारण स्पष्ट है। तन्त्वतन अग्नि ही रुद्र है, यही कालात्मक संहारकर्त्ता है। फाल्गुनी शिवरात्रि से ग्रीष्मऋतु का उपक्रम है, रुद्र का उपक्रम है। अतएव इसे कालरात्रि कहना अन्वर्थ बनता है। जलाभिषेक के द्वारा इस रुद्र को प्रयत्नपूर्वक शिव बनाया जाता है। जन्माष्टमी मोहरात्रि है। रोहिणीरूपा लक्ष्मी का इस रात्रि में प्राधान्य है। लक्ष्मी के द्वारा ही सब विमोहित हैं। दीपावली दारुणरात्रि है। निर्ऋति ही इस का बीज है। आश्विनशुक्ला-अष्टमी मोहरात्रि है। इसी रात्रिव्यवस्था का दशमहा-विद्याओं के साथ समन्वय करना चाहिए, जैसा कि आगे के परिलेख से स्पष्ट है—

पूर्णविराट्	न्यूनविराट्	शक्तिः	शिवः	विद्या	रात्रिः
१	०	महाकाली	महाकालः	महाविद्या	महारात्रिः
२	१	तारा	अक्षोभ्यः	श्रीविद्या	क्रोधरात्रिः
३	२	षोडशी	पञ्चवक्त्रशिवः	सिद्धविद्या	दिव्यरात्रिः
४	३	भुवनेश्वरी	कबन्धः	विद्या	सिद्धरात्रिः
५	४	छिन्नमस्ता	त्र्यम्बकः	विद्या	वीररात्रिः
६	५	भैरवी	दक्षिणामूर्त्तिः	सिद्धविद्या	कालरात्रिः
७	६	धूमावती	कालभैरवः	विद्या	दारुणरात्रिः
८	७	बल्गामुखी	एकवक्त्रमहारुद्रः	सिद्धविद्या	वीररात्रिः
९	८	मातङ्गी	मतङ्गः	विद्या	मोहरात्रिः
१०	९	कमला	सदाशिवविष्णुः	विद्या	महारात्रिः

४४७-काली-तारा-षोडशी-भुवनेश्वरी-आदि सुप्रसिद्धा दश-महाविद्याओं के चामुण्डातन्त्रानुगत-समष्ट्यात्मक नामों का माङ्गलिक संस्मरण—

'काली, ²तारा,-महाविद्या, ³षोडशी ⁴ भुवनेश्वरी ॥
⁵भैरवी, ⁶छिन्नमस्ता च, विद्या ⁷धूमावती तथा ॥१॥
⁸वगला सिद्धविद्या च ⁹मातङ्गी, ¹⁰कमलात्मिका ॥
एता दश महाविद्याः सिद्धविद्याः प्रकीर्त्तिताः ॥२॥

—विश्वसारे

नात्र सिद्धाद्यपेक्षास्ति न नक्षत्रविचारणा ॥
कालादिशोधनं नास्ति न चामित्रादिदूषणम् ॥३॥
सिद्धविद्यातया नात्र युगसेवा-परिश्रमः ॥
नास्ति किञ्चिन्महादेवि ! दुःखसाध्यं कथञ्चन ॥४॥

—चामुण्डातन्त्रे

* * *

४४८-सुप्रसिद्ध- तोडलतन्त्र' से अनुप्राणित- दशमहाविद्याओं से क्रमश-अनुप्राणित-'महाकाल'-'अक्षोभ्य'-'पञ्चवक्त्रशिव' आदि नामों से प्रसिद्ध कालादि-पुरुषों का समष्ट्यात्मक-नाम-संस्मरण, एवं दशमहाविद्यानुगत-नैदानिक उदाहरणों के स्वरूप-विश्लेषण का उपराम—

१-शृणु चार्व्वङ्गि शुभगे ! "¹कालिकायाश्च' भैरवम् ।
"¹महाकालं' दक्षिणाया दक्षभागे प्रपूजयेत् ॥
२-महाकालेन वै सार्द्धं दक्षिणा रमते सदा ॥"
"²ताराया' दक्षिणे भागे "²अक्षोभ्यं' परिपूजयेत् ॥
३-समुद्रमथने देवि ! कालकूटं समुत्थितम् ।
सर्व्वे देवाः सदाराश्च महाक्षोभमवाप्नुयुः ॥
४-क्षोभादिरहितं यस्मात् पीतं हालाहलं विषम् ।
अतएव महेशानि ! अक्षोभ्यः परिकीर्त्तितः ॥
५-तेन सार्द्धं महामाया तारिणी रमते सदा" ॥
"³महात्रिपुरसुन्दर्य्याः (षोडश्याः)' ³दक्षिणे पूजयेत् "³शिवम्' ॥

६–पञ्चवक्त्रं त्रिनेत्रञ्च प्रतिवक्त्रे सुरेश्वरि ! ।
तेन सार्द्धं महादेवी सदा काम-कुतूहला ॥
७–अतएव महेशानि ! पञ्चमीति प्रकीर्त्तिता" ।
"श्रीमद्भुवनसुन्दर्य्या (भुवनेश्वर्य्या)' दक्षिणे 'त्र्यम्बकं'यजेत् ॥
८–स्वर्गे मर्त्ये च पाताले या चाद्या भुवनेश्वरी ।
एतया रमते तेन त्र्यम्बकस्तेन कथ्यते ॥
९–सशक्तिश्च समाख्यातः सर्वतन्त्रे प्रपूजितः ।'
"भैरव्या' दक्षिणे भागे 'दक्षिणामूर्त्ति'-संज्ञकम् ॥
१०–पूजयेत् परयत्नेन पञ्चवक्त्रं तमेव हि ।'
"छिन्नमस्ता' दक्षिणांशे 'कबन्धं' पूजयेत् शिवम् ॥
११–कबन्धपूजनाद्देवि ! सर्व्वसिद्धीश्वरोभवेत्" ।
"धूमावती' महाविद्या विधवारूपधारिणी ॥'
१२-"बगलाया' दक्षभागे 'एकवक्त्रं' प्रपूजयेत् ।
'महारुद्रे' ति विख्यातं जगत्-संहारकारकम्" ॥
१३–"मातङ्गी' दक्षिणांशे च "मतङ्ग' पूजयेत् शिवम् ।
तमेव दक्षिणामूर्त्तिं जगदानन्दकारकम्" ॥
१४-""कमलाया' दक्षिणांशे ""विष्णुरूपं सदाशिवम्' ।
पूजयेत् परमेशानि ! स सिद्धो नात्र संशयः ॥"

—तोडलतन्त्र, प्रथमपटल

* * *

इति–दशमहाविद्यानुगतानि नैदानिकोदाहरणानि
समाप्तं–चेदं महाविद्यानुगतं निदानरहस्यम्

* * *

श्री-श्रीगणपति के नैदानिक स्वरूप का संक्षिप्त-इतिवृत्त

४४६-प्रसङ्गोपात्त-रुद्र के विभूतिमय ४६ विध महिमा-विवर्त्तों का स्वरूप-दिग्दर्शन, प्रथम-मरुद्भाव की गणपतिरूपता, तथा अन्तिम-मरुद्भाव की महावीररूपता का पावन-संस्मरण, एवं-तन्मध्यस्थ अवान्तर-मरुद्भावों का समन्वय—

सूर्य्यानुगता रोदसी-त्रिलोकी रुद्रत्रिलोकी कहलाई है, जैसा कि पूर्व परिच्छेदों में अनेकधा स्पष्ट किया जाचुका है। आग्नेय रुद्रप्राण, सौम्य शक्तितत्त्व, दोनों के समन्वय से उत्पन्न सप्तविध यौगिक प्राण ही-'सप्तमरुत्' हैं। इसी आधार पर 'मरुतो रुद्रपुत्रासः' यह निगम प्रतिष्ठित है। इस सप्तविध मरुत्-प्राण के रासायनिक समन्वय से भौतिक वायु उत्पन्न होता है, जो मारुत् कहलाया है, एवं जिस का हमें स्पर्श-प्रत्यक्ष होता है। वायु के पिता मरुत् हैं, मरुत् के पिता रुद्र हैं। सप्तधा विभक्त मरुत्-प्राण सूर्य्यानुगता अदिति के गर्भ में प्रतिष्ठित माना गया है। अदिति के गर्भ में भुक्त मरुत्-सप्तक तत्र प्रतिष्ठित इन्द्र के द्वारा सप्तधा विभक्त होजाता है। सप्तक के सात सप्तक होजाते हैं, ये ही ४६ मरुद्गण हैं। इन में सर्वादि, नितान्त घन-भावापन्न मरुत् ही इतर ४८ सों मरुतों की मूलप्रतिष्ठा बनता हुआ 'गणपतितत्त्व' है, एवं सर्वान्त का नितान्त विरलभावापन्न मरुत् ही 'महावीर' है। भूपिण्ड में प्रथम मरुल्लक्षण गणपति प्रतिष्ठित हैं, सूर्य्य संस्थान्त में महावीर नामक मरुत् प्रतिष्ठित हैं। भूपिण्ड, और सूर्य्य के मध्य में शेष मरुत्-विरलता के तारतम्य से प्रतिष्ठित हैं।

४५०-प्रतिष्ठाबलात्मक धृतिबल, और गणपति, तत्प्राणावच्छिन्न-भूपिण्ड का धरात्व-धरित्रीत्व-धरिणीत्व, विघ्नप्रवर्त्तक, तथा विघ्नकर्त्ता गणपति-प्राण के आधिदैविक, तथा आध्यात्मिक महिमा-रूपों का स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

प्रत्यक्षानुभूत प्रतिष्ठाबल, धृति, ही गणपतितत्त्व है। इसी मूलप्रतिष्ठा-प्राण के सम्बन्ध से भूपिण्ड 'धरा'-'धरित्री'-'धरिणी'-आदि नामों से व्यवहृत हुई है। इस प्रतिष्ठाप्राण की स्थिति में त्रैलोक्य की रक्षा की है, विच्युति में त्रैलोक्य का विनाश है। अध्यात्मसंस्था में यही गणपतितत्त्व बस्तिगुहाशय में प्रतिष्ठित रहता है, जो बस्तिगुहा 'मूलग्रन्थि' कहलाई है। अपानप्राणरूप प्रतिष्ठाप्राण मलरूप भूत में व्याप्त है। मलग्रन्थि ही जीवनसत्ता का कारण है, एवं मलग्रन्थिविमोक ही जीवनोत्क्रान्ति का कारण है। इसी आधार पर गणपतितत्व विघ्नकर्त्ता, तथा विघ्नहर्त्ता कहलाया है। आधिदैविक मरुद्गणों के साथ गौर गणेन्द्र का घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसी से तो मरुद्गणों का विभाजन हुआ है।

४५१–वृत्रेन्द्र, और मरुद्गणात्मिका–प्रजा, मारुती सेना के द्वारा वृत्रेन्द्र का असुरबल पर प्रहार, 'यद्वै वातो नाभिवाति- तत्सर्वं वरुणदैवत्यम्' मूलक निगम का पारिभाषिक- तात्त्विक- स्वरूप–दिग्दर्शन, मघवेन्द्र से अभिन्न मरुद्रूप गणपतितत्त्व, एवं मन्त्रश्रुति के द्वारा तन्माङ्गलिक-संस्मरण—

इन्द्र वृत्र है, राजा है। मरुद्गण इस की सेना है। सेनारूप मरुद्गण को आगे कर ज्योतिर्मन इन्द्र-प्राण तमोमय वृत्रप्रधान आप्य प्राणात्मक असुरों पर प्रहार किया करता है। वारुण आप्यप्राण के प्रवेश से पदार्थ सड़ने लगते हैं, यही असुराक्रमण का फल है। परन्तु जब मरुद्गणों का आगमन होजाता है, तो तद्गत इन्द्र के, एवं मरुत्प्राणात्मिका वायव्या–सेना के आक्रमण (प्रवेश) से असुर नष्ट होजाते हैं। सड़ी–पूतिभावयुक्त वस्तु खुली हवा में, धूप में रख दीजिए, थोड़े ही समय में वस्तु का विशोधन होजायगा, असुर पलायित होजायँगे। जहाँ मरुद्वायु का समावेश नहीं होगा, वहीं आप्य वरुण–असुर को स्वपाश से उस वस्तु को बद्ध करने का अवसर मिल जाताहै। इसी आधार पर 'यद्वै वातो नाभिवाति, तत्सर्वं वरुणदैवत्यम्' निगम प्रतिष्ठित है। तात्पर्य्य-मरुद्गण सदा इन्द्र के आगे आगे चलते हैं। मरुद्गणात्मिका मारुती सेना ही इन्द्र की अङ्गरक्षिका है *। मघवेन्द्र से अभिन्न होने से ही इस प्रतिष्ठात्मक प्रथम मरुत् (गणपति) को 'गणपति' नाम से व्यवहृत किया जाता है, जैसा कि निम्न लिखित मन्त्रवर्णन से प्रमाणित है—

> नि षु सीद गणपते ! गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम् ।
> न ऋते त्वत् क्रियते किञ्चनारे महामर्कं मघवञ्चित्रमर्च ॥
>
> —ऋक्सं० १०।११२।९।

४५२–अदितिपृथिव्यवच्छिन्न-त्रिवृत्स्तोमानुगत–पार्थिवप्राण की गणपतिरूपता, पार्थिव–गणपतिप्राण के वाहनरूप–घनतम–रसात्मक–प्रतिष्ठालक्षण पारिभाषिक–'मूषक-प्राण' का संस्मरण, एवं तत्प्राणकृतात्मा 'मूषकप्राणी' का दिग्दर्शन, और तदनुबन्धी नैदानिक–भाव का पारिभाषिक–समन्वय—

अदितिपृथिव्यवच्छिन्न, त्रिवृत्स्तोमानुगत, पार्थिव घनप्राण गणपति है। इस की प्रतिष्ठा चित्यपार्थिव प्राण है। भौम-घनाग्नि (चित्याग्नि) ही इस पार्थिव घनाग्नि का वाहन है। शारीरिक–मल पार्थिवघनाग्नि है, इसी पर तो अपानप्राणात्मक गणपतिप्राण की सत्ता प्रतिष्ठित मानी गई है। यही स्थिति आधिदैविक–मण्डल की समझिए। मृण्मय भूपिण्ड उस गणपतिप्राण का वाहन है, प्रतिष्ठाभूमि है, जो उक्थरूप से भूपिण्ड में व्याप्त रहता हुआ अर्करूप से सम्पूर्ण त्रैलोक्य में व्याप्त है। 'मूषक' प्राणी इसी वाहन–प्रतिष्ठा का नैदानिकरूप है।

> *–इन्द्र आसां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुर एतु सोमः ।
> देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम् ॥
>
> —यजुःसं० १७।४०।

४५३-भूपिण्डानुगत श्लथ, और घन-स्तरों के स्वरूप का दिग्दर्शन, भूपिण्डगर्भीभूत-घनरसात्मक-'इरारस', और तत्स्वरूपवेत्ता-भोक्ता-तद्रसाभिन्न-तत्प्राणकृत मूर्त्ति-मूषकप्राणी, सुप्रसिद्धा-अग्निहोत्रेष्टि के सामग्री-सम्भार से अनुप्राणित-'आखुकरीष' (चूहे के बिल की मिट्टी) के इरारसात्मक-घनप्राण के नैगमिक स्वरूप का पारिभाषिक-स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं तन्निबन्धना प्रमाणभूता शातपथी-श्रुति का संस्मरण—

जो चित्य-घनप्राण गणपतिप्राण की प्रतिष्ठा बनता है, वही घनप्राण 'मूषक' (चूहे) नामक प्राणी का प्रधान भूतात्मा बनता है। मूषकप्राणी में इस घनप्राण की प्रधानता है, अतएव यह स्वल्पकाय भी प्राणी अपनी स्वल्पापि-दन्तपङ्क्ति से वज्रसम कठोर वस्तु को भी श्लथभावमय बना देता है। भूपिण्ड का बाह्य स्तर श्लथ रहता है। आगन्तुक तृण-मल-आदि से भी बाह्य दृश्य-स्तर घनाग्निरस से वञ्चित रहता है। इस घनप्राणानुग्रह के अभाव से ही ऊपर की मिट्टी ठोस नहीं रहने पाती। इस बाह्य स्तर को हटा कर ज्यों ज्यों आप गहराई में पहुँचते जायँगे, त्यों त्यों मिट्टी घनभावापन्न प्राप्त होगी। यही कारण है कि, घनप्राण से कृतात्मा मूषक भूस्तर पर अपना निवास न बनाकर भूपिण्डगर्भ में, गहराई में हीं आवासक्षेत्र बनाता है। क्योंकि, इसे आत्मानुकूल जीवनीय रस गहराई में ही उपलब्ध होता है। यही कारण है कि, 'अग्निहोत्र' नामक निगमकर्म्म में जहाँ अग्नि-सम्बन्धी अन्यान्य विभूतियों का संभरण किया जाता है, वहाँ इस घनाग्निरस की प्राप्ति के लिए आखुकरीष (चूहे के बिल की मिट्टी) का भी संग्रह होता है, जैसा कि श्रुति कहती है—

"अथ-आखुकरीषं सम्भरति। आखवो (मूषकाः) ह वा अस्यै पृथिव्यै रसं (घनाग्नि-रसं) विदुः। तस्मातेऽत्तेऽध इमां पृथिवीं चरन्तः पीविष्ठाः (अतिशयरूपेण पुष्टाः)। अस्यै हि रसं विदुः। ते यत्रैतऽस्यै पृथिव्यै रसं विदुः, तत उत्किरन्ति। तदस्याऽएवैनमेतत् पृथिव्यै रसेन समर्द्धयति। तस्मादाखुकरीषं सम्भरति" —(शत० २।१।७)।

४५४-गणपतिप्राण की स्थितिविच्युति से तद्वाहनरूप मूषकप्राण का विकम्पन, तद्-विकम्पन से तदभिन्न मूषक प्राणी का विकम्पन-मरण, तन्निबन्धना महामारी, जनपदविध्वंसिनी-आदि आर्त्तिपरम्पराएँ, एवं तदुपशमनकर्त्ता 'गणपतियाग' का संस्मरण—

सिद्ध है कि, गणपतिप्राण जब भी कभी स्वस्थिति से विच्युत होगा, इस का प्रथमाक्रमण इस के वाहनरूप प्रतिष्ठाप्राण पर ही होगा। फलस्वरूप इसके प्रथम लक्ष्य मूषक प्राणी ही होंगे। क्योंकि इनमें हीं प्रतिष्ठाप्राण प्रमुखरूपेण-आत्मरूपेण अन्तर्य्याम-सम्बन्ध से प्रतिष्ठित है। मूषकप्राण अस्मदादि की अपेक्षा गणपति-प्राण के सन्निकट है। अतएव विघ्नात्मिका जनपदविध्वंसिनी आदि महामारियों का प्रथम आक्रमण

मूषक-प्राणी पर ही होता है। यदि किसी राष्ट्र में, नगर में, ग्राम में, अथवा घर में अकारण मूषक मरने लगें, तो मान लीजिए, वहाँ का गणपतिप्राण प्रतिष्ठाच्युत होगया है; अतएव अवश्य ही तत्र कोई महासंकट आने वाला है। तत्काल रहस्यवेत्ता याज्ञिक के द्वारा 'गणपतियाग' करना चाहिए।

४५५-मूषक-सदृश-स्वल्पकाय-प्राणी की गणपति-सदृश-स्थूलकाय-देवता की वाहन-रूपता का नैदानिक स्वरूप-समन्वय-प्रयास, मूषकप्राण, और पार्थिव-इरारसात्मक-घनप्राण की अभिन्नता का समन्वय, पीतमृत्तिका (पीलीमिट्टी), तथा पूँगीफल (सुपारी) से अनुगत गणपतिप्राण की भावात्मिका नैदानिकी प्रतिमाओं का रहस्यात्मक-स्वरूप दिग्दर्शन, एवं 'मनो वै देवा मनुष्यास्याजानन्ति' श्रुति का संस्मरण—

मूषक जैसा स्वल्पकाय प्राणी गणपति जैसे स्थूल देवता का वाहन क्यों माना गया ?, प्रश्न की यही संक्षिप्त उत्पत्ति है। मूषक प्रतिष्ठाप्राण का नैदानिक-कल्पित-रूप है। इसी आधार पर इसे उस पार्थिवप्राण का निदान मान लिया गया है, जो प्राण वस्तुतः गणपतिप्राण की प्रतिष्ठा है। पीतमृत्तिका में भी अन्यान्य मृत्तिकाओं की अपेक्षा घनप्राण का विशेष प्राधान्य है। पूंगीफल (सुपारी) में भी इसीकी प्रधानता है। अतएव भावप्रतिमानविधा के अनुसार पिली-मिट्टी की डली, और सुपारी को भी गणपति की भावप्रतिमा मान ली जाती है, जो कि-'मनो वै देवा मनुस्यस्याजानन्ति' सिद्धान्तानुसार अवश्यमेव फलदात्री बन जाया करती है।

४५६-ध्यान-आवाहन-आसन-पाद्य-अर्घ्यादि-भावात्मिका निदानोपासना का 'परमोपास्य' के प्रति उपासकानुगत-प्रत्यय के प्रवाहकरण में साफल्य, सर्वादिभूत--'अथ--ध्यानम्' का समन्वय, तदनन्तरभावी--'गणपतिमावाहयामि' रूप आवाहन का समन्वय, एवं तदुत्तरभावी औपासनिक-माध्यमिक--धर्म्मों का संस्मरण—

ध्यान, आवाहन, आसन, पाद्य, अर्घ्यादिभावात्मिका निदानोपासना अवश्यमेव परमोपास्य के प्रति-भावुक उपासक का प्रत्यय प्रवाहित करने में समर्थ होजाती है। जिस प्राणदेवता का भावप्रतिमान में, अथवा निदानप्रतिमान में आवाहन अपेक्षित होता है, पहिले अपने अन्तर्जगत में उस देवता के कल्पित नैदानिक स्वरूप को खचित करना पड़ता है। अतएव आवाहन से पहिले 'अथ ध्यानम्' विहित है। अनन्तर-'गणपतिमावाहयामि' इत्यादि रूप से कल्पित भाव-निदानात्मक मध्यस्थ सूत्र में उस ध्यानात्मक स्वरूप का आवाहन होता है। अनन्तर आसनाद्युपचारादि का अनुगमन। गणपति का नैदानिक ध्यान प्रक्रान्त है। इसके वाहन का नैदानिक रहस्य बतलाया गया। अत्र दो शब्दों में स्वयं गणपति के स्वरूप का भी विश्लेषण कर लीजिए।

४५७--पुष्टिप्रवर्त्तक--पूषाप्राण, और तदभिन्न पार्थिव विवर्त्त, पोषणात्मक--पुष्टिरूप--पार्थिव-प्राण से अभिन्न गणपतितत्त्व की स्थूलरूपता के नैदानिक--भाव का समन्वय, गणपतिप्राणनिबन्धना--'खर्व्वरूपता', 'गजाननत्त्व', 'लम्बोदरत्त्व', 'पद्मत्त्व', 'नागभूषणत्त्व', 'नेत्रत्रयत्त्व,' आदि--नैदानिकी--विभिन्ना--शक्तियों के रहस्यात्मक-पारिभाषिक--स्वरूपों का दिगदर्शन, एवं आगमशास्त्रनिबन्धन--गणपतिप्राण की ध्यानमन्त्रत्रयी का महामाङ्गलिक-संस्मरण—

पूषाप्राण ही पुष्टि का प्रवर्त्तक है। यही पुष्टिभावप्रवर्त्तक पूषाप्राण पार्थिवसंस्था का मुख्य स्वरूप है। 'स्थूलतनु' इसी पार्थिव गणपतिप्राण की पूषाप्राणानुगति का निदान है। त्रैलोक्यात्मक रुद्र की त्रिलोकी में भूपिण्ड का स्थान अतिशयरूपेण खर्व (छोटा) है। अतएव इसे निगम में 'व्याममात्री' माना गया है। पृथिव्यनुगत इसी खर्व्वभाव का निदान 'खर्व्व' (खर्व्वाकार, स्थूल किन्तु वामनतनु) है। पार्थिव इरा मादक रस है। इस रस की प्रधानता से ही हस्ती–पशु 'गज' कहलाया है–'गजति- मदेन मत्तो भवति'। पार्थिव गणपतितत्त्व भी इसी मद से मत्त है। अतएव इन्हें भी गजानन मान लिया गया है। 'गजानन' भाव पार्थिव इरारस का ही नैदानिकरूप है। आग्नेय-पार्थिवप्राण का नैदानिकरूप रक्तकान्ति, सिन्दूरवर्ण, आदि भाव हैं। उरु–अन्तरिक्षानुगत मरुद्भाव का निदान लम्बोदर है। भूपिण्ड का निदान पद्म है। आन्तरिक्ष्य नाक्षत्रिक सर्पप्राणों का निदान नागभूषण है। घन–प्राण का निदान दन्ताघातानुगत–शत्रुविदारण है। अग्नि, सोम, आदित्यात्मिका पार्थिवत्रिलोक्यनुगता ज्योतिस्त्रयी का निदान नेत्रत्रयी है। निम्न लिखित ध्यानमन्त्रों से इसी नैदानिक स्वरूप का विश्लेषण होरहा है—

१–खर्व्वं स्थूलतनुं गजेन्द्रवदनं लम्बोदरं सुन्दरं-
प्रस्यन्दन् मदगन्धलुब्धमधुपव्यालोलगण्डस्थलम्।
दन्ताघातविदारितारिरुधिरैः सिन्दूरशोभाकरं-
वन्दे शैलसुतासुतं गणपतिं सिद्धिप्रदं कामदम्॥

२–सिन्दूराभं त्रिनेत्रं पृथुतरजठरं हस्तपद्मैर्दधानं-
दन्तं पाशाङ्कुशेष्टान्युरुकरविलसद् बीजपूराभिरामम्।
बालेन्दुद्योतमौलिं करिपतिवदनं दानपूरार्द्र गण्डं-
भोगीन्द्रावद्धभूपं भजत गणपतिं रक्तवस्त्राङ्गरागम्॥

३–उद्यद्दिनेश्वररुचिं निजहस्तपद्मैः-
पाशाङ्कुशाभयवरान् दधतं गजास्यम्।
रक्ताम्बरं सकलदुःखहरं गणेशं-
ध्यायेत् प्रसन्नमखिलाभरणाभिरामम्॥

* * *

४५८--उपासक की उपास्यानुगता उपासना से अनुप्राणिता नैदानिकी--मध्यस्थता से अनुप्राणित--प्रतिकृति,--प्रतीक,--भाव,--निदान,--भेदेन--चतुर्विध मध्यस्थ--भावों की अनिवार्य्यता का स्वरूप--दिग्दर्शन, एवं-'तं यथा--उपासते तथैव भवति' इत्यादि छान्दोग्यश्रुतिमूलक--पारिभाषिक तथ्य का स्पष्टीकरण--प्रयास—

सम्भवतः उक्त नैदानिक--देवस्वरूप--ध्यानों के विश्लेषण के अनन्तर उन पाठकों को पूर्ण सन्तोष होजायगा, और वे अवश्य ही स्वीकार करलेंगे कि, भारतीय उपासनाकाण्ड प्रतिकृति, प्रतीक, भाव, निदान, चारों को प्रथमोपास्य बनाकर इनके माध्यम से परमोपास्य की उपासना का समर्थक बनता हुआ अवश्यमेव तत्त्वानुगत है। उपास्यों के जो कल्पितरूप वैज्ञानिकोंनें हमारे सम्मुख्य रक्खे हैं, उनके द्वारा उपासना का तो निर्वाह होता ही है, इसके साथ साथ इनके द्वारा सृष्टिविद्यानुगत अनेक तत्त्वों का भी अञ्जसा बोध होजाता है। चारों में से किसे प्रथमोपास्य बनाना, यह अधिकारी उपासक की योग्यता पर ही निर्भर है। 'तं यथा यथोपासते--तथैव भवति' (छा० उपनिषत्) इत्यादि औपनिषद सिद्धान्त के अनुसार उसकी जिस-भावना से उपासना की जायगी, प्रथमोपास्य तद्रूप में ही परिणत होकर प्रथमोपास्यरूप माध्यम बन जायगा।

४५९--सुप्रसिद्धा 'शालग्रामशिला' (शालग्राममूर्त्ति) से अनुप्राणित-प्रतिकृति--प्रतीक--भाव--निदान--भेदसिद्ध सुप्रसिद्ध चतुर्विध--मध्यस्थों का क्रमिक समन्वय--प्रयास, एवं उपासक के भावनाजगत् के आधार पर प्रतिष्ठित उपासनातत्त्व का पारिभाषिक--स्वरूप--दिग्दर्शन—

उदाहरण के लिए 'शालग्राम' को ही लीजिए। यद्यपि पूर्वप्रकरणान्तर्गत प्रतिरूपविधा-निरूपण में शालग्राम नामक शिलाखण्ड को हमनें अचेतन प्रतिरूपलक्षण प्रथमोपास्य माना है। तथापि भावानुगति की अपेक्षा से इसके साथ चारों प्रथमोपास्यों का सम्बन्ध माना जासकता है। 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' इस भावना से यदि शालग्राम को सर्वव्यापक ब्रह्म का अवयव मानकर इसके द्वारा व्यापक अवयवी ब्रह्मरूप परमोपास्य की उपासना की जाती है, तो यही शालग्राम ब्रह्म का प्रतीक बनता हुआ 'प्रतीक' रूप प्रथमोपास्य है। यदि शालग्रामस्वरूप--निर्म्माणानुगता विज्ञानदृष्टि से शालग्राम को विश्वमूर्ति हिरण्यगर्भ--प्रजापति की प्रतिकृति मानकर तद्द्वारा परमोपास्य की उपासना की जाती है, तो यही शालग्राम 'प्रतिरूप' रूप प्रथमोपास्य बन जाता है। यदि इसे सामान्य शिलाखण्ड मानकर इसमें उपास्य की भावना की जाती है, तो यही भावप्रतिमानरूप प्रथमोपास्य बन जाता है। यदि इसके कृष्णवर्ण को उस अव्यक्त तमोरूप का निदान माना जाता है, तो यही निदानरूप प्रथमोपास्य बन जाता है। तत्त्वतः उपासनातत्त्व उपासक के भावनाजगत् पर ही प्रतिष्ठित है--'जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी जिन तैसी' लोकसिद्धान्त सुप्रसिद्ध है।

४६०--अतीन्द्रिय (इन्द्रियातीत) परमोपास्य के प्रति अपेक्षित आत्मप्रत्यय--प्रवाह की सफलता से अनुप्राणित मध्यस्थ-इन्द्रियसापेक्ष--आलम्बन की अनिवार्य्यता का दिग्दर्शन, एवं सत्यवती--अङ्गवती--अन्यवती--आदि भेदभिन्ना उपासनाओं से अनुप्राणित चतुर्विध--प्रथमोपास्यों के पारिभाषिक--तथ्यों का समन्वय--प्रयास—

अवश्य ही अतीन्द्रिय परमोपास्य के प्रति आत्मप्रत्यय प्रवाहित करने के लिए, दूसरे शब्दों में अतीन्द्रिय परमोपास्य की उपासना के लिए अभ्यास काल में चारों में से किसी न किसी एक भौतिक प्रथमोपास्य को आलम्बन बनाना अनिवार्य्य होजाता है। प्रत्यक्षालम्बन पर स्थित मन प्रत्यक्षस्वरूपानुगत परोक्ष अतीन्द्रिय–परमोपास्य के प्रति अवश्य ही आकर्षित होजाता है। इन चारों प्रकारों के अतिरिक्त परमोपास्य की उपासना का अन्य कोई प्रकार नहीं है। प्रतीकरूप प्रथमोपास्य का पूर्वप्रकरण–प्रतिपादित अङ्गवती–उपासना में, प्रतिरूपात्मक प्रथमोपास्य का सत्यवती उपासना में, एवं भावप्रतिमान, तथा निदानप्रतिमानरूप, दोनों प्रथमोपास्यों का अन्यवती उपासना में अन्तर्भाव माना जासकता है। यही उपासनानुगत चतुर्विध प्रथमोपास्यों का संक्षिप्त–स्वरूप विश्लेषण है। अत्र उपासना के सम्बन्ध में दो चार परिशिष्ट–भावों का दिग्दर्शन करा उपासनाकाण्ड उपरत होरहा है।

४६१--चतुर्विध--माध्यम--भावों का प्रतीकरूप-प्रथमोपास्य में अन्तर्भाव, एवं प्रतीकोपासना की सर्वव्यापकता का पारिभाषिक--समन्वय, 'उपास्य' का स्वरूप--दिग्दर्शन, एवं महाशरीरात्मक विश्वगर्भ में भुक्त आत्मा का स्वरूप--चिन्तन—

पूर्व के विभिन्न परिच्छेदों में जिन प्रतीक, प्रतिरूप, भाव, निदान--लक्षण चतुर्विध प्रथमोपास्यों का निरूपण हुआ है, तत्वतः उन चारों का प्रतीकरूप प्रथमोपास्य में ही अन्तर्भाव माना जायगा। और इसी आधार पर यह कहा जासकेगा कि, चारों में प्रतीकोपासना ही व्यापक है। कारण स्पष्ट है। उपास्य (परमोपास्य) ईश्वरप्रजापति की ही उपासना उपासना है। यह ईश्वरतत्त्व अपने स्वभाविक अमृत, मर्त्य भावों के सम्बन्ध से 'आत्मन्वी' बनता हुआ प्रजापति है। अमृतलक्षण आत्मा, मृत्युलक्षण शरीर, दोनों अमृत–मर्त्यभावों की समष्टि ही आत्मन्वी है। आत्मविशिष्ट शरीर ही आत्मन्वी प्रजापति है। पाञ्चभौतिक प्रत्यक्ष दृष्ट महाविश्व ईश्वरात्मा का शरीर है। इस शरीरगर्भ में व्याप्त इन्द्रियातीत आत्मतत्व इस महा-विश्वरूप महाशरीर का आत्मा है।

४६२--मर्त्यभावानुबन्धी–इन्द्रियसापेक्ष प्रतीकभाव, एवं अमृतभावानुबन्धी--अतीन्द्रिय उपास्यभाव का संस्मरण, तथा भगवान् व्यास के द्वारा अभिमता 'प्रतीकोपासना' से अनुगता--'ईश्वरोपासना' का संस्मरण—

हम जो कुछ आँखों से देखते है, वे सब इसी मर्त्य भाग के प्रतीक हैं, अवयव हैं। फलतः उस अतीन्द्रिय, अमृतप्रधान, परमोपास्यरूप ईश्वरात्मा की उपासना के लिए जिस किसी भी भौतिक पदार्थ को प्रथमोपास्यरूप मध्यालम्बन बनावेंगे, वह ईश्वर का प्रतीक ही माना जायगा। अतएव

च पूर्वप्रतिपादित चतुर्विध प्रथमोपास्यों का प्रतीकरूप प्रथमोपास्य में ही अन्तर्भाव माना जायगा। इसी आधार पर भगवान् व्यास ने ईश्वरोपासना के सम्बन्ध में 'प्रतीकोपासना' की ही प्रधानता का विश्लेषण किया है।

४६३--अङ्गवती--उपासना के उपासनारूपत्त्व, सत्यवती- उपासना के ज्ञानयोगत्त्व, तथा अन्यवती उपासना के कर्म्मयोगत्त्व का पारिभाषिक समन्वय, एवं उपासना के यथयावत्-विवर्त्तों के पारिभाषिक-तथ्य का समन्वय-प्रयास—

अतएव पूर्वप्रकरण में हमने सत्यवती, अङ्गवती, अन्यवती, इन तीनों उपासनाओं में से अङ्गवती को ही (जिसकाकि दूसरा नाम प्रतीकवती है) शुद्ध उपासना माना है, एवं सत्यवती को ज्ञानयोग से, तथा अन्यवती को कर्म्मयोग से समतुलित माना है। दूसरे शब्दों में सत्यवती ज्ञानयोगात्मिका उपासना है, अन्यवती कर्म्मयोगात्मिका उपासना है। भक्तियोगात्मिका उपासना तो एकमात्र अङ्गवती उपासना ही है। क्योंकि श्रद्धात्मक भक्तिभाव का इसी के साथ सम्बन्ध है। आगे जाकर इसी अङ्गवती के भावनाभेद से सत्यवती, अन्यवती आदि विवर्त्त होजाते हैं। इन सभी विवर्तों का एकमात्र तत्त्व है--'अतीन्द्रिय के प्रति मनः संयम के लिए सेन्द्रिय भावों की प्राथमिक अनुगति'।

४६४-गुरुभावानुगता-परमोपास्यनिबन्धना उपासना से अनुप्राणित-आधिदैविक-आधिभौतिकी-स्थितियों के स्वरूप-भेद का समन्वय-प्रयास, प्रतीकोपलक्षित-शरीरविशिष्ट आत्मन्वी-गुरु की प्रथमोपास्यता का, तथा आत्मन्वी परमात्मा की परमोपास्यता का रहस्यात्मक-स्वरूप-दिग्दर्शन—

श्रीगुरु का आत्मा (जीवात्मा) परमोपास्य है। गुरु का शरीर आधिभौतिक है, गुरु का आत्मा आधिदैविक है, अतीन्द्रिय है। इसकी उपासना के लिए गुरुशरीररूप आधिभौतिक पदार्थ को मध्यस्थ बनाना पड़ता है। शरीर उस विशिष्ट गुरु का प्रतीक है। प्रतीकात्मक गुरुशरीर प्रथमोपास्य है, गुरोरात्मा परमोपास्य है। यदि गुरु के द्वारा परमात्मा उपास्य है, तो प्रतीकोपलक्षित शरीरविशिष्ट गुरु प्रथमोपास्य हैं, मध्यमोपास्य हैं, एवं विशिष्ट परमात्मा परमोपास्य है। निवेदन यही करना है कि, चाहे तो गुरु के जीवात्मा को परमोपास्य मानिए, अथवा तो परमात्मा को परमोपास्य मानिए, उभयत्र इन्द्रियदृष्ट प्रत्यक्ष भौतिक द्रव्य को मध्यस्थ बनाना अनिवार्य्य होगा। कारण उपासना के द्वारभूत प्रज्ञानमन से पूछिए।

४६५-उपासक-पुरुष की अध्यात्मसंस्था से अनुप्राणित-महानात्मा-विज्ञानात्मा-प्रज्ञानात्मा (महान्, बुद्धि, मन,) नामक ज्योतित्रयविवर्त्त का संस्मरण, एवं इन्द्रिय-सापेक्ष-प्रज्ञानमन की स्वरूपस्थिति का दिग्दर्शन—

उपासक पुरुष की अध्यात्मसंस्था में महान्, विज्ञान, प्रज्ञान, ये तीन ज्योतियाँ प्रतिष्ठित मानीं गईं हैं। महान् अगम्य है, अनुमवैकगम्य है उसे छोड़िए। शेष रहजाते हैं विज्ञान, प्रज्ञान, जिनका हम प्रत्यक्षवत् विश्लेषण कर सकते हैं। प्रज्ञान सर्वेन्द्रिय मन है, विज्ञान बुद्धि है। प्रज्ञानमन सम्पूर्ण इन्द्रियों

का अधिष्ठाता है। अन्यत्र में मनोऽभूत्-.........' (कौ० उपनिषत्) इत्यादि श्रुति के अनुसार बिना प्रज्ञानमन के सहयोग के कोई भी इन्द्रिय स्व ऐन्द्रियक विषयानुभव, एवं कर्म्म करने में समर्थ नहीं है। एवमेव बिना इन्द्रियों के प्रज्ञान भी स्वव्यापार-सञ्चालन में एकान्ततः असमर्थ है।

४६६ 'राजा' पदान्वित प्रज्ञानमन, एवं प्रजोपाधि-समन्वित इन्द्रियवर्ग का अन्योऽन्याश्रयत्व, इन्द्रिय-और तद्विशिष्ट प्रज्ञान मन का अप्राप्यकारित्व, तथा विज्ञानात्मा का प्राप्यकारित्व-समन्वय, एवं प्रज्ञान-सम्परिष्वक्त-विज्ञानात्मा से अनुप्राणिता-उपासना के समानप्रत्ययप्रवाहात्मक-सहज-लक्षण का स्वरूप समन्वय-प्रयास—

प्रज्ञान राजा है, इन्द्रिय-वर्ग प्रजा है। यदि प्रजा राजाश्रित है, तो राजा भी प्रजासापेक्ष है। दोनों अन्योऽन्याश्रित हैं। इन्द्रियाँ यदि अप्राप्यकारिणी हैं, तो मन भी अप्राप्यकारी ही है। इन्द्रियाँ विषय पर जातीं नहीं, अपितु विषय इन्द्रियों पर आते हैं, यही इनका अप्राप्यकारित्व है। एवमेव मन भी विषय पर जाता नहीं, अपितु इन्द्रियद्वारा वासनाभावनात्मक ऐन्द्रियक विषय मन पर आते हैं। यही इस मनका अप्राप्यकारित्व है। इन्द्रियानुगत विषय ही इस सर्वेन्द्रियाधिष्ठाता प्रज्ञान मन के विषय बनते हैं। ऐसी स्थिति में 'जैसे अतीन्द्रिय पदार्थों के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध नहीं होता, एवमेव इन्द्रियानुगत विषयानुगामी मन भी इन्द्रियातीत तत्त्वों का ग्रहण नहीं नहीं कर सकता' यह सिद्ध होजाता है। एवं जबतक मनका अतीन्द्रिय के साथ सम्बन्ध नहीं होजाता, तबतक समानप्रत्ययप्रवाहलक्षणा उपासना बन नही सकती।

४६७-प्रज्ञानात्मक सेन्द्रिय मन, तथा विज्ञानात्मिका बुद्धि के विभिन्न पारिभाषिक-नैगमिक-धर्म्मों का संस्मरण, इन्द्रिय-द्वारा प्रज्ञान-मन पर भावना-वासना-रूप से खचित-विषयों का रहस्यात्मक-समन्वय, तदाधारेण बुद्धि के माध्यम से अतीन्द्रिय-उपास्य के प्रति मानसिक-प्रत्यय की समानप्रवाहता का दिग्दर्शन, एवं 'उपासनाकाण्ड' से अनुप्राणित, अनिवार्य्यरूपेण अपेक्षित-इन्द्रियसापेक्ष-'मध्यस्थ' का समन्वय, तथा-'उपासना' का स्वरूप-निष्कर्ष—

जिसप्रकार प्रज्ञान पर विषय आते हैं, विज्ञान विषयों पर जाता है। किसी भी इन्द्रिय का सहारा न लेकर भी विज्ञान (बुद्धि) केवल शून्य में कल्पना के साम्राज्य का विस्तार किया करता है। अतएव विज्ञान को इन्द्रियानपेक्ष, अतएव च स्वतन्त्र माना जासकता है। इन्द्रिय के द्वारा भावनावासनात्मक जो विषय प्रज्ञान-मन पर खचित होजाते हैं, प्रज्ञानसम्परिष्वक्ता विज्ञानबुद्धि उस विषयावलम्बन के द्वारा अतीन्द्रियतत्त्व की ओर निश्चयेन प्रवाहित होजाती है। यही उपासना-निष्कर्ष है। विषयावलम्बन अनिवार्य, तदर्थ इन्द्रियसम्बन्ध अपेक्षित, तदर्थ साकार वस्तुसमाश्रय आवश्यक, क्योंकि निराकार अतीन्द्रिय विषयों के साथ इन्द्रियसम्बन्ध असम्भव है। फलतः जबतक दृष्टि के द्वारा भौतिक विषय आलम्बन नहीं बन जाता, तबतक उपासना नहीं बन सकती। विज्ञानबुद्ध्यनुगता निर्विकल्पकसमाधि के लिए प्रथम प्रज्ञानमनोऽनुगत सविकल्पकभाव का आश्रय सर्वथा अपेक्षित होजाता है।

४६८–धारणा-ध्यान-समाधि-त्रयी के एकत्र समन्वय से अनुप्राणिता संयमस्थिति का स्वरूप-दिग्दर्शन, निर्विकल्प, तथा सविकल्पक-अतीन्द्रिय, सेन्द्रिय-भावों के पारस्परिक-अपेक्षाभावों का पारिभाषिक-समन्वय, एवं अतीन्द्रिय-ईश्वर की उपासना के लिए अपेक्षिता सालम्बन-द्वारभूत-सविकल्पक-(भौतिक-विषययुक्त) माध्यम की अनिवार्य्यता का स्पष्टीकरण––

'धारणा, ध्यान, समाधि,' तीनों का एक विन्दु पर समन्वित होजाना ही निर्विकल्प समाधि है। निर्विकल्पक का अर्थ है—ऐन्द्रियक विषयों का एकान्ततः परित्याग। परित्याग ग्रहणसापेक्ष है। 'निर्विकल्पक' शब्द ही सविकल्पक भाव की अनिवार्य्यता सूचित कर रहा है। ग्रहण के अनन्तर ही तो परित्याग सम्भव है। सविकल्पक के आश्रय बिना सविकल्पक (सविषयक) प्रज्ञान मन सुस्थिर नहीं होसकता। मनःस्थिरता के बिना मनोऽनुगता बुद्धि में समानप्रत्ययप्रवाह प्रवाहित नहीं होसकता। समानप्रत्ययप्रवाह के बिना धारणा–ध्यान–समाधि का एकत्र संयम नहीं बन सकता। बिना संयम के निर्विकल्पक समाधि का उदय नहीं होसकता। अतएव अगत्या अतीन्द्रियेश्वरोपासना के लिए सालम्बन, द्वारभूत सविकल्पक (भौतिक–विषययुक्त) समाधि का आश्रय लेना पड़ता है। साकार–भौतिक पदार्थ को मध्यस्थ बनाए बिना उपासनानिर्वाह असम्भव होजाता है।

४६९–चतुर्विध-माध्यमों का सिंहावलोकनात्मक संस्मरण, व्याप्यभावों का क्रमशः परित्याग, तथा व्यापक-भावों का क्रमशः अनुगमन, और 'उपासनापथ' का समन्वय, एवं–प्रतिरूप–भावप्रतिमान–निदानप्रतिमान–नामक त्रिविध प्रथमोपास्यविवर्त्तों को स्वगर्भ में भुक्त रखने वाली प्रतीक–विधात्मिका प्रथमोपास्यविधा का समन्वयात्मक–स्पष्टीकरण—

जिस भौतिक–अनुरूप–मध्यस्थ को प्रतीक, प्रतिरूप, भाव, निदान, आदि में से किसी एक विधा के अनुसार प्रथमोपास्य बनाया जाता है, उस प्रथमोपास्य के व्याप्य–परिच्छिन्न भावों का क्रमशः परित्याग किया जाता है, एवं व्यापक भावों की ओर क्रम–क्रमशः अनुगमन किया जाता है। अन्ततोगत्वा यही क्रमिक–अनुगति व्याप्यभाव के आत्यन्तिक परित्याग का कारण बनती हुई उपासक के प्रत्यय के साथ परमोपास्य के प्रत्यय को अभिन्न बना डालती है। यही उपासक की उपासना का चरम फल है। एवं इस चरमफल-प्राप्ति के लिए अवश्यमेव भगवान् व्यास के आदेशानुसार प्रतिरूप, भावप्रतिमान, निदानप्रतिमान, तीनों प्रथमोपास्य-विधाओं को अपने गर्भ में रखने वाली प्रतीकरूपा प्रथमोपास्यविधा का अनुगमन अनिवार्य्य होजाता है। प्रकरणारम्भ में उपस्थित होने वाले–'जब परमोपास्य ही प्रधान लक्ष्य है, तो प्रथमोपास्य क्यों अपेक्षित माना गया ?, प्रश्न का यही संक्षिप्त समाधान है।



४७०-उपासना-काण्डानुगता 'दृढभूमि' के स्वरूप का विश्लेषण-करने वाले-'स तु दीर्घकालनैरन्तर्य्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः' इत्यादि पातञ्जलसूत्र का संस्मरण—

पूर्व परिच्छेदों के अनुसार यह सम्यग्रूपेण सिद्ध होजाता है कि, अतीन्द्रिय-तत्त्वोपासना के लिए सेन्द्रिय-भौतिक पदार्थ को मध्यस्थ बनाना आवश्यक रूप से अपेक्षित होजाता है। मनकी स्थिरता का ही नाम उपासना है। उपासक का स्थिर मन बुद्धि के द्वारा तदभिन्न परमात्मा में लीन होजाय, यही उपासना का फल है। श्रद्धा ही इस उपासना की मूलभित्ति है, जैसाकि-'उपासनालक्षणनिर्वचन' प्रकरण में यत्रतत्र विस्तार से बतलाया जाचुका है। उपासना में किन किन नियमों की आवश्यकरूप से अपेक्षा है?, प्रश्न का समाधान करते हुए भगवान् पतञ्जलिने कहा है—

"स तु तीर्घकालनैरन्तर्य्यसत्काराऽऽसेवितो दृढभूमिः"

—पातञ्जलयोगसूत्र १।१४। समाधिपाद।

४७१-'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्' सिद्धान्त से अनुप्राणित, पातञ्जल-सूत्रनिबन्धन-'दीर्घकाल' शब्द के पारिभाषिक-तथ्य का स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

(१) आलम्बनभूत प्रथमोपास्य की दो चार दिन, वर्ष, दो वर्ष उपासना करने से ही प्रत्यय प्रवाहित नही होसकता। अपितु इसके लिए 'दीर्घकाल' अपेक्षित है। सूत्रकार ने 'दीर्घकाल' शब्द से लम्बी अवधि की ओर तो सङ्केत किया है, परन्तु उस अवधि का निश्चितरूप नहीं बतलाया। क्यों?, का उत्तर स्पष्ट है। उपासक की आध्यात्मिक-योग्यता पर ही इस अवधि का उत्तर निर्भर है। यदि मन पर भावनावासनात्मक संस्कारपुञ्ज प्रभूतमात्रा में, साथ ही निविड़बन्धन पूर्वक प्रतिष्ठित हैं, तो उसके परिमार्जन में उतना ही अधिक समय लगेगा। यह भी सम्भव है कि, इस प्रयास में एक ही जीवन क्या, अनेक जन्म निकल जायँ। यह भी सम्भव है कि, परीक्षित की भाँति केवल सप्ताहमात्र में ही परमपद प्राप्त होजाय। और यह भी सम्भव प्रत्यक्ष ही है कि, जन्म भर कथा सुनने वाले, दोनों हीं चिर अभ्यस्त रागद्वेषादि के अतिथि बने रहें। कर्म्मसंस्कार का तारतम्य ही इस दीर्घकाल का नियामक है। इसी जन्म में, शीघ्र भी सिद्धि प्राप्त होसकती है। अनेक जन्म भी लग सकते हैं-'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्'। हाँ, इस सम्बन्ध में यह आश्वासन अवश्य मिल सकता है कि, ब्रह्मचर्य्य-तप-सत्य-वेदानुपालन-श्रद्धा-उपनिषत् * आदि साधनों से आत्मशक्ति का विकास करते हुए जो उपासक तन्मयता के साथ अभिनिवेशपूर्वक तीव्रसंयोग से अनन्यनिष्ठा के द्वारा इस अभ्यास में प्रवृत्त होजाते हैं, अवश्य ही वे स्वल्पकाल में ही उस परतत्त्व के सन्निकट पहुँच सकते हैं ÷।

---

* ब्रह्मचर्य्यं तपः, सत्यं, वेदानां चानुपालनम्।
श्रद्धा, चोपनिषच्चैव ब्रह्मोपायनहेतवः॥

÷ "तीव्रसंवेगानामासन्नतमः" (पा० यो० सू० १।२०।)।

४७२-'दीर्घकाल' के अनिवार्य्य-अपेक्षाभाव के पूरक- सूत्रानुगत-नैरन्तर्य्य के रहस्यात्मक-पारिभाषिक-अर्थ का समन्वय-प्रयास—

(२) मान लीजिए, एक उपासक एक युगपर्य्यन्त उपासना तो करता है, दीर्घकाल का अनुगामी बन रहा है। परन्तु केवल उस दीर्घकाल से भी लक्ष्यप्राप्ति सम्भव नहीं है, जो अव्यवच्छिन्ना-धारा-सम्पत् से वञ्चित हो। आज उपासना की, प्रपञ्च में पड़कर दो चार दिन छोड़ बैठे। इसप्रकार उपासना की तो दीर्घकाल पर्य्यन्त, परन्तु निरन्तर, नियमपूर्वक नहीं की। परिणाम इस विच्छेद का यह होता है कि, पूर्वकाल में जो सत्त्वानुशय आत्मा में प्रतिष्ठित होता है, वह मध्यविच्छिति में होने वाले अन्य तामस संस्कारों से पुनः अभिभूत होजाता है। परिणामत उत्तरकाल वही आरम्भ-स्थान बना-रहजाता है। अतः उपासक के लिए जहाँ सञ्चित कषाय की निवृत्ति के दीर्घकाल पर्य्यन्त उपासनानुगमन अनिवार्य्य है, वहाँ मध्य-मध्य में नूतनरूप से उत्पन्न होने वाले, कषायों के लिए परिमार्जन के लिए, तथा आगन्तुक कषायों के निरोध के लिए नैरन्तर्य्य भी आवश्यकरूप से अपेक्षित है।

४७३-भावनात्मिका-श्रद्धारूप-आदरभावसमन्विता-वृत्ति से वञ्चिता कर्त्तव्यभावना की निष्फलता का दिग्दर्शन, एवं सूत्रानुगत 'आदर' भाव के रहस्यात्मक-पारिभाषिक स्वरूप-का समन्वय-प्रयास—

(३)-ऐसे भी उपासकों की कमी नहीं, जो जन्मभर, साथ ही निरन्तर बिना व्यवधान के उपासना में तो तल्लीन रहते हैं, परन्तु आत्मशान्ति से वे फिर भी वञ्चित रहते हैं। क्यों?, का उत्तर है- 'आदराभाव'। श्रद्धामय मन में जो एक प्रसादगुण होता है, वही आत्मानुयोगी बनता हुआ शान्ति का कारण बनता है। केवल कर्त्तव्यपालन (ड्यूटी पूरी करदेने) मात्र से ही शान्ति नहीं मिल सकती। जो अनुष्ठान किया जाय, उसमें श्रद्धापूर्वक उसीप्रकार प्रसादगुण की भावना का अनुगमन हो, जैसे लौकिक विनोदों में हमारा मन क्षण भर के लिए उत्साह से प्रवृत्त होजाता है। रसानुभूति से वञ्चिता मनोऽनुगति उपेक्षाभाव की प्रवर्तिका बन जाती है। इस उपेक्षायुक्त मन से बलप्रयोग पूर्वक दीर्घकाल, नैरन्तर्य्य का अनुगमन भले ही कर लिया जाय, परन्तु अपेक्षानुगत दार्ढ्य कथमपि उत्पन्न नहीं होसकता। उपास्यरसप्रमोदमधुरा-माधुरी की चर्वणा ही सतकारभाव है। इसप्रकार दीर्घकाल, नैरन्तर्य्य, एवं सत्कारभाव से उपासक जब उपास्य की आराधना में अनन्यनिष्ठा से तत्पर होजाता है, तभी 'दृढभूमि' का उदय होना हैं। मन अतिशयरूपेण चञ्चल है। प्रज्ञात्मक प्राण ही का नाम प्रज्ञानमन है। इसमें प्रज्ञा, और प्राण, ये दो पर्व हैं। चिद्विशिष्ट सोम 'प्रज्ञा' है, गतिधर्म्मा इन्द्र ही प्राण है। दोनों अविनाभूत हैं, जैसाकि-'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है। प्रज्ञानानुगत प्राणात्मक गतिधर्म्मा इन्द्र ही मन के चाञ्चल्य का कारण है। इसकी स्थिरता के बिना उपासना सम्भव नहीं, एवं इसकी स्थिरता इन्द्रप्राण के सम्बन्ध से सम्भव नहीं। अतएव मनोयोगरूप समत्वयोग का उपदेश सुनकर भी अर्जुन प्रश्न कर बैठता है-

> योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन!॥
> एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात् स्थितिं स्थिराम् ॥१॥
> चञ्चलं हि मनः कृष्ण! प्रमाथि बलवद्दृढम् ॥
> तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥२॥

४७४-प्रज्ञानमन का स्वाभाविक-चाञ्चल्य, एवं तत्संयम के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न का उत्थान, और-'अभ्यास-वैराग्याभ्यां तन्निरोधः' इत्यादि-पातञ्जल-सूत्रा-धारेण प्रश्नसमाधान-प्रयास-तथा तत्सम्बन्ध में गीताचार्य्य भगवान् वासुदेव कृष्ण का अभिमत—

ऐसी स्थिति में 'स तु दीर्घकालनैरन्तर्य्य०' आदि नियमों का अनुगमन कैसे सम्भव है ?, यह प्रश्न उपस्थित होता है। सूत्रकार ने-'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः' (पा० यो० सू० १।१२।) यह समाधान किया है। वास्तव में मनःसंयम के ये दो ही उपाय हैं। देखा गया है कि, जिस बालक का मन पठन में स्थिर नहीं होता, अभिभावकों के बलप्रयोग से, प्रयास से, मधुरनियन्त्रण से उसका मन कालान्तर में उस ओर अनुगत होजाता है। मानसिक संकल्प को दृढमूल बनाकर प्राणव्यापार करना ही 'यत्न' (कृति-चेष्टा) है। यह यत्न ही अभ्यास है। एवं जो विषयसंस्कार मन की बुद्धियोगानुगता स्वाभाविकी स्थिरता के प्रतिबन्धक हैं, उनका 'रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते' (गीता) न्याय से निरोध करना ही वैराग्य है *। अभ्यास-वैराग्य द्वारा ही मनश्चाञ्चल्य निवृत्त होसकता है, जिस प्रकार का अनुगमन करना वास्तव में संयम-सापेक्ष ही है। इसी उपायद्वयी का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् ने कहा है-

असंशयं महाबाहो ! मनो दुर्निग्रहं चलम् ॥
अभ्यासने तु कौन्तेय ! वैराग्येण च गृह्यते ॥१॥
असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ॥
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥२॥ गी० ६।३५,३५।
अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ॥
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥३॥ गी० ८।८।

४७५-भगवदुक्त-'अभ्यास' शब्द से अनुप्राणित माध्यम-प्रथमोपास्य-की अनिवा-र्य्यता का प्रासङ्गिक-समन्वय-प्रयास, मन की शान्त तथा उग्र-वृत्तियों से अनुप्रा-णित-औपासनिक-ध्यानों का पारिभाषिक-समन्वय, एवं मन की स्वाभाविकी रसप्रवृत्ति से अनुप्राणित सुप्रसिद्ध-'प्रेमरस' का माङ्गलिक-संस्मरण—

भगवदुक्त 'अभ्यास' शब्द ही हमारे माध्यमिक प्रथमोपास्य की अनिवार्य्यता का समर्थक बन रहा है। अभ्यास अवश्य ही आलम्बन-सापेक्ष है। आलम्बन अतीन्द्रिय नहीं होसकता। सेन्द्रिय मन के अभ्यास का

---

*-"तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः।
दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा-वैराग्यम्" ॥
—पा० यो० सू० १।१३,१५,।

आलम्बन इन्द्रियग्राह्य प्रत्यक्षदृष्ट भौतिक पदार्थ ही होसकता है। यह आलम्बन मन की स्वाभाविक प्रकृति के अनुरूप होना चाहिए, तभी इसकी उस पर स्थिति होसकेगी। उग्रवृत्तियुक्त मन के लिए उग्र आलम्बन अपेक्षित होगा, शान्तवृत्तियुक्त मन के लिए शान्त आलम्बन की अपेक्षा होगी। इसी प्राकृतिक विश्लेषण के आधार पर आलम्बनभूता प्रतिमाओं के उग्र, अत्युग्र, शान्त, आदि विविध रूपों की कल्पना हुई है। मन की स्वाभाविक-प्रकृति ही 'प्रेमरस' कहलाया है। इसी प्रेमरस के द्वारा मन आलम्बन में स्थिर होता है। केवल आलम्बन मनःस्थिरता का कारण नहीं बना करता। अपितु अनुरूप आलम्बन ही प्रेमानुगति-पूर्वक स्थिरभाव का प्रयोजक बनता है।

४७६-अप्सराप्राण, तथा गन्धर्वप्राण से अभिन्न चान्द्रसौम्यप्राण, तदभिन्न ओषधियों, तथा तत्प्रसूत-सौम्यमन का स्वरूप-समन्वय-प्रयास, एवं मानस-सोमरसात्मक-'प्रेमरस' के प्राकृतिक-स्वरूप-का दिग्दर्शन, तथा 'श्रद्धात्मक-प्रेम' से अनुप्राणिता नैगमिकी उपासना, और सन्तमतानुगत-वात्सल्यादि प्रेम का प्रासङ्गिक-संस्मरण—

चान्द्रसौम्यप्राण अप्सरा, एवं गन्धर्वप्राण से अनुगृहीत है। यह चान्द्रसोम ही पार्थिव ओषधियों के द्वारा मनोरूप में परिणत होता है। सात्त्विक-राजस-तामस-अन्नभेद से चान्द्ररस गुणत्रयभाव में परिणत होजाता है। जिस गुण का इसमें उद्रेक होता है, मन का प्रेमारस तद्गुणक ही बन जाता है। एवं तदनुरूप सुन्दर-भाव ही इसके लिए आकर्षक बना करते हैं। सौन्दर्य्य के उपासक मन की सुन्दरता की नियत परिभाषा नहीं बनाई जासकती। एक के लिए जो असुन्दर है, वही अन्य के लिए सुन्दर है। जो जिस के लिए सुन्दर हैं, वही उसके लिए अनुरूप आलम्बन है। कारण, अनुरूप आलम्बन के प्रति ही मनोमय प्रेमारसा प्रवाहित होता है। तात्पर्य्य यही है कि, मनोयोगात्मक अभ्यास का आलम्बनरूप कारण यद्यपि आधिभौतिक आलम्बन ही है, परन्तु असाधारण कारण मनोरसरूप 'प्रेम' ही है। तदनुरूप आलम्बन ही कारण बन सकता है, नान्यत्। बिना प्रेमानुगति के क्योंकि आलम्बन आलम्बन नहीं बन सकता, अतः हम 'प्रेम' को ही मनोयोग का असाधारण कारण मान सकते हैं। प्रेम ही उपासना का मुख्य आधार है। कैसा प्रेम ?, इस प्रश्न के सम्बन्ध में आर्षधर्म्म, सन्तमत, इन दो दृष्टिकोणों से हमें दो प्रकार के उत्तर मिलते हैं। आर्षधर्म्म कहता है-'श्रद्धात्मक प्रेम' ही उपासना का मूल है। सन्तमत कहता है-'वात्सल्यादिप्रेम' ही उपासना के द्वार हैं। दोनों में तत्त्वदृष्ट्या कौन श्रेयः पन्थाः है ?, प्रश्न-समाधान से पहिले दो शब्दों में 'प्रेम' तत्त्व की ही स्वरूप-मीमांसा कर लीजिए।

४७७-सोमरस से आपूर्य्यमाण सोमरसात्मक 'मन', मनोमय सोमरस, और 'प्रेम', शब्द का निर्वचनात्मक अर्थसमन्वय, एवं मनोऽनुगति के तारतम्य से पञ्चधा प्रवाहित मानसप्रेमात्मक रस के 'श्रद्धा वात्सल्य-स्नेह--काम--रति' नामक पञ्च महिमाविवर्त्तों का नाम-संस्मरण—

सोमरसात्मक मन सोमरस से आपूर्य्यमाण है। इस रसतत्त्व का ही नाम 'प्रेम' है, यह कहा जाचुका है। जिसके द्रुत होजाने से मन द्रुत होजाता है, अनुरूप वस्तु की ओर झुक पड़ता है, वह द्रुत होनेवाला

प्रवाहि-रस ही प्रेम है। मनका प्रकर्षेण (त्रलव्दाग्रहरूपेण) विषय में पहुँचने का जो हेतु है, मन को तदनु-रूप विषय से अभिन्न बना देने वाला जो कारण है, वही 'प्र-प्रकर्षेण-ईमा-गमन-हेतुः' निर्वचन से प्रेम' कहलाया है। यह प्रेमरूप मनोरस ५ प्रकार से मन को विषयो की ओर प्रवाहित करने का कारण बनता है। मनोऽनुगति के साथ साथ मनोरसरूप प्रेम भी पञ्चधा विभक्त होजाता है, जिसके पाँच विवर्त्त क्रमशः श्रद्धा, वात्सल्म, स्नेह, काम, रति' नामों से व्यवहृत हुए हैं।

४७८--'अवरप्रतियोगिक', तथा-'परानुयोगिक' मानसरस का गमन, और तदवस्थारूप 'श्रद्धा' नामक प्रथम प्रेम का तात्विक स्वरूप-समन्वय-प्रयास, दोषदर्शन-प्रतिबन्धक श्रद्धात्मक प्रेम, रागासक्ति-द्वेषासक्ति-से असंस्पृष्ट श्रद्धाप्रेम, एवं विशुद्ध सत्त्वानुगत श्रद्धाप्रेम की 'परप्रेमरूपता' का दिग्दर्शन—

(१) अपने व्यक्तित्त्व से जिसका व्यक्तित्त्व उच्च होता है, (यदि व्यक्ति में मानवता का विकास है तो) उस व्यक्ति के प्रति अवरकक्षा में स्थित व्यक्ति का मनोरस प्रवाहित होजाता है। यही 'अवरप्रतियोगिक परानुयोगिक' एक प्रकार का रसगमन है, यही स्थिति 'श्रद्धा' कहलाई है। श्रद्धालु का व्यक्तित्त्व श्रद्धेय के व्यक्तित्त्व से निम्न कक्षा में प्रतिष्ठित है। सेवक का स्वामी के प्रति, पत्नी का पति के प्रति, कनिष्ठ भ्राता का ज्येष्ठभ्राता के प्रति, प्रजा का राजा के प्रति, अल्पशिक्षितों का विद्वानों के प्रति, शिष्य का गुरु के प्रति, पुत्र का माता-पिता के प्रति जो रसानुगमन है, मनोऽनुगमन है, वही प्रेम 'श्रद्धा' कहलाया है। यहाँ दोषान्वेषण सर्वथा अवरुद्ध होजाता है। यदि अपने श्रद्धेय में कोई दोष होता भी है, तो श्रद्धालु के श्रद्धातिरेक से उसे श्रद्धेय के दोष प्रतीत नही होते। सहज-भाषानुसार-छोटों का बड़ों के साथ जो प्रेम है, वही 'श्रद्धा' प्रेम है। यह श्रद्धाप्रेम उच्छृंखलता-अमर्य्यादा से सर्वथा असंस्पृष्ट रहता है। न इस श्रद्धाप्रेम में रागासक्ति है, न द्वेषासक्ति है। है केवल आत्मसमर्पण। अतएव विशुद्धसत्त्वानुगत यह श्रद्धाप्रेम 'परप्रेम' (उत्कृष्टप्रेम) माना गया है।

४७९--'परप्रतियोगिक', तथा 'अवरानुयोगिक' मानसरस की प्रवाहात्मकता से अनुप्राणित द्वितीय-'वात्सल्यप्रेम' के तात्विक स्वरूप का समन्वय-प्रयास, दोषान्वेषणवृत्ति से समन्वित वात्सल्यप्रेम, रागात्मक, तथा मोहात्मक वात्सल्यप्रेम, श्रद्धाप्रेमापेक्षया वात्सल्यप्रेम के क्षेत्र में नियन्त्रण का अभाव, एवं-'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति' सूक्ति का माङ्गलिक-संस्मरण—

(२) अपने व्यक्तित्त्व से जिसका व्यक्तित्व नीचा है, उसके साथ यदि मनोरस प्रवाहित है, तो वह प्रेम 'वात्सल्य' कहलाया है। 'परप्रतियोगिक, अवरानुयोगिक' यही स्थितिभाव 'वात्सल्यप्रेम' है। स्वामी का सेवक के प्रति, पति का पत्नी के प्रति, जेष्ठभ्राता का कनिष्ठ भ्राता के प्रति, राजा का प्रजा के प्रति, विद्वानों का अल्पशिक्षितों के प्रति, गुरु का शिष्य के प्रति, मातापिता का सन्तान का प्रति जो रसानुगमन है, मनोऽनुगमन है, वही प्रेम 'वात्सल्य' कहलाया है। यहाँ दोषान्वेषण विद्यमान है। यदि प्रेमपात्र व्यक्ति उत्पथ गमन करता है, तो वात्सल्यप्रेमी गुरुजन इसका नियन्त्रण करदेते हैं। सहजभाषानुसार बड़ों का छोटों

के प्रति जो प्रेम है, वही वात्सल्य है। यह वात्सल्यप्रेम रागात्मक है। अतएव इसमें मोहवृत्ति जागरूक होपड़ती है, जिसके ज्वलन्त उदाहरण वात्सल्यप्रेमी धृतराष्ट्र होगए हैं। वात्सल्यप्रेम विवेक पर भी आघात कर बैठता है। इसी दोष से कभी कभी सन्तान नियन्त्रण से बाहिर निकल जाती है। क्योंकि यह रागात्मक प्रेम है, अतएव इसे श्रद्धापेक्षया अवरप्रेम माना जायगा। एक बात और। श्रद्धाप्रेम ऊर्ध्वगत्यनुगत है, अतएव उसमें कठिनता होती है। अतएव सन्तान श्रद्धेय मातापिता की श्रद्धा नहीं भी कर सकती। परन्तु वात्सल्य का प्रवाह निम्नगामी है। अतएव सन्तान के दुष्ट होने पर भी मातापिता के वात्सल्य में कमी नहीं आती। 'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति'। पिता की अपेक्षा माता में वात्सल्य का अधिक मात्रा में उद्रेक रहता है, माता का स्वाभाविक सौम्यभाव ही इस उद्रेक का मुख्य कारण है।

४८०-'समानप्रतियोगिक', तथा-'समानानुयोगिक' मानसरस के हृदयानुगत-समानपथानुगत-प्रवाह से अनुप्राणित तृतीय 'स्नेह' नामक प्रेम के तात्त्विक-स्वरूप का समन्वय-प्रयास, स्नेहप्रेमानुबन्धी कतिपय तथ्यों का प्रासङ्गिक-स्वरूप-दिग्दर्शन, 'अर्थ' के माध्यम से अनुप्राणित स्नेह का तमोगुणानुगतत्व, एवं पारस्परिकीद्विनिष्ठा रसानुगति से सम्बद्ध स्नेहात्मक प्रेम का सोदाहरण-संस्मरण—

(३) जिसका व्यक्तित्व जिसके वय, शील, व्यसनादि से समतुलित है, उसके साथ प्रवाहित होनेवाला मनोरस ही तीसरा 'स्नेह' नामक प्रेम है। सम्भव है श्रद्धालु के श्रद्धाप्रेम का श्रद्धेय को बोध न हो। सम्भव है वात्सल्य प्रेमी की वत्सलता का भी हमें ज्ञान न हो। परन्तु स्नेह में यह बात नहीं है। यहाँ दोनों ओर से समानप्रवाह है। दोनों में से किसी की रसानुगति में यदि थोड़ा भी अन्तर आजाता है, तो स्नेह-बन्धन ढीला पड़ जाता है। 'समानप्रतियोगिक, समानानुयोगिक' ऐसा द्विनिष्ठ प्रेम ही 'स्नेह' है। यहाँ रजोगुण के साथ साथ आंशिकरूप से तमोगुण का भी समन्वय रहता है। वत्सलता में क्रोध होसकता है, विच्छेद नहीं होता। परन्तु तमोगुणानुशयग्रह से स्नेहबन्धन टूट भी सकता है। विशेषकर उन मित्रों का पारस्परिक रसानुगमनरूप स्नेह तो सदा ही संशयास्पद बना रहता है, जिनके स्नेह का आलम्बन किसी भी प्रकार का अर्थ (भौतिक-लक्ष्य) बना रहता है। एक ही अर्थव्यवहार (व्यापार) के द्वारा सम्पन्न मैत्री तमोरूप अर्थ के कारण अनर्थ का भी कारण बन जाया करती है। सेवक सेवक की, पति-पत्नी की, राजा-राजा की, धनिक-धनिक की परस्पर रसानुगति ही 'स्नेह' है। इस स्नेहदृष्टि से दोनों परस्पर मित्र हैं।

४८१-चेतनोभयभावसमन्विता श्रद्धा-वात्सल्य-स्नेह-प्रेमत्रयी का संस्मरण, एवं जड़भूत-भौतिक-परिग्रहानुगत-विशुद्ध-तमोगुणान्वित-मानपरस से अनुप्राणित चतुर्थ-'काम' नामक प्रेम के तात्त्विक-स्वरूप-का समन्वय-प्रयास—

(४)-श्रद्धा, वात्सल्य, स्नेह, तीनों श्रेणियों में जिसके प्रति रसानुगमन होता है वह, एवं जिसके रस का अनुगमन होता है वह, दोनों चेतन (सेन्द्रिय) प्राणी हैं। परन्तु रसानुगति का एक क्षेत्र ऐसा भी है, जिसका आधार केवल अचेतन-द्रव्य ही बना करता है। विशुद्धतमोगुणानुगता यही रसानुगति 'काम' नामक प्रेम माना गया है। पुस्तक, गृह, सम्पत्ति, वस्त्र, आदि आदि भौतिक पदार्थों को विदित नहीं है कि, उनसे कोई प्रेम कर रहा है। परन्तु प्रेम करने वाला उनके मोह में मत्त बना रहता है।

४८२--वर्त्तमानयुगानुगत-जड़भावानुप्राणित-मानवाभासात्मक मानव का जडत्वनिबन्धन विशुद्ध 'कामकामित्व', एवं काममूला जघन्य-स्वार्थमयी श्रद्धा-वात्सल्य-स्नेहात्मिका--प्रेमत्रयी की जड़भाव में परिणति, तन्मूलक मानव की मानवता का आत्यन्तिक पतन, तथा जड़भावात्मक-अर्थलिप्सु मानवाधमों के कामात्मक जड़प्रेम के भीषण-परिणामों का दिग्दर्शन--

खेद है कि, वर्त्तमान युग में श्रद्धादि इतर प्रेमों का स्थान इसी कामप्रेम ने छीन लिया है। अर्थकामना ही आज श्रद्धा की अनुगामिनी बनी हुई है। सन्त-महन्त-सिद्धपुरुषों की इसलिए आज श्रद्धालु श्रद्धापूर्वक उपासना कर रहे हैं कि, वे प्रसन्न होकर हमें किसी गुप्तकोश का सत्पात्र ! बना देंगे। ज्येष्ठवर्ग के लोगों का कनिष्ठों के प्रति होने वाला वात्सल्य भी वास्तविक वात्सल्य से आज विदूर होगया है। मित्रों का पारस्परिक स्नेह भी आज अर्थरूप अनर्थ को ही प्रधानता देरहा है। इसप्रकार आज सभी कामकामी बने हुए हैं। चैतन्यभावानुगत श्रद्धादि का स्थान आज जड़वाद ने आक्रान्त कर लिया है। विद्या का उपयोग जड़--भौतिक परिग्रह सञ्चय में, पौरुष का उपयोग इसीलिए, व्यापार का एकमात्र लक्ष्य यही। सभी तो आज 'काम--काजी' बने हुए हैं। ऐसा क्यों हुआ ?, प्रश्न का उत्तर सम्भवतः वे पश्चिमी राजनैतिक ही देसकेंगे, जिनके अनुग्रह से भारतवर्ष अर्थलिप्सु बनकर अनर्थ के बीजवपन कर रहा है।

४८३--"श्रद्धा-वात्सल्य-स्नेह-काम" नामक सुप्रसिद्ध चतुर्विध मानस-प्रेम-विवर्त्तों के सर्वसमन्वय से अनुप्राणित-सर्वप्रेमरसात्मक-सर्वधर्म्मोपपन्न-विलक्षणतम-पञ्चम-'रति' नामक मानस प्रेम के तात्त्विक-स्वरूप का समन्वय-प्रयास, सर्वसमन्वयात्मक-सर्वोत्कृष्ट-रतिप्रेम की अधिष्ठात्री धर्म्मतः परिणीता धर्म्मसहचारिणी धर्मपत्नी, और सर्वधर्म्मोपपन्न-परमोपास्य-ईश्वरतत्त्व, एवं परमोपास्य के साथ उपासक-मानव के मनोऽनुगत श्रद्धा-वात्सल्य-स्नेह-काम-नामक चारों प्रेमविवर्त्तों का समन्वयात्मक स्पष्टीकरण --

(५)--पाँचवाँ 'रति' प्रेम सबसे विलक्षण है। जिस प्रेमानुगति में श्रद्धा, वात्सल्य; स्नेह, काम, चारों प्रेमों का समन्वय होजाता है, वही सर्वधर्म्मोपपन्न सर्वमूर्त्ति प्रेम 'रति' है। प्रेमरस सोमात्मक बतलाया गया है। स्त्री सौम्या है। अतएव रतिप्रेम की अधिष्ठात्री समस्त विश्व में एकमात्र 'स्त्री' ही बन सकती है। स्त्री गृहणी है, 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते' के अनुसार स्त्री का स्थान उच्च है, एवं इस दृष्टिकोण से स्त्री के प्रति पति की 'श्रद्धा' है। स्त्री के प्रति पति का वात्सल्यभाव भी जागरूक रहता है, अनुभव कीजिए। 'सहधर्म्मं चरताम्' न्याय से पत्नी पति की जीवनसंगिनी है। यही तीसरा स्नेहप्रेम है। स्त्री के शरीरावयव--केशपाश, आभूषणादि जड़पदार्थों की ओर भी पति का रसानुगमन है, यही चौथा जड़भावात्मक 'काम' प्रेम है। इसप्रकार पति के लिए पत्नी चारों प्रेमभावों की अधिष्ठात्री बन रही है। इसके अतिरिक्त दूसरा क्षेत्र है --'सर्वधर्म्मोपपन्न परमात्मतत्त्व'। इसके प्रति भी चारों का समन्वय है। श्रद्धे प्र तो वह है ही। उसके अवतारपुरुषात्मक नन्दनन्दनभाव के साथ वात्सल्यप्रेम का भी सम्बन्ध है। 'द्वा सुपर्णा सयुजा

सखायौ' के अनुसार उस साक्षीभूत ईश्वरसुपर्ण के साथ भोक्ता-रूप जीवसुपर्ण का मैत्रीसम्बन्ध भी है। उसका निदान-भावप्रतिमानरूपा जड़प्रतिमाओं के साथ भी कामात्मक प्रेम है। इसप्रकार मनोऽनुगत प्रेमलक्षण रस का पञ्चधा ही वर्गीकरण किया जासकता है।

४८४-सत्त्वानुगत 'श्रद्धाप्रेम', रजोऽनुगत 'वात्सल्यप्रेम', रजस्तमोऽनुगत 'स्नेहप्रेम', तमोऽनुगत 'कामप्रेम', तथा सर्वधर्म्मोपपन्न 'रतिप्रेम' का संकलनात्मक-सम-प्रयास—

१-श्रद्धाभावः——अवरप्रतियोगिकं परानुयोगिकं प्रेम———सत्वानुगतम्

२-वात्सल्यभावः——अवरानुयोगिकं-परप्रतियोगिकं प्रेम———रजोऽनुगतम्

३-स्नेहभावः——समानप्रतियोगिकं-समानानुयोगिकं प्रेम——रजस्तमोऽनुगतम्

४-कामभावः——जडानुयोगिकं-चेतनप्रतियोगिकं प्रेम———तमोऽनुगतम्

५-रतिभावः——सर्वसमन्वयात्मकं विलक्षणं प्रेम————सर्वधर्म्मोपपन्नम्



४८५-पञ्चधा-विभक्त-मानस प्रेम का 'निष्कामप्रेम', 'सकामप्रेम'-भेद से दो महिमा-विवर्त्तों के द्वारा संकलन, श्रद्धात्मिका-सत्त्वगुणान्विता-उपासना, और 'पराभक्ति' एवं वात्सल्यादि शेष-प्रेमभावात्मिका रजस्तमोगुणाद्यनुगता-उपासना, और 'अपराभक्ति' का स्वरूप-संस्मरण, निष्कामभावात्मिका-आर्षधर्म्मानुगता-श्रेष्ठ-तमा-श्रद्धोपासनालक्षणा 'पराभक्ति' का ज्येष्ठत्व-श्रेष्ठत्व-प्रतिपादन, एवं सकाम-भावात्मिका-सन्तमतानुगता-प्रेमोपासना-लक्षणा अपराभक्ति का तुलनात्मक स्वरूप-दिग्दर्शन —

उक्त पांचों प्रेमों में श्रद्धाप्रेम राग-द्वेषादि-शून्य विशुद्ध से प्रेम है। शेष चारों में तत्त्वतः-मात्रातारतम्य से कामभाव का प्राधान्य है। अतएव पाँचों के 'निष्कामप्रेम, सकामप्रेम' ये दो विभाग माने जासकते हैं। निष्कामप्रेम श्रद्धाप्रेम है, यही 'श्रद्धात्मिका-सत्वानुगता उपासना' है। सकामप्रेम वात्सल्यादिप्रेम है, यही गुणात्मक प्रेम है, यही 'भक्ति' है। उपासना, और भक्ति के तात्त्विक स्वरूपों में यही महान् अन्तर है। दूसरे शब्दों में श्रद्धात्मिका उपासना परोपासना है, आत्मोपासना है, पराभक्ति है, परानुरक्ति है। एवं प्रेमात्मिका गुणमयी भक्ति अपरोपासना है, विश्वोपासना है, अपराभक्ति है, अपरानुरति है। कामकामानुगता प्रेमोपासना में द्वैतभाव सुरक्षित है, अतएव यह काम्य-कर्म्मयोग से समतुलित है। निष्कामकामा श्रद्धोपासना का फल अद्वैतसम्पत्ति है, अतएव यह ज्ञानयोग से समतुलित है। प्रेमोपासना (अपराभक्ति) में मन काममय बना

रहता है, किन्तु श्रद्धोपासना में उपासक उपास्याकाराकारित बन जाता है। इसप्रकार के मीमांसा-दृष्टिकोण से दोनों की तुलना में निष्कामभावात्मिका, आर्षधर्मानुगता श्रद्धोपासना का ही ज्येष्ठत्व, एवं श्रेष्ठत्व सिद्ध होता है। सन्तमतानुमता प्रेमोपासना श्रद्धोपासना की तुलना में क्या स्थान रखती है ?, प्रश्न का उत्तर गतार्थ है।

४८६--सन्तमताभिनिविष्ट-साम्प्रदायिक-प्रजावर्ग की 'प्रेमोपासना' का नीरक्षीरात्मक विवेक, गुणमात्रानुगता-प्रेमाभक्ति से अनुप्राणित दोषापेक्षित्व, सोपाधिकत्व, अनात्मस्थत्व, नैकान्तिकत्व, विक्षिप्तत्व, सान्तरत्व, बन्धहेतुत्व, द्वैतभूयस्त्व, नामक सुप्रसिद्ध अष्टविध दोषों का नाम-संस्मरण—

सन्तमताभिनिविष्ट साम्प्रदायिक प्रजावर्ग वर्त्तमान में प्रेमोपासना को प्रधानता देता हुआ परानुरक्ति-लक्षणा श्रद्धोपासना की अवहेलना कर रहा है। मानते हैं, अधिकारी के भेद से प्रेमोपासना भी यथास्थान व्यवस्थित, आवश्यक, अतएव मान्य भी है। परन्तु श्रद्धोपासना की तुलना में इसलिए इस साम्प्रदायिक उपासना का स्थान अवर ही माना जायगा कि, इसमें गुणानुगत अनेक दोषों का भी समन्वय होरहा है। प्रेमोपासना-क्षेत्र में जहां गुणों पर दृष्टि रहती है, वहां श्रद्धोपासना में गुणों के द्वारा गुणी के प्रति आत्मप्रत्यय प्रवाहित होता है। प्रेमोपासना में ८ दोष ऐसे हैं, जिनके सम्पर्क से यह 'परा' न कहलाकर 'अपराभक्ति' कहलाई है। वे ही आठों दोष क्रमशः इन नामों से व्यवहृत हुए हैं—

१-दोषापेक्षित्वम्	५-विक्षिप्तत्वम्
२-सोपाधिकत्वम्	६-सान्तरत्वम्
३-अनात्मस्थत्वम्	७-बन्धहेतुत्वम्
४-नैकान्तिकत्वम्	८-द्वैतभूयस्त्वम्

(१)-दोषापेक्षित्वम्—

४८७--प्रेमाभक्ति के गुणात्मक-क्षेत्र से अनुप्राणित प्रथम-(१)-'दोषापेक्षित्व' नामक दोष का दिग्दर्शनोपक्रम, श्रद्धाशून्यप्रेम की उत्पत्ति का मूलबीज 'राग', रागानुबन्धी काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मात्सर्यादि रजोगुणों का वैभव, कामत्रयी, और क्रोधत्रयी, एवं दोषानुगता-प्रेमाभक्ति की दोषपरम्पराओं का नग्न-चित्रण—

श्रद्धाशून्य प्रेम की उत्पत्ति का कारण 'राग' माना गया है। इसी राग से काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मात्सर्यादि षड्रिपुवर्ग की उत्पत्ति हुई है। काम, लोभ, मोह, तीनों कामात्मक हैं। क्रोध, मद, मात्सर्य, तीनों क्रोधात्मक हैं। अनुकूल, सुखानुशायी काम काम है, यही राग है। प्रतिकूल, दुःखानुशायी काम क्रोध है, यही द्वेष है। 'काम एषः, क्रोध एषः, रजोगुणसमुद्भवः' (गीतायाम्) के अनुसार प्रकृति का गुणविशेष ही 'राग' है, एवं यही कामत्रयी, क्रोधत्रयी का जनक बनता है। सत्त्व, रज, तमोमयी त्रिगुणात्मिका योगमाया का सत्त्वभाग मलिनसत्त्व भाग है, यही रजोगुणात्मक राग की विकासभूमि है। राग का पिता मलिन

सत्त्व ही 'सोपाधिक सत्त्व' कहलाया है। इसका राग पर प्रभुत्त्व रहता है। अतएव यह सत्त्व हानिकर नहीं बनता। श्रद्धाप्रेमात्मिका पराभक्ति का इसी सोपाधिक सत्त्व से सम्बन्ध है। निरुपाधिक, त्रिगुणातीत, विशुद्ध सत्त्व तो निष्कल सत्त्व है, जिसका निर्विकल्पकसमाधि–लक्षण ज्ञानयोग के साथ ही सम्बन्ध माना गया है। उपासना का तो सोपाधिक–गुणात्मक सत्त्व से ही सम्बन्ध माना जायगा। क्योंकि, बिना उपाधि के कोई भी उपासना कृतस्वरूपा नहीं बन सकती।

४८८--सोपाधिक सत्त्वानुगत ज्योतिर्भाग का निरुपाधिक-आत्मतत्त्व से सान्निध्य-प्रतिपादन, सत्त्वप्रकाश की अविच्छिन्ना नित्यता, तथा निरपेक्षता, एवं रजस्तमोभावों की विच्छिन्ना अनित्यता, तथा सापेक्षता का दिग्दर्शन, और राग-द्वेष-भावों से वियुक्त-सत्त्वगुणान्वित-निरपेक्ष-उपासक की सत्त्वगुणान्विता-निरपेक्षा-श्रद्धात्मिका-वास्तविकी-उपासना का स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

ज्योतिर्भाग सोपाधिक सत्त्व है, यह विशुद्ध–निरुपाधिक–निष्कल–आत्मसत्त्व के अतिशयरूप से सन्निकट है। अतएव तदनुग्रह से इस गुणात्मक सत्त्व को आधार बनाने वाली श्रद्धोपासना नाम की पराभक्ति अद्वैत की प्रतिच्छाया से युक्त होती हुई, ज्ञानयोग के समकक्ष बनती हुई गुणातीतकोटि में प्रविष्ट होजाती है। सत्त्व को स्वगर्भ में भुक्त रखने वाला क्रियाभाग ही रजोगुण है। इस क्रियात्मक रजोगुण का चितिरूप–स्थूलभाव ही तमोगुण है। रजोगुण में तो फिर भी सत्त्वप्रकाश की यत्किञ्चित् प्रतिच्छाया रहती है, परन्तु रजोगुण के (क्रिया के) तमोगुण (द्रव्य) रूप में तो उस ज्योति का आत्यन्तिकरूप से अभिभव ही होजाता है। सत्त्व निरपेक्ष प्रकाश है। उसे किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रहती। रजोमय प्रकाश को घट–पटादि विषयों की अपेक्षा रहती है। सत्त्वप्रकाश नित्य है, रजः–प्रकाश नैमित्तिक है। फलतः राग से जो प्रवृत्ति होती है, उसमें अवश्य ही किसी तमोभूत विषय की अपेक्षा रहती है। बिना विषयाश्रय के राग उद्भूत ही नहीं होता। रागोत्पत्ति जहाँ अन्यगुणसापेक्षा है, वहाँ सत्त्वप्रकाश अन्यानपेक्ष है। सत्त्वगुणप्रधान मनुष्य न किसी से राग करता, न द्वेष करता। उसका को प्राणिमात्र के साथ निष्काम–निरुपाधिक प्रेम रहता है। सब उसके लिए समान हैं–'न द्वेष्टि, न कांक्षति'।

४८९--रजोगुण-प्रधान मानव का परप्रेम, और उसकी सापेक्षता, तन्निबन्धन गुणात्मक प्रेम में आसक्त व्यासक्त-मानव की 'गुणी' के प्रति आत्यन्तिक उपेक्षा, जागरूक व्यक्ति की उन्मुग्धावस्था से अनुप्राणित सुप्रसिद्ध-'मोह' नामक दोष, रागात्मक-मोह-मय-महान् दोष से समाप्लुता गुणासक्ति-मूला प्रेमाभक्ति, और तन्निबन्धन-'दोषापेक्षित्त्वम्' नामक प्रथम-दोष का स्वरूप-विश्लेषणोपराम—

रजोगुणप्रधान मनुष्य दूसरों से प्रेम अवश्य करता है, परन्तु इसका यह प्रेम सापेक्ष बना रहता है। मधुरभाषी शुक के साथ इसका प्रेम नहीं है, मधुर भाषण से प्रेम है। गुणभावों के साथ प्रेम है, गुण–दोष विरहित प्राणी के साथ प्रेम नहीं है। उधर तमोगुणप्रधान पुरुषार्थी गुण की भी अपेक्षा नहीं रखते।

अपितु परगुणदर्शन इन्हें वृश्चिकदंशवत् व्याकुल बना देता है। तात्पर्य्य, सत्त्व प्रथम स्थानीय है, रज मध्य-स्थानीय है, एवं तम तृतीयस्थानीय है। सत्त्वगुण गुण है, रजोगुण, और तमोगुण, दोनों दोष हैं। राग अनु-कूलाकर्षण है, द्वेष प्रतिकूलाकर्षण है, मोह सान्ध्य है। जागरूक की उन्मुग्धावस्था ही मोह है। 'रागद्वेष-मोहाः' के अनुसार तीनों दोष हैं। राग राग है, द्वेषमोह तम हैं। प्रेमोपासना में इसी रागात्मक दोष की अपेक्षा रहती है। यदि आत्मा में सत्त्वगुण का विकास है, तो न राग है, न द्वेष है। यदि तमोगुण का विकास है, तो दूसरों के साथ द्वेष अवश्य होसकता है, प्रेम नहीं। प्रेम तो रागगुण पर ही अवलम्बित है, जो कि राग वस्तुतः रजोगुणात्मक दोष ही है। जिनके अन्तर्जगत् में रागमात्रा परिपूर्ण रहती है, उनका बच्चों पर स्वाभाविक प्रेम होता है। रागासक्त मनुष्य जड़-चेतन, सबसे प्रेम करता है। रागात्मक दोष की अपेक्षा रखना ही 'दोषापेक्षित्त्वम्' नामक पहिला दोष है। अतएव तद्रूपा प्रेमाभक्ति को अवश्यमेव अपराभक्ति कहा जायगा।

——१——

२-सोपाधिकत्त्वम्—

४६०-रागात्मक दोष के आधार पर मनोराज्य में उत्पन्न होने वाले प्रेम के आधार-भूत-'परगुण' का स्वरूप-समन्वय, तन्निबन्धना राग-द्वेष-मोहान्विता महती आसक्ति, तद्रूप बन्धन-प्रवर्त्तक-सोपाधिकभाव, एवं प्रेमाभक्ति के क्षेत्र से अनुप्राणित-क्रमप्राप्त-दूसरे-'सोपाधिकत्त्वम्' नामक दोष का स्वरूप-विश्लेषण—

रागात्मक दोष के आधार पर मनोराज्य में उत्पन्न होने वाले प्रेम का आधार है-परगुण। परगुण से ही सुप्तराग जाग्रत बनता है। परगुण उसी व्यक्ति में रजोगुण उद्भूत कर सकते हैं, जिनके मन में सत्त्वगुण का प्राधान्य है। परगुणों से वह शान्तिलक्षणा तृप्ति का अनुभव अवश्य करेगा, उन परगुणों का समादर अव-श्य करेगा, किन्तु वह स्वयं उन परगुणों में आसक्त कभी न होगा। परगुण उपाधि है। इस परगुणरूपा उपाधि के आश्रय से ही रागात्मक प्रेम का आविर्भाव होता है। अहा! अमुक का मुख कैसा सुन्दर है, कृष्णकी वंशीध्वनिने तो हमें मोहित कर लिया, इसप्रकार वह गुणभावों का ही दास बना रह जाता है। तात्पर्य्य-गुणी के गुणों के आश्रय से उत्पन्न रागात्मक प्रेम अवश्य ही सोपाधिक प्रेम है, जो एकप्रकार का क्षणिक प्रेम है। झञ्झा-ताल-मृदङ्गादि जबतक बजते रहे, नामध्वनि होती रही। जहां इन उपाधियोंने विश्राम लिया, सबकुछ समाप्त, वही संसार-चक्र। परगुणाकर्षण से सहस्र भी परदोष पिकवत् अभिभूत होजाते हैं। पिक को देखिए न। वर्ण से कुरूप, क्रोधपूर्ण अवलोकन, काकादि सन्तति की सहजवैरिणी, स्वसन्तान की भी उपेक्षा करने वाली, अनेक दोष। केवल वाणी में मधुरता। केवल इस एक गुणाकर्षण से उसके अनेक दोष अभि-

भून होरहे हैं * । तात्पर्य्य, उपाधि के द्वारा गुणभाव के साथ रागात्मक प्रेम में उपाधियुक्त दोषों का भी आगमन अनिवार्य्य बन जाता है । यही रागात्मिका प्रेमोपासना के दूसरे 'सोपाधिकत्त्वम्' दोष का संक्षिप्त विश्लेषण है ।

—२—

३–अनात्मस्थत्त्वम्—

४६१–स्वोपासनाधारभूत राग के अनुग्रह से उपाधिगुणों में आसक्त-व्यासक्त-अनात्म-भाव-प्रेमी उपासक की दयनीय-स्थिति का स्वरूप-चित्रण, उपास्यदेवता के बाह्यगुणों-बहिरङ्गधर्म्मों में रागानुबन्धेन आसक्त-लक्ष्यच्युत-प्रेमविभोर-उपासक की स्वरूपविस्मृति का दिग्दर्शन, एवं तन्निबन्धना बाह्य–विषयानुधावन-परायणता—

प्रेमी उपासक स्वोपासनाधारभूत रागानुग्रह से उपाधिरूप गुणों का अनुगामी तो बन ही गया, परन्तु इस के साथ साथ ही वह अनात्मभाव में आत्मबुद्धि भी कर बैठा । प्रेमोपासक भक्त भगवान् के बाह्य लीलागुणों पर मुग्ध रहते हुए इन्हें ही उपास्य मान बैठते हैं । व्यापक आत्मतत्त्वरूप भगवान् इन गुणो से अभिभूत होजाते हैं, गुणमात्र ही उन का स्वरूप शेष रह जाता है । व्यापक आत्मभाव व्याप्य–अनात्म–गुणभावों में परिणत होजाता है । प्रेमोपासक की दृष्टि जाती है केवल गुणों पर । गुण हैं–सब अनात्मधर्म्म, जड़भाव । यहीं इस की प्रेमोपासना का अवसान होजाता है । गुण-चक्राक्रान्त ऐसे प्रेमी–भक्तों की दृष्टि निर्गुण-व्यापक पर पहुँच ही नहीं सकती । जहां रासलीला होगी, वहां ये दौड़ेंगे । जहां झूलों की झांकी होगी, वहां ये अनुधावन करेंगे । इन्हें रास देखना है, रासेश्वर नहीं । झूला देखना है, झूलने वाला नहीं । मूरली की मधुरतान में ही सब कुछ खो बैठे । मोरमुकुट की लटक पर ही लट्टू बने रह गए । और रह गए इन गुणभावों के अनुग्रह से केवल अनात्मभावों के उपासक । जिस की यह वंशध्वनि है, जिस का मुकुट है, उस अवतारपुरुष का वासुदेवात्मक व्यापक × निर्गुणाव्ययरूप कैसा है ?, यह जानने का न तो गुणभक्तों को अवसर ही, न अधिकार ही । वासुदेवलक्षण कृष्णात्मा का स्वरूप सब के लिए

---

*–पिकः कृष्णो नित्यं परमरुणया पश्यति दृशा–
परापत्तिद्वेषी स्वसुतमपि नो पालयति यः ।
अथाप्येषोऽमीषां सकलजगतां वल्लभतमो–
न दोषा गण्यन्ते मधुरवचसां केनचिदपि ॥

×–अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय ! न करोति न लिप्यते ॥ गीतायाम् ।

सुलभ भी तो नहीं है ×। आत्मभाव से अनात्मभाव की ओर लेजाने वाली, व्यापक को परिच्छिन्न बना डालने वाली, ऐसी भक्ति दूर से ही प्रणम्य है। जड़गुणभावों की एकमात्र अनुगति कामात्मिका भक्ति है, जैसा कि कामात्मक प्रेम का स्वरूप बतलाते हुए स्पष्ट किया जाचुका है। जडात्मिका गुणोपासना से मन काममय बनता हुआ अनात्मा में स्थित होजाता है। जिस आत्मलक्ष्य के लिए उपासना विहित है, उस लक्ष्य का यहाँ एकान्ततः अभिभव है। यही 'अनात्मस्थत्त्वम्' रूप तीसरा दोष है, जिस से प्रेमोपासना अवरकक्षा में प्रतिष्ठित होरही है।

४ नैकान्तिकत्त्वम्—

४६२–मनोऽनुगत चाञ्चल्य की निवृत्ति के लिए अपेक्षिता उपासना, 'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः' मूला योगात्मिका परोपासना का स्वरूप–दिग्दर्शन. अव्यक्त–महान्–विज्ञान–प्रज्ञान–इन्द्रिय–आदि सोपानभावपरम्परा से अनुप्राणिता आनन्दमात्रा की तात्त्विकी उपयोगमीमांसा, एव इन्द्रियों के द्वारा मन के बाह्यविषयानुधावन का स्वरूप–दिग्दर्शन, तथा तन्मूलक चाञ्चल्य का समन्वय—

मनःसंयम के लिए, मन की स्वाभाविक चञ्चलता के उपशम के लिए उपासना विहित है। मनः-संयमात्मिका उपासना एक प्रकार का स्थिति–इन्द्रियधारण लक्षण योग ÷ है। 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (पा० यो० सूत्र) के अनुसार योगात्मिका अद्धोपासना का एकमात्र फल है–चित्तवृत्ति का निरोध। चित्त चञ्चल क्यों होता है?, इस का एकमात्र उत्तर है–एकधर्मावच्छिन्ना आत्मसम्पत्ति का वियोग, एवं गुणानुगत अनेक धर्मावच्छिन्न विषयों का योग। आनन्दघन एकरस आत्मानन्द का प्रथम अनुग्रह अव्यक्तात्मा पर होता है। अव्यक्त के द्वारा यह आनन्दमात्रा महान् में, महान् के द्वारा विज्ञान (बुद्धि) में, बुद्धि के द्वारा प्रज्ञान (मन) में, प्रज्ञान द्वारा के इन्द्रियों में, इन्द्रियों के द्वारा बाह्य विषयों में समाविष्ट होती है। इस क्रम से आत्मानन्द उत्तरोत्तर अवतीर्ण हुआ है। सिद्ध है कि, अव्यक्त, महान्, विज्ञान, प्रज्ञान, इन्द्रिय, बाह्यविषय, इन ६ ओं आनन्दपात्रों के पूर्वपूर्वपर्वापेक्षया उत्तरोत्तर पर्वों में आनन्दमात्रा अल्पीयसी है। आत्मानन्दमात्रा को लेकर स्वस्वरूप से विकसित मन उसी आनन्द का इच्छुक बना रहता है। इस इच्छापूर्त्ति के लिए यह इन्द्रियों के द्वारा बाह्य विषयों के प्रति अनुधावन करता है।

×–वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः (गीतायाम्)

÷–यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ॥१॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥२॥
—कठोपनिषत् २।६।१०,११,।

४६३–'यो वै भूमा-तत्सुखम्, नाल्पे सुखमस्ति' श्रुति से अनुप्राणित भूमामय-तृप्ति-शान्तिकर-आत्मानन्द का स्वरूप-दिग्दर्शन, मनकी आनन्दान्वेषणकर्म्म में सहज-प्रवृत्ति का रहस्यात्मक-पारिभाषिक-समन्वय, आनन्दान्वेषणकर्म्म में मनकी बहिर्मुखता, एवं तद्दुष्परिणाम-स्वरूप मन की चञ्चलता का रहस्यात्मक दिग्दर्शन, तथा एकात्मयोगनिबन्धन-निर्गुणात्मक-श्रद्धानुगत-योग के द्वारा ही मन की चञ्चलता का सम्भावित उपशम—

परन्तु होता क्या है ?, उत्तर स्पष्ट है। अपने से अधिक सम्पत्ति का आगमन ही तृप्ति का कारण बनता है, जैसाकि–'यो वै भूमा तत् सुखं, नाल्पे सुखमस्ति' (उपनिषत्) श्रुति से प्रमाणित है। इन्द्रिय के द्वारा आनन्दमात्रा लेकर कृतरूप बाह्यविषयों में जितनी आनन्दमात्रा है, तदपेक्षया तो मन के सन्निकट रहने वाली इन्द्रियों में ही अधिक आनन्दमात्रा है। इन्द्रियापेक्षया बुद्धि के सन्निकट रहने वाले स्वयं मन में अधिक आनन्दमात्रा है। यदि मन की तृप्ति सम्भव है, तो स्वयं उसकी आनन्दमात्रा से अधिक आनन्दमात्रा मिलने पर। यह तभी सम्भव है, जबकि वह इन्द्रियसंयम के द्वारा अपने आपको स्वापेक्षया अधिक आनन्दयुक्त विज्ञान का अनुगमन करे। तभी इसे अमृतसम्पत्ति मिल सकती है। यदि ऐसा न कर मन इन्द्रियों के द्वारा गुणात्मक विषयों में आनन्द की खोज करने निकलेगा, तो इसे शान्ति के स्थान में अशान्ति का ही पात्र बनने पड़ेगा। किसी विषय पर इन्द्रियों के द्वारा मन गया। वहाँ इस मन को स्वतःसिद्धा स्वापेक्षया अल्पस्वानन्दमात्रा मिली। उसे छोड़ा। अन्य पर मन गया। वहाँ भी यही स्थिति। पुनः अन्यविषयानुधावन। इसप्रकार आनन्द की खोज में यह इतस्ततः भटकने लगेगा। यही मनोऽनुधावन मन का चाञ्चल्य है। एक घनानन्दमूर्त्ति आत्माश्रय से वञ्चित अनेक विषयों का अनुगामी मन चञ्चल बन बैठता है, चञ्चल होपड़ता है *। एकात्मयोग ही निर्गुणात्मयोग ही इस चञ्चलता का अनन्य निवारक है।

४६४–सगुणोपासनात्मिका प्रेमोपासना की ऐकान्तिक-नैष्ठिक-आत्मधर्म्म से विच्युति, विभिन्न-गुण-धर्म्माक्रान्त-गुणासक्त-मन का विभिन्नवृत्तियों की ओर सतत-अनुधावन, तन्मूला तत्प्रसूता मनकी विक्षिप्तता, एवं-तदनुप्राणित-'नैकान्तिकत्वम्' नामक चतुर्थ दोष के पारिभाषिक-स्वरूप का समन्वय-प्रयास—

प्रेमोपासना जब गुणोपासना है, तो वहाँ एकान्तता कैसी ?। गुण भी एक नहीं, अनेक हैं। कभी किसी गुण पर अनुधावन, तो कभी अन्यगुण पर। कभी वंशीध्वनि के प्रति आकर्षण, कभी माखन-चोरी पर, तो कभी रासविहार पर। एककालावच्छेदेन सब गुणों का संग्रह असम्भव है। फलतः नानात्व का उदय अनिवार्य्य बन जाता है। कभी उसे लिया, कभी अन्य पर दृष्टि गई, इसप्रकार इस गुणात्मिका प्रेमोपासना में आदान विसर्गात्मक–ग्रहणपरित्यागात्मक–अनेकभावानुगत–कर्म्मकाण्ड का समावेश होजाता है। चले थे चित्तवृत्ति

---

*–पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥

का निरोध करने । परिणाम निकला ठीक इसके विपरीत। ऐकात्म्यधर्म्म से वञ्चित मन नैकान्तिक बन गया, अनेकभावों का अनुगामी बन गया । यही प्रेमोपासना का 'नैकान्तिकत्त्वम्' (नानात्त्व) रूप चौथा दोष है, जिस से यह अवरकक्षा में प्रतिष्ठित होरही है ।

५–विक्षिप्तत्त्वम्—

४९५–गुणानुगति में आसक्त मनकी एकात्मभावसम्पत्ति से विच्युति, तन्मूलक चाञ्चल्य, तन्मूला विक्षिप्तता, संकल्प-विकल्पात्मक द्वन्द्वचक्रों में सतत चङ्क्रममाण गुणासक्त-चञ्चल-मनका स्वरूप-विमोहन, एवं प्रेमोपासना के राग-मोहात्मक-क्षेत्र से अनुप्राणित क्रमप्राप्त पञ्चम-'विक्षिप्तत्त्वम्' नामक दोष का स्वरूप-दिग्दर्शन—

गुणानुगति से मन एकात्मभावसम्पत्ति से च्युत होता हुआ नैकान्तिक बना । एवं नैकान्तिकता से चञ्चल बन गया । इस नैकान्तिकी चञ्चलता का परिणाम आगे जाकर क्या होता है ?, इस प्रश्न का उत्तर है—विक्षिप्तता (पागलपन) । गुणानन्द ही सही, यदि वह भी मिल जाता, तो सन्तोष होजाता । किन्तु मिलता वह भी नहीं । क्यों ?, उस पर स्थिति क्यों नहीं ?, एक गुणभाव नहीं, इसलिए । सामने जब असंख्य आकर्षक पदार्थ उपस्थित होजाते हैं, तो मन की वृत्ति जड़ बन जाती है । इसे लूँ कि, इसे, इस संकल्प-विकल्प की चक्रधारा में फँस कर मन भौंचक्का बना रह जाता है । यही इस मन की विक्षिप्तता है । आरम्भ में उद्वेग होता है । यही उद्वेग चरमसीमा पर पहुँचता हुआ जड़ता का प्रवर्त्तक बन जाता है । अपना स्वरूप ही खो बैठता है । स्तम्भात्मिका जड़ता विक्षिप्तता की ही उत्तर सन्तान है । आत्मशान्तिमूला विकासरूपा स्थिरता रही एक ओर । यहाँ तो गुणानुगता समृद्धि भी नहीं मिल सकी । पागल बन बैठे । सांसारिक लोकसंग्रह भी हाथ से जाता रहा । यही प्रेमोपासना का पाँचवां 'विक्षिप्तत्त्वम्' दोष है ।

६–सान्तरत्त्वम्—

४९६–'गुणोपासना' में आसक्त उपासक की आत्मक्षेत्र से विदूरता, भगवान्, और भक्त में गुणानुगति से उत्तरोत्तर अन्तराय, तन्निबन्धन भेदबुद्धिरूप अन्तराय, तथा प्रेमोपासना से अनुप्राणित 'सान्तरत्त्व' नामक क्रमप्राप्त ६ ठे दोष का स्वरूप-दिग्दर्शन—

गुणोपासना प्रेमोपासक को उपास्य आत्मा से अधिकाधिक दूर फेंकती रहती है । उपासक, उपास्य, दोनों एक दूसरे से विदूर होते जाते हैं । गुणभाव ही मध्यस्थ वह अन्तराय है, जो अंशभूत उपासक (जीवात्मा) को अंशीरूप उपास्य (ईश्वराव्यय) से मिलने नहीं देता । 'वे भगवान् हैं, मैं भक्त हूँ'—वे सर्वगुणसम्पन्न हैं, ऐसे हैं, वैसे हैं,' मैं अकिञ्चन हूँ' इसप्रकार वह अपने आपको उस व्यापक आत्मसम्पत्ति से दूर करता जाता है । उपनिषत् कहती है, जिसने आत्मपार्थक्य का आश्रय लेकर अन्य-देवानुगति का आश्रय लिया, न स वेद, न स वेद । जिस उपास्य की प्राप्ति के लिए उपासनामार्ग का आश्रय लिया गया, वही उपासनामार्ग गुणभावों की प्रधानता से उपासक, और उपास्य का भेदक बन गया । भेदबुद्धिरूप व्यवधानने दोनों को द्वैत बना डाला । यही प्रेमोपासना का 'सान्तरत्वम्' रूप ६ ठा दोष है ।

७-बन्धहेतुत्त्वम्—

४६७-हृद्ग्रन्थिविमोकलक्षण भवबन्धन-विमोकरूप औपासनिक-फल, भवबन्धन-प्रवर्त्तिका गुणत्रयोपेता योगमाया, तदासक्तिरूप-रागात्मक प्रेम, तन्निबन्धना पाशरज्जु, और 'प्रेमपाश', तथा प्रेमोपासना से अनुप्राणित-'बन्धहेतुत्त्वम्' नामक क्रमप्राप्त ७ वें दोष का स्वरूप-दिग्दर्शन—

हृद्ग्रन्थिविमोकलक्षण भवबन्धनविमोक ही उपासना का चरम लक्ष्य है। क्या रागोपासना से बन्धन-विमोक सम्भव है ?। तत्त्वद्रष्टा उत्तर देते हैं—गुणत्रयानुगता योगमाया ही भवबन्धन की मूलप्रतिष्ठा है। गुणविभूति ही यह साधन है, जिसके अनुग्रह से राग-द्वेषात्मक बन्धन की प्रवृत्ति होती है। विजातीय गुण उपासक में आसक्तिरूप बन्धन के प्रवर्त्तक बन जाते हैं। रागात्मक प्रेम विजातीय गुण है। अवश्य ही यह मन को गुणों में आसक्त कर देता है। इसीलिए तो यह रागात्मक प्रेम 'प्रेमपाश' नाम से व्यवहृत हुआ है। बन्धन लौकिक हो, अथवा पारलौकिक। लौकिक गुणानुबन्धन हो, अथवा भगवद्गुणानुबन्धन। बन्धनत्त्वेन दोनों ही बन्धन बन्धन हैं। दोनों में ही आसक्ति है। आसक्ति आत्मविकास की महा प्रतिबन्धिका है। यही रागात्मिका प्रेमोपासना में-'बन्धहेतुत्त्वम्' रूप सातवाँ दोष है।

* * *

८-द्वैतभूयस्त्वम्—

४६८-सान्तरतानुगता प्रेमोपासना से अनुप्राणिता द्वैतसम्पत्ति, स्वसत्ता की प्रतिबन्धिका परसत्ता, तदासक्त प्रजावर्ग के अद्वैतभावनिबन्धन संघठन का विच्छेद, एवं अद्वैतसम्पत्ति से वञ्चिता प्रेमोपासना के द्वारा 'उपास्यदेवता' के नाम से विभिन्न संघर्षों की प्रवृत्ति, तथा तद्द्वारा राष्ट्र का आत्मपारतन्त्र्य—

सान्तरता, एवं बन्धन के हेतुभूत गुणों के अनुग्रह से इस प्रेमोपासना के द्वारा उपासक को अन्त में प्राप्त होता है-'द्वैतफल'। पूर्वोक्त सात दोषों के कारण उपासक उपास्य से एकान्ततः पृथक् रहता हुआ अद्वैत-सम्पत्ति से वञ्चित रह जाता है। विजातीय गुणभावों की मध्यस्थता में दोनों का तादात्म्य होजाना कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव है। परसत्ता ही तो स्वसत्ता की महाप्रतिबन्धिका मानी गई है। जिसप्रकार विजातीय-विदेशी-सत्ता की उपासना से राष्ट्र का एकसूत्र विच्छिन्न होजाता है, एक-दो दल ही नहीं, अपितु राष्ट्रीय प्रजा अनेक भागों में विभक्त होकर-द्वैतभूयस्त्व को चरितार्थ कर देती है, तथैव गुणानुगता प्रेमोपासना अपने नानात्त्व से उपासक के आत्मधरातल को भी नानाभावों में परिणत कर डालती है। यह प्रेमोपासना का ही सु ? परिणाम है कि, आज भारतवर्ष में भगवान् के नाम पर भी आस्तिक प्रजा संघर्ष करती नहीं अघाती। तत्त्वोपासना की आत्यन्तिकरूप से उपेक्षा कर, केवल गुणानुगति का आश्रय लेती हुई आस्तिक प्रजा 'द्वैतभूयस्त्व' को सर्वात्मना अन्वर्थ बना रही है।

४६६-तत्त्वोपासना के अद्वैताधार से वञ्चिता गुणासक्तिमूला प्रेमोपासना के दुष्परिणामों का स्वरूप-दिग्दर्शन, तन्निबन्धन साम्प्रदायिक-कलह-परम्परा का आविर्भाव, एवं रागद्वेष-मोहादि महान् दोषों का सर्जक आज का 'प्रेममय-भक्तिमार्ग'—

तत्त्वोपासनाधारवञ्चिता प्रेमोपासना का ही यह दुष्परिणाम है कि, आज प्रत्येक सम्प्रदाय के भगवान् भी भिन्न भिन्न बन गए हैं। जो जिस सीमित भगवान् (गुण) की आराधना करता है, वह रागद्वेष का प्रतिरूप बन रहा है। किसी शैवमन्दिर में आप ऊर्ध्व तिलक लगा कर तो चले जाइए। शैवोपासक समझेगा, उस का कोई शत्रु आगया। किसी श्रीसम्प्रदाय-मण्डल में त्रिपुण्ड्धारी के पहुँचने भर में विलम्ब है, संघर्ष प्रतीक्षा कर रहा है। जो उपासना मानवता को रागद्वेष के कुचक्र से निकाल कर हमारे सामने समस्त मानव-समाज के मातृ भावका आदर्शउपस्थित करने वाली थी, वही आज विशुद्ध गुणानुगता बनी रहकर द्वेष की जननी बन रही है।

५००-उपासनानुगत अद्वैतक्षेत्र का संस्मरण, तत्प्रतिबन्धक विजातीय गुणों का बहिष्कार, आत्मस्वतन्त्रता, तथा आत्मपरतन्त्रता की रहस्यात्मिका परिभाषा, तन्निबन्धन देश-स्वातन्त्र्य, और पारतन्त्र्य, का दिग्दर्शन, एवं आत्मनिर्भरतारूप-स्वावलम्बित्व की स्वरूप-दिशा का संस्मरण—

विश्वास कीजिए, भगवान् के नाम से होने वाले इस अत्याचार का भी देशपारतन्त्र्य में बहुत बड़ा सहयोग है। और साथ ही यह भी विश्वास कर लीजिए कि, यदि जीव, और ईश्वर के भेदवाद का उन्मूलन कर आप स्वात्मा को असपत्न प्रदेश में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं, तो आपके लिए प्रतिबन्धनरूप विजातीय गुणों को, आत्मप्रदेश में विभिन्न देश में रहने वाले विदेशी शत्रुओं को बाहिर निकालना अनिवार्य्य होगा। पहिले उन की सत्ता हटानी पड़ेगा, तभी आप आत्म-राज्यरूप स्वराज्य प्राप्त कर सकेंगे। जबतक परावलम्बन है, पराश्रय है, तबतक आत्मा पर-तन्त्रानुगामी बनता हुआ 'परतन्त्र' है। पर-तन्त्रानुगता परतन्त्रता ही तो आत्मसंकोच का मूल है। आत्मसंकोच ही तो भय का प्रवर्त्तक है। भय ही तो दुःख का मूल है। परावलम्बन को छोड़कर स्वावलम्बी बनिए, आत्मनिर्भरता सम्पन्न कीजिए।

५०१-विजातीय-भावों के निष्कासन के सामयिक उपायों का दिग्दर्शन, एवं तदाधारभूत अभ्यास, तथा वैराग्य का संस्मरण—

हम मानते हैं कि-रागद्वेषादिरूप विदेशियों की परप्रतिष्ठा आप के आत्मदेश में अभ्यास-वश आज दृढमूल बन गई है। अतएव सहसा उनका निष्कासन सम्भव नहीं है। परन्तु कोई चिन्ता नहीं। भगवत्प्रदिष्ट अभ्यास, वैराग्य, दोनों साधनों से शनैः शनैः युक्ति से प्रयास कीजिए। उन से सम्पर्क कम करते जाइए। उनके परिग्रहों की आसक्ति छोड़ते जाइए। यही अभ्यास है, यही वैराग्य है। और यही आत्मस्वातन्त्र्य की मूलप्रतिष्ठा है।

५०२–'द्वैतभूयस्त्व' नामक महान् दोष से सतत समाक्रान्ता प्रेमोपासना के क्षेत्र से अनुप्राणिता गुणासक्ति के भीषण-परिणामों का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं श्रद्धोपासना के समतुलन में प्रेमोपासना का अवरत्व, तथा कनिष्ठत्व—

प्रेमोपासना के इस द्वैतभूयस्त्व का स्पष्टीकरण करना व्यर्थ है। हम पृथक् हैं, वंशीबजाने वाले पृथक हैं, वंशी पृथक् है, वंशी के छिद्र पृथक् हैं, तान पृथक् है, सुननेवाली श्रोत्रेन्द्रिय पृथक् है, रसास्वादन करने वाला मन पृथक् है। निदर्शन मात्र है। अथ से इतिपर्य्यन्त द्वैत का ही साम्राज्य है। जबतक गुणानुगति है, तबतक द्वैतभूयस्त्व है। जबतक द्वैतभूयस्त्व है, तबतक अद्वैत की प्राप्ति सम्भव नहीं। जबतक अद्वैत नहीं, तबतक शान्तानन्द की भी प्राप्ति असम्भव। गुणोपासना करने वाले उपासक को आनन्द प्राप्त नहीं होता, यह बात तो नहीं है। अवश्य ही वह आनन्दानुभव भी करता है। गुणों से आनन्द तो मिलता है परन्तु यह स्वयं आनन्द नहीं बनता। गुणाश्रित आनन्द आगन्तुक आनन्द है। तत्सत्ता में ही उसकी चर्वणा है। परतन्त्रतानुगत यह आनन्द भी क्या आनन्द है ?। आनन्द की तो वास्तविक परिभाषा है–'नित्यतृप्तो निराश्रयः' (गीतायाम्)। द्वैतभूयस्त्वप्रवर्त्तिका, गुणाश्रिता रागात्मिका प्रेमोपासना इस वास्तविक आत्मानन्द–अद्वैतानन्द से सर्वथा वञ्चित है। इसप्रकार प्रेमोपासना में आठ प्रधान दोष होजाते हैं। इन आठों प्रधान दोषों पर ही सीमा समाप्त नहीं है। लोकसंग्रहपरित्याग, दासभावानुगति, हीनवीर्य्यता, कर्त्तव्यकर्मनिष्ठावञ्चकता, आदि आदि और भी अनेक दोष इसके अतिथि बने रहते हैं। इन्हीं सब कारणों से इसे 'अपराभक्ति' कहना अन्वर्थ बनता है। यही इस प्रेमोपासना का श्रद्धोपासनापेक्षया अवरत्व, तथा कनिष्ठत्व है।

५०३–लोकसंग्राहक–भगवान् के द्वारा लोकसंग्रह-दृष्टिमात्र माध्यम से 'अपराभक्तिरूपा-प्रेमोपासना' का भी संग्रहात्मक संस्मरण, किन्तु–श्रद्धोपासनात्मिका-पराभक्ति का ही महत्त्व–संस्थापन' और तत्समर्थक–कतिपय आर्षवचन-एवं 'उपासना–परिशिष्टनिर्वचनम्' नामक चतुर्थ-प्रकरण का उपराम—

लोकसंग्राहक भगवान् ने गीताशास्त्र में अधिकारी के भेद से यद्यपि गुणात्मिका प्रेमोपासना का भी संग्रह किया है, तथापि उनकी दृष्टि में श्रद्धाप्रेमात्मिका योगलक्षणा श्रद्धोपासना ही ज्येष्ठ–श्रेष्ठ–पथ है। क्योंकि 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः' के अनुसार श्रद्धोपासक श्रद्धेय के आकार से आकारित होजाता है। निम्नलिखित गीतासूक्तियाँ इसी श्रद्धोपासना के महत्त्व का समर्थन कर रहीं हैं—

१–अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥

२–मच्चिता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥

३-अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

४-येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्म्मणाम् ।
ते द्वन्द्व-मोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥

५-समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न मे प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या 'मयि ते, तेषु चाप्यहम्' ॥

६-मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणाः ॥

७-प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥

८- तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्म्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ! ॥

९-योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥*॥

इति-भक्तियोगपरीक्षायां-उत्तरखण्डे-
"उपासनापरिशिष्टनिर्वचनम्"
नामकं
चतुर्थ-प्रकरणं-उपरतम्
४

———*———

*-इस श्लोक का तत्त्वार्थ 'बुद्धियोगपरीक्षा-खण्ड' में देखना चाहिए।

श्रीः

इति–भक्तियोगपरीक्षायामुत्तरखण्डे

"उपासनापरिशिष्टनिर्वचनम्"

नामकं

चतुर्थं-प्रकरणमुपरतम्

४



श्रीः

भक्तियोपरीक्षा-उत्तरखण्ड का उपराम







एवं तद्द्वारा आत्मदेवता का सन्तर्पण

भक्तियोगपरीक्षा-उत्तरखण्ड का उपराम, एवं तद्द्वारा आत्मदेवता का सन्तर्पण—

भगवदनुग्रहरूपा अन्तर्य्यामी की प्रेरणा से द्विखण्डात्मक 'भक्तियोगपरीक्षा' निबन्ध विश्राम ले रहा है। ऐश्वर्य्यबुद्धियोगलक्षणा, राजविद्यानुगता, अधिदैवतसाध्य-अधिभूतसाधनात्मिका श्रद्धाभावोपेता परा-भक्ति ही गीताप्रतिपादित 'भक्तियोग' है। एवं इस दृष्टिकोण से गीता को 'भक्तियोगशास्त्र' भी कहा जासकता है। यह पराभक्ति गीता के मुख्य प्रतिपाद्य, राजर्षिविद्यानुगत वैराग्य-बुद्धियोग से समतुलित है, जो गीताशास्त्र का सर्वान्तरतम-निगूढ विषय है। अतएव इस भक्तियोगपरीक्षा का सर्वान्तरतमपरीक्षात्मक भूमिका-तृतीयखण्ड में ही क-ख-रूप से अन्तर्भाव माना गया है। इसके अनन्तर मुख्य प्रतिपाद्य 'बुद्धियोग' की ओर हमारा ध्यान आकर्षित होता है। अगले 'ग' विभाग में 'बुद्धियोगपरीक्षा' नाम से इसी तत्त्व के विश्लेषण का प्रयास किया गया है। नहीं जानते, न जानने की इच्छा ही कि, भक्तितत्त्व के सम्बन्ध में हमने इन क-ख रूप पूर्वोक्त भक्तिखण्डों में जो उद्गार प्रकट किए हैं, वर्त्तमान भक्तप्रजा उनसे रुष्ट होगी, अथवा तुष्ट ?। इस प्रयास में हमारा अपना हो ही क्या सकता है, जबकि हम अपना कोई स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं रखते। उसी अन्त-र्य्यामी की प्रेरणा, उसी की अध्यात्मसंस्था, उसी की लेखिनी, उसीका शब्दप्रपञ्च, वही, उसे अपनी ही भाषा में लिपिबद्ध करने वाला, वही वाचक, वही दोषान्वेषक, फिर इसकी उपादेयता-अनुपादेयता के सम्बन्ध में क्या कहा जाय, क्यों कहा जाय, और किस से कहा जाय ?। जैसा जो कुछ तद्रूप प्रयास है, उसका उत्तर-दायित्त्व उसी पर छोड़ते हुए निम्न लिखिता तद्वाणी के साथ तद्वाङ्मय प्रस्तुत निबन्ध तद्भाव में ही समर्पित है—

१-नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥

२-भक्त्यात्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन !।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप !॥

३-भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

४-य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥

सर्वान्तमें-इत्येवं श्रुति-नीति-सम्प्लवजलैर्भूयोऽभिराक्षालिते-
येषां नास्पदमादधासि हृदये ते शैलसाराशयाः॥
किन्तु प्रस्तुतविप्रतीपविषयोऽप्युच्चैर्भवच्चिन्तकाः-
काले कारुणिक ! त्वयैव कृपया ते भावनीयाः नराः॥

असमाकं-तु-अस्माकन्तु निसर्गसुन्दर ! चिराच्चेतो निमग्नं त्वयी-
त्यद्धाऽऽनन्दनिधे !, तथापि तरलं नाद्यापि संतृप्यते ।
तन्नाथ ! त्वरितं विधेहि करुणां येन त्वदेकाग्रतां-
याते चेतसि नाप्नुवाम शतशो याम्याः पुनर्यातनाः ॥

* * *

निष्कर्षः भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥
तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥
आ ब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन ! ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय ! पुनर्जन्म न विद्यते ॥
अव्यक्तोऽक्षर इत्याहुस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥
ये तु सर्वाणि कर्म्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥
तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात् पार्थ ! मय्यावेशितचेतसाम् ।

---*---

ओं-तत्सद्ब्रह्मणे नमः
ओं-शान्तिः ! शान्ति !! शान्तिः !!!

प्रीयतामनयात्मदेवता

समाप्तश्चायमुत्तरखण्डः—भक्तियोगपरीक्षात्मकः
'ख'—कार विभागात्मकः
समाप्ता चेयं भक्तियोगपरीक्षा—द्विखण्डात्मिका

* * * * *

श्रीः

इति-गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गते—

भक्तियोगपरीक्षायाः

उत्तरखण्डः-समाप्तः

'ख' कारविभागात्मकः
